प्राकृत भाषा और साहित्य का
आलोचनात्मक इतिहास

तारा बुक एजेन्सी
वाराणसी

प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

[प्राकृत भाषा और साहित्य का ई० पू० ६०० से ई० सन् १८०० तक का विश्लेषणात्मक एवं आलोचनात्मक इतिवृत्त]

कथ्यरूप में छान्दस्-पूर्व प्राकृत की सत्ता, अर्धमागधी, शौरसेनी प्रभृति प्राकृत भाषाओं का आलोचनात्मक एवं व्याकरणमूलक विवेचन तथा प्राकृत का भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण। कालविभाजन, आगमसाहित्य, काव्य, सट्टक और कथाप्रभृति काव्य-विधाओं का अनुशीलन।

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री
ज्योतिषाचार्य, न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न,
एम. ए. (संस्कृत, हिन्दी एवं प्राकृत) गोल्ड मेडलिस्ट, पी-एच. डी.
अध्यक्ष संस्कृत-प्राकृत-विभाग,
एच० डी० जैन कालेज, आरा (मगध-विश्वविद्यालय)

तारा बुक एजेन्सी
वाराणसी
१९८८

प्रथम संस्करण १९६६
पुनर्मुद्रणा १९८८
मूल्य ६५/- (पैसठ रुपये)

प्रकाशक : तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी।
मुद्रक : तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी।

PRĀKṚTA BHAṢĀ AUR SĀHITYA KĀ ĀLOCANĀTAMAKA ITIHĀSA

[A Comprehensive and Critical History of Prakrit Language and Literature]

DR. N. C. SHASTRI

Jyotishacharya, Nyayatirtha, Kavyatirtha, M. A. (Sanskrit, Hindi & Prakrit)
Gold Medalist, Ph. D.

Head of the Dept. of Sanskrit & Prakrit
H. D. Jain College Arrah, (Bihar)
(Magadh University)

TARA BOOK AGENCY

VARANASI

1988

विषय-सूची

आमुख १-२०

प्रथम-खण्ड

अध्याय १

भाषाविकास और प्राकृत १
वैदिक या छान्दस् में प्राकृतभाषा के तत्त्व ४
प्राकृत भाषा का विकास ८
प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति ११
प्राकृत के भेद १७
प्राकृत भाषा के शब्द १८
प्राकृत की प्रधान विशेषताएँ २०

अध्याय २

द्वितीय स्तरीय—प्रथम युगीन प्राकृत २४
पालि २४
पालि का व्याकरण सम्बन्धी गठन २८
जैन सूत्रों की प्राकृत ३१
अर्धमागधी ३२
अर्धमागधी का रूपगठन ३४
अर्धमागधी की ध्वनि परिवर्त्तन सम्बन्धी विशेषताएँ ३७
प्राचीन शौरसेनी या जैन शौरसेनी ४२
प्राचीन शौरसेनी का व्याकरण सम्बन्धी गठन ४५
शिलालेखी प्राकृत ४९
पश्चिमोत्तरी प्राकृत की ध्वनि परिवर्त्तन सम्बन्धी विशेषताएँ ५०
दक्षिणी-पश्चिमी शिलालेखों की प्राकृत का विश्लेषण ५४
पूर्वी समूह : प्राकृत का व्याकरणमूलक विवेचन ५८
खारवेल के शिलालेख की प्राकृत ६०

णमोकार मन्त्र का पाठ ६०
ध्वनिपरिवर्तन सम्बन्धी विशेषताएँ ६१
निया प्राकृत : विश्लेषण ६६
धम्मपद की प्राकृत : विश्लेषण ६९
अश्वघोष के नाटकों की भाषा ७०

अध्याय ३

द्वितीय स्तरीय मध्ययुगीन प्राकृत ७२
मध्ययुगीन प्राकृत भाषा की प्रमुख विशेषताएँ ७६
महाराष्ट्री प्राकृत का व्याकरणमूलक विश्लेषण ८०
शौरसेनी प्राकृत : ध्वनि परिवर्तन एवं गठन ८४
मागधी : ध्वनिपरिवर्त्तन एवं गठन ८८
पैशाची : ध्वनि परिवर्त्तन एवं गठन ९०
चूलिका पैशाची : ध्वनिपरिवर्त्तन एवं गठन ९४
अन्य प्राकृत ९५

अध्याय ४

अपभ्रंश का स्वरूप विश्लेषण ९८
अपभ्रंश का विस्तार क्षेत्र १०१
अपभ्रंश के अनुशासन सम्बन्धी नियम १०६

अध्याय ५

प्राकृत भाषा और भाषा-विज्ञान ११६
ध्वनि परिवर्त्तन के कारणों का प्राकृत में सद्भाव ११८
आदिस्वर लोप ११९
मध्यस्वर लोप १२०
आदिव्यञ्जन लोप १२०
मध्यव्यञ्जन लोप १२१
अन्त्यव्यञ्जन लोप १२२
समाक्षर लोप १२२
आदि स्वरागम १२३
मध्य और अन्त्य स्वरागम १२३

आदिव्यञ्जनागम १२३
मध्यव्यञ्जनागम १२४
अन्त्यव्यञ्जनागम १२४
विपर्यय १२५
ह्रस्व मात्रा का नियम १२५
समीकरण १२८
अपश्रुति १३१
सम्प्रसारण १३४
स्वर परिवर्तन पर स्वराघात का प्रभाव १३५
स्वरभक्ति १३७
सन्धि १३८
अकारण अनुनासिकता १४२
घोषीकरण १४२
अघोषीकरण १४३
महाप्राणीकरण १४३
अल्पप्राणीकरण १४४
उष्मीकरण १४४
तालव्यीकरण १४४
मूर्धन्यीकरण १४५
य व-श्रुति का सतर्क निरूपण और उसका हेतु १४५
पदरचना १४६

द्वितीय खण्ड

अध्याय १

कालविभाजन और उसका औचित्य १५७
आगम साहित्य का सामान्य विवेचन १६१
अर्धमागधी आगम साहित्य १६५
आयारंग १६५
सूयगडंग १६६
ठाणांग १६७

समवायांग	१६८
वियाहपण्णत्ति	१६९
नायाधम्मकहा	१७१
उवासगदसाओ	१७३
अंतगडदसाओ	१७५
अणुत्तरोववाइयदसाओ	१७७
पण्हवागरणाइं	१७७
विवागसुयं	१७८
दिट्ठिवाद	१७९
औपपातिक	१८०
रायपसेणिय	१८०
जीवाभिगम	१८१
पण्णवणा	१८२
सूरियपण्णत्ति	१८२
जंबूदीवपण्णत्ति	१८३
चंदपण्णत्ति	१८४
कप्पिया	१८५
कप्पावंडसियाओ	१८५
पुप्फिया	१८६
पुप्फचूला	१८६
वण्हिदसाओ	१८६
छेदसूत्र	१८७
निसीह	१८७
दससुयक्खंध	१९१
कप्प	१९१
पंचकप्प	१९२
मूलसूत्र	१९२
उत्तराध्ययन	१९२
आवस्सय	१९५
दसवेयालिय	१९५
पिंडणिज्जुत्ति	१९६

दस पइण्णग	१९७
चूलिकासूत्र	१९९
नन्दीसूत्र	१९९
अनुयोगद्वारसूत्र	१९९
टीका और भाष्य	२००
शौरसेनी आगम साहित्य	२०३
छक्खंडागम (षट्खण्डागम)	२०३
महाबन्ध	२११
कसायपाहुड (कसायप्राभृत)	२१३
शौरसेनी टीका साहित्य : धवलाटीका	२१६
जयधवलाटीका	२१८
आचार्य कुन्दकुन्द और उनका साहित्य	२२१
यतिवृषभ और उनका साहित्य	२२९
वट्टकेर और उनका साहित्य	२३२
शिवार्य और उनकी भगवती आराधना	२३३
स्वामिकार्त्तिकेय और उनकी कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा	२३५
आचार्य नेमिचन्द्र और उनका साहित्य	२३६
अन्य आगम साहित्य	२३८
न्यायविषयक प्राकृत-साहित्य	२४०
आचार विषयक प्राकृत-साहित्य	२४१
आगम साहित्य की उपलब्धियाँ	२४४

अध्याय २

शिलालेखी साहित्य	२४७
सम्राट् खारवेल का हाथीगुंफा शिलालेख	२४९
मूलपाठ और संस्कृत छाया	२५०
कक्कुक शिलालेख : मूलपाठ और हिन्दी अनुवाद	२५४
मथुरा के प्राकृत शिलालेख	२५८

अध्याय ३

प्राकृत के शास्त्रीय महाकाव्य	२६०
सेतुबन्ध का रचयिता	२६३

सेतुबन्ध की कथावस्तु २६६
सेतुबन्ध : समीक्षा २६८
सेतुबन्ध : अलंकार योजना २७१
सांस्कृतिक निर्देश २७४
गउडवहो : रचयिता २७४
गउडवहो : कथावस्तु २७६
गउडवहो : समीक्षा २७८
गउडवहो : अलंकार योजना २७९
निष्कर्ष २८०
द्वयाश्रयकाव्य : रचयिता २८१
द्वयाश्रयकाव्य : कथावस्तु २८३
आलोचना २८४
द्वयाश्रयकाव्य : अलकार योजना २८५
रस-भाव-योजना २८७
लीलावई : स्वरूप २८९
लीलावई : रचयिता २९०
लीलावई : कथावस्तु २९०
लीलावई : समीक्षा २९१
लीलावई : अलंकार योजना २९२
सिरिचिंधकव्व २९५
सोरिचरित २९६
प्राकृत खण्डकाव्य २९७
कंसवहो स्वरूप और रचयिता २९८
कंसवहो : कथावस्तु २९९
कंसवहो : समीक्षा ३००
कंसवहो : अलंकार योजना ३०२
कंसवहो : भाषा ३०५
उषानिरुद्ध : स्वरूप और रचयिता ३०५
भृंगसन्देश : परिचय ३०६

अध्याय ४

प्राकृत-चरितकाव्य	३०८
चरितकाव्यों के प्रबन्धप्रारूप	३०९
चरितकाव्य के तत्त्व	३१०
पउमचरियं : रचयिता	३१२
पउमचरियं : कथावस्तु	३१२
पउमचरियं : समीक्षा	३१४
पउमचरियं : प्रकृतिचित्रण	३१६
पउमचरियं : अलंकारयोजना	३१७
पउमचरियं : प्रमुख विशेषताएँ	३१९
सुरसुन्दरीचरियं : स्वरूप और रचयिता	३१९
परिचय और समीक्षा	३२०
सुपासनाहचरियं : रचयिता	३२३
सुपासनाहचरियं : कथावस्तु	३२३
सुपासनाहचरियं : आलोचना	३२४
सिरिविजयचंद केवलिचरियं : स्वरूप और रचयिता	३२६
सिरिविजयचंद केवलिचरियं : परिचय और आलोचना	३२७
महावीरचरियं : रचयिता का परिचय	३३०
महावीरचरियं : कथावस्तु और आलोचना	३३०
सुदंसणाचरियं : रचयिता का परिचय	३३१
कथावस्तु और आलोचना	३३२
कुम्मापुत्तचरियं : रचयिता, कथावस्तु और आलोचना	३३३
अन्य चरितकाव्य	३३५
गद्य-पद्य-मिश्रित चरित-काव्य	३३७
चउप्पन-महापुरिसचरियं : परिचय और समीक्षा	३३८
जंबुचरियं : परिचय और समीक्षा	३४१
रयणचूडरायचरियं : परिचय और समीक्षा	३४६
सिरिपासनाहचरियं : परिचय और समालोचना	३५२
महावीरचरियं : परिचय और आलोचना	३५६

अध्याय ५

प्राकृत—चम्पूकाव्य : स्वरूप और तत्त्व ३६०
कुवलयमाला : रचयिता और कथावस्तु ३६१
कुवलयमाला : आलोचना ३६४

अध्याय ६

प्राकृत-मुक्तककाव्य : स्वरूप, विकास और तत्त्व ३६९
गाहासत्तसई : परिचय और समीक्षा ३७२
वज्जालग्गं : परिचय और समालोचना ३७७
विषमबाणलीला ३८३
प्राकृत पुष्करिणी ३८४
प्राकृत के रसेतर मुक्तक ३८५
वैराग्यशतक : परिचय और समीक्षा ३८७
वैराग्य-रसायन-प्रकरण : परिचय और समीक्षा ३८९
धम्मरसायण : परिचय और समालोचना ३९२
धार्मिकस्तोत्र : विवेचन ३९४
ऋषभपंचासिका : परिचय और आलोचना ३९५
उवसग्गहर स्तोत्र : परिचय और आलोचना ३९६
अजिय संतिथय : परिचय ३९६
शाश्वतचैत्यास्तव ३९७
भवस्तोत्र ३९७
निर्वाणकाण्ड ३९८
लघ्वजित-शान्तिस्तवनम् ३९९
निजात्माष्टकम् ४०२
अरहंतस्तवनम् ४०३

अध्याय ७

सट्टक ४०५
सट्टक की उत्पत्ति और विकास ४०८
सट्टक का स्वरूप और उसकी विशेषताएँ ४१२
कर्पूरमंजरी : रचयिता ४१३
कथावस्तु ४१४

समीक्षा ४१६
चंदलेहा : रचयिता, कथावस्तु और समीक्षा ४१८
आनन्दसुन्दरी : रचयिता, कथावस्तु और समीक्षा ४२४
रंभामंजरी : रचयिता, परिचय और समालोचना ४२६
शृंगारमंजरी : रचयिता, परिचय और समालोचना ४३०
अन्य सट्टक ४३१
नाटक साहित्य में प्राकृत ४३२

अध्याय ८

प्राकृत कथा साहित्य : स्वरूप और तत्त्व ४३८
प्राकृत कथा साहित्य का विकास ४४०
प्राकृत कथाओं के प्रकार ४४३
तरंगवती : परिचय और समीक्षा ४५०
वसुदेवहिण्डी : परिचय और आलोचना ४५६
समराइच्चकहा : रचयिता, कथावस्तु और आलोचना ४६३
धूर्त्ताख्यान : परिचय और समीक्षा ४७४
हरिभद्र की लघु प्राकृत कथाएँ ४७६
निर्वाण लीलावती कथा : परिचय और समीक्षा ४८०
कथाकोषप्रकरण : परिचय और समालोचना ४८२
संवेग-रंगशाला : परिचय और समालोचना ४८६
नागपञ्चमीकहा : रचयिता, परिचय और आलोचना ४८८
कहारयणकोस : आलोचनात्मक विश्लेषण ४९१
नम्मयासुन्दरीकहा : समालोचनात्मक अध्ययन ४९३
कुमारपालप्रतिबोध : समालोचनात्मक विश्लेषण ४९८
आख्यानमणिकोश : आलोचनात्मक विवेचन ५०१
उक्त कथाकोश की विशेषताएँ ५०२
जिनदत्ताख्यान : आलोचनात्मक विश्लेषण ५०५
सिरिसिरीवालकहा : परिचय और समीक्षा ५०८
रयणसेहरनिवकहा : समालोचनात्मक विश्लेषण ५१०
महिवालकहा : परिचय और आलोचना ५१३
पाइअकहासंगओ : आलोचनात्मक विवेचन ५१५

अध्याय ९

व्याकरणशास्त्र का इतिवृत्त	५१८
प्राकृतलक्षण	५२२
प्राकृतप्रकाश	५२३
सिद्धहेमशब्दानुशासन	५२४
त्रिविक्रमदेव का प्राकृत शब्दानुशासन	५२५
षड्भाषा चन्द्रिका	५२६
प्राकृत रूपावतार और प्राकृत सर्वस्व	५२६
छंदश्शास्त्र : स्वरूप विश्लेषण	५२७
वृत्तजातिसमुच्चय	५२८
कविदर्पण	५२८
गाहालक्खण	५२८
प्राकृतपैंगलम्	५२९
अलंकार साहित्य	५३३
अलंकारदप्पण	५३६
कोषग्रन्थ	५३६
पाइयलच्छी नाममाला	५३७
देशीनाममाला : परिचय	५३९
देशीनाममाला : साहित्यिक सौन्दर्य	५४०
आधुनिक भाषा शब्दों से साम्य	५४२
विशेष शब्द	५४४
संस्कृतिसूचक शब्द	५४६
अन्य प्राकृत कोषग्रन्थ	५४८
अन्य विषयक प्राकृत साहित्य	५४८
प्राकृत साहित्य की उपलब्धियाँ	५५२
ग्रन्थ और ग्रन्थकारनामानुक्रमणिका	५५७
पात्रनामानुक्रमणिका	५७४
नगर, जनपद और देश नामानुक्रमणिका	५८४
नदी नामानुक्रमणिका	५८७
उद्धृत प्राकृत पद्यानुक्रमणिका	५८८
उद्धृत संस्कृत पद्यानुक्रमणिका	५९५
उदाहृत प्राकृत शब्दानुक्रमणिकाएँ	५९६
प्रकाशित प्राकृत ग्रन्थानुक्रमणिका	६३२

आमुख

साहित्य-पाथोनिधि-मन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः

—विक्र० च० १।११ ।

संस्कृति की आत्मा साहित्य के भीतर से अपने रूप-लावण्य को अभिव्यक्त करती है। इसी कारण साहित्य सामाजिक भावना, क्रान्तिमय विचार एवं जीवन के विभिन्न उत्थान पतन की विशुद्ध अभिव्यञ्जना है। यह समाज के यथार्थ स्वरूप को अवगत करने के लिए मुकुर है और है संस्कृति का प्रधान वाहन। साहित्य किसी भाषा, देश, समाज या व्यक्ति का सामयिक समर्थक नहीं होता, अपितु यह सार्वदेशिक और सार्वकालिक नियमों द्वारा परिचालित होता है। संसार की समस्त भाषाओं में रचित साहित्य में आन्तरिक रूप से भावों, विचारों, क्रियाकलापों और आदर्शों का सनातन साम्य-सा पाया जाता है। यतः क्रोध, हर्ष, अहङ्कार, करुणा, सहानुभूति की भावधारा और जीवन मरण की समस्याएँ एक-सी हैं। प्राकृतिक रहस्यों से चकित होना, सौन्दर्य को देखकर पुलकित होना, कष्ट से पीड़ित व्यक्ति के प्रति सहानुभूति का जाग्रत होना एवं बालसुलभ चेष्टाओं को देखकर वात्सल्य से विभोर हो जाना मानवमात्र के लिए समान है। अतएव साहित्य में साधना और अनुभूति के समन्वय से समाज और संसार से ऊपर सत्य और सौन्दर्य का चिरन्तन रूप पाया जाता है। साहित्यकार चाहे किसी भी भाषा में साहित्य सृजन करे अथवा वह किसी भी जाति, समाज, देश और धर्म का हो, अनुभूति का भाण्डार समान रूप से अर्जित करता है। वह सत्य और सौन्दर्य की तह में प्रविष्ट हो अपने मानस से भावराशि रूपी मुक्ताओं को चुन-चुन कर शब्दावली की लड़ी में शिव की साधना करता है।

सौन्दर्य-पिपासा मानव की चिरन्तन प्रवृत्ति है। मानव अपनी विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है, फिर भी सौन्दर्य वृत्ति की तुष्टि के हेतु ग्रीष्म की उष्मा, वसन्त की सुषमा और शरद् की निर्मलता से प्रभावित होता है। विश्व के कण-कण में सौन्दर्य और आनन्द का अमर प्रवाह उसे दृष्टिगत होता है। परन्तु सहृदय कवि या लेखक ही इन्द्रिय-संवेदनया कल्पना द्वारा सौन्दर्य का भावन या आस्वादन कर साहित्य का सृजन करता है। प्राकृत भाषा के साहित्य स्रष्टाओं ने चिरन्तन सौन्दर्य की अनुभूति को साहित्य में रूपायित कर अमूल्य मणियों का प्रणयन किया है। जीवन-संभोग और प्रणयचित्रों की यथेष्ट उद्भावना की गयी है। प्राकृत काव्यों में प्रकृति और मानव के प्रणय-व्यापार-सम्पृक्त अनेक चित्र वर्तमान हैं। हृदय स्थित सौन्दर्यानुभूति को देश,

काल, पात्र और वातावरण के अनुसार अभिव्यक्त कर शाश्वत साहित्य का सृजन किया गया है। वस्तुतः सौन्दर्य और प्रणय एक दूसरे के पूरक, पोषक और संवर्द्धक ही होते हैं। यही कारण है कि प्राकृत काव्यों में जहाँ नैतिक और धार्मिक उपदेश प्राप्त होते हैं, वहाँ प्रणय-संभोग सुख के रम्य एवं मधुमय चित्र भी। जीवन में अध्यात्ममार्ग के सत्य होने पर भी रतिसुख गर्हित नहीं हैं। यह स्वस्थ जीवन का स्वस्थ प्रकार है। यतः काम और रति की प्रणयलीला जीवन का एक अविच्छेद्य अंग है। जिसे जीवन और जगत् से प्यार है, रूप और यौवन के प्रति आकर्षण है, वह संभोग-सुख को अश्लील और मिथ्या नहीं कह सकता है। गाथासप्तशती में बताया गया है कि प्रणय और सौन्दर्य चित्र प्राकृत-काव्य की थाती हैं, जो प्राकृत-काव्य का रसास्वादन किये बिना शृङ्गार और रति की चर्चा करता है, वह अपने को धोखे में डालता है। यथा—

अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति।
कामस्स तत्ततन्ति कुणन्ति ते कहँ ण लज्जन्ति॥

—प्रथम शतक, पद्य २।

जो अमृत समान मधुर प्राकृत-काव्य का पाठ एवं श्रवण करना नहीं जानते, वे काम—शृङ्गार और रति की तत्वचिन्ता में प्रवृत्त हो लज्जित क्यों नहीं होते ?

शृङ्गार यौवन के चित्राङ्कन-प्रसंग में दीपावली-उत्सव का वर्णन करता हुआ कवि कहता है :—

अण्णे वि हु होन्ति छणा ण उणो दीआलिआसरिच्छादे।
जत्थ जहिच्छं गम्मइ पिअवसही दीवअमिसेण॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण ५, ३१५।

उत्सव बहुत से हैं, पर दीपावली के समान कोई उत्सव नहीं हैं। इस अवसर पर इच्छानुसार कहीं भी जा सकते हैं और दीपक जलाने के बहाने अपने प्रिय की वसति में प्रवेश कर सकते हैं।

प्रवास पर जाते हुए पथिक की विरह-दशा का एक चित्र देखिये—

आलोन्त दिसाओ ससंत जंभंत गन्त रोअन्त।
मुज्झंत पडंत वसंत पहिअ किं ते पउत्थेण॥

—गाथा० ६।४६।

हे पथिक ! अभी से तेरी यह दशा है कि तू इधर-उधर देख रहा है, तेरी साँस चलने लगी है, तू जम्हाई ले रहा है, कभी तू गाता है, कभी रोता है, कभी बेहोश हो जाता है, कभी गिर पड़ता है और कभी हँसने लगता है, अब तेरे प्रवास पर जाने से क्या लाभ ?

उद्धच्छो पिअइ जलं जह जह विरलंगुली चिरं पहिओ ।
पाआवलिया वि तह तह धारं तणुअंपि तनुएइ ॥

—गाथा० २।६१ ।

ऊपर की ओर नयन उठाकर हाथ की अंगुलियों को विरलकर पथिक पानी पिलाने वाली के सौन्दर्य का पान करने के लिए, बहुत देर तक पानी पीता है, प्याऊ पर बैठ कर पानी पिलानेवाली भी पानी की धार को कम-कम करती जाती है।

इसी प्रकार प्रोषितपतिका की भावना का चित्रण देखिये—

ऐहिइ सो वि पउत्थो अहअं कुप्पेज्ज सो वि अणुणेज्ज ।
इअ कस्स वि फलइ मणोरहाणं माला पिअअमम्मि ॥

—गा० स० १।१७ ।

जब प्रवास पर गया हुआ प्रियतम वापस लौटेगा, मैं कोप करके बैठ जाऊँगी, फिर वह मेरी मनुहार करेगा, मैं धीरे-धीरे मान को तोड़ूँगी, मनोरथों की यह अभिलाषा किसी भाग्यशालिनी की ही पूरी होती है।

मानवती नायिका के अन्तस्तल में स्थित प्रणय का चित्रण कवि ने कितने सुन्दर रूप में किया है :—

अणुणिअखणलद्धसुहे पुणो वि संभरिअमण्णदूमिअविहले ।
हिअए माणवईणं चिरेण पणअगरुओ पसम्मई रोसो ॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण, बम्बई ५।२७७ ।

प्रिय द्वारा मनुहार के कारण क्षणभर के लिए सुख को प्राप्त और स्मरण किये हुए क्रोध के कारण विह्वल ऐसी मानवती नायिकाओं के हृदय का प्रणययुक्त गम्भीर रोष बहुत देर में शान्त होता है।

कवि सहधर्मिणी की प्रशंसा करते हुए कहता है कि नारी मनुष्य के जीवन को हरा-भरा बनाने वाली है। उसके स्नेह-शीकर प्राप्त कर मनुष्य का चिन्तित मन प्रफुल्लित हो उठता है। वासनायुक्त नारी जहाँ निन्दनीय है, वहाँ सेवाभावी, स्नेहशीला नारी प्रशंस्य है। यथा—

णेहब्भरियं सब्भावणिब्भरं रूव-गुणमहग्घवियं ।
समसुह-दुक्खं जस्सऽत्थि माणुसं सो सुहं जियइ ॥

—चउप्पन्न० पृ० ५७, गा० २६ ।

स्नेहपूरित, सद्भावयुक्त और रूप-गुणों से सुशोभित नारी पति के सुख-दुःख में समान रूप से भाग लेती है, इस प्रकार की नारी को प्राप्त कर मनुष्य सुख और शान्तिपूर्वक जीवन-यापन करता है।

कवि दीर्घायु होने के लिए आचार को आवश्यक समझता है। वह कहता है—

सील-दम-खंतिजुत्ता दयावरा मंजुभासिणो पुरिसा।
पाणवहाउ णियत्ता दीहाऊ होन्ति संसारे॥
—चउप्पन्न० पृ० ८०, गा० ६२।

शील, दया, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह एवं मनोहर भाषण से युक्त और हिंसा से विरत रहने वाले व्यक्ति दीर्घायु होते हैं।

आभूषणों की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए कवि राजशेखर ने लिखा है—

णिसग्गचंगस्स वि माणुसस्स सोहा समुम्मलदि भूसणेहिं।
मणीणं जच्चाणं वि कंचणेण विभूसणे लब्भदि का वि लच्छी॥
—कर्पूरमं० २।२५।

सहज सौन्दर्य युक्त मनुष्य की शोभा आभूषणों से वैसे ही बढ़ जाती है, जैसे श्रेष्ठ रत्नों की आभा सुवर्णमय आभूषणों में जटित होने से।

कवि महेश्वर सूरि ने काव्य और संगीत के माधुर्य का निरूपण करते हुए लिखा है—

वरजुवइविलसिएणं गंधव्वेण च एत्थ लोएम्मि।
जस्स न हीरइ हिययं सो पसुओ अहव पुण देवा॥
—नागपंचमी १०।२९४।

सुन्दर युवतियों के हाव-भाव से अथवा संगीत के मधुर आलाप से जिसका हृदय मुग्ध नहीं होता वह या तो पशु है अथवा देवता। संगीत, काव्य और रमणियों के हाव-भाव मानव-मात्र को रससिक्त बनाने की क्षमता रखते हैं।

विभवेण जो न भुल्लइ जो न वियारं करेइ तारुन्ने।
सो देवाण वि पुज्जो किमंग पुण मणुयलोयस्स॥
—नागपंचमी २।९२।

जो वैभव से फूल नहीं जाता, जिसे तारुण्य में विकार नहीं होता, वह देवताओं का भी पूज्य होता है, फिर मनुष्य-लोक का तो कहना ही क्या।

प्रिय के विरह में सारा संसार शून्य दिखलायी पड़ता है, कवि कौतूहल कहता है—

ण य लज्जा ण य विणयो कुमारि-जणेइयं अणुट्ठाणं।
ण य सो पिओ ण मोक्खं तो किं हय-जीविएण म्ह॥
—लीलावई ७१४।

न लज्जा रही, न विनय, न कुमारीजनोचित अनुष्ठान रह गया, न वह प्रिय रहा, न अब छुटकारा ही है, अतएव प्रिय-विरह में मुझ अभागिन का जीना व्यर्थ है।

शृङ्गार और जीवन संभोग सम्बन्धी चित्रों के अतिरिक्त शब्द और अर्थ चमत्कार से युक्त अनूठी सूक्तियाँ भी प्राकृत साहित्य में विद्यमान हैं। दुष्ट के स्वभाव का श्लेष और उपमा के द्वारा सुन्दर चित्रण किया है। यथा—

वसइ जहिं चेअ खलो पोसिज्जन्तो सिणेहदाणेहिं।
तं चेअ आलअं दीअओ व्व अइरेण मइलेइ ॥ गाथा० २।२९।

जिस घर में स्नेहदान द्वारा खलजन संवर्द्धित होते हैं, स्नेह-तैलदान द्वारा पोषित दीपक की भाँति वे उस घर को शीघ्र ही मलिन बना देते हैं।

जे जे गुणिणो जे जे चाइणो जे वियड्ढविण्णाणा।
दारिद्द रे विअक्खण ताणं तुमं साणुराओ सि ॥ गा० ७।७१।

हे दारिद्र्य, तू सचमुच कुशल है, क्योंकि तू गुणियों, त्यागियों, विदग्धों एवं विज्ञानियों से अनुराग रखता है।

जं जि खमेइ समत्थो, धणवंतो जं न गव्वमुव्वहइ।
जं च सविज्जो नमिरो, तिसु तेसु अलंकिया पुहवी ॥ वज्जालग्ग ८७।

सामर्थ्यवान् जो क्षमा करे, धनवान् जो गर्व न करे, विद्वान् जो नम्र हो—इन तीन से पृथ्वी अलंकृत है।

दान का महत्त्व बतलाते हुए लिखा है—

किसिणिज्जंति लयंता उदहिजलं जलहरा पयत्तेण।
धवलीहुंती हु देंता, देंतलयन्तन्तरं पेच्छ ॥ वज्जा० १३७।

बादल समुद्र से जल लेने में काले पड़ जाते हैं और देने में—वर्षा हो जाने के उपरान्त, धवल हो जाते हैं; देने और लेने का यह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है।

शील की महत्ता का निरूपण करते हुए कहा है—

अधणाणं धणं सीलं भूसणरहियाण भूसणं परमं।
परदेसे नियगेहं सयणविमुक्काण नियसयणो ॥ आख्यानमणिकोश
२९ अ०, २८४ गा०, पृ० २५४।

शील निर्धनों का धन है, आभूषण रहितों का आभूषण है, परदेश में निजगृह है और स्वजनों से रहितों के लिए स्वजन है।

अविचारित कार्य सदा कष्ट देता है, इससे व्यक्ति का मन सदैव पश्चात्ताप से जलता रहता है। कवि अविचारित कार्य के पश्चात्ताप का यथार्थ चित्रण करता हुआ कहता है—

न तहा तवेइ तवणो, न जलियजलणो, न विज्जुनिग्घाओ।
जं अवियारियकज्जं विसंवयंतं तवइ जंतुं ॥ आख्यानमणिकोश,
५।९९, पृ० ९४।

सूर्य, अग्नि, विद्युत्-निर्घोष एवं वज्रपतन आदि से प्राणी को जितना सन्ताप होता है, उससे कहीं अधिक अविचारित कार्य करने से होता है।

कवि दैव की अनिवार्यता का निरूपण करता हुआ कहता है—

पवणखुहियनीरं नीरनाहं धरंति,
झरियमयपवाहं वारणं वारयंति ।
खरनखरकरालं केसरिं दारयंति, ।
न उण बलजुया वी दिव्वमेत्तं जयंति ॥ आख्यानमणि० ३७।१०७, पृ० ३०८।

इस प्रकार प्राकृत साहित्य में जीवन की समस्त भावनाएँ व्यञ्जित हुई हैं। कथारूप में प्राकृत भाषा का अस्तित्व चाहे जितना प्राचीन हो, पर इस भाषा में साहित्य-रचना ई० पू० ६०० से उपलब्ध होती है। भगवान् महावीर और बुद्ध ने इसका आश्रय लेकर जनकल्याण का उपदेश दिया था। सम्राट् अशोक ने लिखा और स्तम्भलेखों को इसी भाषा में उत्कीर्ण कराया है। खारवेल का हाथीगुंफा शिलालेख प्राकृत में ही है। प्राकृतभाषा में ईस्वी सन् की प्रथम-द्वितीय शताब्दी तक उपभाषाओं के भेद दिखलायी नहीं पड़ते हैं। देशभेद से उस समय दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ उपलक्षित होती हैं—पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी प्राकृत मागधी कहलाई और पश्चिमी शौरसेनी। आगे चलकर शौरसेनी का एक शैलीगत भेद महाराष्ट्री हुआ, जिसमें काव्यग्रन्थों का प्रणयन किया गया है। वास्तव में महाराष्ट्री महाराष्ट्रप्रदेश की भाषा नहीं है, यतः काव्यग्रन्थों की रचना सर्वत्र इसी भाषा में की गयी है। यह काव्य के लिए स्वीकृत ऐसी परिनिष्ठित भाषा थी, जिसमें प्राकृत के कवियों ने अपनी उच्चस्तरीय ललित रचनाएँ लिखी हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि नाटकों और काव्यों की प्राकृत भाषा बोल-चाल की प्राकृत नहीं है, यह साहित्यिक प्राकृत है। वैयाकरणों ने प्राकृत भाषा को अनुशासित करने के लिए व्याकरण ग्रन्थ लिखे हैं और उन्हीं नियमों के आधार पर भाषा का रूपगठन कर रचनाएँ लिखी गयी हैं। वेणीसंहार जैसे नाटकों की प्राकृत का अवलोकन करने से अवगत होता है कि पहले संस्कृत गद्य या पद्य लिखे गये हैं, अनन्तर उन्हें प्राकृत में अनूदित कर दिया है। इसी कारण इन ग्रन्थों की प्राकृतभाषा में कृत्रिमता दृष्टिगोचर होती है। श्रीहर्ष, भट्टनारायण प्रभृति नाटककारों ने व्याकरण के नियमों के अनुसार संस्कृत शब्दों, पदों और पदरचना में ध्वनिपरिवर्तन सम्बन्धी नियमों का उपयोग कर नाटकीय प्राकृत का प्रणयन किया है।

साहित्यनिबद्ध प्राकृतभाषा को काल की दृष्टि से प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन इन तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है। प्राचीन प्राकृत का स्वरूप आर्षग्रन्थों, शिलालेखों एवं अश्वघोष के नाटकों में उपलब्ध होता है। मध्यकालीन प्राकृत का स्वरूप भास और कालिदास के नाटकों, गीतिकाव्य और महाकाव्यों में तथा अर्वाचीन प्राकृत का स्वरूप अपभ्रंश साहित्य में पाया जाता है। प्राकृत को धर्माश्रय और लोकाश्रय

के साथ राजाश्रय भी प्राप्त हुआ है। अशोक, खारवेल के अनन्तर वैदिक धर्मावलम्बी आन्ध्रवंशी राजाओं ने प्राकृत भाषा के कवियों और लेखकों को केवल आश्रय ही प्रदान नहीं किया, बल्कि प्राकृत को राजभाषा का पद प्रदान किया। आन्ध्रवंशी सातवाहन ने स्वयं ही 'गाथाकोश' का संकलन कर अपने समय की ललित और उत्तम गाथाओं को सुरक्षित किया। इस 'गाथाकोश' में संवर्द्धन और परिवर्द्धन आठवीं-नवीं शती तक होते रहे हैं और इसका संवर्द्धित रूप गाथासप्तशती की संज्ञा को प्राप्त हो गया है। प्राकृत का आश्रयदाता होने से ही प्राकृत के 'कोऊहल' जैसे कवि ने अपने काव्य लीलावई का नायक इसे बनाया है। कन्नौज के राजा यशोवर्मन् ने प्राकृत के प्रसिद्ध कवि वाक्पतिराज को आश्रय प्रदान किया, जिसने 'गउडवहो' जैसे काव्य की रचना की। वाकाटक नरेश प्रवरसेन प्राकृत के कवियों को सम्मान तो देता ही था, स्वयं भी काव्य-रचना करता था। उसका 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत महाकाव्य प्रसिद्ध है। वाक्पतिराज के १००–१५० वर्ष बाद कन्नौज राज्य ने यायावरीय राजशेखर को आश्रय प्रदान किया, जिसने कर्पूर-मंजरी सट्टक की रचना की। बारहवीं शती में गुजरात में चालुक्य नृपति कुमारपाल ने हेमचन्द्र को अपना गुरु बनाया, जिसने आश्रयदाता के नाम को अमर बनाने के लिए प्राकृत में कुमारपालचरित नामक महाकाव्य की रचना की। वररुचि के प्राकृतप्रकाश के आधार पर अपना एक नया प्राकृतव्याकरण भी हेमचन्द्र ने लिखा, जो प्राकृत भाषा के अनुशासन की दृष्टि से सर्वाधिक उपयोगी और पूर्ण है। यद्यपि हेमचन्द्र के इस व्याकरण में मौलिकता कम ही है तो भी प्राकृत अभ्यासियों के लिए इसका महत्त्व और उपयोगिता सर्वाधिक है।

प्राकृत भाषा का जनता में प्रचार था, जनता इसका उपयोग करती थी; इसका सबसे बड़ा प्रमाण शिलालेख ही हैं। शिलालेखों, सिक्कों और राजाज्ञाओं में सर्वदा जनभाषा का व्यवहार किया गया है। अशोक ने धर्माज्ञाएँ प्राकृत में प्रचारित की थीं; उनके धर्म-शिलालेख शाहबाजगढ़ी (पेशावर जिला), मंसेहरा (हजारा जिला), गिरनार (जूनागढ़), सोपारा (थाना जिला), कालसी (देहरादून), धौली (पुरी जिला), जौगढ़ (गंजाम जिला) और इरागुडी (निजाम रियासत) से प्राप्त हुए हैं। स्तम्भ लेख टोपरा (दिल्ली) मेरठ, कौशाम्बी (इलाहाबाद), रामपुरवा (अरेराज), लौरिया (नन्दनगढ़), रूपनाथ (जबलपुर), सहसराम (शाहाबाद), वैराट (जयपुर) प्रभृति स्थानों से प्राप्त हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि प्राकृत का जनभाषा के रूप में सर्वत्र प्रचार था। आन्ध्रराजाओं के शिलालेखों के अतिरिक्त लंका, नेपाल, कांगड़ा और मथुरा प्रभृति स्थानों से प्राकृत भाषा में लिखे गये शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। सागर जिले से ई० पू० तीसरी शती का धर्मपाल का एक सिक्का मिला है, जिसपर "धमपालस" लिखा है। एक दूसरा महत्त्वपूर्ण सिक्का ई० पू० दूसरी शती का खरोष्ठी लिपि में लिखा

दिमित्रियस का मिला है, जिस पर "महरजस अपरजितस दिमे" लिखा है। इतना ही नहीं ई० सन् की प्रथम-द्वितीय शती तक के प्रायः समस्त शिलालेख प्राकृत में ही लिखे उपलब्ध हुए हैं। अतः जनभाषा के रूप में प्राकृत का प्रचार प्राचीन भारत में था। संस्कृत नाटकों में स्त्री और निम्नश्रेणी के पात्रों द्वारा प्राकृत का प्रयोग भी प्राकृत को जनभाषा सिद्ध करने के लिए सबल प्रमाण है।

प्राकृत भाषा का व्यवहार साहित्य के रूप में भी ई० पू० ६०० से ई० सन् १८०० तक होता रहा है। इस लम्बे समय में विभिन्न प्रकार के साहित्य का सृजन हुआ है। त्याग, तप, संयम और सद्भावना से पोषित प्राकृत साहित्य का रमणीय आध्यात्मिक रूप सहृदयों के हृदय को बरबस आकृष्ट कर लेता है। समाज के विशुद्ध वातावरण में विचरण करनेवाले प्राकृत-साहित्यकारों ने समाज के सुख-दुःख की भावना, दीन-दुःखियों की दीनता, जनसामान्य की विचारधारा और प्रवृत्तियाँ, हृदय को सरस बनाने वाली कोमल भावनाएँ एवं समाज-व्यवस्था के नियमों का सम्यक् प्रकार अंकन किया है। शृङ्गार-विलास, वीरता और साहस की अभिव्यञ्जना के साथ मानवतावादी विचारधाराओं ने भी प्राकृत साहित्य में स्थान प्राप्त किया है। अतएव इस साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन की ओर आकृष्ट होने वाले जर्मन विद्वानों में हर्मन याकोबी, विण्टरनित्स, पिशल, शुब्रिंग प्रभृति के नाम उल्लेखनीय हैं। मौरिस विण्टर-नित्स ने 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर' की दूसरी जिल्द में प्राकृत साहित्य का इतिहास लिखने का सर्वप्रथम उपक्रम किया है। श्री हीरालाल रसिकदास कापड़िया ने "हिस्ट्री ऑव द कैनोनिकल लिटरेचर ऑव द जैन्स" में प्राकृत भाषा में लिखित धर्म-ग्रन्थों का इतिवृत्त उपस्थित किया है। इसके पश्चात् आपके द्वारा लिखित सन् १९५० ई० में गुजराती भाषा में "पाइअभाषाओ अने साहित्य" पुस्तक प्रकाशित हुई। इस पुस्तक से प्राकृत भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में अनेक विचारात्मक बहुमूल्य सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। डॉ० हरदेव बाहरी की "प्राकृत और उसका साहित्य" नामक एक छोटी-सी उपयोगी पुस्तक राजकमल से प्रकाशित हुई। इस कृति में लेखक ने प्राकृत साहित्य के प्रारम्भिक अध्येता के लिए उपयोगी और आवश्यक जानकारी उपस्थित की है। डा० जगदीशचन्द्र जैन ने "प्राकृत साहित्य का इतिहास" नामक एक बृहत्काय ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में आगमसाहित्य, कथासाहित्य, चरितसाहित्य, काव्यसाहित्य, नाटक-छन्द-अलंकार-कोषसाहित्य एवं शास्त्रीय प्राकृतसाहित्य का परिचय प्रस्तुत किया गया है। प्राकृत-साहित्य का यह प्रथम इतिहास है, जिसमें ग्रन्थों का विवरणात्मक परिचय प्राप्त होता है। प्राकृत और अपभ्रंश के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डा० हीरालाल जैन के "भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान" नामक ग्रन्थ में प्राकृत भाषा के अनेक ग्रन्थों का पर्यवेक्षणात्मक सारभूत-विमर्श प्रस्तुत किया गया है।

प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में सर्वप्रथम पिशल का "प्राकृत भाषाओं का व्याकरण" ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। आज भी पिशल को विद्वान् प्राकृत का पाणिनि मानते हैं। इस दिशा में एस० एम० कत्रे का "प्राकृत लैंग्वेजज् एण्ड देअर कॉण्ट्रीब्यूशन टु इण्डियन कल्चर", सुकुमारसेन द्वारा लिखित "ग्रामर ऑव मिडिल इण्डो आर्यन" ए० सी० वुल्नर का "इण्ट्रोडक्शन टु प्राकृत", दिनेशचन्द्र सरकार का "ए ग्रामर ऑव दि प्राकृत लैंग्वेज", डॉ० ए० एम० घाटगे का "एन एण्ट्रोडक्शन टु अर्धमागधी" एवं पं० बेचरदास दोशी का "प्राकृत व्याकरण" उपयोगी और उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इन रचनाओं से प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध होती है।

उपर्युक्त सामग्री के अतिरिक्त "हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास" (प्रथम भाग) में डॉ० भोलाशंकर व्यास ने प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का संक्षिप्त इतिहास निबद्ध किया है। डॉ० व्यास ने संक्षेप में प्राकृत साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों को निष्पक्ष रूप में प्रस्तुत किया है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये और मुनिश्री जिनविजय द्वारा सम्पादित तथा सिंघी जैनग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित प्राकृत के विभिन्न ग्रन्थों की प्रस्तावनाओं में पर्याप्त बहुमूल्य सामग्री वर्तमान है। डॉ० उपाध्ये ने जे० टी० शिपले द्वारा सम्पादित "साइक्लोपीडिक डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिटरेचर" में भी प्राकृत साहित्य पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। प्राकृत-ग्रन्थ-परिषद् वाराणसी से प्रकाशित प्राकृत ग्रन्थों की प्रस्तावनाओं में भी प्रचुर सामग्री है। इस उपलब्ध सामग्री का उपयोग कर मैंने प्रस्तुत रचना लिखी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ—

अभी तक प्राकृत भाषा और साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास की आवश्यकता बनी हुई थी। विधाओं का विकास एवं गुण-दोषों का परीक्षण कर ग्रन्थों का मूल्याङ्कन स्थापित करने की आवश्यकता अवशिष्ट थी। यतः साहित्य की पूरी छान-बीन करने के लिए उसकी आलोचना अपेक्षित होती है। गुण-दोषों के बिना जाने किसी भी साहित्य का आनन्द नहीं उठाया जा सकता है। कवि तो काव्य का निर्माण करता है, पर आलोचना द्वारा ही उसका यथार्थ मर्म समझा जाता है। महाकवि सोमदेव ने बताया है कि साहित्यकार न होने पर भी काव्य-समालोचक कोई भी व्यक्ति हो सकता है। रसीले सुस्वादु भोजन बनाना न जानने पर भी सुस्वादु भोजन का आनन्द तो लिया ही जा सकता है। मैंने भी उक्त तथ्य के अनुसार केवल स्वाद लेने का ही प्रयास किया है—

अवक्तापि स्वयं लोकः, कामं काव्यपरीक्षकः।
रसपाकानभिज्ञोऽपि भोक्ता वेत्ति न किं रसम्॥[1]

---

१. यशस्तिलकचम्पू १।२९, महावीर जैन ग्रन्थमाला, कमच्छा वाराणसी, सन् १९६० ई०।

जिस प्रकार मिष्टान्नों की पाकविधि से अपरचित होने पर भी उसका आस्वाद करने वाला व्यक्ति उसके मधुर रसों को जानता है, उसी प्रकार जनसाधारण स्वयं कवि न होने पर भी काव्यों के गुण-दोषों का भिज्ञ हो सकता है।

सोमदेव ने समालोचक के गुणों का निरूपण करते हुए लिखा है :—

काव्यकथासु त एव हि कर्त्तव्या साक्षिणः समुद्रसमाः।
गुणमणिमन्तर्निदधति दोषमलं ये बहिश्च कुर्वन्ति ॥[1]

काव्य, कथा-नाटक आदि की परीक्षा में उन व्यक्तियों को प्रवृत्त होना चाहिए, जो समुद्र के समान गम्भीर होते हुए माधुर्य, ओज आदि गुणरूपी मणियों को अपने हृदय में स्थापित करते हुए दोषों को निकाल बाहर करते हों, उन पर दृष्टि नहीं डालते हों।

गुणेषु ये दोषमनीषयान्धा दोषान् गुणीकर्त्तुमथेशते वा।
श्रोतुं कवीनां वचनं न तेऽर्हाः सरस्वतीद्रोहिषु कोऽधिकारः ॥[2]

जो काव्यशास्त्र के दोषों को जानते हैं और काव्य-गुणों की अवहेलना करते हैं अथवा जिन्हें काव्य के गुण-दोषों की जानकारी नहीं है, अतः दोषों को गुण बतलाते हैं और गुणों को दोष, ऐसे व्यक्ति सरस्वती से द्रोह करने वाले समालोचक नहीं हो सकते।

प्राकृत-साहित्य की समालोचना में मैंने आलोचक के गुण-धर्मों का कहाँ तक पालन किया है, इस बात का निर्णय तो पाठकों के ऊपर ही छोड़ा जाता है, पर इतना सत्य है कि मेरा यह प्रयास इस दिशा में सर्वप्रथम है। इस ग्रन्थ के निम्नलिखित दृष्टिकोण उपलब्ध होंगे—

१. वैदिक काल में एक जनभाषा थी, जिससे संस्कार कर साहित्यिक छान्दस् भाषा निस्सृत हुई। ऋग्वेद और विशेषतः अथर्ववेद की भाषा में उक्त जनभाषा के बीज-सूत्रों को प्राप्त किया जा सकता है। अतः साहित्यिक प्राकृत की उत्पत्ति छान्दस् से जोड़ी जा सकती है। तद्भव प्राकृत शब्द भी छान्दस् संस्कृत से निस्सृत है, लौकिक संस्कृत से नहीं।

२. प्राकृत में सामान्यतः विभाषाओं का विकास देशभेद एवं कालभेद से हुआ है। प्रस्तुत रचना में विभाषाओं के क्रमिक विकास का इतिवृत्त अंकित किया गया है। बौद्धागम और जैनागम की प्राकृतों का विश्लेषण, उनकी व्युत्पत्ति एवं व्याकरणमूलक विशेषताएं प्रदर्शित की गयी हैं। शिलालेखी प्राकृत के विवेचन-सन्दर्भ में खारवेल के हाथीगुंफा शिलालेख की भाषा में जैन शौरसेनी प्राकृत की प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया

१. यशस्तिलकचम्पू १।३६, महावीर जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी सन् १९६० ई०।
२. वही १।३८।

गया है। प्राकृत भाषा में उत्कीर्णित लगभग दो सहस्र शिलालेख हैं, ईस्वी सन् तीसरी शती के पूर्व के प्रायः समस्त शिलालेख प्राकृत भाषा में ही उपलब्ध हैं।

३. वैयाकरणों द्वारा विवेचित प्राकृतों का विश्लेषण और विवेचन करने के प्रसङ्ग में साहित्यिक प्रसङ्गों में ध्वनिपरिवर्तन, वाक्यगठन एवं पदरचना सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है।

४. प्राकृत-भाषा का भाषा-वैज्ञानिक विशेषण करते हुए स्वरलोप, व्यञ्जनलोप, समासाक्षरलोप, स्वरागम, विपर्यय, ह्रस्वमात्रानियम, समीकरण, विषमीकरण, अपश्रुति, स्वराघात, स्वरभक्ति, सन्धि, घोषीकरण अघोषीकरण, महाप्राणीकरण, अल्पप्राणीकरण, तालव्यीकरण, मूर्धन्यीकरण और य-व श्रुति पर सतर्क विचार किया गया है। इस सन्दर्भ में अनेक नवीनताएँ उपलब्ध होंगी।

५. शब्दों की बनावट और उनके कार्यों पर विचार करने के उपरान्त प्राकृत भाषा में प्रविष्ट हुई सरलीकरण की प्रवृत्ति का विश्लेषण विस्तारपूर्वक किया गया है। मात्रा-परिवर्तन के नियमों में प्राकृत-अक्षरों की मात्रा पर समीकरण और संयुक्त व्यञ्जनों में एक के लोप का प्रभाव दिखलाया गया है। विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होनेवाली मात्राओं की स्थिति का विवेचन किया है।

६. साहित्य के इतिवृत्त खण्ड में आगम-साहित्य के इतिहास के अनन्तर कवित्व के दोनों आधार दर्शन और वर्णन का विवेचन किया है। कवि या साहित्यकार अपनी प्रतिभा द्वारा वस्तु के विचित्र भाव और उसके अन्तर्निहित गुणधर्म को जानता है। इस अनुभूति की अभिव्यञ्जना ही वर्णन है। दर्शन आन्तरिक गुण है, वर्णन बाह्य। दोनों के मञ्जुल सामञ्जस्य से काव्य का निर्माण होता है।

७. भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार प्राकृत काव्य को चार भेदों में विभक्त किया जा सकता है—(१) इन्द्रियगत, (२) अर्थगत, (३) शैलीगत और (४) प्रबन्धगत। प्रथम भेद ज्ञानेन्द्रिय पर सीधे पड़नेवाले प्रभाव के आधार पर किया जाता है तथा इस दृष्टि से दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य ये दो भेद सम्पन्न होते हैं। श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत प्रबन्धकाव्य, मुक्तक, कथा आदि हैं और दृश्यकाव्य के अन्तर्गत सट्टक, नाटक आदि। अर्थ के भेद से काव्य तीन प्रकार का होता है—उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम काव्य में वाच्यार्थ गौण रहता है और व्यंग्यार्थ की ही प्रधानता रहती है और इसलिए इसे ध्वनिकाव्य भी कहते हैं। मध्य काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ गौण या समान होकर रहता है, अतः इसे गौणीभूत व्यंग्य भी कहते हैं। अधमकाव्य अथवा चित्रकाव्य में वाच्यार्थ की ही प्रधानता रहती है। शैली की अपेक्षा गद्यकाव्य और पद्यकाव्य ये दो भेद किए गए हैं अथवा रीतियों की अपेक्षा गौडी, पांचाली और वैदर्भी भेद किए गए हैं। प्रबन्ध या बन्ध के आधार पर मुक्तक, चरित-काव्य,

खण्डकाव्य, चम्पूकाव्य प्रभृति भेद किए जाते हैं। काव्य का यह प्रकार आन्तरिक व्यवस्था तथा संघटना के आधार पर ही किया जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आगमसाहित्य शिलालेखी साहित्य, शास्त्रीय महाकाव्य, खण्डकाव्य, चरितकाव्य, गद्य-पद्य मिश्रित चरित काव्य, चम्पूकाव्य, मुक्तक-काव्य, सट्टक और नाटक, कथासाहित्य एवं व्याकरण-छन्द-कोष-अलंकारसाहित्यभेदों द्वारा इतिवृत्त का अंकन किया गया है।

८. ग्रन्थों के काव्य-सौन्दर्य के चित्रण के साथ तुलनात्मक विवेचन द्वारा मूल्य-निर्धारण का भी कार्य सम्पन्न किया गया है। प्रत्येक विधा के इतिवृत्त के पूर्व उसके स्वरूप स्थापन एवं विधा की विकास परम्परा पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है।

९. चरित-काव्य विधा का प्रारम्भ प्राकृत में ही हुआ है। विमलसूरि का 'उत्तम चरिय' प्राकृत का ही प्रथम चरित-काव्य नहीं है, अपितु भारतीय श्रेण्य साहित्य का प्रथम चरित काव्य है। प्राकृत भाषा के कवियों ने आगमों से दर्शन और आचार तत्त्व, पुराणों से चरित, लोकजीवन से प्रेम और रोमान्स, नीतिग्रन्थों से राजनीति, विश्वास और सांस्कृतिक परम्पराएँ एवं स्तोत्रों से भावात्मक अभिव्यञ्जनाएँ ग्रहण कर चरित-काव्य विधा का सूत्रपात किया है। प्राकृत चरित-काव्यों के अनुकरण पर संस्कृत में हर्ष-चरित, नैषधीयचरित, बिक्रमांकदेवचरित, रघुनाथचरित प्रभृति काव्यों का प्रणयन हुआ प्रतीत होता है। यह सत्य है कि संस्कृत के चरित-काव्य काव्य-गुणों की दृष्टि से प्राकृत के चरितकाव्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं।

१०. प्राकृत भाषा का कथासाहित्य अत्यन्त समृद्ध और गौरवपूर्ण है। अंग और उपांग साहित्य में सिद्धान्तों के प्रचार और प्रसार के हेतु अपूर्व प्रेरणाप्रद और प्रांजल आख्यान उपलब्ध हैं। इनमें ऐसे अनेक चिरगूढ़ और संवेदनशील आख्यान आए हैं, जो ऐतिहासिक और पौराणिक तथ्यों की प्रतीति के साथ बर्बरता की निर्मम घाटी पर निरुपाय लुढ़कती मानवता को नैतिक और आध्यात्मिक भावभूमि पर ला मानव को महान् और नैतिक अधिष्ठाता बनाने में सक्षम हैं। आगमकालीन कथाओं की उत्पत्ति उपमानों, रूपकों और प्रतीकों से ही हुई है। प्राकृत कथाओं का स्वरूप पालि कथाओं के समान होने पर भी भिन्नता यह है कि पालिकथाओं में पूर्वजन्म कथा का मुख्य भाग रहता है, पर प्राकृत कथाओं में यह केवल उपसंहार का कार्य करता है। पालिकथाओं में बोधिसत्त्व या भविष्य बुद्ध ही मुख्य पात्र रहते हैं, जो अपने उस जीवन में अभिनय करते हैं और आगे चलकर उनका यह आख्यान कथा बन जाता है। यद्यपि उस कथा का मुख्यांश गाथा भाग ही होता है, गद्यांश उस मुख्य भाग की पुष्टि के लिए आता है, तो भी कथा में समरसता बनी रहती है। प्राकृत कथाओं में वैविध्य है, अनेक प्रकार की शैली और अनेक प्रकार के विषय दृष्टिगोचर होते हैं। प्रकृत कथाएँ भूत की नहीं, वर्तमान की होती हैं। प्राकृत कथाकार अपने सिद्धान्त की सीधे प्रतिष्ठा नहीं करते, बल्कि पात्रों के कथोपकथन और शीलनिरूपण आदि के द्वारा सिद्धान्त की अभिव्यञ्जना करते हैं। चरित्र-

विकास के हेतु किसी प्रेमकथा अथवा अन्य किसी लोककथा को उपस्थित किया जाता है। लम्बे संघर्ष के पश्चात् नायक या अन्य पात्र किसी आचार्य या संन्यासी का सम्पर्क प्राप्त कर नैतिक जीवन आरम्भ करते हैं। प्राकृत कथा-साहित्य की एक अन्य विशेषता है कि कथा में आये हुए प्रतीकों की उत्तरार्द्ध में सैद्धान्तिक व्याख्या करना। यहाँ उदाहरणार्थ वसुदेवहिण्डी का 'इब्भपुत्तकहाणयं' का उपसंहार अंश उद्धृत किया जाता है—

अयमुपसंहारो—जहा सा गणिया, तहा धम्मसुई। जहा ते रायसुयाई, तहा सुर-मणुयसुहभोगिणो पाणिणो। जहा आभरणाणि, तहा देसविरतिसहियाणि तवोववहाणाणि। जहा सो इब्भपुत्तो, तहा मोक्खकंखी पुरिसो। जहा परिच्छाकोसल्लं, तहा सम्मन्नाणं। जहा रयणपायपीढं, तहा सम्मद्दंसणं। जहा रयणाणि, तहा महव्वयाणि। जहा रयणविणिओगो तहा निव्वाणसुहलाभो त्ति[1]।

प्राकृत-कथाकृतियों में पात्रों की क्रियाशीलता और वातावरण की सजावट नाना प्रकार की भावभूमियों का सृजन करने में सक्षम है। प्राकृतकथाकारों में यह गुण पाया जाता है कि वे पाठक के समक्ष जगत् का यथार्थ अंकन कर नैतिकता की ओर ले जाने वाला कोई सिद्धान्त उपस्थित कर देते हैं। प्राकृतकथा-साहित्य की एक विशेषता यह भी है कि इनसे प्रेमाख्यानक परम्परा का सम्बन्ध घटित होता है। इनमें प्रेम की विभिन्न दशाओं का विवेचन बड़ी मार्मिकता और सूक्ष्मता से पाया जाता है।

प्राकृतकथा-साहित्य की एक अन्य विशेषता यह है कि देव और मनुष्य दोनों ही श्रेणी के पात्र एक ही धरातल पर उपस्थित हो कथारस का संचार करते हैं। कथाओं में अवान्तर मौलिकता या मध्य मौलिकता का समावेश रहता है, जिससे देहली-दीपक-न्याय से मध्य में निहित मौलिक सिद्धान्त कथा के पूर्व और उत्तरभाग को भी प्रकाशित कर देते हैं। कथाओं में पदार्थों, घटनाओं और पात्रों के स्वभाव-वर्णन के साथ कुतूहलपूर्ण घटनाओं का समावेश पाया जाता है।

११. काव्य और कथाओं के हृदयपक्ष का उद्घाटन प्रस्तुत कृति में किया गया है। प्राकृत कवि और लेखक अपने पात्रों के अन्तस्तल में प्रविष्ट हो अवस्था-विशेष में होने वाली उनकी मानस-वृत्तियों का विश्लेषण करते हैं और उचित पदन्यास द्वारा भाव-अनुभावों की अभिव्यञ्जना करते हैं। इन्होंने विस्मृत और अतीत; जीवित और वर्त्तमान को स्मृति के द्वारा एकसूत्र में बाँधने का आयास किया है। सच्चा प्रणय कुल और समाज की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। वह संयत और निष्काम होता है। काल की कराल छाया उसे आक्रान्त नहीं कर सकती। अनेक जन्मों तक चलने वाला प्रेम, वैर और सौहार्द पात्रों के जीवन में केवल विकार जन्य आनन्द का ही सञ्चार नहीं करता,

---

१. वसुदेवहिण्डी—आत्मानन्दसभा भावनगर; पृ० ४।

अपितु तृष्णारूपी विष-लता को उन्मूलन कर देने की क्षमता रखता है। कामवासना के चित्रण भी मनोवैज्ञानिक तथ्यों से पुष्ट है। यथास्थान इन तथ्यों का विश्लेषण किया गया है।

१२. प्राकृत-साहित्यकारों की प्रभावशाली शैली की आलोचना यथास्थान की गयी है। प्राकृत गद्य-लेखक जहाँ छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग कर अपनी शैली को सशक्त और प्रभावोत्पादक बनाते हैं, वहाँ राजवैभव, नारीरूप छटा, प्रकृति-रमणीयता के चित्रण के अवसर पर दीर्घ समास तथा अलंकारों से मण्डित वाक्यों का प्रयोग करते हैं, जिससे पाठकों के हृदय पर वर्णन अपने संश्लिष्ट और संघटित रूप में प्रभाव उत्पन्न कर देते हैं। नैतिक उपदेश, मर्मस्पर्शी कथन एवं लोकपक्ष का उद्घाटन करते समय सरल स्निग्ध और मनोरम शैली का उपयोग किया गया है। पूर्वास्वादित सुख की अभिव्यंजना स्वच्छरूप में प्रस्तुत की गयी है। सुरतोत्सव मनानेवाली प्रमदाओं के सुख-विलास का सहज चित्रण किया गया है। नवपदविन्यास, नूतन अर्थाभिव्यक्ति, मंजुल भावभंगी, ओजस्विता एवं शब्दों की प्रभुता प्राकृत-गद्य में संस्कृत-गद्य से कम नहीं है। यहाँ गद्य-सौन्दर्य के उदाहरणार्थ एक गद्यांश उपस्थित किया जाता है—

तं अभिनवुब्भिन्न-नव-चूत-मंजरी-कुसुमोतर-लीन-पवन-संचालित-मंदमंदंदोलमानमुपांत-पातपंतरल-साखा-संघट्ट—वित्तासित-छन्नरन-रनरनायमान—तनुतर-पक्ख-संतति-विघट्टनुद्धूत-विचारमान-रजो-चुन्न भिन्न-हितपक-विगलमान-विमानित-मानिनी-सयंगाह-गहित-विय्याथर-रमनो विय्याथरोपवनाभोगोरभनिय्यो' त्ति[1]।

स्पष्ट है कि वर्ण्य-विषय के अनुरूप पदों का विन्यास और मंजुल भावभंगी पायी जाती है।

१३. प्राकृत के प्रतिभाशाली लेखक और कवियों की कृतियों की तुलना संस्कृत के प्रधान ग्रन्थों के साथ की गयी है और इस तुलना द्वारा साहित्य की प्रवृत्तियों के विवेचन का प्रयास किया गया है। प्राकृत महाकाव्य संस्कृत के महाकाव्यों से प्रभावित हैं तथा माघ की शैली का अनुकरण करते हैं।

१४. चरित-काव्यों और प्राकृत के मुक्तकों में आन्तरिक वासनाओं, एषणाओं एवं भौतिक प्रलोभनों का संस्कृत-काव्यों की अपेक्षा अधिक गम्भीर विवेचन पाया जाता है। प्रस्तुत कृति में यथास्थान उसे विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है।

१५. प्राकृत-साहित्य का भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से जितना महत्व है, भारतीय संस्कृति के इतिवृत्त को अवगत करने के लिए उससे भी अधिक इसकी उपयोगिता है। ढाई

---

१. कुवलयमाला—सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, वि० सं० २०१५, पृ० ७१ अनु० १३९।

हजार वर्षों के भारतीय जीवन की स्पष्ट झांकी पायी जाती है। इस विषय पर एक स्वतंत्र रचना लिखे जाने की आवश्यकता है। यहाँ एक दो सांस्कृतिक विशेषताओं का निरूपण किया जाता है। कथाकोषप्रकरण में शालिभद्र के आख्यान में भद्रा सेठानी द्वारा महाराज श्रेणिक के किए गए स्वागत तथा भोज का बहुत ही सुन्दर चित्रण है। श्रेणिक ने अपनी महारानी चेलना सहित शालिभद्र के उपवन में स्थित पुष्करिणी में स्नान किया। कवि ने लिखा है—

तत्थ पेच्छइ सव्वोउयपुप्फफलोवचियं पुण्णागनागचंपयाइनाणादुमसयकलियं नंदणवणसंकासं काणणं। उवरि निरुद्धरविससिपहं भित्तिभाएसु थम्भदेसेसु छयणसिलासु य निवेसियदसद्धवण्णरयणंपहापणासियंधयारे तस्स मज्झदेसभाए कीलापोक्खरिणी, कीलियापओगसंचारियावणीयपाणिया चंदमणिघडियपेरन्त वेइया तोरणोवसोहिया देवाण वि पत्थणिज्जा। तत्थ य कीलानिमित्तमोइण्णो राया सहचेल्लणाए मज्जिउमाढत्तो[1]।

अभ्यंग और उद्वर्तन के अनन्तर राजा-रानी ने सभी ऋतुओं में विकसित होने वाले पुष्पों से युक्त पुन्नाग, नाग, चंपक आदि सैकड़ों प्रकार के पुष्पवृक्ष और लताओं से वेष्टित नन्दवन जैसे सुन्दर उपवन को देखा। उसके मध्य भाग में एक क्रीड़ा पुष्करिणी दिखलायी पड़ी, जिसके ऊपर का भाग ढका हुआ था। परन्तु आस-पास दीवालों में, स्तम्भों और छज्जों में लगे हुए पाँचों प्रकार के रंग फैलानेवाले रत्नों के प्रकाश से उस पुष्करिणी का जल दीप्तिमान हो रहा था। इसका जल नवबोल्ट के प्रयोग द्वारा बाहर निकाला जाता था। चन्द्रमणि से इसके आस-पास की वेदी बनायी गयी थी। चारो ओर तोरण लगे हुए थे और इस प्रकार वह देवताओं के लिए वांछनीय वस्तु थी। राजा रानी चेलना सहित उसमें स्नान करने के लिए प्रविष्ट हुआ।

दिव्य भोज का बहुत ही सुन्दर और व्योरेवार चित्रण किया गया है।

उवणीयाइं चव्वणीयाइं दाडिमदक्खादंत सरबोररायणाइं। पसाइयाइं रण्णा जहारिहं। तयणंतरमुवणीयं चोसं सुकुमारियइक्खुगंडिया खज्जूर-नारंग-अंबगाइभेयं। तओ सुसमारियबहुभेयावलेहाइयं लेहणीयं। तयणंतरं असोगवट्टि-सगव्वुयसेवा-मोयग-फेणिया-सुकुमारिया-घयपुण्णाइयं बहुभेयं भक्खं। तओ सुगन्धसालि-कूर-पहुत्ति-सारय-घय-नाणा-सालणगाइं। तओ अणेगदव्वसंजोइयनिव्वत्तिया कड्ढिया। तओ अवणीयाइं भायणाइं। पडिग्गहेसु सोहिया हत्था। नाणाविहदहिविहत्तीओ उवणीयाओ, तेण भुत्तं तदुचियं। पुणो वि

१. कथाकोषप्रकरण—सिंघी जैन शास्त्र-शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, वि० सं०, २००५, पृ० ५७।

अवणीयाइं भायणाइं। सोहिया तत्थ हत्था। आणीयमद्धावट्टं पारिहट्टिदुद्धं, महुसक्कराघणसारसारं। तयणंतरमुवणीयं आयमणं। तओ उवणीयाओ दंतसलागाओ। नाणागंधसुयंधं समप्पियं हत्थाणमुव्वट्टणं। आणीयं मणयमुण्हं पाणीयं। निल्लेविया तेण हत्था। अवगओ अण्णाइगन्धो। उवणीया गन्धकासाइया करनिमज्जणत्थं। उवविट्ठो अन्नत्थं मंडवे[1]।

सर्वप्रथम दाडिम, द्राक्षा, दंतसर, बेर, रायण-खिरनी, आदि चर्वणीय पदार्थ उपस्थित किये गये, जिनमें से यथायोग्य लेकर राजा ने अपना प्रसादभाव प्रकट किया। इसके पश्चात् ईख की गंडेरी, खजूर, नारंग, आम आदि चोष्य वस्तुएँ उपस्थित की गईं। उसके बाद अनेक प्रकार के अच्छी तरह से तैयार किए गये लेह्य पदार्थ लाए गए। अनन्तर अशोक, वट्टीसक, सेव, मोदक, फेणी, सुकुमारिका, घेवर आदि अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ परोसे गये। बाद में सुगन्धित चावल, विरंज आदि लाये गये पश्चात् नाना प्रकार के द्रव्यों के मिश्रण से बनाई गई कढ़ी रखी गई। उनका आस्वादन कर लेने पर वे बर्तन उठा दिए गये। पतगृह—धातु की कुंडी में हाथ धुलाए गए। अनन्तर नाना प्रकार की दही से बनी वस्तुएँ उपस्थित की गईं, जिनका यथोचित उपभोग किया। उन बर्तनों को उठा कर हाथ साफ किए गये। अब आधा ओंटा हुआ मधु, चीनी और केसर मिश्रित दूध दिया गया। पश्चात् आचमन कराया गया। दाँत साफ करने के लिए दन्तशलाकाएँ दी गईं। दाँतों को निर्लेप करने के हेतु सुगन्धित उद्वर्त रखा गया। किंचिदुष्ण जल से पुनः हाथ धुलाए गये, जिससे अन्नादि की गन्ध दूर हो गयी। पुनः हाथों को मलने के लिए सुगन्धित काषायित वस्तुएँ उपस्थित की गयीं। राजा दूसरे मंडप में जाकर बैठ गया। वहाँ पर विलेपन, पुष्प, गन्ध, माल्य और ताम्बूल आदि चीजें दी गईं।

भारतीय संस्कृति, सभ्यता, समाज, राजनैतिक संगठन आदि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्राकृत-साहित्य बहुत उपयोगी है। जनसाधारण से लेकर राजा-महाराजाओं तक के चित्र जितनी स्पष्टता, सूक्ष्मता और विस्तार के साथ प्राकृत-साहित्य में चित्रित हैं, उतने अन्य भाषा के साहित्य में नहीं। जीवन के विस्तार, व्यवहार, विश्वास में जितनी समस्याएँ और परिस्थितियाँ आती हैं, उनका बार-बार निरूपण प्राकृत-साहित्य में पाया जाता है। वाणिज्य के हेतु की गयी समुद्र-यात्राओं का सजीव वर्णन पाया जाता है। वणिक् व्यापार के निमित्त बड़े-बड़े जहाजी बेड़े चलाते थे और सिंहल, सुवर्णद्वीप और रत्नद्वीप आदि से धनार्जन कर लौटते थे। धन नामक पात्र के सम्बन्ध में 'समराइच्चकहा' में आया है कि वह स्वोपार्जित वित्त द्वारा दान करने के निमित्त समुद्र व्यापार

---

१. वही पृ० ५८।

करने गया। वह अपने साथ में अपनी पत्नी धनश्री और भृत्य नन्द को भी लेता गया। जहाज में नाना प्रकार का समान था। मार्ग में उसकी पत्नी धनश्री ने उसे विष खिला दिया। अपने जीवन से निराश होकर उसने अपना माल-मता नन्द को सुपुर्द कर दिया। कुछ दिनों के बाद जहाज महाकटाह पहुँचा और नन्द सौगात लेकर राजा से मिला। यहाँ नन्द ने माल उतरवाया और धन की दवा का भी प्रबन्ध किया, पर उसे औषधि से लाभ नहीं हुआ। यहाँ से भी माल खरीद कर जहाज में लाद दिया गया[१]। 'समराइच्चकहा' के पञ्चम भव की कथा में सनत्कुमार और वसुभूति सार्थवाह समुद्रदत्त के साथ ताम्रलिप्ति से व्यापार के लिए चले। जहाज दो महीने में सुवर्णभूमि पहुँचा। सुवर्णभूमि से सिंहल के लिए रवाना हुए। तेरह दिन चलने के बाद एक बड़ा भारी तूफान उठा और जहाज काबू से बाहर हो गया[२]।

समराइच्चकहा में गण्डोपधान[3]—गोल तकिया, आलिंगणिका[४]—मसनद जैसे तकियाओं के कई प्रकार परिलक्षित होते हैं। प्राचीन भारत में मसूरक—गोल गद्दे का व्यवहार भी किया जाता था "चित्तावाडिमसूरयम्मि[५]" का प्रयोग चित्र-विचित्र गद्दे के अर्थ में हुआ है।

कुवलयमाला में १८ प्रकार के घोड़ों का लक्षण निर्देश किया गया है। यथा—

तुरयाणं[६] ताव अट्ठारस जाईओ। तं जहा—माला हायणा कलया खसा कक्कसा टंका टंकणा सारीरा सहजाणा हूणा सेंधवा चित्तचला चंचला पारा पारावया हंसा हंसगमणा वत्थव्वय त्ति एत्तियाओ चेव जाईओ। एयाणं जं पुण वोल्लाहा कयाहा सेराहाइणो तं वण्ण-लंछण-विसेसेण भण्णइ। अवि य

आसस्स पुण पमाणं पुरिसंगुल णिम्मियं तु जं भणियं।
उक्किट्ठवयस्स पुरा रिसीहिं किरी लक्खणण्णूहिं॥
बत्तीस अगुलाइं मुहं णिडालं तु होइ तेरसयं।
तस्स सिरं केसं तो य होइ अट्ठट्ठ विच्छिण्णं॥
चउवीस अगुलाइं उरो हयस्स भणिओ पमाणेणं।
असीति से उस्सेहो परिहं पुण तिउणियं वेंति॥
एयप्पमाण-जुत्ता जे तुरया होंति सव्व-जाईया।
ते राईणं रज्जं करेंति लाहं तु इयरस्स॥

---

१. समराइच्चकहा—भगवानदास संस्करण, चतुर्थ भव, पृ० २४०।

२. वही, पञ्चम भव की कथा, पृ० ३९८।

३–५. वही, पृ० ९७४।

६. कुवलयमाला, सिंधी जैन शास्त्रशिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, वि० सं० २०१५, पृ० २३, अ० ५६।

उपर्युक्त पद्यों में उत्तम घोड़े का लक्षण बताते हुए कहा कि उसका मुख बत्तीस अंगुल, मस्तक तेरह अंगुल, हृदय चौबीस अंगुल और ऊँचाई अस्सी अंगुल प्रमाण होनी चाहिए। ऊँचाई से तिगुने प्रमाण परिधि होनी चाहिए। इस प्रकार का तुरङ्ग राजाओं को राज्य कराता है और इतर व्यक्तियों को लाभ कराता है।

इस सन्दर्भ में अश्वों के दोष और गुण का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम में बहत्तर कलाओं को स्थान दिये जाने का उल्लेख है।

आक्खं णट्टं जोइसं च गणियं गुणा य रयणाणं।
वागरणं वेय-सुई गन्धव्व गंध-जुत्ती य॥
संखं जोगो वारिस-गुणा य होरा य हेउ-सत्थं च।
छंदं वित्ति-णिरुत्तं सुमिणय-सत्थं सउण-जाणं॥
आउज्जाणं तुरयाणं लक्खणं लक्खणं च हत्थीणं।
वत्थुं वट्टाखेड्डं गुहागमं इंदजालं च॥
दंत-कयं तंब-कयं लेप्पय-कमाइँ चेय विणिओगो।
कव्वं पत्त-च्छेज्जं फुल्ल-विही अल्ल कम्मं च॥
धाउव्वाओ अक्खाइया य तंताइँ पुप्फ-सयडी य।
अक्खर-समय-णिघंटो रामायण-भारहाइं च॥
कालायास-कम्मं सेक्क णिण्णऔ तह सुवण्ण-कम्मं च।
चित्त-कला-जुत्तीओ जूयं जंत-प्पओगो य[1]॥

आलेख्य—धूलिचित्र, सादृश्यचित्र और रसचित्र; नाट्यकला, ज्योतिष, गणित, मूल्यपरिज्ञान, व्याकरण, वेद-श्रुति, गन्धर्व—संगीतकला, गन्धजुत्ती—इत्र, केसर, कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों की पहचान और गुणदोषों का परिज्ञान, सांख्य, योग, बारिस-गुणा—वर्षा के गुण-दोष या परिज्ञान की कला अथवा संवत्सर परिज्ञान, होरा—जातक-शास्त्र, हेतुशास्त्र—न्यायशास्त्र, छन्दःशास्त्र, वृतिभाष्यज्ञान, निरुक्तशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, शकुनशास्त्र, आयुर्ज्ञान, अश्वलक्षण, गजलक्षण, वत्थु-वास्तुकला, वट्टाखेट्ट—वार्त्ताक्रीडा-पहेली बुझान या बाह्याली में घुड़सवारी करने की कला, गुफाज्ञान, इन्द्रजाल, दन्त-कर्म, ताम्रकर्म, लेपकर्म, विनियोग—क्रय-विक्रय परिज्ञान, काव्यकला, पत्रच्छेद, पुष्प-विधि, अल्लकर्म—सिंचाई की कला, धातुवाद, आख्यान, तन्त्र, पुप्फसयडी—शरीरविज्ञान, अक्षरनिघण्टु, पदनिघण्टु, रामायण-महाभारत काव्य, लौहकर्म, सेनानिर्गमन, सुवर्णकर्म, चित्रकला, द्यूतकला, यन्त्रप्रयोग, वाणिज्य, मालनिर्माण, भस्मनिर्माण, वस्त्रनिर्माण या वस्त्रकर्म, आलंकारिकर्म—आभूषण-निर्माणविधि, जलस्रोत परिज्ञान, पन्द्रह के तन्त्र

१. वही, पृ० २२, अनु० ५२।

का परिज्ञान, नाटकयोग, कथा-निबन्ध, धनुर्वेद, सूपशास्त्र, आरुह—वृक्षारोहण या पर्वतारोहणकला, लोकवृत्तकला, औषधिनिर्माणविधि, ताला खोलने की कला, मातृकामूल परिज्ञान—भाषाविज्ञान, तीतर लड़ाने की कला, कुक्कुटयुद्धपरिज्ञान, शयनसंविधान, आसनसंविधान, समय पर देने लेने की कला, मधुर वस्तुओं के माधुर्य का परिज्ञान या आलता और मोम बनाने की कला में राजकुमारों को प्रवीण किया जाता था।

इन कलाओं के निर्देश के अतिरिक्त प्राकृत-साहित्य में शिक्षा के सम्बन्ध में अन्य भी कई महत्त्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते हैं। रायपसेणिय में तीन प्रकार के आचार्यों का वर्णन आया है—कालाचरिय-कालाचार्य, सिप्पाचरिय–शिल्पाचार्य और धम्माचरिय–धर्माचार्य। आचार्य को ज्ञान की दृष्टि से पूर्ण होना आवश्यक था। उक्त तीनों प्रकार के आचार्य छात्रों, राजकुमारों और सार्थवाहों को शिक्षा देकर नैतिक और आध्यात्मिक मार्ग में प्रवृत्त करते थे। प्राकृत-साहित्य में शिष्य के विधेय कर्तव्यों का विवेचन निम्न प्रकार उपलब्ध होता[1] है—

१. जिज्ञासु, इन्द्रियजयी, उत्साही और मधुरभाषी होने के साथ परिश्रमी होना आवश्यक है।

२. गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला, विनयी और विवेकी बनकर विद्यार्जन करना चाहिये।

३. गुरु के समक्ष किसी भी प्रकार की उद्दण्डता या पापाचरण करना सर्वथा वर्जित है।

४. गुरुजनों के समक्ष किसी भी प्रकार का प्रमाद करना या अनैतिक व्यवहार करना निषिद्ध है। गुरु को उत्तर-प्रत्युत्तर देना भी वर्जित है।

५. विषय स्पष्ट न होने पर विनयपूर्वक पूछना, पुनः पुनः स्मरण करना और असत्य भाषण का त्याग कर अपराध स्वीकार करना तथा गुरु द्वारा दिये गये दण्ड को ग्रहण करना अच्छे शिष्य का कर्त्तव्य है।

६. शरीर-संस्कार का त्याग कर कला, दर्शन और अध्यात्मज्ञान का अर्जन करने में संलग्न रहना आवश्यक है।

इस प्रकार प्राकृत-साहित्य का महत्त्व संस्कृति, शिक्षा एवं सभ्यता के अध्ययन की दृष्टि से अत्यधिक है। प्रस्तुत इतिहास में केवल साहित्यिक सौन्दर्य का ही विश्लेषण किया है। इसमें जो कुछ अच्छाइयाँ हैं, वे गुरुजनों के प्रसाद का फल है और दोष या भूलें मेरे अज्ञान का परिणाम हैं। अतः सुविज्ञ पाठकों से त्रुटियों के लिए क्षमा-याचना करता हूँ।

---

१. उत्तराध्ययन ११।१४।

आभार :

सर्वप्रथम मैं उन समस्त कवियों, आचार्यों, साहित्य-स्रष्टाओं, लेखकों और विद्वानों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिनकी रचनाओं का उपयोग इस कृति के कलेवर-संपोषण में किया गया है। पूज्य गुरुदेव पण्डित कैलाचन्द्रजी शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य, काशी के प्रति अपनी सविनय भक्ति प्रकट करता हूँ; जिन्होंने एक बार इस कृति का अवलोकन कर मेरा उत्साह बढ़ाया है। इसके प्रकाशक बन्धुद्वय श्रीरमाशंकरजी और श्रीविनयशंकरजी का मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिनकी कृपा से यह रचना पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हो रही है। प्रूफ-संशोधन में भाई प्रो० दरबारीलालजी कोठिया एम०ए०, आचार्य काशी हि० वि० वि० तथा प्रो० राजारामजी जैन एम० ए०, पी० एच० डी०, एच० डी० जैन कालेज आरा (मगधविश्वविद्यालय) से सहायता प्राप्त हुई है, अतः उक्त दोनों बन्धुओं के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। अन्य सहायकों में अपनी धर्मपत्नी श्रीमती सुशीलादेवी के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ, जिनके गृह-सम्बन्धी सुप्रबन्ध के कारण कालेज के कार्य के उपरान्त शेष समय का बहुभाग मुझे अध्ययन-अनुशीलन के लिए प्राप्त हो जाता है।

कमियों और भूलों के लिए पुनः क्षमा-याचना करता हूँ।

एच० डी० जैन कालेज,
आरा (मगध विश्वविद्यालय)
नेहरू जन्म-दिवस
१४ नवम्बर, १९६५.

नेमिचन्द्र शास्त्री

गंथ-समप्पणं

दंम्सं दंस्सं पहवदि मणो कस्स णो जस्स दिव्वं,
विद्दुज्जाए सघणरुइरं णाण-विण्णाण-तेओ।
लोयालोए दिहि दिहि चिरं सुज्झदे जस्स कित्ती,
हीरालालो जयदु विउसां अग्गगण्णो हि जेणो॥

भासायासे पहर-रवि इव पाइए भासमाणो,
जो अब्भंसे विलसदि सुही-वुन्दमज्झेऽद्दुइयो।
अज्झेइणां हरदि हिअयं संकिदा जस्स भूई,
सोऽयं लोए भवदु नियरां कस्स णो पूयणीयो॥

जो साहित्ते परमसरसो दंसणे दंसणीयो,
तक्के तिव्वो अदहदगदी वादिहिं वंदणिज्जो।
जीहा-देसे विहरदि सदा जस्स वाणी पसण्णा,
तम्हे सीयां विदरदि कदिं सांजली **णेमिचंदो**॥

प्रथमोऽध्यायः

भाषाविकास और प्राकृत

भाषा का विकास

भाषा और विचार का अटूट सम्बन्ध है। मनुष्य के मस्तिष्क में जब विचार उठे होंगे, तभी भाषा भी आयी होगो। पाणिनि ने बताया है—"आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों को समझकर मन को बोलने की इच्छा से प्रेरित करती है। मन शरीर की अग्नि-शक्ति पर जोर डालता है और वह शक्ति वायु को प्रेरित करती है, जिससे शब्द-वाक् की उत्पत्ति होती[1] है।"

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य के विकास के साथ-साथ वाणी का भी विकास हुआ है। अतएव आदिकाल में यदि भिन्न-भिन्न स्थानों पर मनुष्य समाज का विकास हुआ होगा, तो सम्भव है कि भिन्न-भिन्न भाषाएँ आरम्भ से ही विकसित हुई हों। यदि एक ही स्थान पर सुसंगठित रूप में मनुष्य समुदाय का आविर्भाव माना जाय तो आरम्भ में एक भाषा का अस्तित्व स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। यतः स्थान और काल-भेद से ही भाषाओं में वैविध्य उत्पन्न होता है। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य की भाषा सृष्टि के आरम्भ से ही निरन्तर प्रवाहरूप में चली आ रही है, पर इस प्रवाह के आदि और अन्त का पता नहीं है। नदी की वेगवती धारा के समान भाषा का वेग अनियन्त्रित रहता है। अतः यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान में भाषाओं की जो विभिन्नता दृष्टिगोचर हो रही है, वह कितनी प्राचीन है और न यही कहा जा सकता है कि मानवसृष्टि का विकास पृथ्वी के किस विशिष्ट स्थान में हुआ है। तथ्य यह है कि मूलभाषा एक या अनेक रूप में जैसी भी रही हो, पर भौगोलिक परिस्थितियों का आधार पाकर विकास और विस्तार को प्राप्त करती है। इस प्रकार विकास और विस्तार करते-करते एक से अनेक भाषाएँ बनती जाती हैं; उन अनेकों में भी ऐसी और अनेक शाखा-प्रशाखा, परिवार-उपपरिवार एवं भाषा-उपभाषाएँ बनती जाती हैं जिनमें मिलान करने पर पूर्णतः भिन्नता पायी जाती है। विद्वानों ने स्थूल रूप से संसार

---

१. आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
—पाणिनीय शिक्षा श्लोक ६ चौखम्बा संस्करण, १९४८।

की भाषाओं को निम्नलिखित बारह परिवारों में विभक्त किया है। यों तो विश्व में दो-ढाई सौ परिवार की भाषाएँ वर्तमान हैं, पर प्राकृत भाषा के स्थान निर्धारण के लिए उक्त बारह प्रकार के परिवार ही अधिक अपेक्षित हैं।

(१) भारोपीय परिवार, (२) सेमेटिक परिवार, (३) हैमेटिक परिवार, (४) चीनी परिवार या एकाक्षरी परिवार, (५) यूराल अल्टाई परिवार, (६) द्राविड़ परिवार, (७) मैलोपालीनेशियन परिवार, (८) बंटू परिवार, (९) मध्य अफ्रीका परिवार, (१०) आस्ट्रेलिया प्रशान्तीय परिवार, (११) अमेरिका परिवार, (१२) शेष परिवार।

इन बारह भाषा परिवारों में से प्राकृत भाषा का सम्बन्ध भारोपीय परिवार से है। इस भाषा परिवार को भी आठ उपभाषा परिवारों में बाँटा जाता है।

(१) आरमेनियन, (२) बाल्टैस्लैबोनिक, (३) अलवेनियम, (४) ग्रीक, (५) भारत, ईरानी या आर्यपरिवार, (६) इटैलिक, (७) कैल्टिक, (८) जर्मन या टयूटानिक।

इन आठों उपपरिवारों में भी हमारी प्राकृत का सम्बन्ध पाँचवें उपपरिवार भारत-ईरानी अथवा आर्य उपपरिवार से है। इस 'भारत-ईरानी' उपपरिवार में भी तीन शाखा परिवार हैं।

(१) ईरानी शाखा परिवार, (२) दरद शाखा परिवार, (३) भारतीय आर्य शाखा परिवार।

प्राकृत भाषा का कौटुम्बिक सम्बन्ध उक्त तीन शाखा परिवारों में से भारतीय आर्यशाखा परिवार से है; अतः भारतीय आर्यभाषा का ही एक रूप प्राकृत भाषा है। भारतीय आर्यशाखा परिवार के विकास को विद्वानों ने तीन युगों में विभक्त किया है—

प्राचीन भारतीय आर्यभाषाकाल	(१६०० ई० पू०—६०० ई० पू०)
मध्यकालीन आर्यभाषाकाल	(६०० ई० पू०—१०००)
आधुनिक आर्यभाषाकाल	(ई० १०००—वर्तमान समय)

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का स्वरूप ऋग्वेद की प्राचीन ऋचाओं में सुरक्षित है। यतः भारतीय साहित्य का ऊषःकाल वैदिक युग में प्रकृति के कोमल और रौद्र दोनों तरह के गान से आरम्भ होता है। आर्यों ने यज्ञपरायण संस्कृति के प्रसार, प्राकृतिक शक्तियों के पूजन, देवत्व विषयक भावनाओं के अभिव्यञ्जन एवं बौद्धिक चिन्तन से सम्बद्ध विपुल साहित्य का निर्माण किया है। इस साहित्य में जिस छान्दस् या वैदिक भाषा का रूप उपलब्ध होता है, वही प्राचीन भारतीय आर्यभाषा है। वैदिक युग की इस भाषा में हमें कई वैभाषिक प्रवृत्तियों का संकेत

प्राप्त होता है, जो तत्तत्काल और तत्तत् प्रदेश की लोकभाषा का सूचक है। यह सत्य है कि छान्दस् भाषा उस समय की साहित्यिक भाषा है, यह जनभाषा का परिष्कृत रूप है। निश्चयतः जनता की बोल-चाल की भाषा इससे भिन्न रही होगी। बोल-चाल की भाषा में परिवर्तन के तत्त्व सर्वदा वर्तमान रहते हैं, यही कारण है कि यास्क (८०० वि० पू०) के समय तक छान्दस् भाषा में इतना विकास और विस्तार हुआ कि मन्त्रों के अर्थ को समझना कठिन हो गया। फलतः यास्क को निरुक्त लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

भाषा की विकसनशील शक्ति के कारण पाणिनि के पूर्व छान्दस् संस्कृत के अनेक रूप प्रादुर्भूत हो गये थे। इस काल में ब्रह्मर्षि देश तथा अन्तर्वेद की विभाषा, उत्तरी विभाषा उस काल की परिनिष्ठित (स्टैण्डर्ड) भाषा थी और पाणिनि से पहले भी कुछ वैयाकरणों ने—शाकटायन, शाकल्य, स्फोटायन, इन्द्र प्रभृति ने इसे व्याकरण सम्मत साहित्यिक रूप देने का प्रयत्न किया था। पाणिनि ने जिस भाषा को व्याकरण द्वारा अनुशासित किया, वह निश्चय ही उस समय की साहित्यिक भाषा रही होगी। मेरा अनुमान है कि छन्दस् भाषा, जिसमें लोकभाषा के अनेक स्रोत मिश्रित थे, परिमार्जित और परिष्कृत हो साहित्यिक संस्कृत रूप को प्राप्त हुई है। तथ्य यह है कि भारतवर्ष में अनेक जातियों के लोग एवं उनकी विभिन्न भाषाएँ हैं। इन उपादानों के सम्मिश्रण से ही आर्य भाषा और भारतीय संस्कृति निर्मित हुई है। भारत में निषाद, द्रविड, किरात और आर्य इन चारों जातियों ने मिल कर भारतीय जनजीवन एवं संस्कृति को विकसित किया है। श्री डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का अभिमत है—"ऑस्ट्रिक और द्रविड़ों द्वारा भारतीय संस्कृति का शिलान्यास हुआ था, और आर्यों ने उस आधारशिला पर जिस मिश्रित संस्कृति का निर्माण किया उस संस्कृति का माध्यम; उसकी प्रकाशभूमि एवं उसका प्रतीक यही आर्य भाषा बनी[1]।"

अतएव स्पष्ट है कि छान्दस् या वैदिक संस्कृत में भी कई विभाषाओं के बीज वर्तमान हैं। यही कारण है कि ऋग्वेद को तत्कालीन जन-भाषा में लिखा नहीं माना जाता है। वास्तव में ऋग्वेद की भाषा उस काल के पुरोहितों और राजाओं की भाषा है। जन-भाषा का रूप अथर्ववेद में उपलब्ध होता है। इनमें जिन शब्दों का प्रयोग उपलब्ध है, उनमें अधिकांश शब्द ऐसे हैं, जिनका व्यवहार जन-साधारण अपने दैनिक जीवन में करता था। शिष्टता एवं रूढिवादिता की सीमा से

---

१. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—पृ० १५, ले०—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, प्र०—राजकमल प्रकाशन, सन् १९५७।

अथर्वेद की भाषा पृथक् है[1]। अतः प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का वास्तविक रूप केवल ऋग्वेद में ही नहीं मिलता है, इसके लिए अथर्ववेद एवं ब्राह्मण साहित्य का भी अध्ययन करना अपेक्षित है।

वैदिक भाषा में अन्य भाषा तत्वों का समावेश

वैदिक काल में ही वैदिक भाषा बोलनेवाले आर्य सप्तसिन्धु और मध्यप्रदेश से आगे बढ़ गये थे और उनकी भाषा द्रविड़ एवं मुण्डा वर्ग की भाषाओं से प्रभावित होने लगी थी। ध्वन्यात्मक एवं पदरचनात्मक दृष्टि से उसमें अनेक विशेषताएँ मिश्रित होने लगी थीं। मूर्धन्य टवर्गीय ध्वनियाँ, सामासिक प्रवृत्ति एवं प्रत्यय संयोग के कारण संश्लिष्ट रूपों का विकास प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में आर्यों के विस्तार के पश्चात् ही हुआ है। यही कारण है कि वैदिक काल से ही विभाषाओं और उपभाषाओं का विकास होता आ रहा है।

वैदिक या छान्दस् के साथ प्राकृत भाषा के तत्त्व

वैदिक भाषा के समानान्तर जनभाषा, जिसे प्राकृत कहा गया है, निरन्तर विकसित होती जा रही थी। विकट, कीकट, निकट, दण्ड, √पठ्, √घट्, क्षुल्ल इस प्रकार के जनभाषा के रूप हैं, जिनके वास्तविक वैदिक रूप क्रमशः विकृत, किकृत, निकृत, दन्द्र, अन्द्र, √प्रथ्, ग्रथ् क्षुद्र (क्षुद्‌ल) थे[2]। ये रूप वस्तुतः प्राकृत या देश्य थे, जो शनैः शनैः वैदिक भाषा में मिश्रित हो गये। इसी प्रकार 'इन्द्रावरुणा', 'मित्रावरुणा', 'उच्चा', 'नीचा', 'पश्चा', 'भोतु', 'दूडभ', 'दूलभ' प्रभृति प्रयोग भी वैदिक भाषा में प्रादेशिक बोलियों से ही गये हैं। अतएव स्पष्ट है कि वैदिककाल में भी जनभाषा विद्यमान थी, जिसका प्रभाव छान्दस् पर पड़ा है। परवर्ती वैदिककाल में देश्य भाषा के विकास को विद्वानों ने निम्न रूप में विश्लेषित किया है।[3]

---

१. अथर्ववेद की सृष्टि ऋग्वेद से निराली है, रोज-ब-रोज के रीति-रिवाज और जीवन व्यवहार की बातें और मान्यताएँ उसमें ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित होती हैं। समग्र दृष्टि से अथर्ववेद के कुछ अंश ऋग्वेद के समकालीन तो हैं ही फिर भी अथर्ववेद के शब्द और शब्द प्रयोग ऋग्वेद से काफी निराले हैं। जिन शब्दों को ऋग्वेद में स्थान नहीं, वे शब्द अथर्ववेद में व्यवहृत होते हैं।

—डॉ० प्रबोध बेचरदास पंडित—प्राकृतभाषा पृ० १३।

२. चाटुर्ज्या द्वारा लिखित—'भारतीय-आर्यभाषा और हिन्दी' द्वितीय संस्करण पृ० ७४।

३. विशेष जानने के लिए देखें–भारतीय-आर्य भाषा और हिन्दी पृ० ७१-७२ द्वितीय संस्करण।

ब्राह्मण साहित्य पर जिन देश्य भाषाओं का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, वे हैं—उदीच्य या उत्तरीय विभाषा (२) मध्यदेशीय विभाषा (३) प्राच्य या पूर्वीय विभाषा। उदीच्य विभाषा उस काल की परिनिष्ठित विभाषा थी, इसका व्यवहार सप्तसिन्धु प्रदेश में होता था। इसी परिनिष्ठित विभाषा में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् साहित्य लिखा गया है। आधुनिक पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त एवं उत्तरीय पंजाब की भाषा उस समय परिनिष्ठित या शुद्ध मानी जाती थी और यही उस समय की साहित्यिक भाषा थी। यह प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के निकट एवं रूढ़िबद्ध थी। 'कौषीतकि ब्राह्मण' में बताया गया है कि "उदीच्य प्रदेश में भाषा बड़ी सावधानी से बोली जाती है, भाषा सीखने के लिए लोग उदीच्य जनों के पास ही जाते हैं, जो भी वहाँ से लौटता है, उससे सुनने की लोग इच्छा करते हैं"।[1] इससे सिद्ध है कि उदीच्यों का उच्चारण बहुत ही शुद्ध होता था और वे भाषा सिखलाने के लिए गुरु माने जाते थे। यही वह भाषा है, जिसे आधार मानकर महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की और संस्कृत भाषा की आधारशिला को दृढ़ बनाया। पाणिनि का जन्म गान्धार में शालातुर गाँव में हुआ था और उनकी शिक्षा तक्षशिला में सम्पन्न हुई थी। ये दोनों ही स्थान उदीच्य प्रदेश में हैं।

देश्य भाषा के तीन रूप

मध्यदेशीय विभाषा का रूप स्पष्ट नहीं है, पर इतना निश्चित है कि यह उदीच्य भाषा के समान रूढ़िबद्ध नहीं थी और न प्राच्या के समान शिथिल ही। इसका स्वरूप मध्यम मार्गीय था।

प्राच्या उपभाषा सम्भवतः आधुनिक अवध, पूर्वी उत्तरप्रदेश एवं विहार-प्रदेश में बोली जाती थी। यह असंस्कृत एवं विकृत विभाषा थी। इसमें द्रविड़ एवं मुण्डा भाषा के तत्त्वों का पूर्ण मिश्रण विद्यमान था। इस भाषा के बोलने वाले ऐसे लोग थे, जिनका विश्वास यज्ञीय संस्कृति में नहीं था। इसी कारण उन्हें व्रात्य कहा जाता था। इन व्रात्यों का सामाजिक एवं राजनैतिक संघटन भी उदीच्य आर्यों की अपेक्षा भिन्न था। बुद्ध और महावीर इन्हीं आर्यों में से थे। इन दोनों ने सामाजिक क्रान्ति के साथ मातृभाषा को समुचित महत्त्व दिया। परिनिष्ठित उदीच्य भाषा के आधिपत्य को हटाकर जनभाषा को अपना उचित पद प्रदान किया। डॉ० चाटुर्ज्या ने ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार बताया

१. तस्मादुदीच्यां प्रज्ञाततरा वागुद्यते। उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुं; यो वा तत आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति। कौषीतकि ब्राह्मण ७–६, डॉ० चाटुर्ज्या द्वारा उद्धृत भा० आ० भा० और हिन्दी पृ० ७२ द्वितीय संस्करण।

है[1] कि—"व्रात्य[2] लोग उच्चारण में सरल एक वाक्य को कठिनता से उच्चारणीय बतलाते हैं और यद्यपि वे दीक्षित नहीं हैं, फिर भी दीक्षा पाये हुओं की भाषा बोलते हैं। इस कथन से स्पष्ट है कि पूर्व के आर्य लोग—व्रात्य संयुक्त व्यञ्जन, रेफ एवं सोष्म ध्वनियों का उच्चारण सरलता से नहीं कर पाते थे। संयुक्त व्यञ्जनों का यह समीकृत रूप ही प्राकृतिक ध्वनियों का मूलाधार है। इस प्रकार वैदिक भाषा के समानान्तर जो जनभाषा चली आ रही थी, वही आदिम प्राकृत थी। पर इस आदिम प्राकृत का स्वरूप भी वैदिक साहित्य से ही अवगत किया जा सकता है।

मध्यकालीन आर्य-भाषा और प्राकृत

यह निर्विवाद सत्य है कि छान्दस् और संस्कृत में मूर्धन्य ध्वनियों का अस्तित्व प्राकृत तत्त्वों को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। अतः भारत-जर्मनिक परिवार की किसी अन्य भाषा—यहाँ तक कि अवेस्ता में भी मूर्धन्य ध्वनियाँ नहीं हैं। संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार दन्त्य न् के पूर्व यदि उसी शब्द में ऋ, र अथवा ष हो तो वह मूर्धन्य ण् में परिवर्तित हो जाता है। इस नियम के भीतर प्रवेश करने पर अवगत होगा कि प्राचीन या मध्यकालीन आर्यभाषा में यह णत्व की प्रवृत्ति द्राविड़ भाषा परिवार के सम्पर्क के कारण आयी है। आर्यों के आगमन के समय यहाँ नेग्रिटो, ऑस्ट्रिक एवं द्रविड़ जाति के लोग निवास करते थे। ऑस्ट्रिक जाति के लोग निषाद एवं द्रविड़ लोग आर्यों में दस्यु और दास नामों से प्रसिद्ध हुए। उत्तर या उत्तर-पूर्व से आये हुए तिब्बतो-चीनी लोग किरात कहलाये। अतः आर्यभाषा को द्राविड़ और आग्नेय दोनों परिवारों ने प्रभावित किया। मूर्धन्य ध्वनियों का अस्तित्व द्राविड़ परिवार के सम्पर्क से ही आया है। यही कारण है कि भारोपीय परिवार की अन्य किसी भी भाषा में इन ध्वनियों का अस्तित्व नहीं है। छान्दस् में 'र' का 'ल' ध्वनि के रूप में विकास पाया जाता है। वही 'ल' दन्त्य ध्वनि से मिलकर उसका मूर्धन्या भाव कर देता है। छान्दस् में ळ वाली प्रवृत्ति पायी जाती है, जो प्राच्या भाषा या प्राकृत का प्रभाव है। बात

---

१. अतदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहुः, अदीक्षिता दीक्षितवाचं वदन्ति। ताण्ड्य ब्रा० १७-४, भा० आ० भा० और हिन्दी पृ० ७२, द्वितीय संस्करण।

२. उपनयनादि से हीन मनुष्य व्रात्य कहलाता है। ऐसे मनुष्यों को लोग वैदिक कृत्यों के लिए अनधिकारी और सामान्यतः पतित मानते हैं। परन्तु यदि कोई व्रात्य ऐसा हो, जो विद्वान् और तपस्वी हो तो ब्राह्मण उससे भले ही द्वेष करें, परन्तु वह सर्वपूज्य होगा और देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा। —डॉ० सम्पूर्णानन्द द्वारा सम्पादित व्रात्य काण्ड भूमिका पृ० २, प्रथम संस्करण।

यह है कि उत्तरी भारत समतल मैदानों का प्रदेश होने के कारण, पश्चिम से पूर्व की ओर प्रायः तथा कभी-कभी पूर्व से पश्चिम की ओर लोगों का आवागमन होने से एक प्रदेश की भाषा में प्रचलित विशेष रूप दूसरे प्रदेश की भाषा में सरलतया पहुँच जाते थे। अतः प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल से ही आन्तर्प्रादेशिक भाषाओं का सम्मिश्रण होता आ रहा है। अतएव वैदिक भाषा के साथ जन-भाषा का अस्तित्व स्वयमेव सिद्ध है। इन जनभाषा को स्वरूप और प्रकृति के आधार पर प्राकृत कहा जा सकता है। डॉ० पी० डी० गुणे ने अपने 'An Introduction to Comparative philology' नामक ग्रन्थ में लिखा है—'From the above it will be seen, that the linguals in vedic and later Sk. are due to the infiuence of the old Prakrits, Which therefore must have existed side by side with the Vedic dialects. These gave us the later literary Prakrits. Side by side with the language of the Vedas and the Prakrit there was current even during the period of the production of the hymns, a language which was much more developed than the priestly language and which had the chief characteristics of the oldest phase of the mid-Indian dialects*. अर्थात् प्राकृतों का अस्तित्व निश्चित रूप से वैदिक बोलियों के साथ-साथ वर्तमान था। इन्हीं प्राकृतों से परवर्त्ती साहित्यिक प्राकृतों का विकास हुआ। वेदों एवं पण्डितों की भाषा के साथ-साथ, यहाँ तक कि मन्त्रों की रचना के समय भी, एक ऐसी भाषा प्रचलित थी, जो पण्डितों की भाषा से अधिक विकसित थी। इस भाषा में मध्यकालीन भारतीय बोलियों की प्राचीनतम अवस्था की प्रमुख विशेषताएँ वर्तमान थीं।

वैदिक तथा परवर्ती संस्कृत के वे शब्द, जिनमें न के स्थान में ण का प्रयोग हुआ है, प्राकृत रूप हैं। अतः आणि, पुण्य, फण, काण, कण, निपुण, गण, कुणार, तूण, वेणु, वेणी शब्दों को भी मूलतः प्राकृत का ही माना जाता है। इसी प्रकार शिथिल शब्द में इकार का होना तथा रेफ के स्थान पर ल हो जाना भी पूर्वीय प्रवृत्ति के साथ प्राचीन प्राकृत का अस्तित्व सिद्ध करता है। यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि कोई भी नयी जाति पुराने निवासियों के सम्पर्क से सामाजिक और सांस्कृतिक विकास करती है। वनस्पति, पशुसृष्टि, भौगोलिक, परिस्थिति, प्रतिदिन के रीति-रिवाज एवं धार्मिक मान्यताएँ आर्यों ने आर्येतरों से ही ग्रहण की होंगी। फलतः उनका शब्दभण्डार अनार्य भाषाओं के सम्पर्क से पुष्ट एवं समृद्ध

* An Introduction to Comparative philology, Page 163 by Dr. P. D. Gune. second Impressios, 1950.

हुआ होगा। इस प्रकार छान्दस् साहित्य में प्राकृत भाषा के तत्त्वों का समावेश आर्यों के आगमनकाल से ही चला आ रहा है।

प्राकृत भाषा की गणना मध्य भारतीय आर्यभाषा में की जाती है और इसका विकास वैदिक संस्कृत या छान्दस् भाषा से माना जाता है। यतः प्राकृत की प्रकृति वैदिक भाषा से मिलती-जुलती है। प्राकृत में व्यञ्जनान्त शब्दों का प्रयोग प्रायः

प्राकृत भाषा का विकास

नहीं होता। संस्कृत के व्यञ्जनान्त शब्द का अन्तिम व्यञ्जन लुप्त हो जाता है। जैसे संस्कृत के तावत्, स्यात्, कर्मन् प्राकृत में क्रमशः ताव, सिया, कम्म हो जायेंगे। वैदिक भाषा में व्यञ्जनान्त शब्दों की दोनों स्थितियाँ उपलब्ध हैं—कहीं उनका अस्तित्व रहता है और कहीं-कहीं उनका लोप भी हो जाता है। यथा—पश्चात् के स्थान पर पश्चा, (अथर्व० १०।४।११; शत०ब्रा० १।१।२।५); युष्मान् के स्थान पर युष्मा (वाजसं० १।१३।१; शत० ब्रा० १।२।९); उच्चात् के स्थान पर उच्चा (तै०सं० २।३।१४) एवं नीचात् के स्थान पर नीचा (तै० १।२।१४) प्रयोग उपलब्ध होते हैं। प्राकृत में विजातीय संयुक्त वर्णों में से एक का लोप कर पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। जैसे—निश्वास=नीसास, कर्त्तव्य - कातव्व, दुहरि - दूहार, दुर्लभ दूलह। यह प्रवृत्ति वैदिक संस्कृत में भी पायी जाती है। यथा—दुर्दभ = दूडभ (ऋग्वेद ४।९।८; वा सं० ३।३६); तुर्नाश - दूणाश (शुक्ल यजुर्वेदीय प्रातिशाख्य ३।४३), इत्यादि।

स्वर भक्ति के प्रयोग प्राकृत और छान्दस् दोनों भाषाओं में समान रूप से पाये जाते हैं। प्राकृत में क्लिन्न = किलिन्न; स्व = सुव मिलते हैं। इसी प्रकार छान्दस् में तन्वः = तनुवः (तैत्ति० आरण्यक ७।२२।१), स्वः - सुवः (तैत्ति० आरण्यक ६।२।७); स्वर्गः - सुवर्गः (तैत्ति० आरण्यक ६।२।७); स्वर्गः=सुवर्गः (तैत्ति०संहिता ४।२।३, मैत्र०ब्रा० १।१।१); रात्र्या=रात्रिया; सहस्र्यः=सहसिरियः इत्यादि। पदरचना में भी दोनों में प्रर्याप्त समानता पायी जाती है। तृतीया के बहुवचन में प्राकृत में देव शब्द का देवेहि रूप बनता है। छान्दस् में इस स्थान पर देवेभिः (ऋग्वेद१।१।१) प्रयोग पाया जाता है[१]। छान्दस् और प्राकृत में पदगत किसी वर्ण का लोप करके उसे पुनः संकुचित कर देने की प्रवृत्ति समान रूप से वर्तमान है। यथा—प्राकृत में राजकुल - राउल, कालायस कालास, इत्यादि; वैदिक में शतक्रतवः = शतक्रत्वः, पशवे = पश्वे, निविविशिरे - निविविश्रे, इत्यादि

१. प्राकृत में चतुर्थी विभक्ति के लिए षष्ठी का प्रयोग पाया जाता है। छान्दस् में भी 'चतुर्थ्यर्थे बहुलम् छन्दसि २।४।६२; षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वाच्यम्' सूत्र उक्त तथ्य को सिद्ध करते हैं।

रूप में पाये जाते हैं। प्राकृत में अकारान्त शब्द प्रथमा के एकवचन में ओकारान्त हो जाते हैं; यथा—देवः = देवो, सः = सो, धर्मः = धम्मो, इत्यादि। यह प्रवृत्ति वैदिकभाषा में भी कुछ अंश तक पायी जाती है; यथा—सः चित् = सो चित्, (ऋक् १।१९१।११) संवत्सरः अजायत संवत्सरो अजायत (ऋग्वेद १०।१९०।२) पाणिनि ने 'हशि च' ६।१।१४ सूत्र छान्दस् की उक्त प्रवृत्ति का नियमन करने के लिए ही लिखा है। उन्होंने इस ओकारान्तवाले प्रयोग को सीमित करने के लिए विसर्ग सन्धि के नियमों का प्रणयन किया है।

अतएव उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राकृत का विकास प्राचीन आर्यभाषा छान्दस् से हुआ है, जो उस समय की जनभाषा रही होगी। लौकिक संस्कृत या संस्कृत भाषा भी छान्दस् से विकसित है। अतः विकास की दृष्टि से प्राकृत और संस्कृत दोनों सहोदरा हैं। दोनों एक ही स्रोत से उद्‌भूत हैं। कुछ विद्वान् ऋग्वेद की भाषा को साहित्यिक एवं रूढ़िग्रस्त मानते हैं और उनका मत है कि यह भाषा भी उस समय की प्राकृत भाषा से विकसित है। डॉ० हरदेव बाहरी का अभिमत है—"प्राकृत से वेद की साहित्यिक भाषा का विकास हुआ, प्राकृतों से संस्कृत का विकास भी हुआ और प्राकृतों से इनके अपने साहित्यिक रूप भी विकसित हुए"[1]।

इस मत पर विचार करने से स्पष्ट अवगत होता है कि वर्तमान में जो प्राकृत साहित्य उपलब्ध है, वह तो इतना प्राचीन नहीं है और न उसकी भाषा ही प्राचीन है। हाँ, वैदिक युग में भी कोई जनभाषा अवश्य थी, उसी जनभाषा से छान्दस् साहित्यिक भाषा विकसित हुई होगी। पश्चात् इस छान्दस् को भी अनुशासित कर दिया गया और इसमें से विभाषा के तत्त्वों को निकाल बाहर किया। इसी परिमार्जित और संस्कृत रूप को संस्कृत घोषित किया गया। अतः डॉ० हरदेव बाहरी के मत में इतना तथ्य अवश्य है कि प्राचीन और मध्य-कालीन आर्यभाषाओं का विकास किसी जनभाषा—प्राकृत भाषा से ही होता है। यतः ज्ञान एवं सभ्यता के विकास के साथ ही साथ भाषा का भी निरन्तर प्रसार होता रहता है। मनुष्य जिस वातावरण में रहता है, वह अपनी सुविधा एवं सुगमता के अनुसार बोलियों का विकास करता है। जिस बोली का बहुत-से व्यक्ति बहुत समय तक प्रयोग करते रहते हैं, वह बोली कुछ समय के लिए किसी विशेष ध्वनियों तथा किन्हीं विशेष रूपों पर आश्रित हो जाती है। वैयाकरण उस शिष्ट बोली का व्याकरण निर्मित करते हैं और वह बोली व्याकरण के अनुशासन

१. प्राकृत भाषा और उसका साहित्य—डॉ० हरदेव बाहरी—राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण पृ० १३।

में बँध कर भाषा बन जाती है। जनसाधारण उन नियमों से अपरिचित होने के कारण स्वेच्छानुसार भाषा के स्वतन्त्र रूपों का निर्माण करते हैं और प्राचीन रूपों में परिवर्तन हो जाता है। इस स्थिति में प्राचीन भाषा तो साहित्य की भाषा का रूप ग्रहण कर लेती है और नवीन भाषा लौकिक भाषा—जन-भाषा—प्राकृत भाषा का रूप धारण कर लेती है। कालान्तर में व्याकरण और साहित्य के नियमों से पुनः यह सुसंस्कृत बनती है और एक नवीन बोली का विकास होता है। इस प्रक्रिया द्वारा साहित्यिक भाषा और जनबोलियों का विकास होता चला जाता है।

प्राचीन भारत की मूल भाषा या बोली का क्या रूप था, यह तो स्पष्ट नहीं है, पर आर्यों की अपनी एक भाषा थी और उस भाषा पर अन्य जातियों का भी प्रभाव पड़ा और छान्दस् भाषा विकसित हुई। पुरोहितों ने इस छान्दस् को भी रूढ़िग्रस्त बनाया। इसके भी पद, वाक्य, ध्वनि एवं अर्थ इन चारों अंगों को विशेष अनुशासनों में आबद्ध कर दिया, तो भी जनसाधारण की बोली का प्रवाह तीव्र गति से आगे बढ़ता ही गया। फलस्वरूप ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद और ब्राह्मण साहित्य में जनतत्त्व अधिक समाविष्ट हो गये। पाणिनि ने उक्त छान्दस् का भी परिष्कार किया और एक नयी भाषा संस्कृत का आविर्भाव हुआ। छान्दस् में जो जनतत्त्व समानिष्ट थे, वे अनुशासित किये जाने पर भी सर्वथा परिमार्जित न हो पाये और उनका विकास होता रहा, फलतः छान्दस् का मौलिक विकसित रूप प्राकृत कहलाया। अतः अद्यतर उपलब्ध प्राकृत भाषा का विकास छान्दस् से ही हुआ है। दूसरे शब्दों में प्राकृत को बहता नीर और संस्कृत को बद्ध महा सरोवर कह सकते हैं। प्राकृत स्रोत वैदिक काल से लेकर अप्रतिहत रूप में प्रवाहित होता चला आ रहा है, पर संस्कृत को नियम और अनुशासनों के घेरे में इतना आबद्ध कर दिया गया, जिससे उस भाषा में आवर्त-विवर्तों की लहरें उत्पन्न न हो सकीं। यही कारण है कि प्राकृत और संस्कृत दोनों के एक ही छान्दस् स्रोत से प्रवाहित होने पर भी एक वृद्धा कुमारी बनी रही और दूसरी कुमारी युवती। तात्पर्य यह है कि संस्कृत पुरानी होती हुई भी सदा मौलिक रूप धारण करती है, इसके विपरीत प्राकृत चिर युवती है, जिसकी सन्तानें निरन्तर विकसित होती जा रही हैं और अपना उत्तराधिकार सन्तानों को सौंपती जा रही हैं। स्पष्ट है कि प्राचीन प्राकृत के पश्चात् मध्यकालीन प्राकृत का विकास हुआ और उस मध्यकालीन प्राकृत ने अपना उत्तराधिकार अपभ्रंश को अर्पित किया। अपभ्रंश भी बाँझ नहीं है, इसने भी हिन्दी, बँगला, गुजराती एवं मराठी आदि आधुनिक भाषा सन्तानों को उत्पन्न किया है। इस प्रकार संस्कृत वृद्धाकुमारी स्वयं सुन्दरी और धनी तो बनी रही, पर सन्तान उत्पन्न न कर उन्हें अपना

उत्तराधिकारी न बना सकी। यही कारण है कि संस्कृत को कूपजल और प्राकृत को बहता नीर कहा गया है।

साहित्य निबद्ध प्राकृत का विकास मध्यभारतीय आर्यभाषा काल से माना जाता है। विप्रत्व और शिष्टत्व के वर्तुल से निकलकर जनभाषा को विकास का पूरा अवसर प्राप्त हुआ। बुद्ध और महावीर से इस जनभाषा को अपनाया और इसके विकास का नया अध्याय आरम्भ हुआ। शिष्टता के घेरे को तोड़कर यह प्रवाह इतनी तेजी से आगे बढ़ा, जिससे संस्कृत भी इससे प्रभावित हुए बिना न रह सकी। यज्ञ-याग एवं उपनिषदों की चर्चा से आगे बढ़कर समाज के विभिन्न विषय संस्कृत साहित्य के वर्ण्य-विषय बने। संस्कृत में जनोपयोगी विषयों का विवेचन प्राकृत के प्रभाव का ही फल है। संस्कृत का व्यवहार आर्य और अनार्य दोनों ही करने लगे। फलतः मध्यकाल में संस्कृत के भाषास्वरूप में भी कुछ परिवर्तन हुआ। यद्यपि पाणिनि का अनुशासन इतना नियमबद्ध था, जिससे उसकी सीमा का उल्लंघन करना, सहज बात नहीं थी; तो भी संस्कृत के व्यवहार क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ तथा इसका शब्दकोष भी समृद्ध हो गया। साहित्य के इस आन्तरिक स्वरूप का परीक्षण कर डॉ० प्रबोध बेचरदास पण्डित ने बताया है—"इस काल के कई साहित्य स्वरूप ऐसे हैं, जो बाहर से संस्कृत हैं, जिस पर संस्कृत का आवरण है, नीचे प्रवाह है प्राकृत का। यह साहित्य समाज के दोनों वर्ग में—नागरिक और ग्राम्य प्रजा में सफल होता रहा। इसके आबाद नमूने हैं महाभारत जैसी विशाल रचनाएँ। वस्तुतः इस महान् ग्रन्थ के नीचे प्रवाह है प्राकृत भाषा का, उसका बाहरी रूप है संस्कृत का"[१]

अतएव सिद्ध है कि प्राकृत भाषा और साहित्य ने मध्यकाल में संस्कृत को पर्याप्त प्रभावित किया है। इसके क्रान्तिकारी तत्त्वों ने जनजीवन में एक नयी स्फूर्ति उत्पन्न की है। अभिजात्य और शिष्टवर्ग की सीमा के घेरे को तोड़ लोक-चेतना को विकसित करने में प्राकृत का बहुत बड़ा हाथ है। समय-सीमा की दृष्टि से प्राकृत का विकास-काल मध्यकाल माना जाता है।

प्राकृत भाषा का बोध करानेवाला 'प्राकृत' शब्द प्रकृति से बना है। प्रकृति शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कुछ मनीषी इस शब्द का अर्थ एक मूल तत्त्व अथवा आधारभूत भाषा मानते हैं और उनका मत है कि प्राकृत की आधारभूत भाषा संस्कृत है तथा इसी संस्कृत से प्राकृत भाषा निकली है। हेमचन्द्र,

प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति

१. प्राकृतभाषा—डॉ० प्रबोध बेचरदास पण्डित, प्रकाशक श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, सन् १९५४, पृ० १६।

मार्कण्डेय, धनिक, सिंहदेव गणी आदि प्राचीन वैयाकरणों और आलंकारिकों ने प्राकृत की प्रकृति संस्कृत को ही माना है। हेमचन्द ने कहा है—

प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्। संस्कृतानन्तरं प्राकृतमधिक्रियते। संस्कृतानन्तरं च प्राकृतस्यानुशासनं सिद्धसाध्यमान-भेदसंस्कृतयोनेरेव तस्य लक्षणं न देश्यस्य इति ज्ञापनार्थम्[1]।

अर्थात् प्रकृति—संस्कृत है, इस संस्कृत से आयी हुई भाषा प्राकृत है। संस्कृत के पश्चात् प्राकृत का अधिकार आरम्भ होता है। प्राकृत में जो शब्द संस्कृत के मिश्रित हैं, उनको संस्कृत के समान ही अवगत करना चाहिये। प्राकृत में तद्भव शब्द दो प्रकार के हैं—साध्यमान संस्कृतभव और सिद्ध संस्कृत भव। अनुशासन इन दोनों प्रकार के शब्दों का ही प्रतिपादित है। देश्य शब्दों का नहीं। यह कथन संस्कृतानन्तर पद द्वारा समर्थित होता है। डॉ० पिशल ने साध्यमान संस्कृत भव शब्दों की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि "इस वर्ग में वे प्राकृत शब्द आते हैं, जो उन संस्कृत शब्दों का, जिनसे वे प्राकृत शब्द निकले हैं, बिना उपसर्ग या प्रत्यय के मूल रूप बताते हैं। इनमें विशेष कर शब्दरूपावली और विभक्तियाँ आती हैं, जिनमें वह शब्द व्याकरण के नियमों के अनुसार बनाया जाता है और जिसे साध्यमान कहते हैं। बीम्स ने इन शब्दों को आदि तद्भव (Early tadbhavas) कहा है। ये प्राकृत के अंश हैं, जो स्वयं सर्वाङ्गपूर्ण हैं। दूसरे वर्ग में प्राकृत के वे शब्द शामिल हैं, जो व्याकरण से सिद्ध संस्कृत रूपों से निकले हैं; जैसे अर्धमागधी वन्दित्ता जो संस्कृत वन्दित्वा का विकृत रूप है।"[2]

इसी अर्थ का समर्थन मार्कण्डेय के प्राकृतसर्वस्व[3] से भी होता है—

प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं प्राकृतमुच्यते।

दशरूपक के टीकाकार धनिक ने परिच्छेद २, श्लोक ६० की व्याख्या करते हुए लिखा है—

प्रकृतेः आगतं प्राकृतम्। प्रकृतिः संस्कृतम्।

---

१. सिद्धहैमशब्दानुशासन ८।१।१—'अथ प्राकृतम्'।

२. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना द्वारा प्रकाशित पृ० १२।

३. प्राकृतसर्वस्व १।१।

यह मत 'कर्पूरमञ्जरी' के टीकाकार[1] वासुदेव, 'षड्भाषाचन्द्रिका'[2] के रचयिता लक्ष्मीधर, 'वाग्भटालङ्कार'[3] के टीकाकार सिंहदेवगणि, 'प्राकृत शब्द-प्रदीपका' के रचयिता नरसिंह, गीतगोविन्द की 'रसिक सर्वस्व' टीका के लेखक नारायण एवं शकुन्तला के टीकाकार शंकर का भी है। इन विद्वानों ने भी प्राकृत की प्रकृति संस्कृत को ही माना हैं। **"प्रक्रियते यया सा प्रकृतिः"** जिससे दूसरे पदार्थों की उत्पत्ति हो—मूलतत्त्व, व्युत्पत्ति के आधार पर प्राकृत के लिए संस्कृत को ही मूल उत्पादक कहा है। यतः सांख्यदर्शन में **"मूलप्रकृतिरविकृतिः"**[4]—प्रकृति को अविकृत विकार रहित कार्य रहित माना गया है। इसी प्रकार उक्त सभी वैयाकरण और आलंकारिक प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से मानते हैं। इनके मतानुसार संस्कृत ही मूल प्रकृति है।

उक्त व्युत्पत्तियों की विशेष व्याख्या करने पर निम्न फलितार्थ प्रस्तुत होते हैं—

१. प्राकृत भाषा की उत्पत्ति संस्कृत से नहीं हुई है, किन्तु **'प्रकृतिः संस्कृतम्'** का अर्थ हैं कि प्राकृत भाषा को सीखने के लिए संस्कृत शब्दों को मूलभूत रखकर उनके साथ उच्चारण भेद के कारण प्राकृत शब्दों का जो साम्य-वैषम्य है, उसको दिखाना अर्थात् संस्कृत भाषा के द्वारा प्राकृत भाषा को सीखने का यत्न करना है। इसी आशय से हेमचन्द्र ने संस्कृत को प्राकृत की योनि कहा है। २. संस्कृत और प्राकृत भाषा के बीच किसी प्रकार का कार्यकारण या जन्य-जनक भाव है ही नहीं। ये दोनों भाषा सहोदरा हैं, दोनों का विकास किसी अन्य स्रोत से होता है। वह स्रोत छान्दस् ही है। ३. उच्चारण भेद के कारण संस्कृत और प्राकृत में अन्तर हो जाता है। पर इतने अन्तर से इन दोनों भाषाओं को बिल्कुल भिन्न नहीं माना जा सकता है। जनसाधारण प्राकृत का उच्चारण करते हैं, पर संस्कारापन्न नागरिक संस्कृत का। अतः संस्कृत को प्राकृत की योनि इसी अर्थ में कहा गया है कि शब्दानुशासन से पूर्णतया अनुशासित संस्कृत भाषा के द्वारा ही प्राकृत के तद्भव शब्दों को सीखा जा सकता है। वस्तुतः संस्कृत और प्राकृत एक ही भाषा के दो रूप हैं।

---

१. प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः—९।२ संजीवनी टीका।

२. प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता—षड्भाषा चन्द्रिका, पृ० ४ श्लो० २५।

३. प्रकृतेः संस्कृताद् आगतं प्राकृतम्—वाग्भटालंकार २।२ की टीका।

४. सांख्यतत्त्वकौमुदी कारिका ३।

रुद्रटकृत काव्यालंकार के श्लोक[1] की व्याख्या करते हुए ग्याहरवीं शताब्दी के विद्वान् नमिसाधु ने लिखा हैं—

"प्राकृतेति' सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचन-व्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। 'आरिसवयवो सिद्धं देवाणं अद्धमागहा वाणी' इत्यादिवचनाद् वा प्राक् पूर्वं कृतं प्राक्कृतं बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषानिबन्धभूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्त-जलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादितविशेषं सत् संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति। अत एव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि। पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते।"

अर्थात्—प्रकृत शब्द का अर्थ है लोगों का व्याकरण आदि के संस्कारों से रहित स्वाभाविक वचन व्यापार, उससे उत्पन्न अथवा वही प्राकृत है। 'प्राक् कृत' पद से प्राकृत शब्द बना है और प्राक् कृत का अर्थ है—पहले किया गया। द्वादशाङ्ग ग्रन्थों में ग्यारह अङ्ग ग्रन्थ पहले किये गये हैं और इन ग्यारह अङ्ग ग्रन्थों की भाषा आर्ष वचन में—सूत्र में अर्धमागधी कही गयी है, जो बालक, महिला आदि को सुबोध—सहज गम्य है और जो सकल भाषाओं का मूल है। यह अर्धमागधी भाषा ही प्राकृत है। यही प्राकृत मेघ-मुक्त जल को तरह पहले एक रूपवाली होने पर भी देशभेद से और संस्कार करने से भिन्नता को प्राप्त करती हुई संस्कृत आदि अवान्तर विभेदों में परिणत हुई है अर्थात् अर्धमागधी प्राकृत से संस्कृत और अन्यान्य प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति हुई है। इसी कारण से मूल-ग्रन्थकार रुद्रट ने प्राकृत का पहले और संस्कृत आदि का बाद में निर्देश किया है। पाणिन्यादि व्याकरणों में बताये हुए नियमों के अनुसार संस्कार पाने के कारण संस्कृत कहलाती हैं।

आठवीं शताब्दी के विद्वान् वाक्पतिराज ने अपने 'गउडवहो' नामक महाकाव्य में प्राकृत भाषा को जनभाषा माना है और इस जनभाषा से ही समस्त भाषाओं का विकास स्वीकार किया है। यथा—

---

१. प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥
—काव्यालंकार २।१२।

सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेंति वायाओ।
एंति समुद्दं चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाइं[1] ॥९३॥

अर्थात्—जिस प्रकार जल समुद्र में प्रवेश करता है और समुद्र से ही वाष्प रूप से बाहर निकलता है, इसी तरह प्राकृत भाषा में सब भाषाएँ प्रवेश करती हैं और इस प्राकृत भाषा से ही सब भाषाएँ निकलती हैं। तात्पर्य यह है कि प्राकृत भाषा की उत्पत्ति अन्य किसी भाषा से नहीं हुई है, किन्तु संस्कृत आदि सभी भाषाएँ प्राकृत से ही उत्पन्न हैं।

नवमी शती के विद्वान् कवि राजशेखर ने 'बालरामायण' में—**"यद्योनिः किल संस्कृतस्य सुदशां जिह्वासु यन्मोदते"**[2] द्वारा प्राकृत को संस्कृत की योनि—विकास स्थान कहा है। अतएव स्पष्ट है कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से नहीं है। बल्कि ये दोनों ही भाषाएँ किसी अन्य स्रोत से विकसित हैं। डा० एल्फ्रेड सी० बुल्नर ने भी प्राकृत भाषा का विकास संस्कृत से नहीं माना है। उन्होंने अपने 'इन्ट्रोडक्सन टू प्राकृत नामक ग्रन्थ में लिखा है कि—'It is probable that it was in the more general sense that प्राकृत (शौरसेनी पद, महाराष्ट्री पद) was first applied to ordinary common speech as distinct from the highly polished, perfected Samskritam.

Grammarians and Rhetoriciaus of later days however xeplain Prakritam as derived from the Prakriti, i.e. Samskritam. This explanation is perfectly intelligible even if it be not historically correct. Practically we take Sanskrit forms as the basis and derive, Prakrit forms therefrom. Nevertheless modern philology insist on an important reservation. Sanskrit forms are quoted as the basis in as far as they represent the old Indo-Aryan forms, but sometimes the particular old Indo-Aryan form required to xeplain a Prakrit word is not found in Sanskrit at all, or only in a late word and obviously borrowed from Prakrit.

If in 'Sanskrit' we include the Vedic language and all dialects of the old Indo-Aryan period, then it is true to say that all the Prakrits are derived from Sanskrit. If on the

---

१. सफला एताप्राकृतं वाचो विशन्तीव। इतश्च प्राकृताद्विनिर्गच्छन्ति वाचः आगच्छन्ति समुद्रमेव निर्यान्ति सागरादेव जलानि। प्राकृतेन हि संस्कृतापभ्रंश-पैशाचिकभाषाः प्रसिद्धतमेन व्याख्यायन्ते। अथवा प्रकृतिरेव प्राकृतं शब्दब्रह्म। तस्य विकारा विवर्ता वा संस्कृतादय इति मन्यते स्म कविः॥ ९३॥

२. बालरामायण ४८, ४९।

other hand 'Sanskrit' is used more strictly of the Panini—Patanjali language or 'Classical Sanskrit' ther it is untrue to say that any Prakrit is derived from Sanskrit. except that Sauarseni, the Midland Prakrit, is derived from the old Indo-Aryan dialect of the Madhyadesa on which classical Sanskrit was mainly based*.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि वुल्नर संस्कृत को शिष्ट समाज की भाषा और प्राकृत को जनसाधारण की भाषा मानते हैं। प्राकृत का सम्बन्ध श्रेण्य संस्कृत की अपेक्षा छान्दस् से अधिक हैं। शौरसेनी प्राकृत का सम्बन्ध भले ही श्रेण्य संस्कृत से मान लिया जाय; क्योंकि इस साहित्यिक प्राकृत का मुख्य भाग संस्कृत शब्दों से बना है। छान्दस् के साथ प्राकृत पद रचनाओं एवं ध्वनियों की तुलना सहज में की जा सकती है।

डॉ॰ पिशल ने भी मूल प्राकृत को जनता की भाषा ही माना है। इनके मत में साहित्यिक प्राकृतें संस्कृत के समान ही सुगठित हैं। बताया है—'प्राकृत भाषाओं की जड़ें जनता की बोलियों के भीतर जमी हुई हैं और इनके मुख्यतत्त्व आदिकाल में जीती-जागती और बोली जानेवाली भाषा से लिये गये हैं; किन्तु बोलचाल की वे भाषाएँ जो बाद की साहित्यिक भाषाओं के पद पर प्रतिष्ठित हुई, संस्कृत की भाँति ही बहुत ठोकी-पीटी गईं, ताकि उनका एक सुगठित रूप बन जाय'[1]।

इस प्रकार अनेक युक्ति और प्रमाणों से यह सिद्ध है कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से नहीं हुई है। छान्दस् का विकास जिस प्रथम स्तर की प्रादेशिक भाषा से होता है, उसी से प्राकृत भी विकसित है। पश्चिमी विद्वानों ने प्राचीन प्राकृत का सम्बन्ध छान्दस् से माना है और दोनों की तुलना से यह सिद्ध किया है कि प्राकृत के अनेक शब्द और प्रत्यय लौकिक संस्कृत की अपेक्षा छान्दस् के साथ अधिक समता रखते हैं। अतः मध्यकाल में प्राकृत का विकास छान्दस् से ही होता है। प्रथम प्राकृत का जो साहित्य उपलब्ध है, उसकी भाषा की प्रकृति में लोकतत्त्व के साथ साहित्यिक तत्त्व भी मिश्रित हैं। इसलिए यह अनुमान लगाना कोई दूर की पकड़ नहीं है कि इसका विकास उस समय की छान्दस् भाषा से हुआ होगा। हाँ, कथ्यरूप में वर्तमान प्राकृत का स्रोत भले ही छान्दस् के समान स्वतन्त्र रूप से चलता रहा हो। पर साहित्य रूप में उपलब्ध प्राकृत छान्दस् से

---

*. 'Introduction to Prakrit' Published by the university of the Panjab. Lahore, second edition, 1928; Page 3-4.

१. डॉ॰ पिशल द्वारा लिखित प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—पृ॰ १४, राष्ट्रभाषा परिषद् पटना।

ही विकसित प्रतीत होती है। इसका विकास ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा से मानना अधिक तर्कसंगत है।

प्राकृत के भेद

प्राकृत भाषा के मूल दो भेद हैं—कथ्य और साहित्य निबद्ध। कथ्यभाषा, जो कि जनबोली के रूप में प्राचीन समय में वर्तमान थी, जिसका साहित्य नहीं मिलता है; किन्तु उसके रूपों की झलक छान्दस् साहित्य में मिल जाती है, प्रथम स्तरीय प्राकृत है। वैदिक साहित्य में कृत > कृठ (ऋग्वेद १।४६।४), पुरोदास > पुरोडाश (शुक्लयजुः प्रातिशाख्य ३, ४४), प्रतिसंधाय > प्रतिसंधाय (गोपथब्राह्मण २, ४) प्रभृति अनेक रूप उपलब्ध होते हैं, जिनसे प्रथम स्तरीय प्राकृत का स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। अतः साहित्य के अभाव में भी उक्त स्तरीय भाषा का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ेगा। यह कथ्य भाषा ही प्राकृत की धारा को स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करता है।

द्वितीय स्तरीय प्राकृत भाषा को तीन युगों में विभक्त किया गया है। प्रथम युग, मध्य युग और उत्तर अर्वाचीन युग या अपभ्रंश युग।

प्रथम युगीन प्राकृतों में (१) शिलालेखी प्राकृत, (२) प्राकृत धम्मपद की प्राकृत, (३) आर्ष—पालि, (४) प्राचीन जैन सूत्रों की प्राकृत और (५) अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत। इस युग की समय सीमा ई० पू० ६वीं शती से ईस्वी द्वितीय शताब्दी तक है। बौद्ध जातकों की भाषा भी इसी युग के अन्तर्गत मानी जा सकती हैं।

मध्ययुगीन प्राकृतों में (१) भास और कालिदास के नाटकों की प्राकृत, (२) गीतिकाव्य और महाकाव्यों की प्राकृत, (३) परवर्ती जैन काव्य-साहित्य की प्राकृत, (४) प्राकृत वैयाकरणों द्वारा निरूपित और अनुशासित प्राकृतें एवं (५) बृहत्कथा की पैशाची प्राकृत। इस युग की कालसीमा ई० २०० से ६०० ई० तक है।

उत्तर अर्वाचीन युग या अपभ्रंश युग ई० ६०० से १२०० ई० तक है। इस युग में विभिन्न प्रदेश की प्राकृत भाषाएँ आती हैं।

जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है कि प्राकृत जनभाषा थी और इसका विकास देश्य भाषा के रूप में ही होता रहा है। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध ने इसका आश्रय लेकर लोककल्याण का उपदेश दिया है। अशोक ने इसी में अपने धर्मलेखों को उत्कीर्ण कराया और खारवेल ने हाथी गुंफा के शिलालेख को इसी भाषा में टंकित किया। प्राकृत भाषा में ई० सन् की दूसरी शती तक

उपभाषाओं के भेद भी प्रकट नहीं हुए थे। सामान्यतः प्राकृतभाषा एक ही रूप में व्यवहृत हो रही थी। इस काल में वैयाकरणों ने व्याकरण निबद्ध कर इसे परिनिष्ठित रूप देने की योजना की। फलतः महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची आदि में ध्वनिपरिवर्तन के अतिरिक्त शेष सभी प्रवृत्तियाँ सामान्य ही बनी रहीं। वैयाकरणों ने भी सामान्य प्राकृत का व्याकरण ही प्रमुख रूप से लिखा है। विभिन्न विभाषाओं का केवल जिक्र भर ही कर दिया है और ध्वनिपरिवर्तन में जो प्रमुख विशेषताएँ वर्तमान हैं, उन्हें गिना दिया गया है।

प्राकृत भाषा के शब्द

वैयाकरणों ने प्राकृत भाषा के शब्द संस्कृत शब्दों के सादृश्य और पार्थक्य के आधार पर तीन भागों में विभक्त किये हैं—(१) तत्सम, (२) तद्भव और (३) देश्य।

तत्सम

जो शब्द संस्कृत से प्राकृत में ज्यों के त्यों रूप में ग्रहण कर लिये जाते हैं, जिनकी ध्वनियों में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता है, वे तत्सम शब्द कहलाते हैं। यथा—नीर, दाह, धूलि, माया, वीर, धीर, कंक, कण्ठ, ताल, तीर, तिमिर, कल, कवि, दावानल, संसार, कुल, केवल, देवी, तीर, परिहार, दारुण, मरण, रस, लव, वारि, परिमल, गण, खञ्ज, जल, चित्त, आगम, इच्छा, ईहा एवं किङ्कर आदि शब्द तत्सम हैं।

तद्भव

संस्कृत से वर्णलोप, वर्णागम, वर्णपरिवर्तन एवं वर्णविकार द्वारा जो शब्द उत्पन्न हुए हैं, वे तद्भव या संस्कृतभव कहलाते हैं। यथा—अग्ग < अग्र, इट्ठ < इष्ट, ईसा < ईर्ष्या, गअ < गज, उग्गम < उद्गम, कसण < कृष्ण, खज्जूर < खर्जूर, धम्मिअ < धार्मिक, चक्क < चक्र, छोह < क्षोभ, जक्ख < यक्ष, झाण < ध्यान, डंस < दंश, णाह < नाथ, तिअस < त्रिदश, दिट्ठ < दृष्ट, पच्छा < पश्चात्, फंस < स्पर्श, भारिआ < भार्या, मेह < मेघ, लेस < लेश हैं।

प्राकृत भाषा का व्याकरण तद्भव शब्दों का ही अनुशासन करता है। यतः तत्सम में अनुशासन की आवश्यकता नहीं होती है।

देश्य

जिन प्राकृत शब्दों की व्युत्पत्ति अर्थात् प्रकृति—प्रत्यय का विभाग नहीं हो सकता है और जिन शब्दों का अर्थ मात्र रूढ़ि पर अवलम्बित है, ऐसे शब्दों को देश्य या देशी कहते हैं। आचार्य हेम ने देश्य शब्दों की परिभाषा उपस्थित करते हुए कहा है :—

जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण य गउणलक्खणसत्तिसंभवा ते इह णिबद्धा ॥१।३॥

देसविसेसपसिद्धीइ भण्णमाणा अणन्तया हुन्ति।
तम्हा अणाइपाइअपयट्टभासाविसेसओ देसी[1] ॥

अर्थात् – जो शब्द न तो व्याकरण से व्युत्पन्न हैं और न संस्कृत-कोशों में निबद्ध हैं तथा लक्षणाशक्ति के द्वारा भी जिनका अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, ऐसे शब्दों को देशी कहा जाता है। देशी शब्दों से महाराष्ट्र, विदर्भ, केरल, आभीर आदि देशों में प्रचलित शब्दों को भी नहीं ग्रहण किया जा सकता है। यतः इन देशों के शब्दों में भी ऐसे शब्द विपुल परिणाम में रह सकते हैं, जिनकी व्युत्पत्ति संभव हो सकती है। अतः यहाँ देशी शब्दों से तात्पर्य जनसाधारण की बोल-चाल की प्राकृत भाषा से है। इन शब्दों का संस्कृत के साथ कुछ भी सामञ्जस्य नहीं है और न इनका संस्कृत के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। यथा—

अगय (दैत्य), आकासिय (पर्याप्त), इराव (हस्ती), ईस (कीलक), उअचित्त (अपगत), ऊसअ (उपधान), एलविल (धनाढ्य), कंदो (कुमुद), खुड्डिअ (सुरत), गयसाउल (विरक्त), चउक्कर (कार्तिकेय), जच्च (पुरुष), जच्चा (प्रसूतिका स्त्री), टंढर (पिशाच), तोमरी (लता), थमिअ (विस्मृत), गड्डा (बलात्कार), घयण (गृह), विच्छड्डु (समूह), सयराह (शीघ्र), घढ (स्तूप) एवं टंका (जंघा) इत्यादि। देशी शब्दों की व्याख्या के विषय में बड़ा मतभेद है। संस्कृत भाषा ज्ञान और प्रतिभा के आधार पर अधिकांश देशी शब्दों का सम्बन्ध भी संस्कृत शब्दों से जोड़ा जा सकता है। अनेक ऐसे प्राकृत शब्द हैं, जिनका संस्कृत धातुओं से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है; पर वैयाकरणों ने इस कोटि के देशी शब्दों को धात्वादेश के नाम से परिगणित कराया है। संस्कृत व्याकरणों में उणादि द्वारा अनुशासित शब्द प्रायः देशी हैं। ऐसा मालूम होता है कि वे शब्द स्थानीय विशेषताओं के आधार पर ही विकसित हुए होंगे। उन्नत बोलियों से आये हुए शब्द ध्वनिपरिवर्तन एवं प्रयोग विशेष के कारण देशी मान लिए गये हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने देशी नाममाला नामक ग्रन्थ में जिन शब्दों को देशी कहा है, उन्हीं को अपने व्याकरण में तद्भव मान लिया है। उदाहरण के लिए 'अमयणिग्गमो' शब्द चन्द्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यह संस्कृत के अमृतनिर्गम शब्द से निष्पन्न है। हेम ने संस्कृत कोष में इस शब्द को न मिलने के कारण ही देशी शब्दों में स्थान दिया है। इसी प्रकार डोला, हलुअ, अइहारा, थेरो शब्द देशीनाममाला में देशी माने गये हैं और प्राकृत व्याकरण में संस्कृत निष्पन्न।

१. देशीनाममाला मु० बनर्जी सम्पादक, कलकत्ता सन् १९३१ ई० १।३, १।४

इसी प्रकार धनपाल ने 'पाइअलच्छीनाममाला' की अन्तिम प्रशस्ति[1] में इसे देशी शब्दों का कोष कहा है। पर इस कोष में तत्सम और तद्भव शब्दों की संख्या ही अधिक है। आरम्भ में ब्रह्मा के नामों का उल्लेख करते हुए कमलासण, सयंभू, पिआमह, चउमुह, परमिट्ठी, थेर, विही, विरिंच, पयावई और कमलजोणी ये दस नाम उनके बताये हैं। ये सभी शब्द तद्भव हैं[2]।

आचार्य हेम ने अपने से पूर्ववर्त्ती देशी कोष रचयिताओं का उल्लेख किया है। अभिमान चिह्न ने सूत्ररूप में देशीकोश और गोपाल ने श्लोक रूप में देशीकोश लिखा है। देवराज ने एक छन्द सम्बन्धी कोश रचा है, जिसमें प्राकृत के देशी शब्दों का अर्थ प्राकृत भाषा में ही लिखा गया है। द्रोण ने भी प्राकृत भाषा में देशी शब्दों के अर्थ को स्पष्ट किया है। हेमचन्द्र ने पादलिप्ताचार्य के देशीकोश और राहुलक की रचना को भी महत्व दिया। शीलाङ्क के देशीकोश का पता भी हेमचन्द्र की देशीनाममाला से मिलता है। आचार्य हेम की देशीनाममाला बहुत ही महत्वपूर्ण है, इसमें पूर्ववर्ती कोशाकारों का प्रामाणिक निर्देश भी उपलब्ध है।

अतएव स्पष्ट है कि प्राकृत भाषा के देशी शब्द अपनी महत्वपूर्ण स्थिति बनाये हुए हैं। इन शब्दों का रूप स्थिर और निश्चित होते हुए भी तद्भव या अर्धतत्सम की कोटि में चला जाता है। कुछ ही ऐसे शब्द हैं, जिनकी व्युत्पत्ति स्थापित नहीं की जा सकती है। प्राकृत भाषा के कोषकारों ने देशी शब्दों को सुरक्षित रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

प्राकृत भाषा के शब्दों में उक्त तीन प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त द्राविड़, फ़ारसी और अरबी भाषा के शब्द भी मिश्रित हैं। इस कोटि के शब्दों को देश्य की अपेक्षा विदेशी शब्द कहना ज्यादा तर्कसंगत है। अतः ये शब्द अन्य भाषा-परिवारों से उधार लिए हुए हैं।

प्राकृत की प्रधान विशेषताएँ

प्रथम स्तरीय प्राकृत सामान्य प्राकृत ही कहलाती थी। द्वितीय स्तर में प्रवेश करने पर भी आरम्भ में सामान्य प्राकृत ही रही होगी। इस सामान्य प्राकृत को हम विभाषा के बीजों से युक्त पर्वत से निकलने वाली नदी-स्रोत के समान एक ही धारा के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। कुछ दूर आगे बढ़ने पर ही इस स्रोत में अन्य स्थानों के स्रोत आकर मिले होंगे तभी उसमें विभाषाओं के तत्त्व समाविष्ट हुए होंगे। इस सम्बन्ध में एक बात और भी ध्यान देने की है कि

१. नामम्मि जस्स कमसो तेणेसा विरइया देसी ॥—अन्तिम प्रशस्ति पद्य ३

२. कमलासणो सयंभू पिआमहो चउमुहो य परमिट्ठी।
थेरो विही विरिंचो पयावई कमलजोणी य ॥—गा० २

आर्यों का प्रवेश एक ही समय में नहीं हुआ, बल्कि वे आगे-पीछे कर भारत में आये फलतः आर्यों के इस आगमन भेद से भाषा भेद होने के कारण ही प्राकृत भाषाओं में भी भेद उत्पन्न हुए होंगे। हॉर्नले और ग्रियर्सन का वह मत भी उल्लेखनीय है, जिसके अनुसार भारतीय आर्यभाषाएँ दो वर्गों में विभक्त पायी जाती हैं—एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूर्व की भाषाओं में कुछ ऐसी समानताएँ है, जो मध्य आर्यावर्त की भाषाओं की अपेक्षा विलक्षणता रखती हैं। इसका कारण ग्रियर्सन के अनुमान से यह है कि पूर्वकाल में आये हुए जो आर्य मध्यदेश में बसे थे, उन्हें पीछे आने वाले आर्यों ने अपने प्रवेश द्वारा चारों ओर खदेड़ दिया और इस प्रकार भाषाओं के मूलतः दो वर्ग उत्पन्न हो गये। इसे संक्षेप में समझने के लिए महाराष्ट्र प्रदेश के नामों—जैसे गोखले, खरे, परांजपे, मुंजे, गोडबोले, ताम्बे एवं लंका में प्रचलित नामों—जैसे गुणतिलके, सेनानायके, वंदरनायके, भाण्डारनायके में जो अकारान्त कर्त्ता कारक एक वचन में 'ए' प्रत्यय दिखाई पड़ता है, वही मागधी प्राकृत की प्रवृत्ति का बोधक है। पीछे से आये हुए आर्यों की भाषा छान्दस् कहलाई है। अतएव यह मानना तर्कसंगत है कि ई० पू० ६०० में प्राकृत भाषा में भेद-प्रभेदों का विकास नहीं हुआ था। भीतर ही भीतर जो भी भेद-प्रभेद पनप रहे थे, वे भी सामान्य प्राकृत के अन्तर्गत ही थे। सामान्य प्राकृत की निम्नाङ्कित विशेषताएँ हैं :—

१. प्राकृत में प्राचीन भा० आ० भाषा के ऋ, ॠ, ऌ एवं ॡ का सर्वथा लोप हो गया।

२. ऋवर्ण के स्थान पर अ, इ, उ और रि का प्रयोग होने लगा। यथा—पश्चिमी प्राकृत में ऋ के स्थान पर अ उपलब्ध हैं—णच्च < नृत्य; तण < तृण; मग, मअ < मृग। पश्चिमोत्तरी प्राकृत में ऋवर्ण के स्थान पर इ स्वर पाया जाता हैं—माइ < मातृ; तिण < तृण; मिग, मिश्र < मृग; कीइस < कीदृश; घिणा < घृणा, गिद्ध < गृध्र, कुछ स्थानों पर ऋ का रि रूप भी अवशिष्ट है—रिसि < ऋषि; रिण < ऋण, सरिस < सदृशः।

३. ऐ और औ के स्थान पर ए, ओ का प्रयोग पाया जाता है। कहीं-कहीं इनके अइ और अउ रूप भी मिलते हैं। यथा—सेलो < शैलः, दइवे < दैवः तेलुक्कं < त्रैलोक्यम्, अइसीअं < ऐश्वर्यम्, कोमुई < कौमुदी, कउसलं < कौशलम्, पउरो < पौरः।

४. प्रायः ह्रस्व स्वर सुरक्षित हैं। यथा—अक्खि < अक्षि, अग्गि < अग्निः, इक्खु < इक्षुः, उच्छाह < उत्साहः, उम्मुक्कं < उन्मुक्तम्।

५. स्वराघात के अभाव में दीर्घस्वर ह्रस्व हो गये हैं। यथा—सीयं < सीताम्, अवमग्गो < अवमार्गः, जिअंती < जीवन्ती।

६. *जिन शब्दों में स्वराघात सुरक्षित हैं*, उन शब्दों में दीर्घस्वर भी बना रह गया है। यथा—पीठिआ < पीठिका, मूसओ < मूषकः।

७. संयुक्त व्यञ्जनों के पूर्ववर्त्ती दीर्घस्वर ह्रस्व हो गये हैं। यथा—संतो < शान्तः, दंतो < दान्तः, वंतो < वान्तः, सक्को < शाक्यः।

८. सानुनासिक स्वर बदलकर दीर्घस्वर हो जाते हैं। यथा—सीहो < सिंहः वीसति < विंशतिः।

९. दीर्घस्वर के स्थान पर सानुनासिक ह्रस्वस्वर हो गया है। यथा—सनंतनो < सनातनः, सम्मुजनी < सम्मार्जनी।

१०. प्राकृत में विसर्ग का प्रयोग नहीं होता। प्रायः इसके स्थान पर ए या ओ हो गये हैं। यथा—वच्छो < वृक्षः, धम्मो < धर्मः, देवे < देवः।

११. पदान्त के व्यञ्जनों का लोप हो गया है और अन्तिम म् के स्थान पर अनुस्वार हो गया है। यथा—पश्चा < पश्चात्, नीचा < नीचैस्।

१२. श, ष और स के स्थान पर केवल एकही ध्वनि श या स रह गई है। यथा—अस्सो < अश्वः, माणुसो < मनुष्यः, पुलिशे < पुरुषः।

१३. दो स्वरों के बीच में आनेवाले क ग च ज त द व का प्रायः लोप हो गया है। यथा—कअलि, कयलि < कदलि, वअणं, वयणं < वदनम्; णअरं, णयरं < नगरम्; राय < राजन्; लाअण्णं < लावण्यम्।

१४. कुछ अवस्थाओं में अघोष का सघोष और सघोष का अघोष पाया जाता है। यथा—गच्छदि < गच्छति, कागो < काकः, कम्बोचो < कम्बोजः तामोतरो < दामोदरः।

१५. अवर्ग के स्थान पर ट वर्ग के रूप पाये जाते हैं। यथा—पट्टनं < पत्तनं, वट्टि < वृत्तिः।

१६. संयुक्त व्यञ्जनान्त ध्वनियों का समीकरण हो गया है। अर्थात् क्त, ल्क्, क्र के स्थान पर त्त, क्क का प्रयोग पाया जाता हैं।

१७. उष्म ध्वनियों में परिवर्तन हो गये। यथा—स्प् के स्थान पर प्फ्, त्स् के स्थान पर च्छ्, त्य के स्थान पर च्च्, क्व् के स्थान पर क्क् एवं स्न् के स्थान पर न्न् ध्वनि आ गयी।

१८. संगीतात्मक स्वराघात के स्थान पर बलात्मक स्वराघात होने लगा।

१९. द्विवचन का लोप हो गया और अजन्त तथा हलन्त शब्दों के रूप अकारान्त शब्दों के समान ही प्रचलित हो गये।

२०. हलन्त प्रातिपादिक समाप्त हो गये।

२१. धातुओं के कालों (Tenses) तथा वृत्तियों (Moods) की संख्या में भी कमी हो गई। भूतकाल के तीन रूपों के स्थान पर एक ही रूप हो गया। सम्भावना सूचक वृत्ति (Subjunctive mood) समाप्त हो गई। धातुओं के सन्नन्त (इच्छार्थक) और यङन्त (अतिशय् बोधक) रूप भी प्रायः समाप्त हो गये।

२२. दस गणों के स्थान पर एक गण ने ही प्रमुखता प्राप्त कर ली। असमापिका क्रियाओं की संख्या भी घट गयी।

२३. पालि को छोड़, शेष प्राकृतों से आत्मनेपद का भी लोप हो गया।

२४. षष्ठी का प्रयोग चतुर्थी के स्थान पर और चतुर्थी का प्रयोग षष्ठी के स्थान पर होने लगा।

२५. संख्यावाची शब्दों में नपुंसकलिंग का विशेष प्रयोग होने लगा।

उपर्युक्त परिवर्तन अवध, विहार तथा अन्य पूर्वीय स्थानों में शीघ्रता से हुए; पर शनैः-शनैः इन परिवर्तनों ने सर्वमान्य रूप प्राप्त कर लिया।

द्वितीयोऽध्याय

द्वितीय स्तरीय–प्रथम युगीन प्राकृत

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि जिस प्राकृत में लिखित साहित्य उपलब्ध है, उस प्राकृत को द्वितीय स्तरीय प्राकृत कहा जाता है। इस प्राकृत के मूल तीन भेद हैं—

१. प्रथम युगीन

२. द्वितीय युगीन

३. तृतीय युगीन

द्वितीय स्तरीय प्रथम युगीन प्राकृत सबसे प्राचीन है। इसका वर्गीकरण निम्न प्रकार सम्भव है।

१. आर्ष प्राकृत

२. शिलालेखी प्राकृत

३. निया प्राकृत

४. प्राकृत धम्मपद की प्राकृत

५. अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

आर्ष प्राकृत से अभिप्राय बौद्ध और जैन आगामों की प्राकृत भाषा से है। अतः इस प्राकृत का पालि और जैन सूत्रों की भाषा इन दो विभेदों द्वारा विश्लेषण करना युक्तिसंगत होगा।

पालि

जिसे हम पालि कहते हैं, वह एक प्रकार की प्राकृत है। भाषा विशेष के अर्थ में पालि का प्रयोग अपेक्षाकृत नवीन है। ईस्वी सन् की तेरहवीं या चौदहवीं शती के पूर्व उसका प्रयोग इस अर्थ में नहीं मिलता है[१]। यही कारण है कि विचारक मनीषी विद्वान् गायगर ने इसे आर्ष (Archaic) प्राकृत कहा है[२]। आचार्य बुद्धघोष ने इस शब्द का प्रयोग बुद्धवचन या मूलत्रिपिटक के अर्थ में किया है। अट्ठकथा से बुद्धवचनों को अलग करने के उद्देश्य से 'पालि' शब्द का प्रयोग किया गया है। पालि शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। भिक्षु जगदीशकाश्यप 'पलियाय' का

---

१. भरतसिंह उपाध्याय—पालिसाहित्य का इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, लि०, सं० २००८ पृ० १।

२. Pali is an archaic Prakrit...........old Indian—Pali Literature and Language Page 1.

संक्षिप्त रूप 'पालि' को मानते हैं[१]। वे इस शब्द का प्रयोग पलियाय (परियाय) बुद्धोपदेश के अर्थ में अशोक के शिलालेखों में भी प्रयुक्त बतलाते हैं। भिक्षु सिद्धार्थ संस्कृत 'पांठ' शब्द का प्राकृतरूप पालि मानते हैं[२]। पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'पालि' शब्द को पंक्ति वाचक कहा है।[3] यही रूप संस्कृत में भी 'पंक्ति' के अर्थ में व्यवहृत है। अभिधानप्पदीपिका में पालि का अर्थ बुद्धवचन और पंक्ति दोनों हैं—"तन्ति बुद्धवचनं पन्ति पालि"। श्रीमती रीजडेविड्स भी पालि को पंक्तिवाचक मानती हैं[४]। जर्मन विद्वान् मैक्स वेलेसर ने पालि को पाटलि या पाडलि का संक्षिप्त रूप मानकर इसका अर्थ पाटलिपुत्र की भाषा माना है[५]। एक अन्य सिद्धान्त में पालि की व्युत्पत्ति पल्लि शब्द से मानी गई है। यह व्युत्पत्ति अन्य सभी व्युत्पत्तियों की अपेक्षा समीचीन मालूम पड़ती है। यतः पल्लि शब्द मूलतः संस्कृत का नहीं है, प्राकृत का है। यह पीछे से संस्कृत में समाविष्ट हुआ है। इस शब्द का प्रयोग 'विपाकश्रुत' (पत्र ३८–३९) में भी आया है। इसका अर्थ ग्राम या गाँव है। अतएव पालि का अर्थ गाँवों में बोली जानेवाली भाषा—ग्राम्य-भाषा है। इस भाषा का प्रयोग किसी प्रदेश विशेष में होता था और उस समस्त प्रदेश या जनपद की प्राकृत-भाषा को पालि कहा जा सकता है।[६]

पालि का वैदिक संस्कृत के साथ अधिक सादृश्य है। इसी कारण द्वितीय स्तर की समस्त प्राकृत भाषाओं में इसे प्राचीन माना जाता है।

पालि बनाम प्राकृत स्थान निर्णय

पालि प्राकृत का कौन-सा रूप है और यह कहाँ की भाषा थी, इस सम्बन्ध में मतभिन्नता है। बौद्धधर्म के अनुयायियों के अनुसार पालि मागधी ही है तथा यही वह मूलभाषा है, जिसमें भगवान् बुद्ध ने जनकल्याण के लिए अपना उपदेश दिया था। डॉ० कोनो और सर ग्रियर्सन ने इस भाषा का सम्बन्ध पैशाची के साथ बताया है। तुलना करने पर पालि का सम्बन्ध पैशाची के साथ अधिक निकट का मालूम पड़ता है। यथा—

---

१. पालिमहाव्याकरण महाबोधि-सभा, सारनाथ, १९४० ई० पृ० ८–१२।

२. डॉ० लाह द्वारा सम्पादित बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृ० ६४१–६५६।

३. पालि महाव्याकरण, सारनाथ, १९४० ई० पृ० ८।

४. शाक्य और बुद्धिस्ट ऑरीजिन्स, पृ० ४२९–३०।

५. पालिसाहित्य का इतिहास, प्रयाग, वि० सं० २००८ पृ० ८।

६. पाइआ–सद्द–महण्णवो–द्वितीय संस्करण वाराणसी उपोद्घात, पृ० २७।

संस्कृत	पालि	मागधी	शौरसेनी	पैशाची
लोक	लोक	लोअ	लोअ	लोक
रजत	रजत	लअद	रअद	रजत
नगर	नगर	णअल	णअर	नगर
कृत	कत	कड	कद	कत
वश	वस	वश	वस	वस
वचन	वचन	वअण	वअण	वचन
पट्ट	पट्ट	पस्ट	पट्ट	पट्ट
अर्थ	अत्थ	अस्त	अत्थ	अत्थ
मेष	मेस	मेश	मेस	मेस
वृक्ष	रुक्ख	लुक्ख	रुक्ख	रुक्ख

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट है कि पालि का सादृश्य जितना पैशाची के साथ है, उतना मागधी के साथ नहीं। अतएव जिस प्रदेश की पैशाची भाषा है उसी प्रदेश की पालिभाषा भी रही होगी। डॉ कोनो ने पालि का उपपत्ति स्थान विन्ध्याचल का दक्षिण प्रदेश और ग्रियर्सन ने भारत का उत्तर-पश्चिम प्रदेश माना है। इन दोनों विद्वानों के मतानुसार पैशाची भाषा भी उक्त स्थानों में व्यवहृत होती थी। पालि का गठन अशोक के गिरनारवाले शिलालेख के अनुरूप है, अतः यह अनुमान लगाना सहज है कि इसकी उत्पत्ति भारत के पश्चिम प्रदेश में हुई है और वहाँ से यह भाषा सिंहल पहुँची।

लूडर्स ने प्राचीन अर्ध-मागधी को पालि का आधार माना है। इनका अभिमत है कि मौलिक रूप में पालि त्रिपिटक प्राचीन आर्ध-मागधी में था, और बाद में उसका अनुवाद पालि भाषा में, जो कि पश्चिमी बोली पर आश्रित थी; किया गया। अतएव इनके मतानुसार त्रिपिटक में आज जो मागधी रूप दृष्टिगोचर होते हैं, वे प्राचीन अर्ध-मागधी के अवशिष्ट अंश मात्र हैं। अनुवाद करते समय वे ज्यों के त्यों रूप में छूट गये हैं[१]। गायगिर ने उक्त सिद्धान्त का खण्डन किया है और बतलाया है[२]—

I am unable to endorse the view, which has apparently gained much currency at present that the Pali canon is translated from some other dialect (according to Luders, from old Ardha-Magadhi). The peculiarities of its language may be fully explained on the hypothesis of (a) a gradual development and integration of various elements from differ-

१. लाहा : हिस्ट्री ऑव पालिलिटरेचर जिल्द पहली पृ० २०–२१ भूमिका।

२. Geiger—Pali Literature and language, Page 5.

ent parts of India (b) a long oral tradition extending over several centureis and (c) the fact that the texts were written down in a different country."

अर्थात् पालि का विकास धीरे-धीरे देश के विभिन्न भागों में हुआ है और इसमें बहुत से तत्त्वों का संमिश्रण हैं। पालि आगम का प्रणयन भी विभिन्न प्रदेशों में हुआ है। अतएव पालि को अर्ध-मागधी का पूर्वरूप मानना इनके मत में उचित नहीं।

गायगर ने पालि का मूलाधार मागधी को ही सिद्ध किया है। पालि में प्राप्त ध्वनितत्त्व, शब्दचयन एवं वाक्य-विन्यास में मागधी भाषा की अपेक्षा, जो अन्य प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं, उनका कारण बुद्ध का विभिन्न प्रदेशों में विहार करना तथा विभिन्न जाति और वर्ग के शिष्यों के सम्पर्क में आना है। यह सत्य है कि बुद्ध वचनों का संकलन बुद्ध के जीवन काल में नहीं हुआ है, बल्कि उनके महा-परनिर्वाण के अनन्तर दो-तीन शताब्दियों में हुआ होगा। अतः मागधी के मूल में रहने पर भी पालि में विभिन्न भाषाओं के तत्त्व मिश्रित हो गये हैं।

हमारा अपना विचार है कि वर्तमान पालि का सम्बन्ध मागधी के साथ नहीं है, यतः मागधी की प्रवृत्तियाँ इसमें बहुत कम हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन ने पालि में मागधी एवं पैशाची की कुछ विशेषताएँ देखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि पालि मूलतः मगध की भाषा थी। यहाँ से वह तक्षशिला के विद्यापीठ में पहुँची और वहाँ पर पैशाची का प्रभाव पड़ा। ग्रियर्सन का यह कथन भी वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करने में असमर्थ हैं। यतः तक्षशिला महायान सम्प्रदाय का केन्द्र था और उसका त्रिपिटक संस्कृत में था। अतएव तक्षशिला में पालि त्रिपिटिक के अध्ययन की सम्भावना नहीं है।

प्राकृत भाषा के वैयाकरणों ने मागधी भाषा का जो निरूपण किया है, और जो मागधी संस्कृत नाटकों में मिलती है, वह पालि त्रिपिटक के बहुत बाद की भाषा है। परन्तु अशोक के सारनाथ, रामपुरवा आदि पूर्वी अभिलेखों की भाषा तथा मौर्यकाल के प्राचीन अभिलेखों से जिस मागधी भाषा का पता चलता है, उसमें और पालि में वे सभी भिन्नताएँ परिलक्षित होती हैं, जो उत्तरकालीन मागधी और पालि में हैं। मागधी में संस्कृत की श्, ष् और स् ये तीनों ऊष्म ध्वनियाँ श् में परिणत हो गई हैं, परन्तु पालि में इन तीनों ध्वनियों के स्थान पर केवल 'स्' ध्वनि ही मिलती है। मागधी में केवल ल् ध्वनि है, जब कि पालि में र और ल् दोनों ध्वनियाँ विद्यमान हैं। पुँल्लिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग के कर्त्ता कारक एक वचन में 'ए' प्रत्यय जोड़ा जाता है, पर पालि में 'ओ' प्रत्यय पाया जाता है। यथा मागधी व धम्मे, पालि में धम्मो। अतएव पालि का सम्बन्ध मागधी के साथ जोड़ना तर्कसंगत नहीं है।

यद्यपि सिंहली अनुश्रुति के अनुसार पालि भाषा मागधी भाषा का दूसरा नाम है। स्थविरवादी परम्परा में बताया गया है :—

सा मागधी मूलभासा नरा यायादिकप्पिका।
ब्रह्मातो चस्सुतालापा सम्बुद्धा चापि भासरे[1]॥

अर्थात्—वह मागधी प्रथम कल्प के मनुष्यों, ब्रह्माओं तथा अश्रुत वचनवाले शिशुओं की मूलभाषा है और बुद्धों ने भी इसी में व्याख्यान दिया है।

सिंहली इस धारणा का मूल कारण हमें यह प्रतीत होता है कि सिंहल को बौद्धधर्म एवं त्रिपिटक की परम्परा मगध के राजकुमार महामहेन्द्र द्वारा प्राप्त हुई थी, अतएव सिंहल में पालि को मागधी मान लिया गया। वस्तुतः पालि का भाषागत सम्बन्ध पैशाची प्राकृत अथवा ऐसी जनपदीय भाषा से है, जिसका व्यवहार पश्चिम में होता था। पालि में मध्यदेशीय प्राकृत—शौरसेनी की प्रवृत्तियाँ भी विद्यमान हैं। अतः पालि का रूपगठन अनेक बोलियों के मिश्रण से हुआ है। इस पर छान्दस् का प्रभाव भी पूर्णतया सुरक्षित है। आत्मनेपदी क्रियारूप, लुङ्-लकार, प्राचीनगण वाले क्रियारूपों की अवस्थिति छान्दस् के समान है। अवन्ती, कौशाम्बी, कन्नौज, संकाश्य, मथुरा और कोशल प्रभृति स्थानों की बोलियों का प्रभाव भी इस भाषा पर स्पष्ट लक्षित होता है। अतएव ब्राह्मण ग्रन्थों की परिनिष्ठित संस्कृत के साथ अनेक प्रदेश की बोलियों के सम्पर्क से बुद्धागम की इस भाषा का रूप गठित हुआ होगा। यह सत्य है कि पालि किसी प्रदेश विशेष की कथ्य भाषा नहीं है। यतः इससे किसी भी प्रादेशिक बोली का विकास नहीं हुआ है। यह ध्यातव्य है कि कथ्य भाषाओं की परम्परा चलती है और उत्तरोत्तर जनभाषाएँ अपना उत्तराधिकार अन्य जनभाषाओं को समर्पित करती रहती हैं।

पालि का व्याकरण सम्बन्धी गठन

पालि में ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ भी वर्तमान हैं। ळ्, ळ्ह व्यञ्जनों का प्रयोग अधिक होता है। दो स्वरों के बीच में आनेवाले ड् का स्थान ळ ने और ढ् का स्थान ळ्ह् ने ग्रहण कर लिया है। मिथ्यासादृश्य के कारण ळ् का प्रयोग ल् के स्थान पर भी पाया जाता है। स्वतन्त्र स्थिति में 'ह्' प्राणध्वनि व्यञ्जन हैं, पर य्, र्, ल्, व् या अनुनासिक से संयुक्त होने पर इसका उच्चारण एक विशेषप्रकार से होता है, जिसे पालि वैयाकरणों ने औरस—हृदय से उत्पन्न कहा है। पालि में ध्वनि परिवर्तन सम्बन्धी निम्न नियम प्रमुख हैं :—

---

१. कच्चायन व्याकरण—तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी सन् १९६२ ई० भूमिका पृ० ३३।

१. प्रायः संस्कृत ह्रस्व स्वर अ इ उ पालि में सुरक्षित रहते हैं। यथा—

अग्निः > अग्नि अर्थः > अट्ठो रूक्षः > रुक्खो

२. यदि संस्कृत में अ संयुक्त व्यञ्जन से पहले हो, तो पालि में उसका कहीं-कहीं ए हो जाता है। यथा—

फल्गुः > फेग्गु शय्या > सेय्या

३. संस्कृत के इ और उ स्वर संयुक्त व्यञ्जन से पहले हों तो पालि में वे क्रमशः ए और ओ हो जाते हैं। यथा—

विष्णुः > वेण्हु उष्ट्रः > ओट्ठो उल्कामुखं > ओक्कामुखं

४. संयुक्त व्यञ्जन के पूर्ववर्ती दीर्घस्वर पालि में ह्रस्व हो जाते हैं। यथा—

चैत्यः > चेतियो औष्ठः > ओट्ठो मौर्यः > मोरियो

५. ऋ का परिवर्तन अ, इ और उ के रूप में होता है। पर इस परिवर्तन की स्थिति समीपवर्ती ध्वनियों के ऊपर निर्भर करती है। यथा—

वृकः > वृको मृगः > मग्गो कृतः > कितो मृतः > मितो

ऋजुः > उजु या उज्जु ऋषभः < उसमो पृच्छति > पुच्छति

६. ऋ का परिवर्तन क्वचित् व्यञ्जन के रूप में भी होता है। ऌ का उ भी पाया जाता है। यथा—

बृंहयति > ब्रूहेति वृक्षः > रुक्खो क्ऌप्तिः > कुत्ति

७. ऐ और औ के स्थान पर ह्रस्व और दीर्घ ए और ओ का आदेश होता है। यथा—

मैत्री > मेत्ता पौरः > पोरो

८. शब्द के मध्य में स्थित विसर्ग का परिवर्तन आगे आनेवाले व्यञ्जन के रूप में हो जाता है। अकारान्त शब्दों के परे विसर्ग का ओ और इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों के परे विसर्ग का लोप हो जाता है। पालि में विसर्ग नहीं रहता। यथा—

दुःखं > दुक्खं दुःसहः > दुस्सहो देवः > देवो

अग्निः > अग्गि धेनुः > धेनु

९. व्यञ्जनों का परिवर्तन पालि में उनकी स्थिति के अनुसार होता है। सामान्यतः आदि व्यञ्जन पालि में सुरक्षित हैं। मध्य व्यञ्जनों की तीन स्थितियाँ उपलब्ध हैं। पहली स्थिति में अघोष स्पर्श घोष हो जाते हैं। दूसरी स्थिति में घोष स्पर्श 'य' ध्वनि में परिवर्तित हो जाते हैं। तृतीय स्थिति में य ध्वनि का भी लोप हो जाता है। पालि में प्रथम दो अवस्थाएँ पायी जाती हैं। अतएव

शब्द के मध्य में स्थित संस्कृत अघोष स्पर्श पालि में उसी वर्ग के घोष स्पर्श हो जाते हैं। यथा—

शाकल: > सागलो   सुच् > सुजा   अपाङ्गः > अवंगोः

कपिः > कवि   ग्रथितः > गधितो

१०. शब्द के मध्य में स्थित घोष महाप्राण—घ्, ध्, भ् आदि ह में परिवर्तित मिलते हैं। यथा—

लघुः > लहु   रुधिरः > रुहिरो   साधुः > साहु

११. पालि में कहीं-कहीं संस्कृत को द् ध्वनि के स्थान पर र् ध्वनि पाई जाती है। यथा—

एकादश > एकारस   ईदृश > ऐरिस

१२. न के स्थान पर पालि में ल् या र् पाये जाते हैं तथा कहीं-कहीं ण् के स्थान पर ळ् पाया जाता है। यथा—

एनः > एलो   नीराञ्जना > नेरांजरा

वेणुः > वेळु   मृणालः > मुळालो

१३. पालि में संस्कृत पकार मकार में, यकार वकार में और वकार यकार में परिवर्तित पाया जाता है। यथा—

सुपन्त > सुमन्त   धूपायति > धूमायति

कंडूयति > कंडुवति   दाव > दाय

१४. संयुक्त व्यञ्जनों में साधारणतया प्रथम अक्षर दूसरे अक्षर का रूप ग्रहण कर लेता है। यथा—

मुक्तः > मुत्तो   दुग्धः > दुद्धो   प्राग्भारः > पब्भारो

खड्गः > खग्गो   पुद्गलः > पुग्गलो

१५. स्पर्श व्यञ्जनों के साथ अनुनासिक या अन्तःस्थ वर्णों का संयोग होने पर परवर्ती व्यञ्जन लुप्त हो पूर्ववर्ती व्यञ्जन का रूप धारण कर लेता है। यथा—

लग्नः > लग्गो   स्वप्नः > सप्पो

शक्यः > सक्को   प्रज्वलति > पज्जलति

१६. ऊष्म और अन्तःस्थ तथा अनुनासिक और अन्तःस्थ के संयुक्त होने पर भी परिवर्ती व्यञ्जन लुप्त होकर पूर्ववर्ती व्यञ्जन का रूप धारण कर लेता है। यथा—

मिश्रः > मिस्सो   अवश्यम् > अवस्सं

किण्वः > किण्णो   रम्यः > रम्मो

१७. मूर्धन्य रेफ अपने बाद वाले व्यञ्जन का रूप ग्रहण कर लेता है। यथा—

शर्करा > सक्करा   वर्गः > वग्गो   कर्पूरः > कप्पूरो

कर्म <कम्म　　दर्शनं <दस्सनं

१८. ल प्रायः अपने बाद वाले व्यञ्जन का रूप धारण कर लेता है और व अपने पहले वाले व्यञ्जन का रूप ग्रहण करता है। ज्ञ तथा ण्य के स्थान पर ञ्ञ पाया जाता है। यथा—

कल्पः <कप्पो　　प्रगल्भः <पगब्भो　　अश्वः <अस्सो

कन्या <कञ्ञा　　पुण्यः <पुञ्ञो

१९. पालि में संस्कृत के श्, ष्, और स् के स्थान पर दन्त्य स् ही पाया जाता है।

देशः <देसो　　पुरुषः <पुरिसो

२०. पालि में द्विवचन नहीं होता। चतुर्थी तथा षष्ठी विभक्ति के रूप प्रायः एक ही रहते हैं। तृतीया तथा पञ्चमी के रूपों में भी प्रायः समानता रहती है। धातु रूपों में आत्मनेपद और परस्मैपद दोनों के ही रूप मिलते हैं। भ्वादि, रुधादि, दिवादि, स्वादि, क्रयादि, तनादि और चुरादि इन सात गणों के रूप पालि में वर्तमान हैं। लकारों में आशीर्लिङ्ग लकार का प्रयोग नहीं मिलता। लिट् का प्रयोग भी बहुत कम पाया जाता है। भूतकाल के लिए लुङ् का प्रयोग बहुत अधिक होता है।

२१. प्रेरणा के अर्थ में संस्कृत णिच् प्रत्यय के स्थान पर पालि में अय तथा आयय प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

जैन सूत्रों की प्राकृत

जैन आगम की भाषा को अर्धमागधी कहा गया है। क्योंकि भगवान् महावीर के उपदेश की भाषा भी अर्धमागधी थी; पर उस प्राचीन अर्धमागधी का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित जानकारी आज उपलब्ध नहीं है। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों में आज जो अर्धमागधी का स्वरूप उपलब्ध हैं, उसका गठन देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में सम्पन्न बलभी नगर के मुनिसम्मेलन में हुआ है। यह सम्मेलन वीर निर्वाण संवत् ९८० में हुआ था। इस मुनिसम्मेलन ने आगम ग्रन्थों को सुसम्पादित किया। अतः भाषा और विषय इन दोनों ही क्षेत्रों में कुछ बातें पुरानी बनी रह गयीं और कुछ नवीन बातें भी जोड़ी गयीं। यही कारण है कि पद्य भाग की भाषा गद्य भाग की भाषा की अपेक्षा अधिक प्राचीन तथा आर्ष है। आयारंगसुत्त, सूयगडंगसुत्त एवं उत्तराज्झयणसुत्त की भाषा में पर्याप्त प्राचीन तत्त्व उपलब्ध हैं।

अर्धमागधी के प्राचीन रूप का आभास अशोक के उड़ीसा प्रदेशवर्ती कालसी जौगढ़ एवं धौली नामक स्थानों पर उत्कीर्ण १४ प्रशस्तियों में मिलता है। इनमें

र् के स्थान पर फ् और ल; तीनों ऊष्म श्, ष् और स् के स्थान पर स् तथा अकारान्त संज्ञाओं के कर्त्ताकारक एकवचन में ए विभक्ति का चिह्न प्राप्त होता है। अतः मागधी के तीन प्रमुख लक्षणों में से दो लक्षण ही प्रचुर रूप में पाये जाते हैं। तीसरा तालव्य शकार की प्रवृत्तिवाला लक्षण घटित नहीं होता है। अतएव उक्त तीनों स्थान की प्राकृत को अर्धमागधी प्राकृत का प्राचीन रूप माना जा सकता है।

शौरसेनी प्राकृत, जिसके बीच पालि में और प्राचीन रूप अशोक की गिरनार प्रशस्तियों में पाये जाते हैं, दिगम्बर आगमों की भाषा बनी। वीर निर्वाण संवत् ६८३ के लगभग जब अंगज्ञान लुप्त होने लगा था, तो खण्डशः ज्ञान के आधार पर कर्म प्राभृत (षट् खण्डागम) एवं कसायपाहुड जैसे गम्भीर सैद्धान्तिक ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। यह यहाँ ज्ञातव्य है कि उपलब्ध अर्धमागधी भाषा की अपेक्षा उपलब्ध शौरसेनी भाषा प्राचीन है। कालगणनानुसार प्राप्त शौरसेनी अर्धमागधी की अपेक्षा तीन सौ वर्ष प्राचीन है। आर्षप्राकृत में अर्धमागधी और शौरसेनी दोनों ही भाषाओं का विश्लेषण करना आवश्यक है।

अर्धमागधी साधारणतः अर्धमागधी शब्द की व्युत्पत्ति "अर्धमागध्या"— अर्थात् जिसका अर्धांश मागधी कहा गया है। इस व्युत्पत्ति का समर्थन ईस्वी सन् सातवीं शताब्दी के विद्वान् जिनदास गणि महत्तर के निशीथ-चूर्णि नामक ग्रन्थ में उल्लिखित "पोराणयद्धमागहभासानिययं हवईसुत्तं" द्वारा भी होता है। अर्धमगध शब्द की व्याख्या—"मगहद्धविसयभासानिबद्धं अद्धमागई" अर्थात् मगधदेश की अर्धप्रदेश की भाषा में निबद्ध होने से प्राचीन सूत्रग्रन्थ अर्धमागध कहलाते हैं। अर्धमागधी में अट्ठारसदेसीभासानिययं वा अद्धमागहं"। अन्यत्र भी इसे सर्वभाषामयी कहा है[1]।

अर्धमागधी का मूल उत्पत्ति स्थान पश्चिम मगध और शूरसेन (मथुरा) का मध्यवर्ती प्रदेश अयोध्या है। तीर्थंकरों के उपदेश की भाषा अर्धमागधी ही मानी गयी है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव अयोध्या के निवासी थे, अतः अयोध्या में ही

---

१. नाना भाषात्मिकां द्विव्यभाषायेकात्मिकामपि।
प्रथमयन्तमयत्नेन हृदध्वान्तं नुदतीं नृणाम्॥
जिनसेन महापुराण ३३ पर्व श्लो० १२०।

दिव्यभाषा तवाशेष भाषा भेदानुकारिणी।
निरस्यति मनोध्वान्तम् आवाचामपि देहिनाम्॥ वही पर्व ३३ श्लो० १४८।

सर्वार्धमागधीं सर्वभाषासु परिणामिनीम्।
सर्वेषां सर्वतो वार्चं सार्वज्ञीं प्रणिदध्महे॥ —वाग्भट काव्यानुशासन पृ० २।

इस भाषा की उत्पत्ति मानी जा सकती है। प्रदेश की दृष्टि से अधिकांश विचारक इसे काशी-कोशल प्रदेश की भाषा मानते हैं।

एक विचार यह भी प्रचलित है कि भगवान् महावीर अर्धमागधी में उपदेश देते थे। उनका जन्म वैशाली में हुआ था। उनके विहार और प्रचार का मुख्य क्षेत्र पूर्व में राढ़ भूमि से लेकर पश्चिम में मगध की सीमा तक, उत्तर में वैशाली से लेकर दक्षिण में राजगृह और मगध के दक्षिणी किनारे तक था। अतः अर्धमागधी इसी क्षेत्र की भाषा रही होगी। यह भी ज्ञातव्य है कि इन क्षेत्रों में बोली जानेवाली अन्य बोलियों का प्रभाव भी अवश्य पड़ा होगा। आर्यभाषा के अतिरिक्त इस क्षेत्र में मुण्डा भाषा भी प्रचलित थी। अतः मुण्डा का प्रभाव भी अर्धमागधी पर अवश्य वर्तमान है। अर्धमागधी में संस्कृत के स्वार्थिक 'क' प्रत्यय के स्थान पर 'ह' प्रत्यय भी पाया जाता है। यह 'ह' प्रत्यय मुण्डा भाषा से ही गृहीत है। तथ्य यह है कि प्राचीन भारत में मुण्डा भाषा बोलने-वाले पश्चिमी बंगाल और बिहार के पहाड़ी प्रदेशों में ही निवास नहीं करते थे, बल्कि वे सम्पूर्ण भारत में फैले हुए थे। अतः अर्धमागधी पर मुण्डा तथा द्रविड़ का प्रभाव पड़ना कोई क्लिष्ट कल्पना की बात नहीं है। समवायाङ्ग सूत्र में अर्धमागधी की विशेषताओं का निरूपण करते हुए कहा गया है कि आर्य और अनार्य इस भाषाओं को अनुचित नहीं समझते हैं। अतः इसमें आर्य और अनार्य के प्रभाव-मिश्रण को स्वीकार करना अनुचित नहीं। "भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्मं आइक्खइ। सा वि य णं अद्धमागहीभासभासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमनारियाणं दुप्पय चउप्पयमियपसुपक्खिसरिसिवाणं अप्पप्पणो हियसिवसुहदाय भासत्ताए परिणमइ"[१]।

अर्थात्—भगवान् महावीर अर्धमागधी भाषा में धर्मोपदेश देते थे। यह शान्ति, आनन्द और सुखदायिनी भाषा आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृपों के लिए उनकी अपनी-अपनी बोली में परिणत हो जाती थी।

ओववाइयसुत्त से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है :—

तए णं समणे भगवं महावीरे कूणियस्स रण्णो भिंभिसारपुत्तस्स अद्धमागहए भासाए भासइ। अरिहा धम्मं परिकहेइ।....सा वि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं अरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ।

उपर्युक्त उद्धरण से यह निष्कर्ष सहज में निकाला जा सकता है कि अर्ध-भाग की भाषा पर आर्येतर भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। उदाहरणार्थ ऊपर के

१. समवायाङ्ग अहमदाबाद, सन् १९३८ ई० सूत्र ९८।

उद्धरण में आया हुआ अरिहा शब्द लिया जा सकता है। आर्य शब्द से प्राकृत में अय्य और अरिया शब्द निष्पन्न होंगे। तब यह अरिहा शब्द किस प्रकार बन गया। आर्य शब्द से स्वार्थिक 'क' प्रत्यय जोड़कर आर्यक से अरिय या अरिया बन सकता हैं, पर अरिहा कैसे बन गया है। विचार करने पर उक्त समस्या का समाधान मुण्डा भाषा के स्वार्थिक 'ह' प्रत्यय द्वारा हो जाता है। वस्तुतः यहाँ आर्य भाषा का 'क' प्रत्यय नहीं है, बल्कि मुण्डा भाषा का 'ह' प्रत्यय है। उत्तरकालीन प्राकृत वैयाकरणों ने उक्त समस्या के समाधान के हेतु 'क' के स्थान पर 'ह' प्रत्यय का विधान स्वीकार किया।

अर्धमागधी को ऋषिभाषिता भाषा कहा गया है। वैदिक भाषा के समान इसे भी प्राचीन भाषा माना जाता है। इसमें बहुत से प्राचीन वैदिक रूप ध्वनि-परिवर्तन के साथ सुरक्षित हैं। उदाहरणार्थ भूतकाल में जुड़नेवाला इसुं प्रत्यय सकारात्मक लुङ्लकार अन्य पुरुष बहुवचन का विकसित रूप है। इसी प्रकार वैदिक प्रत्यय त्वामम् का ह्रस्वरूप तूणम् भी इस भाषा में प्रचुर परिमाण में प्रयुक्त होता है। अर्धमागधी के घेप्पइ रूप का सम्बन्ध भी छान्दस् धातु 'घृ' से जोड़ना अधिक उपयुक्त है, उक्त रूप में 'प्प' विस्तार के रूप में आया है। प्राकृत वैयाकरणों ने √ग्रह् के स्थान पर 'घेप्प' आदेश कर घेप्पइ रूप निष्पन्न किया है, वस्तुतः इसकी सहज निष्पत्ति √धृ धातु से की जा सकती है, आदेश वाली दूर की कौड़ी बैठाने की आवश्यकता ही नहीं है।

अर्धमागधी का रूप गठन

सर्वमान्य सिद्धान्त है कि अर्धमागधी का रूपगठन मागधी और शौरसेनी से हुआ है। हार्नले ने[1] समस्त प्राकृत बोलियों को दो वर्गों में बाँटा है। एक वर्ग को उसने शौरसेनी प्राकृत बोली और दूसरे वर्ग को मागधी प्राकृत बोली कहा है। इन बोलियों के क्षेत्रों के बीचोबीच में उसने एक प्रकार की एक रेखा खींची, जो उत्तर में खालसी से लेकर वैराट, इलाहाबाद और फिर वहाँ से दक्षिण को रामगढ़ होते हुए नौगढ़ तक[2] गयी है। ग्रियर्सन[3] उक्त मत से सहमत होते हुए लिखते हैं कि उक्त रेखा के पास आते-जाते शनैः शनैः ये दोनों प्राकृतें आपस में मिल गयीं और इसका परिणाम यह हुआ कि इनके मेल से एक तीसरी बोली उत्पन्न हुई, जिसका नाम अर्धमागधी पड़ा। इस कथन से यह निष्कर्ष

१. कम्पैरेटिव ग्रामर भूमिका पृ० १७ और उसके बाद के पृष्ठ।

२. चण्ड के प्राकृत लक्षण की भूमिका पृ० २१।

३. सेवन ग्रैमर्स ऑव द डायलैक्टस एन्ड सबडाएलैक्टस ऑव द बिहारी लैंग्वेज; खण्ड १ पृ० ५ (कलकत्ता १८८३ ई०)।

निकालता है कि भाषा की सहज प्रवृत्ति के अनुसार अड़ोस-पड़ोस की बोलियों के शब्द धीरे-धीरे आपस में एक-दूसरे की बोली में घुल-मिल जाते हैं और उन बोलियों के भीतर इतना घर कर लेते हैं कि बोलनेवाले यह नहीं समझपाते कि वे किसी दूसरी बोली के शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं। फलतः शौरसेनी और मागधी के संयोग से अर्धमागधी बनी होगी। मार्कण्डेय ने प्राच्या का व्याकरण शौरसेनी के समान बताया हैं। उनका मत है—"प्राच्याः सिद्धिः शौरसेन्याः" यद्यपि मार्कण्डेय ने प्राच्या की विशेषताओं पर प्रकाश नहीं डाला है, पर इतना स्पष्ट है कि प्राचीन समय में पूर्व की बोली मागधी और पश्चिम की बोली शौरसेनी कही जाती थी। अतएव अर्धमागधी में मागधी और शौरसेनी की प्रवृत्तियों का समन्वय पाया जाना युक्तिसंगत ही है।

मार्कण्डेय ने अर्धमागधी भाषा के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है "शौरसेन्या अदूरत्वादियमेवार्धमागधी"[1]—अर्थात् शौरसेनी भाषा के निकटवर्त्ती होने के कारण मागधी ही अर्धमागधी है। क्रमदीश्वर ने अपने प्राकृत व्याकरण में अर्धमागधी का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि "महाराष्ट्रीमिश्राऽर्धमागधी"[2]। हमें ऐसा मालूम होता है कि क्रमदीश्वर के उक्त कथन का आधार महाराष्ट्री प्राकृत का आर्षप्राकृत के साथ सादृश्य ही कारण हो सकता है। वास्तव में जैन सूत्रों की अर्धमागधी मागधी और महाराष्ट्री के संयोग से उत्पन्न नहीं है, यह तो नाटकीय अर्धमागधी का स्वरूप हो सकता है।

अभयदेव ने उवासगदसाओ की टीका में मागधी के पूर्ण लक्षणों को न पाकर लिखा है—"अर्धमागधी भाषा यस्यां रसोरलशौ मागध्यामित्यादिकम् मागधभाषालक्षणं परिपूर्णं नास्ति"। अर्थात् अर्धमागधी वह भाषा है जिसमें मागधी के पूर्ण लक्षण रकार और सकार के स्थान पर लकार और शकार नहीं पाये जाते। स्पष्ट है कि अभयदेव भी अर्धमागधी का रूप मागधी मिश्रित शौरसेनी मानते हैं। पर इतना सत्य है कि मागधी की प्रवृत्तियों में शौरसेनी की जो प्रवृत्तियाँ मिश्रित हैं, वे नाटकीय शौरसेनी की नहीं है, बल्कि जैन शौरसेनी की हैं। आकारान्त शब्दों में कर्त्ताकारक एकवचन में ए प्रत्यय के समानन्तर ओ प्रत्यय भी पाया जाता है। यह 'ओ' प्रत्यय अर्धमागधी को मागधी की प्रवृत्ति से पृथक् सिद्ध कर देता है। यद्यपि र कार के स्थान पर ल कार और सकार के स्थान पर शकार की प्रवृत्ति बच्चों, स्त्रियों और अशिक्षित व्यक्तियों की बोली में ही पायी जाती है। नाटकीय मागधी के लक्षणकारों ने इन्हीं पात्रविशेषों को

१. प्राकृत सर्वस्व पृ० १०३।

२. संक्षिप्तसार पृ० ३८।

भाषा का सामान्यीकरण कर मागधी का लक्षण निर्दिष्ट कर दिया है। ऋषिभाषित अर्धमागधी में पात्रविशेष की भाषा की अपेक्षा नहीं है और न इसमें स्थानगत वैशिष्ट्य की सम्भावना है। वर्तमान में मागध अपभ्रंश से उत्पन्न बंगला भाषा को छोड़ अन्य किसी भी भाषा में सकार के स्थान पर शकार के व्यवहार का प्रचलन नहीं है। विहार की सभी आधुनिक बोलियों में भी तीनों उष्म ध्वनियों के स्थान पर प्रायः दन्त्य उष्म 'स' ध्वनि का प्रयोग पाया जाता है। अतएव मागधी के उक्त दो लक्षणों के न रहने पर भी अर्धमागधी को मागधी नहीं कहा जा सकता। अतः अकारान्त शब्दों में प्रथमा विभक्ति एकवचन में ए के साथ ओ और छान्दस की क् ध्वनि के स्थान पर ग् ध्वनि का पाया जाना जैन शौरसेनी के लक्षणों के अन्तर्गत है। इतना ही नहीं दो स्वरों के मध्यवर्ती असंयुक्त क के स्थान में अनेक स्थानों पर ग तथा अनेक स्थलों में त और य होते हैं।

उक्त शौरसेनी प्रवृत्तियों के साथ अर्धमागधी में मागधी की कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी वर्तमान हैं, जिनके कारण उसमें मागधी का मिश्रण मानना नितान्त आवश्यक है। अकारान्त शब्दों में कर्त्ताकारक एकवचन में ए प्रत्यय का होना तथा ऋ में समाप्त होनेवाले धातु के त स्थान में ड का पाया जाना ऐसे लक्षण हैं, जिनके कारण उसे मागधी से सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता।

अर्धमागधी भाषा के प्राचीन उल्लेख पर्याप्त रूप में मिलते हैं। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटक में प्रयुक्त होनेवाली भाषाओं का उल्लेख करते हुए निम्न-लिखित प्राकृतों का निर्देश किया है—

मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरशेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्त्तिताः[1]।

अर्थात्—मागधी, अवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, बाल्हीका और दाक्षिणात्या के साथ अर्धमागधी भाषा विभिन्न देशवाले पात्रों की कथ्य भाषा होती है। भरत मुनि का समय अनुमानतः ई० पू० ३०० माना जाता है। ल्यूडर्स ने अश्वघोष कृत सारिपुत्रप्रकरणम् के प्राप्त खण्डित अंशों में गोभिल द्वारा प्रयुक्त भाषा को प्राचीन अर्धमागधी कहा है। सम्भवतः अश्वघोष के समय तक अर्धमागधी का प्रयोग साहित्य में होता था। पर सारिपुत्रप्रकरणम् में प्राप्त अर्धमागधी भाषा के उद्धरण इतने अल्प हैं कि उनके आधार पर कोई विशेष सिद्धान्त निर्धारित नहीं किया जा सकता है।

इस प्रसंग में एक बात और उल्लेखनीय है कि प्राकृत के प्रसिद्ध वैयाकरण वररुचि ने महाराष्ट्री, पैशाची, शौरसेनी और मागधी इन चार ही प्राकृत भाषाओं

---

१. नाट्य शास्त्र—चौखम्भा संस्कृत सीरिज वाराणसी—१८ अध्याय, श्लो० ३५-३६।

का निर्देश किया है। वररुचि अर्धमागधी का उल्लेख नहीं करते। इनका समय ई० सन् तीसरी शती माना जाता है। अतः वररुचि का अर्धमागधी के सम्बन्ध में मौन रहना खटकनेवाली बात है। प्रत्येक अध्येता के मन में यह शङ्का उत्पन्न होती है कि जब भरत मुनि ने अर्धमागधी का उल्लेख किया तो वररुचि इसका अनुशासन करना क्यों भूल गये? कौन-सी ऐसी बात है, जिसके कारण वे अर्धमागधी के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह पाये। उक्त प्रश्न पर विचार करने से अवगत होता है कि सम्भवतः वररुचि को नाटकीय साहित्यिक प्राकृतों का निर्देश करना अभीष्ट था। इसी कारण प्रमुख साहित्यिक भाषाओं का निर्देश कर "शेषं महाराष्ट्रीवत्" लिखकर वे मौन हो गये। अथवा यह भी सम्भव है कि तीसरी शती में अर्धमागधी का प्रयोग नाटकों में नहीं होता था। यद्यपि "चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठीनाञ्चार्धमागधी"[1] अर्थात्—दासों, राजपुत्रों और सेठों द्वारा इस बोली का व्यवहार किया जाना चाहिए। परन्तु नाटकों में इस नियम का सर्वत्र पालन नहीं किया गया है। लास्सन ने प्रबोधचद्रोदय और मुद्राराक्षस में अर्धमागधी की विशेषताएँ दिखलाने की चेष्टा की है। मुद्राराक्षस का जीवक्षपणक जिस भाषा का प्रयोग करता है, वह अर्धमागधी से मिलती-जुलती है। इसमें ओ के स्थान पर ए का प्रयोग पाया जाता है। अतएव संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि प्राचीन अर्धमागधी का व्यवहार जैन सुत्तागामों और उत्तरवर्ती अर्धमागधी का प्रयोग नाटकों में भी क्वचित् होता था। अर्धमागधी ध्वनितत्त्व, रूपतत्त्व, शब्दसम्पत्ति एवं अर्थतत्त्व की दृष्टि से प्राचीन **शौरसैनी और प्राचीन मागधी का मिश्रित रूप है।** अर्धमागधी नाम भी इस तथ्य का सूचक है कि इस भाषा में मागधी के आधे ही लक्षण वर्तमान हैं। शेष आधे लक्षण प्राचीन शौरसेनी के हैं। इन दोनों भाषाओं के मेल से निष्पन्न अर्धमागधी भाषा है।

अर्धमागधी में इ ए और उ ओ का परस्पर विनिमय पाया जाता है। जैसे इदिस एदिस < इदृश तथा तूण तोण। अर्धमागधी में संस्कृत की परम्परा से भिन्न

अर्धमागधी की ध्वनिपरिवर्तन सम्बन्धी विशेषताएँ

ह्रस्व ए, ओ का विकास भी पाया जाता है। खुले शब्द-खण्डों में प्रधान या गौणरूप से उत्पन्न इ, उ का ए, ओ के साथ परस्पर विनिमय पाया जाता है। यथा—गिरु गे/रु; मुसा मोसा < मृषा। ध्वनि परिवर्तन के प्रमुख नियम निम्न प्रकार हैं:—

१. अर्धमागधी में दो स्वरों के मध्यवर्ती असंयुक्त क् के स्थान में सर्वत्र ग् और अनेक स्थलों में त् और य् पाये जाते हैं। यथा—

१. देखें—भरतमुनि का नाट्यशास्त्र, चौखम्बा वाराणसी, १८।३८।

ग—पगप्प < प्रकल्प—प्र के स्थान पर प, क् को ग् और संयुक्त ल् का लोप तथा प् को द्वित्व।

आगर < आकर—क् के स्थान पर ग्।

आगास < आकाश—क् को ग् और श् के स्थान पर दन्त्य स्।

सावग < श्रावक—संयुक्त रेफ का लोप, श् को स् और क् के स्थान पर ग्।

त—आराहत < आराधक—क् के स्थान पर त् और ध् के स्थान पर ह् आदेश हुआ है।

सामातित < सामायिक—य् के स्थान पर त् और क् के स्थान पर त्।

अहित < अधिक ध् के स्थान पर ह् और क् के स्थान पर त्।

साउणित—शाकुनिक—तालव्य श् को दन्त्य स्, क्कार का लोप और उ स्वर शेष, न् को ण् तथा अन्तिम क् के स्थान पर त्।

य—लोय < लोक—क् को य् हुआ है।

अवयार < अवकार—क् को य् हुआ है।

२. दो स्वरों के बीच का असंयुक्त ग् प्रायः स्थित रहता है। कहीं-कहीं त् और य् भी पाये जाते हैं। यथा—

ग—आगम < आगम—ग् ज्यों का त्यों अवस्थित है।

आगमणं < आगमनं—ग् ज्यों का त्यों और न् के स्थान पर ण् हुआ है।

अणुगमिय < अनुगमिक—ग् ज्यों का त्यों, न् के स्थान पर ण् और क् के स्थान पर य् हुआ है।

आगमिस्स < आगमिष्यत्—ग् ज्यों का त्यों, संयुक्त य् का लोप और स् को द्वित्व; अन्तिम हल् त् का लोप।

भगवं < भगवान् ग् ज्यों का त्यों और न् को अनुस्वार और 'आ' को ह्रस्व।

त—अतित < अतिग—ग् के स्थान पर त्।

य—सायर = सागर—ग् के स्थान पर य्।

३. दो स्वरों के बीच में आनेवाले असंयुक्त च् और ज् के स्थान में त् और य् दोनों ही होते हैं। यथा—

त—णारात < नाराच—न के स्थान पर ण् और च् के स्थान पर त्।

वति < वचस्—अन्त्य हल् स् का लोप और च् के स्थान पर त् तथा इकार।

पावतण < प्रवचन—प्र के स्थान पर प् और च् के स्थान पर त्।

य—कयाती < कदाचित्—द् कार का लोप, आ शेष और य श्रुति, च् के स्थान पर य् और अन्तिम व्यञ्जन त् का लोप एवं पूर्ववर्ती इ को दीर्घ।

वायणा < वाचना—च् को य् और न् को ण्।

ज—त—भोति < भोजिन्—ज् के स्थान पर त् और अन्तिम न् का लोप।

वतिर < वज्र—ज् के स्थान पर त् और र् का पृथक्करण तथा त् में इ स्वरभक्ति का संयोग।

पूता > पूजा—ज् के स्थान पर त्।

रातीसर < राजेश्वर—ज् के स्थान पर त्, ऐकार को ईत्व, संयुक्त व् का लोप और तालव्य श् को दन्त्य स्।

४. दो स्वरों का मध्यवर्ती त् प्रायः बना रहता है; कहीं-कहीं इसका य् भी हो गया हैं। यथा—

वंदति < वन्दते—त् ज्यों का त्यों है, आत्मनेपद की क्रिया परस्मैपद में परिवर्तित हैं।

नमंसति < नमस्यति—त् ज्यों का त्यों, संयुक्त य् का लोप और म् के ऊपर अनुस्वार।

पज्जुवासति < पर्युपास्ते—संयुक्त रेफ का लोप, य् को ज् और द्वित्व। प के स्थान पर व और स्वरभक्ति के अनुसार पृथक्करण, ए का ह्रस्व।

जितिदिय < जितेन्द्रिय—त् ज्यों का त्यों, एकार को इत्व और संयुक्त रेफ का लोप।

आगति < आकृति—क् के स्थान पर ग्, ऋकार को इ और त् ज्यों का त्यों है।

य—करयल < करतल—मध्यवर्ती त के स्थान पर य हुआ है।

५. दो स्वरों के बीच में स्थित द् के स्थान पर द् और त् ही अधिकांश में पाये जाते हैं। यथा—

द—पदिसो < प्रदिशः—प्र को प, द् के स्थान पर द् और श् को स्।

अणादियं < अनादिकं—न् के स्थान पर ण्, द् को द् और क् के स्थान पर य्।

णदति < नदति—न् के स्थान पर ण् और द् को द्।

वेदहिति < वेदिष्यति—संयुक्त य् का लोप्, ष् को स् और स् के स्थान पर ह् तथा द् और त् के स्थान पर उक्त दोनों ही वर्ण विद्यमान हैं।

त—जता < यदा—य् के स्थान पर ज् और द् को त्।

पात < पाद—द् के स्थान पर त्।

नती < नदी—द् को त्।

मुसावात < मृषावाद—मकारोत्तर ऋ के स्थान पर उ, ष् को स् और द् के स्थान पर त् हुआ हैं।

कताती <कदाचित्—द के स्थान पर त्, च् को त् और अन्तिम हल् त् का लोप तथा त् के पूर्ववर्ती इकार को दीर्घ।

य—पडिच्छायण <प्रतिच्छादन—प्रति के स्थान पर पडि, द् को य् और म् को ण्।

चउप्पय <चतुष्पद—त् का लोप, उ स्वर शेष, संयुक्त ष् का लोप, प् को द्वित्व और द् के स्थान पर य्।

कयत्थो <कदर्थः—द् के स्थान पर य्, रेफ का लोप, थ् को द्वित्व और पूर्ववर्ती थ् को त्।

६. दो स्वरों के मध्यवर्ती प् के स्थान पर व् होता है। यथा—

पावग <पापक—मध्यवर्ती प् को व् और अन्त्य व्यञ्जन क् को ग्।

संलवति <संलपति—मध्यवर्ती प् को व हुआ है।

उवणीय <उपनीत <प् के स्थान व् और द् को ण।

७. स्वरों का मध्यवर्ती य् प्रायः ज्यों का त्यों रह जाता है कहीं-कहीं उसका त् भी हो जाता है। यथा—

वायव <वायव　　पिय <प्रिय　　इंदिय <इन्द्रिय

त—सिता <सिया

परितात <पर्याय—स्वर भक्ति के नियम से यं का पृथक्करण और इ का आगम, दोनों य् के स्थान पर त्।

साति <शयिन्—श् को स्, य् के स्थान पर त् और अन्त्य न् का लोप।

नैरतित <नैरयिक—ऐकार को एकार, य् के स्थान पर त् और क को भी त्।

८. दो स्वरों के मध्यवर्ती व् के स्थान पर व्, त् और य् होते हैं। यथा—

वायव <वायव—व् के स्थान पर व् ही रह गया है।

गारव <गौरव—ओकार के स्थान पर आकार और व् के स्थान पर व्।

त—परिताल <परिवार—व् के स्थान पर त् और र् के स्थान पर ल्।

कति <कवि—व् के स्थान पर त्।

य—परियट्टण <परिवर्तन—व् के स्थान पर य्, त् के स्थान पर ट्ट और त् को ण्।

९. शब्द के आदि, मध्य और संयोग में सर्वत्र ण् की तरह न् भी स्थित रहता है। यथा—

नई <नदी—न् ज्यों का त्यों स्थित है, द् लोप और ई शेष।

नायपुत्त <ज्ञातपुत्र—ज्ञ् के स्थान पर न्, त् को य् और त्र् के स्थान पर त्।

विन्नु <विज्ञ—ज्ञ के स्थान पर न्नु ।

१०. एव के पूर्व अम् के स्थान पर आम् होता है । यथा—

जामेव <यमेव—य् के स्थान पर ज् और एव के पूर्ववर्ती अम् के स्थान पर आम् ।

एवामेव <एवमेव—एव के पूर्ववर्त्ती अम् के स्थान पर आम् ।

११. दीर्घ स्वर के बाद इति वा के स्थान में ति वा और इ वा का प्रयोग होता है । यथा—

इंदमहे ति वा <इन्द्रमह इति वा—इति वा के स्थान पर ति वा ।

इंदमहे इ वा <इन्द्रमह इति वा—,, ,, ,, इ वा ।

१२. यथा और यावत् शब्द के य् का लोप और ज् दोनों ही देखे जाते हैं । यथा—

अहक्खाय <यथाख्यात—यथा के स्थान पर अह और ख्यात को क्खाय हुआ है ।

अहाजात <यथाजात—यथा के स्थान पर अहा हुआ है ।

१३. दिवस् शब्द में व् और साकार के स्थान पर विकल्प से यकार और हकार आदेश होते हैं । यथा—

दियहं, दियसं <दिवसं

१४. गृह शब्द के स्थान पर गह, घर, हर और गिह आदेश होते हैं । यथा—

गहं, घरं, हरं, गिहं <गृहम् ।

१५. म्लेच्छ शब्द के च्छ के स्थान पर विकल्प से क्खु तथा एकार के स्थान पर विकल्प से आकार और उकार आदेश होते हैं । यथा—

मिलेक्खू, मिलक्खू, मिलुक्खू <म्लेच्छः—विसर्ग के कारण यहाँ दीर्घ ऊकार हुआ है ।

१६. पर्याय शब्द के र्याय भाग के स्थान पर विकल्प से रियाग और जाय आदेश होते हैं । यथा—

परियागो, परिआगौ, पज्जायो <पर्यायः ।

१७. बुधादिगण पठित शब्दों के धकार के स्थान पर विकल्प से हकार आदेश होता है । यथा—

बुहो <बुधः—ध् को ह् और विसर्ग को ओत्व ।

रुहिरं <रुधिरं—ध् को ह् ।

१८. वर्ज आदि शब्दों में व् के स्थान पर विकल्प से उ आदेश होता है । यथा—

आउज्जो, आवज्जो <आवर्जः ।

आउज्जणं, आवज्जणं <आवर्जनम् ।

१९. पुट और पुर शब्द के पकार का विकल्प से लोप होता है । यथा—

तालउडं, तालपुडं <तालपुटम् ।

गोउरं, गोपुरं <गोपुरम् ।

२०. पदरचना की दृष्टि से अर्धमागधी में अकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा एकवचन में प्रायः सर्वत्र ए और क्वचित् ओ प्रत्यय हुआ है । सप्तमी एकवचन में स्सि प्रत्यय होता है । तृतीया विभक्ति के एकवचन में ण के साथ सा और चतुर्थी एकवचन में आये या आते प्रत्यय जुड़े हैं ।

२१. समूह, सम्बन्ध और अपत्यार्थ बतलाने के लिए इय, अण् और इज्ज प्रत्यय; निज सम्बन्ध बतलाने के लिए इच्चिय और इज्जिय प्रत्यय; भावार्थ में इय, इल्ल, इज्ज, इय, इक और क प्रत्यय; स्वार्थ में अण्, इक, इज्ज, इय, इयण, इम, इल्ल, त्ता, उल्लह और मेत्त प्रत्यय; अतिशय अर्थ बतलाने के लिए इट्ठ, इज्ज प्रत्यय; भाववाचक संज्ञा बनाने के लिए त्त और तण प्रत्यय; विकार अर्थ में अण् और मय प्रत्यय एवं प्रकार अर्थ में हा प्रत्यय होते हैं ।

२२. आख्यातों में अर्धमागधी में भूतकाल के बहुवचन में इंसु प्रत्यय जोड़ा गया है । यथा—पुच्छिसु, गच्छिसु, आभासिसु । कर्मणि में इज्ज प्रत्यय और प्रेरणा में आवि प्रत्यय जोड़ने के अनन्तर धातु प्रत्यय जोड़ने से कर्मणि और प्रेरणा के रूप होते हैं ।

२३. कृत्प्रत्ययों में अर्धमागधी में सम्बन्धार्थक क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर त्ता, त्तु, तूण, ट्टु, उँ, ऊण, इय, इत्ता, इत्ताणं, एत्ताणं, इत्तु और च्च प्रत्यय; हेत्वर्थक तुमुन् के स्थान पर इत्तए, इत्तते, त्तुं और उँ प्रत्यय एवं वर्तमान अर्थ में न्त और माण प्रत्यय होते हैं । अकारान्त धातुओं से होने वाले त प्रत्यय के स्थान पर ड हो जाता है । यथा—कृ + त = कड, मृ + त = मड, अभि + हृ + त = अभिहड, इत्यादि ।

प्राचीन शौरसेनी या जैन शौरसेनी

भारतीय आर्यभाषा से मध्ययुग में जो नाना प्रादेशिक भाषाएँ विकसित हुईं, उनका सामान्य नाम प्राकृत है । विद्वानों ने देशभेद के कारण मागधी और शौरसेनी इन दो प्राकृतों को प्राचीन माना है । एक भाषा का प्रचार काशी के पूर्व में था और दूसरी का काशी के पश्चिम में सम्राट् अशोक के शिलालेखों में उक्त दोनों ही भाषाओं के प्राचीनतम स्वरूप सुरक्षित हैं । अशोक के १४ धर्मलेख,

जो कि काठियावाड़ के गिरनार नामक स्थान की शिला पर उत्कीर्ण हैं, वे भाषा की दृष्टि से शौरसेनी का प्राचीनरूप व्यक्त करते हैं। इस प्रकार ई० पू० तीसरी शती में पश्चिम भारत में शौरसेनी के वर्तमान रहने के शिलालेखी प्रमाण उपलब्ध हैं। ई० पू० १५० के लगभग खारवेल के शिलालेख में प्राचीन शौरसेनी का व्यवहार किया गया है। अतः यह मानना पड़ता है कि पश्चिम से पूर्व की ओर शौरसेनी का विस्तार हुआ है। कलिङ्ग (उड़ीसा) में जैन धर्म के सिद्धान्तों के साथ शौरसेनी भी पहुँची थी। मानभूम और सिंहभूम जिलों की भाषा की प्रवृत्ति आज भी प्रत्ययतत्त्व की दृष्टि से शौरसेनी के निकट है।

मौर्यकाल में जैनमुनि भद्रबाहु ने सम्राट् चन्द्रगुप्त को प्रभावित किया था और वे राज्य छोड़कर जैन मुनि बन गये थे। मगध में जब द्वादश वर्षीय दुष्काल पड़ा तो आचार्य भद्रबाहु सदाचार निर्वाह के हेतु अपने बारह हजार शिष्य साधुओं के साथ मुनि चन्द्रगुप्त, जिनका दूसरा नाम विशाखाचार्य था, सहित दक्षिणापथ की ओर चले गये। यह साधु संघ उज्जैनी एवं गिरनार होते हुए कर्णाटक देश के कटवप्र पर्वत—श्रवणवेलगोल में पहुँचा। यहाँ भद्रबाहु की मृत्यु हो गयी और उनकी मृत्यु के अनन्तर विशाखाचार्य अपर नाम चन्द्रगुप्त संघ के उत्तराधिकारी निर्वाचित किये गये। चन्द्रगुप्त ने जहाँ तपस्या की थी, उस पर्वत को चन्द्रगिरि तथा उस गुफा को चन्द्रगुफा कहते हैं। इस मुनि-संघ के साथ-साथ प्राचीन शौरसेनी भी दक्षिण भारत में पहुँची।

सम्राट् खारवेल का दक्षिण के अनेक राजाओं से राजनैतिक सम्बन्ध था। उसने दक्षिणापथ का भी दिग्विजय किया था और मूषिक, राष्ट्रिक, भोजक आदि राज्यों को अपने अधीन किया था। पैठन के सातवाहन सातकर्णी को भी उसने पराजित किया था और पाण्ड्यदेश के राजा के साथ मित्रता स्थापित की थी। इस प्रकार खारवेल के साथ शौरसेनी की जड़ें दक्षिण भारत में बहुत दूर तक प्रविष्ट हो गयीं। भद्रबाहु के संघ ने जिस शौरसेनी का बीजवपन किया था, उसकी पुष्टि और समृद्धि सम्राट् खारवेल के द्वारा दक्षिण भारत में हुई। तथ्य यह है कि गिरनार के शिलालेखों की शौरसेनी ने उड़ीसा के माध्यम से समग्र भारत में विस्तार प्राप्त किया और यह भाषा साहित्य का कलेवर बनी।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि ई० सन् की प्रथम शती के लगभग—वी० नि० सं० ६८३ में काठियावाड़ भी जैन संस्कृति का केन्द्र था। धरसेनाचार्य गिरनार की चन्द्रगुफा में रहते थे। उन्होंने वहीं पुष्पदन्त और भूतबलि नामक आचार्यों को बुलवाकर आगम ज्ञान प्रदान किया, जिसके आधार पर उन दोनों ने द्रविड़

देश में जाकर षट्खण्डागम के सूत्रों की रचना पश्चिमीय और दक्षिणीय प्राकृत भाषा—प्राचीन शौरसेनी में की। इसके पश्चात् तो कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने इस भाषा को सार्वभौमिकता प्रदान की। एक प्रकार से दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थों की यह मूलभाषा बन गई। संशोधक मनीषियों ने इस भाषा का स्वरूप नाटकीय शौरसेनी से कुछ प्रवृत्तियों में भिन्न देखकर इसका नाम जैन शौरसेनी रखा है। अतः यहाँ हम भी इसी नाम से इसे अभिहित करेंगे।

यह पहले लिखा जा चुका है कि उपलब्ध अर्धमागधी का स्वरूपगठन मागधी और प्राचीन शौरसेनी के मिश्रण के आधार पर किया गया है पर भगवान् महावीर का उपदेश जिस अर्धमागधी में होता था, वह अर्धमागधी यह नहीं है। उस प्राचीन अर्धमागधी का स्वरूप अनेक भाषाओं के मिश्रण से तैयार हुआ था। अर्धमागधी शब्द स्वयं ही इस बात का सूचक है कि इसके स्वरूप में आधे लक्षण मागधी के तथा आधे इतर भाषाओं के मिश्रित थे। जिनसेनाचार्य ने इस भाषा की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए कहा है :—

त्वद्दिव्यवागियमशेषपदार्थगर्भा भाषान्तराणि सकलानि निदर्शयन्ती।
तत्त्वावबोधमचिरात् कुरुते बुधानां स्याद्वादनीति विहितान्धमतान्धकारा॥
—महापुराण ज्ञानपीठ, काशी २३।१५४

अर्थात्—यह भाषा अर्धमागधी समस्त भाषाओं के रूप का परिणमन करती है। इसमें अनेक भाषाओं का मिश्रण होने से शीघ्र ही तत्वज्ञान को समझ लेने की शक्ति वर्तमान है। यह स्याद्वादरूपी नीति के द्वारा समस्त विवादों का निराकरण करने वाली है।

अतएव यह स्पष्ट है कि प्राचीन शौरसेनी या जैन शौरसेनी उपलब्ध अर्धमागधी की अपेक्षा प्राचीन है और इसका प्रचार पूर्व, पश्चिम और दक्षिण भारत में सर्वत्र था। नाटकों में भी शौरसेनी भाषा का प्रयोग व्यापक रूप में हुआ है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक अभिमत है कि महाराष्ट्री शौरसेनी का एक शैलीगत भेद है, यह कोई स्वतन्त्र प्राकृत नहीं है। भेद की दृष्टि से शौरसेनी को ही स्वातन्त्र भाषा मानना चाहिए। इस नाटकीय शौरसेनी का विकास जैन शौरसेनी से ही हुआ है। यही कारण है कि नाटकीय शौरसेनी में जैन शौरसेनी की अनेक प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। कुछ विद्वान् नाटकीय शौरसेनी से जैन शौरसेनी में थोड़ा सा ही अन्तर रहने के कारण जैन शौरसेनी को पृथक् भाषा नहीं मानते हैं। पर इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि प्राचीन शौरसेनी का रूप जैन शौरसेनी में सुरक्षित है और नाटकीय शौरसेनी की अपेक्षा इसमें कुछ विभिन्नताएँ पाई जाती हैं।

जैन शौरसेनी के प्राचीन उदाहरण षट्खण्डागम के सूत्रों में उपलब्ध हैं।

जैन शौरसेनी का व्याकरण सम्बन्धी गठन

इन सूत्रों में अत्थि क्रिया एकवचन और बहुवचन इन दोनों के लिए प्रयुक्त है। ध्वनियों में र ध्वनि क्वचित् कदाचित् ल् ध्वनि में परिवर्तित उपलब्ध होती है। सूत्रों में वर्ण-विकार के अनेक उदाहरण आये हुए हैं। प्रमुख नियम निम्नांकित हैं :—

१. जैन शौरसेनी में ऋ ध्वनि अकेली शब्दारम्भ में आने पर इ, कभी-कभी व्यञ्जन के साथ संयुक्त रहने पर भी इ में परिवर्तित हो जाती है। ऋ का परिवर्तन अ, इ, ओ और उ रूप में पाया जाता है। यथा—

ऋ—इ	इड्ढि < ऋद्धिः	(षट् खं० १।१।५९)
	किण्हलेस्सिया < कृष्णलेश्या	(षट् खं० १।१।१३६)
	मिच्छाइट्ठि < मिथ्यादृष्टिः	(षट् खं० १।१।७९)
	सम्माइट्ठि < सम्यग्दृष्टिः	(षट् खं० १।१।६२)
ऋ—ज	गहिय < गृहीत्वा	(स्व० का० गा० ३७३)
	कटटु < कृत्वा	(द्र० सं० गा०········)
	अगहिद < अगृहीत	(षट् खं० प्रथम जिल्द पृ० १०६)
ऋ—ओ	मोस < मृषा	(ष० खं० १।१।४९)
ऋ—उ	पुढविकाइया < पृथिवीकायकाः	(ष० खं० १।१।४३)
	पहुडि < प्रभृति	(ष० खं० १।१।६१)

२. त के स्थान पर द और थ के स्थान पर ध हुआ है। यथा—

त—द	चेदि < चेति	(ष० खं० १।१।७)
	संजदा < संयता	(ष० खं० १।१।१५)
	विगदरागो < विगतरागः	(प्र० सा० गा० १४)
	संजुदी < संयुतः	(प्र० सा० गा० १४)
	पदिमहिदो < पतिमहितः	(प्र० सा० गा० १६)
	पयासदि < प्रकाशयति	(स्वा० का० गा० २५४)
थ—ध	तधप्पदेसा < तथाप्रदेशा	(प्र० सा० गा० १३७)
	जध < यथा	(प्र० सा० गा० १४६)
	वाध < वाथ	(प्र० सा० गा० १९३)
	अजधा < अयथा	(प्र० सा० गा० ८५)
	कधं < कथम्	(प्र० सा० गा० ५७,११३,१०६)

३. षट् खण्डागम के सूत्रों में कहीं-कहीं थ ज्यों का त्यों भी स्थित है और त के स्थान पर त तथा य भी पाये जाते हैं। यथा—

ध—ध	सौधम्म <सौधर्म	(ष० खं० १।१।६९)
	साधारण <साधारण	(ष० खं० १।१।४१)
त—य	रहियं <रहितं	(प्र० सा० गा० ५९)
	वीयराय <वीतराग	(ष० खं० १।१।१९)
	सव्वगयं <सर्वगतम्	(प्र० सा० गा० २३,३१)
	भणिया <भणिता	(प्र० सा० गा० २६)
	संजाया <संजाता	(प्र० सा० गा० ३८)
त—त	तिहुवणतिलयं <त्रिभुवनतिलकम्	(स्वा० का० गा० १)
	जलतरंगचपला <जलतरङ्गचपला	(स्वा० का० गा० १२)
	तिव्वतिसाए <तीव्रतृषया	(स्वा० का० गा० ४३)
	अक्खातीदो <अक्षातीतः	(प्र० सा० गा० २९)

४. जैन शौरसेनी में अर्धमागधी के समान क के स्थान पर ग भी पाया जाता है। यथा—

वेदग <वेदक	(ष० खं०)
सगं <स्वकं	(प्र० सा० गा० ५४)
एगंतेण <एकान्तेन	(प्र० सा० गा० ६६)

५. जैन शौरसेनी में क के स्थान पर क और य भी पाये जाते हैं। यथा—

क—क	संतोसकरं <सन्तोषकरं	(स्वा० का० गा० ३३५)
	चिरकालं <चिरकालं	(स्वा० का० गा० २९३)
	अणुकूलं <अनुकूलं	(स्वा० का० गा० ४५९)
क—य	सामाइयं <सामायिकम्	(स्वा० का० गा० ३५२)
	कम्मविवायं <कर्मविपाकं	(स्वा० का० गा० ३५२)
	णिरयगदी <नरकगति	(ष० खं० १।१।२४)
क—अ	स्वरशेष अलिअं <अलीकम्	(स्वा० का० गा० ४०६)
	नरए <नरके	(प्र० सा० गा० ११४)
	काए <काये	(ष० खं० १।१।४)

६. जैन शौरसेनी में मध्यवर्ती क, ग, च, ज, त, द और प का लोप विकल्प से पाया जाता है। यथा—

सुयकेवलिमिसिणी <श्रुतकेवलिनमृषयः	(प्र० सा० गा० ३३)
लोयप्पदीवयरा <लोकप्रदीपकरा	(प्र० सा० गा० ३५)
गइ <गति	(ष० खं० १।१।४)
वयणेहि <वचनैः	(प्र० सा० गा० ३४)

सयलं <सकलम् (प्र० सा० गा० ५१)
बहुभेया <बहुभेदा (द्र० सं० गा० ३५)

७. जैनशौरसेनी में मध्यवर्ती व्यञ्जन के लोप होने पर अवशिष्ट अ या आ स्वर के स्थान में य श्रुति भी पायी जाती है। यथा—

तित्थयरो <तीर्थङ्कर—क् का लोप होने पर अवाशेष अ स्वर के स्थान में यश्रुति।

पयत्थ <पदार्थः—द कार का लोप और अवशिष्ट आ स्वर के स्थान में यश्रुति।

वेयणा <वेदना—द् लोप और अवशिष्ट अ स्वर के स्थान में यश्रुति।

८. उ के पश्चात् लुप्त वर्ण के स्थान में बहुधा व श्रुति पाई जाती है। यथा—

बालुवा <बालुका—क् लोप और अवशिष्ट आ स्वर के स्थान में वश्रुति।

बहुवं <बहुकं—क् लोप और अवशिष्ट अ स्वर के स्थान में वश्रुति।

बिहुव <विधूत—त् लोप और अवशिष्ट अ स्वर के स्थान में वश्रुति।

९. जैन शौरसेनी में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में ओ और पुरानी अर्ध-मागधी के प्रभाव के कारण सप्तमी के एकवचन में म्मि और म्हि विभक्ति चिह्न पाये जाते हैं। षष्ठी और चतुर्थी के बहुवचन में सिं प्रत्यय जोड़ा जाता है। पञ्चमी में विभक्ति चिह्न के लोप के साथ आदो, आदु प्रत्यय भी पाये जाते हैं। यथा—

दव्वसहावो <द्रव्यस्वभावः—प्रथमा के एकवचन में ओ प्रत्यय।

सदाविसिट्ठो <सदाविशिष्टः— ,, ,, ,,

एकसमयम्हि <एक समये (प्र० सा० गा० १४२)—सप्तमी के एकवचन में म्हि प्रत्यय जोड़ा गया है।

एगम्हि <एकस्मिन् (प्रा० सा० गा० १४३)—सप्तमी के एकवचन में म्हि प्रत्यय जोड़ा गया है।

अण्णदवियम्हि <अन्यद्रव्ये (प्र० सा० गा० १५९)

गब्भम्मि <गर्भे (स्वा० का० गा० ७४)—सप्तमी के एकवचन में म्मि प्रत्यय जोड़ा गया है।

ससरुवम्मि <स्वस्वरूपे—(स्वा०का०गा० ४८३)—सप्तमी के एकवचन में म्मि प्रत्यय जोड़ा गया है।

जोगम्मि <योगे (स्वा० का० गा० ४८४)

एक्कम्मि, एक्कम्हि; लोयम्मि, लोयम्हि जैसे वैकल्पिक प्रयोग भी जैनशौरसेनी में पाये जाते है।

तेसिं<तेभ्यः (प्र० सा० गा० ८२) चतुर्थी के बहुवचन में सिं प्रत्यय जोड़ा गया है।

सव्वेंसि<सर्वेषाम् (स्वा० का० गा० १०३)—षष्ठी के बहुवचन में सिं प्रत्यय जोड़ा गया है।

एदेसिं<एतेषाम् (ष० खं० १।१।५)—षष्ठी के बहुवचन में सिं प्रत्यय जोड़ा गया है।

णियमा<नियमात् (ष० खं० १।१।८०)—पञ्चमी एकवचन का विभक्ति चिह्न लुप्त है।

णाणादो<ज्ञानात्—पञ्चमी विभक्ति एकवचन का 'आदो' प्रत्यय जुड़ा है।

कालादो—कालात्— ,, ,,

१०. कृ धातु का रूप जैन शौरसेनी में कुव्वदि भी मिलता है। इसका प्रयोग स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ३१३, ३२९, ३४०, ३५७, ३८४ में देखा जाता है।

११. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा और प्रवचनसार में शौरसेनी के समान करेदि का व्यवहार भी पाया जाता है। स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ६१, २२६, २९६, ३२०, ३५०, ३६९, ३७८, ४२०, ४४४, ४४९ और ४५१ में एवं प्रवचनसार की गाथा १८५ में आया है।

१२. जैन शौरसेनी में कृ धातु के रूप कुणेदि और कुणइ भी मिलते हैं। यथा—कुणेदि—स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा गा० १८२, १८८, २०९, ३१९, ३७०, ३८८, ३८९, ३९६, और ४२० प्रवचनसार गा० ६६ और १४९ में कुणादि क्रिया रूप व्यवहृत है।

कुणइ का प्रयोग स्वा० का० गा० २०९, २२७, २८५ और ३१० में आया है। जैन शौरसेनी में कृ धातु का रूप 'करेइ' भी मिलता है। स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा गा० २२५ में यह रूप प्रयुक्त है।

१३. जैन शौरसेनी में क्त्वा के स्थान पर त्ता प्रत्यय पाया जाता है। यथा—
जाण + त्ता = जाणित्ता; वियाण + त्ता = वियाणित्ता

णयस + त्ता = णयसित्ता; पेच्छ + त्ता = पेच्छित्ता

१४. जैन शौरसेनी में क्त्वा के स्थान पर य, च्चा, इय, त्तु, दूण, ऊण एवं ऊ प्रत्यय भी पाये जाते हैं। यथा—

गहिय<गृहीत्वा (स्वा० का० गा० ३७३)—इसे इय प्रत्यय का उदाहरण भी माना जा सकता है।

किच्छा<कृत्वा

भविय<भूत्वा (प्र० गा० १२)

गमिऊण < गत्वा (गो० सा० गा० ५०)

जाइऊण, गहिऊण, भुंजाविऊण (स्वा० का० गा० ३७३, ३७४, ३७५, ३७६)

कादूण < कृत्वा (स्वा० का० गा० ३७४)

छड्डिय < त्यक्त्वा (इय प्रत्यय का संयोग)-षट् खं० टीका १ जिल्द पु० २११

कट्टु < कृत्वा (तु·—द् टु प्रत्यय का संयोग)

अस्सिदूण, अस्सिऊण < आश्रित्य

१५ जैन शौरसेनी में तीनों उष्मध्वनियों के स्थान पर केवल दन्त्य स् ध्वनि तथा वर्णविकार सम्बन्धी अन्य अनेक उदाहरण मिलते हैं। यथा—

अड्ढाइज्ज < अर्धतृरीय (ष० खं० ४।१।१६३), ओधि, ओहि < अवधि (ष० खं० १।१।११५, ११।१३१, उराल < उदार (ष० खं० १।१।१६०), इंगाल < अंगार (ष० खं० १।१।१५१) एवं खेत्तज्ज < क्षेत्रज्ञ (ष० खं० १।१।५२)

द्वितीय स्तरीय प्रथम युगीन मध्यभारतीय आर्य भाषाओं में सबसे प्राचीन आर्ष प्राकृत है, जिसका विवेचन अभी तक किया गया है।

शिलालेखी प्राकृत शिलालेखी प्राकृत का स्थान उसके पश्चात् ही आता है। यद्यपि लिखित रूप में मध्य युग का अत्यन्त पुरातन जो भी साहित्य उपलब्ध है, वह शिलालेखी प्राकृतों का ही है, तो भी आर्ष प्राकृत को प्राचीन मानना उचित और न्यायसंगत है।

शिलालेखी प्राकृत के प्राचीनतम रूप अशोक के शिलालेखों में सुरक्षित हैं। इन शिलालेखों की दो लिपियाँ हैं—ब्राह्मी और खरोष्ठी। खरोष्ठी लिपि में शाहबाजगढ़ी और मनसेरा के शिलालेख मिलते हैं तथा अवशेष शिलालेखों की लिपि ब्राह्मी है। अशोक के शिलालेख अनुमानतः ३० हैं; जिनका विवरण निम्न प्रकार हैं:—

१. चतुर्दश धर्मलेख शाहबाजगढ़ी (पेशावर जिला), मंसेहरा (हजारा जिला), गिरनार (जूनागढ़), सोपारा (थाना जिला), कालसी (देहरादून), धौली (पुरी जिला), जौगढ़ (गंजाम जिला) और इरागुडी (निजाम रियासत) स्थानों में प्राप्त हुए हैं।

२. सात स्तम्भ लेख—टोपरा (दिल्ली), मेरठ, कौशाम्बी (इलाहाबाद), रामपुरवा, लौरिया (अरराज), लौरिया (नन्दनगढ़) स्थान में उत्कीर्णित हैं। इनमें अन्तिम तीन स्थान बिहार के चम्पारन जिले में हैं।

३. बभ्रू शिलालेख

४. दो लघु शिलालेख—नं० १ शिलालेख सिद्धपुर, जटिंग रामेश्वर, ब्रह्मगिरि, रूपनाथ (जबलपुर), सहसराम (शाहाबाद), वैराट (जयपुर), मास्की,

गवीमठ, पल्कीगुण्डू और इरागुड़ी में पाया जाता है; पर नं० २ सिद्धपुर जटिंग रामेश्वर और ब्रह्मगिरि में ही पाया गया है। ये तीनों स्थान मैसूर के चीतल दुर्ग में हैं।

५. दो कलिङ्ग अभिलेख—धौली और जौगढ़ में प्राप्त हैं।

६. दो तराई अभिलेख—रुम्मिनदेई और निग्लिव—

७. तीन लघुस्तम्भ लेख—सांची, कौशाम्बी और सारनाथ में।

८. तीन गुहालेख—बराबर दरीगृह के तीन अभिलेख हैं।

उपर्युक्त शिलालेखों में केवल ई० पू० तीसरी शती की प्राकृत भाषा का रूप ही सुरक्षित नहीं है, अपितु इनमें तत्कालीन भाषा के प्रादेशिक भेद भी प्राप्त होते हैं। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का अध्ययन करने के लिए अशोक के शिलालेखों का अत्यधिक महत्त्व है। इनमें भाषाओं का विकासक्रम जानने के लिए प्रचुर सामग्री वर्तमान है।

अशोक के शिलालेखों में चार वैभाषिक प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं—

१. पश्चिमोत्तरी प्राकृत

२. पश्चिमी या दक्षिण-पश्चिमी प्राकृत

३. मध्यपूर्वी प्राकृत

४. पूर्वी प्राकृत

पश्चिमोत्तरीय या उत्तरपश्चिम प्राकृत

पश्चिमोत्तरी भाषा के विश्लेषण के लिए शाहबाजगढ़ी और मानसेहरा के शिलालेखों को उदाहरणीकृत किया जाता है। पर इस प्रदेश की भाषा का वास्तविक प्रतिनिधित्व शाहबाजगढ़ी के शिलालेख ही करते हैं। अतः मानसेहरा पर मध्यपूर्वी समूह का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इस भाषा की सामान्य प्रवृत्तियाँ निम्नांकित हैं—

१. इस समूह की भाषा में ऋ का परिवर्तन रि, रु, र और आगे का मध्य व्यञ्जन मूर्धन्य में परिवर्तित हो गया है। यथा—

मानसेहरा के शिलालेख में ऋ का यह परिवर्तन नहीं पाया जाता।

क्रिट<कृत

मिग्र, म्रुग<मृग

बुध्रेषु, बुद्धेसु<वृद्धेषु

२. शाहबाजगढ़ी में क्ष के स्थान पर छ और मानसेहरा में ख पाया जाता है। यथा—

मोछ<मोक्ष (शाहबाजगढ़ी)

खुद्र, खुद <क्षुद्र (मानसेहरा)

३. स्म और स्व संयुक्त व्यञ्जन के स्थान पर स्प तथा स्मिन् के स्थान पर स्पि पाये जाते हैं। यथा—

विनितस्पि <विनीतस्मिन्

स्पमिकेन <स्वामिकेन

४. संयुक्त व्यञ्जनों में सन्निविष्ट 'र' ध्वनि का परिवर्तन कहीं-कहीं होता है। यथा—

ध्रम <धर्म

द्रशन <दर्शन

५. संयुक्त व्यञ्जनों में स ध्वनि हो तो उसका समीकरण हो जाता है और आगे के दन्त्य व्यञ्जन का विकल्प से मूर्धन्यरूप प्राप्त होता है। यथा—

ग्रहथ <गृहस्थ

अठ <अष्ट (मानसेहरा)

६. पश्चिमोत्तरी प्राकृत में दन्त्य व्यञ्जनों का मूर्धन्यरूप में अधिक विकास मिलता है। यथा—

अठर <अर्थ

त्रेडस <त्रयोदश (मानसेहरा)

ओषढनि <औषधानि (शाहबाजगढ़ी और मानसेहरा)

डॉ० सुकुमारसेन ने लिखा है कि शाहबाजगढ़ी की भाषा में मूर्धन्य ध्वनियाँ सम्भवतः वर्त्स्य प्रकार की थीं। इसी कारण दन्त्य और मूर्धन्य में कोई भेद नहीं मिलता। पश्चिमोत्तरी शिलालेखी प्राकृत में मूर्धन्य एवं दन्त्य दोनों ही प्रकार की ध्वनियों का अस्तित्व वर्तमान है;[1] यथा—स्नेठम् और स्नोतमिति, अठवष और अस्तवष।

७. शब्द में व्यञ्जन के बाद य आने पर उसका समीकरण हो गया है। यथा—

कलण <कल्याण, कटव <कर्त्तव्य

मानसेहरा में साधरणीकरण नहीं भी पाया जाता है। यथा—

एकतिए <एकत्य (शाहबाजगढ़ी)

एकतिय <एकत्य (मानसेहरा)

---

1. Cerebralisation of dental plosives is more marked here than in the other dialects. Thus S uistritena; o, vistatena 'in extenso' S, athra, G atha—sartha, M Tredsa; G Traidasa 'thirteen'……; Comparative Grammar of Middle Indo-Aryan—page 8.

८. शब्द में अनुनासिक व्यञ्जन के साथ प्रयुक्त य और ज्ञ का ञ्ञ पाया जाता है। यथा—

अञ्ञ <अन्य (शाहबाजगढ़ी)
अणत्त <अन्यत्र (मानसेहरा)
पुञ्ञ <पुन्यं (शाहबाजगढ़ी)
पुणं <पुण्यम् (मानसेहरा)
ञ्ञानं <ज्ञानम्

९. शब्द के मध्य में प्रयुक्त ह का भी प्रायः लोप हो जाता है। यथा—

इअ <इह
ब्रमण <ब्राह्मण (शाहबाजगढ़ी)
बमण <ब्राह्मण (मानसेहरा)

१०. शाहबाजगढ़ी और मानसेहरा के लेखों में दीर्घ स्वरों का बिल्कुल अभाव है। जहाँ दीर्घ स्वर की आवश्यकता हैं, वहाँ भी ह्रस्व स्वर से काम चलाया गया है। यथा—

लिखयेशमि <लेखयिष्यामि—ए के स्थान पर इ
ओषुढनि <औषधानि—अ के स्थान पर उ
लिखयितु <लेखितो—ओ के स्थान पर उ

११. ष के स्थान पर श और स तथा स के स्थान पर श और ह पाये जाते हैं। यथा—

मनुश <मनुष्य (२ शि० ले०, ४ ला०)
अभिसित <अभिषिक्त (४ शि० ले०, १० ला०)
अनुशशनं <अनुशासनं (४ शि० ले०, १० ला०)
हचे <सचेत् (९ शि० ले०)

१२. पदरचना की दृष्टि से पश्चिमोत्तरी प्राकृत में प्रथमा के एकवचन में पुंल्लिङ्ग में ओ तथा क्वचित् ए प्रत्यय पाये जाते हैं और नपुंसकलिङ्ग के प्रथमा एकवचन का रूप मकारान्त और एकारान्त दोनों ही पाया जाता है। कर्त्तृवाचक संज्ञा में त्वी रूप मिलता है। हलन्त शब्द प्रायः अजन्त हो जाते हैं, पर कुछ शब्दों में हलन्त रूप विद्यमान रहता है। यथा—

देवनं प्रियो <देवानां प्रियः (शाहबाजगढ़ी, १० शिलालेख)
देवन प्रिये <देवानं प्रियः (मानसेहरा—१० शिलालेख)
यदिशं···न भुतप्रुवे तदिशे (४ शि० ले०, ८ ला०)
रज <राजा

रञो < राज्ञः

रजनो < राजानः (१० शि० ले०, २१ ला०)

१३. सप्तमी के एकवचन में प्रायः एकारान्त होता है, पर कहीं-कहीं उसके अन्त में असि भी रहता है। यथा—

महनससि < महानसे (१ शि० ले०, २ ला०)

गणनसि < गणने (३ शि० ले०)

१४. धातुरूपों में पालि के नियमों के अनुसार स्वर और व्यञ्जनों में परिवर्तन होता है। शाहबाजगढ़ी में आह के स्थान पर अहति रूप मिलता है। प्रेरणार्थक क्रिया में अय अथवा पय प्रत्यय लगा दिया जाता है और अय का ए हो गया है। यथा—

लिखपेशमि > लिखापयिष्यामि (११ शि० ले०)

१५. शाहबाजगढ़ी में क्त्वा का रूप 'तु' में परिवर्तित पाया जाता है।[1] यथा—

श्रुतु < श्रुत्वा (१३ शि० ले०)

शाहबाजगढ़ी और मानसेहरा के पाठों को देखने से अवगत होता है कि ध्वनि की दृष्टि से दोनों में महत्वपूर्ण अनुरूपता है, पर ओ और ए विभक्ति में सर्वविचार की दृष्टि से शाहबाजगढ़ी के पाठ गिरनार के अधिक निकट है और मानसेहरा के पाठ जौगढ़ के। इसी स्वरूप साम्य के कारण कुछ विद्वान् अशोक के शिलालेखों को भाषा प्रवृत्ति की दृष्टि से दो ही वर्गों में विभक्त करते हैं—एक गिरनार और शाहबाजगढ़ी के शिलालेख और दूसरा वर्ग कालसी, मानसेहरा, धौली, जौगढ़ तथा अन्य सभी स्थानों के गौण शिलालेख। यहाँ ध्यातव्य यह है कि अशोक के शिलालेखों में मगध की प्रधान केन्द्रीय बोली के अतिरिक्त उत्तरी, पश्चिमी और पूर्वी भाषा का स्वरूप भी वर्तमान है, अतः उक्त स्वरूप के विश्लेषण के हेतु पूर्वोक्त वर्गीकरण के आधार पर ही प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना आवश्यक है। पश्चिमोत्तर की भाषा में ज्ञ और ण्य के स्थान पर ञ्ञ का प्रयोग होता है, अतः यह पैशाची का पूर्वरूप है।

---

१. विशेष जानकारी के लिए देखें—Comparative grammar of middle Indo-Aryan. Page–7·8.

तथा—

डॉ० मधुकर अनन्त मेहेंडल, कम्परेटिव स्टडी ऑफ अशोकन इन्स्क्रिप्शंस् पृ० १–४५।

जूनागढ़ और गिरनार के शिलालेखों की भाषा इस समूह का प्रतिनिधित्व करती है। गिरनार के शिलालेखों की भाषा शौरसेनी

दक्षिण-पश्चिमी समूह है। यह मध्यप्रदेश की भाषा से प्रभावित है। इस भाषा की प्रधान प्रवृत्तियाँ निम्न प्रकार हैं—

१. शब्द में 'व्' ध्वनि के पश्चात् प्रयुक्त होनेवाले ऋ स्वर के स्थान पर अ और उ स्वर पाये जाते हैं। यथा—

वुत्त, वत्त > वृत्त

मग < मृग

२. सामान्यतः ऋ स्वर के स्थान पर अ स्वर ही पाया जाता है। यथा—

मग < मृग मत < मृत, दढ < दृढ

३. संयुक्त व्यञ्जन की स् ध्वनि का लोप नहीं होता। यथा—

अस्ति < अस्ति, हति < हस्ति

सष्टि < सृष्टि—ऋ स्वर का परिवर्तन अ के रूप में हुआ है।

४. क्ष् ध्वनि के स्थान पर पश्चिमोत्तरी के समान छ् ध्वनि ही उपलब्ध होती है। यथा—

छुद < क्षुद्र—संयुक्त रेफ का लोप

व्रछा < वृक्ष—ऋ ध्वनि के स्थान पर र् ध्वनि हुई है, यह पश्चिमोत्तरी प्रवृत्ति है।

हत्थी झख < स्त्री अध्यक्ष—यहाँ संयुक्त स् ध्वनि और क्ष ध्वनि के परिवर्तन में उक्त नियम प्रवृत्त नहीं होता। अतः इसे अपवाद ही मानना चाहिए।

५. संयुक्त 'र' का वैकल्पिक लोप उपलब्ध होता है। यथा—

अतिक्रांतं, अतिकांतं < अतिक्रान्तम् त्री, ती < त्रि

सर्व, सव < सर्व

६. संयुक्त व्यञ्जनों में व्य के अतिरिक्त अन्यत्र य का समीकरण हो जाता है। यथा—

कलान < कल्याण

अपवाद रूप में—

कतव्य < कर्त्तव्य मगव्या < मृगव्या

७. संयुक्त व्यञ्जन त्व और त्म का परिवर्तन त्प ध्वनि के रूप में और द्व का ब्द के रूप में परिवर्तन पाया जाता है। यथा—

चत्पारो < चत्वारः, अत्प < आत्म

द्वादस < द्वादश—यह अपवाद का उदाहरण है

८. श्, ष् और स् इन तीनों उष्मों के स्थान पर एक मात्र दन्त्य स् ध्वनि का व्यवहार पाया जाता है। यह शौरसेनी की शुद्धतम प्रवृत्ति है। यथा—

पसति < पश्यति (१ शि० ले०, ५ ला०)

अभिसितेन < अभिषिक्तेन (३ शि० ले०, १ ला०)

सकं < शक्यं (१३ शि० ले०)

९. संयुक्त व्यंजनों में त्य के स्थान पर च, त्स के स्थान पर छ, अ के स्थान पर ज, ध्य के स्थान पर झ, स्त के स्थान पर त, भ्र के स्थान पर भ तथा श्च के स्थान पर छ पाये जाते हैं। यथा—

आचायिकं < आत्ययिकं (६ शि० ले०)

चिकीछ < चिकित्सा (२ शि० ले०)

अज < अद्य (४ शि० ले०)

मझम < मध्यम (१४ शि० ले०)

असमातं < असमास्तं (१४ शि० ले०)

भाता < भ्राता (११ शि० ले०)

पछा < पश्चात् (११ शि० ले०)

१०. साधारणतः स्वरपरिवर्तनों में ह्रस्व स्वर के स्थान पर दीर्घ तथा अनुस्वार अथवा संयुक्त व्यञ्जन के पूर्व दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है। पर कभी-कभी व्यञ्जन द्वित्व नहीं होता और उसके बदले में पहिलेवाला स्वर दीर्घ कर दिया जाता है। यथा—

आनन्तरं < अनन्तरं (६ शि० ले०)

चा < च (४ शि० ले०)

एषा < एषः (१३ शि० ले०)

तत्रा < तत्र (१३ शि० ले०)

धाम < धर्म (५ शि० ले०)

वास < वर्ष (५ शि० ले०)

११. सप्तमी के एकवचन में स्म संयुक्त ध्वनि के स्थान पर म्ह ध्वनि पायी जाती है। यथा—

म्हि < स्मिन्

तम्हि < तस्मिन्

१२. पद रचना में प्रथमा विभक्ति में अकारान्त एकवचन में ओ प्रत्यय मिलता है, कहीं-कहीं मागधी का प्रभाव रहने से एकारान्त रूप भी मिलते हैं। यथा—

प्रियो < प्रियः (११ शि० ले०)

अनारंभो < अनालम्भः (११ शि० ले०)

समवायो < समवाय: (१२ शि० ले०)

देवानां पिये < देवानां प्रिय: (१२ शि० ले०)—मागधी के प्रभाव से एत्व।

१३. हलन्त शब्द अजन्त रूप में उपलब्ध हैं; पर कुछ शब्दों में संस्कृत का शुद्ध रूप सुरक्षित है। यथा—

परिसा < परिषद्—हलन्त द् ध्वनि का लोप

कंम < कर्मन्—हलन्त न् ध्वनि का लोप

राजानो < राजान:—हलन्त न् ध्वनि यहाँ सुरक्षित है

पियदसिनो < प्रियदर्शिन:—,, ,, ,,

१४. द्वितीया विभक्ति एकवचन का रूप प्राय: एकारान्त होता है। यथा—

अथे < अर्थ (६ शि० ले०)

युते > युक्तं (३ शि० ले०)

१५. सप्तमी एकवचन में म्हि और ए दोनों विभक्ति चिह्न मिलते हैं। यथा—

काले < काले

ओरोधनम्हि < अवरोधने (६ शि० ले०)

गभागारम्हि < गर्भागारे (६ शि० ले०)

१६. स्त्रीलिङ्ग रूपों में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में आयो; तृतीया के एकवचन में आय और सप्तमी के एकवचन में आयं प्रत्यय पाये जाते हैं। यथा—

महिडायो < महिला:—स्त्रिय: (९ शि० ले०)

माधूरताय < माधुर्याय—माधुर्येण (१४ शि० ले०)

परिसायं < परिषदि—परिषदा (६ शि० ले०)

१७. √स्था का भारती ईरानी में स्ता √होता है, यहाँ इस संयुक्त व्यञ्जन की एक ध्वनि का मूर्धन्य रूप हो गया है। यथा—

स्ठिता < स्थिता

तिष्ठंतो < तिष्ठत:

१८. क्रियापदों में आत्मनेपद के रूपों में परिवर्तन नहीं हुआ है और अस धातु का अ स्वर विधिलिङ् में स्थिर रह गया है। यथा—

अस < स्यात् (अस्यत)

असु < अस्यु:

१९. भू धातु के भवति और होति दोनों ही रूप उपलब्ध हैं।

२०. क्त्वा का रूप त्वा में परिवर्तित पाया जाता है। प्रेरणार्थक क्रिया में अय अथवा पय प्रत्यय जुड़ा हुआ है और अय का ए हो गया है। यथा—

आलोचेत्पा < आलोचयित्वा (१४ शि० ले०)

हापेसति < हापयिष्यति (५ शि० ले०)

डॉ० सुकुमार सेन ने[1] कुछ विशेष शब्द भी उदाहृत किये हैं, जिनके परिवर्तन के लिए कोई विशेष नियम या सूत्र प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। यथा—

यारिस, यादिस < यादृश्

तारिस, तादिस < तादृश्

महिडा < महिला

मध्य पूर्वी समूह

इस भाषा के स्वरूप को अवगत करने के लिए कालसी शिलालेख, टोपरा—दिल्ली के स्तम्भ लेख, जोगीमारा के गुफालेख को उदाहरण के लिए ग्रहण किया जा सकता है। इसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्न प्रकार हैं—

१. अन्तिम ह्रस्व स्वर के स्थान पर दीर्घ स्वर हो गया है। यथा—

आहा < आह लोकसा < लोकस्य

२. शब्द में प्रयुक्त संयुक्त र्, स्, ष् ध्वनियों का लोप हो गया है। यथा—

अठ < अष्ट अठ < अर्थ सव < सर्व

३. शब्द में त्, व् के अनन्तर प्रयुक्त य् ध्वनि का इय् हुआ है, परन्तु उसके पूर्व में द, ल् के रहने पर समीकरण हो गया है। यथा—

कटविय < कर्त्तव्य मज्झ < मध्य

उयान < उद्यान कयान < कल्याण

४. त्य के स्थान पर च और स्म, ष्म के स्थान पर प्फ पाये जाते हैं। यथा—

सच < सत्य, तुप्फे < तुष्ये

अफाक < अस्माकम्, येतफा < एतस्मात्

५. संयुक्त व्यञ्जन क्ष के स्थान पर ख पाया जाता है। यथा—

मोख < मोक्ष, खुद < क्षुद

६. मध्यवर्ती क्वा का घोष रूप में विकास मिलता है। यथा—

अधिगिच्च < अधिकृत्य, लोगं < लोकम्

६. प्राच्य समूह की भाषा के समान र् के स्थान पर ल् एवं श् और ष् के प्रयोग पाये जाते हैं।

८. प्रथमा विभक्ति के एकवचन में ए प्रत्यय तथा सप्तमी विभक्ति के एकवचन में स्सि औ सि प्रत्यय के प्रयोग पाये जाते हैं।

---

1. Comparative Grammar of middle Indo Aryan Page 10.

महानससि < महानसे (का० १ शिला लेख)

९. भू धातु का विकास हू के रूप में पाया जाता है। यथा—

होति < भवति

इस समूह की भाषाओं का रूप अधिक स्थिर है। पूर्वी भाषा अशोक की राजभाषा थी, सम्भवतः इसका रूप मागधी भाषा का ही है। एक प्रकार से इसे

पूर्वी समूह

प्राचीन मागधी का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। दिल्ली, इलाहाबाद, कौशाम्बी, सारनाथ, साँची के शिलालेखों में पूर्वी भाषा का रूप सुरक्षित मिलता है। रुम्मिनदेइ और नेपाल के नीगलिव स्थानों में मिले दानलेखों की भाषा भी पूर्वी है। इसकी प्रवृत्तियाँ निम्नांकित हैं—

१. ऋ के स्थान पर अ स्वर पाया जाता है। यथा—

मग < मृग

२. पूर्वी प्रवृत्ति के अनुसार र् के स्थान पर ल् ध्वनि का प्रयोग पाया जाता है। यथा—

कालनेन < कारणेन, लाजा < राजा

मजुला < मयूराः, लजूका < रज्जुका

अभिहाले < अभिहारे, पटिचलिटवे < परिचरितुम्

३. संयुक्त व्यञ्जनों में र् और स्, का परिवर्तन समीकरण में हो जाता है। यथा—

सव्वत्त, सवत < सर्वत्र

अत्थि, अथि < अस्ति

४. संयुक्त व्यञ्जन के अनन्तर प्रयुक्त य् और व् के स्थान पर इय् और उव् पाये जाते हैं। यथा—

दुवादस < द्वादश, कटविय < कर्तव्य

५. संयुक्त व्यञ्जन ल्य के स्थान पर य पाया जाता है। यथा—

कयाने < कल्याणं

६. एवं के स्थान पर हेवं का प्रयोग पाया जाता है। यथा—

हेवं आहा < एवमाह

७. दन्त्य त् के स्थान पर कुछ स्थानों में मूर्धन्य 'ट्' और कहीं-कहीं ज्यों का त्यों 'त्' भी पाया जाता है। यथा—

कटेति < कृतमिति, दुपटिवेखे < दुष्प्रत्यवेक्ष्यम्

८. अहं के स्थान पर हकं या अहकं रूप मिलते हैं। यथा—

हकं <अहं

९. सप्तमी एकवचन में स्मिन् के स्थान पर सि, स्सि पाये जाते हैं तथा प्रथमा विभक्ति के एकवचन में ए प्रत्ययान्त रूप आये हैं। यथा—

पिये <प्रियः, धम्मस्सि, धम्मसि <धर्मस्मिन्

तसि, तस्सि <तस्मिन्

१०. कृत् प्रत्ययों के रूपों में त्वा के स्थान पर तु और त्वा दोनों ही उपलब्ध हैं। यथा—

आलभितु <आरभित्वा

११. √दृश् धातु के स्थान पर √देख का प्रयोग पाया जाता है। यथा—

देखति <पश्यति, देखिये <द्रष्टव्यम्

प्राकृत के प्राचीन स्वरूप की जानकारी के लिए अशोक के शिलालेख अत्यन्त उपयोगी हैं। इनका समय ई० पू० २७०–२५० है। विशाल साम्राज्य की फैली हुई सीमाओं पर खुदवाये गये इन शिलालेखों को भारत का प्रथम लिंग्विस्टिक सर्वे कहा जा सकता है। यद्यपि ये शिलालेख एक ही शैली में लिखे गये हैं, फिर भी उनकी भाषा में स्थलानुसार भेद है। मूलतः इन शिलालेखों में पैशाची, मागधी और शौरसेनी प्राकृत की प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। पश्चिमोत्तरी शिलालेख पैशाची का स्वरूप उपस्थित करते हैं, पूर्वी मागधी का और दक्षिण-पश्चिमी शौरसेनी का।

अन्य शिलालेख

शिलालेखी प्राकृत का काल ई० पू० ३००–४०० ई० अर्थात् सात सौ वर्षों तक का लम्बा समय है। इस लम्बे कालखण्ड में उपलब्ध समस्त शिलालेखों की संख्या लगभग दो हजार है। इनमें कुछ शिलालेख लम्बे और कुछ एक ही पंक्ति के हैं।

अशोक के बाद इस युग के शिलालेखों में खारवेल का हाथीगुफा शिलालेख, उदयगिरि तथा खण्डगिरि के शिलालेख एवं पश्चिमी भारत के आन्ध्र राजाओं के शिलालेख साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। यतः प्राकृत के विकसित रूप इन शिलालेखों में पाये जाते हैं। नाटकीय प्राकृतों के रूप भी इनकी भाषा में समाविष्ट हैं।

इनके अतिरिक्त लंका में भी प्राकृत भाषा में लिखे गये शिलालेख प्राप्त हुए हैं। कुछ बाद के खरोष्ठी लिपि में लिखे गये शिलालेख काँगड़ा, मथुरा आदि स्थानों से भी मिले हैं। शिलालेखों के अतिरिक्त सिक्कों पर भी प्राकृत के लेख उपलब्ध हैं। ई० पू० तीसरी शती का धर्मपाल का एक सिक्का सागर जिले से प्राप्त हुआ है जिसमें ब्राह्मी लिपि में 'धम्मपालस <धर्मपालस्य लिखा है। एक दूसरा

महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सिक्का खरोष्ठी लिपि में दिमिलियस (ई० पू० दूसरी शती) का है, जिसमें—'महरजस अपरजितस दिये' लिखा है। इन सिक्कों पर कोई लम्बे-चौड़े प्राकृत के लेख नहीं हैं, पर जो दो-एक वाक्य हैं, उनसे उस समय की प्राकृत पदरचना की स्थिति का ज्ञान हो जाता है। 'धमपालस' इस बात का संकेत करता है कि संस्कृत-रेफ का लोप हो गया था, पर स्य का विकास स्स में नहीं हुआ था और इसके स्थान पर केवल 'स' ही अवशिष्ट था। परवर्ती संयुक्त व्यंजन के लोप हो जाने पर अवशिष्ट व्यञ्जन को द्वित्व करने की पद्धति अभी विकसित नहीं हुई थी। मध्यवर्ती क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, प्, य्, और व् का लोप भी आरम्भ नहीं हुआ था। यही कारण है कि 'महाराजस्य' के स्थान पर 'महाराअस्स' या 'महारायस्स' पद न होकर 'महरजस' तथा 'अपरजितस्य' के स्थान पर 'अवराइस्स' पद न होकर 'अपरजितस' पदों के प्रयोग पाये जाते हैं। प्राकृत भाषा के विकासक्रम को अवगत करने के लिए शिलालेखों के समान ही सिक्कों का भी महत्व है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की विकसित परम्परा मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के रूप में किस प्रकार आ रही थी, इसकी जानकारी के लिए शिलालेखों का अध्ययन आवश्यक है। वास्तव में प्राकृतों के मूल-रूप शिलालेखों में ही विद्यमान हैं।

खारवेल के शिला-लेख की प्राकृत

खारवेल के शिलालेख की भाषा प्राचीन शौरसेनी या जैनशौरसेनी है। यद्यपि इस शिलालेख में प्राचीन शौरसेनी की समस्त प्रवृत्तियाँ परिलक्षित नहीं होती, तो भी इसे उसका आदिम रूप मानने में किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं हैं। खारवेल का यह शिलालेख भारतीय इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इससे ज्ञात होता है कि नन्द के समय में उत्कल या कलिंग देश में जैनधर्म का प्रचार था और आदि जिन की मूर्ति पूजी जाती थी। कलिंग—जिन नामक मूर्ति को नन्द उड़ीसा से पटना उठा लाये थे और सम्राट् खारवेल ने मगध पर चढ़ाई कर शताब्दियों के बाद बदला चुकाया और अपने पूर्वजों की मूर्ति को वापस ले गया। खारवेल ने अपने प्रबल पराक्रम द्वारा उत्तरापथ से पाण्ड्य देश तक अपनी विजयवैजयन्ती फहराई थी। वह एक वर्ष विजय के लिए निकलता था और दूसरे वर्ष महल बनवाता, दान देता तथा प्रजा के हितार्थ अनेक महत्वपूर्ण कार्य करता था। इस शिलालेख का समय ई पू० १०० है। इसमें प्राकृत—शौरसेनी प्राकृत की एक निश्चित परम्परा दृष्टिगोचर होती है।

इस शिलालेख को भाषा में कई मौलिक तथ्य उपलब्ध हैं। पञ्चनमस्कार मन्त्र के प्रथमपाद का रूप 'नमो अरहंतानं' (पंक्ति १), अरहत (पंक्ति १५) में प्रयुक्त अरहन्त शब्द अहिंसा संस्कृति का पूर्णतया प्रतिनिधित्व करता है। स्वर-

भक्ति के सिद्धान्तानुसार र् और ह् ध्वनियों का पृथक्करण हो गया है और अ स्वर का आगम हो जाने से अरहन्त पद बन गया है। वर्तमान में 'अरिहंत' पद प्रचलित है, जो अहिंसासंस्कृति के अनुकूल नहीं है। इस पद का शाब्दिक अर्थ है—अरि-शत्रुओं-कर्मशत्रुओं के हंत-हनन करनेवाले; पर इस कोटि के मंगल मन्त्र में हन् धातु का प्रयोग अहिंसा संस्कृति के अनुकूल किस प्रकार माना जायगा? व्यवहार में देखा जाता है कि भोजन के समय मारना, काटना जैसे हिंसावाची क्रियापद अन्तराय का कारण माने जाते हैं, अतः कोई भी अहिंसक व्यक्ति इन शब्दों का प्रयोग मंगलकार्य में किस प्रकार कर सकेगा? शिलालेख में प्रयुक्त अरहंत पद का अर्थ सातिशय पूजा के योग्य है। क्योंकि गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण इन पाँचों कल्याणकों में देवों द्वारा की गयी पूजाएँ देव, असुर और मनुष्यों की प्राप्त पूजा से अधिक हैं। अतएव अतिशयों के योग्य होने से ही तीर्थंकरों को अरहन्त अथवा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों के नाश होने से अनन्तचतुष्टय विभूति की प्राप्ति के कारण अरहन्त कहा जाता है। षट्खण्डागम टीका में वीरसेनाचार्य ने उपरि—अंकित अर्थ की पुष्टि करते हुए कहा है—

अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्तः। स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्तपूजाभ्योऽधिकत्वादतिशयनामर्हत्वाद्योग्यत्वादर्हन्तः।—धवला टीका प्रथम जिल्द, पृ० ४ ।

आचार्य वीरसेन द्वारा उद्धृत प्राचीन गाथाओं में भी 'अरहंत' पद आया है। "सिद्ध-सयलप्परूवा अरहंता दुण्णय-कयंता[1]"—समस्त आत्मस्वरूप को प्राप्त करनेवाले एवं दुर्नय का अन्त करनेवाले पूजायोग्य अरहन्त परमेष्ठी हैं। अतएव खारवेल का यह शिलालेख पञ्चपरमेष्ठी वाचक नमस्कार मन्त्र के प्रथम पद का पाठ निश्चित करने में भी सहायक है। ई० पू० १०० तक 'अरहन्त' पद का ही व्यवहार किया जाता था, पता नहीं किस प्रकार 'अरिहंत' पद पीछे प्रविष्ट हो गया। व्याकरण सम्बन्धी विश्लेषण निम्न प्रकार है।

१. समस्यन्त पदों एवं क्रियापदों में दीर्घ स्वर के स्थान पर ह्रस्व स्वर पाये जाते हैं। यथा—

राजसुयं < राजसूयं (पं० ६)
मुतमणि < मुक्तामणिः (पं० १३)
अहरापयति < आहारयति (पं० १३)

---

१. ष० खं० ध० टीका १ जिल्द, गा० २५

परिखिता<परीक्षिता (पं० १४)
पभारे<प्राग्भारे (पं० १४)
मुसिकनगरं<मूषिकनगरं (पं० ४)

२. इस शिलालेख में ऋ के स्थान पर अ, इ, ई और उ का परिवर्तन उपलब्ध होता है। यथा—

वहस्पति<बृहस्पतिः (पं० १२) शौरसेनी प्रवृत्ति है।
विसजति<विसृजति (पं० ७)— ,,
कतं<कृतं (पं० ११)—त के स्थान पर द वाली प्रवृत्ति का विकास उत्तर-
नत<नृत्य (पं० ५) काल में द्राविड भाषाओं के संयोग से हुआ है।
सुकति<सुकृति (पं० १५)
हित<हृत (पं० ६)
पीथुड<पृथुल (पं० ११)
मतुकं<मातृकं (पं० ११)

३. ऐ और औ के स्थान पर ए और ओ का परिवर्तन वर्तमान है। यथा—

सेसय<शैशव (पंक्ति २)—यह प्रवृत्ति शौरसेनी की है।
वेसिकनं<वैशिकानां (पं० १३)
योवरजं<यौवराज्यं (पं० २)
पोरं<पौरं—पौराय (पं० ७)

४. व्यञ्जन परिवर्तनों में जैन शौरसेनी या प्राचीन शौरसेनी की प्रवृत्तियाँ पूर्णरूप से समाविष्ट हैं। इस शिलालेख में थ् के स्थान पर ध् ध्वनि की परिवर्तन पाया जाता है। यथा—

उत्तरापध<उत्तरापथ (पं० ११)
रधगिरिं<रथगिरिं (पं० ७)
रध<रथ (पं० ४)
पधमे<प्रथमे (पं० ३)
वितध<वितथ (पं० ५)
मधुरं<मथुराम् (पं० ८)

५. महाप्राण वर्णों के स्थान पर अल्पप्राण वर्णों का परिवर्तन पाया जाता है। यथा—

चेति<चेदि

६. दन्त्य वर्ण 'द्' के स्थान पर मूर्धन्य ड् तथा त् के स्थान पर भी ड् और ट् व्यञ्जन पाये जाये हैं। यह प्रवृत्ति द्राविड भाषाओं के सम्पर्क से आयी है। यथा—

पडिहार <प्रतिहार (पं० १२)

वेडुरिय <वैदूर्यं (पं० १६)

वढराजा <वर्द्धराजः (पं० १६)

पटि <प्रति (पं० ३)

पटिसंठपनं <प्रतिसंस्थापनम् (पं० ३)

७. श् और ष उष्म ध्वनि स्थान पर स् ध्वनि पायी जाती है। यथा—

वस <वंश (पं० १)

विसारदेन <विशारदेन (पं० २)

नववसानि <नववर्षाणि (पं० २)

मुसिकनगरं <मूषिकनगरं (पं० ४)

पवेसयति <प्रवेशयति (पं० ६)

प्रसासतो <प्रशासतो (पं० ७)

सत <शत (पं० १३)

८. उत्तरकालीन प्राकृत में ल् के स्थान पर ड् होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। यह विशेषता इस शिलालेख में भी वर्तमान है। जब किसी शब्द के अन्त में दीर्घस्वर के अनन्तर ल आता है, तो उसके स्थान पर ड हो जाता है। यथा—

पनाडि <प्रणाली (पं० ६)

पीथुड <पृथुल (पं० ११)

पाडि <पाली (पं० ३)

९. संयुक्त रेफ का लोप हो जाता है और व्यञ्जनमात्र शेष रह जाता है। यथा—

सव <सर्व (पं० २)

वस <वर्ष (पं० २)

वंधनेन <वर्धनेन (पं० १)

संपुण <सम्पूर्ण (पं० २)

गन्धव <गन्धर्व (पं० ५)

संदसन <सन्दर्शन (पं० ५)

वसे <वर्षे (पं० ७)

कासयति <कर्षयति (पं० ११) ककारोत्तर अकार को दीर्घ हुआ है।

पपंते <पर्वते (पं० १४)

१०. स्त, ष्ट, द्य, स्क और श्च के स्थान पर क्रमशः थ, ठ, ज, ख और छ व्यञ्जन मिलते हैं। यथा—

पसथ <प्रशस्त (पं० १)

थंभे <स्तम्भान् (पं० १६)

अठ <अष्ट (पं० १०)

चोयठि <चतुषष्टिः (पं० १६)

विजावदातेन <विद्यावदातेन (पं० २)

विजाधर <विद्याधर (पं० ५)

संखारयति <संस्कारयति (पं० ३)

संकारकारको <संस्कारकारकः (पं० १७)

अछरियं <आश्चरियं (पं० १३)

पछिमदिसं <पश्चिमदेशं (पं० ४)

उयातानं <उद्यातानां (पं० १४) यहाँ अपवादरूप में द्य के स्थान पर य हुआ मिलता है।

११. प्रायः संयुक्ताक्षरों में पूर्ववर्ती व्यञ्जन शेष रहता है और उत्तरवर्ती का लोप हो जाता है। यथा—

बहसति <बृहस्पति (पं० १२)

पंड <पाण्ड्य (पं० १३)

ववहार <व्यवहार (पं० २)

योवरजं <यौवराज्यं (पं० २)

संपुण <सम्पूर्ण (पं० २)

उसव <उत्सव (पं० ५)

कीडा <क्रीडा (पं० ५)

१२. ज्ञ के स्थान पर ञ और ल के स्थान पर न भी पाया जाता है। यथा—

ञावकेहि <ज्ञापकेभ्यः (पं० १४)

नंगलेन <लांगलेन (पं० ११)

१३. गृह शब्द के स्थान पर घर और त्रय के स्थान पर ते तथा त्रयोदश शब्द में रहनेवाले द के स्थान पर र पाया जाता है। कुछ शब्दों में गृह के स्थान पर गह भी उपलब्ध है। यथा—

घरवति <गृहवती (पं० ७)

घरनी <गृहिणी (पं० ७)

राजगह <राजगृह (पं० ८)

तेरस <त्रयोदश (पं० ११)

तेरसमे <त्रयोदशे (पं० १४)

१४. भारतवर्ष के स्थान पर 'भरधवस' का व्यवहार हुआ है। इस शब्द में त ध्वनि ध ध्वनि के रूप में परिवर्तित है। उत्तरकाल में भरध से ही भरह शब्द का परिवर्तन हुआ है।

भरधवस <भारतवर्ष (पं० १०)

१५. द्वा के स्थान पर वा और चतुर्थ शब्द में रहनेवाले तु के स्थान पर वु व्यञ्जन पाये जाते हैं। यथा—

वारसमे <द्वादशे (पं० ११)

चवुथे <चतुर्थे (पं० ५)

१६. वृक्ष शब्द के स्थान पर रुख का प्रयोग हुआ है। यथा—

रुख <वृक्ष (पं० ९)

१७. स्वर भक्ति के कारण कुछ शब्दों के मध्य में स्वरागम भी पाये जाते हैं। यथा—

सिरि <श्री (पं० १)

रतनानि <रत्नानि (पं० १०)

मुरिय <मौर्य (पं० १६)

१८. कारकरचना की दृष्टि से इस शिलालेख में प्रथमा एकवचन में ओकार, द्वितीया बहुवचन में ए, तृतीया बहुवचन में हि, चतुर्थी के बहुवचन में भी हि और षष्ठी के एकवचन में स विभक्ति पायी जाती है। यथा—

पूजको <पूजकः (पं० १७)

अभिसितमितो <अभिषिक्तमात्रः (पं० ३)

भोजके <भोजकान् (पं० ६)

वैडूरियगभे <वैडूर्यगर्भान् (पं० १६)

भिंगारे <भृङ्गारान् (पं० ६)

पडिहारेहि <प्रतिहारैः (पं० १२)

संसितेहि <संसृतिभ्यः (पं० १४)

जिनस <जिनस्य (पं० ११)

१९. धातुरूपों में शतृ प्रत्यय के स्थान पर अंतो, क्त्वा के स्थान पर ता और प्रेरणार्थक रूपों में पय लगा दिया गया है। यथा—

पसंतो <पश्यन् (पं० १६)

अनुभवंतो <अनुभवन् (पं० १६)

घातापयिता <घातयित्वा (पं० ८)—प्रेरणार्थक रूप बनाने के लिए गिरनार शिलालेख के समान धातु में पय प्रत्यय जोड़ा गया है।

कीडापयति < क्रीडयति (पं० ५)

बंधापयति < बन्धयति (पं० ३)

पीडापयति < पीडयति (पं० ८)

सर ऑरेल स्टेन (Sir Aurel stein) ने चीनी तुर्किस्तान में कई खरोष्ठी लेखों का अनुसन्धान किया है। उन्होंने यह खोज वि० सं० १९५८ से वि० सं० १९७१ तक तीन बार की थी। ये लेख निया प्रदेश से प्राप्त हुए हैं, अतः इनकी भाषा का नाम निया प्राकृत है। योरोपीय विद्वान् बोयर, रेप्सन तथा सेनर ने इन लेखों का संपादन सन् १९२९ ई० में किया था। सन् १९३७ में टी० बरो ने इस भाषा पर एक गवेषणात्मक निबन्ध प्रकाशित किया। यह भाषा पश्चिमोत्तर प्रदेश (पेशावर के आस-पास) की मानी गयी है। क्योंकि इस भाषा का सम्बन्ध खरोष्ठी धम्मपद और अशोक के पश्चिमोत्तर प्रदेश के खरोष्ठी शिलालेखों की भाषा से हैं। बरो ने इन लेखों की भाषा को भारतीय प्राकृत भाषा कहा है, जो कि वि० तीसरी शती में क्राराइना या शनशन की राजकीय भाषा थी। भाषाविज्ञान की दृष्टि से इसका दरदी भाषाओं से विशेष सम्बन्ध दिखायी पड़ता है। दरदी वर्ग की तोखारी के साथ इसका निकट का सम्बन्ध है। इन लेखों में अधिकतर लेख राजकीय विषयों से सम्बद्ध हैं; उदाहरण के लिए राजाज्ञाएँ, प्रान्ताधीशों या न्यायाधीशों के प्रसारित राजकीय आदेश, क्रय-विक्रयपत्र, निजीपत्र तथा नाना प्रकार की सूचियाँ लीं जा सकती हैं। इस निया प्राकृत में दीर्घस्वर, ऋ ध्वनि और सघोष उष्म ध्वनियों का अस्तित्व वर्तमान है, जबकि भारतीय प्राकृत में ये ध्वनियाँ नहीं हैं। डॉ० सुकुमार सेन ने—"A comparative Grammar of middle Indo-Aryan" नामक पुस्तक में इस भाषा की विशेषताएँ बतलाते हुए कहा है[1], कि तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों में अय, अव प्रायः ज्यों के त्यों रह जाते हैं। इस प्राकृत में य, या, ये के स्थान पर इ ध्वनि पायी जाती है। यथा—

निया प्राकृत

समदि < समादाय, भवइ < भावये, मूलि < मूल्य, एश्वरि < ऐश्वर्य

भमणइ < भावनायाम्

२. मध्य ए स्वर के स्थान पर इ का प्रयोग हुआ है। यथा—

इमि < इमे, उवितो < उपेतः, छित्र < क्षेत्र

---

1. The documents are mostly administrative reports from or letters of instruction issued to the district officers a d other officials ......In tatsama and semi tatsama words aya andava are generally not contraced to eando respectively. A comparative Grammar of middl Indo Aryan. Page 13-15.

अन्त में आनेवाले विसर्ग युक्त अ का वैकल्पिक उ मिलता है। यथा—

प्रातु < प्रातः।

३. स्वरमध्यवर्ती स्पर्श उष्म और स्पर्श-संघर्षी अघोष व्यंजन सघोष में परिवर्तित हैं। ऊष्म के अतिरिक्त अन्य व्यञ्जन का लोप हो गया है और उसके स्थान पर इ अथवा य के प्रयोग वर्तमान हैं। यथा—

यधा < यथा, सदिइ < सन्तिके, त्वया < त्वचा

पढम < प्रथम, कोडि < कोटि, गोयरि < गोचरे, भोयन < भोजन

४ यदि संयुक्त व्यञ्जन में अनुनासिक अथवा कोई ऊष्म ध्वनि सन्निविष्ट हो तो अघोष व्यञ्जन सघोष का रूप ग्रहण कर लेता है। यथा—

पज < पञ्च, सिज < सिञ्च, सबन्नो < सम्पन्न

दुबकति < दुष्प्रकृति, सघर < संस्कार

अदर < अन्तर, हदि < हन्ति

५. सघोष वर्णों के स्थान पर अघोष वर्ण होने के भी कुछ उदाहरण उपलब्ध हैं। यथा—

विरकु < विराग, समकत < समागता, विकय < विगाह्य

योक < योग, किलने < ग्लानः, तण्ट < दण्ड, योग < भोग

६. महाप्राण व्यञ्जनों के स्थान पर अल्पप्राण व्यञ्जन भी विद्यमान हैं। यथा—

बूम < भूमि, तनना < धनानाम्

७. विसर्ग के अनन्तर ख और स्वतन्त्र रूप से क्ष का परिवर्तन ह के रूप में उपलब्ध है। यथा—

दुह < दुःख, अनवेह्निो < अनपेक्षिणः, अवेह < अपेक्ष

८. सघोष व्यञ्जन उष्म ध्वनि रूप में उच्चरित होने के कारण ध के स्थान पर उष्म व्यञ्जन का प्रयोग मिलता है। यथा—

मसुह < मधुर, मसु < मधु,

गशन < गाथानाम्, असिमत्र < अधिमात्रा

९. ऋ के स्थान पर अ, इ, उ, स, रि का विकास वर्तमान है। यथा—

मुतु < मृतः, सव्वतो < संवृतः

स्वति < स्मृति, व्रिढ < वृद्ध

किड < कृत, प्रछिदवो < पृच्छितव्य

१०. संयुक्त व्यञ्जनों में यदि र्, ल् सन्निविष्ट हों तो उनमें परिवर्तन नहीं होता है। यथा—

कीर्त्ति <कीर्त्ति, धर्म <धर्म

मर्ग <मार्ग, परिव्रयति <परिव्रजति, द्रिघम् <दीर्घम्

११. संयुक्त व्यञ्जन की एक अनुनासिक ध्वनि में दूसरी निरनुनासिक ध्वनि का समीकरण हो जाता है। यथा—

पणिदो <पण्डित, दण <दण्ड

गमिर <गम्भीर, पञ <प्रज्ञा

१२. संयुक्त व्यञ्जन ष्ट और ष्ठ का समीकृत रूप पाया जाता है। यथा—

दिठि <दृष्टि, जेठ <ज्येष्ठ, शेठ <श्रेष्ठ

१३. संयुक्त व्यञ्जन श्र का प्रयोग ष के रूप में और क्र, ग्र; त्र, द्र, प्र, ब्र, भ्र और स्त अपरिवर्तित रूप में उपलब्ध हैं। यथा—

षगक <श्रवक, मषु <श्मश्रू

त्रिहि <त्रिभिः, सभ्रमु <संभ्रम

१४. संयुक्त व्यञ्जनों में ऊष्म ध्वनि निहित रहने पर भी परिवर्तन नहीं होता। 'स्थ' के स्थान पर ठ का प्रयोग उपलब्ध है यथा—

उठ्न <उत्थान, कठ <काष्ठ, स्थान—ठाण

१५. पदरचना में प्रथमा विभक्ति और द्वितीया विभक्ति के एकवचन प्रत्यय का लोप पाया जाता है। द्विवचन का प्रयोग एक दो स्थानों पर ही मिलते हैं।

१६. क्रियाओं की कालरचना में वर्तमान, निश्चयार्थ, आज्ञा, विधि एवं भविष्य निश्चयार्थ के रूप में मिलते हैं। वर्तमान और विधिलिङ् के रूप अशोकी प्राकृत के समान हैं। भूतकाल का विकास कर्मवाच्य कृदन्त में प्रथम पुरुष, बहुवचन में न्ति तथा उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष में वर्तमान निश्चयार्थ कर्तृवाच्य √अस् के सदृश प्रत्ययों को जोड़कर बनाया गया है—

श्रुतेमि <श्रुतोस्मि, श्रुतम <श्रुतः स्मः, दिनेसि <दत्तोसि

१७. पूर्वकालिक कृदन्त का विकास क्रियार्थक संज्ञा अत् के चतुर्थी एकवचन से होता है[1] यथा—

गच्छंनए <गच्छनाय, देयंनए <दात्रे

करंनए <कर्त्तुम्, विसजिदु <विसर्जितुम्

---

१. विशेष जानकारी के लिए देखिये—
Comparative Grammar of middle Indo-Aryan Pages–16-17.

कलकत्ता से बी० एम० वरुआ और एस० मित्रा ने सन् १९२१ में 'प्राकृत धम्मपद' के नाम से एक ग्रन्थ प्रकाशित किया था। कहा जाता है कि खोतान में खरोष्ठी लिपि में सन् १८९२ ई० में फ्रांसीसी यात्री एम० डुत्रुइल द राँ (M. Dutrieul de Rhine) ने कुछ महत्त्वपूर्ण लेख प्राप्त किये हैं। रूसी विद्वान् डी० ओल्डेनवर्ग (D. oldenburg) ने उन लेखों का स्पष्टीकरण किया और फ्रांसीसी विद्वान् ई० सेनार्ट (E, Senart) ने १८९७ ई० में उन्हें सम्पादित रूप प्रदान किया। इस धम्मपद की भाषा पश्चिमोत्तर प्रदेश की बोलियों से मिलती है। ज्यूल्स ब्लाक (Jules block) ने खरोष्ठी धम्मपद की ध्वनि सम्बन्धी तथा अन्य विशेषताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला हैं कि इसका मूल भारतवर्ष में ही लिखा गया होगा। खरोष्ठी लिपि में रहने के कारण इसका नाम खरोष्ठी धम्मपद पड़ गया है। यद्यपि इसकी भाषा प्राकृत है और इसकी समता अशोक के उत्तर-पश्चिम के शिलालेखों की भाषा से की जा सकती है। यह ग्रन्थ बारह सर्गों में विभक्त है और इसमें कुल २३२ पद्य हैं। इसका रचनाकाल २०० ई० के लगभग माना जाता है। प्राकृत धम्मपद की भाषा का संकेत निम्न गाथा से मिल सकता है—

प्राकृत धम्मपद की प्राकृत भाषा

यस एतदिश यन गेहि परवइतस व।
स वि एतिन यनेन निवनसेव सत्तिए॥

जिस किसी गृहस्थ या साधु के पास यह यान है, वह व्यक्ति वस्तुतः निर्वाण के पास ही है। इस गाथा में भाषा सम्बन्धी निम्न सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं—

यस <यस्य—संयुक्त यकार का लोप हुआ है, किन्तु अवशिष्ट ऊष्म को द्वित्व नहीं किया गया है।

एतिदिश <एतादृशम्—यहाँ तकारोत्तर आकार के स्थान पर ईकारादेश, दकारोत्तर = ईकार को भी ईत्व कर दिया गया है।

यन <यानं—यहाँ यकार को ह्रस्व कर दिया गया है।

गेहि <गृहिण—पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में इ प्रत्यय किया है।

पवइतम <प्रव्रजितस्य—प्र और व्र की संयुक्त रेफ ध्वनियों का लोप किया गया है। ऊष्म और अन्तस्थ के संयोग में अन्तिम अन्तस्थ का लोप हो गया है और ऊष्म ध्वनि शेष हैं।

व <वा—दीर्घ को ह्रस्व किया गया है।

वि <वै—दीर्घ उच्चरित ध्वनि ह्रस्व इ में परिवर्तित है।

निवनसेव <निर्वाणस्यैव—रेफ का लोप होने से ह्रस्व हुआ है तथा शेष कार्य पूर्ववत् ही हैं।

प्रथम युग की प्राकृत सामग्री में अश्वघोष के नाटकों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। यतः प्राकृत भाषा के विकास की परम्परा इन नाटकों की भाषा में सुरक्षित है। मागधी, शौरसेनी और अर्धमागधी इन तीनों प्राकृतों की त्रिवेणी यहाँ अपना संगम स्थल बनाये हुए है। इस सामग्री का काल ई० सन् १०० के लगभग है। यहाँ पर तीन पात्रों की विभाषाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की मिलती हैं। खलपात्र की भाषा मागधी, गणिका और विदूषक की प्राचीन शौरसेनी एवं गोभम की मध्यपूर्ववर्ती—अर्धमागधी भाषा है। अशोक के कालसी, जौगढ़ और धौली नामक स्थानों की प्रज्ञापनाओं में जिस अर्धमागधी का दर्शन होता है; यहाँ वही अर्धमागधी अपने विकसित रूप में मिलता है। इसी प्रकार गिरनार की प्रशस्तियों में अंकित शौरसेनी का रूप भी यहाँ बहुत स्पष्ट रूप में मिलता है। इसमें प्रयुक्त विभाषाओं की प्रवृत्तियाँ निम्न प्रकार हैं—

अश्वघोष के नाटकों की भाषा

१. मागधी की प्रवृत्ति के अनुसार 'खलपात्र' की भाषा में 'र' के स्थान पर 'ल्' ध्वनि पायी जाती है। यथा—

कालना < कारणात्, कलेमि < करेमि

२. ष और स् ध्वनि के स्थान पर 'श्' ध्वनि पायी जाती है। यथा—

किश्श < किष्य

३. पदरचना में अकारान्त पुंल्लिङ्ग और नपुंसक लिंग शब्दों की प्रथमा विभक्ति के एकवचन में एकार और षष्ठी विभक्ति के एकवचन में 'हो' विभक्ति का प्रयोग मिलता है। यथा—

वुत्ते < वृत्तः, मक्कडहो < मर्कटस्य

अहकं (अ हकं) < अहम् (अहं के स्थान पर इस भाषा की प्रवृत्ति के अनुसार अ हकं पाया जाता है)

४. गणिका और विदूषक जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, उसमें प्रथमा विभक्ति के एकवचन में ओ विभक्ति पायी जाती है। यथा—

दुक्करो < दुष्करः (ष् ध्वनि का समीकरण हो गया है)

५. न्य और ज्ञ संयुक्त व्यञ्जनों के स्थान पर ञ्ञ की प्रवृत्ति पायी जाती है। यथा—

हञ्जन्तु < हन्यतु, अकितञ्ज < अकृतज्ञ

६. व्य संयुक्त व्यञ्जन स्थान पर व्व पाया जाता है। यथा—

धारयितव्वो < धारयितव्यः

७. संयुक्त व्यञ्जन के स्थान पर क्ख पाया जाता है। यथा—

सक्खी < साक्ष्यी पेक्खामि < प्रेक्ष्यामि

८. वर्तमानकालिक कृत् प्रत्ययों में मान प्रत्यय का प्रयोग स्थिर रूप में पाया जाता है। यथा—

भुंजमानो < भुञ्जमानः

पाटयमानो < पाठ्यमानः—ट् और य् ध्वनियों का पृथक्करण तथा अ स्वर का आगम।

९. इस तथाकथित शौरसेनी में कुछ अनियमित विशेष परिवर्तन भी पाये जाते हैं। खलु के स्थान पर खु एवं भवान् के स्थान पर भवां का प्रयोग वर्तमान है। विशेष परिवर्तन निम्नाङ्कित श्रेणी के हैं—

तुवब < त्वम् (मेरा अनुमान है कि यह विदेशी भाषा का रूप है।)

करिय < कृत्वा करोथ < कुरुथ

१०. गोभय की विभाषा को ल्यूडर्स ने प्राचीन अर्धमागधी कहा है। यों इसकी प्रवृत्तियाँ मध्यपूर्वी विभाषा से मिलती-जुलती हैं। इसमें रेफ के स्थान पर ल् और प्रथमा एकवचन में ओ विभक्ति-प्रत्यय मिलता है। आक और इक प्रत्ययों का प्रयोग बहुलता से मिलता है। यथा –

पाण्डर > पाण्डलाकं—रेफ के स्थान पर ल् ध्वनि और अक प्रत्यय।

करमोद > कलमोदनाकं— ,, ,, ,,

महाकवि भास के नाटकों का भाषा प्रायः शौरसेनी है। मागधी का प्रयोग प्रतिज्ञा, चारुदत्त तथा बालचरित में एवं अर्धमागधी का प्रयोग कर्णभार में मिलता है। भास की प्राकृत पर्याप्त प्राचीन है, पर अश्वघोष के बाद ही इस प्राकृत को स्थान प्राप्त है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ई० पू० ६०० से ई० २०० तक प्रथम युगीन प्राकृतें व्यवहृत होती आयीं। आरम्भ में प्राकृत सामान्य नाम था, पर वैभाषिक प्रवृत्तियों का प्राकृत में विकास हुआ और देशभेद और कालभेद के कारण उन सबका समूह प्राकृत के नाम से ही अभिहित किया जाने लगा। लगभग आठ सौ वर्षों तक मागधी, शौरसेनी और पैशाची इन तीन प्रमुख वैभाषिक प्रवृत्तियों एवं इनके मिश्रण से निष्पन्न अर्धमागधी प्रवृत्ति से प्राकृत भाषा के रूप को सजाया और सँभाला। मध्यभारतीय आर्यभाषा की यह प्रवृत्ति वैदिक संस्कृत के साथ भी अपना यत्किञ्चित् सम्बन्ध बनाये चली जा रही थी। परन्तु प्राचीन जो प्रस्तर लेख गुफाओं, स्तूपों, स्तम्भों आदि में मिलते हैं उनसे सिद्ध है कि उस समय जनता की एक ऐसी भाषा थी, जो भारत के सुदूर प्रान्तों में भी समानरूप से समझी जाती थी।

तृतीयोऽध्याय

द्वितीय स्तरीय मध्ययुगीन या द्वितीय युगीन प्राकृत

मध्ययुगीन प्राकृतों में अलंकार शास्त्रियों और वैयाकरणों द्वारा उल्लिखित एवं काव्य और नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत भाषा की गणना की जाती हैं। हम पहले ही यह लिख चुके हैं कि प्राकृत भाषा के भेद-प्रभेदों का वर्णन भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। इन्होंने वाणी का पाठ दो प्रकार का माना है[1] संस्कृत और प्राकृत। नाटक में भाषा प्रयोग का निरूपण करते हुए बताया है कि उत्तम पात्र संस्कृत का व्यवहार करें और यदि वे ऐश्वर्य से प्रमत्त और दरिद्र हो जायँ तो प्राकृत बोले[2]। श्रमण, तपस्वी, भिक्षु, स्त्री, बालक और मत्त आदि सभी को प्राकृत भाषा के प्रयोग करने का निर्देश किया है[3]। भरत ने प्राकृत ध्वनियों एवं उनके परिवर्तनों को लगभग बीस पद्यों में बतलाया है[4]। उनके इस विवेचन से स्पष्ट है कि मध्यवर्ती क्, ग्, त्, द्, य् और व् के लोप का विधान प्राकृत में प्रविष्ट हो चुका था। प् का परिवर्तन व् रूप में; ख्, घ् आदि महाप्राण वर्णों के स्थान पर ह् का आदेश, ट् के स्थान पर ड् का आदेश; अनादि त् का अस्पष्ट दकार उच्चारण एवं ष्ट् और ष्ण् ध्वनि का ख रूप में परिवर्तन होता है। भरतमुनि के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उनकी उक्त प्रवृत्तियाँ मध्ययुगीन प्राकृत भाषा की है। नाट्यशास्त्र के ३२ वें अध्याय में ध्रुवा नामक गीतिकाव्य का विस्तार-पूर्वक सोदाहरण प्रतिपादन किया गया है। बताया गया है कि ध्रुवा में शौरसेनी

मध्ययुगीन प्राकृत

---

१. एवं तु संस्कृतं पाठ्यं मया प्रोक्तं द्विजोत्तमाः।
प्रकृतस्यापि पाठ्यस्य संप्रवक्ष्यामि लक्षणम्॥
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्।
—भरत नाट्य० १८।१-२ चौख० वाराणसी।

२. ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्र्येण प्लुतस्य च।—वही १८।३१.

३. भिक्षुचाष्टचराणाञ्च प्राकृतं सम्प्रयोजयेत्।
बाले ग्रहोपसृष्टे स्त्रीणां स्त्रीप्रकृतौ तथा॥ वही १८।३३

४. ए ओ आरपराणिअकारपरीचवा अएणायिवस आरमंसिमाइतवर्ग निगणा-वंच्छतिकटतदवयवालोत्सवअयचसेवहृतिसरा····होलऋषी। वही १८।६-८.

का ही प्रयोग किया जाना चाहिए ।[1] अतएव इस भ्रान्त धारणा का खण्डन हो जाता है कि पद्यभाग में महाराष्ट्री का प्रयोग किया जाता है और गद्य में शौरसेनी का । वास्तव में प्राचीन भारत में सभी प्राकृतों को सामान्यतः प्राकृत शब्द के द्वारा ही अभिहत किया जाता था । भरत के मत से नाटक में गद्य और पद्य दोनों में शौरसेनी का प्रयोग ही अभीष्ट है, किन्तु उन्होंने इच्छानुसार किसी भी देश-भाषा के प्रयोग का भी निर्देश किया है । इनके मत से देशभाषाएँ सात हैं[2]—मागधी, आवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दाक्षिणात्या ।

अन्तःपुर निवासियों के लिए मागधी; चेट, राजपुत्रों और सेठों के लिए अर्धमागधी; विदूषकादि के लिए प्राच्या; नायिका और उसकी सखियों के लिए शौरसेनी से अविरुद्ध आवन्ती; योद्धा, नागरिक तया जुआरियों के लिए दाक्षिणात्या तथा उदीच्या एवं खस, शबर, शक आदि जातियों को वाह्लीका भाषा का प्रयोग करना चाहिए ।[3] इनके अतिरिक्त भरत ने शबर, आभीर, चाण्डाल आदि की हीन भाषाओं को विभाषा कहा है ।[4] इस प्रकार भरत मुनि ने नाटक के पात्रों के लिए भाषा का जो विधान निरूपित किया है, उसका संस्कृत नाटकों में आंशिक रूप से ही पालन पाया जाता है ।

संस्कृत नाटकों में सबसे अधिक प्राकृत का उपयोग और वैचित्र्य शूद्रक कृत मृच्छकटिक में मिलता है । डॉ० पिशल, कीथ आदि विद्वानों के मतानुसार तो मृच्छकटिक की रचना का उद्देश्य ही प्राकृत सम्बन्धी नाट्यशास्त्र के नियमों को उदाहृत करना प्रतीत होता है । इस नाटक के टीकाकार पृथ्वीधर के मतानुसार इसमें चार प्रकार की प्राकृत भाषाओं का व्यवहार पाया जाता है—शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या और मागधी । प्रस्तुत नाटक में सूत्रधार, नटी, नायिका, वसन्तसेना, चारुदत्त की ब्राह्मणी-स्त्री और श्रेष्ठी तथा इनके परिचारक-परिचारि-

---

१. अन्वर्था तत्र कर्त्तव्या ध्रुवा प्रासादिको त्वथ ।
भाषा तु शूरसेनी स्यात् ध्रुवाणां सम्प्रयोजयेत् ॥—वही ३२।४८.

२. वही १८।३५–३६.

३. मागधी तु नराणाञ्चैवान्तःपुरनिवासिनाम् ।
चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठीनाञ्चार्धमागधी ॥
प्राच्या विदूषकादीनां योज्या भाषा अवन्तिजा ।
नायिकानां सखीनाञ्च शौरसेन्यविरोधिनी ॥
यौधनागरिकादिनां दाक्षिणात्या च दोव्यताम् ।
बह्लीक भाषोदीच्यानां खसानाञ्च स्वदेशजा ॥भरत नाट्यशास्त्रं १८।३७-४०

४. हीना वनेचराणाञ्च विभाषा नाटके स्मृता—उपर्युक्त १८।३७.

काएँ इस प्रकार ग्यारहपात्र शौरसेनी बोलते हैं। आवन्ती भाषा बोलनेवाले वीरक और चन्दनक अप्रधानपात्र हैं। प्राच्या भाषा केवल विदूषक बोलता है। संवाहक, शकार, वसन्तसेना और चारुदत्त के चेटक, भिक्षु एवं चारुदत्त का पुत्र छह पात्र मागधी भाषा बोलते हैं। राष्ट्रिय शकारी, चाण्डाल चाण्डाली भाषा और माथुर तथा द्यूतकार ढक्की भाषा का व्यवहार करते हैं।[1]

इन सब पात्रों की भाषा का विश्लेषण किया जाय तो हम उन सबको दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—शौरसेनी और मागधी। तात्पर्य यह है कि देश-भेद से मागधी भाषा पूर्व प्रदेश की है और दूसरी शौरसेनी पश्चिम प्रदेश की। उत्तर और दक्षिण में भी शौरसेनी या उसका यत्किञ्चित् विकृत रूप व्यवहार में लाया जाता था। अयोध्या अथवा काशी के पूर्व में रहने वाले पात्र पूर्वी भाषा—मागधी का व्यवहार करते थे और उक्त स्थानों से पश्चिम में रहनेवाले पात्र—पश्चिमी भाषा—शौरसेनी का। टीकाकार पृथ्वीधर ने स्वयं ही कहा है[2] कि आवन्ती में केवल रकार और लोकोक्तियों का बाहुल्य रहता है तथा प्राच्या में स्वार्थिक ककार का। अन्य बातों में वे शौरसेनी ही हैं। शकारी, ढक्की, चाण्डाली तो एक प्रकार से मागधी भाषा की शैलियाँ ही हैं। इस प्रकार मृच्छकटिक में नाममात्र का ही प्राकृत बाहुल्य है, उन्हें कई भाषाएँ न मानकर प्रधान दोनों ही भाषाओं के शैलीगत भेद मानना अधिक तर्क-संगत है। महाकवि अश्वघोष के नाटकों में जिन प्राकृतों का व्यवहार पाया जाता है। यहाँ भी वे दो भाषाएँ प्रायः व्यवहार में लायी जाती हैं। इतना होने पर भी यह तो मानना ही पड़ता है कि प्राकृत का स्वरूप कालगति से यहाँ विशेष विकसित है। देशगत और कालगत भेदों ने प्राकृत को इतना आवेष्टित कर लिया है, जिससे इन नाटकों की प्राकृत को प्रथम युगीन प्राकृत की अपेक्षा भिन्न माना

---

१. तत्रास्मिन्प्रकरणे प्राकृतपाठकेषु सूत्रधारो नटी रदनिका मदनिका वसन्तसेना तन्माता चेटी कर्णपूरकश्चारुदत्तब्राह्मणी शोधनकः श्रेष्ठी—एते एकादश शौरसेनी भाषा पाठकाः। अवन्तिभाषापाठकौ वीरकचन्दनकौ। प्राच्य-भाषापाठको विदूषकः। संवाहकः शकारवसन्तसेनाचारुदत्तानां चेटकत्रितयं भिक्षुश्चारुदत्तदारकः—एते षण्मागधीपाठकाः। अपभ्रंशपाठकेषु शकारी भाषापाठको राष्ट्रियः। चाण्डालीभाषापाठकौ चाण्डालौ। ढक्कभाषा-पाठकौ माथुरद्यूतकरौ।—पृथ्वीधर टीका-मृच्छकटिकम्, पृ० १–२, निर्णयसागर, सन् १९५०।

२. तत्रावन्तिजा रेफवती लोकोक्तिबहुला। प्राच्या स्वार्थिककका रप्राया।—मृच्छ० पृ० २ निर्णयसागर सं०।

जाना स्वाभाविक है अश्वघोष के नाटकों में व्यवहृत प्राकृत के स्वरूप की अपेक्षा भाषा और कालिदास के नाटकों की प्राकृत प्रवृत्तियों एवं स्वरूप विकास की दृष्टि से बहुत कुछ भिन्न है। कई नयी प्रवृत्तियों का विकास इस प्राकृत में हमें दिखलायी पड़ता है। इस युग की प्राकृत और उसके देश भेदों का विवरण हमें उपलब्ध प्राकृत व्याकरणों में भी मिलता है। अतएव कुछ विचारकों ने इस मध्ययुगीन प्राकृत का नाम साहित्यिक प्राकृत रखा है। वास्तव में सौन्दर्य बोधक साहित्य इसी युग की प्राकृत में लिखा गया है। रस और भाव की परम्पराएँ इसी साहित्य में सुरक्षित हैं।

मध्ययुगीन प्राकृत का सबसे प्राचीन व्याकरण चण्डकृत 'प्राकृतलक्षणं'[1] है। यह अत्यन्त संक्षिप्त हैं, इसमें तीन प्रकरण हैं—

विभक्ति विधान, स्वरविधान और व्यञ्जनविधान। विभक्ति विधान में ४० सूत्र, स्वर विधान में ३४ सूत्र और व्यञ्जनविधान में ४१ सूत्र हैं। इस व्याकरण में प्रायः सभी अनुशासन अत्यन्त संक्षिप्त रूप में वर्णित हैं। इस युगीन प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ निम्नाङ्कित सूत्रों के उल्लेखों द्वारा अवगत की जा सकती हैं।

चण्ड ने प्राकृत शब्दराशि को **"सिद्धं प्राकृतं त्रेधा"** १ वि० वि० द्वारा तीन भागों में विभक्त किया है। संस्कृतसम, देशी सिद्ध और संस्कृत योनिज। इन्होंने संस्कृतयोनिज शब्दों का अनुशासन ही इस व्याकरण में निबद्ध किया है। इस संस्कृत योनिज का पर्याय तद्भव शब्द भी हो सकता है। आशय यह है कि वैयाकरण चण्ड ने संस्कृत शब्दों में ध्वनि विकार, वर्णागम, वर्णविपर्यय से निष्पन्न प्राकृत शब्दावलि का निरूपण किया है। प्रथम युगीन प्राकृत की धारा को अनवच्छिन्न रूप में ले जाते हुए काव्य और नाटकों में प्रयुक्त होनेवाली प्राकृत शब्दराशि को इस शब्दानुशासन द्वारा अनुशासित किया है। प्रथम युगीन प्राकृत में षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में ण और ह का प्रयोग यदा-कदा मिलता था। अतः इन्होंने अपने इस अनुशासन में 'ण' और 'ह' का एक साथ वैकल्पिक रूप में विधान किया। बताया—"सागमस्याप्यायो णो हो वा"—५ वि वि०—ताणं, ताहं, देवाणं, देवाहं; कम्माणं, कम्माहं; सरिताणं, सरिताहं। संख्यावाची शब्दों के लिए षष्ठी के बहुवचन में 'ण्ह' का अनुशासन लिखा—यथा पंचण्हं, तीसण्हं। दो—द्वि शब्द के प्रथमा बहुवचन में दुण्णि, विण्णि, दुवे, दो और वे वैकल्पिक रूप लिखकर प्राकृत में उत्पन्न देश-भेद को स्पष्ट किया है। चण्ड के

१. इसके संपादक हैं मुनिराज दर्शनविजय और प्रकाशक—चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला वीरमगाम (गुजरात), वि० सं० १९९२।

समय तक प्राकृत भाषा में वैभाषिक प्रवृत्तियों का विकास पर्याप्त रूप में हो चुका था। आर्येतर भाषाओं के उच्चारण एवं शब्दराशि ने संस्कृत भाषा को प्रभावित कर प्राकृत भाषाओं में अनेक रूपों का प्रादुर्भाव कर दिया था। उद्वृत्त स्वर के परे सन्धि कार्य का निषेध इस बात का सूचक है कि व्यञ्जन लोप की प्रणाली का प्रवेश हो चुका था और भाषा को सुकुमार बनाने के लिए व्यञ्जनों के स्थान पर स्वर ग्रहण करने लगे थे।

अशोक के शिलालेखों में शाहबाजगढ़ी और गिरनार की लिपि में संयुक्त वर्णों के पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर को ह्रस्व बना देने की प्रक्रिया पायी जाती है, पर यह सत्य है कि उक्त नियम का पालन सार्वजनीन रूप में नहीं किया गया है। इस प्रवृत्ति को यहाँ अनुशासन का रुप दे दिया गया है और "ह्रस्वत्व संयोगे" ६ स्वर वि० सूत्र द्वारा संयुक्ताक्षर के परे स्वरों को ह्रस्व किया है। यथा—कज्ज <कार्यम्; तिक्खं <तीक्षणम्; सिग्घो <शीघ्रम् उद्दं <ऊर्ध्वम्; सुज्जो <सूर्यः।

मध्ययुगीन प्राकृत भाषा की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ अवगत होती हैं—

१. "प्रथमस्य तृतीयः" १२ व्यञ्जनवि०, द्वारा वर्गों के प्रथमाक्षर—क्, च्, ट्, त् आदि वर्णों के स्थान पर तृतीय वर्ण का आदेश होता है। यथा—

एगं <एकम् तित्थगरो <तीर्थंकरः

पिसाजी <पिशाची श् के स्थान पर स् ध्वनि हुई है।

जडा <जटा कदं <कृतम्

पदिसिद्धं, पडिसिद्धं <प्रतिसिद्धम्—त के स्थान पर द और ड दोनों की प्रवृत्ति पायी जाती है।

"हो-ख-घ-घ-भानम्"—१३ व्यञ्जन वि० सूत्र द्वारा ख्, घ्, ध् और भ् के स्थान में ह् ध्वनि के आदेश का विधान किया है। यथा—

मुहं <मुखं मेहो <मेघः महवो <माधवः वसहो <वृषभः

"क—तृतीययोः स्वरे" ३६ व्यं० वि० सूत्र क् तथा वर्गों के तृतीय वर्णों ग्, ज, ड्, द् आदि का स्वर के परे लोप होने का अनुशासन करता है। यथा—

कोइलो <कोकिलः भोइओ <भौगिकः

राया <राजा राई <राजी नई <नदी

"यत्वमवर्णे" ३७ व्यं० वि० सूत्र के अनुसार लुप्त व्यञ्जन के परे अ होने पर यश्रुति होती है।

काया <काकाः नाया <नागाः राया <राजा

इसके अनन्तर प्राकृत की अन्य व्यवस्था को शिष्ट प्रयोगों से अवगत कर लेने का निर्देश किया है। आगे के सूत्रों में अपभ्रंश, पैशाची और मागधी का

अनुशासन एक-एक सूत्र में निहित है। अपभ्रंश के लक्षणों से संयुक्त वर्ण से रेफ का लोप न होना; पैशाची में र् और ण के स्थान पर ल् और न् का आदेश होना; मागधी में र् और स् के स्थान में ल् और श् का आदेश होना अनुशासित है।

भाषा-शास्त्रियों का मत है कि मध्ययुग में आते-आते क् आदि अघोष ध्वनियाँ ग् आदि सघोष ध्वनियों के रूप में उच्चरित होने लगी थीं। अनन्तर इनमें अल्पतर ध्वनियाँ ही शेष रह गयीं। पश्चात् उनका सर्वथा लोप हो गया तथा महाप्राण ध्वनियों के स्थान पर केवल एक शुद्ध ऊष्म ध्वनि ह् ही अवशिष्ट रह गयी। उच्चारण भिन्नता पर देश और काल का प्रभाव अवश्य पड़ता है, अतः कुछ प्राकृतों में सघोष महाप्राण ध्वनियाँ सघोष अल्पप्राण ध्वनियों के रूप में भी विकसित मिलती हैं। संक्षेप में इस व्याकरण में निम्न विशेष प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं—

१. यश्रुति—३७ व्यं० वि०

२. संयुक्त दो व्यञ्जनों को पृथक् कर उनके बीच में इष्ट स्वर का आगमन (३२ व्यं० वि०)।

३. व्यञ्जनों के लोप की प्रवृत्ति के कारण सुकुमारता का सन्निवेश।

४. सम्प्रसारण की प्रवृत्ति का विकास—फलतः यकार के स्थान पर इ और वकार के स्थान पर उ का आदेश। यथा तेरह < त्रयोदश होति < भवति (३३ व्यं० वि०)।

५. संयुक्त अक्षर का लोप होने पर अवशेष को द्वित्व होने की प्रवृत्ति। द्वितीय स्तर की प्राचीन युगीन भाषा में द्वित्ववाली प्रवृत्ति का प्रायः अभाव था। यथा—अशोक के शिलालेखों में सव < सर्व मिलता है, पर इस व्याकरण के नियम से सव्व < सर्व हो जाता है (२६ व्यं० वि०)।

६. वर्ग के द्वितीय और चतुर्थ व्यञ्जन के द्वित्व होने पर इनके स्थान में क्रमशः प्रथम तृतीय हो जाते हैं। यथा—सुक्खं < सौख्यम्, अग्घो < अर्घः सज्झो < साध्यः, पुप्फं < पुष्पम्; बुड्ढो < वृद्धः, पत्थो < पार्थः (२८ व्यं० वि०)।

७. पदादि में द्वित्व का निषेध किया है। यथा—कोहो < क्रोधः; खुद्दो < क्षुद्रः। कभी-कभी पदमध्य और पदान्त में भी द्वित्व नहीं होता है। यथा—कासवो < काश्यपः; फुडं < स्फुटं, कातव्वं < कर्त्तव्यम्; सीसौ < शीर्षः; दोहो < दीर्घः (३१ व्यं० वि०)।

८. ऐ और औ स्वर प्रथम युगीन प्राकृत में ए और ओ के रूप में परिवर्तित थे, पर मध्य युग के प्रारम्भ में ही इन दोनों सन्ध्यक्षरों का उच्चारण ह्रस्व और

दीर्घ दोनों रूपों में होने लगा था। फलतः अइ और अउ रूप भी ऐ और औ ने प्राप्त कर लिए। यथा—अइसरियं <ऐश्वर्यम्; वइरं <वैरम्; सउहं <सौधम्; मउणं <मौनम्; पउरिसं <पौरुषम् (१० व्यं० वि०, १२ व्यं० वि०)।

इस व्याकरण का दूसरा नाम 'आर्य प्राकृत' व्याकरण भी है। यह सामान्यतया प्राकृत सामान्य का स्वरूप उपस्थित करता है।

आर्ष प्राकृत व्याकरण के पश्चात् वररुचि कृत प्राकृत व्याकरण का स्थान आता है। वररुचि ने इसके नौ परिच्छेद लिखे हैं। इसमें आदर्श प्राकृत की स्वरविधि, असंयुक्त व्यञ्जन-विधि, संयुक्त व्यञ्जन-विधि, संज्ञारूप, सर्वनामरूप, क्रियारूप, धात्वादेश एवं अव्ययों का निरूपण किया गया है। अन्त में बताया गया है कि प्राकृत के शेष रूप संस्कृत के समान समझना चाहिये। इस व्याकरण में सर्वप्रथम मध्ययुग या द्वितीय युग की प्राकृत का स्वरूप पूर्णरूप से निर्धारित हुआ है। चण्ड ने अपने व्याकरण में जिन नियमों या अनुशासनों की मात्र सूचना ही दी थी, वररुचि ने उन नियमों को स्थिर और समृद्ध कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वररुचि के समय तक द्वितीय युग की प्राकृत का स्वरूप बिल्कुल निश्चित और स्थिर हो चुका था। यही कारण है कि उन्होंने प्राकृत को व्याकरण के अनुशासन द्वारा पूर्णतया निश्चित सीमा में बाँधने का प्रयास किया।

इस व्याकरण के अनुसार मध्यवर्ती क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, प्, य् और व् का प्रायः लोप होता है एवं ख्, घ्, थ्, ध्, और भ्, के स्थान पर ह् ध्वनि का आदेश होता है।

वररुचि कृत नो परिच्छेदों पर कात्यायन, भामह, वसन्तराज, सदानन्द और रामपाणिवाद की टीकाएँ उपलब्ध हैं। सन् १९२७ में उत्तरप्रदेश की सरकार द्वारा वसन्तराज की सञ्जीवनी व्याख्या एवं सदानन्दकृत सुबोधिनी टीकासहित प्राकृत प्रकाश का प्रकाशन हुआ था। जिसमें नौ के स्थान पर आठ ही परिच्छेद हैं, इसके संपादक वटुकनाथ शर्मा और बलदेव उपाध्याय ने पञ्चम और षष्ठ परिच्छेद के सूत्रों को एक साथ मिलाकर पञ्चम परिच्छेद में संग्रहीत कर दिया है तथा वररुचिकृत आठ ही परिच्छेद स्वीकार किये हैं। संभवतः इसके प्रकाशन की आधार प्रति गवर्नमेन्ट संस्कृतकालेज लाइब्रेरी की कोई पाण्डुलिपि है, जिसमें संज्ञा और सर्वनाम के अनुशासनों को सुबन्त में शामिल कर दिया गया है और मूल आठ ही परिच्छेद माने गये हैं।

आगेवाले १०वें और ११वें परिच्छेदों में क्रमशः १४ सूत्रों में पैशाची का और १७ सूत्रों में मागधी का निरूपण किया गया है। इन दोनों भाषाओं की प्रकृति शौरसेनी बतायी गयी है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इसके पूर्व शौरसेनी

का कहीं नाम भी नहीं आया है। अतएव ऐसा मालूम पड़ता है कि उक्त दोनों परिच्छेदों के रचयिता की दृष्टि में शौरसेनी प्राकृत से अभिप्राय सामान्य प्राकृत से ही है। प्राचीन समय में शौरसेनी इतनी ख्यात थी कि उसे ही सामान्य प्राकृत समझा जाता था। इन दोनों परिच्छेदों पर केवल भामह की टीका है। विद्वानों का अनुमान है कि ये दोनों परिच्छेद उन्हीं के जोड़े हुए हैं। इनमें पैशाची की विशेषता बतलाते हुए लिखा है कि शब्द के मध्य में तृतीय, चतुर्थ वर्णों के स्थान पर प्रथम, द्वितीय वर्णों का आदेश; ण के स्थान पर न्; ञ् तथा न्य से स्थान पर ञ्ञ् और स् ध्वनि के स्थान पर ण् का आदेश, ज् के स्थान पर य्, क्ष के स्थान पर स्क, अहं के स्थान पर हके, हगे और अहके का आदेश होता है। अकारान्त शब्दों में कर्त्ताकारक एकवचन में 'ए' प्रत्यय का संयोग किया जाता है।

'प्राकृत प्रकाश' का अन्तिम बारहवाँ परिच्छेद बहुत पीछे से जोड़ा गया प्रतीत होता है। इस पर भामह या अन्य किसी की टीका नहीं है। इस परिच्छेद की अवस्था बड़ी विलक्षण है। इसमें शौरसेनी के लक्षण बतलाये गये हैं और इसकी प्रकृति संस्कृत को माना गया है। अन्तिम ३२वें सूत्र में "शेषं महाराष्ट्रीवत्" द्वारा अन्य अनुशासनों को महाराष्ट्री से अवगत कर लेने को ओर संकेत है, जब कि इसके पूर्व इस ग्रन्थ में महाराष्ट्री शब्द कहीं नहीं आया और न इस भाषा का कोई अनुशासन ही इस ग्रन्थ में कहीं उल्लिखित है। अतः यह निष्कर्ष निकालना सहज है कि यह परिच्छेद उस समय जोड़ा गया है, जब यह धारणा दृढ़ हो चुकी थी कि प्राकृत काव्य की भाषा महाराष्ट्री ही होनी चाहिए; अतएव जहाँ प्राकृत का निर्देश है, वहाँ महाराष्ट्री को ही ग्रहण किया जाय। इस व्याकरण में शौरसेनी का जो स्वरूप निर्दिष्ट है, वह स्पष्टतः कभी सामान्य प्राकृत का रहा है। इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि कालक्रमानुसार शौरसेनी उक्त रूप को प्राप्तकर चुकी थी। इसी कारण सामान्य प्राकृत नाम की कोई भाषा कल्पित की जा चुकी थी, जो शौरसेनी स्वरूप से भिन्न थी। उदाहरणार्थ शौरसेनी में मध्यवर्ती त् और थ् के स्थान पर क्रमशः द् और ध् होते हैं, वहाँ प्राकृत में द् का लोप और थ् का ह् होता है। भू धातु का शौरसेनी में भी रहता है, किन्तु प्राकृत में वहाँ हो आदेश का विधान है। शौरसेनी में नपुंसक लिङ्ग बहुवचन में णि प्रत्यय जोड़कर जलाणि, वणणि जैसे रूप निष्पन्न किये जाते हैं, वहाँ प्राकृत में केवल इ रहता है, यथा—जलाइं, वणाइं आदि। शौरसेनी में दोला, दंड और दंसण का आदि द् अपने मूलरूप में ज्यों का त्यों रहता है; पर प्राकृत में यह द् 'ड्' ध्वनि के रूप में परिवर्तित हो जाती है, यथा—डोला, डंड और डंसण। इससे स्पष्ट है कि प्राकृत प्रकाश के बारहवें परिच्छेद की रचना के समय प्राकृत का अर्थ महाराष्ट्री प्राकृत

हो गया था और शौरसेनी एक पृथक् स्थान प्राप्त कर चुकी थी। यद्यपि दोनों की प्रवृत्तियों से यह स्पष्ट है कि ये दोनों एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं, तो भी वैयाकरणों ने सामान्य प्राकृत से महाराष्ट्री को ही ग्रहण किया हैं।

प्राकृत प्रकाश के पश्चात् महत्वपूर्ण कृति आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण है। इसका रचनाकाल ई० १२वीं शती है। इस व्याकरण में चार पाद हैं। इनमें से लगभग साढ़े तीन पादों में प्राकृत का सुव्यवस्थित विवरण दिया गया है और लगभग दो सौ सूत्रों में क्रमशः शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका-पैशाची और अपभ्रंश भाषाओं के विशेष लक्षण बतलाये गये हैं। हैम व्याकरण के आधार पर उक्त भाषाओं के स्वरूप एवं प्रवृतियों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है।

महाराष्ट्री प्राकृत

प्राकृत के विवेचन में रचनाशैली और विषयानुक्रम के लिए आचार्य हेम ने 'प्राकृतलक्षण' और 'प्राकृतप्रकाश' को ही आधार माना है, पर उनका विषय-विस्तार और ग्रथन-शैली बेजोड़ है। महाराष्ट्री प्राकृत की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ उल्लेख योग्य हैं। इस भाषा का व्यवहार काव्यग्रन्थों में पाया जाता है। यह श्रेष्ठ प्राकृत मानी गयी है। आचार्य हेम ने इसे सामान्य प्राकृत कहा है।

१. विजातीय – भिन्न वर्गवाले संयुक्त व्यञ्जनों का प्रयोग प्राकृत में नहीं होता। अतः प्रायः पूर्ववर्ती व्यञ्जन का लोप होकर शेष को द्वित्व कर देते है। यथा—

उक्कंठा < उत्कण्ठा, सक्को < शक्रः,

विक्लवः > विक्कवो, योग्यः > जोग्गो,

२. शब्द के अन्त में रहनेवाले हलन्त व्यञ्जन का लोप होता है। निद्, अन्तर् और दूर के अन्त्य व्यञ्जन का लोप नहीं होता। यथा—

काव < यावत्, णहं < नभस,

अन्तरप्पा < अन्तरात्मा, णिरवसेसं < निरवशेषम्,

३. विद्युत् शब्द को छोड़कर स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान सभी व्यञ्जनान्त शब्दों के अन्त्य हलन्त व्यञ्जन का आत्व होता है। यथा—

सरिया, सरिआ > सरित्, वाआ, वाया < वाक्,

पडिवया, पडिवआ < प्रतिपदा,

४. क्षुध्, ककुभ और धनुष् शब्दों में अन्तिम व्यञ्जन के स्थान पर हा या ह् आदेश होता है। यथा—

छुहा < क्षुध्, कउहा < ककुभ्, धणुहं < धनुष्,

५. जिन श्, ष् और स् से पूर्व अथवा पर में रहनेवाले य्, र्, व्, श्, ष् और स वर्णों का प्राकृत के नियमानुसार लोप हुआ हो, उन शकार, षकार और सकार के आदि स्वर का दीर्घ होता है। यथा—

पासइ—पस्सइ < पश्यति, कासवो—कस्सवो < काश्यपः

संफासो—संफस्सो < संस्पर्शः वीसासो—विस्सासो < विश्वासः

६. समृद्ध्यादि गण के शब्दों में आदि अकार को विकल्प से दीर्घ होता है। यथा—

सामिद्धी, समिद्धी < समृद्धिः, पाअडं, पअडं < प्रकटम्,

पासिद्धी, पसिद्धी < प्रसिद्धिः,

७. स्वप्न आदि शब्दों में आदि अकार को इकार होता है। यथा—

सिविणो, सिमिणो, सुमिणो < स्वप्नः, इति < ईषत्

विअणं < व्यञ्जनम्, मिरिअं < मरिचम्,

८. सामासिक पदों में ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व होता है। यथा—

अन्तावेई < अन्तर्वेदिः, सत्तावीसा < सप्तविंशति,

पईहरं, पइहरं < पतिगृम्, नइसोत्तं > नदीस्रोतम्,

९. किसी स्वर वर्ण के परे रहने पर उसके पूर्व के स्वर का विकल्प से लोप होता है। यथा—

तिअसीसी < त्रिदश + ईशः, राउलं < राजकुलम्,

गइंद < गज + इन्द्रः,

१०. कितने ही शब्दों में प्रयोगानुसार पहले, दूसरे या तीसरे वर्ण पर अनुस्वार का आगम होता है। यथा—

अंसुं, अंसु < अश्रु, तंस, तंसं < त्र्यस्कम्,

वंक, वंकं < वक्रम्, फसो, फंसो < स्पर्शः,

११. पद के परे आये हुए अपि अव्यय के अ का लोप विकल्प से होता है। लोप होने के बाद अपि का प यदि स्वर से परे हो तो उसका व हो जाता है। यथा—

केणवि, केणावि < केनापि, कहंपि, कहमवि < कथमपि,

१२. पद के उत्तर में आनेवाले इति अव्यय के आदि इकार का विकल्प से लोप होता है और स्वर के परे रहनेवाले तकार को द्वित्व होता है। यथा—

किंति—किं-इति < किमिति, दिट्ठंति—दिट्ठं-इति < दृष्टमिति,

१३. संयोग से अव्यवहित पूर्ववर्ती दीर्घ का कभी-कभी ह्रस्व रूप हो जाता है। यथा—

अंबं <आम्रम्, विरहग्गी <विरहाग्निः तित्थं <तीर्थम्,

१४. आदि इकार का संयोग के परे रहने पर विकल्प से एकार होता हैं।
पेण्डं, पिण्डं <पिण्डम्, सेंदूर, सिंदूरं <सिन्दूरम्,

१५. पथि, पृथिवी, प्रतिश्रुत्, मूषिक, हरिद्रा और विभीतक में आदि इकार के स्थान पर होता है। यथा—
पहो <पथि, पुहई, पुढवी <पृथिवी,

१६. बदर शब्द में दकार सहित अकार के स्थान पर ओकार और लवण तथा नवमल्लिका शब्द में वकार सहित आदि अकार को ओकार होता है। यथा—
बोरं <बदरम्, लोणं <लवणम्,
णोमल्लिआ <नवमल्लिका

१७. ऋ के स्थान में भिन्न-भिन्न स्वर एवं रि का आदेश होता है। यथा—
तण <तृण, किवा <कृपा,
माइ, माउ <मातृ, मुसा, मुसा, मोसा <मृषा,
रिद्धिः <ऋद्धिः, सरिस <सदृश,

१८. लृ के स्थान में इलि होता है। यथा—
किलित्त <क्लृप्त,

१९. ऐ के स्थान पर ए और अइ तथा औ के स्थान पर ओ और अउ पाये जाते हैं। यथा—
सेलो <शैलः, केलासो, कइलासो <कैलाशः,
गोडो, गउडो <गौडः, सउहो <सौधः,

२०. स्वरों के मध्यवर्ती क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, य् और व् का प्रायः लोप होता है। यथा—
लोआ <लोकः, सई <शची,
गआ <गदा, जई <यता

२१. स्वरों के मध्यवर्ती ख्, घ्, थ्, ध् और भ् के स्थान में ह् होता है। यथा—
साहा <शाखा, णाहो <नाथः
साहु <साधुः, सहा <सभा

२२. स्वरों के बीच में ट् का ड् और ठ् का ढ् होता है। यथा—
भडो <भटा, घडो >घटः
मढो <मठः, पढइ <पठति

२३. स्वरों के मायवर्ती त् का अनेक स्थलों में ड् होता है। यथा—
पडिहास < प्रतिभास, पडाआ < पताका

२४. न् के स्थान पर सर्वत्र ण् होता है। यथा—
कणाओ < कनकः, णरो < नरः वअणं > वचनं

२५. दो स्वरों के मध्यवर्ती प् का कहीं-कहीं व् और कहीं-कहीं लोप होता है। यथा—

सवहो < शपथः, सावो < शापः, उवसग्गो < उपसर्गः
कइ < कपिः

२६. आदि के य् के स्थान पर ज् होता है। यथा—
जम < यम, जाइ < याति

२७ कृदन्त के अनीय और य प्रत्यय के य का ज्ज होता है। यथा—
पेज्जं < पेयम्, करणिज्जं < करणीयम्

२८. अनेक स्थानों पर र् का ल् होता है। यथा—
हलिद्दा < हरिद्रा, दलिद्दो < दरिद्रः
इंगालो < अंगारः

२९. श् और ष् का सर्वत्र स् होता है। यथा—
सद्दो < शब्दः पुरिसो < पुरुषः, तेसो < शेषः

३०. क्ष के स्थान में प्रायः ख और कहीं-कहीं छ और झ होते हैं। यथा—
खयो < क्षयः लक्खणो < लक्षणः, छीणो, झीणो < क्षीणः

३१. द्य और र्य का ज्ज होता है। यथा—
मज्जं < मद्यं, कज्जं < कार्यम्

३२. ध्य और ह्य का झ होता है। यथा—
झाणं < ध्यानम्, सज्झं < साध्यम्, सज्झं < सह्यम्

३३. र्त के स्थान में ट, ष्ट के स्थान पर ठ, म्न के स्थान में ण, ज्ञ के स्थान में ण् और ज् एवं स्त के स्थान में थ होता है। यथा—
णट्टई < नर्तकी, पुट्ठो < पृष्टः
इट्ठं < इष्टम्
पज्जुण्णो < प्रद्युम्नः, इत्थं < स्तोत्रम्

३४. ष्प् और स्प् के स्थान में फ आदेश होता है। यथा—
पुप्फं < पुष्पम्, फंदणं < स्पन्दनम्

३५. संयोग में पूर्ववर्ती क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, प्, श्, ष् और स् का लोप होता है। और अवशेष को द्वित्व कर देते हैं। यथा—

उप्पलं < उत्पलं, सुत्तो < सुप्तः

णिच्चलो < निश्चल;

३६. अकारान्त पुंलिङ्ग में एकवचन में ओ प्रत्यय होता है; पञ्चमी के एकवचन में त्तो, ओ, उ, हि और विभक्ति चिह्न का लोप भी होता है तथा पञ्चमी के बहुवचन में एकवचन सम्बन्धी प्रत्ययों के अतिरिक्त हिन्तो और सुंतो प्रत्यय भी जोड़े जाते हैं। यथा—

जिणो < जिनः,

जिणात्तो, जिणाओ, जिणाउ, जिणहि, जिणा < जिनात्

३७. परस्मैपद और आत्मनेपद का विभाग नहीं है, प्राकृत में सभी धातु उभयपदी की तरह हैं। ति और ते के त का लोप होता है। यथा—

हसइ < हसति, रमइ, रमए < रमते

३८. भविष्यत्काल के प्रत्ययों के पहले 'हि' होता है। यथा—

हसिहिइ < हसिष्यति, करिहिइ < करिष्यति

३९. वर्तमाकालिक, भविष्यत्कालिक, विधिलिङ्ग और आज्ञार्थक प्रत्ययों के स्थान में ज्ज और ज्जा प्रत्यय भी होते हैं। यथा—

हसेज्ज, हसेज्जा < हसति, हसिष्यति, हसेत्, हसतु

४०. भाव और कर्म में ईअ और इज्ज प्रत्यय होते हैं। यथा—

हसीअइ, हसिज्जइ < हस्यते

४१. क्त्वा प्रत्यय के स्थान में तुम्, तूण, अ, तुआण और त्ता प्रत्यय होते हैं। यथा—

पढ़िउं, पढिअ, पढिउआण, पढिता < पठित्वा

४२. शीलाद्यर्थक तृ प्रत्यय के स्थान में इर होता है। यथा—

गमिरो < गमनशीलः, खमिरो < नमनशीलः

४३. तद्धित त्व प्रत्यय के स्थान में त्त और त्तण होते हैं। यथा—

देवत्तं, देवत्तणं < देवत्वम्

शौरसेनी का व्यवहार नाटकों में हुआ है, अतः इसे नाटकीय शौरसेनी भी कहा जा सकता है। संस्कृत नाटकों में स्त्रीपात्र और विदूषक इसका प्रयोग करते थे। मध्यदेश की भाषा होने के कारण यह संस्कृत के बहुत समीप है। इस पर संस्कृत का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहा है। आचार्य के अनुसार निम्न विशेषताएँ हैं—

शौरसेनी

१. शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत है, इसमें अनादि में वर्तमान त् का द् और थ् को ध् होता है। यथा—

आगदो < आगतः, कधेदु < कथयतु

(क) संयुक्त होने पर त् का द् नहीं होता। यथा—

अज्जउत्त और सउन्तले में त् ध्वनि का द् ध्वनि के रूप में परिवर्तन नहीं हुआ है।

(ख) आदि में रहने पर भी त् का द् नहीं होता। यथा—

'तधाकरेध जधा तस्स राइणो अणुकंम्पणोआ भोमि' में तधा और तस्स के तकारों को दकार नहीं हुआ।

(ग) कहीं-कहीं वर्णान्तर के अधः—अनन्तर वर्तमान त् का द् होता है। यथा—

महन्दो < महान्तः, निच्चिंदो < निश्चिन्तः

अंदे-उरं < अन्तःपुरम्

(घ) तावत् के आदि तकार को विकल्प से दकार होता है। यथा—

ताव, ताव < तावत्, कधं < कथम्

कधिदं < कथितम्, राजपधो, राजपहो < राजपथः

२. इन्नन्क शब्दों के सम्बोधन के एकवचन में विकल्प से इनके नकार को आकार होता है। यथा—

भो कञ्चुइआ < भी कञ्चुकिन्, सुहिआ < सुखिन्

३. नकारान्त शब्दों में सम्बोधन एकवचन में विकल्प से न् स्थान पर अनुस्वार होता है। यथा—

भो रायं < भो राजन्, भो विअयवमं < भो विजयवर्मन्

४. भवत् और भगवत् शब्दों में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में नकार के स्थान पर अनुस्वार हो जाता है। यथा—

एदु भवं, समणो भगवं महावीरो

५. र्य के स्थान पर विकल्प से य्य आदेश होता है और विकल्पाभाव में ज्ज आदेश होता है। यथा—

अय्यउत्तो, अज्जउत्तो < आर्यपुत्रः

कय्यं, कज्जं < कार्यम्

सुय्यो, सुज्जो < सूर्यः

६. संयुक्त व्यञ्जनों में से एक का तिरोभाव कर पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ करने की प्रवृत्ति शौरसेनी में अधिक नहीं है।

७. शौरसेनी में इह और ह्य आदेश के हकार के स्थान पर विकल्प से ध होता है। यथा—

इध < इह, होध, होह < भवथ, परित्तायध, परित्तायह < परित्रायध्व

८. क्ष के स्थान पर क्ख होता है। यथा—

चक्खु < चक्षु कुक्खि < कुक्षिः, इक्खु < इक्षुः

९. भू धातु के भकार को विकल्प से हकार आदेश होता है। यथा—

भोदि, होदि < भवति

१०. पूर्व शब्द के स्थान पर विकल्प से पुरव, इदानीम् के स्थान पर दाणि, और तस्मात् के स्थान पर ता आदेश होता है। यथा —

अपुरवं नाटचं < अपूर्वं नाटकम्

अपुरवागदं, अपुव्वागदं < अपूर्वागतम्

अनन्तरं करणीयं दाणि आणेवदु अय्यो < अनन्तरं करणीयमिदानीमाज्ञापयतु आर्यः। ता जाव पविसामि < तस्मात् तावत् प्रविशामि।

ता अलं एदिणा माणेण < तस्मात् अलं एतेन मानेन।

११. इत् और एत् के पर में रहने पर अन्त्य मकार के आगे विकल्प से णकार का आगम होता है। यथा—

जुत्तं णिमं, जुत्तमिमं < युक्तमिदम्

सरिसं णिमं, सरिसमिमं < सदृसमिदम्

१२. शौरसेनी में एव के अर्थ में य्येव का, चेटी के आह्वान अर्थ में हञ्जे का, विस्मय और निर्वेद अर्थों में हीमाणहे का, ननु अर्थ में णं का, हर्ष व्यक्त करने के अर्थ में अम्महे का एवं विदूषक के हर्ष द्योतन में हीही का निपात होता है। यथा—

हीमाणहे जीवन्तवच्छा में जणणी—विस्मय अर्थ में।

हीमाणहे पलिस्सन्ता हगे एदेण नियविधिको दुव्ववसिदेण- निर्वेद में।

णं अफलोदया, णं भवं में अग्गदो चलदि—ननु अर्थ में णं का निपात।

अम्महे एआए सुम्मिलाए सुपलिगढिदो भवं—हर्ष प्रकट करने में अम्महे का।

हीही भो संपन्न मणोरधा पियवयस्स—विदूषक के हर्ष द्योतन में हीही का।

१३. व्यापृत शब्द के त् को तथा क्वचित् पुत्र शब्द के त् को ड् होता है। यथा—

बावडो < व्यप्दृत, पुडो, पुत्तो < पुत्रः

१४. गृध्र जैसे शब्दों के ऋकार के स्थान पर इकार होता है। यथा—

गिद्धो < गृद्धः

१५ ब्राह्मण्य, विज्ञ, यज्ञ और कन्या शब्दों के ण्य, ज्ञ और न्य के स्थान में विकल्प से ञ्ञ आदेश होता है। यथा—

बम्हञ्ञो <ब्राह्मण्यः—विकल्पाभाव में बम्हणो होता है।

विञ्ञो <विज्ञ—विकल्पाभाव में विण्णो रूप होता है।

जञ्ञो <यज्ञः—विकल्पाभाव में जण्णो रूप होता है।

कञ्ञो <कन्या—विकल्पाभाव में कण्णा रूप होता है।

१६. स्त्री शब्द के स्थान पर इत्थी, इव के स्थान पर विअ, एव के स्थान पर जेव्व और आश्चर्य के स्थान पर अच्चरिअं का आदेश होता है। यथा—

इत्थी <स्त्री, विअ <इव, जेव्व <एव

अहह अच्चरिअं अच्चरिअं <अहह आश्चर्यमाश्चर्यम्

१७. पञ्चमी एकवचन में आदो और आदु प्रत्यय होते हैं। संज्ञा और सर्वनाम शब्दों से पर में आनेवाली सप्तमी एकवचन की ङि विभक्ति के स्थान में सि, म्मि आदेश होते हैं। जस् सहित अस्मद् के स्थान में वयं और अम्हे ये दोनों रूप होते हैं। यथा—

वीरादो, वीरादु <वीरात्, वीरंसि, वीरम्मि <वीरे

१८. क्रियारूपों में ति के स्थान पर दि और ते के स्थान पर दे, दि आदेश होते हैं। भविष्यत् अर्थ में विहित प्रत्यय के पर में रहने पर स्सि होता है। यथा—

हसदि, हसिदे <हसति, भणिस्सिदि, भणेस्सिदि <भणिष्यति

१९. विधि (Optative) के रूप में संस्कृत के समान बनते हैं। यथा—

वट्टे <वर्तेत

२०. य प्रत्यय का प्रतिरूप ईअ हो जाता है। यथा—

पुच्छीअदि <पुच्छ्यते, गच्छीअदि <गम्यते

२१. कृञ् धातु के स्थान पर कर, स्था के स्थान पर चिट्ठ, स्मृ के स्थान पर सुमर, दृश् के स्थान पर पेक्ख और अस् के स्थान पर अच्छ आदेश होता है।

२२. क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर इय, दूण और त्ता प्रत्यय होते हैं। यथा—
हविय, भविय <भूत्वा, पढिय <पठित्वा, भोदूण, होदूण <भूत्वा

भोत्ता, होत्ता <भूत्वा

२३. कृ और गम् धातुओं से पर में आनेवाले क्त्वा प्रत्यय के स्थान में कडुअ और गडुअ आदेश होते हैं और धातु के रि का लोप होता है। यथा—

कडुआ <कृत्वा, गडुअ <गत्वा

करिय < कृत्वा—विकल्पाभाव पक्ष में

करित्ता < कृत्वा

मागधी

मागधी—मगध की भाषा थी। प्राच्यदेश की लोकभाषा होने के कारण इसमें अन्य लोकभाषाओं की अपेक्षा अधिक वर्ण विकार आदि विकसित हैं। संस्कृत नाटकों में निम्न श्रेणी के पात्रों द्वारा इसका व्यवहार किया गया है। हैम के अनुसार प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं।

१. मागधी की प्रकृति शौरसेनी है। इसमें अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा के एकवचन में एकारान्त रूप होते हैं। यथा—

एशे मेशे < एष मेषः, एष मेषः, ऐशे पुलिशे < एष पुरिषः,

करोमि भन्ते < करोमि भदन्तः,

२. मागधी में रेफ के स्थान पर लकार और दन्त्य सकार के स्थान पर तालव्य शकार होता है। यथा—

नले < नरः, कले < करः,

विआले < विचारः, हंशे < हंसः,

शालशे < सारसः, शुदं < श्रुतम्, शोभणं < शोभनम्,

३. मागधी में यदि सकार और षकार अलग-अलग संयुक्त हों तो उनके स्थान में स होता है, पर ग्रीष्म शब्द में उक्त आदेश नहीं होता है। यथा—

पक्खलदि हस्ती < प्रस्खलति हस्ती—यहाँ स् और त् संयुक्त हैं, अतः स् के स्थान पर श् नहीं हुआ।

बुहस्सदी < बृहस्पतिः—संयुक्त स् को श् नहीं हुआ।

मस्कली < मस्करी— ,, ,,

शुस्कदालुं < शुष्कदारुं—ष् और क् संयुक्त हैं, अतः मूर्धन्य ष ध्वनि के स्थान पर श् ध्वनि नहीं हुई, बल्कि उनके स्थान पर स् ध्वनि हुई है।

कस्टं < कष्टं—संयुक्त होने से ष् के स्थान पर दन्त्य स् हुआ है।

विस्नुं < विष्णुम्— ,, ,, ,,

निस्फलं < निष्फलम्— ,, ,, ,,

धनुस्खंडं < धनुष्खण्डम्—,, ,, ,,

गम्हिवाशले < ग्रीष्मवासरः—ग्रीष्म शब्द में उक्त नियम लागू नहीं होता।

४. द्विरुक्त ट (ट्ट) और षकार से युक्त ठकार के स्थान पर मागधी में स्ट आदेश होता है। यथा—

पस्टे < पट्ट —ट्ट के स्थान पर स्ट

भस्टालिका—भट्टारिका

शुस्टुकदं < सुष्ठुकृतम्—ष्ठु के स्थान पर स्टु, ऋकार को अ, त् को द् ।
कोस्टागालं < कोष्ठागारम्—ष्ठ् को स्ट्, रेफ को ल ।

५. स्थ और र्थ इन दोनों वर्णों के स्थान पर मागधी में सकार से संयुक्त तकार होता है। यथा—

उवस्तिदे < उपस्थितः—प् को व्, स्थि को स्ति, त् को द् और एत्व ।
शुस्तिदे < सुस्थितः, अस्तवदो < अर्थवती
शस्तवाहे < सार्थवाह,

६. मागधी में ज्, ध् और य् के स्थान में य् आदेश होता है। यथा—

यणवदे < जनपदः, अय्युणे < अर्जुन याणादि < जानादि
गय्यिदे < गर्जिते, वय्यिदे < वर्जितः

७. मागधी में न्य, ण्य, ज्ञ और इन संयुक्ताक्षरों के स्थान पर द्विरुक्त ञ्ञ होता है। यथा—

अहिमञ्ञुकुमाले < अभिमन्युकुमारः
कञ्ञकावलणं < कन्यकावरणम्, अबह्मञ्जं < अब्रह्मण्यम्, पुञ्ञाहं < पुण्याहम्,
सव्वञ्ञे < सर्वज्ञ, अञ्ञलो < अञ्जलिः

८. मागधी में अनादि वर्तमान छ के स्थान में शकार युक्त च (श्च) होता है। यथा—

गश्च < गच्छ, उश्चलदि < उच्छलति
तिरश्चि पेस्कदि < तिर्यक् प्रेक्षते

९. मागधी में अनादि वर्तमान क्ष के स्थान पर जिह्वमूलीय ≍ क आदेश होता है। यथा—

ल ≍ कशे < राक्षसः

१०. मागधी में प्रेक्ष और आचक्ष के स्थान पर स्क आदेश होता है। यथा—

पेस्कदि < प्रेक्षते

११. हृदय शब्द के स्थान पर हडक्क आदेश होता है। यथा—

हडक्के आलले मम < हृदये आदरी मम

१२. मागधी में अस्मद् शब्द को प्रथमा एकवचन में हके, हगे और अहके ये तीन आदेश होते हैं। यथा—

हके, हगे, अहके भणामि < अहं भणामि ।

१३. मागधी में शृगाल शब्द के स्थान पर शिआल और शिआलक आदेश होते हैं। यथा—

शिआले आअच्छदि, शिआलके आअच्छदि < शृगाल आगच्छति ।

१४. मागधी में अवर्ण से पर में आनेवाले ङस् षष्ठी के एकवचन के स्थान में विकल्प से आह आदेश होता है। आह के पूर्ववर्ती टि का लोप होता है। यथा—

हगे न ईदिशाह कम्माह काली < अहं न ईदृशस्थ कर्मणः कारी ।

१५. मागधी में अवर्ण से परे विद्यमान आम् के स्थान में विकल्प से आहँ आदेश होता है और पूर्व के टि का लोप हो जाता है । यथा—

आहँ < येषाम्

१६. मागधी में अहम् और वयं के स्थान पर हगे आदेश होता है । यथा—

हगे शक्कावदालतिस्वणिवासी धीवले < अहं शक्रावतारतीर्थनिवासी धीवरः ।

१७. मागधी में अकारान्त शब्दों को सु पर रहते इ, ए होते हैं और सु का लोप होता है । यथा—

एशि लाआ < एष राजा

एशे पुलिशे < एष पुरुष

१८. मागधी के धातुरूप शौरसेनी के समान ही होते हैं, पर धातुओं में वर्ण परिवर्तन मागधी की प्रवृत्तियों के अनुसार हैं ।

पैशाची

पैशाची एक बहुत प्राचीन प्राकृत है। इसकी गणना पालि, अर्धमागधी और शिलालेखी प्राकृतों के साथ की जाती है। चीनी तुर्किस्तान के खरोष्ट्री शिलालेखों में तथा कुवलयमाला में पैशाची की विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। डॉ० जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार पैशाची का रूप पालि में सुरक्षित है। पैशाची की अनेक प्रवृत्तियाँ आर्य-भाषाओं के विभिन्न रूपों के साथ मिश्रित हैं।

पैशाची की प्रकृति शौरसेनी है। मार्कण्डेय ने पैशाची भाषा को कैकय, शौरसेन और पाञ्चाल इन तीन भेदों में विभक्त किया है। अतः सिद्ध होता है कि पैशाची भाषा पाण्ड्य, काञ्ची और कैकय आदि प्रदेशों में बोली जाती थी। अब यहाँ यह आशंका उत्पन्न होती है कि इतने दूरवर्ती इन तीनों प्रदेशों में एक ही भाषा का व्यवहार क्यों और कैसे होता था ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि पैशाची भाषा एक जाति विशेष की भाषा थी। यह जाति जिस-जिस स्थान पर गयी, उस स्थान पर अपनी भाषा को भी लेती गयी। अनुमान है कि यह कैकय देश में उत्पन्न हुई और बाद में उसी के समीपस्थ शूरसेन और पञ्जाब तक फैल गयी। हार्नले का मत है कि पैशाची द्राविड भाषा परिवार से उत्पन्न हुई थी, अतः इसका मूलस्थान विन्ध्य के दक्षिण में होना चाहिए।

यह मान्यता पैशाची में गुणाढ्य की रचना रहने के कारण उत्पन्न हुई है। कीथ का भी यही मत है। यह सत्य है कि पञ्जाब, सिन्ध, विलोचिस्तान और कश्मीर की भाषाओं पर इसका प्रभाव आज भी लक्षित होता है। डॉ० सर जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार पैशाची का आदिम स्थान उत्तर-पश्चिम पञ्जाब अथवा अफगानिस्तान प्रान्त है। यहीं से इस भाषा का विस्तार अन्यत्र हुआ है। इनकी यह भी मान्यता है कि पिशाच, शक और यवनों के मेल की एक जाति थी, जिसका निवासस्थान संभवतः भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में रहा है, उन्हीं की बोली का आधार पैशाची प्राकृत है। एक यह भी बात है कि पैशाची में अधिकांश लक्षण उसी प्रदेश की भाषाओं के पाये जाते हैं।

वाग्भट्ट ने पैशाची को भूतभाषा कहा है। पिशाच नाम की एक जाति प्राचीन भारत में निवास करती थी। उसीकी भाषा को पैशाची कहा गया है। देशभेद से पैशाची का स्थान उत्तर-पश्चिम प्रदेश है। पैशाची की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

१. पैशाची में आदि में न रहने पर, वर्गों के तृतीय और चतुर्थ वर्णों के स्थान पर उसी वर्ग के क्रमशः प्रथम और द्वितीय वर्ण हो जाते हैं। यथा—

गकनं < गगनम् < ग के स्थान पर क

मेखो < मेघः—कवर्ग के चतुर्थ वर्ण घ के स्थान पर उसी वर्ग का द्वितीय वर्ण ख हुआ है।

राचा < राजा—तृतीय वर्ण ज के स्थान पर च।

णिच्छरो < णिज्झरो < निर्झरः—ज्झ के स्थान पर च्छ।

दसवतनो < दशवदनो < दशवदनः—मध्यवर्ती के स्थान पर त।

सलफो < सलभो < शलभ—भ के स्थान पर फ।

२. पैशाची में ज्ञ के स्थान पर ञ्ञ आदेश होता है। यथा—

पञ्ञा < प्रज्ञा, सञ्ञा < संज्ञा

सव्वञ्ञो < सर्वज्ञः, विञ्ञानं < विज्ञानम्

३. राजन् शब्दों के रूपों में जहाँ-जहाँ ज्ञ रहता है, वहाँ-वहाँ ज्ञ के स्थान में विकल्प से चिञ् आदेश होता है। यथा—

राचिञो धनं < रञ्ञो धनं < राज्ञो धनम्

४. पैशाची में न्य और ण्य के स्थान में ञ्ञ आदेश होता है। यथा—

कञ्ञका < कन्यका

अभिमञ्ञू < अभिमन्युः

५. पैशाची में णकार का नकार होता है। यथा—

गुनगनयुत्तो < गुणगणयुक्तः—शौरसेनी के ण के स्थान पर न ।
गुनेन < गुणेन— ,, ,,

६. पैशाची में तकार और दकार के स्थान में तकार हो जाता है । यथा—
भगवती < भगवती—त अपने रूप में स्थित है ।
पव्वती < पार्वती— ,, ,,
मतनपरवसो < मदनपरवशः—द के स्थान पर त आदेश हुआ है ।
सतनं < सदनम्— ,, ,,
तामोतरो < दामोदरः— ,, ,,
होतु < होदु—शौरसेनी के द के स्थान पर त हुआ है ।

७. पैशाची में ल के स्थान पर ळकार होता है । यथा—
सळिकं < सलिलम्, कमळं < कमलम्

८. पैशाची में श और ष के स्थान पर स आदेश होता है ।—
सोभति < शोभते—श के स्थान पर स ।
सोभनं < शोभनं— ,,
ससी—शसि— ,, ,,
कञ्ञका < कन्यका
अभिमञ्ञू < अभिमन्युः
विसमो < विषमः—ष के स्थान पर स ।

९. पैशाची में हृदय शब्द के यकार के स्थान में पकार हो जाता है । यथा—
हितपकं < हृदयकम्—द के स्थान पर त और य के स्थान पर प ।

१०. टु के स्थान पर विकल्प से तु आदेश होता है । यथा—
कुतुम्बकं < कुटुम्बकम्—

११. कहीं-कहीं र्य, स्न, और ष्ट के स्थान में रिय, सिन और सट आदेश होते हैं । यथा—
भारिया < भार्या—र्, य् का पृथक्करण और इ स्वर का आगम ।
कसतं < कष्टम्—

१२. यादृश, तादृश आदि के दृ के स्थान पर ति आदेश होता है । यथा—
यातिसो > यादृशः, तातिसो < तादृशः, भवातिसो < भवादृशः
युम्हातिसो < युष्मादृशः

१३. पैशाची में शौरसेनी ज्ज के स्थान पर च्च आदेश होता है । यथा—
कच्चं < कज्जं कार्यम्—शौरसेनी के ज्ज के स्थान पर च्च ।

१४. शौरसेनी का सुज्ज शब्द यहाँ ज्यों का त्यों रहता है। यथा—

सुज्जो <सूर्यः

१५. पैशाची में स्वरों के मध्यवर्ती क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, य् और व् का लोप नहीं होता। यह प्रवृत्ति प्राचीन प्राकृत की है।

ळोक <लोक, इंगार <अंगार, शपथ <शपथ

१५. पैशाची में ख् भ् और थ् ध्वनि के स्थान पर ह् नहीं होता। यथा—

साखा <शाखा, पतिभास <प्रतिभास

१७. पैशाची में ट के स्थान पर ड और ठ के स्थान पर ढ नहीं होता। यथा—

भट <भट, मठ <मठ

१८. रेफ के स्थान पर ल और ह के स्थान पर घ नहीं होता। यथा—

गरुड <गरुड—रेफ के स्थान में ल नहीं हुआ।

दाह <दाह—ह के स्थान से घ नहीं हुआ।

१९. शब्दों रूपों में पञ्चमी के एकवचन में आतो और आतु प्रत्यय होते हैं। यथा—

जिनातु, जिनातो <जिनात्

२०. पैशाची में तद् और इदम् शब्दों में टा प्रत्यय सहित पुल्लिङ्ग में नेन और स्त्रीलिङ्ग में नाए आदेश होते हैं। यथा—

नेन कितसिनानेन <तेन कृतस्नानेन

पूजितो च नाए <पूजितश्चानया

२१. क्रियारूपों में पैशाची में दि और दे के स्थान पर ति और ते प्रत्यय होते हैं।

२२. पैशाची में भविष्यत्काल में स्सि, प्रत्यय के स्थान पर एय्य प्रत्यय जोड़ा जाता है। यथा—

तं तद्धून चिन्तितं रञ्ञा का एसा हुवेय्य <तां दृष्ट्वा चिन्तितं राज्ञा का एषा भविष्यति।

२३. पैशाची में भाव और कर्म में ईअ तथा इज्ज के स्थान में इय्य प्रत्यय होता है।

गिय्यते <गीयते, रमिय्यते <रम्यते

२४. क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर पैशाची में तून, त्थून और द्धून प्रत्यय होते हैं। यथा—

पठित्तून <पठित्वा, गन्तून <गत्वा

नद्दून, नत्थून <नष्ट्वा, तत्थून, तद्दूनदृष्ट्वा

चूलिका पैशाची

चूलिका पैशाची पैशाची का ही एक भेद है। इसका सम्बन्ध सम्भवतः 'शूलिग्' अर्थात् काशगर से माना जाय तो अनुचित न होगा। उस प्रदेश के समीपवर्ती चीनी, तुर्किस्तान से मिले लुए पट्टीकालेखों में इसकी विशेषताएँ पायी जाती हैं। चूलिका पैशाची के कुछ उदाहरण हेमचन्द्र के कुमारपाल और जयसिंह सूरि के हम्मीर-मर्दन नामक नाटक तथा षड्भाषा स्तोत्रों में पाये जाते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के अतिरिक्त षड्भाषा चन्द्रिका के रचयिता पं० लक्ष्मीधर ने इसे स्वतन्त्र भाषा मानकर अनुशासन लिखा है। इसकी ध्वनि परिवर्तन सम्बन्धी निम्न विशेषताएँ हैं—

१. चूलिका पैशाची में र् के स्थान में विकल्प से ल् होता है। यथा—

गोली <गोरो, चलन <चरण,

लुद्द <रुद्र, लाचा <राजा,

लामो <रामो, हलं <हरम,

२. चूलिका पैशाची में पैशाची के समान ही वर्ग के तृतीय और चतुर्थ वर्णों के स्थान पर प्रथम और द्वितीय वर्ण होते हैं। यथा—

मक्कनो <मार्गणः ग् के स्थान पर क्; संयुक्त रेफ का लोप होने से क् को द्वित्व—

नको <नगः—ग् के स्थान पर क्

मेखो <मेघः—घ् ध्वनि के स्थान पर ख्।

वखो <व्याघ्र.—संयुक्त य् का लोप, संयुक्त रेफ का लोप, घ् को ख।

चीमूतो <जीमूतः—ज् ध्वनि के स्थान पर च् ध्वनि। यह पैशाची रूप है।

छलो <झरः—झ् ध्वनि को छ् और र् को ल्।

तटाकं <तडागम्—ड् ध्वनि को ट् तथा ग् को क्।

टमलुको <डमरुकः—ड् ध्वनि को ट्; र् ध्वनि को ख्।

ठक्का <ढक्का—ढ् ध्वनि को ठ्

तामोतलो <दामोदरः—द ध्वनि के स्थान पर त् और रेफ को ल्।

मथुलो <मधुरः—ध् को थ् और रेफ को ल्

थाला <धाराः— ,, ,,

पालो <बालः—ब् के स्थान पर प्।

लफसो <रभसः—रेफ के स्थान ल् और भ के स्थान पर फ्।

फकवती <भगवती—भ् के स्थान पर फ्।

चलनग्ग <चरणाग्र—रेफ को ल्, ण, को न्।

३. कूलिका पैशाची में तृतीय और चतुर्थ वर्ण जब शब्द के आदि में आते हैं तो उक्त नियम लागू नहीं होता। यथा—

गति < गतिः—हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती आचार्यों के मत से ग् के स्थान पर क् नहीं हुआ।

धम्मो < धर्मः—ध के स्थान पर थ् नहीं हुआ।

धनो < धनः—घ के स्थान पर ख् नहीं हुआ।

जनो < जनः—ज् के स्थान पर च नहीं हुआ।

नियोजितं < नियोजितम्—युज् धातु में भी उक्त नियम नहीं लगा।

झल्लरी < झल्लरी—प्राचीनों के मत से झ के स्थान पर छ् नहीं हुआ।

४. शब्दरूप और धातुरूप चूलिका पैशाची में पैशाची के समान ही होते हैं, परन्तु ध्वनि परिवर्तन के नियमों का प्रयोग कर लेना आवश्यक है। यथा—

फोति < भवति—भ् को फ् हुआ है।

फवते < भवते— ,, ,,

फवति < भवति—,, ,,

फोइय्य < भोइय्य

इन प्रधान प्राकृतों के अतिरिक्त नाटकों में जहाँ-तहाँ अन्य प्राकृतों के अवतरण एवं व्याकरणों में उनके कुछ लक्षण पाये जाते हैं। मृच्छकटिक में

अन्य प्राकृत

शाकारी ढक्की तथा अन्यत्र शाबरी और चाण्डाली पायी जाती हैं। मार्कण्डेय ने प्राकृत के चार भेद किये हैं—भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाची। भाषाओं के महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी ये पाँच भेद बतलाये हैं तथा विभाषाओं के शाकारी, चाण्डाली, शाबरी आभीरिका एवं शाकारी ये पाँच भेद हैं। अपभ्रंश के २७ भेद और पैशाची के कैकेयी, शौरसेनी एवं पञ्चाली ये तीन भेद किये हैं।

इनमें शाकारी मागधी की एक बोली है। मार्कण्डेय ने "मागध्याः शाकारी साध्यतीति शेष." लिखा है। शाकारी में तालव्य वर्णों से पहले य बोलने का प्रचलन था अर्थात् संस्कृत तिष्ठ के स्थान पर यचिष्ठ बोला जाता था। इस य का उच्चारण इतने हलके रूप में होता था, जिससे कविता में इसकी मात्रा गिनी नहीं

---

१. नादि-युज्योरन्येषाम्-४।३२७—चूलिकापैशाचिकेऽपि अन्येषामाचार्यणां मतेन तृतीयतुर्ययोरादौ वर्तमानयोर्युजिधातौ च आद्यद्वितीयौ न भवतः। हेम० तथा अन्येषामादियुजि न ३।२।६६—चूलिकापैशाच्यामन्येषामाचार्याणां मते गजडदबघझढधभामादौ वर्तमानानां युजिधातौ चकारादयो न भवन्ति। लक्ष्मीधर षड्भाषा च० यह प्राचीन मत है, आचार्य हेमचन्द्र या लक्ष्मीधर का नहीं है।

जाती थी। मार्कण्डेय के अनुसार यह नियम मागधी और व्राचड अपभ्रंश में भी प्रयुक्त होता था। इस बोली की अन्य विशेषताओं में त के स्थान पर द का प्रयोग; अकरान्त संज्ञा शब्दों के षष्ठी एकवचन में अश के साथ-साथ आह का प्रयोग, सप्तमी के अन्त में आहिं और सम्बोधन बहुवचन के अन्त में आहो का प्रयोग भी परिगणित हैं। पृथ्वीधर ने शाकारी को अपभ्रंश कहा है। उनका यह कथन तर्कसंगत है, यतः शाकारी में अपभ्रंश की अनेक प्रवृत्तियाँ मिश्रित हैं।

चाण्डाली बोली मागधी और शौरसेनी के मिश्रण से उत्पन्न हुई है। मार्कण्डेय के अनुसार मागधी की एक बोली बाल्हीकी भी है। कुछ विद्वान् इसे पिशाचभूमि की बोली मानते हैं। तथ्य यह है कि मागधी भाषा में स्थान भेद के कारण अनेक बोलियों का मिश्रण है। यही कारण है कि क्ष के स्थान पर कहीं ह्क् और कहीं श्क्, र्थ के स्थान पर कहीं स्त और श्त्, ष्क के स्थान पर कहीं स्क और श्क का व्यवहार पाया जाता है। अतएव चाण्डाली बोली एक जाति विशेष की बोली थी, जिसका विकास मागधी और शौरसेनी के मिश्रण से हुआ था।

ढक्की बोली भी मागधी का एक उपभेद है। पूर्व बङ्गाल में स्थित ढक्क प्रदेश के नाम पर एक प्रकार की प्राकृत बोली का नाम ढक्की है। मृच्छकटिक में जुआकर का मालिक और उसके साथी इस बोली में बात-चीत करते हैं। भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार यह बोली मागधी और अपभ्रंश बोली बोलने वाले प्रदेशों के बीच बोली जाती थी। इसमें रकार का जोर है और तालव्य शकार तथा दन्त्य सकार का भी प्रयोग होता है। इस बोली में के रुद्ध स्थान पर लुद्ध, परिवेपित के स्थान पर पलिवेविद, कुरुकुरु के स्थान पर कुलुकुलु, धारयति के स्थान पर धालेदि, पुरुष के स्थान पर पुलिसो का प्रयोग पाया जाता है। ढक्की में मागधी के सामान रेफ के स्थान पर ल का प्रयोग होना अनिवार्य है। तथ्य यह है कि ग्राम्य भाषा की प्रवृत्तियों में यह प्रायः देखा जाता है कि पूर्वी प्रभाव से र् के स्थान पर ल् उच्चरित हो जाता है।

आवन्ती बोली महाराष्ट्री और शौरसेनी के मिश्रण से उत्पन्न हुई थी। आवन्ती उज्जैन के आस-पास की बोली थी। इसमें रेफ और सकार के साथ मुहावरों की भरमार है। इस बोली में भवति के स्थान पर होई, प्रेक्षते के स्थान पर पेच्छदि और दर्शयति के स्थान पर दरिसेदि रूप पाये जाते हैं। इस बोली में महाराष्ट्री और शौरसेनी के पद एक साथ प्रयुक्त हैं, कहीं-कहीं इन दोनों के मिश्रण से उत्पन्न वज्जइ, कहिज्जदि जैसे मिश्रित पद भी पाये जाते हैं। इस बोली को बोलने वाला चन्दनक अपने को दाक्षिणात्य कहता है। अतः चन्दनक की

बोली को आवन्ती मानना कुछ अटपटा जरूर लगता है। नाट्यशाला के अनुसार शिकारी और कोतवाल की यह बोली होनी चाहिए।

शाबरी भाषा शबर जाति की बोली है। यह मागधी का विकृत रूप है। आभीरी अनुमानतः पश्चिम की बोली थी। आभीर जाति सिन्धु के पश्चिम में रहनेवाली जाति थी। आभीरों का आधिपत्य गुप्तसाम्राज्य की सीमा पर मालवा, गुजरात और राजस्थान में बताया गया है। शनैः शनैः यह जाति मध्यभारत एवं पूर्वी प्रदेशों में भी फैल गयी और इसका प्रभुत्व बढ़ता गया। आभारी भाषा को अपभ्रंश भी कहा गया है। बहुत संभव है कि आरम्भिक आभारी शौरसेनी और पैशाची का मिश्रित रूप रही हो। उत्तरकाल में परिनिष्ठित होकर अपभ्रंश के रूप में विकसित हुई हो।

इस प्रकार प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत भाषाओं का विवेचन किया है। साहित्य में प्रयुक्त होनेवाली शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी और पैशाची प्रमुख हैं। अवशेष प्राकृतों का छिट-पुट प्रयोग नाटकों में पाया जाता है।

द्वितीय युग या मध्ययुग साहित्यिक प्राकृतों के विकास के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। इस युग की भाषा का संस्कृत पर भी पर्याप्त प्रभाव है। संस्कृत नाटककार तो एक प्रकार से पहले संस्कृत में कथोपकथन लिख देते थे, पश्चात् उसका प्राकृत में अनुवाद करते थे। परिणाम यह हुआ है कि वेणीसंहार और मुद्राराक्षस जैसे नाटकों की प्राकृत में पर्याप्त कृत्रिमता आ गयी है। उन नाटकों की प्राकृतों में प्राकृत का नीजी स्वभाव अत्यन्त विकृत रूप में प्रस्तुत हुआ है। इतना होने पर भी भाषाविकास की एक निश्चित रूपरेखा उपलब्ध होती है। जन-बोली के रूप में प्राकृत का विकास किस प्रकार हुआ है और परिनिष्ठित हो साहित्य में कैसे प्रयुक्त होती रही यह उपर्युक्त अध्ययन से अवगत किया जा सकेगा।

मध्य भारतीय आर्यभाषा के बहुत से शब्द वट < √वृत्, नापित < √स्ना, लाँघन < लक्षण, पुत्तल < पुत्र, भट्टारक < भर्तः, भट < भृत, को अपनाने के साथ संस्कृत में धातुओं एवं गण सम्बन्धी विकरण भी प्राकृतों से संस्कृत में प्रविष्ट हुए। वाक्यों का गठन एवं पदों का निर्माण संस्कृत एवं प्राकृत में इतना साम्य रखता है कि इन दोनों भाषाओं के एक ही मूल भाषा की दो शैलियाँ माना जा सकता है। अतएव संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि साहित्यिक प्राकृत और साहित्यिक संस्कृत में भेदक रेखा खींचना कठिन है। यतः इन दोनों का आन्तरिक गठन बहुत कुछ अंशों में समान है।

चतुर्थोऽध्याय

द्वितीय स्तरीय तृतीय युगीन या अर्वाचीन प्राकृत अपभ्रंश

विक्रम की पहली शताब्दी से प्राकृत भाषा साहित्य रूप धारण करने लग गयी थी। जब वैयाकरणों ने इसे भी संस्कृत के समान साहित्य और व्याकरण के नियमों से अनुशासित कर दिया तथा यह परिनिष्ठित स्वरूप में आश्रय ग्रहण करने लगी, तो जनभाषा के स्वरूप से दूर हट गयी। फलतः परिनिष्ठित प्राकृतों के अतिरिक्त एक नयी तृतीय युगीन प्राकृत का विकास हुआ, जिसका नाम भाषा-शास्त्रियों ने अपभ्रंश रखा। यह प्राकृत तथा नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के बीच की महत्वपूर्ण कड़ी है। इस अपभ्रंश के प्राकृत रूप अवहंस[1], अवब्भंस, अवहट्ट, अवहत्थ आदि भी मिलते हैं।

अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग पतञ्जलि के महाभाष्य में मिलता है।[2] किन्तु वहाँ यह शब्द भाषावैज्ञानिक अर्थ में प्रयुक्त न होकर अपाणिनीय पद के लिए प्रयुक्त हुआ है। पतञ्जलि के समय तक अपभ्रंश भाषा की प्रवृत्तियाँ देश्यभाषाओं में प्रस्फुटित नहीं हुई थीं। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में प्राकृत पाठ्य का संकेत करते समय विभ्रष्ट शब्द का प्रयोग किया है।[3] इस शब्द का यहाँ प्रयोग तद्भव शब्दों के लिए हुआ है। भरत मुनि के समान, विभ्रष्ट और देशी शब्दों की व्याख्याएँ स्पष्ट करती हैं कि उकारबहुला विभाषा थी, जो अपभ्रंश के निकट है। हिमालय के पार्वत्य प्रदेश, सिन्धु और सौरवीर प्रदेश के निवासी उकारबहुला विभाषा का प्रयोग करते थे। संभवतः वह अपभ्रंश का ही पूर्वरूप रहा होगा।

अपभ्रंश का अर्थ भ्रष्ट, च्युत, स्खलित, विकृत या अशुद्ध है। अर्थात् भाषा के सामान्य मानदण्ड से जो शब्द रूप च्युत हों, वे अपभ्रंश हैं। अपभ्रंश के जन्मकाल में पाणिनीय व्याकरण का नियन्त्रण शब्दों पर था, जो शब्द इस

---

१. ता किं अवहंसं होइइ तं सक्कअ पाय उभय सुद्धासुद्ध······ मणोहरम्
—कुवलयमाला

२. एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः—महाभाष्य १।१।१

३. समानशब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च—ना० शा० १८।३

नियन्त्रण के अन्तर्गत नहीं आते थे, वे अपाणिनीय रहने के कारण अपभ्रंश कहे जाते थे। अपभ्रंश से आचार्यों की घृणा व्यक्त नहीं होती है, बल्कि उनके एक विशेष दृष्टिकोण का पता इससे लगता है। महाकवि दण्डी ने[१] इसी परम्परा की ओर संकेत करते हुए कहा है कि शास्त्र में संस्कृत से इतर शब्द को अपभ्रंश कहा जाता है। यहाँ शास्त्र का अर्थ संस्कृत व्याकरणशास्त्र है। दण्डी के इस कथन की पुष्टि अनेक वैयाकरणों के मतों से भी होती है। भर्तृहरि (५वीं शती) ने संस्कारहीन शब्दों को अपभ्रंश कहा है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि संस्कृत से इतर भाषा के लिए प्राकृत और संस्कृत से इतर शब्द के लिए अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रयोग से स्पष्ट है कि भर्तृहरि ने पाणिनि से असिद्ध शब्दों को अपभ्रंश कहा है।[२] महाभाष्य के टीकाकार कैयट (१० शती) ने उन शब्दों को अपभ्रंश बताया है जो, साधु शब्दों के समान अर्थ में लोक में प्रयुक्त होते हैं।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृतेतर भाषाओं अथवा बोलियों को अपभ्रंश कहा गया है। दण्डी का यह कथन भी स्मरणीय है कि आभीर आदि की भाषा अपभ्रंश है।[४] चण्ड ने "न लोपोऽपभ्रंशेऽधो रेफस्य" ३९ व्यं० वि० सूत्र में अपभ्रंश का भाषा के रूप में उल्लेख किया है। आलंकारिकों में भामह ने अपभ्रंश को काव्यशैलियों की भाषा कहा है।[५] तथ्य यह है कि जो अपभ्रंश शब्द ई० पू० द्वितीय शताब्दी में अपाणिनीय अपशब्द के लिए प्रयुक्त होता था, वही ई० सन् की छठी शताब्दी तक आते-आते एक साहित्यिक भाषा के रूप को प्राप्त हो गया। यही कारण है कि वलभी के राजा धरसेन द्वितीय के ताम्रपत्र (षष्ठ शती ई०) में धरसेन के पिता गुहसेन को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की प्रबन्ध-रचना में निपुण कहा है।[६]

संस्कृत के आचार्यों ने तो इसे देशभाषा कहा ही है पर अपभ्रंश के कवियों के भी अपनी भाषा को देशभाषा के रूप में स्वीकार किया है। महाकवि स्वयंभू ने

---

१. काव्यादर्श अ. ३६

२. शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम्॥
वाक्यपदीय १ का०, कारिका १४८

३. अपशब्दो हि लोके प्रयुज्यते साधुशब्दसमानार्थञ्च।

४. आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः—का० आ० १।३६

५. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यपद्यञ्च तद्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥—काव्यालङ्कार १.१६

६. संस्कृतप्राकृतापभ्रंशभाषात्रय-प्रतिबद्ध-प्रबन्धरचना-निपुणान्तःकरणः।

अपने रामायण को 'देशी भाषा' या 'ग्रामीण भाषा' में रचित लिखा है।[1] पुष्पदन्त ने भी अपनी भाषा को 'देसी' नाम से अभिहित किया है।[2] मध्य भारतीय आर्यभाषा साहित्य में अपभ्रंश से पहले प्राकृत को देशी भाषा कहे जाने की प्रथा थी और जब प्राकृत साहित्य के आसन पर आरूढ़ हुई तो अपभ्रंश—लोक भाषा को देशी भाषा कहा जाने लगा। आशय यह है कि प्रत्येक युग में साहित्यिक भाषा के समानान्तर कोई न कोई देशी भाषा अवश्य रहती है और यही देशी भाषा उस साहित्यिक भाषा को नया जीवन प्रदान कर सदैव विकसित करती चलती है। छान्दस् से प्राकृत भाषा का विकास हुआ और प्राकृत को भी अपने रूढ़ि-बन्धनों को दूर करने के लिए लोकभाषा की सहायता लेनी पड़ी, फलतः भारतीय आर्य भाषा में अपभ्रंश की उत्पत्ति हुई, जिससे आगे चलकर सिन्धी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, व्रज, अवधि आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म हुआ।

भाषाशास्त्रियों का मत है कि भाषाओं के विकासक्रम में ऐसी अवस्था आती है, जब प्रारम्भिक देशी भाषा शिष्टों की साहित्यिक भाषा बन जाती है और शब्दानुशासक उसका अनुशासन लिखते समय शिष्ट प्रयोगों को समझ रखते हैं। जिस अपभ्रंश को महाकवि स्वयंभू ने 'गामेल्ल भासा' कहा है, ई० ११वीं शताब्दी के वैयाकरण पुरुषोत्तम ने उसे शिष्ट प्रयोग से जानने की सलाह दी है।[3]

यह सत्य है कि अपभ्रंश तृतीय युग की प्राकृत है। यह कभी बोल-चाल की भाषा थी या नहीं, पर्याप्त विवादास्पद है। पिशेल, ग्रियर्सन, भण्डारकर, चटर्जी, बुलनर जैसे विद्वनों ने अपभ्रंश को देशभाषा माना है। पर याकोबी, कीथ, ज्यूल, ब्लाख, आल्सडोर्फ प्रभृति विद्वान् अपभ्रंश को देशभाषा मानने से इंकार करते हैं। पिशेल ने लिखा है—"मोटे तौर पर देखने से पता चलता है कि प्रामाणिक संस्कृत से जो बोली थोड़ा बहुत भो भेद दिखाती है, वह अपभ्रंश है। इसलिए भारत की जनता द्वारा बोली जानेवाली भाषाओं का नाम अपभ्रंश पड़ा और बहुत बाद को प्राकृत भाषाओं में से एक बोली का नाम भी अपभ्रंश रखा गया। यह भाषा जनता के रात-दिन के व्यवहार में आनेवाली बोलियों से उपजी और प्राकृत की अन्य भाषाओं की तरह थोड़े बहुत फेर-फार के साथ साहित्यिक भाषा बन गई।[4]" इससे स्पष्ट है कि एक प्रकार की अपभ्रंश शब्द-

---

१. देसीभाषा-उभय तडुज्जल······गामेल्ल भास परिहरणाइँ—
पउमचरिउ ३।१

२. णउ हउं होमि·······देसि ण वियाणमि—महापुराण १।८

३. "शेषं शिष्टप्रयोगात्"—पुरुषोत्तम १७-९१।

४. प्राकृतभाषाओं का व्याकरण—विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्-पृ० ५७।

रचना और रूपरचना में प्राकृत की लीक को नहीं छोड़ती है और दूसरी अपभ्रंश बोलचाल की भाषा रही है। अपभ्रंश के इन दोनों रूपों की सिद्धि सर जार्ज ग्रियर्सन के "लैंग्वेजेज ऑव इण्डिया" निबन्ध से भी होती है। इन्होंने प्राकृतों को आरम्भिक अपभ्रंश कहा है, पर साथ ही परवर्ती अथवा वास्तविक अपभ्रंश से उन्हें भिन्न माना है[1]। 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया' में ग्रियर्सन ने अपभ्रंशों को प्राकृत का स्थानीय अथवा प्रादेशिक विकार कहा है। इसी प्रकार 'ऑन द माडर्न इण्डो आर्यन वर्नाक्यूलर्स' (इण्डियन एन्टोक्वेरी, जिल्द ६०) में उन्होंने अपभ्रंश के अन्तर्गत बोलचाल की प्राकृतों को लेने से इंकार करते हुए अपभ्रंश को साहित्यिक प्राकृतों के बाद की देशभाषा माना है। स्पष्ट है कि अपभ्रंश में देशी-भाषा के तत्त्व अवश्य हैं। यह सम्भव है कि अपभ्रंश बोलचाल की भाषा न भी रही हो, पर इतना तो मानना पड़ता है कि पूर्ववर्ती साहित्यिक प्राकृत ही देशी-भाषा के योग से अपभ्रंश की अवस्था में विकसित हुई है। नमि साधु ने काव्यालंकार की टीका में "प्राकृतमेवापभ्रंशः" द्वारा प्राकृत को ही अपभ्रंश कहा है[2]। इनके मत में अपभ्रंश महाराष्ट्री प्राकृत पर आधारित है और वह मागधी आदि अन्य प्राकृतों से विशिष्ट है।

अपभ्रंश का विस्तार क्षेत्र—अपभ्रंश भाषा का प्रयोग ई० पू० की प्रथम शताब्दी से ही मिलने लगता है। भारत के नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अङ्क में अपभ्रंश के कुछ दोहे भी मिलते हैं। याकोबी, एस० पी० पण्डित आदि विद्वान् इन पद्यों को कालिदास कृत नहीं मानते हैं, परन्तु डॉ० ए० एन० उपाध्ये और डॉ० ग० वा० तगारे इन दोहों की प्रामाणिकता में आशंका नहीं करते। फलतः अपभ्रंश में साहित्य रचना चतुर्थ शताब्दी से मानना अनुचित नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि ईस्वी छठी शताब्दी से अपभ्रंश में काव्यरचनाएँ आरम्भ होकर १६वीं शताब्दी तक होती रहीं। हेमचन्द्र के व्याकरण में आये हुए अपभ्रंश के दोहे इस बात के साक्षी हैं कि अपभ्रंश और ग्राम्यभाषा में भेद हो गया था। अतः १२वीं शती तक अपभ्रंश लोकभाषा का पद छोड़ साहित्यिक भाषा का पद ग्रहण कर चुकी थी। व्याकरण के नियमों में बद्ध भी हो चुकी थी।

उकारबहुला भाषा का विधान भरत मुनि ने हिमवत्, सिन्धु और सौवीर देशों के लिए किया था। इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश का विस्तार उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों से आरम्भ हुआ। ई० सन् की दसवीं शताब्दी के विद्वान् राजशेखर ने

---

१. जिल्द १, पृ० १२३।

२. रुद्रटकृत काव्यालंकार २–१२ की टीका।

लिखा है[१]—"सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च" अर्थात् सकल मरुभूमि, टक्क और भादानक। मरुभूमि का तात्पर्य राजस्थान से है और टक्क प्रदेश की स्थिति विपाशा और सिन्धु नदी के बीच मानी जाती है। भादानक की स्थिति के सम्बन्ध में मतभेद हैं, सम्भवतः टक्क और मरु के साथ उल्लेख रहने से यह प्रदेश भी विनशन—थानेसर से शतलज के मध्य का भाग होना चाहिए। यतः महाभारत (सभापर्व, ३२ अध्याय) में भाटधान या भादान जनपद का उल्लेख मिलता है, जो उत्तर भारत में था। अतएव राजशेखर के समय तक अपभ्रंश का विस्तार राजपूताना और पंजाब तक हो चुका था। अपभ्रंश का आज जो साहित्य उपलब्ध हैं, उसका रचनास्थान राजस्थान, गुजरात, पश्चिमोत्तर भारत, बुन्देलखण्ड, बंगाल और दक्षिण में धान्यखेट तक विस्तृत प्रतीत होता है। अतएव यह मानना तर्कसंगत है कि हेमचन्द्र के समय तक अपभ्रंश का विस्तार समस्त उत्तर भारत और दक्षिण तक हो चुका था।

अपभ्रंश को कुछ विद्वानों ने अभीरों की बोली कहा है। महाभारत में ई० पू० दूसरी शताब्दी तक पश्चिमोत्तर भारत में आभीर जाति के पाये जाने का उल्लेख मिलता हैं। नकुल के प्रतीची-विजय-प्रसंग में आभीरों को सिन्धु के किनारे रहनेवाला कहा है[२]। शल्यपर्व में बलदेव की तीर्थयात्रा के सन्दर्भ में बताया गया हैं कि राजा ने उस विनशन में प्रवेश किया जहाँ शूद्र आभीरों के कारण सरस्वती नष्ट हो गई[३]। अर्जुन वृष्णियों की विधवाओं को लेकर जब द्वारका जा रहे थे, उस समय पञ्चनन्द में प्रवेश करते समय महिलाओं को आभीरों ने छीन लिया था[४]। ई ३६० के समुद्रगुप्त के प्रयागवाले लौह स्तम्भ लेख के अनुसार आभीर जाति उस समय गुप्तसाम्राज्य की सीमा पर राजस्थान, मालवा, दक्षिण-पश्चिम एवं पश्चिमी प्रदेशों में डटी हुई थी। पुराणों के अनुसार आन्ध्रभृत्यों के बाद दकन आभीरों के ही हाथ में आया और छठवीं शती के बाद से निकल गया। जार्ज इलियट ने लिखा है कि ८वीं शताब्दी में काठी जाति के प्रवेश के समय गुजरात का अधिकांश भाग आभीरों के हाथ में था[५]। खानदेश में भी आभीरों के निवास के प्रमाण मिले हैं। मध्यदेश में मिर्जापुर जिले का अहिरौरा आभीरों के नाम से प्रसिद्ध माना जाता है।

---

१. काव्यमीमांसा दशमोऽध्यायः

२. पर्व २, अध्याय ३२, श्लोक १०

३. पर्व ९, अध्याय ३७ श्लोक ७

४. महाभारत पर्व १६ अध्याय ७, श्लोक ४४–४७

५. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया, जि० १, पृ० १२५ की पादटिप्पणी

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि आभीर जाति बड़ी दुर्धर्ष और पराक्रमी थी, यह समस्त उत्तर भारत में व्याप्त हो गयी थी। गुर्जर भी इसी के अंग थे। महाकवि दण्डी ने अपभ्रंश को आभीरों की भाषा कहकर इस बात की ओर संकेत किया है कि यह ग्रामीण भाषा थी और बोलनेवालों में आभीरों की संख्या अधिक थी। यह भी संभव है कि आभीरों और गुर्जरों के अतिरिक्त ऐसी ही अन्य गोपालक जातियों ने अपभ्रंश के प्रसार में योग दिया होगा, इसीलिए नमिसाधु ने **"आभारी भाषा अपभ्रंशस्था कथिता"** लिखा है। निष्कर्ष यह है कि अपभ्रंश के बोलने वालों में आभीर, गुर्जर आदि चाहे जिस जाति की प्रधानता रही हो, परन्तु भौगोलिक दृष्टि से वह प्रायः पश्चिमी भारत की बोली थी। नागर अपभ्रंश—परिनिष्ठित अपभ्रंश इसी बोली का साहित्यिक रूप है। कुछ लोग इसे शौरसेनी अपभ्रंश भी कहते हैं। डॉ० ग्रियर्सन ने बताया है—"साहित्यिक अपभ्रंश मूलतः पश्चिमी भारत की बो ी होते हुए भी ८वीं से १३वीं शताब्दी तक समूचे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा थी।"[1] रचनाओं की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि एक ओर बंगाल में सरह और काण्ह जैसे सिद्ध कवियों ने दोहाकोशों की रचना की, दूसरी ओर मिथिला में ज्योतिरीश्वर और विद्यापति ने स्थानीय बोली का पुट देकर साहित्यिक अपभ्रंश में ग्रन्थ लिखे। तीसरी ओर मुल्तान में अब्दुल रहमान ने संदेशरासक जैसा प्रेमकाव्य लिखा; चौथी ओर दक्षिण में मान्यखेट के पुष्पदन्त ने इसी वाणी को अपनी रचना का माध्यम बनाया। कनकामर और स्वयंभू ये भी इसी में रचनाएँ लिखीं। इस प्रकार अपभ्रंश का क्षेत्र पूर्व में बंगाल, विदेह; पश्चिम में राजस्थान और सौराष्ट्र; दक्षिण में दक्कन एवं मान्यखेट, उत्तर भारत में बुन्देलखण्ड, कान्यकुब्ज, मालवा एवं उत्तरपश्चिम में पञ्जाब तक विस्तृत था। इस भाषा को राजकीय और साम्प्रदायिक संरक्षण प्राप्त रहा। राष्ट्रकूट नरेशों ने इस भाषा की समृद्धि के लिए अनेक कवि और साहित्यकारों को संरक्षण दिया।

अपभ्रंश के भेद—डॉ० हार्नलि का मत है कि आर्यों की बोल-चाल की भाषाएँ भारत के आदिम निवासी अनार्य लोगों की भिन्न-भिन्न भाषाओं के प्रभाव से जिन रूपान्तरों को प्राप्त हुई थीं, वे ही भिन्न-भिन्न अपभ्रंश भाषाएँ हैं और ये महाराष्ट्री की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन प्रभृति विद्वान् डॉ० हार्नलि के मत से सहमत नहीं हैं। इनका मत है कि साहित्यिक प्राकृतों को व्याकरण के नियमों में आबद्ध हो जाने पर जिन नूतन

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया, जि० १, भाग १, पृ० १२५ की पाद टिप्पणी।

कथ्य भाषाओं की उत्पत्ति हुई, वे भाषाएँ अपभ्रंश कहलायीं। डॉ० तगारे ने अपभ्रंश भाषाओं का वर्गीकरण करते हुए दक्षिणी, पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंश ये तीन भेद बताये हैं। उत्तरी अपभ्रंश की केवल एक कृति मिलती है, अतएव वे उत्तरी को इसमें शामिल नहीं करना चाहते हैं। डॉ० तगारे ने दक्षिणी अपभ्रंश में पुष्पदन्त के महापुराण, जसहरचरिउ और णायकुमारचरिउ तथा कनकामर के करकंडुचरिउकाव्यों की गणना की है। दक्षिणी अपभ्रंश की विशेषताओं में संस्कृत की ष् ध्वनि को छ् ध्वनि के रूप में परिवर्तित होना माना है। अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द तृतीया के एकवचन में 'एण' प्रत्ययान्त रूप; उत्तम पुरुष एकवचन में सामान्य वर्तमानकाल की क्रिया मि परकरूप; अन्य पुरुष बहुवचन में 'न्ति' परकरूप एवं सामान्य भविष्यत्काल के क्रियापद के रूप में स—रक होते हैं। विचार करने पर ये प्रवृत्तियाँ अलग वर्गीकरण सिद्ध करने में असमर्थ हैं; यतः इस प्रकार के छोटे से भेद किसी प्रकार का मौलिक अन्तर उपस्थित करने में असमर्थ हैं। इन्हें शैलीगत भेद मानना ही अधिक उपयुक्त।

भाषा प्रवृत्तियों के मर्मज्ञ याकोबी अपभ्रंश के दो भेद मानते हैं—पूर्वी और पश्चिमी। डॉ० ग्रियर्सन की यह स्थापना कि प्राकृत वैयाकरण पूर्वी और पश्चिमी दो वर्गों में विभक्त हैं, उनके वर्गीकरण का आधार है। वररुचि, लंकेश्वर, कामदीश्वर, रामशर्मा और मार्कण्डेय आदि पूर्वी वर्ग से सम्बद्ध हैं तो हेमचन्द्र, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर, सिंहराज आदि पश्चिमी वर्ग से। याकोबी ने साहित्य और व्याकरण के उक्त दोनों आधारों को ग्रहण कर अपभ्रंश के दो भेद किये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सरह और काण्ह के दोहाकोशों में परिनिष्ठित अपभ्रंश के अतिरिक्त स्थानीय प्रभाव भी पाये जाते हैं। इस अपभ्रंश का सम्बन्ध मागधी प्राकृत से जोड़ना सरल है। पश्चिमी अपभ्रंश शौरसेनी और महाराष्ट्री की प्रवृत्तियों से पूर्णतया सम्बद्ध है। साहित्य में पूर्व और पश्चिम का भेद प्राकृतकाल से ही चला आ रहा है।

प्राचीन व्याकरणों में प्राकृतचन्द्रिका में अपभ्रंश के २७ भेद बतलाये गये हैं। मार्कण्डेय ने व्राचड, लाटी, वैदर्भी, उपनागर, नागर, बार्बर, आवन्ती, पंचाली टाक्क, मालवी, कैकेयी, गौडी, कौन्तेली, औड्री, पाश्चात्या, पाण्ड्या, कौन्तली, सैंहली, कालिङ्गी, प्राच्या, कार्णाटी, काञ्ची, द्राविडी, गौर्जरी, आभारी, मध्यदेशीया एवं वैतालिकी इन भेदों का अपने प्राकृतसर्वस्व में निर्देश किया है।[1]

मार्कण्डेय ने नागर, उपनागर और व्राचड को पृथक् स्थान नहीं दिया है। स्वयं उनका विचार है—

---

१. व्राचडो लाटवैदर्भावुपनागरनागरौ।
बार्बरावन्त्यपाञ्चालटाक्कमालवकैकयाः॥

नागरो ब्राचडश्चोपनागरश्चेति ते त्रयः ।
अपभ्रंशाः परे सूक्ष्मभेदत्वान्न पृथङ्मताः ॥

मार्कण्डेय ने इन तीन अपभ्रंश में बहुत थोड़ा सा ही भेद स्वीकार किया है। मार्कण्डेय के अनुसार पिंगल की भाषा नागर है और उसने इस भाषा के जो उदाहरण दिये हैं, वे पिंगल से ही ग्रहण किये हैं। ब्राचड को नागर अपभ्रंश से निकली भाषा कहा है। मार्कण्डेय इसे सिन्ध देश की बोली मानते हैं। 'सिन्धुदेशोद्भवो ब्राचडोऽपभ्रंशः'। इसके दो विशेष लक्षण माने गये हैं – (१) च और ज के आगे य लगाया जाता है तथा (२) ष और स का रूप श में परिवर्तित हो जाता है। नागर और ब्राचड अपभ्रंशों के मिश्रण से उपानगर अपभ्रंश भाषा निकली है।

इस विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना सहज है कि वैभाषिक और क्षेत्रीय भेदों के रहने पर भी अपभ्रंश भाषा का एक परिनिष्ठित रूप भी था। इस परिनिष्ठित रूप का मूल आधार पश्चिमी प्रदेशों की बोलियाँ थीं। जिन्हें ऐतिहासिक दृष्टि से शौरसेनी की प्राकृत परम्परा में सम्मिलित किया जाता है। हेमचन्द्र ने "शौरसेनीवत् ४।४४६—अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीवत् कार्यं भवति", लिखकर इस तथ्य की ओर संकेत किया है। अतएव सिद्ध है कि शौरसेनी अथवा पश्चिमी अपभ्रंश ने शौरसेनी प्राकृत की अनेक विशेषताओं के साथ बहुत-सी नई विशेषताएँ भी प्राप्त कर ली थीं। अपभ्रंश के इस परिनिष्ठित रूप का वैयाकरणों ने सुन्दर विश्लेषण किया है। ध्वनि परिवर्तन और रूपनिर्माण की दृष्टि से इसका विवेचन आचार्य हेमचन्द्र के व्याकरणानुसार उपस्थित किया जाता है।

अपभ्रंश की सामान्य प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं :—

१. संस्कृत-प्राकृत से प्राप्त अन्त्य स्वरों का ह्रास।

२. उपान्त्य स्वरों की मात्रा सुरक्षित।

३. आद्य अक्षर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण द्वारा द्वित्व व्यंजन के स्थान पर एक व्यंजन का प्रयोग।

४. समीपवर्ती स्वरों में संकोच के साथ विस्तार।

गौडौढ्रवैवपाश्चात्यपाण्ड्यकौन्तलसैंहलाः ।
कालिङ्ग्यप्राच्यकार्णाटकाञ्च्यद्राविडगौर्जराः ॥
आभीरो मध्यदेशीयः सूक्ष्मभेदव्यवस्थिताः ।
सप्तविंशत्यपभ्रंशाः वैतालादिप्रभेदतः ॥

—प्राकृतसर्वस्व १ पा०, ७ सूत्र पृ०, २।

५. अन्त्य स्वरलोप अथवा ह्रस्वीकरण।

६. उपधा स्वर (Penaltimate vowels) की सुरक्षा।

७. आद्य व्यञ्जनों को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति।

८. मध्यवर्ती व्यञ्जनों के लोप तथा स्वर शेष और क्वचित् यश्रुति।

९. कारकों में परसर्गों के प्रयोग। कारकों के दो समूह—(१) तृतीया और सप्तमी, (२) चतुर्थी—पञ्चमी और षष्ठी। प्रथमा-द्वितीया-सम्बोधन में विभक्ति प्रत्ययों का अप्रयोग।

१०. सर्वनाम के रूपों में अल्पता।

११. क्रियाओं का अर्थ व्यक्त करने के लिए कृदन्तरूपों का अधिक प्रयोग।

१२. धातुओं के कालरूपों में विविधता की कमी।

१३. आत्मनेपद का सर्वथा अभाव।

१४. लिङ्ग भेद प्रायः समाप्त।

१५. आद्य स्वर को पूर्णतया सुरक्षित रखना।

अनुशासन सम्बन्धी नियम

१. अपभ्रंश में अ, इ, उ, एँ और ओँ ये पाँच ह्रस्व स्वर और आ, ई, ऊ, ए और ओ ये पाँच दीर्घ स्वर माने गये हैं। ऋ, ऌ, ऐ और औ का अभाव है।

२. ऋ स्वर के स्थान पर अपभ्रंश में अ, इ, उ, आ, ए और रि का आदेश हो जाता है। कुछ स्थानों में ऋ ज्यों की त्यों पायी जाती है। यथा—

ऋ = अ—तणु < तृण, पट्ठि < पृष्ठ, कच्चु < कृत्य

ऋ = आ—काच्चु < कृत्य

ऋ = इ—तिणु < तृण, पिट्ठि < पृष्ठ

ऋ = उ—पुट्ठि < पृष्ठ

ऋ = ए—गेह < गृह

ऋ = रि, री—रिण < ऋण, रिसहो < ऋषभ, रीच्छ < ऋच्छ

३. ऌ के स्थान पर अपभ्रंश में इ और इलि आदेश होता है। यथा—

किन्नो, किलिन्नो < क्लृन्न।

४. ऐ के स्थान पर अपभ्रंश में एँ, ए और अइ तथा औँ के स्थान पर ओ, ओँ और अउ आदेश होते हैं। यथा—

ऐ = एँ—अवरेँक < अपरैक

ऐ = ए—देव < दैव

ऐ = अइ—दइअ < दैव

औ = ओँ—गोँरी < गौरी

औ = ओ—जोव्वण < यौवन

औ = अउ—पउर < पौर, गउरी < गौरी

५. अपभ्रंश में पद के अन्त में स्थित, उँ हुँ हि और हं का भी लघु—ह्रस्व उच्चारण होता है। यथा—

(क) अन्न जु तुच्छउं ते धन हे

(ख) दइवु घटावइ वणि तरहुँ

(ग) तणहुँ तइज्जी भंगि नवि

६. अपभ्रंश में एक स्वर के स्थान पर प्रायः दूसरा स्वर हो जाता है। यथा—

अ = इ—किविण < कृपण

अ = उ—मुणइ < मनुते

अ = ए—वेल्लि < वल्ली

आ = अ—सीय < सीता

आ = उ—उल्ल < आर्द्र

आ = ए—देइ < दा, लेइ < ला, मेत्त < मात्र

इ = ए—वेल्ल < विल्व,

ई = अ—हरडइ < हरीतिकी

ई = आ—कम्हार < कश्मीर

ई = ऊ – विहूण < विहीन

ई = एँ—एरिस < ईदृश, वेण < वीणा

ई = ए—खेँड्डुअ < क्रीडा

उ = अ—मउड < मुकुट, बाह < बाहु, सउमार < सुकुमार

उ = इ—पुरिस < पुरुष

उ = ओँ—मोंग्गर < मुद्गर, पोँत्थय < पुस्तक

ऊ = ए—नेउर < नूपुर

ऊ = ओँ—मोँल्ल < मूल्य

ऊ = ओ—थोर < स्थूल

ए = इ, ई, ए—लिह, लीह, लेह < लेखा

७. अपभ्रंश में स्वादि विभत्तियों के आने पर प्रायः कभी तो प्रातिपदिक के अन्त्य स्वर का दीर्घ और कभी ह्रस्व हो जाता है। यथा—

ढोला सामला < विट श्यामलः

धण < धन्या, सुवण्णरेह < सुवर्णरेखा

विट्टीए < पुत्रि, पइट्ठि < प्रविष्टा

८. अनुस्वारयुक्त ह्रस्व स्वर के आगे र, श, ष, स और ह हो तो ह्रस्व को दीर्घ और अनुस्वार का लोप होता है। यथा—

वीस < विंशति; सीह < सिंह

९. अपभ्रंश को छन्द के कारण ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व हो जाता है। कई स्थानों पर ह्रस्व को दीर्घ न करके अनुस्वार कर देते हैं। यथा—

दंसण < दर्शन, फंस < स्पर्श, अंसु अश्रु

व्यंजन विकार

सामान्यतः शब्द के आदि व्यंजन में विकार नहीं होता। पर ऐसे भी कुछ अपवाद हैं, जिनमें आदि व्यंजन पाया जाता है। यथा—

दिट्ठि < धृति, धुअ, धुआ < दुहिता, यादि < जाति,

१०. अपभ्रंश में पद के आदि में वर्तमान, किन्तु स्वर से पर में आनेवाले और अ संयुक्त क, ख, त, थ, प और फ वर्णों के स्थान में प्रायः ग, घ, द, ध, ब और भ होते हैं। यथा—

पिअमाणुसविच्छोहगरु < प्रियमनुष्यविक्षोभकरम्

सुधि चिंतिज्जइ माणु < सुखं चिन्त्यते मानः

कधिदु < कथितम्

११. कुछ शब्दों में दो स्वरों के बीच में स्थित ख, घ, थ, ध, फ और भ को ह होता है। यथा—

साहा < शाखा, पहुल < पृथुल,

मुत्ताहल < मुक्ताफल,

१२. अपभ्रंश में प्राकृत के समान र के स्थान पर ड, ठ के स्थान पर ढ और प के स्थान पर व होता है। यथा—

तड < तट, कवड < कपट, सुहड < सुभट

मढ < मठ, वीढ < पीठ

दीव < द्वीप, पाव < पाप

१३. कुछ शब्दों में अल्पप्राण वर्णों के स्थान पर महाप्राण वर्ण हो जाते हैं। यथा—

खेल्लइ < क्रीड, खप्पर < कर्पर, भारथ < भारत; वसधि < वसति,

१४. दन्त्य व्यंजनों के स्थान पर मूर्धन्य व्यंजन हो जाते हैं। यथा—

पडिउ < पतित, पडाय < पताका, दहइ < दहति

१५. अपभ्रंश में पद के आदि में वर्तमान असंयुक्त मकार के स्थान में विकल्प से अनुनासिक वकार होता है। यथा—

कवँलु <कमल, भवँरु <भ्रमर, जिवँ <जिम,

१६. अपभ्रंश में संयोग के बाद में आनेवाले रेफ का विकल्प से लोप होता है। यथा—

जइ केवँइ पावीसु पिउ <यदि कथञ्चित् प्राप्स्यामि प्रियम्।

१७. अपभ्रंश में कहीं-कहीं सर्वथा अविद्यमान रेफ भी देखा जाता है। यथा—

व्रासु महारिसि एउं भणइ <व्यासो महर्षिः एतद् भणति।

१८. अपभ्रंश में प्राकृत के म्ह के स्थान में विकल्प से म्भ आदेश होता है। यथा—

गिम्भो <गिम्हो,

१९. ड, त और रेफ के स्थान पर क्वचित् ल होता है। यथा—

ड = ल—कील <क्रीडा, सोलस <षोडश, तलाउ <तडाग।

त = ल—अलसी <अतसी, विज्जुलिया <विद्युतिका

र = ल—चलण <चरण

य = ज—जमुना <यमुना, जसु <यस्य

व = म—पयट्ट <प्रवृत्त

ष = छ <षट्,

ष = ह—पाहान <पाषाण

२०. स्वरों के बीच में स्थित छ को च्छ होता है। यथा—

विच्छ <वृक्ष

२१. आदि संयुक्त व्यञ्जनों में यदि दूसरा व्यंजन य, र, ल और व हो तो उसका लोप होता है। यथा—

जोइसिउ <ज्योतिषी, वावारउ <व्यापार

वामोह <व्यामोह, प्रिय <पिउ, सर <स्वर

२२. अपभ्रंश में प्राकृत के समान त्य के स्थान पर च, थ्य के स्थान पर च्छ और द्य के स्थान पर ज्ज होता है। यथा—

अच्चन्तं <अत्यन्त, मिच्छत्त <मिथ्यात्व, अज्जु <अद्य

२३. अपभ्रंश में क्ष के स्थान पर ख, छ, झ, क्ख और ह आदेश होते हैं। यथा—

खार <क्षार; खवण <क्षपण, छण <क्षण,

झिज्जइ <क्षीयते, कडक्ख <कटाक्ष, निहित <निक्षिप्त

२४ वर्णागम में स्वर या व्यञ्जन का आदि, मध्य और अन्त्य स्थान में आगम होता है। यथा—

इत्थी <स्त्री, व्रासु <व्यास

समासण <श्मशान, दीहर <दीर्घ

२५. वर्ण विपर्यय भी होता है। यथा—

हर <गृह, रहस <हर्ष

पद विधान की दृष्टि से अपभ्रंश में अनेक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। कारकरूप घट जाने से अनुसर्ग या परसर्गों का प्रयोग होने लगा।

२५. अपभ्रंश में प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के एकवचन में अकारान्त शब्दों के अन्तिम ऊ को उ होता है। यथा—

दहमुह <दशमुखः, तोसिअ-संकरु <तोषित-शंकरः

चउमुहु <चतुर्मुखम्

२७. अपभ्रंश में तृतीया विभक्ति के एकवचन में अन्तिम अ के स्थान पर ए हो जाता है। यथा—

पवसन्ते <प्रवसत्ता, नहे <नखेन

तृतीया एकवचन में ण और अनुस्वार दोनों होते हैं। अतः तृतीया एकवचन में तीन रूप बनते हैं। यथा—

देवे, देवें, देवेण <देवेन

२८. अपभ्रंश में तृतीया विभक्ति के एकवचन में अन्त्य अकार और ङि—सप्तमी एकवचन के स्थान में इकार और एकार होते हैं। यथा—

तलि घल्लइ, तले घल्लइ <तले क्षिपति

२९. तृतीया विभक्ति के बहुवचन में अन्त्य अकार के स्थान में विकल्प से एकार आदेश होता है और हि प्रत्यय जुड़ जाता है। यथा—

लक्खेहिं <लक्षैः, गुणेहिं <गुणैः

३०. अकारान्त शब्दों से पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में हे और हु तथा बहुवचन में हुं प्रत्यय जोड़े जाते हैं। यथा—

वच्छहे, वच्छहु गिण्हइ <वृक्षात् गृह्णाति

गिरिसिंगहुँ <गिरिशृंगेभ्यः

३१. षष्ठी विभक्ति के एकवचन में सु, हो और तथा बहुवचन में हँ प्रत्यय होते हैं। यथा—

तसु <तस्य; दुल्लहहो <दुर्लभस्य; सुअणस्सु <सुजनस्य

तणहं < तृणानाम् ।

३२. अपभ्रंश में इकारान्त और उकारान्त शब्दों से पर में आनेवाले आम् प्रत्यय—षष्ठी बहुवचन में हुँ और हँ दोनों आदेश होते हैं। यथा—

सउणिहं < शकुनीनाम्ः सउणिहँ < शकुनीनाम्

३३. इकारान्त और उकारान्त शब्दों से पञ्चमी के एकवचन, बहुवचन और सप्तमी के एकवचन में क्रमशः हे, हुँ और हि आदेश होते हैं। यथा—

गिरिहे < गिरेः, तरुहे < तरोः

तरुहं < तरुभ्यः, कलिहि < कलौ

३४. अपभ्रंश में इकरान्त और उकारान्त शब्दों से तृतीया विभक्ति के एकवचन में एं, ण और अनुस्वार का आदेश होता है। यथा—

अग्गिएं < अग्निना, अग्गि, अग्गिणं < अग्निना

३५. अपभ्रंश में सु, अम्, जस् और शस् विभक्तियों का लोप हो जाता है। यथा—

एइ ति घोडा < एते ते घोटकाः

वालइ वग्ग < वालयति वल्गाम्

गय कुम्भइं दारन्तु < गजानां कुम्भान् दारयन्तम्

३६. अपभ्रंश में स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान शब्द से पर में आनेवाले ङस् (षष्ठी एकवचन) और ङसि (पञ्चमी एकवचन) के स्थान में हे आदेश होता है। यथा—

मज्झहे < मध्यायाः, तहे < तस्याः

धणहे < धन्यायाः

३७. स्त्रीलिङ्ग में भ्यस् (पञ्चमी बहुवचन) में और आम् (षष्ठी बहुवचन) के स्थान में हु आदेश होता है। यथा—

वयंसिअहु < वयस्याभ्यः अथवा वयस्यानाम्

३८. नपुंसक लिङ्ग में प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में इं आदेश होता है। यथा—

कमलइं < कमलानि

३९. लुप्त विभक्तिक पदों के कारण वाक्य-विन्यास से अस्पष्टता का आना स्वाभाविक था, इसी कारण अपभ्रंश में परसर्गों का प्रयोग किया जाता है। यथा—

(क) करण कारक में सहुँ एवं तण परसर्गों का व्यवहार किया जाता है। यथा—

जस पवसन्ते सहुँ न गयऊ—[यदि प्रवास करते हुए प्रिय के साथ न गई]

(ख) सम्प्रदान में रेसि और केहिं परसर्ग जुड़ते हैं। यथा—

तुहुँ पुणु अन्नहिं रेसि < त्वं पुनः अन्यस्याः कृते।

(ग) अपादान में होन्तहु और होन्त परसर्ग जोड़े जाते है। यथा—

तहां होन्तउ आगदो < यस्मात् भवान् आवगतः।

(घ) सम्बन्ध कारक से केरअ, केर और केरा जोड़े जाते हैं तथा सप्तमी—अधिकरण में थिउ, मज्झि एवं मज्झे का प्रयोग होता है।

चम्पयकुमुमहो मज्झि < चम्पककुसुमस्य, चम्पककुसुमेषु मध्ये

जीवहिं मज्झे एइ < जीवानां, जीवेषु मध्ये आयाति

सर्वनाम

४०. अपभ्रंश में अकारान्त सर्वादि शब्दों को पञ्चमी के एकवचन में हाँ आदेश होता है। यथा—

जहाँ < यस्मात्, तहाँ < तस्मात्, कहाँ < कस्मात्

४१. उत्तम पुरुष एकवचन में हउं, द्वि० तृ० मइं, च , पं, ष० में महु, मज्झु एवं सप्तमी में मइं, महु, मज्झु, रूप बनता है। प्रथमा द्वि० के बहुवचन में अम्हे, अम्हइं, तृ० अम्हेहिं च० पं०, ष० में अम्हइं और स० अम्हासु रूप होते हैं।

४२. मध्यम पुरुष एकवचन प्र० तुहुँ; द्वि० तृ० और स० पइं, तइं तथा च० पं० ष० में तउ, तुज्झ और तुध्र। बहुवचन में प्र० द्वि० में तुम्हे, तुम्हाहं; तृ० तुम्हेहि, च०, पं०, ष० में तुम्हइं और सप्तमी में तुम्हासु।

४३. अन्य पुरुष एकवचन प्र० सो०, सु; द्वि० तं; तृ० तेण, ते; च०, ष० में तसु, तासु, तस्सु, तहो; पं० ता, तो, तहाँ; सप्तमी में तहि, तदु। बहुवचन में प्र० ते, ति; द्वि० ताइं, ते; तृ० तेहि; च० ष० तहँ, ताहँ, ताण; स० तहि।

४४. स्त्रीलिङ्ग एक व० प्र० सा, द्वि० तं, तृ० ताए, च० ष० तहे तासु।

४५. दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम संस्कृत अदस् का अपभ्रंश में ओइ रूप बनता है।

४६. निकटवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम संस्कृत एतद् एवं इदम् के अपभ्रंश में निम्नलिखित रूप बनते हैं—

ए० व० एहो; ब० व० एइ

स्त्रीलिङ्ग में—ए० व० एह०, ब० व० एईउ, एहाउ; नपुंसक लिं० ए० व० एहु; ब० व० एहइं, एहाइं।

४७. सम्बन्ध वाचक सर्वनाम संस्कृत 'यद्' ने अपभ्रंश में जे, जो रूप धारण किये। प्रश्नवाचक एवं अनिश्चयवाचक संस्कृत किम् ने कोइं, किं और कवण रूप ग्रहण किये।

४८. निजवाचक संस्कृत आत्मन् शब्द अपभ्रंश में अत्त एवं अप्प रूपों को प्राप्त हुआ है। परिमाणवाचक सर्वनाम वड्ड, त्तुल, त्तिय, त्तिउ प्रत्ययों के योग से बने। यथा—

जेवड्ड, जेत्तिय, जित्तिउ (हि० जितना)। गुणावाचक सर्वनाम इसी, एहु के योग से—जइसो, जेहु तथा सम्बन्ध वाचक तुम्हारिस और हम्हारिस रूप बनते हैं।

४९. तद्धितान्त रूप बनाने के लिए अपभ्रंश में संज्ञा से स्वार्थ में अ, अड और उल्ल प्रत्यय होते हैं और स्वार्थिक क प्रत्यय का लोप होता है। यथा—

पथिउ < पथिकः, वे दोसडा < द्वौ दोषौ

कुडुल्ली < कुण्डलिनी; चुडुल्लड, वलुल्लडा।

५०. भाववाचक संज्ञा बनाने के लिए त्व और तल प्रत्यय के स्थान में प्पणु और त्तणु प्रत्यय जोड़े जाते हैं। त्तणु और त्तण प्रत्यय भी आते हैं—

बडुप्पणु, बडुत्तणु, बडुत्तणही < महत्वम्—बड़प्पन

स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिए अपभ्रंश में आ और ई प्रत्ययों में से कोई एक प्रत्यय जोड़ा जाता है। यथा—

गोरडी, धूलडिआ

क्रियारूप

५१. अपभ्रंश में संस्कृत की व्यञ्जनान्त धातु में अ प्रत्यय जोड़कर रूप बनाये जाते हैं। यथा—

कह + अ + इ = कहइ—अ विकरण है

५२ उकारान्त धातुओं को उव, इकारान्त को ए और ऋकारान्त धातुओं में ऋ स्वर को अर होता है। कुछ धातुओं में उपान्त्य स्वर को दीर्घ भी हो जाता है। यथा—

सु—स् + उव + इ = सुवइ < स्वपति

नी—नेह—न् + ए + इ = नेह < नयति

कृ—करइ—क् + अर + इ = करह < करोति; करेइ भी बनता है।

हृ—हर—ह + अर + इ - हरइ < हरति

तुष—तूसइ, पुष—पूसइ।

९३. कुछ धातुओं के अन्तिम व्यञ्जन को द्वित्व हो जाता है। यथा—

फुट्—फुट्टइ; कुप्—पुप्पइ

तुट्—तुट्टइ; लग्—लग्गइ

५४. मध्यम पुरुष एकवचन में सि, हि और बहुवचन में हु, ह प्रत्यय जोड़े जाते हैं। यथा—

करहि, करसि < करोसि, करहु, करह < कुरुथ

५५. उत्तम पुरुष के एकवचन में उँ, मि तथा बहुवचन में हुँ, मु प्रत्यय होते हैं।

करउं, करिमि < करोमि, करहुँ, करिमु < कुर्मः

५६. आज्ञा और विधि में प्रथम पुरुष एकवचन में उ, बहुवचन में हुँ, मध्यम पुरुष एकवचन में इ, उ, ए और बहुवचन में हु एवं उत्तमपुरुष एकवचन में उ और बहुवचन में उं प्रत्यय होते हैं।

५७. भविष्यत्काल में स्य के स्थान पर स विकल्प से आदेश होता है। यथा—प्र० ए० करेसइ, बहुव० करेसहिं, करेहिति; म० ए० व० करेसहि, करेसमि म०ब०व० करेसहु, करेसहो; उ० ए० व० करेसमि, करोहिमि; बहुवचन करेसहुँ।

५८. वर्तमान कृदन्त अंत और माण प्रत्यय जोड़कर बनाये जाते हैं। यथा—

डज्झ + अंत = डज्झंत, सिच + अंत = सिचंत,

पविस्स + माण = पविस्समाण—आत्मनेपद, मण + माण = मणमाण,

५९. भूतकालिक कृदन्त बनाने के लिए अ, इअ और इय प्रत्यय जोड़े जाते हैं। यथा—

हु + अ हुअ, मुक्क् + अ = मुक्क ग + अ = गअ

गाल + इअ = गालिअ; भक्ख + इअ = भक्खिअ

कह + इय = कहिय; उप्पड + इय = उप्पाडिय

६०. पूर्वकालिक क्रिया के लिए इ, इउ, इवि, अवि, एप्पि, एप्पिणु, एविणु एवं एवि प्रत्यय जोड़े जाते हैं। यथा—

लह + इ = लहि < लब्ध्वा, कर + इउ = करिउ < कृत्वा,

कर + इवि = करिवि < कृत्वा, कर + एप्पि = करेप्पि < कृत्वा,

कर + एविणु = करेविणु < कृत्वा, कर + एवि = करेवि < कृत्वा,

६१. क्रियार्थक क्रिया या हेत्वर्थ कृदन्त के लिए अपभ्रंश में निम्न आठ प्रत्यय जोड़ने से रूप बनाये जाते हैं। यथा—

चय् + एवं = चएवं < त्यक्तुम्

दा + एवं = देवं < दातुम्

भुंज् + अण = भुंजण < भोक्तुम्

कर + एप्पि = करेप्पि < कर्त्तुम्,

कर + एप्पिणु = करेप्पिणु < कर्त्तुम्,

६२. विध्यर्थक इएव्वउं, एव्वउं एवं एवा प्रत्यय जोड़े जाते हैं। यथा—
कर + इएव्वउं = किरएव्वउं <कर्त्तव्यम्,
कर + एव्वउं = करेव्वउं <कर्त्तव्यम्,
कर + एवा = करेवा <कर्त्तव्यम्,
६३. शील और स्वभाव बतलाने के लिए अणअ प्रत्यय जोड़े जाते हैं। यथा—
हस + अणअ = हसणअ, हसणउ।

इस प्रकार साहित्यिक प्राकृतों में अपभ्रंश भाषा अन्तिम कड़ी है और इसे भारतीय आर्यभाषा के मध्ययुग के अन्तिम युग की भाषा माना गया है। वर्णविकार एवं वर्णलोप की जिन प्रवृत्तियों के आधार पर प्राकृत भाषाओं का विकास हुआ है, वे अपभ्रंश में अपनी चरमसीमा पर पहुँच गयी हैं। अतएव अपभ्रंश भाषा में कोमलता अधिक है। अपभ्रंश का युग ई० ६००—१२०० तक माना जाता है। अपभ्रंश भाषा से ही हिन्दी भाषा का विकास हुआ है। शब्द एवं धातु रूपों में नये-नये प्रयोग कर अपभ्रंश ने हिन्दी तथा आधुनिक आर्यभाषाओं के विकास की आधारभूमि उपस्थित कर दी है। अपभ्रंश का साहित्यिक क्षेत्र मध्यदेश है, जो कि हिन्दी का जन्मस्थान है। यह हिन्दी के विकास की पूर्वपीठिका है।

पञ्चमोऽध्यायः

प्राकृत भाषा और भाषाविज्ञान

भाषाविज्ञान के द्वारा ही भाषाओं का वैज्ञानिक विवेचन किया जाता है। प्रधानतः इसके अन्तर्गत ध्वनि, शब्द, वाक्य और अर्थ इन चारों का विचार एवं गौणरूप से भाषा का आरम्भ, भाषाओं का वर्गीकरण, भाषा की उत्पत्ति, शब्द समूह, भाषाविज्ञान का इतिहास, प्रागैतिहासिक खोज, लिपि प्रभृति विषयों का विवेचन सम्मिलित रहता है।

भाषा का मुख्य कार्य विचार-विनिमय या विचारों, भावों और इच्छाओं को प्रकट करना है। यह कार्य वाक्यों द्वारा ही सम्पन्न होता है, अतः वाक्य ही भाषा का सबसे स्वाभाविक और महत्वपूर्ण अंग हैं। वाक्यों के आधार पर ही हम भाषा का रचनात्मक अध्ययन करते हैं। वाक्यों का निर्माण शब्दों से होता है, अतः शब्दों के रूप पर विचार करना रूप तत्त्व (Morphology) कहलाता है। अयोग्यता, असमर्थता एवं अज्ञानता के कारण हम शब्दों को जिस रूप में सुनते हैं, उसी रूप में ग्रहण नहीं कर पाते और यदि ग्रहण भी कर लेते हैं तो अपनी ध्वनि के रूप में कुछ मिश्रित करके उसको प्रकट करते हैं। इस प्रकार उच्चारण की भिन्नता के कारण प्रथम शब्दों का रूप परिवर्तित होता है, अनन्तर कालान्तर में वाक्यों के रूपों में भी परिवर्तन आरम्भ हो जाता है और कुछ वर्षों में सम्पूर्ण भ षा ही एक नया कलेवर धारण कर लेती है। प्राकृत भाषा में देश भेद एवं काल भेद से जो अनेक भेदोपभेद उत्पन्न हुए हैं, वे इस बात का सबल प्रमाण हैं। लचीलापन भाषाओं का स्वाभाविक गुण है, इसी कारण उनके रूपों में परिवर्तन होता हैं। यह परिवर्तन बाहर से आरोपित नहीं रहता, बल्कि भाषाओं के मूल में ही विद्यमान रहता है। यह विकृति ध्वनि विकार से आरम्भ होती है और समस्त भाषा के स्वरूप को विकसित कर देती है। यह विकास की परम्परा ही भाषा की जीवनीय शक्ति है और प्रजनन सामर्थ्य भी इसी के कारण भाषा में आता है। पालि को प्राकृत से पृथक् भाषा स्वीकार न करने का प्रधान कारण यही है कि उसमें विकास या प्रजनन का सामर्थ्य नहीं है, इस सामर्थ्य के अभाव में उसे प्राकृत का ही एक रूप मानना आवश्यक है। प्राकृत में प्रजनन शक्ति सर्वाधिक है, उसने अपभ्रंशों को जन्म दिया तथा इन अपभ्रंशों ने अधुनातन लोकभाषाओं को विकसित किया है। अतः प्राकृत भाषा भाषाविज्ञान के तत्त्वों की दृष्टि से खूब समृद्ध है। इसमें उस विज्ञान के सभी सिद्धान्त पूर्णतया घटित होते हैं।

शब्दों के दो तत्त्व हैं—प्रकृति और प्रत्यय। प्रकृति या धातु शब्द का वह प्रधानरूप है, जो स्वयं स्वतन्त्र रहकर अपने साथ वाले प्रत्ययरूपों को अपने सेवार्थ या सहायतार्थ अपने आगे, पीछे या मध्य में जहाँ भी आवश्यकता होती है, उपयोग कर लेता है। तथ्य यह है कि प्रत्यय के सहयोग से शब्दों के रूपों की रचना होती है और भाषा का रूप विकसित होता जाता है। भाषा का जीवन-क्रम इस रूपात्मक विकास पर आधारित है।

जिस प्रकार वाक्य शब्दों के संयाग से बनते हैं, उसी प्रकार शब्द ध्वनियों के संयोग से। इस प्रकार भाषाशास्त्रियों ने भाषा की सबसे पहली इकाई ध्वनि को माना है, इसके आधार पर भाषा का सम्पूर्ण प्रासाद खड़ा हुआ है। प्रत्येक सजीव प्राणी किसी न किसी प्रकार की ध्वनि या शब्द को उस वायु की सहायता से किया करता है, जिसे वह अपने जीवन धारण के लिए बाहर से ग्रहण करता है तथा उसे बाहर निकालता है। ध्वनियों के आधार पर ही प्रत्येक क्रिया, विचार या भावों के लिए अलग-अलग शब्दों का निर्माण होता है। ध्वनियों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए ध्वनियन्त्र, ध्वनि उत्पन्न होने की क्रिया, ध्वनिवर्गीकरण, ध्वनियों की श्रवणीयता प्रभृति बातों पर विचार किया जाता है। यही विचार ध्वनिविज्ञान (Phonetics) कहलाता है।

अर्थ भाषा का आन्तरिक अवयव है। अतः वस्तुओं के जो चित्र मस्तिष्क में बनते और बिगड़ते हैं, उन्हीं की अभिव्यक्ति या प्रकाशन के लिए ध्वनियों का निर्देश होता है। मानस क्षितिज में निर्मित होनेवासे वस्तुचित्र अर्थ प्रतिमाओं के आधार पर ही अपने अस्तित्व का निर्माण करते हैं। अतः वाक्य, शब्द और ध्वनि यदि भाषा का शरीर है, तो अर्थ उसकी आत्मा।

प्राकृत भाषा में ध्वनिपरिवर्तन की सभी स्थितियाँ वर्तमान हैं। प्राकृत भाषा के वैयाकरणों ने ध्वनि विकारों का विवेचन बड़ी स्पष्टता के साथ किया है। भाषाविज्ञान के अनेक सिद्धान्तों को प्राकृत के अनुशासकों ने व्यवस्थित ढंग से निबद्ध किया है। विश्व की प्रत्येक वस्तु में भिन्नता है, जिस वस्तु का जो रूप आज दिखलाई पड़ता है, कालान्तर में उसमें परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन होते रहने से उसका स्वरूप परिवर्तित रूप में दिखलाई पड़ता है। कभी-कभी तो यह रूपपरिवर्तन इतना क्रान्तिपूर्ण हो जाता है, कि वस्तु बिल्कुल नवीन ही दिखलाई पड़ने लगती है। उसके मौलिक आधारभूत कारण भी नवीनरूप में दिखलायी पड़ते हैं। समाज में नवीन मनुष्य और जातियों का सम्मिश्रण होता जाता है, भाषा के रूप में भी नवीनता उत्पन्न होती जाती है। शब्दानुशासक उस नवीनता को रोकने का प्रयास करते हैं, पर विभिन्न प्रकार के मिश्रण स्वाभाविक

विकास को अवरुद्ध करने में असमर्थ रहते हैं, और भाषा का विकास निरन्तर होता जाता है। शब्दानुशासकों द्वारा किया गया शब्दविधान समय की गति के साथ चल नहीं पाता और जनभाषा का रूप अपनी नैसर्गिक गति से आगे बढ़ता चला जाता है। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा—प्राकृत में इस परिवर्तन की समस्त धाराओं का अवलोकन किया जा सकता है। बोलियों की भिन्नता एवं रूपविकारों की बहुलता का दर्शन भी प्राकृत भाषा में वर्तमान हैं।

ध्वनिपरिवर्तन—ध्वनिपरिवर्तन मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं—स्वयम्भू (Unconditional Phonetic Changes) और परोद्भूत (Conditional Phonetic Changes) भाषा के प्रवाह में स्वम्भू परिवर्तन किसी विशेष अवस्था या परिस्थिति की अपेक्षा किये बिना कहीं भी घटित हो जाते हैं। अकारण अनुनासिकता नाम का ध्वनिपरिवर्तन इसी में आता है। यद्यपि संसार में अकारण कोई कार्य नहीं होता, पर अज्ञात कारण होने से इसे अकारण कहा जाता है। प्राकृत में अंसु < अश्रु, तंसं < त्र्यस्रम्, वंकं < वक्रम्, मंसू < श्मश्रू, पुंछं < पृच्छम्, गुच्छं < गुच्छम्, मुंडं < मूर्द्धा, फंसो < स्पर्श, बंधो < बुध्नः, विंछिओ < वृश्चिकः, पडँसुआ < प्रतिश्रुत, मणंसी < मनस्वी, मणंसिला < मनःशिला, वयंसो < वयस्यः पडिसुदं < प्रतिश्रुतम्, अणिउंतयं < अतिमुक्तकम् आदि शब्दों में अकारण अनुनासिकता का सन्निवेश स्वयंभू परिवर्तन का सूचक है। यद्यपि यह सत्य है कि इस प्रकार के परिवर्तन भाषा में प्रवाह उत्पन्न करने के लिए किए जाते हैं, इनके सम्बन्ध में किसी विशेष अनुशासन की व्यवस्था नहीं है। स्वयम्भू परिवर्तन के उदाहरण में एक स्वर के स्थान पर अकारण जो द्वितीय स्वर हो जाता है, वह भी लिया जा सकता है। उदाहरणार्थ संस्कृति की आ ध्वनि इ और ई के रूप में परिवर्तित हो गयी है। यथा—कुप्पिसो < कूर्पासः, आइरिओ < आचार्यः, निसिअरो < निशाकरः, खल्लीडो < खल्वाटः, ठीणं < स्त्यानम् आदि प्रयोगों में स्वयम्भू परिवर्तन देखा जाता है। इक्षुः < उच्छू, निमग्न < णुमन्नो, प्रवासो < पावासु आदि प्रयोगों में घटित हुए विजातीय स्वर परिवर्तनों में स्वयम्भू परिवर्तन वर्तमान है। स्वयम्भू परिवर्तन किसी भाषा के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। इससे निम्न तीन बातों पर प्रकाश पड़ता है—

१. मूलस्वरों की वास्तविक स्थिति का स्पष्टीकरण—अ (a) का अ (a), ए (e), ओ (o) में विकसित होना—परिवर्तन मूल स्वरों के भीतर ही होता है।

२. अनुस्वार या अनुनासिकता का विकास एवं विस्तार—मनुष्य उच्चारण करते समय उच्चारण अवयवों में नासिका का स्वभावतः अधिक उपयोग करता

है। ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से सानुस्वार और सानुनासिक वर्ण विशेष महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि ये बहुमानिक हैं।

३. प्राकृत में ए (e) और ओ (o) मूल स्वर के रूप में पाये जाते हैं। संस्कृत अ (a), इ (i e) के स्थान पर प्राकृत में संयुक्त व्यञ्जनों के पूर्व ए (e) हो जाता है। यथा—

एत्थ < इत्थ, पेण्ड < पिण्ड, तेत्तीस < त्रयत्रिंशत्।

४. प्राकृत में ओ भी मूल स्वर जैसा ही है। संस्कृत उ प्राकृत में संयुक्त व्यञ्जनों के पूर्व ओ हो जाता है। यथा—

तोण्ड < तुण्ड; सोण्ड < शुण्ड; पोक्खर < पुष्कर; मोग्गर < मुद्गर; कोप्पर < कर्पूर; मोल्ल < मूल्य।

स्वयंभू परिवर्तन स्वर और व्यञ्जन दोनों में होते हैं। ये वे परिवर्तन हैं, जो किसी विशेष प्रकार की पार्श्ववर्ती ध्वनियों, बलाघात और सुर या भाषालय के प्रभाव के बिना घटित होते हैं। प्राकृत में स्वयंभू परिवर्तन प्रचुर परिमाण में पाये जाते हैं।

परोद्भूत या परिस्थिजन्य ध्वनि परिवर्तन के सहस्रों उदाहरण प्राकृत में पाये जाते हैं। शब्द में ध्वनि का आदि, मध्य या अन्त्य स्थान, बलाघात या सुर तथा वाक्य में दो शब्दों का संयोग अथवा सन्धि इत्यादि समीपवर्ती ध्वनियों का प्रभाव परिस्थितिजन्य परिवर्तन के कारण हैं। प्राकृत शब्द के अन्त में व्यंजन नहीं आते; जैसे पच्छा < पश्चात्; जाव < जावत्, ताव < तावत्, भगवं < भगवान्, सम्मं < सम्यक् इत्यादि।

इस परिवर्तन में सर्वप्रथम लोप (Elision) आता है। कभी-कभी बोलने में शीघ्रता या स्वराघात के प्रभाव से कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है। लोप दो प्रकार का संभव है—स्वर लोप और व्यञ्जन लोप। पुनः इन दोनों के तीन-तीन भेद हैं आदि लोप, मध्य लोप और अन्त्य लोप।

आदि स्वरलोप (Aphesis) प्राकृत में आदि स्वरलोप के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। आदि स्वर का लोप परिस्थिति पर निर्भर करता है। पद एवं पद के प्रयोग स्थलों की स्थिति का प्रभाव ही आदि स्वरलोप का कारण होता है। प्राकृत भाषा के वैयाकरणों ने[1] शब्द विशेषों में ही आदि स्वरलोप दिखलाया है। यथा—

---

१. लोपोऽरण्ये १।४ वररुचि—अरण्यशब्दे आदेरकारस्य लोपः स्यात्। वालाव्वरण्ये लुक् ८।१।६६—अलाव्वरण्यशब्दयोरादेरस्य लुग् वा भवति—हेमचन्द्र।

रण्णं <अरण्यम्—आदि स्वर 'अ' का लोप हुआ है।

दाणिं <इदानीम्—आदि स्वर अ का लोप हुआ है।

लाऊँ, लाऊ—अलावु—आदि स्वर अ का लोप हुआ है।

मध्य स्वरलोप (Syncope) मध्य स्वर के लोप के उदाहरण प्राकृत में अनेक हैं। संस्कृत व्यञ्जनों के लोप होने के अनन्तर जो प्राकृत शब्द रहते हैं, उन्हीं प्राकृत शब्दों में से मध्यवर्ती स्वर का लोप होता है[१]। यथा—

राजकुलं <राअउलं = राउलं—मध्यवर्ती अ स्वर का लोप

तवद्धं <तुहअद्धं - तुहद्धं—मध्यवर्ती अ स्वर का लोप

मर्मार्द्धं < मम अद्धं = महद्धं— ,, ,,

पादपतनं <पाअवडणं पावडणं— ,, ,,

कुम्भकारः <कुंभ आरो = कुंभारो— ,, ,,

पवनोद्धतम् <पवणोद्धअं = पवणुद्धअं < ,, ,,

सौकुमार्यं <सोअमल्लं - सोमल्लं—मध्यवर्ती अ का लोप।

अन्धकारः <अंधआरो = अंधारो—मध्यवती अ सार्ध रूप में।

पादपीठम् <पाअवीडं = पावीडं—मध्यवर्ती अ का लोप।

अन्त्य स्वर लोप के उदाहरण प्राकृत में नहीं मिलते; यतः प्राकृत में स्वरान्त शब्दों का ही व्यवहार किया जाता है।

आदि व्यञ्जनलोप—प्राकृत में आदि व्यञ्जन लोप के उदाहरण बहुत कम हैं। संयुक्त वर्णों के परिवर्तन में आदि व्यंजन लोप के अनेक उदाहरण आये हैं। तथ्य यह है कि प्राकृत में संयुक्त वर्णो में से आदि वर्ण का लोप होता है और कहीं-कहीं संयुक्त वर्ण के स्थान पर कोई दूसरा वर्ण ही आदिष्ट हो जाता है। प्राप्त उदाहरणों में प्रायः आदि लुप्त व्यंजन स् ही उपलब्ध है[२]। यथा—

स्थाणू—थाणू—आदि व्यञ्जन स् का लोप हुआ है।

स्तवः <थवो— ,, ,, और त के स्थान पर थ।

स्तम्भ <थंभो— ,, ,, ,, ,,

स्तुतिः <थुइ— ,, ,, ,, ,,

स्तोत्रम् <थोत्तं— ,, ,, ,, ,,

स्त्यानम् <थीणं— ,, ,, ,, ,,

१. लुक् ८।१।१० स्वरस्य स्वरे परे बहुलं लुग् भवति—हेमचन्द्र।

२. स्तम्भो स्तो वा ८।२।८; थ–ठावस्पन्दे ८।२।९–हेमचन्द्र; स्तम्बे ३।१३; स्तम्भे ख; ३।१४; स्थाणावहरे ३।१५; स्फोटके ३।१६—वररुचि।

स्तम्ब < तंबो—आदि व्यंजन स का लोप।

मध्य व्यञ्जन लोप—मध्य व्यंजनलोप की प्रवृत्ति प्राकृत भाषा में सबसे अधिक पायी जाती है। महाराष्ट्री प्राकृत में तो यह व्यञ्जनलोप की परम्परा इतनी अधिक विकसित है, जिससे शब्दों की भाषा स्वरान्त या स्वरमयी हो गयी है। सभी प्राकृत व्याकरणों में मध्यव्यञ्जन लोप के सिद्धान्त आये हुए हैं। साहित्यिक प्राकृत में मध्यवर्ती क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, प्, य् और व् का नियमतः लोप होता है[1]। यथा—

सयडं < शकटम्—मध्यवर्ती क व्यञ्जन का लोप, स्वर शेष और य श्रुति
मुउलो < मुकुलः—मध्यवर्ती क् का लोप।
मुउलिदा < मुकुलिता— ,, ,,
णअरं < नगरम्—मध्यवर्ती ग् का लोप।
मअंको < मृगङ्कः— ,, ,,
साअरो < सागरः— ,, ,,
भाईरही < भागीरथी—मध्यवर्ती ग् का लोप।
भअवदा < भगवता— ,, ,,
कअग्गहो < कचग्रहः—मध्यवर्ती च् का लोप।
रोअदि < रोचते— ,, ,, ।
उइदं < उचितम्— ,, ,, ।
सूअं < सूत्रकम्— ,, ,, ।
रअओ < रजकः—मध्यवर्ती ज् का लोप।
किअं < कृतम्—मध्यवर्ती त् का लोप।
रसाअलं < रसातलम्—,, ,, ।
वअणं < वदनम्—मध्यवर्ती द् का लोप।
विउलं < विपुलम्—मध्यवर्ती प् का लोप।
णअणं < नयनम्—मध्यवर्ती य् का लोप।
दिअहो < दिवसः—मध्यवर्ती व् का लोप।
विओओ < वियोगः—मध्यवर्ती य् का लोप।
तित्थअर < तीर्थंकर—मध्यवर्ती क् का लोप।
पआवई < प्रजापतिः—मध्यवर्ती ज् का लोप, प् का व्।

---

१. क–ग–च–ज–त–द–प–य–वां प्रायो लुक ८।१।१७७—हेमचन्द्र कगचज तदपयवां प्रायो लोपः २।२ वररुचि

यह सिद्धान्त हैम व्याकरण में ८।१।१६५—१७१ सूत्र तक मिलता है। यों तो प्राकृत भाषा का स्वभाव ही मध्यवर्ती व्यंजनों के विकार का है, अतः मध्य व्यंजन का लोप प्रायः सभी व्याकरणों में उपलब्ध है।

अन्त्य व्यंजन लोप प्राकृत में अन्त्य हल् व्यंजन का प्रयोग नहीं होता है। अन्त्य व्यंजन का लोप हो जाता है या अन्त्य व्यंजन के स्थान पर कोई स्वर हो जाता है। प्राकृत की प्रकृति यह है कि इसमें स्वरान्त शब्द ही होते हैं, अन्त्य हल् व्यंजन नहीं होते। यथा—

जाव < यावत्—अन्त्य हल् त् का लोप हो गया है।
ताव < तावत्— ,, ,, ,,
जसो < यशस्—अन्त्य हल 'स्' का लोप।
नहं < नभस्— ,, ,, ,,
सरो < सरस्— ,, ,, ,,
कम्मो < कर्मन्—अन्त्य व्यंजन न् का लोप।
जम्मो < जरुमन्— ,, ,,
सरिअः < सरित्—अन्त्य व्यंजन त् का लोप और उसके स्थान पर आ
पडिवआ < प्रतिपत्— ,, ,, ,,
संपआ < सम्पत्— ,, ,, ,,
वाआ < वाच्— ,, ,, ,,
सरओ < शरत्—अन्त्य त् का लोप और उसके स्थान पर ओ।
भिसओ < भिषक्—अन्त्य क् का लोप और उसके स्थान पर ओ।
पाउसो < प्रावृट् = अन्त्य द् का लोप और उसके स्थान पर स।

समाक्षर लोप (Haplology) एक ही प्रकार की दो ध्वनियों के आस पास आने पर उच्चारण सौकर्य के हेतु एक ध्वनि का लुप्त हो जाना समाक्षर लोप (Haplology) कहलाता है मध्य भारतीय आर्यभाषाओं में इसके अनेक उदाहरण आये हैं। यथा—

गच्छिस्ससि—गच्छिसि—स्स का लोप हो गया है, यही कारण है कि प्राकृत में दूसरा रूप 'गच्छिहिसि' प्रतिनिधि के रूप में पाया जाता है।

विपस्ससि—विपस्सी—एक स् का लोप हो गया है।
कोउहलं—कोहलं—उकार का लोप हुआ है।
चउत्थो, चोत्थो— — ,, ,,
नैयेय्यं—नैय्यं—यका का लोप।
राउउलं—राउलं—उकार का लोप।
देउउलं—देउलं—उकार लोप।

आगम – लोप का उल्टा आगम है। इसमें किसी नयी ध्वनि का स्वर या व्यञ्जन के रूप में आगम होता है। लोप के समान आगम के भी कई भेद हैं। प्राकृत में प्रायः सभी के उदाहरण पाये जाते हैं।

आदि स्वरागम (Prothesis) शब्द के आरम्भ में कोई स्वर आ जाता है। प्रायः यह स्वर ह्रस्व होता है। प्राकृत वैयाकरणों ने आदेश द्वारा आदि स्वरागम के सिद्धान्त का निरूपण किया है।[1] यथा—

इत्थी < स्त्री—आरम्भ में इ का आगम
पिक्कं < पक्वम्—आकार के स्थान पर इकार
सिविणो < स्वप्नः—इकार का आगम हुआ है।

मध्य स्वरागम—अज्ञान या आलस्य से बोलने की सुविधा के लिए बीच में स्वर का आगम हो जाता है।[2] इस सिद्धन्त का विस्तारपूर्वक विवेचन स्वर भक्ति (Anaptysis) के प्रसंग में किया जायगा। यहाँ कुछ उदारण दिये जाते हैं।

लहुवी < लघ्वी—उकार स्वर का मध्य में आगम
गरुवो < गुर्वी— ,, ,, ,,
बहुवी < वह्वी— ,, ,, ,,
पहुवी < पृथ्वी— ,, ,, ,,
विसमइओ < विषमयः—मध्य में इ स्वर का आगम

अन्त्य स्वरागम—प्राकृत में व्यञ्जनान्त शब्दों का अभाव है। अतः संस्कृत ध्वनियों में अन्त्य व्यञ्जन का लोप हो जाता है और स्वर का आगम भी। यथा—

सरिआ < सरित्—त् का लोप और उसके स्थान पर आ स्वर का आगम।
पडँसुआ < प्रतिश्रुत्—त् का लोप और इ कार का आगम।
हसि < हर्षत्—त् कार का लोप और इ अ का आगम।

आदि व्यञ्जनागम—प्राकृत में आदि व्यंजनागम के पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध हैं। प्रयत्नलाघव या मुख-सुख को ध्यान में रखते हुए मनुष्य

---

१. इः स्वप्नादौ ८।१।४६ हे०; पक्वाङ्गार-ललाटे वा ८।१।४७; स्त्रिया इत्थी ८।२।१३० हे०।

२. मध्यम-कतमे द्वितीयस्य ८।१।४८; सप्तपर्णे वा ८।१।४९; मयट्यइर्वा ८।१।५० हेमचन्द्र

की उच्चारण प्रवृत्ति कार्य करती है, अतः नये व्यञ्जनों को आदि में लाने से प्रयत्नलाघव या मुख सुख में विशेष सुविधा नहीं मिलती है। इतना होने पर भी प्राकृत में आदि व्यञ्जन आगम की प्रवृत्ति संस्कृत अथवा हिन्दी की अपेक्षा अधिक है।[1] इसका प्रधान कारण यह है कि ऋ स्वर का प्राकृत में अस्तित्व नहीं है, उसके स्थान पर कोई स्वर या व्यञ्जन का आगम होता है। यथा—

रिद्दि < ऋद्धिः—ऋ के स्थान पर रि—र व्यञ्जन का आगम और ऋ का इ स्वर
रिच्छो < ऋक्षः— ,, ,,
रिणं < ऋणं— ,, ,,
रिज्जू < ऋजुः— ,, ,,
रिसहो < ऋषभः— ,, ,,
रिऊ < ऋतुः— ,, ,,
रिसि < ऋषिः— ,, ,,

मध्य व्यंजनागम—मध्य व्यंजनागम के उदाहरण प्रायः सभी भाषाओं में पाये जाते हैं। यतः शब्द के मध्य भाग को बोलने में अधिक कठिनाई का अनुभव होता है, इस कठिनाई को आगम और लोप द्वारा ही दूर किया जा सकता है। प्राकृत में मध्य व्यंजन लोप के अनेक उदाहरण वर्तमान हैं। यथा—

भुमया, भमाया < भ्रू—मध्य में म का आगम।
पत्तलं < पत्रम्—मध्य में ल का आगम।
पीवलं < पीतम्—मध्य में व का आगम।
मिसालिअं < मिश्रम्—मध्य में ल का आगम।
जम्मणं < जन्म—ण का आगम
पागुरणं < प्रावरणम्—मध्य में ग् ध्वनि का आगम, व् का सम्प्रसारण होने से उ ध्वनि :
मउअत्तयाइ < मृदुकत्वेन—यकार का आगम।

अन्त्य व्यंजनागम—अन्त्य व्यंजन आगम प्राकृत में उन्हीं स्थलों में होता है, जहाँ प्रत्यय विधान किया गया है। प्रातिपदिक से इल्ल, उल्ल और स्वार्थिक 'ल्ल' प्रत्ययों का अनुशासन होने पर ही इसके उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यथा—

पुरिल्लं < पुर—इल्ल प्रत्यय होने से अन्त में ल्ल व्यंजन का आगम
एकल्लो < एक—ल्ल प्रत्यय होने से अन्त्य में ल्ल व्यंजन का आगम
महुल्लं < मधु— ,, ,,

---

१. रिः केवलस्य ८।१।१४०; ऋणर्ज्वृषभर्त्वृषौ वा ८।१।१४१ हेमचन्द्र

अंध ल्लो < अन्ध—ल्ल प्रत्यय होने से अन्त्य में ल्ल व्यंजन का आगम माना जायगा।
उवरिल्लं < उपरि—इल्ल प्रत्यय होने से अन्त में ल्ल व्यंजन का आगम माना जायगा।

नवल्लो < नव—ल्ल प्रत्यय, अतः ल्ल व्यंजनागम।

विपर्यय (Metathesis) विपर्यय को कुछ भाषा शास्त्री 'परस्परविनियम' भी कहते हैं। किसी शब्द के स्वर, व्यंजन अथवा अक्षर जब एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं और उस दूसरे स्थान के प्रथम स्थान पर आ जाते हैं, तो इनके परस्पर परिवर्तन को विपर्यय कहा जाता है। प्राकृत में वर्ण विपर्यय के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। यथा—

अलचपुरं < अचलपुरं—च–ल में स्थान विपर्यय हुआ है।
आणालो < आलानः—ल–न में स्थान विपर्यय हुआ है।

मरहट्ठं < महाराष्ट्रं—ह र में स्थान विपर्यय है।
कणेरू < करेणू—ण–र में स्थान विपर्यय है।

हलुअं < लघुकम्—ल-च (ह) में स्थान विपर्यय है।
वाणारसी < वाराणसी—र–ण में स्थान विपर्यय है।

दहो < ह्रद < ह–द में स्थान विपर्यय हुआ है।
णडालं < ललाटम्—ल–ट (ड) में स्थान विपर्यय हुआ है।

हलिआरो < हरताल—र-ल में स्थान विपर्यय है।

गुय्हं—गुज्झं < गुह्यम्—ह य् में स्थान विपर्यय।
सय्ह < सह्य— ,, ,,

ह्रस्वमात्रा का नियम (Law of Mora) डॉ० गायगर ने पालि में ध्वनि-परिवर्तन के नियमों के आधार पर ह्रस्वमात्रा काल का नियम निर्धारित किया है। वस्तुतः मात्रा भेद ध्वनिपरिवर्तन की एक प्रमुख दिशा है। इसमें स्वर कभी ह्रस्व से दीर्घ और दीर्घ से ह्रस्व हो जाते हैं। प्राकृत में शब्दों की दो ही स्थितियाँ उपलब्ध हैं—ह्रस्व—एक मात्रिक और दीर्घ द्विमात्रिक। दो से अधिक मात्रा काल वाले शब्द प्राकृत में नहीं हैं। स्पष्टीकरण के लिए यों कहा जा सकता है कि दीर्घ सानुनासिक स्वर प्रकृति में नहीं हैं। वररुचि ने मांसादिसु वा ४।१६ और हेम ने 'मांसादेर्वा ८।१।२९ में मांसादि दीर्घ सानुनासिक शब्दों में अनुस्वार के कोप का वैकल्पिक विधान किया है और वक्रादि गण में इन शब्दों का पाठ कर प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के माँस शब्द से मंसं और मासं रूप सिद्ध किये हैं। अतएव स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में जहाँ दो से अधिक मात्राकालिक नियम था, वहाँ प्राकृत में द्विमात्रा कालिक नियम ही रह गया। इसी कारण वैयाकरणों को वक्रादिगण, आकृतिगण, पानीयगण, गभीरादिगणों में बहुमात्रिक शब्दों का पाठ कर द्विमात्रिक बनाने का अनुशासन करना पड़ा।

१. उपर्युक्त नियम के अनुसार प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के जिन शब्दों में संयुक्त व्यंजन से पूर्व दीर्घ स्वर था, प्राकृत में प्रायः वह ह्रस्व रूप में उपलब्ध होता है। यथा—

मग्ग <मार्ग—संयुक्त 'र्ग' से पूर्ववर्ती म को ह्रस्व किया गया है।

जिण्णं <जीर्ण—संयुक्त 'र्ण' से पूर्ववर्ती 'जी' को ह्रस्व किया गया है।

चुण्णं <चूर्णम्—संयुक्त 'र्ण' से पूर्ववर्ती 'चू' को ह्रस्व किया गया है।

तित्थं <तीर्थम्—'र्थ' संयुक्त से पूर्ववर्ती 'ती' को ह्रस्व किया गया है।

दुमत्तो <द्विमात्रः—'त्र' संयुक्तवर्ण से पूर्ववर्ती म को ह्रस्व किया है।

उल्लं <आर्द्रम्—'द्रं' संयुक्त से पूर्ववर्ती 'आ' के स्थान पर ह्रस्व उ।

सुण्हा <सास्ना—'स्ना' संयुक्त से पूर्ववर्ती सा के स्थान पर ह्रस्व सु।

कंसिओ <कांसिक—'कां' बहु मात्रिक के स्थान पर द्विमात्रिक 'कं'।

सुहुमं <सूक्ष्मम्—'क्ष्म' संयुक्त केपूर्ववर्ती सू के स्थान पर ह्रस्व सु।

गिम्हो <ग्रीष्मः—ष्म संयुक्त वर्ण के पूर्ववर्ती ग्री के स्थान पर गि।

उम्हा <उष्मदा—ष्म संयुक्त वर्ण के पूर्ववर्ती ऊ के स्थान पर उ।

उवज्झाओ <स्वाध्याय—संयुक्त ध्या के पूर्ववर्ती पा के स्थान पर व (प)

सज्झाओ <स्वाध्याय—संयुक्त ध्या के पूर्ववर्ती स्वा को ह्रस्व।

कज्जं <कार्यम्—'र्य' संयुक्त के पूर्ववर्ती का को ह्रस्व।

अच्छेरं <आश्चर्यम्—'श्च, संयुक्त वर्ण के पूर्ववर्ती आ को ह्रस्व

धुत्तो <धूर्तः—संयुक्त र्त के पूर्ववर्ती धू को धु।

कित्ती <कीर्त्तिः—संयुक्त 'र्त्त' के पूर्ववर्ती की को ह्रस्व कि।

२. जिन स्थानों पर प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में संयुक्त व्यंजन के पूर्व दीर्घ स्वर था, कहीं-कहीं प्राकृत में उनका प्रतिरूप दीर्घ बना रहता है, पर इस अवस्था में संयुक्त व्यञ्जन असंयुक्त हो जाते हैं। यथा—

दीहर <दीर्घः—यहाँ संयुक्त व्यंजन का पूर्ववर्ती 'दी' ज्यों का त्यों है, पर 'र्घ' संयुक्त असंयुक्त हर दो गया है।

भारिआ <भार्या—

वीरिअं <वीर्यम्—

सूरिओ <सूर्यः, आयरिओ <आचार्यः

वस्तुतः उपर्युक्त प्रवृत्ति मध्य भारतीय आर्यभाषा के आरम्भिक काल के अनुरूप नहीं है। अपभ्रंश काल या आधुनिक आर्यभाषाओं के विकास का में उत्पन्न हुई है। इसी कारण उपर्युक्त शब्दों के प्रायः वैकाल्पिक रूप भी उपलब्ध होते हैं। यथा—दिग्घं <दीर्घम्; भज्जा <भार्या; विज्जं <वीर्यम्; सुज्जो <सूर्यः आदि। इन रूपों के अस्तित्व का कारण लिपि विकास है। ब्राह्मी लिपि की आरम्भिक

अवस्था में संयुक्त व्यञ्जनों के स्थान पर एक ही व्यञ्जन लिखा जाता था और इसी को स्पष्ट करने के लिए उससे पूर्व के स्वर को दीर्घ लिख दिया जाता था। बाद में यह लिखित रूप ही बोलचाल में प्रयुक्त होने लगा और दीहर जैसे शब्दों के लिए स्वरभक्ति के नियमों का अनुशासन करना पड़ा।

३. जब ध्वनि का बल दीर्घ स्वर के पहले के अक्षर पर पड़ता है, तब उन शब्दों का दीर्घ ह्रस्व कर दिया जाता है। यथा—

उक्ख, उक्ख्य < उत्खात—खा को ह्रस्व किया गया है।

वरई < वराकी—रा को ह्रस्व किया है।

अणिय < अनीक—नी, को ह्रस्व कर णि किया है।

अलीअ, अलिय < अलीक—ली को ह्रस्व किया गया है।

४. दीर्घ स्वर के अनन्तर आने वाले अक्षर पर ध्वनिबल पड़ने से दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है। यथा—

आयरिअ < आचार्य—चा के अनन्तर ध्वनि बल है,

ठवेइ < स्थापयति—प पर ध्वनि बल होने से स्था को ह्रस्व।

कुमर, कुँवर < कुमार—र पर ध्वनि बल होने से मा को ह्रस्व।

५. संयुक्ताक्षरों के पहले ए आने पर एँ और ओ आने पर ओँ हो जाता है, जो कि उन वर्णों के ह्रस्व रूप हैं। यथा—

पेँच्छइ < प्रेक्षते, अवेँरिक्ख < अपेक्षित्।

दुत्पेँछ < दुष्प्रेक्ष, पओँट्ठ < प्रकोष्ठ।

६. शब्द के अन्त में आनेवाला दीर्घ स्वर सन्धि होने पर प्राकृत में ह्रस्व हो जाता है। यथा—

णइसोत्तो < नदीस्रोतः, कण्णउरं < कर्णपूरं

बहुमुहं < बधूमुखम्, पीआ-पिअं < पीतापीतम्

गामणिसुओ < ग्रामणीसुतः

७. प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में जहाँ साधारण व्यंजन से पूर्व दीर्घ स्वर होता है, वहाँ प्राकृत में संयुक्त व्यञ्जन से पूर्व ह्रस्व स्वर हो जाता है। यथा—

उदुक्खलं < उदूखलम्, निड्डं < नीडम्

८. छन्द में यतिभंग दोष बचाने के लिए ह्रस्व स्वर और मात्राओं को दीर्घ कर दिया जाता है। यथा—

अँसू < अश्रु, घीमओ < घृमतः

मईयं < मतिमान्

९. यदि कोई स्वर अनुस्वारवाला हो और उसके ठीक बाद ही र, श, ष, स और ह में से कोई व्यञ्जन हो तो अनुस्वार का लोप कर दिया जाता है और स्वर दीर्घ हो जाता है। यथा—

वीसा < विंसति, तीसा < त्रिंशत्
चत्तालीसा < चत्वारिंशत्, सीह < सिंह

१०. सामासिक पदों में ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का स्वर हो जाता है। यथा—

अन्त + वेई   अन्तावेई (अन्तर्वेदिः)
सत्त + वीसा = सत्तावीसा (सप्तविंशतिः)
पइ + हरं = पईहरं (पतिगृहम्)
भुअ + यंतं = भुआयंतं (भुजायन्त्रम्)

दीर्घ का ह्रस्व—

जउँणा + यडं = जऊँणयडं (यमुनातटम्)
मणा + सिला = मणसिला (मनःशिला)
गोरी + हरं = गोरिहरं (गौरीगृहम्)
सिला + खलिअं = सिलखलिअं (शिलास्खलितम्)

११. उपसर्गों का पहला स्वर शब्दों के साथ जुड़ने पर दीर्घ कर दिया जाता है। यथा—

आहिजाइ—अभिजाति
पाडिवआ, पडिवआ < प्रतिपदा
पाडिसार, पडिसार < प्रतिस्मार
सामिद्धी, समिद्धी < समृद्धिः

समीकरण (Assimilaton) एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित कर अपना रूप दे देती है, तो उसे समीकरण कहते हैं। जैसे संस्कृत चक्र का प्राकृत में चक्क होता है। समीकरण प्रधानतः दो प्रकार का होता है—(१) पुरोगामी (२) पश्चगामी।

समीकरण को सावर्ण्य, सारूप्य और अनुरूप भी कहा जाता है।

पुरोगामी (Progressive Assimilation) जहाँ पहली ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित कर अपना रूप प्रदान करती है, वहाँ पुरोगामी समीकरण होता है। यथा—

तक्क < तर्क—प्रथम ध्वनि क ने द्वितीय ध्वनि र को प्रभावित कर अपना स्थान बनाया है।

वक्क <वक्र—प्रथम ध्वनि क ने द्वितीय ध्वनि र को प्रभावित कर अपना स्थान बनाया है।

लग्ग <लग्न—प्रथम ध्वनि ग् ने न् को प्रभावित कर अपना रूप उपस्थित किया है।

तिग्गं <तिग्मं—प्रथम ध्वनि ग् ने द्वितीय ध्वनि म् को प्रभावित किया है।

कव्वं <काव्यम्—प्रथम ध्वनि व् ने य को प्रभावित किया है।

मल्लं <माल्यम्—प्रथम ध्वनि ल् ने द्वितीय ध्वनि य् को प्रभावित किया है।

रुद्दो <रुद्रम्—प्रथम ध्वनि द् ने द्वितीय ध्वनि र् को प्रभावित किया है।

भद्दं <भद्रम्— ,, ,, ,, ,,

समुद्दो <समुद्र— ,, ,, ,, ,,

धत्ती—धात्री—प्रथम ध्वनि त् ने द्वितीय ध्वनि र् को प्रभावित किया है।

पश्चगामी समीकरण (Regressive Assimilation) जब दूसरी ध्वनि पहली ध्वनि को प्रभावित करती है और अपना रूप प्रदान करती है तो पश्चगामी समीकरण कहलाता है। यथा—

कम्म <कर्म—द्वितीय ध्वनि म् ने प्रथम ध्वनि र् को प्रभावित कर अपना रूप ग्रहण किया है।

जम्म <जन्म—द्वितीय ध्वनि म् ने प्रथम ध्वनि न् को प्रभावित किया है।

सव्व <सर्व—द्वितीय ध्वनि व् ने प्रथम ध्वनि र को प्रभावित किया है।

सप्प <सर्प—द्वितीय ध्वनि प् ने प्रथम ध्वनि र् को प्रभावित किया है।

धम्म <धर्म—द्वितीय ध्वनि म् ने प्रथम ध्वनि र् को प्रभावित किया है।

भत्तो <भक्तः—द्वितीय ध्वनि त् ने प्रथम ध्वनि क् को प्रभावित किया है।

दुद्धो <दुग्धः—द्वितीय ध्वनि ध् ने प्रथम ध्वनि ग् को प्रभावित किया है।

कट्ठं <कष्टं—द्वितीय ध्वनि ट् ने प्रथम ध्वनि ष् को प्रभावित किया है।

सद्दो <शब्दः—द्वितीय ध्वनि द् ने प्रथम ध्वनि ब् को प्रभावित किया है।

अक्को <अर्कः—द्वितीय ध्वनि क् ने प्रथम ध्वनि र् को प्रभावित किया है।

वक्कलं <बल्कलम्—द्वितीय ध्वनि क् ने प्रथम ध्वनि ल् को प्रभावित किया है।

पारस्परिक व्यञ्जन समीकरण (Mutual Assimilation) जब दो पार्श्ववर्ती व्यञ्जन एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और इस पारस्परिक प्रभाव के कारण दोनों ही परिवर्तित हो जाते हैं और एक तीसरा ही व्यञ्जन आ जाता है। इस प्रवृत्ति को पारस्परिक व्यञ्जन समीकरण कहते हैं। प्राकृत में इस सिद्धान्त का निर्वाह प्रचुर परिमाण हुआ है। यथा—

सच्चो <सत्यः—त् और य् परस्पर में एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं, अतः उसके स्थान पर च्च का आदेश।

किच्चो <कृत्यः—त् और य् परस्पर में एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं, अतः उनके स्थान पर च्च का आदेश।

वम्महो <मन्मथः—न् म् के प्रभाव से मन्म के स्थान पर वम्म आदेश।

तिक्खं <तीक्ष्णं—क्ष्, ण् के प्रभाव से क्ख आदेश।

धत्थो <ध्वस्तः—स् और त् के प्रभाव से त्थ आदेश।

विषमीकरण (Dissimilation) समीकरण का उल्टा विषमीकरण है। इसमें दो समान ध्वनियों में से एक के प्रभाव से या यों ही मुख-सुख के लिए एक ध्वनि अपना स्वरूप छोड़कर दूसरी बन जाती है। इसके भी दो भेद हैं—पुरोगामी विषमीकरण और पश्चगामी विषमीकरण।

पुरोगामी विषमीकरण (Progressive Dissimilation) जब प्रथम **व्यञ्जन** ज्यों का त्यों रहता है और दूसरा परिवर्तित हो जाता है तो उसे पुरोगामीकरण कहते हैं। यथा—

मिस्सं—मिश्रं—श् और र् में से प्रथम ध्वनि श (स्) शेष और र् का लोप तथा स् को द्वित्व।

अस्सो <अश्वः—श् और व् में से प्रथम ध्वनि श् (स्) शेष और द्वित्व।

कागो <काकः—प्रथम व्यंजन क ज्यों का त्यों है, इसने द्वितीय क को प्रभावित कर ग में परिवर्तित कर दिया है।

अवस्सं <अवश्यम्—प्रथम ध्वनि श् (स्) का द्वित्व।

विउअं <विवृतम्—प्रथम व्यंजन व् ज्यों का त्यों और द्वितीय व् के स्थान पर उ ध्वनि।

कालओ <कालकः—प्रथम क् ध्वनि ज्यों की त्यों और द्वितीय क् के स्थान पर अ ध्वनि।

लांगूल <लंगूर—

दोहलो <दोहदो—

पश्चगामी विषमीकरण (Regressive Dissimilation) इसमें दूसरा व्यंजन या स्वर ज्यों का त्यों बना रहता है और प्रथम व्यंजन या स्वर में विकार होता है। यथा—

हलिद्दा <हरिद्रा—द्वितीय द्रा—संयुक्त द् ध्वनि के प्रभाव से प्रथम र् का ल के रूप में परिवर्तन।

गेन्दुओ <केन्दुकः—द्वितीय क ध्वनि के प्रभाव से प्रथम क् के स्थान में ग

मउलं < मुकुलं—मकारोत्तर प्रथम उ के स्थान पर द्वितीय उकार के प्रभाव के कारण अ ध्वनि ।

मउरं < मुकुरं—मकारोत्तर प्रथम उ के स्थान पर द्वितीय उकार के प्रभाव के कारण अ ध्वनि ।

निउरं < नूपुरं—द्वितीय उकार के प्रभाव से प्रथम ऊ के स्थान पर अ ।

मउडं < मुकुटं—द्वितीय उकार के प्रभाव से प्रथम उ के स्थान पर अ ।

बम्महो < मन्मथः—द्वितीय म के प्रभाव से प्रथम म के स्थान पर ब ।

अपश्रुति (Ablaut) भाषाविज्ञान में प्रयुक्त अपश्रुति शब्द वस्तुतः जर्मन शब्द Ablaut के आधार पर गढ़ा गया है । इसका अर्थ है स्वर परिवर्तन । इस भाव के लिए अपश्रुति से इतर स्वर क्रम, अक्षरावस्थान, अक्षरश्रेणीकरण इत्यादि पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त होते हैं । जब केवल स्वरों के परिवर्तन से शब्दों में अर्थ-वैभिन्य प्रकट होता है तो उस प्रक्रिया को अपश्रुति कहते हैं । अंग्रेजी में इसे Vawel gradation स्वरानुक्रम कहा जाता है । इस प्रक्रिया के अनुसार व्यञ्जन अक्षुण्ण बने रहते हैं, केवल स्वरों में परिवर्तन होता है । यह प्रवृत्ति सेमेटिक तथा भारोपीय परिवार की भाषाओं में विशेष रूप से पायी जाती है । डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का मत है कि इस प्रणाली के कारण एक धातु के विभिन्न व्युत्पादित रूप और विभक्त्याश्रित सुबन्त तथा तिङन्त रूपों में अनेक प्रकार के स्वरों की अपश्रुति लक्षित होती है । इस प्रकार स्वर परिवर्तन बहुत कुछ स्वराघात तथा बलाघात पर भी आधारित है । अपश्रुति मूलतः दो प्रकार की है—गुणात्मक अपश्रुति (Qualitative ablaut) और मात्रिक अपश्रुति (Quantitative ablaut) ।

गुणात्मक अपश्रुति (Qualitative ablaut) एक ही मूल रूप कई भाषाओं में कभी एक स्वर से युक्त तथा कभी दूसरे स्वर से युक्त पाया जाता है । इस प्रकार की अपश्रुति को गुणात्मक अपश्रुति कहते हैं । गुणात्मक अपश्रुति में स्थान परिवर्तन की अनेक दिशाएँ सम्भव हैं । यथा—

१. अग्र—मध्याग्र

संवृत से अर्धसंवृत—यथा—

ई = ए आमेलो < आपीडः—अग्र संवृत ई के स्थान पर अग्र अर्धसंवृत ए स्वर

केरिसो < कीदृशः—	,,	,,	,,
एरिसो < ईदृशः—	,,	,,	,,
पेऊसं < पीयूषम्—	,,	,,	,,
वहेडओ < विभीतकः	,,	,,	,,
पेढं < पीठम्—	,,	,,	,,

२. अग्र—मध्याग्र

संस्कृत से अर्धविवृत—यथा—

इ = एँ

पेॅच्छइ < पिच्छइ

सहसेॅत्ति < सहसा < इति

ममेॅत्ति < मम + इति

३. अग्र—पश्च

अर्द्धसंवृत से संवृत अर्थात् ए = ऊ यथा—

थूणो < स्तेनः—अग्र अर्ध संवृत एकार के स्थान पर पश्च संवृत ऊ।

मध्य अर्ध विवृत के स्थान पर पश्च विवृत—अ = आ

आहिआई < अभियाति—मध्य अर्धविवृत के स्थान पर पश्च विवृत आ

आफँसो < अस्पर्शः— ,, ,, ,,

दाहिणो < दक्षिणः— ,, ,, ,,

पारकेरं < परकीयम्— ,, ,, ,,

पायडं < प्रकटम्— ,, ,, ,,

इस प्रकार प्राकृत भाषा में ध्वनि परिवर्तनों की अनेक दिशाएँ सम्भव हैं। प्राकृत ही एक ऐसी भाषा है जिसमें आठों मूल स्वरों के परिवर्तन पाये जाते हैं।

मात्रिक अपश्रुति (Quantitative ablaut) कभी-कभी एक ही शब्द में ह्रस्व, दीर्घ ये दोनों ही रूप पाये जाते हैं। अतः संस्कृत व्याकरण में इसकी तीन अवस्थाएँ पायी जाती हैं—गुण, वृद्धि और सम्प्रसारण। वैयाकरणों की दृष्टि में अपश्रुति से तात्पर्य स्वर-ध्वनियों तथा स्वर ध्वनियुग्मों के उस परिवर्तन से है जो मूलभारोपीय भाषा में होता था। इस परिवर्तन का मुख्यतः सम्बन्ध उदात्तादि स्वरों के साथ था। अ, ए, ओ इन तीनों स्वरों के ह्रस्व तथा दीर्घ रूप परस्पर परिवर्तन से निष्पन्न होते थे प्राकृत होते थे। प्राकृत में एँ, ओं को ह्रस्व माना गया है। वे जब ये वर्ण ह्रस्व होते हैं, तो लघुता के कारण अर्थ में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। गुण के उदाहरण प्राकृत भाषा में अनेक वर्तमान हैं, पर वृद्धि सम्बन्धी उदाहरणों की कमी है। यतः वृद्धिवाले सन्ध्यक्षरों का प्रयोग प्राकृत में नहीं होता है।

गुण के उदाहरण—

दिसा + इभ = दिसेभ

पाअड + उरु = पाअडोरु

महा + इसी = महेसी

राअ + इसी = राऐसी

साव्व + उउय = सव्वोउय

णिच्च + उअग = णिच्चोउग

करिअर + उरु = करिअरोरु

अण + उउय = अणोउय

प्राकृत में वृद्धि का विकृत रूप उपलब्ध होता है। ए और ओ से पहले किन्तु उस ए और ओ से पहले नहीं, जो संस्कृत के ऐ और औ से निकले हों, पूर्ववर्ती अ और आ का लोप होकर ए और ओ मिल जाते हैं। यथा—

गाम + एणी = गामेणी

णव + एला = णवेला

फुल्ल + एला = फुल्लेवा

जाल + ओलि = जालोलि

वाअ + ओलि = वाओलि

पहा + ओलि = पहोलि

जल + ओह जलोह

मात्रिक अपश्रुति के अन्य उदाहरण निम्नलिखित भी हैं—

दीर्घ (वृद्धि)	गुण	
पिआ—	पिअर—	पितृ

पत्—पाडइ (व०) पाडीअ (भू०), पाडिहिइ (भवि०), पाडउ (वि०) पाडेज (क्रि०)

वड्—आहोडइ (व०) आहोडीअ (भू०) आहोडिहिइ (भवि०), आहोडउ वि०), आहोडेज्ज (क्रि०)

दृश्—दरिसइ (व०) दरिसीअ (भू०) दरिसिहिइ (भ०), दरिसउ (वि०) दरिसेज्ज क्रि०)

अर्प—अप्पई (व०) अप्पीअ (भू०) अप्पिहिइ (भवि०) अप्पउ (वि०) अप्पिज्ज (क्रि०)

स्था—ठाअइ (व०) ठाअसी (भू०) ठाइहिइ (भवि०) ठाअउ (वि०) ठाएज्ज (क्रि०)

ध्यै—झाअइ (व) झाअसी (भू०), झाइहिइ (भवि०) झाअउ (वि०) झाएज्ज (क्रि०)

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि स्वर परिवर्तन से अर्थ में बहुत अधिक अन्तर हो गया है। प्राकृत के क्रियारूपों में गुणात्मक अपश्रुति के समस्त लक्षण घटित होते हैं। इसी प्रकार संज्ञा और सर्वनाम के सुबन्तों में भी अपश्रुति के के लक्षण वर्तमान हैं।

सम्प्रसारण—अपश्रुति का एक अंग सम्प्रसारण है। इसमें या एवं य के स्थान में ई और वा एवं व के स्थान में उ स्वर पाया जाता है। प्राकृत में सम्प्रसारण ठीक उन्हीं अवसरों पर होता है, जिन पर संस्कृत में; ध्वनि बलहीन अक्षर में य का इ और व का उ हो जाता है। यथा यज् धातु से इष्टि बना और प्राकृत में यही इट्ठि हो गया। वप् से उप्त बना, पर प्राकृत में इसी का उप्त हो गया है। स्वप् से सुप्त निकला, प्राकृत में यही सुप्त हो गया।

असंयुक्त व्यञ्जन के पूर्व में जब य अथवा या आता है तो उसके स्थान पर ईकार और संयुक्त व्यञ्जन के पहले आता है तो प्रायः इकारादेश होता है। यथा—

थीणा, ठीणा < स्त्यान—असंयुक्त व्यंजन न से पूर्व होने से ईकार—

आइण्ण < राजन्य—संयुक्त व्यंजन न्य से पूर्व होने से इकार

वीईवयमाण < व्यतिव्रजमाण—असंयुक्त व्यंजन ति से पूर्व होने से ईकार

वीईवइत्ता < व्यतिव्रजित्वा — ,, ,,

अपवाद—

विअण < व्यंजन—

विलिअ < व्यलीक

यदि व संस्कृत शब्दों में संयुक्त व्यंजनों के पहले आता है, तो प्राकृत में उसका रूप ऊ न होकर उ होता है और पश्चात् ओं के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यथा—

अस्सोँत्थ < अश्वत्थ—त्र् का उ, पश्चात् ओँ।

तुरिअ < त्वरित्—व् का उ।

सुवइ < स्वपिति—व् का उ और प का व।

सोत्थिँ < स्वस्ति—व का उ, पश्चात् ओं।

सोत्थिँवाअण < स्वस्तिवाचन— ,, ,,।

प्राकृत में सम्प्रसारण नियम के अन्तर्गत अय् का ए और अव् का ओ में परिवर्तित होना भी सम्मिलित है। यथा—

ठवेइ < स्थापयति—पकारोत्तर अकार और य इन दोनों के स्थान पर ए हुआ है।

कहेइ < कथयति—थकारोत्तर अकार और य इन दोनों के स्थान पर ए।

णेइ < नयति—अय के स्थान पर ए।

अव, अउ होकर ओ के रूप में परिवर्तित हो गया है। यथा—

ओअरण < अवतरण—अव के स्थान पर ओ हुआ है।

णोमालिया < नवमल्लिका—अव के स्थान पर ओ।

ओसरइ < अपसरति—अप के स्थान अव और इसके स्थान पर ओ, उय, ऊ और ओ में परिवर्तित हो जाता है। यथा—

ऊहसियँ, ओहसियँ, उवहसियँ < उपहसितम्

उज्झाओ, ओज्झाओ < उपाध्यायः

ऊआसो, ओआसो < उपवासः

स्वरपरिवर्तन पर स्वराघात का प्रभाव (Influence of accent on Voclasion) प्राकृत में स्वराघात का क्या स्वरूप था, इसका निर्णय अभी तक नहीं हुआ है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल के पश्चात् स्वराघात को अंकित करने की प्रथा उठ गयी थी। पर इतना सत्य है कि जिन अक्षरों पर स्वराघात होता था, उनके पूववर्ती अक्षरों में स्वर परिवर्तन के उदाहरण अभी भी मिलते हैं। अक्षरों में स्वर प्रमुख है, वह अक्षर का मेरुदण्ड है। उच्चारण करते समय स्वर का आरोह (Rising tone) या अवरोह (Falling tone) अथवा इन दोनों की मिश्रित स्थिति अवश्य होती है। प्राकृत भाषा में इस स्थिति को किसी चिह्न विशेष द्वारा व्यक्त नहीं किया जाता; बल्कि इसका ज्ञान स्वर-परिवर्तन द्वारा किया जाता है। स्वराघात का प्रभाव निम्न प्रकार अवगत किया जाता है।

१. जब प्रथमाक्षर पर स्वराघात होता है, तो प्राकृत में ऐसे कई शब्दों में अ के स्थान पर इ हो जाता है। यथा—

मज्झिम < मध्यम—म पर स्वराघात है, अतः ध्य (ज्झ) में रहनेवाले अ के स्थान पर इ।

उत्तिम < उत्तम—'उ' पर स्वराघात है, अतः त्त में रहने वाले अ के स्थान पर इ।

उत्तिमंग < उत्तमाङ्ग— ,, ,, ,,

कइम < कतम—'क' पर स्वराघात है, अतः अ के स्थान पर इ।

चरिम < चरम—च पर स्वराघात, अतः रकारोत्तर अकार को इ।

२. स्वराघात वाले अक्षर के बाद 'अ' का 'उ' भी हो जाता है। यथा—

पागुरणं < प्रावरणम्—'पा' पर स्वराघात है, अतः वकारोत्तर अकार को उकार।

गउओ < गवयः—'ग' पर स्वराघात, अतः वकारोत्तर अ को उ।

वीसुं < विष्वक्—'वि' पर स्वराघात, अतः उकार।

पढुमं < प्रथमम्—'प्र' पर स्वराघात अतः थकारोत्तर अ कार को उकार

३. कभी-कभी स्वराघात वाले अक्षर के अनन्तर इ का उ और उ का इ भी हो जाता है। यथा—

भिउडी < भ्रुकुटिः

उच्छू < इक्षुः—इकार के स्थान पर उ।

दुविहो < द्विविधः—इ के स्थान पर उ।

दुआई < द्विजातिः— ,, ,,

णुमज्जइ < निमज्जति— ,, ,,

णुमन्नो < निमग्नः— ,, ,,

पावासु < प्रवासिन्— ,, ,,

पुरिसो < पुरुष—उकार के स्थान पर इ।

पउरिसं < पौरुषम्— ,, ,,

४. स्वराघात के प्रभाव के कारण ही अनुदात्त अन्त्य अक्षर ह्रस्व कर दिए जाते हैं। यथा—

कडत्ति < कृतेति, घरसामिणी च्चेय < गृहस्वामिनी चैव

सहस च्चिय < सहसा चैव

गअणें च्चिअ < गगने चैव

आवाएँ च्चिय < आपाते चैव

भिक्खत्ति < भिक्षेति

चाइँत्ति < त्यागी इति

५. कहीं-कहीं शब्द का दूसरा अक्षर ह्रस्व कर दिया जाता है। यह परिवर्तन प्राकृत में स्वराघात को दूसरे अक्षर से हटाकर प्रथम अक्षर पर कर देने से होता है। यथा—

गहित < गृहीत, पाणिय < पानीय

६. कभी-कभी उन अक्षरों में इ हो जाता है, जो स्वरित वर्णों के बाद आते हैं। यह परिवर्तन विशेष कर सर्वनामों के षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में और परस्मैपद धातुओं के उत्तम पुरुष बहुवचन में होता है। यथा—

तेसिं < तेषाम्—ते स्वरित वर्ण के अनन्तर आकार को इ—

तासिं < तासाम्—ता स्वरित वर्ण के अनन्तर आकार को इ।

एएसिं < एतेषाम्—ते स्वरित वर्ण के अनन्तर आकार को इ—

जेसिं < येषाम्—ये स्वरित वर्ण के अनन्तर आकार को इ।

जासिं < यासाम्—या (जा) स्वरित वर्ण के अनन्तर आकार को इ।

अण्णेसिं < अन्येषाम् – ण्णे स्वरित के अनन्तर आकार को इ।

एसिं < एषाम्—ए स्वरित के अनन्तर आकार को इ।

परेसिं < परेषाम्—य स्वरित के अनन्तर आ को इ।
वंदिमो < वंदामहे—'वं' स्वरित के अनन्तर आ को इ।
नमिमो < नमामः—न स्वरित के अनन्तर आ को इ।
भणिमो < भणामः—भ स्वरित के अनन्तर आ को इ।

७. कभी-कभी अ के समान आ भी स्वरित वर्ण के पहले इ में बदल जाता है और यह स्पष्ट ही है कि पहले आ का अ हो जाता है। यथा—

इत्थामित्त < इत्थामात्र
अदिमेँत्तँ < अतिमात्रम्
दग्गेंज्झ < दुर्ग्राह्यं

स्वरभक्ति (Anaptyxis) संयुक्त ध्वनियों के उच्चारण में कठिनाई का अनुभव होने के कारण उच्चारण सौकर्य के लिए उनके बीच में स्वरागम होता है। इसीको स्वरभक्ति अथवा विप्रकर्ष कहते हैं। प्राचीन आर्यभाषा से ही प्रयत्न लाघव की प्रवृत्ति पायी जाती है। छान्दस् में इन्दर (इन्द्र), दरशत् (दर्शत्) जैसे स्वरभक्ति युक्त उच्चारण का उल्लेख प्रतिशाख्यों में पाया जाता है और संस्कृत में पृथिवी (पृथ्वी), सुवर्ण (स्वर्ण) जैसे रूप पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। मध्य भारतीय आर्यभाषा काल में विप्रकर्षयुक्त उच्चारण की प्रवृत्ति और अधिक बढ़ती हुई दृष्टिगोचर होती है और य्, र्, ल् तथा सानुनासिक संयुक्त व्यञ्जनों में इसका प्रयोग मिलता है। अपभ्रंश में स्वर भक्ति युक्त पदों का प्रचलन पाया जाता है। प्राकृत के उदाहरण निम्नाङ्कित हैं—

गंभीरिअं < गाम्भीर्यम्—र् और य् का पृथक्करण और इ स्वर का आगम।
गहीरिअं < गाम्भीर्यम्— ,, ,, ,, ,,
चोरिअं < चौर्यम्— ,, ,, ,, ,,
धीरिअं < धैर्यम्—र् और य् का पृथक्करण तथा इ स्वर का आगम
भारिआ < भार्या— ,, ,, ,,
वरिअं < वर्यम्— ,, ,, ,,
थेरिअं < स्थैर्यम्— ,, ,, ,,
सूरिओ < सूर्यः— ,, ,, ,,
सुन्दरिअं < सौन्दर्यम्— ,, ,, ,,
सोरिअं < शौर्यम्— ,, ,, ,,
गरिहा < गर्हा—र् और ह का पृथक्करण तथा इ स्वर का आगम
बरिहो < बर्हः— ,, ,, ,,
अरिहो < अर्हः ,, ,, ,,

वरिसं <वर्षम्—र् और ष् (स) का पृथक्करण तथा इ स्वर का आगम।
वरिससयं <वर्षशतम्— ,, ,, ,,
वरिसा <वर्षा— ,, ,, ,,
किलम्बइ <क्लाम्यति—क् और ल् का पृथक्करण तथा इ का आगम।
किलेसी <क्लेशः— ,, ,, ,,
गिलाइ <ग्लायति—ग् और ल् का पृथक्करण तथा इ का आगम।
गिलाणं <ग्लानन्— ,, ,, ,,
मिलाणं <म्लानम्—म् और ल् का पृथक्करण तथा इ का आगम।
सिलोओ <श्लोकः—श् (स्) और ल् का पृथक्करण तथा इ का आगम।
सुइलं <शुक्लम्—क् और ल् का पृथक्करण तथा क् का लोप, इ का आगम

सन्धि—सन्धानं सन्धिः। उत्कृष्टो वर्णानां सन्निकर्ष उच्यते। तद्विषयमपि कार्यं समानदीर्घादि सन्धिरित्यभिजातम्, उपचारात्। वर्णानां समवायः सन्धिः। अर्थात् मिलने को सन्धि कहते हैं। जब किसी शब्द में दो वर्ण निकट आने पर मिलते हैं, तो उसके मेल से उत्पन्न होनेवाले विकार को सन्धि कहते हैं। प्राकृत में सन्धि की व्यवस्था विकल्प से होती है, नित्य नहीं। सन्धि के तीन भेद हैं (१) स्वर सन्धि, (२) व्यञ्जन सन्धि, (३) अव्यय सन्धि।

स्वर सन्धि—दो अत्यन्त निकट स्वरों के मिलने से जो ध्वनि में विकार उत्पन्न होता है उसे स्वर सन्धि कहते हैं। इसके प्राकृत में पाँच भेद हैं—दीर्घ, गुण, विकृत वृद्धि सन्धि, ह्रस्व-दीर्घ और प्रकृतिभाव या सन्धि निषेध।

१. दीर्घ सन्धि—ह्रस्व या दीर्घ अ, इ और उ से उनका सवर्ण स्वर परे रहे तो दोनों के स्थान में विकल्प से सवर्ण दीर्घ होता है। यथा—

(क) दंड + अहीसो = दंडाहीसो, दंड अहीसो
विसम + आयवो = विसमायवो, विसम आयवो
रमा + अहीणो = रमाहीणो, रमा अहीणो
रमा + आरोमो = रमारामो, रमा आरामो

(ख) मुणि + इणो = मुणीणो, मुणि इणी
मुणि + ईसरो = मुणीसरो, मुणि ईसरो
गामणी + इइहासो = गामणीइहासो, गामणी इइहासो
गामणी + ईसरो = गामणीसरो, गामणी ईसरो

(ग) भाणु + उवज्झाओ = भाणूवज्झाओ, भाणु उवज्झाओ
साहु + ऊसवो = साहूसवो, साहु ऊसवो

बहू + उअरं = बहूअरं, बहू उअरं

कणेरू + ऊसिअं = कणेरूसिअं, कणेरू ऊसिअं

२. गुण सन्धि—अ या आ वर्ण से परे ह्रस्व या दीर्घ इ और उ वर्ण हो तो पूर्व-पर के स्थान में एक गुण आदेश होता है। यथा—

(क) वास + इसी = वासेसी, वास इसी

रामा + इअरो = आमेअरो, रामा इअरो

वासर + ईसरो = वासरेसरो, वासर ईसरो

विलया + ईसो = विलयेसो, विलया ईसो

(ख) गूढ + उअरं = गूढोअरं, गूढ उअरं

रमा + उवचिअं = रमोवचिअं, रमा उवचिअं

सास + ऊसासा = सासोसासा, सास ऊसासा

विज्जुला + ऊसुंभिअं = विज्जुलोसुंभिअं

दिसा + इभ = दिसेभ

महा + इसि = महेसि

करिअर + उरु = करिअरोरु

३. विकृतवृद्धि सन्धि—ए और ओ से पहले अ और आ हों तो उनका लोप हो जाता है। यथा—

णव + एला = णवेला

वण + ओलि = वणोलि

माला + ओहड = मालोहड

४. ह्रस्व दीर्घ विधान सन्धि—सामासिक पदों में ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व होता है। इस ह्रस्व या दीर्घ के लिए कोई निश्चित नियम नहीं है। यथा—

वारि + मई = वारीमई, वारिमई

वेलु + वणं = वेलूवणं, वेलुवणं

सिला + खलिअं = सिलखलिअं, सिलाखलिअं

५. प्रकृतिभाव सन्धि—सन्धि कार्य के न होने को प्रकृतिभाव कहते हैं। प्राकृत में संस्कृत की अपेक्षा सन्धि निषेध अधिक मात्रा में पाया जाता है। इस सन्धि के प्रमुख नियम निम्नाङ्कित हैं :—

(क) इ और उ का विजातीय स्वर के साथ सन्धि कार्य नहीं होता। यथा—

पहावलि + अरुणो = पहावलिअरुणो

वि + अ = विअ

(ख) ए और ओ के आगे यदि कोई स्वर वर्ण हो तो उनमें सन्धि कार्य नहीं होता है। यथा—

वणे + अडइ = वणे अडइ

देवीए + एत्थ = डेवीए एत्थ

एओ + एत्थ = एओ एत्थ

(ग) उद्वृत्तस्वर का किसी भी स्वर के साथ सन्धि कार्य नहीं होता। यथा—

निसा + अरो = निसा अरो

रयणी + अरो = रयणी अरो

मणु + अत्तं = मणु अत्तं

(घ) इस सन्धि का अपवाद भी मिलता है अर्थात् कहीं-कहीं विकल्प से सन्धि कार्य हो जाता है और कहीं नित्य भी सन्धि कार्य देखा जाता है। यथा—

कुंभ + आरो = कुम्भारो, कुम्भ आरो

सु + उरिसो = सूरिसो, सुउरिसो

चक्क + आओ = चक्काओ

साल + आहणो = सालाहणो

(ङ) तिप् आदि प्रत्ययों के स्वरों के साथ भी सन्धि कार्य नहीं होता है। यथा—

होइ + इह = होइ इह

(च) किसी स्वरवर्ण के पर में रहने पर उसके पूर्व के स्वर का विकल्प से लोप होता है। यथा—

तिअस + ईसो = तिअसीसो

राअ + उलं = राउलं

गअ + इंद = गइंद

व्यञ्जन सन्धि—प्राकृत में सन्धि के अधिक नियम नहीं मिलते; यतः अन्तिम हल् व्यञ्जन का लोप हो जाने से सन्धिकार्य का अवसर ही नहीं आता है। इस सन्धि के प्रमुख नियम निम्नलिखित हैं—

१. अ के बाद आये हुए संस्कृत विसर्ग के स्थान में उस पूर्व 'अ' को ओ हो जाता है।

अग्रतः < अग्गओ

मनः + सिला = मणोसिला

२. पद के अन्त में रहनेवाले मकार का अनुस्वार होता है। यथा—

गिरिम् < गिरिं, जलम् < जलं

३. मकार से परे स्वर रहने पर विकल्प से अनुस्वार होता है। यथा—

उसभम् + अजिअं = उसभमजिअं, उसभं अजियं

धणम् + एव = धणमेव, धणं एव

४. बहुलाधिकार रहने से हलन्त अन्त्य व्यञ्जन का भी मकार होकर अनुस्वार हो जाता है। यथा—

साक्षात् < सक्खं, यत् < जं

पृथक् < पिहं, सम्यक् < सम्मं

५. ङ्, ञ्, ण् और न् के स्थान में पश्चात् व्यञ्जन होने से सर्वत्र अनुस्वार हो जाता है। यथा—

पंक्ति < पँति, पँती

कञ्चुकः < कंचुओ, लाञ्छनम् < लंछणं

विन्ध्य < विंझो,

अव्यय सन्धि—संस्कृत में इस नाम की कोई सन्धि नहीं है, पर प्राकृत में अनेक अव्यय पदों में यह सन्धि पायी जाती है। यह सन्धि दो अव्यय पदों में होती है। इसके प्रमुख नियम निम्नलिखित हैं—

१. पद से परे आये हुए आदि अव्यय के अ का लोप विकल्प से होता है। लोप होने के बाद अपि का प यदि स्वर से परे हो तो व हो जाता है। यथा—

केण + अपि = केणवि, केणावि

कहं + अपि = कहंपि, कहमवि

किं + अपि = किंपि, किमवि

२. पद के उत्तर में रहनेवाले इति अव्यय के आदि इकार का लोप विकल्प से होता है और स्वर के परे रहनेवाले तकार को द्वित्व होता है। यथा—

किं + इति = किंति

जं + इति = जंति

दिट्टं + इति = दिट्ठंति

तहा + इति < तहात्ति, तहत्ति

पुरिसो + इति = पुरिसोत्ति

३. त्यद् आदि सर्वनामों से पर में रहनेवाले अव्ययों तथा अव्ययों से पर में रहनेवाले त्यदादि के आदि-स्वर का विकल्प से लोप होता है। यथा—

एस + इमो = एसमो

अम्हे + एत्थ = अम्हेत्थ

जइ + एत्थ = जइत्थ

अम्हे + एव्व = अम्हेव्व

अकारण अनुनासिकता (Spontanious Nazalization) ध्वनि परिवर्तन में अनुनासिकता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुख-सुविधा के लिए कुछ लोग निरनुनासिक ध्वनियों को सानुनासिक बना देते हैं। इस अनुनासिकता का कारण कुछ मनीषी द्रविड भाषाओं का प्रभाव मानते हैं। पर हमारा विचार है कि सुख-सुविधा के कारण ही भाषा में अनुनासिकता आ जाती है और स्वभावतः बिना किसी कारण के निरनुनासिक ध्वनियाँ सानुनासिक बन जाती हैं। प्राकृत में अकारण अनुनासिकता का प्राचुर्य है।

प्राकृत में कितने ही शब्दों में प्रयोगानुसार पहले, दूसरे या तीसरे वर्ण पर अनुस्वार का आगम होता है। यथा—

प्रथम वर्ण के ऊपर अनुस्वार—
अंसु (अश्रु) = अंसुं
तंस (त्र्यस्त्रम्) = तंसं
वंक (वक्रम्) = वंकं
मसू (श्मश्रू) = मंसू
मुडं (मूर्द्धा) ने मुंडं
द्वितीय वर्ण के ऊपर अनुस्वारागम—
इह = इहं, पडसुआ = पडंसुआ
मणसी (मनस्वी) = मणंसी
मणसिणी (मनस्विनी) = मणंसिणी
मणसिला (मनःशिला) = मणंसिला
तृतीय वर्ण के ऊपर अनुस्वारागम—
अणिउतयं (अतिमुक्तकम्) = अणिउंतयं
उवरि (उपरि) = उवरिं

उण एवं स्यादि ण और सु के आगे विकल्प से अनुस्वार का आगम होता है। यथा—

काउण (कृत्वा) = काउणं
कालेण (कालेन) = कालेणं
वच्छेण (वृक्षेन) = वच्छेणं
वच्छेसु (वृक्षेषु) = वच्छेसुं

घोषीकरण (Vocalization) ध्वनि परिवर्तन में घोषीकरण का सिद्धान्त भी महत्त्वपूर्ण है। इस सिद्धान्तानुसार अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं; क्योंकि ऐसा करने से उच्चारण में सुविधा होती है। शौरसेनी प्राकृत में यह प्रवृत्ति

और अधिक पायी जाती है। सामान्यतः प्राकृत भाषा में अघोष वर्णों के स्थान पर सघोष वर्ण हो जाते हैं। यथा—

एग्गो < एकः— अघोषवर्ण क के स्थान घोषवर्ण ग हुआ है।
अमुगो < अमुकः— ,, ,, ,,
आगारो < आकारः— ,, ,, ,,
आगरिसो < आकर्षः— ,, ,, ,,
परगास < प्रकाश— ,, ,, ,,
होदि < भवति—अघोष वर्ण त के स्थान पर द हुआ है।

अघोषीकरण (Devocalization)—ध्वनि परिवर्तन के सिद्धान्तों में अघोषीकरण का सिद्धान्त भी आता है। प्राकृत भाषा की ध्वनियों में इस सिद्धांत का प्रयोग बहुत कम हुआ है। पर पैशाची प्राकृत में यह सिद्धान्त सर्वत्र प्रचलित है। यतः पैशाची में वर्ण के तृतीय और चतुर्थ वर्ण के स्थान पर प्रथम और द्वितीय वर्ण का आदेश होता है। यथा—

राचा < राजा—घोष वर्ण ज के स्थान पर अघोष च।
तामोतरो < दामोदरः—घोष वर्ण द के स्थान पर अघोष त।
मेखो < मेघः—घोष वर्ण घ के स्थान पर अघोष ख।
गकनं < गगनम्—घोष वर्ण ग के स्थान पर अघोष क।
सरफसं < सरभसं—घोष वर्ण भ के स्थान पर अघोष फ।

महाप्राणीकरण (Aspiration) उच्चारण प्रसंग में कभी-कभी अल्पप्राण ध्वनियाँ महाप्राण हो जाती हैं। यथा—

पुरुषः < फरुसो अघोष अल्पप्राण प के स्थान पर अघोष महाप्राण फ हुआ है।
परिघः < फलिहो— ,, ,, ,,
परिखा < फलिहा— ,, ,, ,,
पनसः < फणसो— ,, ,, ,,
परिभद्रः < फलिहद्दो— ,, ,, ,,
पुष्पम् < पुप्फं— ,, ,, ,,
स्पन्दनम् < फंदणं— ,, ,, ,,
स्तुतिः < थुई—अघोष अल्पप्राण त के स्थान पर अघोष महाप्राण थ।
स्तोकं < थोअं— ,, ,, ,,
स्तवः < थवो— ,, ,, ,,
पुष्करं < पोक्खरं—अघोष अल्पप्राण क के स्थान पर अघोष महाप्राण ख।
पुष्करिणी < पोक्खरिणी—,, ,, ,,
स्कन्दः < खन्दो— ,, ,, ,,

अल्पप्राणीकरण (Despiration) महाप्राण ध्वनियों के स्थान पर अल्पप्राण ध्वनियाँ उच्चारण सौकर्य के कारण स्थान प्राप्त कर लेती हैं। **यथा—**

भगिनी—बहिन

ऊष्मीकरण—कभी-कभी कुछ ध्वनियाँ ऊष्म में परिवर्तित हो जाती हैं। प्राकृत में ख, घ, थ, ध, और भ वर्णों के स्थान पर ह हो जाता है। शीकर, निकष, स्फटिक और चिकुर शब्द में क के स्थान पर भी ह हो गया है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया ऊष्मीकरण है। यथा—

शीकरः > सीहरो—क के स्थान पर ह ऊष्म वर्ण हो गया।

निकषः > निहसो ,, ,, ,,

स्फरिकः > फलिहो ,, ,, ,,

चिकुरः > चिहुरो ,, ,, ,,

मुखं > मुहं—ख के स्थान पर ह ऊष्म वर्ण हो गया है।

मेखला > मेहला— ,, ,, ,,

मेघः > मेहो—घ के स्थान पर ह ऊष्म वर्ण हो गया है।

नाथः > नाहो—थ के स्थान पर ह ऊष्म वर्ण हो गया है।

मिथुनं > मिहुणं— ,, ,, ,,

साधु > साहू—ध के स्थान पर ह ऊष्म वर्ण हो गया है।

तालव्यीकरण—प्राकृत की कुछ विभाषाओं में दन्त्य वर्णों के स्थान पर तालव्यीकरण तालव्य वर्ण भी पाये जाते हैं। यथा—

चिच्छइ < त्यक्षति—दन्त्य त् ध्वनि के स्थान पर तालव्य च्।

चिट्ठइ < तिष्ठति दन्त्य त् के स्थान पर तालव्य च्।

विज्जज्झर < विद्याधर – दन्त्य द् और ध् के स्थान पर ज् और झ् तालव्य वर्ण।

चियत्त (अर्ध मा०) < त्यक्त—दन्त्य त् के स्थान पर तालव्य च्।

दन्त्यवर्ण—अर्धमागधी में तालव्य वर्णों के स्थान पर दन्त्य वर्ण पाये जाते हैं। यथा—

तेइच्छा < चिकित्सा—तालव्य च् के स्थान पर दन्त्य त्।

दिगिच्छत्त < जिघत्सत्—तालव्य ज् के स्थान पर दन्त्य द्।

दिगिच्छा < जिघत्सा— ,, ,, ,,

दोसिणा < ज्योत्स्ना— ,, ,, ,,

दोसिणी < ज्यौत्स्नी— ,, ,, ,,

वणदोसिणी < वनज्यौत्स्नी— ,, ,, ,,

दोॅग्ग < युग्म—तालव्य य् के स्थान पर दन्त्य द् ।

मूर्धन्यीकरण—संस्कृत दन्त्य वर्ण प्राकृत में प्रायः मूर्धन्य बन जाते हैं। डॉ॰ पिशल का अनुमान है कि प्राकृत की ध्वनि प्रक्रिया में मूर्धन्य वर्ण दन्त्य भी पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्राकृत का सम्बन्ध केवल छान्दस् से ही नहीं है, बल्कि अनेक जनबोलियों से है, जिससे उच्चारण की भिन्नता के कारण इस प्रकार की वैविध्य आ गया है। यथा—

टगरो < तगरः—दन्त्य त् ध्वनि के स्थान पर मूर्धन्य ट् ध्वनि ।
टूबरो < तूबरः— ,, ,, ,,
टसरो < त्रसरः— ,, ,, ,,
पडाया < पाताका— ,, ,, ड ध्वनि
पडिकरइ < प्रतिकरोति—दन्त्य त् ध्वनि के स्थान पर मूर्धन्य ड् ध्वनि
पडिमा < प्रतिमा— ,, ,, ,,
पहुडि < प्रभृतिः— ,, ,, ,,
मडयं < मृतकम्— ,, ,, ,,
पढमो < प्रथमः—दन्त्य थ् ध्वनि के स्थान पर मूर्धन्य ढ ध्वनि ।
निसीढो < निशीथः— ,, ,, ,,
डंस < दंश—दन्त्य द् ध्वनि के स्थान पर मूर्धन्य ड् ध्वनि ।
डंभो < दम्भः— ,, ,, ,,
डोला < दोला— ,, ,, ,,

कई स्थानों पर यह मूर्धन्यीकरण छिपा-सा रहता है। यथा—

पइण्णा < प्रतिज्ञा—
पइट्ठाण < प्रतिष्ठान, पइट्ठा < प्रतिष्ठा, पइट्ठा < प्रतिष्ठा

य, व-श्रुति– प्राकृत में य और व श्रुति पायी जाती है। इसका भाषावैज्ञानिक हेतु यह है कि प्राचीन प्रारतीय आर्यभाषा के मूल अक्षर-भार (Syllabic weight) को सुरक्षित रखना है। संस्कृत में एक पद में एक साथ दो स्वर ध्वनियाँ नहीं पायी जाती हैं, उनमें सन्धि हो जाती है, पर प्राकृत में दो स्वर ध्वनियाँ एक साथ भिन्न अक्षर प्रक्रिया का सम्पादन करती हुई पायी जाती हैं। सम्भवतः स्वर सन्धि की इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए ही य-व श्रुति का विधान किया गया है। उदाहरणार्थ 'ओअणं' शब्द लिया जा सकता है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के नियम से ओ के मध्यवर्ती ओ और अ में सन्धि होनी चाहिए और सन्धि हो जाने पर अक्षर-भार अक्षुण्ण नहीं रह सकेगा। अतएव ओअणं, ओयणं < योजनं में ओ तथा अ में सन्धि न हो तथा अक्षरभार भी अक्षुण्ण बना रहे, इसी कारण य-व श्रुति का प्राकृत वैयाकरणों ने विधान किया है।

य और व ध्वनि के विकासक्रम पर विचार करने से भी ज्ञात होता है कि प्राकृत में ये ध्वनियाँ शुद्ध संस्कृत ध्वनियों के रूप में विकसित नहीं हुई हैं। प्राकृत में पदादि य सदा ज हो जाता है। यदि संस्कृत य स्वरमध्यगत है तो वह प्राकृत में लुप्त हो जाता है। इस प्रकार प्राकृत में संस्कृत य का दुहरा विकास देखा जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने बताया है कि अ या उसके दीर्घरूप आ के पूर्व तथा पर य श्रुति का प्रयोग होता है—क, ग, च, ज आदि का लोप होने पर अं, आं, अ, आ के बीच में य श्रुति का प्रयोग होता है। य श्रुति में य का उच्चारण 'लघुप्रयत्नतर' होता है। यहाँ 'लघुप्रयत्नतर' शब्द विचारणीय है। आज के पाश्चात्य ध्वनिशास्त्री श्रुति (Glide) को ध्वन्यात्मक तत्त्व (Phonematic elements) न मानकर सन्ध्यात्मक तत्त्व (Prosodic elements) मानते हैं। सम्भवतः आचार्य हेम के इस श्रुति रूप य का उच्चारण इतना पूर्ण नहीं हो पाया, कि वह य वर्ण (Phoneme) हो सके। अतः यह स्पष्ट है कि य श्रुत्यात्मकता को ही संकेतिक करता है, ध्वन्यात्मकता को नहीं।

पद रचना—पश्चिम की बोलियों में य श्रुति की प्रवृत्ति देखी जाती है और पूर्व की बोलियों में व श्रुति की। य-व श्रुति का पूर्णतया विकास अपभ्रंश में पाया जाता है। प्राकृत की पदरचना संस्कृत की अपेक्षा बहुत सरल है। यह सारल्य प्रवृत्ति शब्दों एवं धातुओं दोनों के रूपों में दिखलायी पड़ती है। संस्कृत के तीन वचन प्राकृत में दो ही रह गये—एकवचन और बहुवचन। प्राकृत की इसी परम्परा का निर्वाह आधुनिक भारतीय भाषाएँ भी कर रही हैं।

प्राकृत में तीन प्रकार के ही प्रातिपदिक पाये जाते हैं—(१) अ और आ से अन्त होनेवाले; इ और ई से अन्त होनेवाले एवं उ और ऊ से अन्त होनेवाले; संस्कृत के हलन्त शब्द यहाँ अजन्त बन गये हैं। अतः प्रयोगकाल में अकारान्त आकारान्त, इकारान्त, ईकारान्त और उकारान्त, ऊकारान्त शब्द ही उपलब्ध होते हैं। ऋकारान्त शब्द भी प्राकृत में नहीं हैं। ये भी उक्त छः कार के शब्दों में ही परिवर्त्तित हो गये हैं।

प्राकृत भाषा में संस्कृत के लिङ्ग सुरक्षित हैं। पुंल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग तीनों प्रकार के रूप यहाँ पाये जाते हैं। पर नपुंसक-लिङ्ग के रूपों में कुछ क्षीणता दिखलायी पड़ती है। यों तो संस्कृत में ही नपुंसकलिङ्ग के रूप प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों को छोड़कर शेष सभी विभक्तियों में पुल्लिङ्ग के समान हो गये हैं। प्राकृत में भी कर्त्ता और कर्म इन दो कारकों में एकवचन और बहुवचन के रूप प्रायः सुरक्षित रहे। हाँ, एक बात यह अवश्य हुई कि प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के रूप समान हो गये, जबकि संस्कृत में इन दोनों विभक्तियों के रूपों में

क्वचित्, कदाचित् अन्तर भी हो जाता था। अपभ्रंशकाल में आकर नपुंसकलिङ्ग शब्द भी प्रायः पुल्लिङ्ग में परिवर्तित हो गये और इस लिङ्ग के सभी शब्दों के रूप पुंल्लिङ्ग शब्दों के समान ही बनने लगे। यही प्रभाव आधुनिक भारतीय भाषाओं पर पड़ा और नपुंसकलिङ्ग की स्थिति समाप्त होती गयी। पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दो ही प्रकार के शब्द रूप शेष रह गये हैं।

प्राकृतकाल में विभक्तियों में भी सरलता आयी। संस्कृत में आठ विभक्तियाँ थीं, किन्तु प्राकृत में चतुर्थी का लोप हो गया और वह षष्ठी में सम्मिलित कर दी गयी। अतएव प्राकृत में आठ विभक्तियों के स्थान पर सात विभक्तियाँ ही पायी जाती हैं। यही नहीं रूपों तथा सुप् आदि विभक्तियों में भी बड़ी सरलता हो गयी तथा सभी पुंल्लिङ्ग शब्दों के रूप प्रायः अकारान्त शब्दों के रूपों से प्रभावित हुए। फलतः अकारान्त तथा इकारान्त-उकारान्त शब्दों के षष्ठी एकवचन के रूपों में जो भेद था, वह लुप्त हो गया तथा इकारान्त-उकारान्त शब्दों में वे रूप भी सम्मिलित हो गये, जो अकारान्त शब्दों में बनते थे। उदाहरण के लिए अग्गि और वाउ शब्द को लिया जा सकता है। इन दोनों शब्दों के षष्ठी के एकवचन में अग्गिस्स, अग्गिणो <अग्नेः; वाउस्स, वाउणो <वायोः रूप अकारान्त वच्छ शब्द के समान वैकल्पिक रूप में उपलब्ध होते हैं। तृतीया आदि विभक्तियों में भी सरलता दिखलायी पड़ती है।

स्त्रीलिङ्ग आ, ई और ऊ से अन्त होनेवाले शब्दों के रूपों में समानता पायी जाती है। प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में उक्त शब्दों के तीन-तीन रूप पाये जाते हैं।

(१) शून्य—अविकारी रूप

(२) ओ—विभक्ति चिह्नवाला रूप

(३) उ-विभक्ति चिह्नवाला रूप

उदाहरणार्थ माला, नई और बहू शब्दों को लिया जा सकता है। इन तीनों शब्दों के प्रथमा विभक्ति बहुवचन में निम्नलिखित रूप होंगे—

माला, मालाओ, मालाउ <मालाः—प्रथमा बहुवचन

नई, नईओ, नईउ <नद्यः— ,, ,,

बहू, बहूओ, बहूउ <बध्वः

स्पष्ट है कि आकारन्त, ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों में पर्याप्त समानता का प्रवेश हो गया था और रूपों की विभिन्नता दूर होने लगी थी। इतना ही नहीं तृतीया, चतुर्थी, षष्ठी और सप्तमी इन चारों विभक्तियों के एकवचन में एक ही रूप बनने लगा है। द्वितीया विभक्ति के एकवचन में प्रातिपदिक की अन्तिम स्वर-

ध्वनि को ह्रस्व बनाकर 'म्, विभक्ति चिह्न प्रयुक्त होने लगा। यह प्रवृत्ति भी सरलीकरण की ही है। यथा—

मालं < मालां, नइं < नदीं, बहुँ < बधूं।

स्त्रीलिङ्ग में ऋकारान्त शब्द प्रायः आकारान्त हो गये और उनकी रूपावलि आकारान्त शब्दों के समान बन गयी। हलन्त शब्दों के रूप अजन्त शब्दों में परिणत हो गये और शब्द रूपावलि का सघन जाल छिन्न-भिन्न हो गया तथा संज्ञा रूपों में पर्याप्त सरलता आ गयी।

सर्वनाम शब्दों के रूपों में युष्मत् और अस्मत् शब्दों के रूपों में कई तरह के परवर्ती विकास पाये जाते हैं। अहं का विकसित रूप है, अहं और अहअं तथा त्वं का तं, तुमं और तुं रूप पाये जाते हैं। इन शब्दों की रूपावलि में कुछ पर संस्कृत का प्रभाव है, और कई रूप अकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों से प्रभावित हैं। यथा—मइ, मए, ममम्मि, ममस्सि < मयि; मत्तो, मइत्तो, ममादो, ममादु, ममाहि < मत् आदि पर अकारान्त शब्दों का प्रभाव देखा जा सकता है। अन्य सर्वनाम रूपों में कोई विशेष अन्तर नहीं हैं, उनकी रूपावलि प्रायः अकारान्त शब्दों के समान ही होती है।

शब्दरूपों की अपेक्षा प्राकृत क्रियारूपों में अत्यधिक परिवर्तन पाया जाता है। जिस प्रकार शब्दरूपों में एकरूपता लाने की प्रवृत्ति प्राकृत में पायी जाती है, उसी प्रकार क्रियारूपों में भी एकरूपता लाने की प्रवृत्ति वर्तमान है। संस्कृत धातुओं में व्यञ्जन ध्वनियाँ भी वर्तमान थी, पर प्राकृत में आकर सभी धातु स्वरान्त हो गये। संस्कृत में दस गणों में धातुओं को बाँटा गया था और प्रत्येक गण का विकरणात्मक कार्य पृथक् होता था, जिससे क्रियारूपों में पार्थक्य समाविष्ट हो गया था। पर प्राकृत में शनैः शनैः यह गणभेद लुप्त होने लगा और अपभ्रंश में आते-आते सभी धातु भ्वादि गण के हो गये। शब्द रूपों के समान द्विवचन के रूप भी लुप्त हो गये। आत्मनेपदी रूपों का प्रायः अभाव हो गया।

कालों में व्यवहारानुसार भूत, भविष्यत् और वर्तमान के अतिरिक्त आज्ञा एवं विधि के रूप ही शेष रह गये। लिट् और लङ् लकार का लोप हो जाने से कृदन्त रूपों का प्रयोग अधिक बढ़ गया। भूतकाल की क्रिया का कार्य कृदन्तों से ही चलने लगा। परिणाम यह निकला कि भूतकाल के सभी पुरुष और सभी वचनों में एक ही रूप का अस्तित्व समाविष्ट है। यथा—

√ग्रह से भूतकाल के सभी पुरुष और सभी वचनों में गहणीअ रूप अग्रहीत् अगृह्णात् तथा जग्राह के स्थान पर प्रयुक्त होने लगा। इसी प्रकार √कृ से काही, कासी, काहीअ और √स्था से ठाही, ठासी, ठाहीअ रूप आकार्षीत्, अकरोत्, चकार तथा अस्थात्, अतिष्ठत्, तस्थौ के स्थान पर प्रयुक्त होने लगे। वर्तमान का

अर्थ बतलाने के लिए वर्तमान काल; अतीत–भूत का अर्थ बतलाने के लिए भूत, भविष्य का अर्थ प्रकट करने के लिए भविष्यत्काल; संभावना (Possiblity), संशय (Doubt), विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट (Speaking of honorary duty), संप्रश्न (Questioning) और प्रार्थना; इच्छा, आशीर्वाद, आज्ञा, शक्ति (Ability) एवं आवश्यकता (Necessity) अर्थ में विधि या अनुज्ञा का प्रयोग और जब परस्पर संकेतवाले दो वाक्यों का एक संकेतवाक्य बने और उसका बोध कराने वाली सांकेतिक क्रिया जब अशक्य प्रतीत हो, तबके लिए क्रियातिपत्ति का प्रयोग होता है। कियातिपत्ति में क्रिया की अतिपत्ति-असम्भवता की सूचना मिलती है। कहा गया है—

The conditional is used instead of the potential, when the non-performance of an action is implied.

संस्कृत और प्राकृत में वर्तमान काल और भविष्यत्काल के चिह्न प्रायः समान हैं। संस्कृत का विवरण स्य प्राकृत में स्स हो गया है। यथा पठइ, पढन्ति; पढसि, पढित्था; पढामि, पढामो; पढिस्सइ, पढिस्सन्ति; पढ़िस्ससि, पढिहित्था; पढिस्सामि, पढिस्सामो रूप बनते हैं। व्यञ्जनान्त धातुओं में अ विकरण जोड़ने के अनन्तर प्रत्यय जोड़े जाते हैं। अकारान्त धातुओं के अतिरिक्त शेष स्वरान्त धातुओं में अ विकरण विकल्प से जुड़ता है। उकारान्त धातुओं में उ के स्थान पर उव् आदेश होने के अनन्तर अ विकरण और ऋकारान्त धातुओं में ऋ के स्थान पर अर् हो जाने के अनन्तर अ विकरण जोड़ा जाता है। उपान्त्य ऋ वर्णवाले धातुओं में ऋकार के स्थान पर अरि आदेश होता है, पश्चात् अ विकरण जोड़ा जाता है। इकारान्त धातुओं में इकार के स्थान पर ए हो जाता है। कुछ व्यञ्जनान्त धातुओं में उपान्त्य स्वर को दीर्घ होता है तथा कुछ धातुओं में अन्त्य व्यञ्जन को द्वित्व हो जाता है। यथा √नी = नेति, नेंति; √रुष्—रुस = रूसइ, √तुस् = तूसइ, √चल् = चल्लइ, √त्रुट् = तुट्टइ, √नश् = नस्सइ आदि।

प्राकृत में कर्मणि रूप बनाने के लिए वर्तमान और विधि एवं आज्ञार्थ में धातु प्रत्ययों के पूर्व ईअ और इज्ज विकरण जुड़ जाते हैं। पर यह नियम उन्हीं धातुओं के लिए हैं, जिन धातुओं के स्थान पर धात्वादेश नहीं होता है। भविष्यत्काल और क्रियातिपत्ति के रूप कर्त्तरि के समान ही कर्मणि में होते हैं। यथा— √हस् = हसीअइ, हसीअन्ति; हसीअसि, हसीइत्था; हसीआमि, हसीआमो रूप वर्तमान काल के हैं।

प्रेरणार्थक क्रियाओं के रूप अ, ए, आव और आवे प्रत्यय जोड़ने से निष्पन्न होते हैं तथा और ए प्रत्यय के रहने पर उपान्त्य अ को आ हो जाता है। मूल

धातु के उपान्त्य में इ स्वर हो तो ए और उ स्वर हो तो ओ हो जाता है। यथा—√कृ = करावइ, कारे, करावेइ—कराता है।

प्राकृत में प्रेरणार्थक धातु में भावि और कर्मणि के रूप बनाने के लिए मूल धातु में आवि प्रत्यय जोड़ने के उपरान्त कर्मणि और भावि के प्रत्यय ईअ, ईय और इज्ज जोड़ने चाहिए। मूल धातु में उपान्त्य अ के स्थान पर आ कर दिया जाता है और उस अङ्ग में ईअ, ईय या इज्ज प्रत्यय जोड़ देने से प्रेरक कर्मणि और भावि के रूप होते हैं।

कृत् प्रत्ययों में वर्तमान कृदन्त के रूप, अन्त और माण प्रत्यय जोड़ने से बनाये जाते हैं। यथा—भणंतो, भणमाणो रूप बनते हैं, पर स्त्रीलिङ्ग में भणंती, भणमाणा, भणमाणी, जैसे रूप बनते हैं। धातु में अ, द और त प्रत्यय जोड़ने से भूतकालीन कृदन्त के रूप बनते हैं। गमिओ, गमिदो और गमितो रूप (गतः), गमिता, गमिआ स्त्रीलिङ्ग में और गमितं, गमिअं नपुंसक लिङ्ग के रूप हैं। हेत्वर्थ कृत् प्रत्ययों में तुं, दुं और तए की गणना की गयी है। भणिउं, भणेतुं और भणेदुं < भणितुम् रूप तुमुन् प्रत्यय के स्थान पर प्रयुक्त हैं। सम्बन्ध सूचक कृत् प्रत्ययों में तूण, तुआणे, इत्ता, आए आदि प्रत्ययों की गणना है। ये प्रत्यय क्त्वा प्रत्यय का प्रतिनिधित्व करते हैं। हसिउं, हसिऊण, हसित्ता रूप हसित्वा के स्थान पर आते हैं। शील, धर्म तथा भली प्रकार सम्पादन इन तीनों में से किसी एक अर्थ को व्यक्त करने के लिए प्राकृत में इर प्रत्यय होता है। हसिरो, नविरो जैसे पद हसनशीलः और नमनशीलः के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं।

प्राकृत पद रचना की एक प्रमुख विशेषता समास और तद्धित प्रक्रिया की है। प्रक्रिया प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के विकासक्रम को सूचित करती है। समस्त भारोपीय परिवार की भाषाएँ विभक्ति प्रधान हैं, मूलतः समास प्रधान नहीं। यतः विश्व की भाषाओं को दो वर्गों में विभक्त किया गया है—सावयव और निरवयव। निरवयव परिवार में चीनी आदि एकाक्षर परिवार की भाषाएँ ही आती हैं। सावयव भाषाओं के तीन वर्ग हैं—(१) समास प्रधान (२) प्रत्यय प्रधान और (३) विभक्ति प्रधान। समास प्रधान भाषाओं में सभी शब्द समास होकर प्रयुक्त होते हैं तथा कभी-कभी तो पूरा का पूरा वाक्य ही समस्त पद-सा होता है। अमेरिका के जंगली लोगों की भाषाएँ इस कोटि में आती है। प्रत्यय प्रधान भाषाएँ वे हैं, जिनमें किसी भी शब्द का दूसरे शब्द के साथ सम्बन्ध बताने के लिए प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। तामिल, तैलगू आदि द्राविड परिवार की भाषाएँ इसी कोटि की हैं। विभक्ति प्रधान भाषाओं में किन्हीं

दो शब्दों के सम्बन्ध की विभक्तियों के द्वारा व्यक्त किया जाता है। संस्कृत और प्राकृत भाषाएँ इसी वर्ग की हैं। इसमें सुप् और तिङ् विभक्तियों द्वारा शब्दों का सम्बन्ध व्यक्त होता है। अतः समास का प्रयोग कब और कैसे होने लगा, यह विचारणीय है। छान्दस् भाषा में समास प्रक्रिया बहुत ही संकुचित थी, लौकिक संस्कृत के परवर्ती साहित्य में आकर दण्डी, बाण, माघ, श्रीहर्ष आदि ने प्रचुर समस्त पदावलियों का प्रयोग किया। अतः समास भारतीय आर्यभाषा का अपना वास्तविक रूप नहीं है, कृत्रिम रूप है। समासान्त पदावलियों में भी विभक्ति का प्रयोग होता है, विभक्ति प्रयोग के अभाव में सम्बन्ध का परिज्ञान होना शक्य नहीं है। अतः यह अनुमान लगाना सहज है कि समास का विकास भारतीय आर्यभाषा में द्राविड़ भाषाओं अथवा अमेरिकी भाषाओं के प्रभाव से हुआ है। प्रत्यय प्रधान भाषाओं में भी समासान्त पदों की प्रचुरता है। छान्दस् में उदात्त स्वरों को एक स्थान पर रखने के लिए समास प्रक्रिया का प्रवेश हुआ था, उसका विकास उत्तरोत्तर होता गया।

प्राकृत में अव्वईभाव (अव्ययीभाव), तप्पुरिस (तत्पुरुष), दिगु (द्विगु), बहुव्वीहि (बहुव्रीहि), दंद (द्वन्द्व), कम्मधारय (कर्मधारय) और एक्कसेस (एकशेष) ये सात प्रकार के समास माने गये हैं। अव्ययीभाव समास में पहला पद बहुधा कोई अव्यय होता है और यही प्रधान होता है। अव्ययीभाव समास का समूचा पद क्रियाविशेषण अव्यय होता है और विभक्ति आदि अर्थों में अव्यय का प्रयोग होने से अव्ययीभाव समास कहलाता है। जिस समास में उत्तरपद पूर्वपद की अपेक्षा विशेष महत्त्व रखता है, उसे तत्पुरुष समास कहते हैं। तत्पुरुष समास के आठ भेद हैं प्रथमा तत्पुरुष, द्वितीया तत्पुरुष, तृतीया तत्पुरुष, चतुर्थी तत्पुरुष, पञ्चमी तत्पुरुष, षष्ठी तत्पुरुष, सप्तमी तत्पुरुष और अन्य तत्पुरुष। अन्य तत्पुरुष समास के न तत्पुरिस (नञ् तत्पुरुष), पादितप्पुरिस (प्रादितत्पुरुष) उपपद समास और कम्मधारय (कर्मधारय) भेद किये हैं। पर अनुयोगद्वारसूत्र में कम्मधारय की पृथक् गणना की गयी है। जिस तत्पुरुष समास के संख्यावाचक शब्द पूर्वपद में हों, वह द्विगु समास है। जब समास में आए हुए दो या अधिक पद किसी अन्य शब्द के विशेषण हों तो उसे बहुव्रीहि समास कहा जाता है। द्वन्द्व समास में दोनों पद स्वतन्त्र होते हैं और उन पदों को अ या य से जोड़ा जाता है।

समास के विकास पर दृष्टिपात करने से अवगत होता है कि मूलतः समास तीन ही प्रकार के होते थे—उभय पदार्थ प्रधान—द्वन्द्व, उत्तर पदार्थ प्रधान बहुब्रीहि। द्विगु और कर्मधारय दोनों ही तत्पुरुष के उपभेद हैं। द्विगु का विकास कर्मधारय के बाद हुआ है। अव्ययीभाव समास का विकास कर्मधारय और

बहुव्रीहि से माना जाता है। प्राकृत में प्रारम्भ से ही सातों प्रकार के समासों के उदाहरण पाये जाते हैं[१]।

संस्कृत के समान प्राकृत में भी तद्धित प्रत्ययों के सहयोग से पदों की रचना की जाती है। प्राकृत में तद्धित प्रत्यय तीन प्रकार के होते हैं—सामान्यवृत्ति, भाववाचक और अव्यय संज्ञक। सामान्यवृत्ति के अपत्यार्थक, देवतार्थक और सामूहिक आदि नौ भेद हैं। इदमर्थ—'यह इसका' इस सम्बन्ध को सूचित करने के लिए 'केर' प्रत्यय जोड़ा जाता है। अपत्यर्थ में अ (अण्), इ (इञ्), इत, एय, ईण और इक प्रत्यय होते हैं। भव अर्थ बतलाने के लिए 'इल्ल और उल्ल' प्रत्यय लगाये जाते हैं। गाम + इल्ल = गामिल्लं—ग्रामे भवम्, स्त्रीलिङ्ग में गामिल्ली—ग्रामे भवा और नपुंसक लिङ्ग में—पुरे भवम्—रूप होते हैं। संस्कृत के वत् प्रत्यय के स्थान पर 'व्व' आदेश होता है। भाववाचक संज्ञाएँ बनाने के लिए प्राकृत में इमा और तण प्रत्यय लगाये जाते हैं। पीण + इमा = पीणिमा < पीनत्वम्; पोण + त्तण = पीणत्तणं रूप पीण < पीन के भाववाचक रूप हैं।

क्रिया की अभ्यावृत्ति की गणना के अर्थ में संस्कृत के कृत्वस् प्रत्यय के स्थान पर हुत्तं प्रत्यय होता है। आर्ष प्राकृत में यह प्रत्यय खुत्तं हो जाता है। एय + हुत्तं = एयहुत्तं < एकक्रृत्व—एकवारम्, दुहुत्तं < द्विकृत्व—द्विवारम् आदि रूप बार-बार अर्थ प्रकट करने के लिए बनते हैं। 'वाला' अर्थ बतलानेवाले संस्कृत के मतुप् प्रत्यय के स्थान पर आलु, इल्ल, उल्ल, आल, वन्त और मन्त प्रत्यय जोड़े जाते हैं। रस + आल = रसालो < रसवान्, जडालो < जटावान्, ईसा + आलु = ईसालू < ईर्ष्यावान्, कव्व + इत्त = कव्वइत्तो < काव्यवान्; सोहा + इल्ल = सोहिल्लो < शोभावान्, वियारुल्लो < विचारवान्, धणमणो < धनवान्, हणमंतो < हनुमान्, भत्तिवंतो < भक्तिमान प्रभृति प्रयोग निष्पन्न होते हैं। संस्कृत के तस् प्रत्यय के स्थान पर प्राकृत में त्ता और विकल्प से दो प्रत्यय जोड़े जाते हैं। सव्व + त्तो = सव्वत्तो, सव्वदो और सव्वओ जैसे रूप बनते हैं। स्वार्थिक क प्रत्यय के स्थान पर प्राकृत में अ, इल्ल और उल्ल प्रत्यय जोड़े जाते हैं। इस प्रकार प्राकृत पद रचना बहुत कुछ अंशों में संस्कृत के समान ही रही है। हाँ, कुछ ऐसी बातें अवश्य हैं, जिनके कारण प्राकृत पदरचना में संस्कृत की अपेक्षा भिन्नता पायी जाती है। पर सभी भारतीय आर्य भाषाएँ विभक्ति-प्रधान होने के कारण विभक्ति संयोग से अवश्य संश्लिष्ट हैं। प्राकृत पदरचना में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

१. विशेष जानकारी के लिए देखिये—'अभिनव प्राकृत व्याकरण' का समास प्रकरण—तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, सन् १९६३।

१. रूपों की अल्पता—समान रूपों का प्रयोग और सरलीकरण।

२. वचन और विभक्तियों की संख्या में न्यूनता।

३. हलन्त शब्दों का अजन्त होना और तदनुसार रूप।

४. कारक बन्धन की शिथिलता—संस्कृत की अपेक्षा कारक बन्धन बहुत शिथिल है।

५. वर्ण परिवर्तन के कारण शब्दों में सरलीकरण की प्रवृत्ति।

६. मध्यवर्ती व्यञ्जन लोप के कारण कोमलता और माधुर्य का आधिक्य।

७. क्रिया रूपों में काल, गण एवं पदों—आत्मनेपद और परस्मैपद के लोप के कारण अधिक समानता। लकारों के स्थान पर व्यवहारानुसार कालों का विकास और तदनुसार रूपों का प्रयोग।

८. भूतकाल के रूपों का ह्रास और सहायक क्रिया के रूपों में कृदन्त पदों के व्यवहार का प्रचार।

९. गणों का लोप होने से विकरणों का ह्रास तथा केवल 'अ' विकरण का प्रयोग।

द्वितीय खण्ड

प्राकृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

प्रथमोऽध्यायः

कालविभाजन और आगमसाहित्य

प्रादुर्भाव और काल विभाजन—साहित्य सनातन उपलब्धि का साधन है। इसीलिए कतिपय मनीषियों ने 'आत्म तथा अनात्म भावनाओं की भव्य अभिव्यक्ति को साहित्य कहा है। यह साहित्य किसी देश, समाज या व्यक्ति का सामयिक समर्थक नहीं, बल्कि सार्वदेशिक और सार्वकालिक नियमों से प्रभावित होता है। मानव मात्र की इच्छाएँ, विचार धाराएँ और कामनाएँ साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं, इसमें हमारे वैयक्तिक हृदय की भाँति सुख-दुःख, आशा-निराशा, भय-निर्भयता, उत्थान-पतन, अचार-विचार एवं हास्य-रोदन का स्पष्ट स्पन्दन रहता है। आन्तरिक रूप से विश्व के समस्त साहित्यों में भावों, विचारों और आदर्शों का सनातन साम्य-सा है; क्योंकि आन्तरिक भाव-धारा और जीवन-मरण की समस्या एक है। सौन्दर्य को देखकर पुलकित होना, जीवन-निर्माण और उत्थान के लिए रसमयी वाणी में आदर्शों को उपस्थित करना एवं विभिन्न दृष्टियों से जीवन की व्याख्याएँ प्रस्तुत करना मानवमात्र के लिए समान है। अतएव साहित्य में साधना और अनुभूति के समन्वय से समाज और संसार से ऊपर सत्यं, शिवं और सुन्दरं का अद्भुत समन्वय पाया जाता है। यह साहित्य वह रसायन है जिसके सेवन में जाति, लिङ्ग एवं अन्य किसी भेदभाव को स्थान नहीं है। यह तो सभी प्रकार के सेवन करनेवालों को अजर-अमर बनाता है। साहित्यकार चाहे वह किसी जाति, समाज, देश और धर्म का हो अनुभूति का भण्डार समान रूप से ही अर्जित करता है। वह सत्य और सौन्दर्य की तह में प्रविष्ट हो अपने मानस से भावराशिरूपी मुक्ताओं को चुन-चुनकर शब्दावलि की लड़ी में गूंथकर शिव की साधना करता है।

सौन्दर्य-पिपासा मानव की चिरन्तन प्रवृत्ति रही है। जीवन की नश्वरता और अपूर्णता की अनुभूति सभी करते हैं। जीवन का मर्म जानने के लिए सभी प्रयास करते हैं। इसी कारण साहित्य अनुभूति की प्राची पर उदय लेता है। मानव के भीतर चेतना का एक गूढ़ और प्रबल आवेग है, अनुभूति इसी आवेग की सच्ची, सजीव और साकार लहर है। इस अनुभूति के प्रकाशन में किसी भाषा, धर्म, जाति, वर्ग एवं समाज के बन्धन की अपेक्षा नहीं है। अतएव आत्मदर्शन को ही साहित्य का दर्शन मानना अधिक तर्कसंगत है। अपने में जो आभ्यन्तरिक सत्य है, उसे देखना और दिखलाना ही साहित्यकार की चरम साधना है।

प्राकृत साहित्य जनसामान्य की वैचारिक क्रान्ति के साथ उदित होता है। विक्रम संवत् से कई सौ वर्ष पूर्व से ही संस्कृत भाषा धर्म और काव्य की भाषा बन चुकी थी। शिष्ट और अभिजात्य वर्ग ने ही अपने को साहित्यसृजन का अधिकारी समझ लिया था तथा साहित्य में वे ही भावनाएँ स्थान पाती थीं, जिनका सम्बन्ध उस समय के शिष्ट समुदाय से था, जो समुदाय अपने को सर्वोच्च और जनसामान्य को हीनता की दृष्टि से देखता था। लोकपरक सुधारवादी वैचारिक क्रान्ति को कोई स्थान नहीं था, पर यह सत्य है कि जन-क्रान्ति की चिनगारियाँ भीतर ही भीतर समाज में सुलग रही थीं। शिष्ट समुदाय में भी कतिपय विचारशील राजन्य वर्ग के व्यक्ति पुरोहितों की रूढ़िवादिता से ऊब गये थे। वे जनभाषा में अपनी क्रान्तिकारी विचारधारा को उपस्थित करना चाहते थे। फलतः प्राकृत भाषा यहीं से साहित्य के सिंहासन पर आरूढ़ हुई और प्राकृत साहित्य का श्रीगणेश धार्मिक क्रान्ति से हुआ।

ई० पू० छठी शती में बुद्ध और महावीर ने जनबोली प्राकृत में ही अपना धर्मोपदेश दिया। इस प्रकार पूर्व की बोलियों में नये जीवन-स्रोत प्रस्फुटित हुए, पर पश्चिम की जनबोलियों में साहित्य का निर्माण जल्द न हो सका। यतः मध्य-देश आर्य वैदिक संस्कृति का केन्द्र था, अतएव कुछ शताब्दियों तक वहाँ संस्कृत का पद अक्षुण्ण बना रहा। आगे जाकर जब संस्कृत अधिक रूढ़ हो गयी और उसकी रूढ़िवादिता पराकाष्ठा को पहुँच गयी, तो पश्चिम में भी पूर्व के समान ही समानान्तर रूप में प्राकृत साहित्य विकसित होने लगा। अतएव प्राकृत साहित्य का प्रारम्भ ई० पू० छठीं से मानना तर्कसंगत है।

धर्माश्रय के साथ राजाश्रय और लोकाश्रय भी प्राकृत साहित्य को उपलब्ध हुआ। प्राकृत को राज्यभाषा के रूप में सबसे पहले महत्त्व देनेवाला प्रियदर्शी राजा अशोक है, इसने अपने आदेशों को प्राकृत में उत्कीर्ण कराया। मौर्यवंश के प्रतिष्ठापक सम्राट् चन्द्रगुप्त ने भी प्राकृत साहित्य के निर्माण में सहयोग दिया था। जैन मुनि होकर उसने दक्षिणभारत में भी प्राकृत को साहित्यिक पद पर प्रतिष्ठित करने में पूर्ण सहयोग प्रदान किया। मौर्यवंश को समाप्त कर शुंगवंशी पुष्यमित्र ने ई० पू० १८४ में मगध का सिंहासन स्वायत्त किया। फलतः वैदिकधर्म के पुनरुत्थान से संस्कृत भाषा की पुनः प्रतिष्ठा बढ़ी तथा प्राकृत राज्यभाषा के पद से च्युत कर दी गयी। पर कलिंग के जैन राजाओं ने प्राकृत को ही राज्यभाषा का पद दिया। खारवेल के हाथीगुंफा शिलालेख को उक्त तथ्य की सिद्धि के लिए धर्मावलम्बी आन्ध्रवंशी राजाओं में बहुत सहायता प्रदान की और आन्ध्रसामाज्य शीघ्र ही प्राकृत का गढ़ बन गया। वाकाटक वंशी राजा प्रवरसेन स्वयं ही प्राकृत

में रचना करते थे। कई राजाओं ने प्राकृत कवियों को अपने यहाँ सम्मानित पद भी प्रदान किया था। इस प्रकार राजाश्रय पाकर प्राकृत साहित्य वृद्धिगत होने लगा।

लोकाश्रय के अन्तर्गत काव्य, नाटक, लोकगीत एवं कथा सम्बन्धी वे रचनाएँ हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध जन-साधारण से है। प्राकृत साहित्य के विकास में उक्त सम्भ्रान्त कवि और लेखकों का जितना स्थान है, कम से कम उतना ही उन सामान्यजनों का है, जो अपनी बोली में स्वान्तःसुखाय कुछ गुनगुना लेते थे। इसके सबल प्रमाण 'गाथा सप्तशती' तथा 'वज्जालग्गं' में संग्रहीत गाथाएँ ही हैं। इस प्रकार प्राकृत साहित्य ई० पू० ६०० में उदित हुआ और ई० ८०० तक निरन्तर गतिशील होता रहा है। यद्यपि प्राकृत में रचनाएँ १५-१६ वीं शती तक भी होती रही हैं, पर भाषा विकास की दृष्टि से इस काल को अपभ्रंश काल कहना अधिक उपयुक्त है। यह अपभ्रंश प्राकृत का उत्तरकालीन विकसित रूप है।

प्राकृतभाषा के साहित्य के इतिहास का कालविभाजन कालक्रम के अनुसार संभव नहीं है, यतः आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिककाल जैसे कालखण्डों में विभक्त कर उसका सम्यक् विवेचन नहीं किया जा सकता है। किसी भी भाषा के साहित्य की धारा निश्चित और अनिश्चित की न होने के बदले बाह्य परिस्थितियों तथा आभ्यन्तर विकास के परिणाम स्वरूप ऐसे रूप ग्रहण करती है और ऐसी दशाओं में प्रवाहित होती है, जिनका निर्धारण और निर्देश किसी कालखण्ड में संभव नहीं होता। अतः तिथिक्रम के अनुसार विवेचन में बाह्य और अन्तरंग प्रभावों की अभिव्यञ्जना पूर्णतया नहीं हो पाती; फलतः समस्त समसामयिक प्रवृत्तियों का विवेचन होने से रह जाता है।

राजनैतिक घटनाओं, राजाओं के नामों, प्रधान कवि या आचार्य के नामों, मुख्य प्रवृत्तियों एवं भाषागतविशेषताओं के आधार पर भी साहित्य के इतिहास का कालवर्गीकरण किया जाता है। प्राकृतभाषा के साहित्य का इतिहास अभी तक मनीषियों ने भाषा की विशेषताओं के आधार पर लिखा है। इस प्रस्तुत अध्याय में साहित्य की प्रमुख विधाओं के आधार पर ही प्राकृत साहित्य का इतिहास निबद्ध किया जायगा। प्राकृत साहित्य का जो रूप उपलब्ध है, उसमें मात्र काव्य की स्वकीय विशेषता ही नहीं है, अपितु अन्तस् के शुद्धिकरण के नियम भी वर्तमान हैं। एक सुचिन्तित विचारधारा की ऐसी सबल परम्परा निबद्ध है, जिसका इतिहास स्वयं ही कालखण्डों में विभक्त किया जा सकता है। प्रज्ञात्मक सम्बन्धों के साथ निजी चिन्तन की प्रक्रिया आचार-विचार के नियमों के साथ उपस्थित हो वाङ्मय की एक ऐसी धारा प्रस्तुत करती है, जिसमें एक साथ अनेक प्रवृत्तियों का समावेश दृष्टिगोचर होता है। अतः प्राकृत साहित्य के इतिहास को प्रमुख

प्रवृत्तियों के आधार पर लिखना संभव नहीं है। इसका सबसे सुगम उपाय विधाओं के रूप में निबद्ध करना ही हो सकता है। यों तो प्राकृत-साहित्य की प्रत्येक विधा में प्रज्ञात्मक और भावात्मक दोनों ही प्रकार के सम्बन्ध वर्तमान है। प्रज्ञात्मक सम्बन्ध का तात्पर्य लोकनीति, धर्मनीति, राजनीति एवं शास्त्र वाङ्मय के भावों के साथ, हमारा जो भावनात्मक सम्बन्ध होता है और इससे हृदयगत भावों को उत्तेजना मिलती है; से है। भावात्मक सम्बन्ध काव्यग्रन्थों में जिन पात्रों का चरित्र हम पढ़ते हैं, उनके साथ हमारा भावनात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है और यही सम्बन्ध साहित्य के क्षेत्र में भावात्मक हो जाता है। प्राकृत साहित्य के इतिहास विवेचन में उक्त सम्बन्धों का ध्यान रखना आवश्यक है।

कालखण्डों की दृष्टि से प्राकृतसाहित्य का इतिहास निम्न तीन खण्डों में विभक्त किया जा सकता है:—

१. आदिकाल—ई० पू० ६०० से १०० ई० तक।

२. मध्यकाल—ई० सन् १०१ से ८०० तक।

३. अर्वाचीनकाल—ई० ८०१ से १६०० ई० तक।

भाषा वैशिष्ट्य की दृष्टि से प्राकृत साहित्य के इतिहास की निम्नवर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

१. अर्धमागधी साहित्य।

२. प्राचीन शौरसेनी या जैनशौरसेनी साहित्य।

३. महाराष्ट्री साहित्य।

४. शौरसेनी नाटक साहित्य।

५. मागधी साहित्य।

६. पैशाची साहित्य।

७. अपभ्रंश साहित्य।

साहित्य विधाओं की दृष्टि से प्राकृत साहित्य के इतिहास का वर्गीकरण निम्न प्रकार संभव हैं। प्रस्तुत रचना में इसी वर्गीकरण के आधार पर निरूपण किया जायगा।

१. आगम साहित्य।

२. शिलालेखी साहित्य।

३. शास्त्रीय महाकाव्य।

४. खण्डकाव्य।

५. चरित काव्य।

६. मुक्तक काव्य।

७. सट्टक और नाटक साहित्य।

८. कथा साहित्य ।

९. इतर प्राकृत साहित्य ।

आगम-साहित्य के अन्तर्गत अर्धमागधी आगम साहित्य और शौरसेनी आगम साहित्य परिगणित हैं। इन दोनों भेदों के अतिरिक्त आगम ग्रन्थों का टीका-साहित्य भी आगम साहित्य में ही शामिल है। विषय और शैली की दृष्टि से आगम साहित्य में एक ही प्रकार की प्रवृत्ति अनुस्यूत दिखलायी पड़ती है। मानवता की स्थापना आद्यन्त इस साहित्य में पायी जाती है। भगवान् महावीर के प्रवचन, जिनमें व्यक्तित्व-निर्माण के तत्त्व सर्वाधिक हैं, प्रबुद्ध और जागरूक व्यक्ति के लिए मंगलकारी हैं। अतएव आगम साहित्य को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त कर विवेचन किया गया है।

१. अर्धमागधी आगम साहित्य ।

२. टीका और भाषा साहित्य ।

३. शौरसेनी आगम साहित्य ।

४. शौरसेनी टीका साहित्य ।

५. न्याय या तर्कमूलक साहित्य ।

६. सिद्धान्त कर्म और आचारात्मक साहित्य ।

समस्त आगम साहित्य का आलोकन करने पर कुछ ऐसी प्रमुख प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं, जो सम्पूर्ण आगम साहित्य में वर्तमान हैं। यद्यपि विषय की दृष्टि से आगम ग्रन्थों में परस्पर अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ पायी जाती हैं, तो भी कुछ ऐसी सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं, जो विभिन्नताओं के बीच भी समानता बनाये रखने में सक्षम हैं। मोटे रूप में शील, सदाचार, विचार-समन्वय, त्रिभुवन निर्माण, सृष्टितत्त्व, कर्मसंस्कार सम्बन्धी प्रवृत्तियों को निम्नाङ्कित रूप में विभक्त किया जा सकता है।

१. शील, सदाचार और संयम का निरूपण ।

२. आत्मा के प्रति आस्था और उसके शोधन की विभिन्न प्रक्रियाएँ ।

३. मानवता की प्रतिष्ठा के हेतु जातिभेद और वर्गभेद की निस्सारता ।

४. अपवर्ग-प्राप्ति के हेतु आहार-विहार की शुद्धि एवं स्व की आलोचना ।

५. साधनामार्ग के विवेचनार्थ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का निरूपण ।

६. वैदिक क्रियाकाण्ड का वैचारिक विरोध ।

७. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की स्थापनाएँ और विवेचन ।

८. आत्मशुद्धि के हेतु आलोचना, प्रतिक्रमण के साथ प्रायश्चित तथा तप-साधनाओं का विश्लेषण।

९. साहसिक, पारलौकिक यात्रा सम्बन्धी एवं धार्मिक आख्यानों द्वारा जीवन की अनेक दृष्टियों से व्याख्या।

१०. आचार की शुद्धि के लिए अहिंसा और विचार की शुद्धि के लिए स्याद्वाद सिद्धान्त का प्ररूपण।

११. राग-द्वेषादि संस्कारों को अनात्म भाव होने का सिद्धान्त।

१२. अपने पुरुषार्थ पर विश्वास कर सर्वतोमुखी विशाल दृष्टि का विकास।

१३. अपने को स्वयं अपना भाग्यविधाता समझकर परोक्ष शक्ति का पल्ला छोड़ पुरुषार्थ में प्रवृत्त होने की प्रेरणा।

१४. मिथ्याभिमान छोड़कर उदारतापूर्वक विचार सहिष्णु बन अपनी भूल को सहर्ष स्वीकार करने की प्रवृत्ति।

१५. तत्त्वज्ञान के चिन्तन द्वारा अहंभाव का इदंभाव के साथ सामञ्जस्य।

१६. विरोधी विचारों को महत्व देना तथा अपने विचारों के समान अन्य के विचारों का भी आदर करना।

१७. वैयक्तिक विकास के लिए हृदय की वृत्तियों से उत्पन्न अनुभूतियों को विचार के लिए बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत करना और बुद्धि द्वारा निर्णय हो जाने पर कार्य में प्रवृत्त होने का निर्देश।

१८. निर्भय और निर्वैर होकर शान्ति के साथ जीना और दूसरों को जीवित रहने देने की प्रवृत्ति।

१९. वासना, इच्छा और कामनाओं पर नियन्त्रण कर आत्मालोचन की ओर प्रवृत्ति।

२०. दया; ममता, करुणा आदि के उद्घाटन द्वारा मानवता की प्रतिष्ठापना।

२१. भौतिकवाद की मृगमरीचिका को आध्यात्मवाद की वास्तविकता द्वारा दूर करने की प्रवृत्ति।

२२. शोषित और शोषक में समता लाने के लिए आर्थिक विषमताओं में संतुलन उत्पन्न करने के हेतु अपरिग्रहवाद और संयम को जीवन में उतारने की प्रवृत्ति।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि भारत के सांस्कृतिक इतिहास और विकास में आगमिक साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान हैं। आगमिक साहित्य

दो भाषाओं में निबद्ध है—अर्धमागधी और शौरसेनी। भगवान् महावीर का मूल उपदेश अर्धमागधी में हुआ था। इस अर्धमागधी के स्वरूप पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। भगवान् महावीर की शिष्यपरम्परा ने भी जन सामान्य में मानवता एवं सदाचार के प्रचार के लिए इसी भाषा का व्यवहार किया। वर्द्धमान महावीर के उपदेशों का संग्रह उनके समसामयिक शिष्य—गणधरों ने किया। उन गणधरों द्वारा रचित ग्रन्थ श्रुत कहलाते हैं। श्रुत शब्द का अर्थ है—सुना हुआ अर्थात् जो गुरुमुख से सुना गया हो, वह श्रुत है। भगवान् महावीर के उपदेश उनके शिष्य—गणधरों ने सुने और गणधरों से उनके शिष्यों ने। इस प्रकार शिष्य—प्रशिष्यों के श्रवण द्वारा प्रवर्तित होने से श्रुत कहलाया और यही श्रुत आगे जाकर आगम के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कहा जाता है कि समस्त श्रुत—ज्ञान के अन्तिम उत्तराधिकारी श्रुतकेवली भद्रबाहु हुए। इनका समय महावीर के निर्वाण के दो सौ वर्ष के बाद—चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में माना जाता है। उस समय मगध में एक भीषण अकाल पड़ा, जो १२ वर्षों तक रहा। भद्रबाहु श्रुतकेवली अनेक जैन मुनियों के साथ मुनिचर्या निर्वाह के हेतु दक्षिण भारत को चले गये। इस उथल-पुथल में जैन आगम का संरक्षण कठिन हो गया। जो मुनि उत्तर भारत में रह गये थे, वे शिथिल हो गये और श्वेतवस्त्र धारण करने लगे। तभी से जैन मत में दो सम्प्रदाय हो गये—श्वेताम्बर और दिगम्बर। दिगम्बर वे साधु थे जो ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर महावीर के पथचिह्नों का अनुगमन करते थे और दिगम्बर रूप में विचरण करते ते। दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि (१) आचाराङ्ग, (२) सूत्रकृताङ्ग, (३) स्थानांग, (४) समवायाङ्ग, (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति, (६) ज्ञातृधर्मकथाङ्ग, (७) उपासकाध्ययन, (८) अन्तः कृद्दशाङ्ग, (९) अनुत्तरोपपाद, (१०) प्रश्न-व्याकरण, (११) विपाक सूत्र और (१२) दृष्टिवाद इन बारह अंगों का ज्ञान प्रतिभा और मेधा की कमी आजाने से उत्तरोत्तर क्षीण होने लगा। वीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् उक्त द्वादशाङ्ग का कुछ अंश ही स्मरण रह गया और शेष ज्ञान स्मृति क्षीण होने से काल के गाल में समाविष्ट हो गया। अतः धरसेनाचार्य के तत्त्वावधान में सत्कर्मप्राभृत (षट् खण्डागम) और गुणधर आचार्य के तत्त्वावधान में कसायपाहुड नामक आगम[1] सूत्र ग्रन्थ लिखे गये। इन ग्रन्थों की भाषा शौरसेनी है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि उक्त आगम ग्रन्थों की उत्पन्न होती हुई विकृतियों से बचाने के लिए समय-समय पर मुनियों ने उनकी वाचनाएँ की

१. आगच्छतीति आगमः—जो परम्परा से चला आ रहा है, वह आगम है।

और उन्हें सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयत्न किया। प्रथम वाचना भगवान् महावीर के निर्वाण के १६० वर्ष बाद पाटलिपुत्र में स्थूलभद्राचार्य की अध्यक्षता में हुई, जिसमें सभी श्रुतधर एकत्र हुए और उनकी स्मृति के आधार पर ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। बारहवें दृष्टिवाद अंग का ज्ञान उपस्थित श्रुतधरों में से किसी को भी नहीं था, फलतः उसका व्यवस्थित रूप में उद्धार न हो सका। जैन मुनियों की अपरिग्रह वृत्ति, वर्षा काल को छोड़ शेष समय में निरन्तर परिभ्रमण एवं उस काल की अन्य कठिनाइयों के कारण यह अंगज्ञान पुनः छिन्न-भिन्न होने लगा।

इधर मगध में मौर्य साम्राज्य के पतन और शुंगवंशी पुष्यमित्र के मगध-सिंहासनासीन होने के पश्चात् जैन मुनियों का मगध से स्थानान्तरित होना तथा जैनधर्म के केन्द्र का वहाँ से टूट जाना स्वाभाविक ही था। अतः जैनधर्म का केन्द्र मगध से हटने के पश्चात् मथुरा ही बना। कुशानवंशी राजाओं के समय में जैनधर्म की पर्याप्त उन्नति हुई। अतः वीर-निर्वाण के ८२७–८४० वर्ष के मध्य आर्य स्कन्दिल ने मथुरा में मुनिसंघ का सम्मेलन बुलाया और उन्हीं ग्यारह अंगों को पुनः एकबार व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया। कहा जाता है कि उस समय भी बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था, जिससे बहुत-सा श्रुत नष्ट तथा विच्छिन्न हो गया था।[1] इस माथुरी वाचना में संकलित और व्यवस्थित सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान की गयी।

इसके अनन्तर लगभग १५० वर्ष पश्चात्—वीर-निर्माण ९८० वर्ष व्यतीत होने पर देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण के नेतृत्व में बलभी नगर में एक मुनि सम्मेलन बुलाया गया। इस संघसमवाय में विविध पाठान्तर और वाचना-भेद का समन्वय करके माथुरी वाचना के आधार पर आगमों को संकलित कर लिपिबद्ध किया गया। जिन पाठों का समन्वय नहीं हो सका, उनका 'वायणान्तरे पुण', 'नागार्जुनीयास्तु एवं वदन्ति' इत्यादि रूप से उल्लेख किया गया।[2] श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य वर्तमान आगम इसी संकलना के परिणाम हैं। इस वाचना या संकलना में ११ अंगों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ भी, जो कि उस काल तक रचे

१. बारस संवच्छरिए महंते दुब्भिक्खे काले भत्तट्ठा अण्णण्णतो हिंडियाणं गहणगुणणप्पेहाभावाओ विप्पणट्ठे सुत्ते, पुणो सुब्भिक्खे काले जाए महुराए महंते साधुसमुदए खंदिलायरियप्पमुहसंघेण जो अं संभरइत्ति इव संघडियं कालियसुयं। जम्हा एव महुराए कयं तम्हा माहुरी वायणा भणइ।

—जिनदासमहत्तर कृत नन्दिचूर्णि, पृ० ८

२. वीरनिर्वाण और जैनकाल गणना पृ०, ११२–११८।

चुके थे, संकलित किये गये। इस साहित्य को ११ अंग, १२ उपांग, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र, १० प्रकीर्णक और २ चूलिका इस प्रकार ४५ ग्रन्थों में व्यवस्थित किया गया है। इन ग्रन्थों की भाषा अर्धमागधी है, अतः ये ४५ ग्रन्थ अर्धमागधी के कहे जाते हैं।

यह सत्य है कि इन आगामों की भाषा भगवान् महावीर की अर्धमागधी नहीं है। जैन मुनि अनेक प्रदेशों से आकर उक्त सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे और वे उन-उन प्रदेशों की भाषाओं से प्रभावित थे। महावीर के निर्वाण से बलभी-वाचना तक एक हजार वर्ष का लम्बा समय बीत भी गया था। इस बीच में मूलभाषा में कई मिश्रण और कई परिवर्तन अवश्य हुए होंगे। यही कारण है कि आगमों में परस्पर, एक ही ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न अंशों में और कहीं-कहीं एक ही वाक्य में भाषा और शैली का भेद सुस्पष्ट दिखलायी पड़ता है।

ये आगम गद्य और पद्य दोनों में मिलते हैं। दार्शनिक और सैद्धान्तिक विषयों का विवेचन सूत्रशैली में किया गया है। दृष्टान्तों, कथाओं और छन्दोबद्ध उपदेशों में कल्पना की रमणीयता के साथ अन्य काव्यतत्त्वों की कमी नहीं है। छन्द मधुर हैं, गेय तत्त्व की भी प्रचुरता है तथा रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा के चमत्कार भी वर्तमान है। अर्धमागधी के इन ४५ ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

अर्धमागधी आगम साहित्य

१—आयारंग (आचाराङ्ग) इस ग्रन्थ में मुनियों के आचार-व्यवहार के नियम बतलाये गये हैं। यह श्रुतस्कन्धों-खण्डों में विभाजित है। प्रथम श्रुत-स्कन्ध में नौ अध्ययन और उनके अन्तर्गत चवालीस उद्देशक हैं। ग्रन्थ का यह भाग मूल एवं भाषाशैली की दृष्टि से प्राचीन है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध चूलिका रूप है और वह तीन चूलिकाओं तथा सोलह अध्ययनों में विभाजित है। प्रथम शास्त्र-परिज्ञा नामक अध्ययन में जीवों की हिंसा का निषेध किया गया है। लोकविजय अध्ययन में धनसंग्रह के दुष्परिणाम, अज्ञान और प्रमाद से होनेवाली बुराइयों पर प्रकाश डाला गया है। पापकृत्य सभी प्राणियों को कष्ट देते हैं। जो जीवन को कष्ट देते हैं। जो जीवन को सुखी, शान्त और सन्तोषी बनाना चाहता है, उसे धनसंचय की लम्बी-लम्बी आशाओं का त्याग कर देना चाहिए। अहिंसा-सिद्धान्त का निरूपण करते हुए कहा गया है—

"सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो जीविउकामा। सव्वेसिं जीवियं पियं।

अर्थात् समस्त प्राणिओं को अपना-अपना जीवन अधिक प्रिय है। सभी सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता। मरण-वध सभी को अप्रिय है, सभी जीवित

रहना चाहते हैं। प्रत्येक प्राणी को जीवन की इच्छा है और सभी को जीवित रहना अच्छा लगता है।

इससे स्पष्ट है कि जीवन की प्रियता का निर्देश कर हिंसा-त्याग एवं अहिंसा के सेवन पर ज़ोर दिया गया है।

लोकसार अध्ययन में जीवन-शोधन की विविध दिशाओं का निरूपण करते हुए कुशील-त्याग, संयमाराधन, चरित्रपालन एवं तपश्चरण का प्रतिपादन किया है। बाह्यशत्रुओं की अपेक्षा अन्तरंग—राग, द्वेष एवं मोहरूप शत्रुओं से युद्ध करना अधिक श्रेयस्कर है। इन्द्रिय-निग्रह के लिए भोजन पर नियन्त्रण करना, शरीर-धारणार्थ भोजन ग्रहण करना एवं मन की चंचलता को रोकने का सदा प्रयत्न करना आवश्यक है।

श्रुतस्कन्ध के नवें 'उपधान' नामक अध्ययन में महावीर की उग्रतपस्या एवं लाढ, वज्रभूमि, शुभ्रभूमि आदि स्थानों में विहार करते हुए उपसर्गों के सहने का मार्मिक वर्णन है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पिण्डैषणा अध्ययन में भिक्षु एवं भिक्षुणियों के लिए आहार-सम्बन्धी नियमों का विस्तृत वर्णन है। ईर्या और शय्या अध्ययन में मुनियों के आहार-विहार का बहुत ही सूक्ष्म निरूपण किया गया है।

दूसरी चूलिका के सात अध्ययनों में स्वाध्याय करने के स्थान सम्बन्धी नियमों के साथ मल-मूत्र त्याग एवं गृहस्थी द्वारा परिचर्या किये जाने पर साधु के तटस्थ रहने की चर्चा की गयी है। तीसरी चूलिका में दो अध्ययन हैं भावना और विमुक्ति। भावना में महाव्रतों की भावनाएँ एवं उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। विमुक्ति अध्ययन में मोक्ष का उपदेश है। मुनियों के आचार-परिज्ञान के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी है।[1]

२—**सूयगडंग (सूत्रकृताङ्ग)** इसमें स्वसमय और परसमय का विस्तृत वर्णन है। इदके नाम की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है—'स्वपरसमयार्थ-सूचकं सूत्रा, साऽस्मिन् कृतमिति सूत्रकृताङ्गम्, अर्थात् स्वसमय—स्वागम और परसमय—परागम के भेद और स्वरूप को विश्लेषित करना सूत्रा है और यह सूत्रा जिसमें रहे, वह सूत्रकृताङ्ग है। इसके भी दो श्रुतस्कन्ध हैं। पहले में सोलह और दूसरे में सात अध्ययन हैं। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें क्रियावाद, अक्रियावाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, जगत्कर्तृत्ववाद और

१. आचाराङ्ग का प्रकाशन सन् १९३५ में आगमोदय समिति बम्बई द्वारा किया गया है।

लोकवाद जैसे प्राचीन दार्शनिक सम्प्रदायों का स्वरूप एवं उनका निरसन किया है। श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षु, निर्ग्रन्थ आदि के स्वरूपों की विस्तृत व्याख्याएँ भी की गयी हैं।

इस ग्रन्थ का अन्तिम अध्ययन 'नालन्दीय' है। इस अध्ययन में वर्णित घटनाएँ नालन्दा में घटित हुई, इसीलिए इसका नाम नालन्दीय पड़ा है। गौतम गणधर लेप गृहपति के हस्तियाम नामक वनखण्ड में ठहरे हुए थे। वहाँ इनका पार्श्वनाथ के शिष्य उदकपेढालपुत्र के साथ वार्तालाप हुआ। इस वार्तालाप से पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म पर प्रकाश पड़ता है। कहा जाता है कि पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह रूप चातुर्याम धर्म का प्रवर्तन किया था। भगवान् महावीर ने इस चातुर्याम में ब्रह्मचर्य व्रत को जोड़कर पञ्च महाव्रत रूप धर्म का निरूपण किया। इस प्रकार इस अध्ययन में पार्श्वापत्यीय उदकपेढालपुत्र को चातुर्याम छोड़कर महावीर का अनुयायी बनने से महावीर के पूर्व में रहनेवाली जैनधर्म की परम्परा का ज्ञान होता है।[1]

३ ठाणांग (स्थानाङ्ग) इस श्रुताङ्ग में दस अध्ययन हैं और सात सौ तिरासी सूत्र। इस आगम के उपदेशों का संकलन नहीं है, बल्कि संख्याक्रम से बौद्धों के अंगुत्तर निकाय के समान जैन सिद्धान्तानुसार वस्तु संख्याओं का निरूपण है। प्रथम अध्ययन में बताया गया है कि एक दर्शन, एक चरित्र, एक समय, एक प्रदेश, एक परमाणु, एक आत्मा आदि। दूसरे अध्ययन में जीव की दो क्रियाएँ, श्रुतज्ञान के अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट ये दो भेद, जीव क्रिया के सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया एवं अजीव क्रिया के ईर्यापथिक और साम्परायिक ये भेद बताये गये हैं। तीसरे अध्ययन में ऋक्, यजु और साम ये तीन वेद; धर्म, अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ; पत्रोपेत, पुष्पोपेत और फलोपेत ये तीन वृक्ष; नामपुरुष; द्रव्यपुरुष और भावपुरुष; अथवा ज्ञानपुरुष, दर्शनपुरुष और चारित्रपुरुष अथवा उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और जघन्य पुरुष भेद बताये गये हैं। उत्तम पुरुष के धर्मपुरुष, भोगपुरुष और कर्मपुरुष ये तीन भेद हैं। अर्हन्त धर्मपुरुष हैं, चक्रवर्ती भोगपुरुष हैं और वासुदेव कर्मपुरुष। धर्म के भी तीन भेद हैं—श्रुतधर्म, चारित्रधर्म और अस्तिकाय धर्म। इस ग्रन्थ के चतुर्थ अध्ययन में ऋषभ और महावीर को छोड़ शेष बाईस तीर्थंकरों को चतुर्याम धर्म का प्रज्ञापक कहा गया है। आजीविक उग्रतप, घोरतप, रसनिर्यूयणता और जिह्वेन्द्रिय प्रति संलीनता नाम के चार तपों का आचरण करते हैं। क्षमाशूर, तपशूर, दानशूर और युद्धशूर ये चार प्रकार के शूरवीर बतलाये गये हैं। चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति

---

१. सन् १९७१ में आगमोदय समिति बम्बई द्वारा प्रकाशित।

इन चार प्रज्ञप्तियों का निर्देश किया गया है। इस अध्ययन में चार प्रव्रज्या, चार कृषि, चार संघ, चार बुद्धि, चार नाट्य, चार गेय और चार अलंकारों का निरूपण किया गया है। आचार्य और शिष्यों का वर्णन करते हुए बताया है कि कोई आचार्य और उसका शिष्य परिवार शालवृक्ष के समान विराट् और सुन्दर होते हैं, और कोई आचार्य तो शालवृक्ष के समान महान् होते हैं, पर उनका शिष्य परिवार एरंडवृक्ष के समान क्षुद्र होता है किसी आचार्य का शिष्य समुदाय तो शालवृक्ष के समान महान् होता है, पर आचार्य स्वयं एरंड के समान खोखला होता है। कहीं आचार्य और शिष्य दोनों ही एरंड के समान तुच्छ और निस्सार होते हैं। पाँचवें अध्ययन में पाँच महाव्रत, पाँच राजचिह्न एवं जाति, कुल, कर्म, शिल्प और लिङ्ग के भेद से पांच प्रकार की आजीविकाओं का प्ररूपण किया गया है। गंगा, यमुना, सरयू, एरावती और महीनामक महानदियों का उल्लेख किया है। छठे अध्ययन में अंवष्ठ, कलंद, विदेह, वेदिग, हरित, चुंचुण नामक छः आर्यजातियों का तथा उग्र, भोज, राजन्य, इक्ष्वाकु, गाय और कौरव नामक छः आर्यकुलों का निरूपण किया गया है। सातवें अध्ययन में कासव, गौतम, वच्छ, कोच्च, कोसिय, मंडव और वासिट्ठ इन सात गोत्रों का उल्लेख किया है। आठवें अध्ययन में आठ क्रियावादी, आठ महानिमित्त और आठ प्रकार के आयुर्वेद का उल्लेख है। नौवें अध्ययन में नौ निधि तथा महावीर के नौ गणों का निर्देश है। दसवें अध्ययन में चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, हस्तिनापुर, कॉपिल्य, मिथिला, कौशाम्बी और राजगृह नाम की दस राजधानियों के नाम गिनाये गये हैं। इस प्रकार इस श्रुताङ्ग का इतिहास और प्राचीन भारतीय भूगोल की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है[1]।

४. समवायांग—इस श्रुतांग में २७५ सूत्र हैं। स्थानाङ्ग के समान इसमें भी भी एकादि क्रम से संख्या विषयक वस्तुओं का निरूपण करते हुए १७८ वें सूत्र में १०० तक संख्या पहुँच गयी है! एक संख्या में आत्मा, दो में जीव और अजीव राशि, तीन में तीन गुप्ति, चार में चार कषाय, पाँच में पाँच महाव्रत, छह में षट्काय के जीव, सात में सात समुद्घात, आठ में आठ मद, नौ में आचाराङ्ग प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययन, दस में दस प्रकार के श्रमण धर्म, दस प्रकार के कल्पबन्ध ग्यारह में ग्यारह प्रतिमा, ग्यारह गणधर, बारह में बारह भिक्षु प्रतिमा, तेरह में त्रयोदश क्रिया स्थान, चौदह में चतुर्दश पूर्व, चतुर्दश गुणस्थान रत्न एवं पन्द्रह में पन्द्रह योग, सोलह में सूत्रकृताङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन, सत्रह में सत्रह प्रकार के असंयम और अठारह में बंभी (ब्राह्मी), जवणी (यवनानी),

१. सन् १९३७ में अहमदाबाद से प्रकाशित।

दोसाउरिया खरोट्ठिया (खरोष्ठी), खरसाविया, पहराइया, उच्चत्तरिया, अक्खर पुट्ठिया, भोगवयता, वेणइया, णिण्हइया, अंक, गणिय, गंधव्व, आदस्स, माहेसर, दामिली और पोलिन्दी इन अठारह लिपियों का निर्देश किया गया है। उन्नीस वस्तुओं में महावीर, नेमिनाथ, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्य को छोड़ शेष उन्नीस तीर्थंकरों को गृहस्थ प्रव्रजित कहा है। पापश्रुतों में भौम, उत्पात, स्वप्न, अन्तरीक्ष आंग, स्वर, व्यंजन और लक्षण इन अष्टाङ्ग निमित्तों की गणना की गयी है। इस प्रकार संख्याओं का विवेचन करते हुए १७८वें सूत्र तक सौ की संख्या पहुँची है। इसके अनन्तर २००–३०० आदि क्रम से वस्तुनिर्देश बढ़ता जाता है और १९१वें सूत्र पर दस सहस्र तक संख्या पहुँच जाती है। पश्चात् २०८वें सूत्र तक दशशत सहस्र और २१०वें सूत्र में कोटा-कोटि तक संख्या पहुँच गयी हैं। अनन्तर २११वें सूत्र से २१७वें सूत्र तक आचाराङ्ग आदि अंगों के विभाजन और विषय का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। २४६वें सूत्र से २७५वें सूत्र तक कुलकर, तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव के माता, पिता, जन्मनगरी, दीक्षास्थान आदि का वर्णन है। इस अंश में पौराणिक सामग्री के आरम्भिक तत्त्व उपलब्ध होते हैं। अवशेष तथा मध्यवर्ती सूत्रों में ५४ शलाका पुरुष, मोहनीय कर्म के ५२ पर्यायवाचा नाम, क्रोध, राग-द्वेष, मोह, अक्षम, संज्वलन आदि का वर्णन है। १५०वें सूत्र में गणित, रूप, नाट्य, गीत, वादित्र आदि ७२ कलाओं के नामनिर्दिष्ट हैं। यह श्रुताङ्ग जैन सिद्धान्त और इतिहास की परम्परा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अधिकांश रचना गद्य रूप में है, बीच-बीच में नामावलियाँ एवं अन्य विवरण सम्बन्धी गाथाएँ भी आयी हैं। साहित्यिक ग्रन्थ न होने पर भी अलंकार और कल्पना की दृष्टि से यह रचना महत्वपूर्ण है। संख्याओं के सहारे पार्श्वनाथ एवं महीवार के पूर्ववर्ती चौदह पूर्वों के ज्ञाता मुनियों का निर्देश भी इस श्रुताङ्ग में पाया जाता है। तीर्थङ्करों के चैत्यवृक्षों का निरूपण भी इस ग्रन्थ में आया है।[1]

५—वियाहपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति)—इस श्रुताङ्ग का दूसरा नाम भगवती सूत्र भी है। जीवादि पदार्थों की व्याख्याओं का निरूपण होने से इसे व्याख्या प्रज्ञप्ति कहा जाता है। इसमें ४१ शतक हैं और प्रत्येक शतक में अनेक उद्देशक हैं। इनमें से कुछ शतक दस-दस उद्देशकों में विभाजित हैं और कुछ में उद्देशकों की संख्या हीनाधिक पायी जाती है। पन्द्रहवें शतक में उद्देशक नहीं हैं। यहाँ पर मंखलि गोशाल का चरित एक स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में कुल ८६७ सूत्र हैं।

---

१. १९३८ ई० में अहमदाबाद से प्रकाशित।

इस ग्रन्थ की व्याख्याएँ प्रश्नोत्तर के रूप में प्रस्तुत की गयी हैं। गौतम गणधर सिद्धान्त विषयक प्रश्न पूछते हैं और महावीर उनका उत्तर देते हैं। इस श्रुताङ्ग में भगवान् महावीर को वेसालिय (वैशालिक—वैशाली निवासी) कहा गया है। अनेक स्थलों पर पार्श्वनाथ के शिष्य उनके चातुर्याम धर्म का त्याग कर महावीर के पञ्चमहाव्रत मार्ग को स्वीकार करते हैं। इस प्रसंग के वर्णनों से स्पष्ट है कि भगवान् महावीर के समय में पार्श्वनाथापत्यों का निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय पृथक् वर्तमान था, पीछे चलकर उन्हीं के समय में यह महावीर के सम्प्रदाय में समाविष्ट हुआ है। इस श्रुतांग में अंग, वंग, मलय, मालवय, गच्छ, कच्छ, कोच्छ, पाढ़, लाढ़, वज्जि, मौलि, कासी, कोसल, अवाह और संभुत्तर इन सोलह जनपदों का भी उल्लेख मिलता है। राजनैतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे बड़ी बात यह है कि इसके सातवें शतक में वैशाली में सम्पन्न हुए दो महायुद्धों का वर्णन है। इन युद्धों के नाम हैं—महाशिलकण्टक-संग्राम और रथ-मुसल संग्राम। इन संग्रामों में एक ओर वज्जी एवं विदेहपुत्र थे और दूसरी ओर नौ मल्लकी, नौ लिच्छवी, काशी, कौशल एवं अठारह गण राजा। इन युद्धों में वज्जी, विदेहपुत्र कुणिक (अजातशत्रु) की विजय हुई। प्रथम युद्ध में ८४ लाख और दूसरे में ९६ लाख लोग मारे गये।

इस ग्रन्थ के आठवें शतक के पाचवें उद्देशक में आजीविकों के प्रश्न प्रस्तुत किये गये हैं। यहाँ आजीविकों के आचार-विचार का बहुत ही सुन्दर निरूपण है। ग्यारहवें शतक में रानी प्रभावती के वासगृह का सुन्दर निरूपण है। बारहवें शतक के दूसरे उद्देशक में कौशाम्बी में राजा उदयन की माता मृगावती और जयंती आदि श्रमणोपासिकाओं का उल्लेख है। मृगावती और जयन्ती ने भगवान् महावीर से धर्मश्रवण किया था और अनेक प्रश्न पूछे थे। २१, २२ और २३वें शतक में नाना प्रकार की वनस्पतियों के वर्गीकरण किये गये हैं। वेद, मूल, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल एवं बीज का सजीव और अजीव की दृष्टि से निरूपण किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि उक्त तीनों शतक वनस्पति शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। पार्श्वापत्यीय कालावेसिय पुत्त और गाङ्गेय के विवरण निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का इतिहास अवगत करने के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इस ग्रन्थ में अभयदेव की टीका के अनुसार ३६००० प्रश्नोत्तर हैं। इन प्रश्नोत्तरों में इतिहास. भूगोल, राजनीति, धर्म, सम्प्रदाय, रीतिरिवाज, दर्शन, वस्तुस्वभाव प्रभृति शताधिक विषयों का ऐसा सुन्दर वर्णन आया है, जिससे इसे ज्ञान-विज्ञान का एक महत्वपूर्णकोष ही माना जा सकता है।

इस श्रुतांग के आख्यानों और उदाहरणों को साहित्यिक शैली में निबन्ध किया गया है। काव्यशैली के विकास की अनेक कड़ियाँ इसमें वर्तमान हैं। प्राचीन भारत की जीवन-शोधन एवं आचार सम्बन्धी प्रक्रिया को अवगत करने के लिए तो यह वस्तुतः मार्ग दर्शक है।

इस ग्रन्थ में बलभी वाचना के नेता देवार्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित नन्दिसूत्र का भी उल्लेख है, अतः इसे प्रस्तुत रूप वी० नि० सं० १००० के पश्चात् ही प्राप्त हुआ होगा। हाँ, इसमें वर्णित विषय प्राचीन परम्परा से प्राप्त ही ग्रहण किये गये हैं।[1]

६. नायाधम्मकहा (ज्ञातृधर्मकथा)—इस ग्रन्थ का संस्कृत नाम ज्ञातृ-धर्म कथा है, जिसका व्युत्पत्तिगत अर्थ है कि ज्ञातृ पुत्र भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्मकथाओं का प्ररूपण। इस श्रुताङ्ग का दूसरा संस्कृत नाम 'न्याय धर्म कथा' भी संभव है। इस नाम के अनुसार इसमें न्याय—नीति एवं आचार सम्बन्धी नियमों को दृष्टान्तों और आख्यानों द्वारा समझानेवाली कथाओं का समावेश है। तथ्य यह कि इसमें संयम, तप और त्याग को उदाहरणों, दृष्टान्तों एवं लोक प्रचलित कथाओं के द्वारा प्रभावशाली और रोचक शैली में समझाया गया है। इन कथाओं की शैली की प्रमुख विशेषता यह है कि आरम्भ में ही कथाएँ एक-एक बात को स्पष्ट करती हुई शनैः शनैः आगे की ओर बढ़ती हैं। यही कारण है कि पुनरावृत्ति का प्राचुर्य है। वस्तु और प्रसंगों के निरूपण में सामासान्त पदावली संस्कृत साहित्य का स्मरण करती हैं।

इसमें दो श्रुताङ्ग हैं—प्रथम और द्वितीय। प्रथम में १९ अध्ययन हैं और दूसरे में १० वर्ग। प्रथम श्रुतस्कन्ध के उन्नीस अध्ययनों में नीतिकथाएँ और दूसरे श्रुतस्कन्ध के दस वर्गों में धर्मकथाएँ अङ्कित हैं। ये सभी कथाएँ एक में एक गुथी हुई हैं। पर सब का अस्तित्व स्वतन्त्र है और सब का लक्ष्य एक है—संयम तप एवं त्याग।

प्रथम अध्ययन में मेघकुमार की कथा है। मेघकुमार का जीवन वैभव अन्य अहंभाव का त्याग कर सहिष्णु बन आत्मसाधना में संलग्न रहने का संकेत करता है। यही इसका अन्तिम लक्ष्य और सन्देश है। अवान्तर रूप में इस कथा में आदर्श राज्य की अल्पना की गयी है। राजगृह नगरी के सुशासन का वर्णन और महाराज श्रेणिक के आदर्श राज्य की कल्पना श्रोता या पाठक के मन में आदर्श

---

१. सद् १९२१ मे अभयदेव की टीका सहित आगमोदय समिति, बम्बई द्वारा प्रकाशित।

राज्य और सुशासन के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने में पूर्ण क्षम हैं। इस कथा का विकास लोक कथा की शैली पर हुआ है—लोक कथा में कोई जटिल अनहोनी-सी बात—समस्या रख दी जाती है और एक पात्र के द्वारा उसकी पूर्ति के संकल्प की घोषणा कर दी जाती है, तत्पश्चात् उसके प्रयत्नों को सामने लाया जाता है इससे कौतूहल की सृष्टि होती है। महारानी धारिणी देवी को असमय में वर्षा-कालीन दृश्य देखने की इच्छा उत्पन्न होती है और एक ऐसी ही समस्या का बीजारोपण हो जाता है। इस कथा के पात्र ही आदर्श नहीं है, अपितु इसमें आदर्श दृश्यों का भी उल्लेख हुआ है। मेघकुमार का दीक्षित होना, प्रव्रज्याकाल में अपमान का अनुभव होने से प्रव्रज्या की छोड़ने का विचार कर महावीर के पास जाना तथा भगवान् महावीर द्वारा पूर्वभवावलि को सुनकर उसके चित्त का स्थित होना आदि कथानक बहुत ही सुन्दर हैं।

दूसरे अध्ययन में धन्ना और विजय चोर को कथा है। तीसरे में सागरदत्त और जिनदत्त की कथा है। इस कथा का मूलोद्देश्य मयूर के अण्डों के उदाहरण द्वारा सम्यक्त्व के निश्शंकित गुण की अभिव्यञ्जना करना है। इस उद्देश्य में यह कथा सफल है। चतुर्थ अध्ययन में जन्तु-कथा है। यह कथा दो कच्छप और शृंगालों की है। इसमें बताया गया है कि जो व्यक्ति संयमी और इन्द्रियजयी है, वह अंग सिकोड़ने वाले कछुए के समान आनन्दपूर्वक और जो इन्द्रियाधीन तथा असंयमी है, वह उछल-कूद करनेवाले कछूए के समान कष्टसे जीवनयापन करता है और विनाश का कारण बनता है। पाँचवें अध्ययन में थावर्चाकिमार, शुकमुनि और सेलग राजर्षि के कथानक हैं। सातवें अध्ययन में धन्ना और उसकी पतोहुओं की सुन्दर कथा है। आठवें में मल्लिकुमारी की कथा है। यह कथा समस्या मूलक, घटनाप्रधान और नाटकीय तत्त्वों से युक्त है। नौवें अध्ययन में माकन्दी पुत्र जिनरक्ष और जिनपालित की कथा है। बारवें में दुर्दर नामक देव, चौदवें में अमात्य तेमलि, सोलहवें में द्रौपदी एवं उन्नीसवें में पुण्डरीक और कुंडरीक की सुन्दर कथाएँ आयी हैं। इन सभी कथाओं की शैली सरल और कौतूहलोत्पादक है।

दूसरे श्रुतस्कन्ध में मानव, देव और व्यन्तर आदि की सामान्य घटनाएँ वर्णित हैं। इसके दस वर्ग भी अनेक अध्ययनों में विभक्त हैं। श्रुतस्कन्ध में पुण्यशाली नारियों की महत्ता में निरूपण में बताया गया है कि पुण्य के प्रभाव से वे व्यन्तर, ज्योतिषी एवं कल्पवासी देवों की अग्रमहिषियों के रूप में जन्म ग्रहण करती हैं। तीसरे वर्ग में देवकी के पुत्र गजसुकुमाल का आख्यान उल्लेखनीय है। अतः इस कथानक के आधार पर उत्तरवर्ती जैन कवियों ने स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं।

इस श्रुतांग[1] का साहित्य की दृष्टि से बहुत महत्व है। इनके कथानक आगे जाकर बहुत ही समादृत एवं विस्तृत हुए हैं। इसकी निम्नांकित विशेषताएँ हैं—

१. द्रौपदी के पूर्वभव का आख्यान नागश्री का सुगन्धदशमी की कथा का आधार है।

२. देश और काल की परिमिति के भीतर इतिवृत्तों का समावेश किया गया है।

३. गजसुकुमाल जैसे आख्यान सूत्रों के—पल्लवन से आगे स्वतन्त्र ग्रन्थ-निर्माण की सामग्री प्रस्तुत की गयी है।

४. कथाओं में प्रतीकों का सन्निवेश किया हैं।

५. जन्तुकथाओं का सूत्रपात—आगे चलकर ये जन्तुकथाएँ साहित्य का प्रमुख अंग बनीं।

७. उवासगदसाओ उपासकदशाध्ययन—इस श्रुतांग में दस अध्ययन हैं, और इनमें क्रमशः आनन्द, कामदेव, चुलनीप्रिय, सुरादेव, चुल्लशतक, कुँडकौलिक, सद्दाल्पुत्र, महाशतक, नन्दिनीप्रिय और शालिनीप्रिय इन दस उपासकों के कथानक हैं। इन कथानकों द्वारा जैन गृहस्थों के धार्मिक नियम समझाए गये हैं। ये उपासक अपनी धर्मसाधना में अत्यन्त संलग्न थे और नाना प्रकार की विघ्न-बाधाओं के आने पर भी अपनी साधना से च्युत न हुए। प्रथम अध्ययन में श्रावक के पाँच अणुव्रत, तीन गुण व्रत और चार शिक्षाव्रत एवं अन्य बारह व्रतों के अतिचारों का सुन्दर विवेचन किया है। आनन्द धनिक श्रावक है, उसके पास करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं की सम्पत्ति है। आनन्द ने भगवान् महावीर से व्रत ग्रहण किए थे और परिग्रह तथा भोगोपभोग के परिणाम को सीमित कर धर्मसाधना में प्रवृत्त हुआ था। इसने बीस वर्ष की साधना द्वारा अवधिज्ञान प्राप्त कर लिया था। गौतम गणधर को इसके अवधिज्ञान के विषय में अशंका हुई और उसने अपनी शंका का समाधान भगवान् महावीर से किया। इस कथा में वाणिज्य ग्राम और कोल्लाग सन्निवेश के आस-पास रहने की चर्चा आयी है। कोल्लाग सन्निवेश में ज्ञातृकुल की पोषधशाला थी, यहाँ का कोलाहल वाणिज्य ग्राम तक सुनायी पड़ता था। अतएव वैशाली के समीप जो बनिया ग्राम और कोल्हुआ ग्राम हैं, वे ही प्राचीन वाणिज्यग्राम और कोल्लाग सन्निवेश हैं। दूसरे अध्ययन में कामदेव की कथा अन्य बातों में आनन्द की कथा के समीप ही है, पर पिशाच द्वारा उसकी दृढ़ता की परीक्षा लेना और नाना प्रकार के उपसर्ग पहुँचाने पर भी उसका विचलित न होना, एक नवीन घटना है। इस कथानक में पिशाच की आकृति का

---

१. नन् १९४० में एन० वी० वैद्य द्वारा फर्गुसन कालेज; पूना से प्रकाशित।

ऐसा हृदयस्पर्शी वर्णन किया है, जिससे उसकी घोरमूर्त्ति पाठकों के समक्ष उपस्थित हो जाती है। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकों द्वारा पिशाच की आकृति का चित्रण साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। तीसरे, चोथे और पाँचवें अध्ययन में भी पिशाच द्वारा उपासकों की समीक्षा ली गयी है, उपासक अनेक विघ्न-बाधाओं के आने पर भी अपनी धर्मसाधना से विचलित नहीं होते हैं। छठें अध्याय में एक देश मंखलिपुत्र गोशाल के सिद्धान्तों को उपासक के समक्ष प्रस्तुत करता है, पर श्रावक अपनी श्रद्धा से विचलित नहीं होता। सातवें अध्ययन में आजीविका सम्प्रदाय के उपासक सद्दालपुत्र को भगवान् महावीर उपदेश देते हैं और आजीविका मत के प्रमुख सिद्धान्त नियतवाद का खण्डन करते हैं। इस अध्ययन में भगवान् महावीर को महाब्राह्मण, महागोप, महासार्थवाह, महाधर्म-कथन और महानिर्यापक कहा गया है, जिससे उनकी विविध महावृत्तियों का परिज्ञान हो जाता है। आठवें अध्ययन में उपासक की धर्मपत्नी ही धर्मसाधन में बाधा पहुँचाती है। वह धार्मिक और मांसलोलुपी है तथा विषय-सेवन के लिए सदा तैयार रहती है। फलतः अपने पति की साधना में अनेक प्रकार से बाधाएँ उत्पन्न करती है, पर साधक महाशतक अडिग रहता है। नौवें और दसवें अध्ययन बहुत ही छोटे हैं, इनमें नन्दनप्रिय और शालिनीप्रिय की साधनाओं का वर्णन है।

आचाराङ्ग में जिस प्रकार मुनिधर्म का प्रतिपादन है, उसी प्रकार इस श्रुताङ्ग में श्रावकधर्म का। एक प्रकार से यह[1] आचारांग का पूरक है। साहित्यिक दृष्टि से इस श्रुतांग का निम्नलिखित महत्व है।

१. चरित्रों की उत्थापना का श्रीगणेश—जिनका विकास काव्यग्रन्थों में पाया जाता है।

२. पारिवारिक भित्ति पर चरित्र आधारित हैं—परिवार के बीच रहकर भी ऊँची साधनायें की जा सकती हैं, की सिद्धि। बौद्ध एवं जैन परम्परा में ऊँची साधना साधु होने पर ही प्राप्त की जा सकती है, इस मान्यता के समानान्तर गृहस्थधर्म की मान्यता को खड़ा करना। गौतम गणधर की आनन्द के अवधिज्ञान के विषय में आशंका इस बात का प्रमाण है, कि हम उपलब्धि को इसके पहले श्रमण जीवन में ही प्राप्त किया जाता था, पर श्रावक होकर सबसे प्रथम संभवतः आनन्द ने ही प्राप्त किया था। अतः श्रावक जीवन को उपासना की दृष्टि से महत्व प्रदान किया गया है। श्रावक भी उपसर्ग और परीषहो का विजयी हो सकता है।

---

१. सन् १९५३ ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, १५ शुक्रवार पेठ, पूना २ से प्रकाशित।

३. विषय-वस्तुओं का साहित्यिक निरूपण पिशाच, रथ प्रभृति का काव्यात्मक वर्णन किया है।

४. कथाओं में तर्क का प्रवेश। संवाद तत्त्वों में तर्क का आधार ग्रहण किया गया है, यथा भगवान् महावीर सद्दालपुत्र के समक्ष तर्क द्वारा नियतिवाद का खण्डन करते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रश्नोत्तर प्रणाली तर्क का रूप ग्रहण करने लगी थी और दार्शनिक विषय भी प्रविष्ट होने लगे थे।

५. मानव मनोविज्ञान का समावेश—वार्तालाप में इस तत्त्व के बीज वर्तमान हैं। प्रियवस्तु या प्रियव्यक्ति की प्रशंसा कर देने से व्यक्ति प्रसन्न होता है, इस मनोविज्ञान के सिद्धान्त का उपयोग मंगलिपुत्र गोसाल सद्दालपुत्र को प्रसन्न करने के लिए करता है। जब वह देखता है कि सद्दालपुत्र महावीर का श्रद्धालु हो गया है, तो उसकी श्रद्धा को दूर करने के लिए आरम्भ में महावीर की प्रशंसा कर सद्दालपुत्र का प्रियपात्र बनना चाहता है। इस प्रकार कार्यव्यापारों में मनोविज्ञान का भी समावेश विद्यमान है।

६. जीवन के कार्यव्यापारों का अधिक विस्तार हो चुका था, इसी कारण महावीर को महाब्राह्मण, महागोप, महासार्थवाह आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है।

७. प्राचीन भारत के सम्पन्न, वैभवपूर्ण और विलासी जीवन का सुन्दर निरूपण हुआ है।

८—अंतगडदसाओ[1] **(अन्तःकृद्दशा)**—इस श्रुताङ्ग में उन स्त्री-पुरुषों के आख्यान है, जिन्होंने अपने कर्मों का अन्त करके मोक्ष प्राप्त किया है। इसमें ८ वर्ग और ९ अध्ययन हैं। ये आठ वर्ग क्रमशः १०, ८, १३, १०, १०, १६, १३ और १० अध्ययनों में विभक्त हैं। प्रत्येक अध्ययन में किसी न किसी व्यक्ति का नाम अवश्य आता है। पर कथानक अपूर्ण हैं, अधिकांश वर्णनों को अन्य स्थान से पूर्ण कर लेने की सूचना दी गयी है। "वण्णियों" की परम्परा द्वारा कथानकों को अन्यत्र से पूरा कर लेने को कहा गया है। प्रथम अध्ययन में गौतम का कथानक द्वारावती नगरी के राजा अन्धकवृष्णि की रानी धारणी देवी की सुप्तावस्था तक वर्णन कर कह दिया गया है और बताया है कि स्वप्नदर्शन, कुमारजन्म, उसका बालकपन, विद्याग्रहण यौवन, पाणिग्रहण, विवाह, प्रासाद एवं भोगों का वर्णन महाबल की कथा के समान जानना चाहिए। आगेवाले प्रायः सभी अध्ययनों में नायक-नायिका के नामों का निर्देश कर ही वर्णनों को अन्यत्र से अवगत कर लेने की सूचना दी गयी है।

---

१. ओरियण्टल बुक एजेंसी, पूना सन्, १९५३।

इस श्रुताङ्ग के आख्यानों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। आदि के पाँच वर्गों के कथानकों का सम्बन्ध परिष्टनेमि के साथ है और शेष तीन वर्ग के कथानकों का सम्बन्ध महावीर तथा श्रेणिक के साथ है। इस श्रुताङ्ग में मूलतः दस अध्ययन रहे होंगे, उत्तरकाल में इसको विकसित कर यह रूप प्राप्त हुआ है। इसमें निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

१. राजकीय परिवार के स्त्री-पुरुषों को दीक्षा ग्रहण करते देखकर आध्यात्मिक साधना के लिए प्रेरणा प्राप्त होती है,

२. कृष्ण और कृष्ण की आठ पत्नियों का आख्यान—सम्यक्त्वकौमुदी की कथाओं का स्रोत है। जम्बूस्वामी की आठ पत्नियाँ एवं उनकी सम्यक्त्व प्राप्ति की कथायें भी इन्हीं बीजों से अंकुरित हुई हैं।

३. पौराणिक और चरितकाव्यों के लिए बीजभूत आख्यान समाविष्ट है।

४. कथानकों के बीजाभाव काव्य और कथाओं के विकास में उपादान रूप में व्यवहृत हुए हैं। एक प्रकार से उत्तरवर्ती साहित्य के विकास के लिए इन्हें 'जर्मिनल आइडिया' कहा जा सकता है।

५. द्वारिका नगरी के विध्वंस का आख्यान—जिसका विकास परवर्ती साहित्य में खूब हुआ है।

६. ललित गोष्ठियों के अनेक रूप—अर्जुन मालाकार के आख्यान से प्रकट हैं।

७. प्राचीन मान्यताओं और अन्धविश्वासों का प्रतिपादन—यक्षपूजा, मनुष्य के शरीर में यक्ष का प्रवेश आदि के द्वारा किया है।

८. अहिंसक के समक्ष हिंसावृत्ति का काफूर होना और अहिंसा-वृत्ति में परिणत होना—अर्जुन लौह मुद्गर से नगरवासियों का विध्वंस करता है, पर अहिंसा की मूर्ति भगवान् महावीर के समक्ष जाकर नतमस्तक हो जाता है और प्रव्रज्या ग्रहण कर लेता है।

९. नगर, पर्वत—रैवतक; आयतन—सुरप्रिय यथायतन आदि का वर्णन काव्यग्रन्थों के लिए उपकरण बना।

१०. देवकी के पुत्र गजसुकुमाल के दीक्षित हो जाने पर सोमिल ने ध्यानास्थित दशा में उसे जला दिया, अत्यन्त वेदना होने पर भी वह शान्त भाव से कष्ट सहन करता रहा, यह आख्यान साहित्य निर्माताओं का इतना प्रिय हुआ, जिससे 'गजसुकुमाल' नामक स्वतन्त्र काव्य ग्रन्थ लिखे गये। इस प्रकार परवर्ती साहित्य के स्रोत की दृष्टि से इस श्रुताङ्ग का पर्याप्त महत्व है।

९. अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपातिकदशा) इस श्रुतांग में उन विशिष्ट पुरुषों का चरित्र वर्णित है, जिन्होंने अपनी धर्मसाधना के द्वारा मरण कर अनुत्तर स्वर्ग के विमानों में जन्म ग्रहण किया है। अनुत्तर विमानवासी देवों को एक बार मनुष्य जन्म प्राप्त कर निर्वाण हो जाता है। यह श्रुतांग तीन वर्गों में विभक्त है। प्रथम वर्ग में १०, द्वितीय में १३ और तृतीय में १० अध्ययन हैं। उपासकदशा और अन्तःकृद्दशा के समान इसमें भी दस अध्ययन रहे होंगे। इस श्रुतांग में घटनाएँ और आख्यान पल्लवित नहीं हैं, केवल चरित्रों का निर्देश भर प्राप्त होता है। प्रथम वर्ग में धारणीपुत्र जाली तथा तृतीय वर्ग में भद्रापुत्र धन्य का चरित्र विस्तारपूर्वक वर्णित है। अनुत्तर-विमानवासी ३३ महान् पुरुषों में से २३ का सम्बन्ध महाराज श्रेणिक की पत्नी धारणी, चेलना और नन्दा से है, ये इन तीन रानियों के पुत्र थे। शेष दस व्यक्ति काकन्दी नगरी की सार्थवाही भद्रा के पुत्र हैं। तीसरे वर्ग के प्रथम अध्ययन में धन्य की कठोर तपस्या और उसके कारण क्षीण हुए अंग-प्रत्यंगों का मार्मिक और विस्तृत वर्णन है। इन वर्णन की तुलना बुद्ध की तपस्या से की जा सकती है। इस श्रुतांग की निम्न विशेषताएँ हैं—

१. पादोपगमन संन्यास-विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

२. उपवास और तपश्चरण का प्रभाव और महत्त्व अंकित है।

३ घटनाओं या कथानकों के मात्र ब्योरे—अवयव मात्र हैं।

४. धन्य की तपस्या के प्रसंग में आलंकारिक वर्णन आया है; यथा—अक्खसुत्तमाला-विव-गणेज्जमाणेहिं पिट्ठिकरंडगसंधीहिं, गंगातरंगभूएणं उरकडगदेसभाएणं सुक्कसप्पमाणेहिं बाहाहिं, सिढिलकडालीविवलंबंतेहिं य अग्गहत्थेहिं, कंपमाणवाइए विव वेबमाणीए सीस-घडीए'''। अर्थात् उस धन्य की पीठ की हड्डियाँ अक्षमाला की तरह एक-एक कर के गिनी जा सकती थीं। वक्षःस्थल की हड्डियाँ गंगा की लहरों के समान अलग-अलग दिखलायी पड़ती थीं। भुजाएँ सूखे हुए साँप की तरह कृश हो गयी थीं। हाथ घोड़े के मुँह पर बाँधने के तोबरे के समान शिथिल होकर लटक गये थे और सिर बात-रोगी के समान काँप रहा था।

१०. पण्हवागरणाइं (प्रश्नव्याकरण)—इस श्रुतांग में दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में पाँच आस्रव द्वारों का और दूसरे में पाँच संवर द्वारों का वर्णन किया है। आस्रव द्वारों में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पापों का तथा संवर द्वारों में अहिंसादि पाँच व्रतों का विमोचन किया गया है। हिंसक जातियों के पेशेवरों में शौकरिक—शूकरों का व्यापार और शिकार करनेवाले, मच्छबंध—मत्स्य व्यापार करनेवाले, शाकुनिक—चिड़ीमार, व्याध, वागुरिक—जीव-जन्तुओं को पकड़कर आजीविका करने-वाले व्यक्तियों का निर्देश किया है।

प्रश्न व्याकरण का अर्थ है स्वसमय—स्वसिद्धान्त और परसमय—अन्य सिद्धान्त सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के रूप में नाना विद्याओं, मन्त्र-तन्त्र एवं दार्शनिक बातों का निरूपण। पर इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस श्रुतांग में विषय-विवेचन का अभाव है। अतः यह अनुमान सहज में किया जा सकता है कि इसका प्राचीन रूप वही था, जिसका आभास प्रश्न विवेचन के रूप में नान्दीसूत्र में मिलता है। समय के प्रभाव से इसका वास्तविक मूल रूप लुप्त हो गया है।

प्रस्तुत श्रुतांग[1] में साहित्यिक और सांस्कृतिक निम्न विशेषताएँ हैं—

१. अनेक जातियों और पेशों का उल्लेख आया है।

२. नाना प्रकार के आभूषण, रत्न, सुगन्धित पदार्थ एवं मणिमुक्ताओं का विवेचन किया गया है।

३. विनय, शील और तप सम्बन्धी अनेक नियमोपनियम वर्णित हैं।

४. उपमा अलंकार का विस्तार—ब्रह्मचर्य के प्रसंग में ३२ प्रकार की उपमाओं का प्रयोग आया है।

५. उपमा के प्रसंग में कई अभुक्त और नवीन उपमान आये हैं; यथा काँस्य-पात्र के समान स्नेहरूप जल से दूर कछुए की भाँति गुप्त। कांस्य-पात्र और कच्छप उपमान काव्य ग्रन्थों में नहीं आये हैं, इनका प्रयोग आगमिक साहित्य में ही मिलता है।

६. कांचना, रक्तसुभद्रा, अहिल्या आदि नये स्त्रीपात्र आये हैं; जिनके लिए युद्ध होने का उल्लेख है।

११. विवागसुयं (विपाकश्रुतं)—विपाकश्रुत में प्राणियों के द्वारा किये गये अच्छे और बुरे कर्मों का फल दिखलाने के लिए बीस कथाएँ आयी हैं। इस ग्रन्थ के प्रथम श्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों में दुःख-विपाक अशुभ कर्मों का फल दिखलाने के लिए मृगापुत्र, उज्झिय, अभग्गसेन, शकट, बृहस्पतिदत्त, नन्दिषेण, उम्बरदत्त, सोरियदत्त, देवदत्ता और अजदेवी की जीवनगाथाएँ अंकित हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों में सुबाहु, भद्रनन्दी, सुजात, सुवासव, जिनदास, धनपति, महाबल, भद्रनन्दी, महाचन्द्र और वरदत्त की जीवन गाथाएँ उल्लिखित हैं। उपर्युक्त इन बीसों आख्यानों द्वारा यह बतलाया गया है कि कोई भी प्राणी जन्म-जन्मान्तरों में अपने योग—मन, वचन और काय की क्रिया के द्वारा अपने राग-द्वेष और मोह आदि भावों के निमित्त से कर्मों का बन्ध करता है। इन बँधे हुए कर्मों का आत्मा के साथ किसी विशेष समय की अवधि तक रहना कषाय की मन्दता या तीव्रता पर निर्भर है। यदि कषाय हल्के

---

१. सन् १९१९ में आगमोदय समिति बम्बई द्वारा अभयदेव की टीका सहित प्रकाशित।

दर्जे की होती है तो कर्मपरमाणु भी जीव के साथ कम समय तक ठहरते हैं और फल भी कम प्राप्त होता है। कषायों की तीव्रता होने पर आए हुए कर्म परमाणु जीव के साथ अधिक समय तक बने रहते हैं और फल भी अधिक मिलता है। इस श्रुताङ्ग में कर्मसिद्धान्त का सुन्दर विवेचन है। प्रसंगवश श्वास, कफ, भगन्दर, अर्ष, खाज, यक्ष्मा और कुष्ठ आदि नाना रोगों का एवं इन रोगों से पीड़ित व्यक्तियों का चित्रण किया गया है। गर्भिणी स्त्रियों के दोहद, भ्रूणहत्या, नरबलि, वेश्यावृत्ति प्रभृति पापों का फल सहित विवेचन किया गया है। इस श्रुतांग[1] की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

१. कर्मसिद्धांत के ग्रंथों की पृष्ठभूमि—आस्रव, बन्ध, उदय, सत्त्व, उदीरणा प्रभृति के विवेचन के हेतु यग उपजीव्य है।

२. नाना सामाजिक प्रथाओं, मान्यताओं एवं अंधविश्वासों का विश्लेषण वर्तमान है।

३. अनेक रोगों और औषधि-उपचारों का निरूपण तथा अष्टांग आयुर्वेद के सिद्धान्त निबद्ध किये गये हैं।

४. कर्म संस्कारों की महत्ता वर्णित है।

५. कथातत्त्व की दृष्टि से घटनाओं में क्रमबद्धता के साथ उतार-चढ़ाव विद्यमान हैं।

६. प्रश्नोत्तर शैली द्वारा कथोपकथनों में प्रभावोत्पादकता निहित है।

७. समस्त उपाख्यानों में वर्गशील का निरूपण है।

८. चरित्रों के विकास में समगतित्व निहित है।

९. वर्णनों में काव्यत्व है।

१२. दिट्ठिवाद (दृष्टिवाद)—एक मान्यता के अनुसार यह श्रुतांग लुप्त हो गया है। समवायांग के अनुसार इसके परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका ये पाँच विभाग हैं। इन पाँचों के नाना भेद-प्रभेदों का उल्लेख पाया जाता है। विवरणों से ऐसा ज्ञात होता है कि परिकर्म के अन्तर्गत लिपिविज्ञान और गणित का विवरण भी सम्मिलित था। सूत्र में छिन्न-छेदनय, अनिछन्न-छेदनय, त्रिकनय और चतुर्नय का विवेचन है। इन चारों के समन्वय से जैन नयवाद का विकास हुआ है। दृष्टिवाद के पूर्वगत विभाग में उत्पाद पूर्व, अग्रायणी पूर्व, वीर्यप्रवाद पूर्व, अस्तिनास्ति प्रवाद पूर्व आदि चौदह पूर्वों का उल्लेख मिलता है। अनुयोग के दो भेद हैं—मूल प्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग। मूल प्रथमानुयोग में तीर्थंकर, जैसे महान् पुरुषों के चरितों का उल्लेख किया गया है। इसमें उनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण सम्बन्धी इतिवृत्त समाविष्ट हैं। गंडिकानुयोग में कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि अन्य महापुरुषों के इतिवृत्त वर्णित हैं। दिगम्बर ग्रन्थों में एक सामान्य नाम अनुयोग ही मिलता है, पर इसकी परिभाषा में

१. वि० सं० १९२२ में अभयदेव की वृत्ति सहित बड़ौदा से प्रकाशित।

त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरितों को समेट लिया गया है। दृष्टिवाद के जिस विषय का संकलन परिकर्म, पूर्व और अनुयोग में नहीं किया जा सकता है, उसका संग्रह चूलिका में किया गया है। समवायांग में चारों पूर्वों की चूलिकायें बतलायी गयी हैं। समस्त चूलिकायें बत्तीस होती हैं। दिगम्बर परम्परा में जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता ये पाँच चूलिकायें मानी गयी हैं। इन चूलिकाओं का श्रुतस्कन्ध में जो स्वरूप प्राप्त है, उससे स्पष्ट है कि इनका विषय मन्त्र-तन्त्र एवं जादू-टोना आदि का रूप था। इनके विषयों की तुलना अथर्ववेद के अभिचार सूक्तों से की जा सकती है।

उपांग—

१. औपपातिक[1]—अंगों के समान बारह उपांग भी आगमिक साहित्य में सम्मिलित हैं। बारह उपाङ्गों में से सबसे पहला उपांग औपपातिक है। इस उपांग में उदाहरण पूर्वक यह बताया गया है कि नाना भावों, विचारों और साधनाओं पूर्वक मृत्यु प्राप्त करनेवाले प्राणियों का पुनर्जन्म कहाँ होता है? इस ग्रन्थ में तेतालीस सूत्र हैं, इसकी विशेषतायें निम्नलिखित हैं।

१. नगर, चैत्य, राजा एवं रानियों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। यह वर्णन अन्य श्रुतांगों के लिए आधार बनता है और सही ग्रन्थ का उल्लेख कर वर्णन को छोड़ दिया गया है।

२. चम्पा नगरी का आलंकारिक वर्णन परवर्ती अन्य प्राकृत साहित्य के लिए स्रोत है। इस प्रकार का सूक्ष्म और पूर्ण वर्णन संस्कृत साहित्य में भी कम ही मिलता है।

३. संस्कृत और समाज की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है।

४. प्रबन्धकाव्यों के योग्य वस्तु-वर्णनों का सद्भाव है।

५. संवाद शैली के अनेक तत्त्वों का सद्भाव वर्त्तमान है।

६. धार्मिक और नैतिक मूल्यों की स्थापना की गयी है।

२. रायपसेणिय (राजप्रश्नीय)—इस उपांग की गणना प्राचीन आगमों में की जाती है। इसमें दो भाग हैं और कुल सूत्र २१७ हैं। इसमें राजा पएसी (प्रदेशी) द्वारा किए गये प्रश्नों का केशी मुनि द्वारा समाधान प्रस्तुत किया गया है। विद्वानों का अनुमान है कि इस ग्रन्थ का यथार्थ नायक कोशल का इतिहास प्रसिद्ध राजा प्रसेनजित् ही रहा है, बाद में उसके स्थान पर प्रदेशी कर दिया है[2]। इसके प्रथम भाग में तो सूर्याभदेव का वर्णन है और दूसरे भाग में इस देव के पूर्वजन्मों का वृत्तान्त है। सूर्याभ का जीव राजा प्रदेशी के रूप में पार्श्वनाथ की परम्परा के मुनि केशी से मिला था।

---

१. आगमोदक समिति भावनगर द्वारा प्रकाशित।

२. विशेष जानकारी के लिए देखें—श्री डॉ० हीरालाल जी द्वारा लिखित 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान' सन् १९६२, पृ० ६५।

उसने उनसे आत्मा की सत्ता के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से प्रश्न किये थे। अन्त में केशी मुनि के उपदेश से वह सम्यग्दृष्टि बना था। सम्यक्त्व के प्रभाव से वह सूर्याभदेव हुआ। इस उपांग की निम्न विशेषताएँ हैं—

१. स्थापत्य, संगीत और नाट्यकला की दृष्टि से अनेक तत्त्वों का समावेश है। बत्तीस प्रकार के नाटकों का उल्लेख किया है। सूर्याभदेव ने महावीर को ३२ प्रकार के नाटक दिखलाये थे।

२. लेखन सम्बन्धी सामग्री का निर्देश किया है।

३. साम, दाम और दण्डनीति के अनेक सिद्धान्तों का समावेश वर्तमान है।

४. बहत्तर कलाओं, चार परिषदों एवं कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्यों का निरूपण किया गया है।

५. साहित्यिक दृष्टि से केशी और राजा प्रदेशी के मध्य सम्पन्न हुआ संवाद है।

६. पार्श्वनाथ की परम्परा सम्बन्धी अनेक बातों की जानकारी उपलब्ध है।

७. मुनि केशी ने जीव की अनिवार्य गति के स्पष्टीकरण के लिए बन्द कमरे के भीतर आवाज करने पर भी उसके बाहर निकलने का उदाहरण प्रस्तुत किया है। यही उदाहरण हरिभद्र सूरि की समराइच्चकहा के तीसरे भव में पिंगल और विजयसिंह के वाद-विवाद में भी पाया जाता है। उदाहरण दोनों ही स्थानों में समान रूप से आया है।

८. काव्य और कथाओं के विकास के लिये वार्तालाप और संवादों का आदर्श यहाँ प्रस्तुत है। इसी प्रकार के संवाद काव्य का अंग बनते हैं।

३. जीवाभिगम—इस उपांग में गौतम गणधर और महावीर के प्रश्नोत्तर के रूप में जीव और अजीव के भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन है। इसमें नौ प्रकरण और २७२ सूत्र हैं। इसका तीसरा प्रकरण बड़ा है। इसमें द्वीप और सागरों का विस्तारपूर्वक वर्णन पाया जाता है। इसमें प्रसंगवश रत्न, आभूषण, भवन, वस्त्र, लोकोत्सव, यान, अलंकार एवं मिष्टान्नों का महत्त्वपूर्ण वर्णन है। इसकी[1] कुछ विशेषताएँ निम्न हैं—

१. सांस्कृतिक सामग्री का प्राचुर्य है।

२. कला की दृष्टि से पर्याप्त सामग्री वर्तमान है।

३. उद्यान, वापी, पुष्करिणी, कदली-घर, प्रसाधन-घर एवं लतामण्डप आदि का सरस और साहित्यिक वर्णन किया गया है। वस्तुतः प्रबन्ध काव्यों के विकास में शिलालेखों के अतिरिक्त उक्त प्रकार के आगमिक वर्णन भी सहायक हैं। प्रबन्ध काव्यों का विकास इसी प्रकार के वस्तु व्यापारों से हुआ है। सुधर्मा सभा का प्रतिपादन भी अच्छा हुआ है।

---

१. सन् १९१९ में देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धारफंड, सूरत द्वारा प्रकाशित।

४. प्रश्नोत्तर प्रणाली का यहाँ विकसित रूप उपस्थित है।

५. पण्णवणा (प्रज्ञापना)—इस उपाङ्ग में छत्तीस पद—परिच्छेद हैं, जिसमें जीव से सम्बन्ध रखनेवाले प्रज्ञापना, स्थान, बहुवक्तव्य, स्थिति, कषाय, इन्द्रिय, लेश्या, कर्म, उपयोग, वेदना एवं समुद्धात आदि विषयों का अच्छा निरूपण किया गया है।[1] जो स्थान अंग साहित्य में भगवती सूत्र का है, वही स्थान उपांग में इस ग्रन्थ का है। यह भी एक प्रकार से ज्ञान-विज्ञान का कोष है। साहित्य, धर्म, दर्शन, इतिहास और भूगोल के अनेक महत्वपूर्ण उल्लेख उपलब्ध हैं। अध्ययन करनेवालों को साहित्य रस भी प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ के रचयिता आर्य श्याम का भी उल्लेख पाया जाता है, इनका समय सुधर्म स्वामी से २३वीं पीढ़ी अर्थात् ई० पू० द्वितीय शताब्दी सिद्ध होता है। इसकी निम्न विशेषताएँ हैं—

१. इस उपांग में २५ ½ आर्य देशों का उल्लेख है। मगध, अंग, बंग आदि पच्चीस देशों को पूरा देश कहा है और केकय (श्वेतिका) को आधा आर्य देश माना है।

२. कर्म-आर्य, शिल्प-आर्य एवं भाषा-आर्य जैसे आर्य जाति के भेदों को स्पष्ट किया है।

३. वर्णनों में आलंकारिक प्रयोग कम ही आये हैं।

४. जैनागम सम्बन्धी परिभाषिक शब्दावली विशेषरूप से वर्तमान है।

५. पशु-पक्षियों के अनेक भेद-प्रभेद निर्दिष्ट हैं।

५. सूरियपण्णत्ति[2] (सूर्यप्रज्ञप्ति)—इस उपांग में २० पाहुड और १०८ सूत्र हैं। इसमें सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गतियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। प्रसंगवश द्वीप और सागरों का निरूपण भी आया है। प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :—

१. प्राचीन ज्योतिष सम्बन्धी मूल मान्यताएँ संकलित हैं। इसके विषय की वेदांग ज्योतिष से तुलना की जा सकती है। पञ्च वर्षात्मक युग का मान कल्पित कर सूर्य और चन्द्र का गणित किया गया है।

२. सूर्य के उदय और अस्त का विचार अंकित है।

३. दो सूर्य और दो चन्द्रमा का सिद्धान्त प्रतिपादित है। इन सूर्यों का भ्रमण एकान्तररूप से होता है, इससे दर्शकों को एक ही सूर्य दिखलायी पड़ता है।

४. दिनमान का कथन है—उत्तरायण में सूर्य लवण समुद्र के बाहरी मार्ग से जम्बूद्वीप की ओर आता है और इस मार्ग के आरम्भ में सूर्य की चाल सिंहगति, जम्बूद्वीप

---

१. सन् १९१८ में निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित।

२. सन् १९१९ में मलयगिरि की टीका के साथ आगमोदय समिति बम्बई द्वारा प्रकाशित।

के भीतर आते-आते क्रमशः मन्द होती गजगति को प्राप्त हो जाती है। इस कारण उत्तरायण के आरम्भ में दिन लघु और रात्रि वृहत् तथा उत्तरायण की समाप्ति पर गति के मन्द होने में दिन बड़ा होने लगता है। इसी प्रकार दक्षिणायन के आरम्भ में सूर्य जम्बूद्वीप के भीतरी मार्ग से बाहर की ओर–लवण समुद्र की ओर मन्द गति से चलता हुआ शीघ्रगति को प्राप्त होता। यह सिद्धान्त ही परवर्ती साहित्य में दिनमान एवं उत्तरायण और दक्षिणायन के निरूपण में स्रोत सिद्ध हुआ है।

५. नक्षत्रों के गोत्र एवं नक्षत्रों में विधेय भोजनादि का निरूपण मुहूर्त्त शास्त्र की नींव है। अतः उक्त नक्षत्र स्वरूप सम्बन्धी सिद्धान्त मुहूर्त्त का अंग है। मुहूर्त्त शास्त्र में प्रधान रूप से नक्षत्रों के स्वभाव और गुणों का ही विचार किया जाता है।

६. जंबूदीवपण्णत्ति[1] (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति)—यह उपांग दो भागों में विभक्त है—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में चार और उत्तरार्द्ध तीन वक्षस्कार (परिच्छेद) हैं तथा कुल १७६ सूत्र हैं। प्रथम भाग के चारों परिच्छेदों में जम्बूद्वीप, भरत क्षेत्र तथा उसके पर्वतों, नदियों एवं उत्सर्पण और अवसर्पण कालों का निरूपण किया गया है। इस उपांग में कुलकरों का कथन है तथा ऋषभदेव का चरित विस्तृत रूप में वर्णित है। ऋषभदेव ने ७२ कलाओं का पुरुषों के लिए और ६३ कलाओं का स्त्रियों के लिए उपदेश दिया है। ऋषभदेव को परिमतमाल नगर के उद्यान में केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। इसमें भरत चक्रवर्ती के दिग्विजय का विस्तार सहित वर्णन है। तीर्थंकर के जन्मोत्सव का साहित्यिक वर्णन उपलब्ध है। भरत का निर्वाण प्राप्ति का भी प्रतिपादन किया गया है। इस उपांग की निम्नांकित विशेषताएँ हैं—

१. जम्बूद्वीप स्थित भरत क्षेत्र—भारत वर्ष के दुर्गम स्थान, पर्वत, नदी, अटवी, श्वापद आदि का विस्तृत प्रतिपादन किया है। भारत के प्राचीन भूगोल की दृष्टि से यह अंश महत्वपूर्ण है।

२. जैन सृष्टि विद्या के बीज सूत्र वर्तमान हैं।

३. ऋषभदेव का पौराणिक चरित निरूपित है। इस चरित में प्रसंगवश यह बताया गया है कि निर्वाण के अनन्तर उनके अस्थि-अवशेष पर चैत्य और स्तूप स्थापित किये गये थे।

४. भरत चक्रवर्ती का दिग्विजय विष्णुपुराण से मिलता-जुलता है।

५. प्राचीन युद्ध-प्रणाली की जानकारी भरत और किरातों की सेना में सम्पन्न हुए युद्ध से प्राप्त होती है।

---

१. सन् १९२० में देवचन्द लालभाई ग्रन्थमाला द्वारा निर्णय सागर प्रेस बम्बई में मुद्रित।

६. तीर्थङ्करों के कल्याणक उत्सवों का निरूपण पाया जाता है। जन्मोत्सव का जैसा निरूपण इस ग्रन्थ में किया गया है, वैसा ही पुराणों में पाया जाता है। अतः यह अनुमान लगाना सहज है कि पुराणों की रचना को इन बीज सूत्रों ने अवश्य प्रेरणा प्रदान की होगी।

७. तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेवों के चरितों के संकेत पुराणों के विकास-क्रम को अवगत करने के लिए उपयोगी हैं।

७. चंदपण्णत्ति[1] (चन्द्रप्रज्ञप्ति)—इसका विषय सूर्य प्रज्ञप्ति के समान ही है। इसमें बीस प्राभृत हैं; जिनमें चन्द्र के परिभ्रमण, गतियाँ, विमान आदि का निरूपण है। सूर्यप्रज्ञप्ति के समान विषयानुक्रम होने पर भी निम्नलिखित विशेषताएँ वर्तमान हैं—

१. चन्द्र की प्रति दिन की योजनात्मिका गति का निरूपण किया है।

२. उत्तरायण और दक्षिणायन की वीथियों का अलग-अलग विस्तार निकालकर सूर्य और चन्द्रमा की गतियों का निर्णय किया है। इस प्रकार की प्रक्रिया सूर्यप्रज्ञप्ति में नहीं मिलती हैं।

३. वीथियों में चन्द्रमा के समचतुरस्र, विषमचतुरस्र आदि विभिन्न आकारों का खण्डन कर समचतुरस्र गोल आकार सिद्ध किया गया है। सृष्टि के आदि में श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन जम्बूद्वीप का प्रथम सूर्य पूर्व-दक्षिण—आग्नेयकोण में और द्वितीय सूर्य पश्चिमोत्तर—वायव्यकोण में चला। इसी प्रकार प्रथम चन्द्रमा पूर्वोत्तर—ईशान-कोण में और द्वितीय चन्द्रमा पश्चिम-दक्षिण—नैर्ऋत्यकोण में चला। सूर्य चन्द्र की यह गमन प्रक्रिया ज्योतिष में निरूपित नाडीवृत्त और कदम्बपोतवृत्त से मिलती-जुलती है। ज्योतिष की दृष्टि से यह विषय महत्त्वपूर्ण है।

४. छाया साधन और छाया प्रमाण पर से दिनमान का साधन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यह साधन प्रक्रिया 'प्रतिभा' गणित का मूल है और संभवतः इसीसे ज्योतिष के प्रतिभा गणित का विकास हुआ होगा।

५. छाया साधन में कीलकच्छाया या कीलच्छाया का उल्लेख आता है। इसी कील-कच्छाया से शंकुच्छाया का विकास हुआ है और गणित में 'शंकु गणित' का विकास भी कीलच्छाया से मानना बहुत ही तर्कसंगत है।

६. पुरुषच्छाया का विस्तृत विवेचन है, यही पुरुषच्छाया संहिता ग्रन्थों में फलाफल द्योतक बन गयी है। वराहमिहर ने इसका पर्याप्त विस्तार किया है, वराहमिहर का स्रोत इस पुरुषच्छाया को मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

७. इसमें गोल, त्रिकोण और चौकोर वस्तुओं की छाया का कथन है, इनसे उत्तर-काल में ज्योतिष विषयक गणित का पर्याप्त विकास हुआ है।

---

१. अमोलक ऋषि का संस्करण।

८. चन्द्रमा को स्वतः प्रकाशमान बताया गया है, इसके घटने-बढ़ने का कारण राहु ग्रह है।

८. **कप्पिया**[1] (**कल्पिका**)—इस उपांग में १० अध्ययन हैं। प्राचीन मगध का इतिहास जानने के लिए यह उपांग अत्यन्त उपयोगी है। पहले अध्ययन में कुणिक अजातशत्रु का जन्म, पिता श्रेणिक के साथ मनमुटाव, पिता को कारागृह में बन्द कर कुणिक का स्वयं राज्य सिंहासन पर बैठना, श्रेणिक का आत्म-हत्या को कर लेना, कुणिक का वैशाली के गणराजा चेटक के साथ युद्ध करने का वर्णन है। इससे कुणिक का विस्तृत परिचय प्राप्त होता है। इस उपांग की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

१. मगध नरेश श्रेणिक एवं उनके वंशजों का विस्तृत वर्णन है।

२. अजितशत्रु का जीवन परिचय पूर्णतया उपलब्ध है।

३. वैशाली नरेश चेटक के साथ अजातशत्रु के युद्ध की सूचना मिलती है।

४. चेलना द्वारा कुणिक के सम्बन्ध की बचपन की एक घटना है जिसमें उसने कहा—"पैदा होने पर तुझे अपशकुन समझ कर मैंने कूड़े में फिकवा दिया। वहाँ मुर्गे की पूंछ से तुम्हारी अँगुली में चोट लग जाने के कारण तुम्हें अपार वेदना हुई; तुम्हारे पिता बिम्ब-सार—श्रेणिक तुम्हारी वेदना शान्त करने के लिए रात भर तुम्हारी अँगुली को अपने मुँह की गर्म भाप से गर्म करते रहते थे।" इस प्रकार के मार्मिक आख्यान इस उपांग को सरस बनाते हैं।

९. **कप्पावडंसियाओ (काल्पावतंसिका)**—इसमें श्रेणिक के दस पौत्रों की कथाएँ हैं, जिन्होंने अपने सत्कर्मों द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया था। इन कथाओं में जन्म और कर्म की सन्तति मात्र का ही उल्लेख किया है। इस उपांग की निम्न विशेषताएँ हैं :—

१. कथाओं के विकास की विस्तृत पट भूमि—जन्म और कर्म सन्तति एवं विभिन्न फलादेश, जिनके आधार पर कथानकों की नियोजना की जाती है।

२. जीवन शोधन की प्रक्रिया का विश्लेषण—व्रताचारण आदि की उपयोगिता का कथन है।

३. पौराणिक कथाओं को लोककथाएँ बनाने का आयास तथा पौराणिक तत्त्वों को लोकतत्त्व बनाकर प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है।

४. पिताओं के नरक में रहने पर भी, पुत्रों का स्वर्गलाभ अर्थात् स्वकर्म ही जीवन के निर्माण में सहयोगी होते हैं। अपने उत्थान और पतन का दायित्व स्वयं अपने ऊपर

---

१. सन् १९३८ में प्रो० गोपाणी और चौकसी द्वारा सम्पादित होकर अहमदाबाद से प्रकाशित।

ही निर्भर है। अतः भगवान् बनना भी मनुष्य के हाथ में है और भिखारी बनना भी। जो जैसा पुरुषार्थ करता है, वह वैसा ही बन जाता है।

१०. पुप्फिया (पुष्पिका)—इसमें दस अध्ययन हैं। इस उपांग के तीसरे अध्ययन में सोमिल ब्राह्मण की कथा है। इस ब्राह्मण की तपस्या का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। चतुर्थ अध्ययन में एक बहुत ही सरस और मनोरंजक कथा है। सुभद्रा सन्तान न होने के कारण संसार से विरक्त हो जाती है और सुव्रता आर्यिका के पास दीक्षा-ग्रहण कर लेती है। दीक्षित हो जाने पर भी वह बच्चों से बहुत स्नेह करती है, उन्हें खिलाती-पिलाती है और उनका श्रृंगार करती है। प्रधान आर्यिका के द्वारा समझाये जाने पर भी उसकी ममता बच्चों से कम नहीं होती। फलतः इस राग भावना के कारण वह अगले भव में ब्राह्मणी होती है और सन्तान से उसका घर भर जाता है। अगले अध्ययनों में भी साधना करनेवाले व्यक्तियों के अर्धविकसित चरित दिये गये हैं। इस उपांग की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

१. स्वसमय और परसमय के ज्ञान के हेतु कथाओं का संकलन है।

२. कथाओं में कुतूहल तत्त्व का समावेश किया है।

३. चरितों का अर्धविकसित रूप—आख्यान उतने ही अंश तक हैं, जितने अंश से उनके नायकों के परलोक पर प्रकाश पड़ता है। वर्तमान जीवन से उनका सम्बन्ध बहुत कम है।

४. सांसारिक राग-मोह और ममताओं का सफल चित्रण है।

५. जीवन के मर्मस्थलों का यत्र-तत्र समावेश किया है। सभी कथानक सरस नहीं हैं, कुछ में साधनाएँ इतनी मुखरित हैं, जिससे कथतत्त्व दब गया है।

६. पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धान्त का सर्वत्र समावेश है।

११. पुप्फचूला (पुष्पचूला)—इस उपांग में भी ऐसे व्यक्तियों की कथाएँ हैं, जिन्होंने धार्मिक साधना द्वारा स्वर्गलाभ एवं दिव्य सम्पदाएँ प्राप्त की हैं। इसमें दस अध्ययन हैं, जिनके नाम श्री, ह्री, धृति आदि हैं। कथा साहित्य की दृष्टि से इसका रूप-गठन पुष्पिका अंग के समान ही है। साहित्यिक छटा पञ्चम अध्ययन में दिखलायी पड़ती है। स्वर्ग के देव अपने अतुल वैभव के साथ भगवान् महावीर की वन्दना के लिए आते हैं।

१२. वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा)—इसमें बारह अध्ययन हैं, जिनमें द्वारकावती के राजा कृष्ण वासुदेव के वर्णन के साथ वृष्णिवंशीय बारह राजकुमारी के दीक्षित होने का वर्णन है। अरिष्टनेमि विहार करते हुए रैवतक पर्वत पर जाते हैं और वहाँ उनके दर्शनार्थ अनेक वृष्णिवंशीय कुमार पहुँचते हैं। इस उपांग की निम्न विशेषताएँ हैं।

१. यदुवंशीय राजाओं के इतिवृत्त अंकित हैं, जिनकी तुलना श्रीमद्भागवत में आये हुए यदुवंशी चरितों से की जा सकती है। हरिवंश पुराण के निर्माण के लिए भी यहाँ से उपकरण लिए गए होंगे। वस्तुतः अरिष्टनेमि और कृष्ण चरित की एक सामान्य झाँकी इस ग्रन्थ में वर्तमान है।

२. कथातत्त्व की अपेक्षा पौराणिक तत्त्वों का प्राचुर्य है। कथा के लिए जिस जिज्ञासा या उत्कण्ठा वृत्ति की आवश्यकता रहती हैं, उसका अभाव है। वृष्णिवंश, जिसका आगे जाकर हरिवंश नाम पड़ा है और हरिवंश की स्थापना 'हरि' नामक पूर्वपुरुष से हुई है अतः सिद्ध है कि वृष्णिवंश इसी हरिवंश का एक अंग बना है।

३. तीर्थंकर अरिष्टनेमि का कई दृष्टियों से महत्त्व वर्णित है।

आठवें उपांग से लेकर बारहवें तक पाँच उपांग निरयावलियाओ भी कहलाते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि ये पाँच उपांग अपने विषयानुसार अङ्ग साहित्य से सम्बद्ध रहे होंने। पीछे द्वादशाङ्ग की देखादेखी उपाँगों का संख्या भी बारह हो गयी होगी।

छेद सूत्र[1]—जैन आगम का प्राचीन भाग है। इन सूत्रों में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों की प्रायश्चित्त विधि का प्रतिपादन किया गया है। जीवन के दैनिक व्यवहार में सावधान रहने पर भी दोष का होना स्वाभाविक है, अतः उन लगे हुए दोषों का पश्चात्ताप द्वारा परिमार्जन करना ही प्रायश्चित्त है। छेद सूत्रों को उत्तम श्रुत कहा जाता है। निशीथ सूत्र में बताया गया है कि "जम्हा एत्थ सपायच्छित्तो विधो भण्णति, जम्हा यतेण चरणसुद्धी करेति तम्हा त उत्तमसुतं—१९ उद्देशक अर्थात् प्रायश्चित्त विधि का वर्णन होने से चारित्र शुद्धि विधायक ये सूत्र ग्रन्थ हैं, अतः ये उत्तम सूत्र कहलाते हैं।

छेद सूत्रों की संख्या छः है—(१) निसीह (निशीथ) (२) महानिसीह (महानिशीथ), (३) ववहार (व्यवहार), (४) दसासुयक्खंध (दशाश्रुतस्कन्ध) अथवा आचारदसा (आचारदशा), (५) कप्पसुत्त (कल्पसूत्र), (६) जीयकप्प (जीतकल्प) या पंचकप्प (पंचकल्प)।

१. निसीह (निशीथ)—छेद सूत्रों में निशीथ का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे आयाराङ्ग सूत्र की दूसरी चूला के रूप में माना जाता है। इसका दूसरा नाम आचार कल्प भी है। साधु और साध्वियों के आचार-विचार सम्बन्धी नियमों का निरूपण हैं तथा इन नियमों के उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग भी वर्णित हैं। किसी भी प्रकार के नियम का भंग होने पर समुचित प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। निशीथ २० उद्देशों में विभक्त हैं। प्रथम उद्देश में ब्रह्मचर्य के पालन करने के

---

१. सभी छेद सूत्र लोहामंडो आगरा से प्रकाशित हैं।

नियमों का वर्णन है। ब्रह्मचारी साधु को अंग संचालन करना एवं सुगन्धित पुष्प आदि का सूंघना वर्जित है। इस उद्देश्य में नखछेदक, कर्णशोधक आदि के रूप में शृंगार प्रसाधन का निषेध किया गया है। साधन अपने साध्य की सिद्धि में जब किसी प्रकार के दोष का सामना करता है, तो अधिकारी के समक्ष उसे स्वीकार कर सच्चे हृदय से पुनः न करने तथा लगे हुए दोष को हल्का करने के लिए प्रायश्चित्त करता है।

द्वितीय उद्देश्य में भिक्षुओं को चर्म रखने तथा काष्ठ के दण्डवाले रजोहरण के रखने का निषेध किया गया है। जूता पहनने तथा बहुमूल्य वस्त्र धारण कारने का भी निषेध किया गया है। तृतीय उद्देश में भिक्षा-वृत्ति की विधि का निरूपण है। पैरों का मर्दन, प्रक्षालन, प्रमार्जन आदि का निषेध है। चतुर्थ उद्देश में भिक्षु-भिक्षुणियों के उपाश्रय में रहने की विधि का निरूपण है। कुशील और आडम्बरी साधुओं के साथ रहने का भी निषेध है। पाँचवें में वृक्ष के नीचे बैठकर स्वाध्याय या आलोचना करने का निषेध है। दण्ड ग्रहण करने एवं वीणा बजाने आदि का भी निषेध किया गया है। छठें और सातवें उद्देश में मैथुन एवं मैथुन सम्बन्धी अन्य क्रियाओं का निषेध किया गया है।

आठवें उद्देश में उद्यान एवं उद्यान गृह में अथवा अन्य किसी एकान्त स्थान में भिक्षुणियों के साथ रहने का निषेध किया है। नौवें उद्देश में भिक्षु को राजपिण्ड ग्रहण करने का निषेध है। प्रसंगवश इस उद्देश में कुब्जा, किरातिका, वामनी, वउभी—बड़े पेटवाली, बब्बरी वडसी, जोयणिया, पल्हविया, लासिया, सिंहली, अरबी, पुलिंदी, शवरी आदि दासियों के उल्लेख हैं। आगे के उद्देशों में युक्ताहार विहार, रहन-सहन, आवागमन, वार्त्तालाप आदि का पूर्ण विवेचन किया गया है। वस्तुतः इस ग्रन्थ में ऐसे साधकों के लिए प्रायश्चित्त करना आवश्यक कहा है, जो अपवाद मार्ग ग्रहण करते हैं। मानवीय दुर्बलताएँ त्यागी होने पर भी पीछा नहीं छोड़ पाती हैं। अतः नियमोपनियम टूटने लगते हैं और प्रायश्चित्त का अवसर आने लगता है। संक्षेप में इस सूत्र की निम्न-लिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

१. ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और भाषा सम्बन्धी सामग्री का प्राचुर्य है, जो सर्वत्र बिखरी पड़ी है।

२. उत्सर्ग और अपवाद मार्गों का विवेचन किया गया है।

३. विवेकशून्य आचरण या तो शिथिलाचार है अथवा केवल अर्थशून्य आडम्बर। इन दोनों से बचने के लिए देशकालानुरूप मार्ग का निरूपण किया है।

४. संयमी व्यक्तियों के लिए निषिद्ध कार्यों का कथन है।

५. साधना मार्ग में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है, असावधान व्यक्ति ही प्रायश्चित्त करने को बाध्य होता है।

६. साधक के लिए आहार-विहार सम्बन्धी अनेक नियमों का निरूपण किया गया है। जीवनशोधन के लिए ब्रह्मचर्य के साथ भोजन शुद्धि हो भी महत्त्व दिया गया है।

७. अहिंसादि व्रतों का भी अच्छा निरूपण है।

८. प्राचीनपरम्पराओं, विश्वासों एवं जीवन-शोधन सम्बन्धी नियमों का विस्तृत विवेचन किया है।

९. साहित्य की दृष्टि से भी काव्य के तत्त्व सन्निविष्ट हैं।

१०. मालव और सिन्धु-देश की भाषाओं को पुरुष भाषा कहा है।

११. वापी, सरोवर, निर्झर और पुष्करिणी के सौन्दर्य का चित्रण है।

१२. ग्राम, नगर, पट्टण आदि के स्वरूप भी वर्णित हैं।

१३. आगमिक सिद्धान्त शील, संयम, भावना और तप का वर्णन है।

२. महानिसीह (महानिशीथ) इस छेद सूत्र को समस्त प्रवचन का सार कहा जाता है। निशीथ को लघु निशीथ और इसे महानिशीथ कहा गया है। पर बात इसके उलटी है। वस्तुतः मूल महानिशीथ नष्ट हो गया है। बाद में हरिभद्रसूरि ने इसका संशोधन किया और सिद्धसेन, जिनदास गणि ने इसे मान्यता प्रदान की है। भाषा और विषय की दृष्टि से यह प्राचीन प्रतीत नहीं होता है। इस ग्रन्थ में छः अध्ययन और दो चूला हैं। प्रथम और द्वितीय अध्ययन में पाप कर्मों की निन्दा और आलोचना की गयी है। तृतीय और चतुर्थ अध्ययन में साधुओं को कुशील साधुओं के सम्पर्क से बचने का उपदेश दिया गया है। नवकार मन्त्र, दया और अनुकम्पा आदि का भी विवेचन हैं। पञ्चम अध्ययन में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध का निरूपण किया गया है। छठवें अध्ययन में प्रायश्चित्त और आलोचना के चार भेदों का वर्णन है। इस छेद सूत्र की निम्न विशेषताएँ हैं—

१—कर्मफल दिखलाने वाली कथाओं में—लक्ष्मणा देवी की कथा प्रमुख है, तपस्या-काल में पक्षियों की संभोग-क्रीड़ा को देखने से वह कामातुर होती है, फलस्वरूप अगले जन्म में उसका जन्म गणिका की दासी के यहाँ होता है।

२—गच्छों का वर्णन, जैनसंघ के इतिहास की दृष्टि से भी यह वर्णन उपयोगी है।

३—चूलाओं में भी कई कथाएँ आयी हैं, इन कथाओं में सती होने तथा विधवा राजकुमारी को गद्दी पर बैठने का निरूपण है।

४—मंगल णमोकार के उद्धारक रूप में वज्रस्वामी का उल्लेख है; षट्खंडागम में आचार्य पुष्पदन्त को इसका उद्धारक माना गया है।

५—साधु और साधुओं के बृहत् संघों का निरूपण किया है; इन संघों में सैकड़ों साधु और साध्वियाँ रहती थीं। साधुओं की अपेक्षा साध्वियों की संख्या अधिक होती थी। आचार्य भद्र के गच्छ में पाँच सौ साधु थे, पर बारह सौ साध्वियाँ।

६—तान्त्रिक उल्लेख भी इस ग्रन्थ में पाये जाते हैं।

७—सांस्कृतिक सामग्री प्रचुरता से उपलब्ध है।

३ ववहार (व्यवहार) इस ग्रन्थ के कर्त्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु को माना गया हैं। इस सूत्र पर भाष्य और निर्युक्ति भी है। इस ग्रन्थ में दस उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में बताया गया है कि प्रमाद या अज्ञानता से अपराध हो जाने पर भी आलोचना करनी चाहिए तथा प्रायश्चित्त भी। आगे के उद्देशकों में भी विभिन्न स्थितियों में आलोचना; गर्हा और निन्दा के साथ प्रायश्चित्त ग्रहण करने का विधान किया गया है। साधु-साध्वियों के भोजन, व्यवहार, एकाकी विहार तथा समूह में विहार करने के अनेक नियम वर्णित हैं। आचार्य के अनुशासन में शिष्यों को रहना अत्यावश्यक है। भिक्षु प्रतिमा, मोक्षप्रतिमा, यवमध्यचन्द्रप्रतिमा और वज्रमध्यप्रतिमा में नियमों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। इस सूत्र में चार प्रकार के आचार्य, चार प्रकार के अन्तेवासी एवं तीन प्रकार के स्थविरों का उल्लेख किया गया है। साठ वर्ष की आस्थावाला जाति-स्थविर, श्रुत का धारक श्रुतस्थविर एवं बीस वर्ष की पर्यायवाला साधु पर्याय स्थविर कहा जाता है। साधु का अध्ययन-क्रम उसकी दीक्षा के काल के अनुसार बताया गया है। जैसे-जैसे दीक्षा का समय बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ग्रन्थों के अध्ययन की दिशा भी बदलती जाती है। दीक्षा के अठारह वर्ष समाप्त होने पर दृष्टिवाद एवं बीस वर्ष की दीक्षा होने पर समस्त सूत्रों के पाठन का अधिकारी माना गया हैं। इस सूत्र की निम्न विशेषताएँ हैं—

१. स्वाध्याय पर विशेष जोर दिया है, पर अयोग्य काल में स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है। अनध्याय काल का भी विवेचन हैं।

२. साधु और साध्वियों के बीच अध्ययन की सीमायें वर्णित हैं।

३. स्थविरों के लिए उपधान रखने का विधान हैं।

४. कवलाहारी, अल्पाहारी एवं ऊनोदरी निर्ग्रन्थों का कथन है।

५. आचार्य और उपाध्याय के लिए विहार करने के नियम वर्णित हैं।

६. आलोचना और प्रायश्चित्त की विधियों का विस्तृत वर्णन है।

७. संघ व्यवस्था के नियमोपनियम निबद्ध हैं।

८. दस प्रकार के वैयावृत्यों का विवेचन है।

९. साध्वियों के निवास, अध्ययन, चर्या, उपधान आदि सम्बन्धी विस्तृत नियमों का निरूपण किया गया है।

४. दससुयक्खंध (दशाश्रुतस्कन्ध)—इस छेद सूत्र के रचयिता आचार्य भद्रबाहु माने गये हैं। निर्युक्ति के रचयिता भद्रबाहु मूल ग्रन्थ के रचयिता से भिन्न हैं। ब्रह्मर्षि पार्श्वचन्द्रीय ने वृत्ति लिखी है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम आचारदशा है। इसमें दस अध्ययन हैं, जिनमें आठवें और दसवें विभाग को अध्ययन और शेष विभागों को दशा कहा गया है। इस छेद सूत्र के आरम्भ में हस्तकर्म, मैथुन, रात्रिभोजन, राजपिण्ड-ग्रहण एवं एक मास के भीतर गण छोड़ कर दूसरे गण में चले जाने के अलोचना-प्रायश्चित्त लिखे गये हैं। चौथी दशा में आचार सम्पदा, श्रुतसंपदा, शरीरसंपदा, वचन-संपदा, यतिसंपदा, प्रयोगसंपदा और संग्रहसंपदा का कथन है। इन आठ सम्पदाओं का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। आठवें अध्ययन में भगवान् महावीर के पञ्चकल्याणकों का विवेचन किया गया। महावीर का जीवन चरित भी वर्णित है। नवमी दशा में मोहनीय के तीस बन्ध स्थान तथा दसवें अध्ययन में नौ प्रकार के निदानों का निरूपण किया गया है। इस सूत्र की निम्नाङ्कित विशेषताएँ हैं—

१. भगवान् की जीवनी काव्यात्मक शैली में लिखी गयी है। भाषा भी प्रौढ़ है। इस जीवन चरित के तथ्य श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा ही मान्य है।

२. चित्त-समाप्ति एवं धर्म चिन्ता का सुन्दर वर्णन है।

३. मिथ्यात्व संवर्धक क्रियाओं का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है। इस प्रसंग में क्रियावादी, अक्रियावादी सम्प्रदायों का भी विवेचन वर्तमान है।

४. आर्य संस्कृति के प्रतीक शिखा धारण का समर्थन तथा भिक्षुप्रतिमा एवं भाव-प्रतिमाओं के भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है।

५. महावीर के चरित के साथ पार्श्व, नेमि और ऋषभदेव के चरितों की संक्षिप्त रूपरेखाएँ प्रस्तुत की गयी हैं।

६. मोहनीय कर्म बन्ध के तीस स्थानों का निरूपण है।

७. अर्द्ध ऐतिहासिक तथ्य के रूप में अजातशत्रु, चम्पा नागरी एवं राजगृह का वर्णन किया गया है। इसमें पुराण एवं इतिहास के तथ्यों का मिश्रण है।

५. कप्प (कल्प) जैन श्रमणों के प्राचीनतम आचार-शास्त्र का निरूपण इस ग्रन्थ में किया गया है। निशीथ और व्यवहार की भाँति इसकी भाषा भी प्राचीन है। इसमें छः उद्देशक हैं और इनमें साधु-साध्वियों के संयम के साधक एवं बाधक स्थान, वस्त्र, पात्र आदि का विवेचन किया गया है। इस छेद सूत्र के रचयिता व्यवहार के समान भद्रबाहु स्वामी ही माने जाते हैं। निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों के निवास का विस्तृत वर्णन प्रथम उद्देशक के ५१ सूत्रों में किया गया है। विहार करने के नियम भी इसी उद्देशक में प्ररूपित हैं। दूसरे उद्देशक में भी निवास और विहार के नियम ही प्रतिपादित हैं। तीसरे उद्देशक में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को एक दूसरे के उपाश्रय

में आने-जाने की मर्यादा का उल्लेख किया गया है। चौथे उद्देशक में प्रायश्चित्त और आचार विधि का निरूपण है। पाँचवें उद्देशक में सूर्योदय के पूर्व और सूर्योदय के पश्चात् भोजन-पान के सम्बन्ध में नियमों का निरूपण किया गया है। छट्ठे उद्देशक में दुर्वचन बोलने का निषेध किया गया है। इसमें साधु और साध्वियों को किस प्रकार और किस अवस्था में परस्पर सहयोग देना चाहिए, इसका उल्लेख भी है।

६. **पंचकप्प (पंचकल्प)**—पंचकल्प सूत्र में भी साधु और साध्वियों के रहने, विहार करने एवं आहार ग्रहण करने के नियमोपनियम वर्णित हैं। प्रायश्चित्त और आलोचन विधि का निरूपण भी किया गया है।

जीतकल्प सूत्र की गणना पंचकल्प सूत्र के स्थान में की जाती है। इसमें दस प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन किया गया है। जीतकल्प सूत्र के रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं।

मूलसूत्र—मूलसूत्रों में साधुजीवन के मूलभूत नियमों का विवेचन पाया जाता है। मूलसूत्र चार हैं—(१) उत्तरज्झयण (२) आवस्सय (आवश्यक), (३) दसवेयालिय (दशवैकालिक) और (४) पिंडणिज्जुत्ति (पिंडनिर्युक्ति)।

१. **उत्तराध्ययन**—यह धार्मिक काव्य ग्रन्थ है। डॉ० विण्टरनित्स ने इस प्रकार के साहित्य को श्रमण काव्य कहा है और इसकी तुलना धम्मपद, महाभारत एवं सुत्तनिपात्त से की है। भगवान् महावीर ने अपने जीवन के उत्तरकाल में निर्वाण से पूर्व जो उपदेश दिये थे, उन्हीं का संकलन इस ग्रन्थ में किया गया है। 'उत्तराध्ययन' शब्द के अर्थ पर विचार करने के लिये इस शब्द की व्युत्पत्ति को समझ लेना आवश्यक है। यह शब्द उत्तर और अध्ययन इन दो शब्दों के योग से बना है। उत्तर शब्द के दो अर्थ हैं—प्रधान और पश्चाद्भावी। प्रथम अर्थ के अनुसार धर्म सम्बन्धी एक से एक बढ़कर अध्ययन जिसमें हों, वह ग्रन्थ उत्तराध्ययन कहलायेगा। द्वितीय अर्थ के अनुसार पश्चात् पढ़ा जानेवाला ग्रन्थ उत्तराध्ययन कहलायेगा। प्राचीन समय में आचाराङ्गादि सूत्रों के अनन्तर ही इस सूत्र के अध्ययनों का पाठ किया जाता था। एक मान्यता यह भी हैं कि इस ग्रन्थ की रचना आचाराङ्गादि सूत्रों के अनन्तर ही हुई है। निर्युक्ति की एक गाथा में बताया गया है :—

कम उत्तरेण पगयं आयारस्सेव उपरिमाइं तु।
तम्हा उ उत्तरा खलु अज्झयणा हुंति णायव्वा ॥

अर्थात्—जिसके ये अध्ययन आचाराङ्ग के उत्तरकाल में पढ़े जाते थे, इसी कारण इनकी उत्तर संज्ञा है।

वर्तमान में दशवैकालिक सूत्र के पश्चात् इस सूत्र के अध्ययन की प्रथा प्रचलित हो रही है, अतः इसका उत्तराध्ययन यह नाम सार्थक है।

इस ग्रन्थ के ३६ अध्ययन हैं। इन अध्ययनों को विषय के अनुसार तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) सैद्धान्तिक (२) नैतिक या सुभाषितात्मक एवं (३) कथात्मक। सैद्धान्तिक विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले परीसहा (परिषहा), अकाममरणिज्जं (अकाममरणीयं), खुड्डागनियंणिज्जं (क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीयं), बहुस्सुयपुज्जं (बहुश्रुतपूजं), बम्भचेरसमाहिठाणं (ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानं), पावसमणिज्जं (पापश्रमणीयं), समितीओ (समितिः), सभिक्खू (सभिक्षुः), मोक्खमग्गगई (मोक्षमार्गगतिः), अप्पमाओ (अप्रमादः), तवोमग्गो (तपमार्गः), दुमपत्तय (द्रुमपत्रकं), चरणविही (चरणविधिः), पमायठाणाइं (प्रमादस्थानानि), कम्मपयडी (कर्मप्रकृतिः), लेसज्झयणं (लेश्याध्ययनं), सम्मपत्तपरक्कमं (सम्यक्त्व पराक्रमम्), अणगार मग्गो (अणगारमार्गः) और जीवाजीवाविभत्तय (जीवाजीवविभक्तिः) अध्ययन हैं। चरित्र सम्बन्धी अध्ययनों में विणयसुत्तं (विनयश्रुतं), चाउरंगिज्जं (चतुरंगीय), असंखयं (असंस्कृतम्), एलयं (एलक), जन्नइज्जं (यज्ञीयं), समायारी (समाचारी) और खलुंकिज्जं (खलुङ्कीयम्) परिगणित हैं।

आख्यानात्मक या कथात्मक सूत्रों में काविलीयं (कापिलिकम्), नमिपवज्जा (नमिप्रव्रज्या), हरिएसिज्जं (हरिकेशीयं), चित्तसम्भूइज्जं (चित्तसंभूतीयं), उसुयारिज्जं (इषुकारीयं), संजइज्जं (संयतीयम्) मियापुत्तीयं (मृगापुत्रीयम्), महानियण्ठिज्जं (महानिर्ग्रन्थीयं), समुद्दपालीयं (समुद्रपालीयं), रहनेमिज्जं (रथनेमीयं) और केसिगोयमिज्जं (कोशिगौतमीयं) परिगणित हैं।

सूत्रों के वर्गीकरण के अनुसार ही विषयों का निरूपण किया गया है। बाईस परिषह, ब्रह्मचर्य, समिति, प्रमाद स्थान, कर्मबन्ध, तपश्चरण, सम्यग्दर्शन, मोक्षमार्ग, लेश्या, जीवाजीव का विभाजन, चर्या के नियम, समाधि, स्वाध्याय आदि सैद्धान्तिक विषयों का सूत्ररूप में विवेचन किया गया है। नीति के निरूपण में विनय, श्रद्धा, मनुष्यता, पवित्रता, सुसंस्कृत जीवन, यज्ञ की अहिंसात्मक व्याख्या, कर्त्तव्य कार्य एवं धर्माचरण का समावेश किया है। कपिलमुनि, नेमि, हरिकेशी, चित्तसंभूति, इषुकार, संयती, मृगापुत्र, समुद्रपालित, रथनेमि, एवं केशी गौतम के आख्यान बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस सूत्र की विषय और साहित्य की दृष्टि से निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

१. इसमें कथा साहित्य के बीजों का ही सन्निवेश नहीं है, बल्कि साहित्यक ऐसे आख्यान भी हैं, जो परवर्त्ती कथा साहित्य के विकास की परम्परा को जोड़ते हैं। कपिल का कथानक हृदयहारी है। कपिल कौशाम्बी के उत्तम ब्राह्मण कुल में जन्म लेता है। युवा होने पर श्रावस्ती के एक दिग्गज विद्वान् के पास अध्ययन करता है। यौवन की आन्धी से आहत होकर मार्गभ्रष्ट होता है और एक कामुकी के चक्र में फँस जाता है। एक दिन इसकी प्रिया राजदरबार में जाने की प्रेरणा करती है और दरिद्रता का हारा

कपिल स्वर्ण मुद्राओं की भीख के लिए रात्रि के अन्तिम प्रहर में दरबार की ओर प्रस्थान करता हैं, पहरेदार उसे चोर समझकर पकड़ लेते हैं और उसे अपराधी के रूप में राजा के सामने प्रस्तुत करते हैं। राजा कपिल की मुद्रा से उसे निर्दोष समझ लेता है और उससे इच्छानुसार धन मांगने को कहता है। कपिल तृष्णावश राज्य तक माँग लेना चाहता है, पर विवेक जागृत होने से वह साधु बन जाता है।

२. काव्य की दृष्टि से इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और अर्थान्तरन्यास अलंकारों का बहुत अच्छा समावेश हुआ है। उपमा का निम्नलिखित उदाहरण दर्शनीय है—

कणकुण्डगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥१।५॥

जिस प्रकार स्वादिष्ट भोजन को छोड़कर शूकर विष्ठा का ही भक्षण करता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव शुद्ध आचार का परित्याग कर दुराचार का सेवन करता है। इस पद्य में अज्ञानी उपमेय और शूकर उपमान, सदाचार उपमेय और स्वादिष्ट भाव का भोजन उपमान एवं दुराचार उपमेय और विष्ठा उपमान हैं। अतः इस मालोपमा द्वारा अज्ञानी व्यक्ति द्वारा सेवन किये जानेवाले दुराचार के प्रति निन्द्य भावना व्यक्त की गयी है। काव्य की दृष्टि से यह पद्य, बहुत सुन्दर है। इसी प्रकार 'तेगे जहाँ संधिमुहे गहिए' (४।३) 'कामगिद्धे जहा वाले' (५।४) 'जहा सागडिओ जाणं' (५।१४) 'जहा कुसग्गे उदगं' (७।२३) जैसे प्रयोग प्रचुर परिमाण में पाये जाते हैं।

३. प्राचीन शिक्षाशास्त्र के सम्बन्ध में तथा शिष्य और आचार्य के पारस्परिक व्यवहार के सम्बन्ध में विनय सूत्र से अच्छा प्रकाश पड़ता है।

४. लक्षणविद्या, स्वप्नविद्या और अंगविद्याओं के नाम निर्देश के साथ इन्हें हेय ज्ञान कहा है।

५. चरित्र बल ही मनुष्यता का कारण है, जाति से हीन होने पर भी चरित्र बल से व्यक्ति पूज्य बन जाता है, यह हरिकेशीय अध्ययन से स्पष्ट है।

६. जरा-मृत्यु का विचार कर समय के सदुपयोग करने पर जोर दिया गया है।

७. सैद्धान्तिक अध्ययनों से समिति, परीषह, पापश्रमण, सदाचार, भिक्षु, तपश्चरण, कर्मप्रकृति, प्रमाद स्थान एवं मोक्षमार्ग का सुन्दर निरूपण किया गया है।

८. आचार या नीति सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य आये है। जिनमें जीवन शोधन की दिशा का प्रतिपादन किया गया है। मनुष्यता क्या है ? और उसे किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, इस पर पूरा प्रकाश डाला गया है।

९. अरिष्टनेमि के भाई रथनेमि का आख्यान नारि-चरित्र को उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित करता है। राजीमती का कथन नारी के शील के लिए गौरवशिला है।

तपस्विनी नारी विचलित होते हुए पुरुष को किस प्रकार स्थिर कर सकती है, यह इस आख्यान से स्पष्ट है।

१०. यज्ञ की अहिंसक और आध्यात्मिक व्याख्या यज्ञीय नामक अध्ययन में प्रस्तुत की गयी है। आरण्यक ग्रन्थों में आयी हुई आध्यात्मिक व्याख्याओं में इसकी तुलना की जा सकती है। धम्मपद के 'ब्राह्मणवग्ग' से तो यह विषय बहुत मिलता-जुलता है।

११. "कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ" (२५।३३) जैसा कर्मानुसार जाति का सिद्धान्त मानवता की प्रतिष्ठा के लिए आया है।

१२. समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होने का निरूपण जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए उपादेय हैं।[1]

२. आवस्सय[2] (आवश्यक)—नित्य कर्म के अन्तर्गत सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान ये छः क्रियाएँ बतलायी गयी हैं। इस सूत्र में इन्हीं छह नित्यकर्मों का प्रतिपादन किया गया है। प्रत्येक श्रमण के लिए उक्त छहों क्रियाएँ आवश्यक हैं, इसी कारण इसका नाम आवश्यक है। इस पर निर्युक्ति और भाष्य नामक टीकाएँ भी हैं।

३. दसवेयालिय[3] (दशवैकालिक)—काल को छोड़ विकाल अर्थात् सन्ध्या समय में इनका अध्ययन किया जाता है, इसलिए यह ग्रन्थ दशवैकालिक कहलाता है। इसके रचयिता शय्यंभव हैं। इस ग्रन्थ में दस अध्ययन हैं। इन सभी अध्ययनों का विषय मुनि का आचार है। इस पद्यबद्ध रचना में उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार भी आये हैं। उत्तराध्ययन के समान यह भी श्रमण काव्य है। इसके प्रथम अध्ययन में साधक के लिए आवश्यक मधुकरी भोजन-वृत्ति का विवेचन किया गया है। यहाँ द्रुमपुष्प और मधुकर उपमान हैं और यथाकृत आहार और श्रमण उपमेय है। इसमें श्रमण को भ्रामरी वृत्ति द्वारा आजीविका प्राप्त या संकेत किया गया है। इस ग्रन्थ का विषयानुक्रम निम्नलिखित है—

१. श्रमण के लिए अहिंसक मधुकरी वृत्ति का उल्लेख मिलता है।

२. अहिंसा-संयम-तप रूप कर्म का विश्लेषण किया गया है।

३. श्रामण्य—जो संयम प्राप्ति के लिए श्रम करे, वह श्रमण है और श्रमण के भाव को श्रामण्य कहा जाता है। श्रामण्य का धारण करनेवाले को जितेन्द्रिय और विषय-राग का त्यागी होना आवश्यक है।

---

१. उत्तराध्ययन और दशवैकालिक के कई संस्करण उपलब्ध हैं।

२. सन् १९२८ में रतलाम से प्रकाशित। ३. सन् १९३३ में रतलाम से प्रकाशित।

४. ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्याचार का पालन करना आवश्यक माना है। यतः संयम की स्थिरता और आचार का गहरा सम्बन्ध है। आचार के साथ प्रतिषिद्ध कर्म रूप—अनाचार का भी निर्देश किया गया है।

५. निर्ग्रन्थों के लिए उद्दिष्ट भोजन, स्नान, गंध, दन्तधावन, वमन, विरेचन आदि समस्त क्रियों के त्याग का निरूपण है।

६. परिग्रह की सीमाओं का विवेचन किया गया है।

७. वाक्यशुद्धि एवं आचार प्रणधि का निरूपण वर्तमान है।

८. विनय का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

९. नीति एवं उपदेशों का प्राचुर्य है। यथा—

जरा जाव ण पीलेइ वाही जाव ण बड्ढइ।
जाव इंदिया ण हायंति ताव धम्मं समाचरे ॥

× × × ×

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चाज्जव-भावेणं, लोभं संतोसओ जिणे ॥

अर्थात्—जब तक बुढ़ापा पीड़ा नहीं देता, व्याधि कष्ट नहीं पहुँचाती और इन्द्रियाँ क्षीण नहीं होतीं, तब तक कर्म का आचरण करे।

क्रोध को उपशम से, मान को मृदुता से, माया को आर्जव से और लोभ को सन्तोष से जीतना चाहिए।

१०. सुभाषितों के साथ न्यायों और रूपकों की बहुलता हैं।

४. पिंडणिज्जुत्ति[1] (पिण्डनिर्युक्ति)—पिण्ड अर्थात् मुनि के ग्रहण करने योग्य आहार। इसमें मुनि के ग्रहण करने योग्य आहार का विवेचन किया गया है। इसमें ६७१ गाथाएँ हैं और आठ अधिकार हैं—उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण। उद्गम दोष सोलह प्रकार के हैं। साधुओं के निमित्त अथवा उद्देश्य से तैयार किया गया, खरीद कर अथवा उधार लाया हुआ, किसी वस्तु को हटाकर दिया गया एवं ऊपर चढ़कर आया हुआ भोजन निषिद्ध कहा है। उत्पादन दोष के भी सोलह भेद हैं। धाय का कार्य करके भिक्षा प्राप्त करना धात्रीपिंड दोष और किसी का कोई समाचार ले जाकर भिक्षा प्राप्त करना दूतीपिण्ड दोष कहा गया है। इस प्रकार भविष्य बताकर, जाति, कुल, गुण, कर्म और शिल्प की समानता उद्घोषित कर भोजन ग्रहण करना भी तत्दोष हैं। किसी का भक्त बनकर क्रोध-मान-माया-लोभ

१ सन् १९१८ में देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला सूरत से प्रकाशित।

का उपयोग कर, दाता की प्रशंसा कर; चिकित्सा, विद्या, मन्त्र, अथवा वशीकरण का उपयोग कर भिक्षा ग्रहण करना दोष है। एषणा—निर्दोष आहार के दस भेद हैं। बाल, वृद्ध, उन्मत्त, कंपित शरीर, ज्वर पीड़ित, अन्ध, कुष्ठी, खड़ाऊँ पहने और बेड़ी बद्ध आदि पुरुषों से भिक्षा ग्रहण करना भी निषिद्ध है। इस प्रकार भोजन करती हुई, दही मथती हुई, आटा पीसती हुई, चावल कूटती हुई, रुई धुनती हुई, कपास ओटती हुई स्त्रियों से भिक्षा ग्रहण करने का निषेध है। स्वाद के लिए भिक्षा में प्राप्त भोजन को ग्रहण करना संयोजना दोष है। आहार के प्रमाण का उल्लंघन करना प्रमाण दोष है। सुपक्व भोजन के प्रति आसक्ति दिखलाना अंगार दोष और अपक्व भोजन की निन्दा करना धूमदोष है। संयमपालन, प्राणधारण एवं धर्मचिन्तन का ध्यान न रखकर गृध्रता के हेतु भोजन करना कारण दोष है।

निर्युक्त आगमों की सबसे प्राचीन टीकाओं का नाम है और इनके कर्त्ता भद्रबाहु माने जाते हैं। प्रस्तुत पिण्डनिर्युक्ति यथार्थतः दशवैकालिक के अन्तर्गत पिण्ड-एषणा नामक पाँचवें अध्ययन की प्राचीन टीका है, जिसे अपने विषय के महत्व और विस्तार के कारण आगम में स्वतन्त्र स्थान प्राप्त हो गया है।

वास्तव में उपर्युक्त चार मूलसूत्रों में उत्तराध्ययन और दशवैकालिक ये दो सूत्र ग्रन्थ ही महत्वपूर्ण हैं। ये दोनों रचनाएँ प्रायः पद्यमय हैं, कुछ ही स्थलों पर गद्य का उपयोग किया गया है। भाषा की दृष्टि से इनकी भाषा आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग के समान प्राचीन प्रतीत होती है। इन नामों के दो सूत्रों ग्रन्थों का उल्लेख दिगम्बर साहित्य में भी पाया जाता है।

दस पइण्णग (दस प्रकीर्णक)—प्रकीर्णक ग्रन्थों की रचना के सम्बन्ध में आगम ग्रन्थों के टीकाकारों का अभिमत है कि तीर्थंकरों द्वारा दिये गये उपदेश के आधार पर अनेक मुनियों द्वारा जिन ग्रन्थों की रचना की गयी है, वे प्रकीर्णक हैं। प्रकीर्णक ग्रन्थों की संख्या सहस्रों हैं; किन्तु बल्लभी वाचना के समय दस ग्रन्थों को ही आगम में सम्मिलित किया गया है। उनके नाम ये हैं—

(१) चउसरण (चतुःशरण), (२) आउरपच्चक्खाण (आतुर प्रत्याख्यान), (३) महापच्चक्खाण, (महाप्रत्याख्यान), (४) भत्तपइणा (भक्तपरिज्ञा), (५) तंदुलवेयालिय (तंदुलवैचारिक), (६) संथारक (संस्तारक), (७) गच्छायार (गच्छाचार), (८) गणिविज्जा (गणिविद्या), (९) देविंदथव (देवेन्द्रस्तव), और (१०) मरणसमाहि (मरण समाधि)।

(१) चतुःशरण में ६३ गाथाएं हैं। इसमें छह आवश्यकों के निर्देश के अनन्तर अरहंत, सिद्ध, साधु और जिनधर्म इन चार को शरण मानकर पाप के प्रति निन्दा

और पुण्य के प्रति अनुराग प्रकट किया गया है। यह रचना वीरभद्र कृत मानी जाती है और इसपर भुवनतुंग की वृत्ति और गुणरत्न की अवचूरि भी है। (२) आतुर-प्रत्याख्यान में ७० गाथाएँ हैं। बालमरण और पण्डितमरण के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रत्याख्यान—परित्याग को मोक्षप्राप्ति का साधन माना गया है। इसके रचयिता भी वीरभद्र हैं। इसमें पद्यों के अतिरिक्त कुछ अंश गद्य में भी हैं। (३) महाप्रत्याख्यान—१४२ अनुष्टुप पद्यों द्वारा दुश्चरित्र की निन्दा, सच्चरित्रात्मक भावनाओं, व्रतों एवं आराधनाओं पर जोर दिया गया है। प्रत्याख्यान के परिपालन पर खूब जोर दिया गया है। यह रचना पूर्वोक्त आतुर प्रत्याख्यान का पूरक ही है। (४) भक्तपरिज्ञा—१७२ गाथाओं में परलोक सिद्धि का निरूपण किया गया है। भक्तपरिज्ञा, इंगिनी और पादोपगमन रूप मरण भेदों का स्वरूप बतलाया गया है। बन्ध-मोक्ष का कारण मन ही है, अतः मन को वश करने के लिए अनेक दृष्टान्तों का प्रयोग किया गया है। मन को बन्दर की उपमा देकर उसका यथार्थस्वरूप उपस्थित किया है। (५) तंदुलवैचारिक या वैकालिक ५८६ गाथाओं में लिखी गयी गद्य-पद्य मिश्रित रचना है। इसमें गौतम और महावीर के बीच हुए प्रश्नोत्तर के रूप में जीव की गर्भावस्था, आहार-विधि, बालजीवन क्रीड़ा, आदि अवस्थाओं का वर्णन है। प्रसंगवश स्त्रियों के स्वरूप का विश्लेषण अनेक रूपकों द्वारा किया गया है। साधुओं को स्त्रियों से सर्वदा सावधान रहने के लिए चेतावनी दी गयी है। प्रमदा, नारी, महिला, रामा, अंगना, ललना, योषिता, वनिता प्रभृत्ति शब्दों की व्युत्पत्तियाँ भी प्रदर्शित की गयी हैं। इन व्युत्पत्तियों से संस्कृति के स्वरूप पर नया प्रकाश पड़ता है। (६) संस्तारक—में १२३ गाथाएँ हैं। इसमें साधु के लिये अन्तसमय में तृण का आसन—संथारा ग्रहण कर समाधिमरण धारण करने की विधि वर्णित है। मृत्यु के समय में स्थिर परिणाम रखकर पण्डितमरण द्वारा ही सद्गति प्राप्त की जा सकती है। इस प्रसंग में अनेक मुनियों के दृष्टान्त दिये गये हैं, जिनमें सुबन्धु और चाणक्य के उपसर्ग जय की प्रशंसा की गयी है। (७) गच्छाचार में १३७ गाथाएँ है। इसमें मुनि और आर्यिकाओं के गच्छ में रहने एवं तत्सम्बन्धी विनय तथा नियमोपनियम पालन की विधि बतलायी गयी है। इसमें निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थिनियों को एक दूसरे के प्रति पर्याप्त सतर्क रहने तथा कामवासना को वश रखने का निरूपण किया गया है। मन के स्थिर रहने पर भी संयोगों से अपने को सर्वदा बचाना हितकर होता है। जो मुनि अपना संयम खो बैठते हैं, उनकी अवस्था उसी प्रकार की होती है, जिस प्रकार श्लेष्म में लिपटी मक्खी की। मुनि को बाल, वृद्धा, दुहिता, बहिन आदि के शरीर का भी स्पर्श नहीं करना चाहिये। (८) गणिविद्या में ८२ गाथाओं द्वारा दिवस, तिथि, नक्षत्र, करण, ग्रह, मुहूर्त्त, शकुन आदि का विचार किया गया है। ज्योतिष की दृष्टि से यह ग्रन्थ उपयोगी है। इसमें लग्न और होरा का भी निर्देश पाया जाता है। (९)

देवेन्द्रस्तव में ३०७ गाथाएँ हैं। यहाँ कोई श्रावक चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना कर स्तुति करता है। स्तुतिकार एक प्रश्न के उत्तर में कल्पों और कल्पातीत देवों का वर्णन करता है। इस ग्रन्थ के रचयिता भी वीरभद्र माने जाते हैं। (१०) मरणसमाधि सबसे बड़ा प्रकीर्णक है। इसमें ६६३ गाथाएँ हैं। इसमें आराधना, आराधक, आलोचन, संल्लेखन, क्षमायापन आदि चौदह द्वारों से समाधिमरण की विधि बतलायी गयी है। बारह भावनाओं का भी निरूपण किया गया है। आचार्य के गुण, तप एवं ज्ञान की महिमा भी इस ग्रन्थ में निरूपित है। धर्म का उपदेश देने एवं पादोपगमन आदि तप के द्वारा सिद्धगति प्राप्त करनेवालों के दृष्टान्त उल्लिखित हैं।

उपर्युक्त दस प्रकीर्णकों के अतिरिक्त तित्थुग्गालिय (तीर्थोद्गार) आजीवकल्प, सिद्धवाहुड, आराहण पडाआ (आराधन पताका), दोवसायर पण्णत्ति (दीप-सागर प्रज्ञप्ति), जोइसकरंडग (ज्योतिष्करण्डक), अंगविज्जा। (अंगविद्या), पिंडविसोहि (पिंडविशुद्धि), तिहिपइण्णग (तिथि-प्रकीर्णक), सारावलि, पज्जंताराहणा (पर्यन्ताराधना), जीवविहत्ति (जीवविभक्ति), कवचप्रकरण और जोगि पाहुड (योनि प्राभृत) प्रकीर्णक भी माने जाते हैं। इन ग्रन्थों में जीवन शोधन की विभिन्न प्रक्रियाओं के साथ ज्योतिष और निमित्त सम्बन्धी अनेक बातों पर प्रकाश डाला गया है। ज्योतिष्करण्डक में ग्रीक ज्योतिष से पूर्ववर्ती विष्वक काल के लग्न-सिद्धान्त का निरूपण है, जो सुनिश्चित रूप से ग्रीक् पूर्व प्रणाली है।

चूलिका सूत्र—नन्दी और अनुयोग द्वार की गणना चूचिका सूत्रों में की जाती है। ये दोनों ग्रन्थ आगमों की अपेक्षा अर्वाचीन माने जाते हैं।

नन्दीसूत्र के रचयिता दूष्य गणि—के शिष्य देववाचक हैं, ये देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से भिन्न हैं। इसमें ९० गाथायें और ५९ गद्य सूत्र हैं। स्तुति के अनन्तर स्थविरावली में भद्रबाहु, स्थूलभद्र, महागिरि, आर्य श्याम, आर्य समुद्र, आर्य मंगु, आर्य नागहस्ति, स्कन्दिल आचार्य, नागार्जुन आदि के नाम उल्लिखित हैं। सम्यक् श्रुत में द्वादशाङ्ग, गणिपिटक के आचारांग आदि १२ भेद बताए गये हैं। मिथ्याश्रुत में आत्मबोध से च्युत करनेवाली रचनायें परिगणित हैं। इसमें श्रुतज्ञान के मूलतः दो भेद किये गये हैं—अङ्ग बाह्य और अङ्ग प्रविष्ट। टीकाकारों के अनुसार अङ्ग प्रविष्ट गणधरों द्वारा और अङ्ग बाह्य स्थविरों द्वारा रचे जाते हैं। आचारांग, सूत्रकृतांगादि भेद अङ्ग प्रविष्ट के हैं। अङ्ग बाह्य के आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त भेद हैं।

अनुयोगद्वार के रचयिता आर्य रक्षित माने—जाते हैं। विषय और भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ पर्याप्त अर्वाचीन है। प्रश्नोत्तर शैली में पल्योगम, सागरोपम, संख्यात, असंख्यात और अनन्त के प्रकार एवं निक्षेप, अनुगम और नय का प्ररूपण किया गया है। इस ग्रन्थ में व्याकरण सम्बन्धी समास, तद्धित, धातु, निरुक्ति, वर्णागम, लोप

एवं वर्णविकार तथ्यों का विवेचन किया गया है। पाखण्डियों में श्रमण, पाण्डुरंग, भिक्षु, कापालिक, तापस एवं परिव्राजकों के उल्लेख आए हैं। पेशेवर लोगों में दोसिय—कपड़ा वेचनेवाले, सोत्तिय—सूत बेचनेवाले, अंडवेआलिअ—बर्तन बेचनेवाले, कोलालिय—कुम्हार आदि का निर्देश किया है। शिल्पजीवियों में तंतुवाय—बुनकर, चित्रकार, दंतकार आदि के नाम आए हैं। काव्य के नवरस एवं संगीत के सप्त स्वरों का वर्णन भी इस ग्रन्थ में पाया जाता है। चरक, गौतम, महाभारत, रामायण प्रभृति ग्रन्थों के नाम निर्देश भी किये गये हैं।

काव्य के नवरसों की व्याख्या भी की गयी है। यहाँ शृंगार रस का स्वरूप दिया जाता है।

सिंगारो नाम रसो, रति-संजोगाभिलाससंजणणो।
मंडण-विलास-विब्बोअ-हास-लीला रमण लिंगो ॥
महुर विलास-सललिअ हियउम्मादणकरं जुवाणाणं।
सामा सद्दुद्दामं, दाएति मेहला दामं ॥

इसी प्रकार सभी रसों का स्वरूप विश्लेषण किया गया है। क्रम निरूपण में सर्व प्रथम वीर रस को स्थान दिया है तथा अन्तिम रस प्रशान्त माना है।

टीका और भाष्य साहित्य

अर्धमागधी आगम-साहित्य पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, विवरण, विवृत्ति दीपिका, अवचूरि, अवचूर्णी, व्याख्या एवं पञ्जिका रूप में विपुल साहित्य लिखा गया है। गम्भीर और पारिभाषिक साहित्य व्याख्याओं के अभाव में स्पष्ट नहीं हो पाता, अतः व्याख्यात्मक साहित्य का प्रणयन अत्यन्त आवश्यक था। प्राकृत भाषा में निर्युक्ति, भाष्य एवं चूर्णि टीकाएँ लिखी गयी हैं। यह टीका साहित्य गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से विशाल एवं उपयोगी हैं। भारतीय संस्कृति का समुज्ज्वल, सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्र इस टीका साहित्य में पाया जाता है। मनुष्य के चूडान्त आदर्श की स्थापना आगम साहित्य में उपलब्ध होती हैं, टीकाएँ उस आदर्श का व्यापक एवं विशद निरूपण उपस्थित करती हैं। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका साहित्य आगम को पञ्चाङ्गी कहते हैं।

निज्जुत्ति (निर्युक्ति)—भाषा, शैली और विषय की दृष्टि से निर्युक्तियाँ प्राचीन मानी जाती हैं। निर्युक्तियाँ प्रायः गाथाओं में निबद्ध मिलती हैं। इनकी शैली संक्षेप में विषय को प्रस्तुत करने की हैं। प्रसंगानुसार विविध कथाओं एवं दृष्टान्तों के संकेत भी उपलब्ध हैं, जिनका विस्तार आगे टीका ग्रन्थों में हुआ है। वर्तमान में आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, सूर्य प्रज्ञप्ति, व्यवहार, कल्प, दशाश्रुतस्कन्ध, उत्तराध्ययन, आवश्यक

दशवैकालिक, और ऋषिभाषित इन दस ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ मिलती हैं। पिण्ड निर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति मुनियों के आचार की दृष्टि से इतनी महत्वपूर्ण हैं कि इनकी गणना मूलसूत्रों में की जाती है। निर्युक्तियों के रचयिता भद्रबाहु माने जाते हैं।

भास (भाष्य)—भाष्य की रचना प्राकृत गाथाओं में की गई है। शैली की दृष्टि से भाष्य की निर्युक्तियों के साथ इतनी समानता है कि इन दोनों का अनेक स्थलों पर ऐसा मिश्रण हो गया है, जिसका पृथक्करण संभव नहीं है। भाष्य का समय ई० ४–५वीं शती माना जाता हैं। निर्युक्तियों के समान भाष्य की प्राकृत भाषा अर्ध-मागधी है, पर शौरसेनी और मागधी के प्रयोग भी मिलते हैं। कल्प, पञ्चकल्प, प्रीतकल्प, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, निशीथ और व्यवहार ग्रन्थों पर भाष्य उपलब्ध हैं। भाष्यों में अनेक प्राचीन अनुश्रुतियाँ, लोककथाएँ एवं मुनियों के आचार-व्यवहार की विधियों का निरूपण हुआ है। जैन श्रमण संघ का प्राचीन इतिहास अवगत करने के लिए निशीथ भाष्य, व्यवहार भाष्य और बृहत्कल्प भाष्य का गम्भीर अध्ययन आवश्यक है। निशीथ भाष्य में शश आदि चार धूर्तों की कथा दी गयी है, जिसको हरिभद्रसूरि ने धूर्ताख्यान के रूप में पल्लवित किया हैं। कल्प, व्यवहार और निशीथ भाष्य के कर्त्ता संघदास गणि हैं और विशेषावश्यक भाष्य के कर्त्ता जिनभद्र हैं।

चुण्णी (चूर्णी)—चूर्णियों की रचना गद्य में की गयी है। इसकी भाषा संस्कृत-प्राकृत मिश्रित है, पर इनमें प्राकृत की प्रधानता है। सामान्यतः चूर्णियों के रचयिता जिनदास गणि महत्तर माने जाते हैं, इनका समय अनुमानतः ई० की छठी-सातवीं शती है। आचारांग, सूत्रकृतांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति, कल्प, व्यवहार, निशीथ, पञ्चकल्प, दशाश्रुता-कल्प, जीतकल्प, जीवाभिगम, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी और अनयोगद्वार पर चूर्णियाँ पायी जाती हैं। चूर्णियों में अर्ध ऐतिहासिक, सामाजिक एवं कलात्मक सामग्री प्रचुर रूप में उपलब्ध है। ये महत्वपूर्ण मानव समाज शास्त्र हैं, इनमें सहस्रों वर्षों के आर्थिक जीवन का सजीव वर्णन उपस्थित है। उस युग की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री बिखरी पड़ी है। प्राचीन भारत के वेषभूषा, मनोरञ्जन, नगरनिर्माण, शासनव्यवस्था और सहायता के साधनों का पूरा विवेचन किया गया है।

टीकाएँ—टीका-साहित्य ग्रन्थों के स्पष्टीकरण के हेतु रचा जाता है। टीकाओं की भाषा संस्कृत है, पर कथाओं में प्राकृत का आश्रय ग्रहण किया गया है। आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वार पर हरिभद्र सूरि की टीकाएँ उपलब्ध हैं। आचारांग और सूत्रकृतांग पर शीलांक आचार्य ने महत्वपूर्ण टीकाएँ ई० ८७६ में लिखी हैं। ११वीं शती में शान्ति सूरि द्वारा उत्तराध्ययन की शिष्यहिता टीका प्राकृत में बड़ी ही महत्वपूर्ण लिखी गयी है। इसी शताब्दी में उत्तराध्ययन पर देवेन्द्रगणि नेमिचन्द्र ने

सुखबोधा नामक टीका लिखी है, जिसमें अगडदत्त, मूलदेव, करकण्डु आदि कई प्राकृत कथाएँ निबद्ध हैं। उत्तराध्ययन पर अभयदेव, द्रोणाचार्य, मलयागिरि, मलधारी हेमचन्द्र क्षेमकीर्ति, शान्तिचन्द्र आदि की टीकाएँ भी मिलती हैं। टीकाओं में लिखित लघु लोक-कथाएँ विशेष महत्वपूर्ण हैं। यहाँ आवश्यक टीका की एक लघु लोककथा उद्धृत की जाती है—

वर्षाकाल में सर्दी से काँपते हुए किसी बन्दर को देखकर एक चिड़िया बोली—"पुरुष के समान हाथ-पैर होकर भी तुम इस वृक्ष के ऊपर कोई कुटिया क्यों नहीं बना लेते हो?" इस बात को सुनकर बन्दर चुप रहा, पर उस चिड़िया ने पुनः बात दुहराई। इस पर बन्दर को क्रोध आया और चिड़िया के घोंसले के तिनकों को एक-एक कर हवा में उड़ा दिया और बोला—हे सुघरे तू अब बिना घर के रह—

बानर! पुरिसो सि तुमं निरत्थयं वहसि बाहुदंडाइं।
जो पायवस्स सिहरे न करेसि कुडिं पडालिं वा॥
नवि सि ममं मयहरिया, नवि सि ममं सोहिया व णिद्धावा।
सुघरे अच्छसु विघरा जा वट्टसि लोगतत्तीसु॥

•

शौरसेनी आगम साहित्य

पूर्वोक्त आगम साहित्य को श्वेताम्बर सम्प्रदाय प्रामाणिक मानता है, पर दिगम्बर सम्प्रदाय उसे प्रामाणिक नहीं मानता। इस मान्यतानुसार मूल आगम ग्रन्थों का लोप हो गया है और मात्र आंशिक ज्ञान मुनि परम्परा में सुरक्षित है। इसी ज्ञान के आधार पर आचार्य धरसेन के संरक्षण में षट् खण्डागम सूत्र की रचना सम्पन्न हुई।

षट् खण्डागम[1] सूत्र—यह आगम ग्रन्थ छह खण्डों में विभक्त है—जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्तविचय, वेदना, वग्गणा और महाबन्ध। इस ग्रन्थ का विषय स्रोत बारहवें दृष्टिवाद श्रुतांग के अन्तर्गत द्वितीय पूर्व आग्रायणीय के चयनलब्धि नामक ५ वें अधिकार के चौथे पाहुड कर्म प्रकृति को माना जाता है। सूत्र की परिभाषा के सम्बन्ध में बताया गया है—

सुत्तं गणहरकहियं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च।
सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्वहियं च॥

धवला वग्गणाखण्ड भाग १-३ पृ० ३७१

सूत्र वह है जिसका कथन गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वी ने किया हो। अतः उक्त आगमग्रन्थ में सूत्र की यह परिभाषा घटित होती है।

(१) जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्ड में जीव के गुण, धर्म और नाना अवस्थाओं का वर्णन आठ प्ररूपणाओं में किया गया है। ये आठ प्ररूपणाएँ—सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व हैं। इसके अनन्तर में नौ चूलिकाएँ हैं, जिनके नाम प्रकृति समुत्कीर्त्तन, स्थान समुत्कीर्त्तन, प्रथम महादण्डक, द्वितीय महादण्डक, तृतीय महादण्डक, उत्कृष्ट स्थिति, जघन्य स्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-अगति हैं। सत्प्ररूपणा के प्रथम सूत्र में पञ्चनमस्कार मन्त्र का पाठ है। सत्प्ररूपणा का विषय निरूपण ओघ और आदेश क्रम से किया गया है। ओघ में मिथ्यात्व, सासादन आदि चौदह गुण स्थानों का और आदेश में गति, इन्द्रिय, काय आदि चौदह मार्गणाओं का विवेचन उपलब्ध होता है। सत्प्ररूपणा में १७७ सूत्र हैं। इनमें ४० वें सूत्र से ४५ वें सूत्र तक छह काय के जीवों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। जीवों के बादर और सूक्ष्म भेदों के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद किये गये हैं। वनस्पति काय के साधारण और प्रत्येक ये दो भेद किये गये हैं और इन्हीं

---

१. यह ग्रन्थराज १६ भागों में डा० एच० एल० जैन के द्वारा सम्पादित होकर धवला टीका सहित जैन साहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती द्वारा प्रकाशित है।

भेदों के बादर और सूक्ष्म तथा इन दोनों भेदों के पर्याप्त और अपर्याप्त उपभेद कर विषय का निरूपण किया है। स्थावर और बादर काय से रहित जीवों को अकायिक कहा है।

जीवट्ठाण खण्ड की दूसरी प्ररूपणा द्रव्य प्रमाणानुगम है। इसमें १९२ सूत्रों द्वारा गुणस्थान और मार्गणाक्रम से जीवों की संख्या का निर्देश किया है। इस प्ररूपणा के संख्या निर्देश को प्रस्तुत करने वाले सूत्रों में शतसहस्रकोटि, कोड़ाकोड़ी, संख्यात, असंख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त संख्याओं का कथन मिलता है। इसके अतिरिक्त सातिरेक, हीन, गुण, अवहार–भाग, वर्ग, वर्गमूल, धन, अन्योन्याभ्यास आदि गणित की मौलिक प्रक्रियाओं के निर्देश मिलते हैं। काल गणना के प्रसंग में आवली, अन्तर्मुहूर्त्त, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, पल्योपम आदि एवं क्षेत्र की, उपेक्षा अंगुल, योजन, श्रेणी, जगत्प्रतर एवं लोक का उल्लेख आया है।

क्षेत्र प्ररूपणा में ९२ सूत्रों द्वारा गुण स्थान और मार्गणा क्रम से जीवों के क्षेत्र का कथन किया गया है उदाहरणार्थ कुछ सूत्र उद्धृत कर सिद्ध किया जायगा कि सूत्रकर्त्ता की शैली प्रश्नोत्तर के रूप में कितनी स्वच्छ है। विषय को प्रस्तुत करने का क्रम कितना मनोहर हैं।—" ओघेण मिच्छाइट्ठी केवडि खेत्ते, सव्वलोगे। सासण सम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगकेवलि त्ति केवडि खेत्ते, लोगस्स असंखेज्जदि भाए (सूत्र २–३) अर्थात्—मिथ्या दृष्टि जीव कितने क्षेत्र में पाये जाते हैं, सर्व लोक में। सासादन सम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगकेवलि गुणस्थान पर्यन्त जीव कितने क्षेत्र में हैं, लोक के असंख्यात भाग में, इत्यादि।

स्पर्शन प्ररूपणा में १८५ सूत्र हैं। इसमें नाना गुण स्थान और मार्गणावाले जीव स्वस्थान, समुद्घात एवं उपपात सम्बन्धी अनेक अवस्थाओं द्वारा कितने क्षेत्र का स्पर्श करते हैं, विवेचन किया है। सूत्रकार ने विभिन्न दृष्टियों से जीवों के स्पर्शन क्षेत्र का कथन विस्तारपूर्वक किया है।

कालानुयोग में ३४२ सूत्र हैं। इस प्ररूपणा में एक जीव और नाना जीवों के एक गुणस्थान और मार्गणा मे रहने की जघन्य और उत्कृष्ट मर्यादाओं की कालावधि का निर्देश किया है। मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वगुणस्थान में कितने काल पर्यन्त रहते हैं, उत्तर देते हुए बताया है कि नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल, पर एक जीव की अपेक्षा अनादि अनन्त, अनादि सान्त और सादि-सान्त हैं। तात्पर्य यह है कि अभव्यजीव अनादि अनन्त तथा भव्यजीव सादिसान्त हैं। जो जीव एक बार सम्यक्त्व ग्रहण कर पुनः मिथ्यात्व गुण स्थान में पहुँचता है, उस जीव का वह मित्यात्व सादिसान्त कहलाता है।

अन्तर प्ररूपणा में ३९७ सूत्र हैं। इस प्ररूपणा में बताया गया है कि जब विवक्षित गुण गुणान्तर रूप से संक्रमित हो जाता है और पुनः उसकी प्राप्ति होती है,

तो मध्य के काल को अन्तर कहते हैं। यह अन्तर काल सामान्य और विशेष की अपेक्षा दो प्रकार का होता है। सूत्रकार ने एक जीव और नाना जीवों की अपेक्षा एक ही गुणस्थान और मार्गणा में रहने की जघन्य और उत्कृष्ट कालावधि का निर्देश करते हुए अन्तर काल का निरूपण किया है। मिथ्यादृष्टि जीव का अन्तर काल कितना है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बताया है कि नाना जीवों को अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है—ऐसा कोई काल नहीं जब संसार में मिथ्यादृष्टि जीव न पाये जायें। पर एक जीव की अपेक्षा मिथ्यात्व का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर १३२ सागरोपम काल है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव परिणामों की विशुद्धि से सम्यक्त्व को प्राप्त होकर कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त काल में संक्लिष्ट परिणामों द्वारा पुनः मिथ्यादृष्टि हो सकता है। अथवा अनेक मनुष्य और देवगतियों में सम्यक्त्व सहित भ्रमण कर अधिक से अधिक १३२ सागरोपम को पूर्णकर पुनः मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है। तीव्र और मन्द परिणामों के स्वरूप का विवेचन भी किया गया है। नाना जीवों की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत और सयोगकेवली ये छह गुणस्थान इस प्रकार के हैं, जिनमें कभी-भी अन्तराल उपस्थित नहीं होता। मार्गणाओं में उपशम सम्यक्त्व, सूक्ष्मसांपराय संयम, आहारक काययोग, आहारक मिश्र-काययोग, वैक्रियिक मिश्रकाययोग, लब्ध प्रर्याप्त मनुष्य, सासादन सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व ऐसी अवस्थाएँ है, जिनमें गुणस्थानों का अन्तरकाल सम्भव होता है। इनका जघन्य अन्तरकाल एक समयमात्र और उत्कृष्ट अन्तरकाल सात दिन या छह मास आदि बतलाया गया हैं।

भावानुयोग में ९३ सूत्र हैं। इसमें गुणस्थान और मार्गणा क्रम से जीवों के औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारमाणिक भावों के भेद-प्रभेदों और स्थितियों का विवेचन किया गया है। दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म प्रकृतियों के उदय, उपशम, क्षमोपशमादि की विभिन्न अवस्थाएँ भी इसमें वर्णित हैं। कर्म-सिद्धान्त का यह विषय यहाँ विशद रूप से विवेचित है।

अल्पबहुत्व प्ररूपणा में ३८२ सूत्र हैं। इसमें गुणस्थान और मार्गणा स्थानवर्ती जीवों की संख्या का हीनाधिकत्व इस प्ररूपण में वर्णित है। अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में उपशम सम्यक्त्वी जीव अन्य सब स्थानों की अपेक्षा प्रमाण में अल्प और परस्पर तुल्य होते हैं। इनसे अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संख्यात गुणित हैं। क्षीणकषाय जीवों की संख्या भी इतनी ही है। सयोगकेवली संयम की अपेक्षा प्रविश्यमान जीवों से संख्यात गुणित हैं।

उपर्युक्त आठ प्ररूपणाओं के अतिरिक्त जीवस्थान की नौ चूलिकाएँ हैं। प्रकृति-समुत्कीर्तन नाम की चूलिका में ४६ सूत्र हैं। क्षेत्र, काल और अन्तर प्ररूपणाओं

में जो जीव के क्षेत्र और काल सम्बन्धी अनेक परिवर्तन बतलाये गये हैं, वे विशेष कर्मबन्ध के द्वारा ही उत्पन्न हो सकते हैं। इन्हीं कर्मबन्धों का व्यवस्थित निर्देश इस चूलिका में किया गया है। दूसरी 'स्थान समुत्कीर्तन' नाम की चूलिका में ११७ सूत्र हैं। प्रत्येक मूलकर्म की कितनी उत्तरप्रकृतियाँ एक साथ बाँधी जा सकती हैं और उनका बन्ध किस-किस गुणस्थान में होता है, इसका सुस्पष्ट विवेचन किया गया है। प्रथम महादण्डक नामक तृतीय चूलिका में केवल दो सूत्र हैं। इसमें प्रथम सम्यक्त्व को ग्रहण करनेवाला जीव जिन ७३ प्रकृतियों का बन्ध करता है, वे प्रकृतियाँ गिनायी गयी हैं। इन प्रकृतियों का बन्धकर्त्ता संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य या तिर्यञ्च होता है। द्वितोय महादण्डक नाम की चौथी चूलिका में भी केवल दो सूत्र हैं। इसमें ऐसी कर्म प्रकृतियों की गणना की गयी है, जिनका बन्ध प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ देव और छह पृथिवियों के नारकी जीव करते हैं। तृतीयदण्डक नामक पाँचवीं चूलिका में दो सूत्र हैं और इन सूत्रों में सातवीं पृथिवी के नारकी जीवों के सम्यक्त्वाभिमुख होने पर बन्ध योग्य प्रकृतियों का निर्देश किया गया है। छठी उत्कृष्टस्थिति नामक चूलिका में ४४ सूत्र हैं। इसमें बँधे हुए कर्मों की उत्कृष्टस्थिति का निरूपण किया गया हैं। आशय यह है कि सूत्रकर्त्ता आचार्य ने यह बतलाया है कि बन्ध को प्राप्त विभिन्न कर्म अधिक से अधिक कितने काल तक जीवों से लिप्त रह सकते हैं और बन्ध के कितने समय बाद—आबाधा काल के पश्चात् विपाक आरम्भ होता है। एक कोड़ाकोड़ी वर्ष प्रमाण बन्ध की स्थिति पर सौ वर्ष का आबाधा काल होता है और अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थिति का आबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त्त होता है। परन्तु आयुकर्म का आबाधाकाल इससे भिन्न है; क्योंकि वहाँ आबाधा अधिक से अधिक भुज्यमान आयु के तृतीयांश प्रमाण होती है। सातवीं जघन्य स्थिति नामक चूलिका में ४३ सूत्र हैं। इस चूलिका में कर्मों की जघन्य स्थिति का निरूपण किया गया है। परिणामों की उत्कृष्ट विशुद्धि जघन्य स्थिति बन्ध का और संक्लेश वृद्धि कर्मस्थिति की वृद्धि का कारण है। आठवीं चूलिका सम्यक्त्वोत्पत्ति में १६ सूत्र हैं। इसमें सम्यक्त्वोत्पत्ति योग्य कर्मस्थिति, सम्यक्त्व के अधिकारी आदि का निरूपण है। जीवनशोधन के लिए सम्यक्त्व की कितनी अधिक आवश्यकता है, इसकी जानकारी भी इससे प्राप्त होती है। नवमी चूलिका गत्यागति नाम की है, इसम २४३ सूत्र हैं। विभिन्न गतियों के जीव कब, कैसे सम्यक्त्व की प्राप्ति करते हैं; गतियों में प्रवेश करने और निकलने के समय जीवों के कौन-कौन गुणस्थान होते हैं और कौन-कौन सी गतियों में जाते हैं एवं किस गति से निकलकर और किस गति में जाकर जीव किस-किस गुणस्थान को प्राप्त करता है, आदि विषयों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

इस प्रकार जीवस्थान (जीवट्ठाण) नामक प्रथम खण्ड में कुल २३७५ सूत्र हैं और यह १७ अधिकारों में विभाजित है।

२. खुद्दाबन्ध (क्षुद्रकबन्ध)—इसमें मार्गणास्थानों के अनुसार कौन जीव बन्धक है और कौन अबन्धक, का विवेचन किया है। कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से यह द्वितीय खण्ड भी बहुत उपयोगी है। इसका विवेचन निम्नलिखित ग्यारह अनुयोगों द्वारा किया गया है—

(१) एक जीवन की अपेक्षा स्वामित्व।

(२) एक जीव की अपेक्षा काल।

(३) एक जीव की अपेक्षा अन्तर।

(४) नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय।

(५) द्रव्यप्रमाणानुगम।

(६) क्षेत्रानुगम।

(७) स्पर्शानुगम।

(८) नाना जीवों की अपेक्षाकाल।

(९) नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर।

(१०) भागाभागानुगम।

(११) अल्पबहुत्वानुगम।

इन ग्यारह अनुयोगों के पूर्व प्रास्ताविकरूप में बन्धकों के सत्त्व की प्ररूपणा की गयी है और अन्त में ग्यारह अनुयोग द्वारों की चूलिका के रूप में महादण्डक दिया गया है। इस प्रकार इस खण्ड में १३ अधिकार हैं।

प्रस्ताविकरूप में आयी बन्ध सत्त्व प्ररूपणा में ४३ सूत्र हैं। गतिमार्गणा के अनुसार नारकी और तिर्यञ्च बन्धक हैं, मनुष्य बन्धक भी है और अबन्धक भी। सिद्ध अबन्धक हैं। इन्द्रियादि मार्गणाओं की अपेक्षा भी बन्ध के सत्त्व का विवेचन किया है। जबतक मन, वचन और कायरूप योग की क्रिया विद्यमान रहती है, तब तक जीव बन्धक रहता है। अयोग केवली और सिद्ध अबन्धक होते हैं।

स्वामित्व नामक अनुगम में ९१ सूत्र हैं, जिनमें मार्गणाओं के अनुक्रम से इनकी पर्यायों में कारणभूत कर्मोदय और लब्धियों का प्रश्नोत्तर रूप में प्ररूपण किया गया है।

कालानुगम में २१६ सूत्र हैं। इस अनुगम में गति, इन्द्रिय, काय आदि मार्गणाओं मे नोव की जघन्य और उत्कृष्ट कालस्थिति का विवेचन किया। जीवस्थान खण्ड में प्ररूपित कालप्ररूपणा की अपेक्षा यह विशेषता है कि यहाँ गुणस्थान का विचार छोड़कर प्ररूपणा की गयी है।

अन्तर प्ररूपणा में १५१ सूत्र हैं। मार्गणा क्रम से जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकाल बतलाया गया है।

भंगविचय में २३ सूत्र हैं। किन मार्गणाओं में कौन से जीव सदैव रहते हैं और कौन से जीव कभी नहीं रहते, का वर्णन है। बताया गया है कि नरकादि चारों गतियों

में जीव सदैव नियम से निवास करते हैं, किन्तु मनुष्य अपर्याप्त कभी होते हैं और कभी नहीं भी होते। इसी प्रकार वैक्रियिक मिश्र आदि जीवों की मार्गणाएँ भी सान्तर हैं।

द्रव्य प्रमाणानुगम में १७१ सूत्र हैं। गुणस्थान को छोड़कर मार्गणाक्रम से जीवों की संख्या उसीके आश्रय से काल एवं क्षेत्र का प्ररूपण किया गया है।

क्षेत्रानुगम में १२४ और स्पर्शानुगम में २७९ सूत्र हैं। इन दोनों में अपने-अपने विषय के अनुसार जीवों का विवेचन किया गया है।

नाना जीवों की अपेक्षा कालानुगम में ५५ सूत्र हैं। इसमें अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त एवं सादि-सान्तरूप से काल प्ररूपणा की गयी है।

नाना जीवों की अपेक्षा अन्तरानुगम में ६८ सूत्र हैं। बन्धकों के जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकाल की प्ररूपणा की गयी है।

भागाभागानुगम में ८८ सूत्र है। इस अनुगम में मार्गणानुसार अनन्तवें भाग, असंख्यातवें भाग, संख्यातवें भाग तथा अनन्तबहुभाग, असंख्यात बहुभाग, संख्यात बहुभाग रूप से जीवों का सर्वजीवों की अपेक्षा प्रमाण बतलाया गया है। एक प्रकार से इस अनुगम में जीवों की संख्याओं पर प्रकाश डाला गया है तथा परस्पर तुलनात्मक रूप से संख्या बतायी गयी है। यथा—नारकी जीवों का विवेचन करते हुए बताया गया है कि वे समस्त जीवों की अपेक्षा अनन्तवें भाग हैं। इस प्रकार परस्पर में तुलनात्मकरूप में जीवों की भाग-अभानुक्रम में संख्या बतलायी है।

अल्पबहुत्व अनुगम में १०६ सूत्र हैं, जिनमें १४ मार्गणाओं के आश्रय से जीव-समासों का तुलनात्मक द्रव्य प्रमाण बतलाया गया है। गतिमार्गणा में मनुष्य सबसे थोड़े हैं, उनसे नारकी असंख्य गुणे हैं, देव नारकियों से असंख्यगुणे है। देव से सिद्ध अनन्तगुणे हैं तथा तिर्यञ्च देवों से भी अनन्तगुणे हैं।

अन्तिम चूलिका महादण्ड के रूप में है। इसमें ७९ सूत्र हैं। इस में मार्गणा विभाग को छोड़कर गर्भोपक्रान्तिक मनुष्य पर्याप्त से लेकर निगोद जीवों तक के जीव-समासों का अल्पबहुत्व प्रतिपादित है। सापेक्षिक जीवों के राशिज्ञान के लिये यह चूलिका उपयोगी है।

इस प्रकार समस्त खुद्दाबंध में १५८२ सूत्र हैं। इनमें कर्मप्रकृति प्राभृत के बन्धक अधिकार के बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान नामक चार अनुयोगों में से बन्धक का प्ररूपण किया गया है। इसे खुद्दक (क्षुद्रक) बन्ध कहने का कारण यह है कि महाबन्ध की अपेक्षा यह बन्ध प्रकरण छोटा है।

३. बंधसामित्तविचय (बन्धस्वामित्वविचय)—इस तृतीय खण्ड में बन्ध के स्वामी का विचार किया गया है। यतः विचय शब्द का अर्थ विचार, मीमांसा और परीक्षा है। यहाँ इस बात का विवेचन किया है कि कौन-सा कर्म बन्ध किस गुण-

स्थान और मार्गणा में सम्भव है अर्थात् कर्मबन्ध के स्वामी कौन से गुणस्थानवर्ती और मार्गणास्थानवर्ती जीव हैं। इस खण्ड में कुल ३२४ सूत्र हैं। इनमें आरम्भ के ४२ सूत्रों में गुणस्थानक्रम से बन्धक जीवों का प्ररूपण किया है। कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से यह प्रकरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्रकृतियों का बन्ध, उदय, सत्व, बन्धव्युच्छित्ति आदि का विस्तृत विवेचन किया है।

४. वेदनाखण्ड—कर्म प्राभृत के चौबीस अधिकारों में से कृति और वेदना नामक प्रथम दो अनुयोगों का नाम वेदनाखण्ड है। सूत्रकार ने आरम्भ में मंगलाचरण किया है और इस चौथे खण्ड के प्रारम्भ में भी मंगलाचरण किया गया है। अतः यह अनुमान सहज में लगाया जा सकता है कि प्रथम बार का मगल आरम्भ के तीन खण्डों का है और द्वितीय बार का मंगल शेष तीन खण्डों का। ग्रन्थ के आदि और मध्य में मंगल करने का जो सिद्धान्त प्रतिपादित है, उसका समर्थन भी इससे हो जाता है। कृति अनुयोग द्वार में ७६ सूत्र हैं, जिनमें ४४ सूत्रों में मंगल पाठ किया गया है। शेष सूत्रों में कृति के नाना भेद बतलाकर मूलकरण कृति के १३ भेदों का स्वरूप बतलाया गया हैं।

द्वितीय प्रकरण का १६ अधिकारों में विवेचन किया गया है। अधिकारों की नामावलि निम्न प्रकार है—

(१) निक्षेप—३ सूत्र।
(२) नय—४ सूत्र।
(३) नाम—४ सूत्र।
(४) द्रव्य—१३ सूत्र।
(५) क्षेत्र—९९ सूत्र।
(६) काल—२७९ सूत्र।
(७) भाव—३१४ सूत्र।
(८) प्रत्यय—१६ सूत्र।
(९) स्वामित्व—१५ सूत्र।
(१०) वेदना विधान—५८ सूत्र।
(११) गति—१२ सूत्र।
(१२) अनन्तर—११ सूत्र।
(१३) सन्निकर्ष—३२० सूत्र।
(१४) परिमाण—५३ सूत्र।
(१५) भागाभाग—२१ सूत्र।
(१६) अल्प-बहुत्व—२७ सूत्र।

निक्षेप अधिकार के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों द्वारा वेदना के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है। नय अधिकार में उक्त निक्षेपों में कौन-सा अर्थ यहाँ प्रकृत है; यह नैगम, संग्रह आदि नयों के द्वारा समझाया गया है। नामविधान अधिकार में नैगमादि नयों के द्वारा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों में वेदना की अपेक्षा एकत्व स्थापित किया गया है। द्रव्यविधान अधिकार में कर्मों के द्रव्य का उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, सादि-अनादि स्वरूप समझाया गया है। क्षेत्रविधान में ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मरूप पुद्गल द्रव्य को वेदना मानकर समुद्घातादि विविध अवस्थाओं में जीव के प्रदेश क्षेत्र की प्ररूपणा की गयी है। कालविधान अधिकार में पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अनुयोगों द्वारा काल के स्वरूप का विवेचन किया गया है। भावविधान में पूर्वोक्त पद-मीमांसादि तीन अनुयोगों द्वारा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों को उत्कृष्ट, अनुत्कृष्टरूप भावात्मक वेदनाओं पर प्रकाश डाला गया है। वेदना प्रत्यय में नयों के आश्रय द्वारा वेदना के कारणों का विवेचन किया है। वेदना स्वामित्व में आठों कर्मों के स्वामियों का प्ररूपण किया है। वेदना-वेदन अधिकार में आठों कर्मों के बध्यमान, उदीर्ण और उपशान्त स्वरूपों का एकत्व और अनेकत्व की अपेक्षा कथन किया है। वेदनागति विधान अनुयोग द्वार में कर्मों की स्थित, अस्थित अथवा स्थितास्थित अवस्थाओं का निरूपण किया है। अनन्तर विधान अनुयोग द्वार में कर्मों की अनन्तर परम्परा एवं बन्ध प्रकारों का विचार किया है। कर्मों की वेदना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा किस प्रकार उत्कृष्ट और जघन्य होती है; का विवेचन वेदना सन्निकर्ष में किया गया है। वेदना परिमाण विधान अधिकार में आठों कर्मों की प्रकृत्यर्थता, समय-प्रबद्धार्थता और क्षेत्र-प्रत्यास की प्ररूपणा की गयी है। महाभाग प्रकरण में कर्म प्रकृतियों के भागाभाग का विवेचन है। अल्पबहुत्व विधान में कर्मों के अल्पबहुत्व का निरूपण है। वेदनाखण्ड में १४४९ सूत्र हैं।

५. वर्गणाखण्ड—इसमें स्पर्श, कर्म और प्रकृति नामक तीन अनुयोग द्वारों का प्रतिपादन किया गया है। स्पर्श अनुयोग द्वार में स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता, स्पर्श-नामविधान, स्पर्शद्रव्यविधान आदि १६ अधिकारों में स्पर्श का विचार किया गया है। कर्म-अनुयोग द्वार में नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधः-करणकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म का प्ररूपण है। प्रकृति-अनुयोग द्वार में प्रकृति-निक्षेप आदि सोलह अनुयोग द्वारों का विवेचन है। इन तीनों अनुयोग द्वारों में क्रमशः ६३, ३१ और १४२ सूत्र हैं।

बन्धन के चार भेद हैं—(१ , बन्ध, (२) बन्धक, (३) बन्धनीय (४ बन्ध-विधान। बन्ध और बन्धनीय का विवेचन ७२७ सूत्रों में किया गया है। बन्ध प्रकरण ६४ सूत्रों में समाप्त किया है। बन्धनीय का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि विपाक या अनुभव करानेवाले पुद्गल स्कन्ध ही बन्धनीय होते हैं और वे वर्गणा रूप हैं।

६. महाबन्ध—बन्धनीय अधिकार की समाप्ति के पश्चात् प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का विवेचन है। यह महाबन्ध अपनी विशालता के कारण पृथक् ग्रन्थ माना जाता है।

रचयिता और रचनाकाल—षट्खण्डागम के सूत्रों में रचयिता के सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं मिलता है, पर धवला टीकाकार वीरसेन आचार्य ने इसके रचयिता के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। उन्होंने श्रुतज्ञान की परम्परा का निर्देश करते हुए बताया है कि अनुक्रम से समस्त अंगों और पूर्वों का एक-एक देश मात्र का ज्ञान धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ। ये धरसेनाचार्य सोरठ देश के गिरनगर पट्टन की चन्द्रगुफा में निवास करते थे। ये अष्टाङ्ग महानिमित्तशास्त्र के परगामी थे। टीकाकार ने लिखा है—

तेण वि सोरट्ठ-विसय-गिरिणयरपट्टण-चंदगुहा-ठिएण अट्ठंग-महाणिमित्त-पारएण गंथ वोच्छेदो होहदि त्ति जाद-भएण पवयण-वच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पेसिदो। लेह-ट्ठिय-धरसेण-वयणमवधारिय तेहि वि आइरिएहि वे साहू गहण-धारण-समत्था धवलामल-बहु-विह-विणय-विहूसियंगा सील-माला-हरा गुरुपेसणासण-तित्ता देस-कुल-जाइ-सुद्धा सयल-कला-पारया तिक्खुत्तावुच्छियाइरिया अन्ध-विसय-वेण्णायडादो पेसिदा। तेसु आगच्छमाणेसु रयणीए पच्छिमे भाए कुंदेंदु-संख-वण्णा सव्व-लक्खण-संपुण्णा अप्पणो कय-तिप्पयाहिणा पाएसु णिसुढिय-पदियंगा वे वसहा सुमिणंतरेण धरसेण-भडारएण दिट्ठा·········।

—जीवस्थान सत्प्ररूपणा

१ पुस्तक पृ० ६७–६८

सौराष्ट्र देश के गिरिनगर नामक नगर की चन्द्रगुफा में रहनेवाले, अष्टांग महानिमित के परगामी, प्रवचनवत्सल धरसेनाचार्य ने अङ्गश्रुत के विच्छेद हो जाने के भय से महिमा नगरी में सम्मिलित दक्षिणापथ के आचार्यों के पास एक पत्र भेजा। पत्र में लिखे गये धरसेन के आदेश को स्वीकार कर उन आचार्यों ने शास्त्र के अर्थ को ग्रहण और धारण करने में समर्थ विविध प्रकार से उज्ज्वल और निर्मल विनय से विभूषित, शीलरूपी माला के धारी गुरुओं के प्रेषणरूपी भोजन से तृप्त, देश-कुल जाति से शुद्ध, समस्त कलाओं के पारगामी और आचार्यों से तीन बार पूछकर आज्ञा लेनेवाले दो साधुओं को आन्ध्र देश की वन्या नदी के तट से रवाना किया। इन दोनों साधुओं के मार्ग में आते समय धरसेनाचार्य ने रात्रि के पिछले भाग में स्वप्न में कुन्दपुष्प, चन्द्रमा और शंख के समान श्वेतवर्ण के दो बैलों को अपने चरणों में

झुके हुए और तीन प्रदक्षिणा करते हुए देखा। प्रातःकाल उक्त दोनों साधुओं के आने पर धरसेनाचार्य ने उन दोनों की परीक्षा ली, और जब उन्हें उनकी योग्यता पर विश्वास हो गया, तब उन्हें अपना श्रुतोपदेश देना आरम्भ किया, जो आषाढ़ शुक्ला एकादशी को समाप्त हुआ। गुरु ने इन दोनों शिष्यों का नाम पुष्पदन्त और भूतबलि रखा। गुरु के आदेशानुसार वे शिष्य गिरिनार से चलकर अंकुलेश्वर आये और वहीं उन्होंने वर्षा-काल व्यतीत किया। अनन्तर पुष्पदन्त आचार्य वनवास देश को और भूतबलि तामिलदेश को गये। पुष्पदन्त ने जिनपालित को दीक्षा देकर उसके अध्यापन हेतु सत्प्ररूपणा तक के सूत्रों की रचना कर भूतबलि के पास भेजा। भूतबलि ने जिनपालित के पास उन सूत्रों को देखकर और पुष्पदन्न आचार्य को अल्पायु जानकर महाकर्म प्रकृति पाहुड का विच्छेद न हो जाय, इस ध्येय से आगे द्रव्यप्रमाणादि अनुगमों की रचना की। अतः षट् खण्डागम के रचयिता पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य हैं तथा रचना का निमित्त जिनपालित है। निष्कर्ष यह है कि सत्प्ररूपणा के १७७ सूत्र पुष्पदन्त ने और शेष समस्त षट्खण्डागम के सूत्र भूतबलि ने रचे हैं।

रचनाकाल के सम्बन्ध में षट्खण्डागम के सूत्रों में कोई निर्देश नहीं मिलता है। पर टीकाकार वीरसेनाचार्य ने महावीर स्वामी से लोहाचार्य तक जो गुरु-परम्परा दी है, उससे रचनाकाल पर प्रकाश पड़ता है। बताया गया है कि शक संवत् के ६०५ वर्ष ५ माह पूर्व भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। अनन्तर ६२ वर्ष में तीन केवली, १०० वर्ष में पाँच श्रुतकेवली, १८३ वर्ष में ग्यारह दशपूर्वी, २२० वर्ष में पाँच एकादश अंगधारी और ११८ वर्ष में चार एकांगधारी हुए। इस प्रकार श्रुतज्ञान की परम्परा महावीर निर्वाण के पश्चात् गौतम स्वामी से लेकर ६८३ वर्ष अर्थात् शक संवत् ७७-७८ तक चलती रही। इसके कितने समय पश्चात् धरसेनाचार्य हुए, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। इन्द्रनन्दी कृत श्रुतावतार में लोहाचार्य के पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार अरातीय आचार्यों का उल्लेख किया है और तत्पश्चात् अर्हद्बलि का और अर्हद्बलि के अनन्तर धरसेनाचार्य का नाम आता है।

इन्द्रनन्दि ने षट्खण्डागम के कई टीकाकारों में कुन्दकुन्द और समन्तभद्र का भी नाम निर्देश किया है। इससे यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि उक्त दोनों आचार्य षट्खण्डागम के सूत्रकारों के परवर्ती हैं अतः षट्खण्डागम के सूत्रों का रचनाकाल शक संवत् की प्रथम-द्वितीय शताब्दी के मध्य में है। नन्दी आम्नाय की प्राकृत पट्टावलि[1] में आचार्यों की जो परम्परा दी गयी है, उसमें वीर निर्वाण संवत् के ६८३ वर्षों तक अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि का समय भी व्यतीत होना निर्दिष्ट है। इस क्रम से षट्खण्डागम के सूत्रों का रचनाकाल शक संवत् की प्रथम शती है।

---

१. देखें—जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा भाग १ किरण ४

कसायपाहुड (कषाय प्राभृत)

कसाय पाहुड[1] का दूसरा नाम पेज्जदोसपाहुड भी है। पेज्ज शब्द का अर्थ राग है, यतः यह ग्रन्थ राग और द्वेष का निरूपण करता है। क्रोधादि कषायों की राग-द्वेष-परिणति और उनके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रवेशबन्ध सम्बन्धी विशेषताओं का विवेचन हो इस ग्रन्थ का मूल वर्ण्य विषय है। यह ग्रन्थ १६० + ५३ २३३ गाथा सूत्रों में लिखा गया है। इस ग्रन्थ के पदों की संख्या सोलह हजार है।

इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य गुणधर हैं। ये पाँचवें ज्ञानप्रवाद पूर्व स्थित दशम वस्तु के तीसरे कसायपाहुड के पारगामी थे। गुणधराचार्य ने इस ग्रन्थ की रचना कर आचार्य नागहस्ति और आर्यमंक्षु को इसका व्याख्यान किया था। इसका रचना काल कुन्दाकुन्दाचार्य से पूर्व है। समय अनुमानतः भूतबलि और पुष्पदन्त से पूर्ववर्ती है। अतः ईस्वी सन् द्वितीय शती और प्रथम शती के मध्य सुनिश्चित है। कसायपाहुड की भाषा छक्खण्डागम के सूत्रों की भाषा की अपेक्षा प्राचीन है। अतः मेरा अनुमान है कि इसका रचनाकाल ईस्वी सन् प्रथम शताब्दी होना चाहिए।

कषाय प्राभृत में कुल १६ अधिकार हैं। पहला अधिकार पेज्जदोषविभत्ति नाम का है। शेष अधिकारों की नामावली निम्न प्रकार है—

(१) प्रकृति विभक्ति अधिकार।

(२) स्थिति विभक्ति अधिकार।

(३) अनुभाग विभक्ति अधिकार।

(४) प्रदेश विभक्ति-झीणाझीणस्थित्यन्तिक।

(५) बंधक अधिकार।

(६) वेदक अधिकार।

(७) उपयोग अधिकार।

(८) चतुःस्थान अधिकार।

(९) व्यञ्जन अधिकार।

(१०) दर्शनमोहोपशमना अधिकार।

(११) दर्शनमोहक्षपणा अधिकार।

---

१. यह ग्रन्थ पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री और पं० फूलचन्द्र शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर जयधवला टीका सहित दि० जैन संघ चौरासी, मथुरा प्रकाशित हो रहा है। अभी तक इसके ९ भाग मुद्रित हो चुके हैं।

(१२) संयमासंयम लब्धि अधिकार ।

(१३) संयम लब्धि अधिकार ।

(१४) चरित्रमोहोपशमना ।

(१५) चरित्रमोहक्षपणा ।

इसमें आरम्भ के आठ अधिकारों में संसार के कारणभूत मोहनीय कर्म का नाना दृष्टियों से अनेक रूपों में विवेचन किया गया है और अन्तिम सात अधिकारों में आत्म-परिणामों के विकास शिथिल होते हुए मोहनीय कर्म की विविध दशाओं का निरूपण किया है। विवेचन और विश्लेषण के लिए प्रत्येक अधिकार कई अनुभागों में विभक्त है, पर इन सभी अनुयोगों में कर्म की विभिन्न स्थितियों का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है। कर्म किस स्थिति में किस कारण से आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, उसके इस सम्बन्ध का आत्मा के साथ किस प्रकार सम्मिश्रण होता है, किस प्रकार उनमें फलदानत्व घटित होता है और कितने समय तक कर्म आत्मा के साथ लगे रह जाते हैं, इसका विस्तृत और स्पष्ट विवेचन वर्त्तमान है। उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट रूप अनुभागों का निरूपण २३ अनुयोग द्वारों में किया गया है।

महा-बन्ध

महाबन्ध[1] का दूसरा नाम महाधवल भी है। पहले ही यह लिखा जा चुका है कि महाबन्ध छक्खण्डागम का छठा खण्ड है। इसकी रचना आचार्य भूतबलि ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण में की है। इसका मंगलाचरण भी पृथक् नहीं है, बल्कि यह चतुर्थ वेदना खण्ड में उपलब्ध मंगलाचरण से ही सम्बन्ध है। विशालता के कारण ही महाबन्ध को पृथक् ग्रन्थ का रूप प्राप्त हुआ। इस ग्रन्थ में चार अधिकार हैं—

(१) प्रकृतिबन्ध अधिकार ।

(२) स्थितिबन्ध अधिकार ।

(३) अनुभागबन्ध अधिकार ।

(४) प्रदेशबन्ध अधिकार ।

प्रथम अधिकार को सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध और अनुत्कृष्टबन्ध आदि उप अधिकारों में विभक्त कर विवेचन किया गया है। स्थितिबन्ध अधिकार के मूल दो भेद हैं—मूल प्रकृति-स्थितिबन्ध और उत्तर प्रकृतिस्थितिबन्ध। मूल प्रकृति-स्थितिबन्ध को स्थितिबन्ध स्थान प्ररूपणा, निषेक प्ररूपणा, आबाधाकाण्ड प्ररूपणा और अल्पबहुत्व

१. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी द्वारा प्रकाशित ।

प्ररूपणा द्वारा विवेचन किया है। अनुभाव अधिकार का प्ररूपण मूलप्रकृति अनुभाग-बन्ध और उत्तर प्रकृति अनुभाग बन्ध की अपेक्षा से किया है। सन्निकर्ष, भंगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र और स्पर्शन आदि प्ररूपणाएँ भी इस अधिकार की हैं। चतुर्थ प्रदेश-बन्ध अधिकार के विषय का कथन क्षेत्र प्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, भावप्ररूपणा, अल्पबहुत्वप्ररूपणा, भुजाकारबन्ध, पदनिक्षेप, समुत्कीर्त्तना, स्वामित्व अल्पबहुत्व, वृद्धि-बन्ध, अध्यवसान, समुदाहार और जीव समुदाहार उप-अधिकारों द्वारा किया है। कर्म स्वरूप को अवगत करने के लिए यह ग्रन्थ अत्यधिक उपयोगी है।

●

शौरसेनी टीका साहित्य

शौरसेनी आगम ग्रन्थों पर भी महत्वपूर्ण टीकाएँ प्राकृत मिश्रित संस्कृत में लिखी गयी हैं। विस्तार और विषयानुक्रम की दृष्टि से ये टीकाएँ स्वतन्त्र ग्रन्थ कही जा सकती हैं। मूल विषय के सुन्दर स्पष्टीकरण के साथ प्रसंगवश अनेक लोकोपयोगी विषयों का समावेश भी इन टीकाओं में पाया जाता है। यहाँ संक्षेप में टीकाओं का विवेचन किया जायगा। टीकाओं में कुन्दकुन्दाचार्य कृत परिकर्म, शामकुण्ड कृत पद्धति, तब्बुलूदाचार्य कृत चूडामणि, समन्त भद्र टीका एवं बोप्पदेव कृत व्याख्याप्रज्ञप्ति प्रधान हैं।

धवल टीका

छक्खण्डागम (षट्खण्डागम) पर लिखी गयी यह सबसे महत्त्वपूर्ण टीका है। इस टीका के रचयिता आचार्य वीरसेन हैं, इनके गुरु का नाम आर्यनन्दि है तथा शिष्य का नाम जिनसेन। जिनसेन ने अपने गुरु वीरसेन की सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञा की बहुत श्लाघा की हैं। वीरसेन ने बप्पदेव गुरु की व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका के आधार पर चूर्णियों की शैली में ७२ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत मिश्रित संस्कृत धवला टीका लिखी है। टीकाकार की प्रशस्ति के अनुसार यह टीका बाटग्राम पुर में सन् ८१६ में समाप्त की गयी है। टीका में आये हुए अनेक ग्रन्थों के उल्लेख से स्पष्ट है कि आचार्य वीरसेन ने दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के विशाल साहित्य का आलोडन किया था। ये बहुश्रुत विद्वान् थे। आर्य वीरसेन ने स्थान-स्थान पर उत्तर प्रतिपत्ति और दक्षिण प्रतिपत्ति नामकी मान्यताओं का निर्देश करते हुए दक्षिण प्रतिपत्ति को ऋजु और आचार्य परम्परागत तथा उत्तर प्रतिपत्ति को अनृजु और आचार्य परम्परा के बाह्य बताता है। सूत्र ग्रन्थों के भिन्न-भिन्न पाथों का उल्लेख करते हुए शंका-समाधान के रूप में विषय को उपस्थित किया है। नागहस्ति और आर्यमंक्षु के मतभेद भी इस टीका में उपलब्ध हैं। धवला टीका दो भागों में विभक्त की जा सकती है—

१. वीरसेनाचार्य द्वारा लिखी गयी प्राकृत-संस्कृत मिश्रित टीका-अंश।

२. टीका में उद्धृत प्राचीन पद्यमय उद्धरण।

टीका की प्राकृत भाषा प्रौढ़, मुहावरेदार और विषय के अनुसार संस्कृत की तर्क शैली से प्रभावित है। सन्धि और समास का भी यथास्थान प्रयोग हुआ है। प्राकृत गद्य का स्वच्छ रूप वर्तमान है। न्याय शास्त्र की शैली में गम्भीरतम विषयों को प्रस्तुत किया गया है। इस टीका में तीन चौथाई अंश प्राकृत में है, शेष एक-चौथाई संस्कृत में। इस

प्राकृत में शौरसेनी प्राकृत की प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं। संस्कृत भाषा भी परिमार्जित और न्यायशास्त्र के अनुरूप है।

उद्धृत प्राचीन गाथाओं की भाषा शौरसेनी होते हुए भी महाराष्ट्रीपन से युक्त है। भाषा की दृष्टि से गाथाओं में एकरूपता नहीं है। वस्तुतः ये गाथाएँ भिन्न-भिन्न काल के रचे गये भिन्न-भिन्न ग्रन्थों से उद्धृत की गयी हैं। इन गाथाओं का महत्व विषय को दृष्टि से जितना अधिक हैं, उतना हो भाषा की दृष्टि से भी। अर्धमागधी और महाराष्ट्री का सम्मिलित प्रभाव इन पर देखा जा सकता है। इस धवला टीका की प्रमुख विशेषताएँ निम्नाङ्कित हैं—

१. षट्खण्डागम के सूत्रों का मर्मोद्घाटन करने के साथ कर्म सिद्धान्त का सविस्तर निरूपण किया है।

२. समकालीन राजाओं, पूर्ववर्ती आचार्यों और ग्रन्थों का नामोल्लेख वर्तमान है।

३. कर्मसिद्धान्त का सुस्पष्ट और विस्तृत निरूपण किया गया है।

४. प्रसंगवश दर्शनशास्त्र की अनेक मौलिक मान्यताओं का समावेश हुआ है।

५. लोक के स्वरूप विवेचन में नये दृष्टिकोण की स्थापना है। अपने समय तक प्रचलित वर्तुलाकार लोक की प्रमाण प्ररूपणा करके उस मान्यता का खण्डन; क्योंकि इस प्रक्रिया से सात रज्जू के घन-प्रमाण क्षेत्र प्राप्त नहीं होता। अनन्तर आयत चतुरस्राकार होने की स्थापना की है।

६. स्वयम्भूरमण समुद्र की बाह्य वेदिका के परे भी असंख्यात योजन विस्तृत पृथिवी का अस्तित्व सिद्ध किया है।

७. अन्तर्मुहूर्त के सम्बन्ध में नयी मान्यता—मुहूर्त्त से अधिक काल भी अन्तर्मुहूर्त्त कहा जाता है।

८. गणित की नाना प्रवृत्तियों का प्ररूपण, परिकर्माष्टक के गणित के साथ संकलित घन; अर्द्धच्छेद, घाताङ्क सिद्धान्त; लघुरिक्थ; समीकरण; अज्ञात राशियों के मानानयन; भिन्न की अनेक मौलिक प्रक्रियाएँ; वृत्त, व्यास, परिधि सम्बन्धी गणित; अन्तः वृत्त, परिवृत्त, सूची व्यास, वलयव्यास, परिधि, चाप, वृत्ताधारवेलन आदि सम्बन्धी गणित प्रक्रियाएँ एवं गुणोत्तर और समानान्तर श्रेणियों का विवेचन किया है। गणित शास्त्र की दृष्टि से यह टीका बहुत ही महत्वपूर्ण है।

९. ज्योतिष और निमित्त सम्बन्धी प्राचीन मान्यताओं का स्पष्ट विश्लेषण तथा रौद्र श्वेत, मैत्र, सारभट, दैत्य, वैरोचन, वैश्वदेव, अभिजित, रोहण, बल, विजय, नैऋत्य, वरुण, अर्यमन और भाग्य नामक पन्द्रह मुहूर्त्तों का उल्लेख वर्तमान है। इसके अतिरिक्त नक्षत्रों के नाम, गुण, स्वभाव, ऋतु, अयन, पक्ष आदि का विवेचन भी उपलब्ध है।

१०. सम्यक्त्व के स्वरूप का विशेष विवेचन किया है। सम्यक्त्वोन्मुख जीव के परिणामों की बढ़ती हुई विशुद्धि और उसके द्वारा शुभ प्रकृतियों का क्रमशः बन्ध विच्छेद, सत्त्वविच्छेद, उदय विच्छेद का विवेचन हुआ है। सम्यक्त्वोन्मुख होने पर बन्धयोग्य कर्म प्रकृतियों का निरूपण भी किया है।

११. नाम, निक्षेप और प्रमाण की परिभाषाएँ तथा दर्शन के सिद्धान्तों का विभिन्न दृष्टियों से निरूपण विद्यमान है।

१२. गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद आदि उपक्रम के दश भेदों का का विवेचन है।

१३. दया का विस्तृत विवेचन किया गया है।

१४. आक्षेपण, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी कथाओं का स्वरूप विश्लेषण किया है।

१५. भाषा और कुभाषाओं का विवेचन है।

१६. श्रुतज्ञान के पदों की संख्या निरूपण किया है।

१७. गुणस्थान और जीव समासों का विवेचन हुआ है।

१८. सांस्कृतिक तत्त्वों का प्राचुर्य है।

१९. विषयों की बहुलता एवं काव्यशास्त्रीय तर्क प्रधान शैली के कारण यह ग्रन्थराज एक विश्वकोष जैसा महान् है। इसमें लोक, समाज, धर्म, सिद्धान्त एवं दर्शन सम्बन्धी अनेक मान्यताओं का समावेश हुआ है।[1]

कसायपाहुड पर जयधवला टीका

आर्यमंक्षु और नागहस्ति ने कसायपाहुड का व्याख्यान किया तथा आचार्य यतिवृषभ ने इसपर चूर्णि सूत्रों की रचना की है। आचार्य वीरसेन ने जयधवला नाम की टीका लिखना आरम्भ किया था तथा बीस हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखने के अनन्तर ही उसका स्वर्गवास हो गया। फलतः उनके इस महान् कार्य को उनके योग्य शिष्य आचार्य जिनसेन ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण अवशेष टीका लिखकर ईस्वी सन् ८३७ में इसे पूर्ण किया। इस प्रकार 'जयधवला' टीका साठ हजार श्लोक प्रमाण है। इस टीका से अवगत होता है कि वीरसेन और जिनसेन इन दोनों आचार्यों के समक्ष आर्यमंक्षु और नागहस्ति आचार्यों के व्याख्यान पृथक्-पृथक् विद्यमान थे। उक्त दोनों आचार्यों ने

१. षट्खण्डागम का प्रकाशन धवला टीका सहित ही हुआ है। यह टीका भी सूत्रों के साथ १६ भागों में जैन साहित्य उद्धारकफण्ड अमरावती से प्रकाशित है। इसका सम्पादन डॉ० एच० एल० जैन ने किया है।

अनेक स्थलों पर आर्यमंक्षु और नागहस्ति के मतभेदों का निरूपण किया है। इस टीका की प्रमुख विशेषताए निम्नांकित हैं—

१. राग–द्वेष का विस्तृत विवेचन वर्तमान है।

२ प्रकृति बन्ध का अनेक दृष्टियों से विश्लेषण किया है।

३. मूलग्रन्थ के विषय के स्पष्टीकरण के साथ प्रसंगवश शंकासमाधान के रूप में कर्मसिद्धान्त का गहन एवं सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है।

४. अनुयोग द्वारों का वर्णन उच्चारणावृत्ति के अनुसार किया है। समुत्कीर्त्तना, सादि-अनादि-ध्रुव-अध्रुव, काल, अन्तर, भंगविचयानुगम, भागाभागानुगम, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व का विस्तृत विवेचन किया गया है।

५. सान्तरमार्गणाओं का विस्तृत विवेचन है।

६. मोहनीय की जघन्य स्थिति और अजघन्य स्थितिवाले जीवों का नियम से विवेचन तथा विविध भंगों द्वारा उत्कृष्ट स्थितिविभक्त का निरूपण किया है।

७. सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की स्थितियों का निरूपण हैं।

८. कृष्ण, नील, कापोत आदि विभिन्न लेश्यावाले जीवों की विभिन्न भंगस्थितियों का निरूपण हैं।

९. विभिन्न प्ररूपणाओं द्वारा जीवों की संख्या का विवेचन किया है।

१०. एक स्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक अनुभागों का विस्तारपूर्वक विवेचन है।

सिद्धान्त, कर्म और आचारात्मक शौरसेनी साहित्य

सिद्धान्त साहित्य में जैनधर्म के प्रमुख सिद्धान्त गुणस्थान और मार्गणा का निरूपण किया गया है। इस कोटि का साहित्य आत्मशोधन में सहायक होता है। लोक निरूपण एवं स्वर्ग, नरक और मध्य लोक की विभिन्न आकृतियों का निरूपण भी इस कोटि के साहित्य में सम्मिलित है। त्रिलोक सम्बन्धी मान्यताए एवं त्रिलोकव्यवस्था सम्बन्धी धारणाएँ भी इसी प्रकार के साहित्य में पायी जाती हैं।

कर्म साहित्य में कर्म के स्वरूप और उसके फल देने की प्रक्रिया का निरूपण रहता है। बताया गया हैं कि जीव का प्रत्येक कर्म अपना बुरा या अच्छा संस्कार छोड़ जाता है, यतः प्रत्येक कर्म या प्रवृत्ति के मूल में राग और द्वेष रहते हैं। यद्यपि प्रवृत्ति या कर्म क्षणिक होता है, पर उसका द्रव्य-भाव जन्य संस्कार फलकाल तक स्थायी रहता है। संस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से संस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आती है। इसीका नाम संसार हैं। संस्कार के अतिरिक्त कर्म एक वस्तुभूत पदार्थ है, जो रागी-द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ मिल जाता है। कर्मबन्ध का कारण कषाय और योग हैं। क्योंकि कर्म परमाणुओं को जीव तक लाने का काम जीव की योगशक्ति करतो है और उसके साथ बन्ध कराने का काम कषाय—राग-द्वेष रूप भाव करते हैं। यह कर्मबन्ध चार प्रकार का होता है—(१) प्रकृतिबन्ध, (२) प्रदेशबन्ध, (३) स्थितिबन्ध और (४) अनुभागबन्ध। बन्ध प्राप्त होनेवाले कर्म-परमाणुओं में अनेक प्रकार का स्वभाव पड़ना प्रकृति-बन्ध है। उनकी संख्या का नियत होना प्रदेशबन्ध है। काल की मर्यादा का पड़ना स्थितिबन्ध और फल देने की शक्ति का पड़ना अनुभाग बन्ध है। प्रकृति बन्ध के मूल प्रकृतिबन्ध और उत्तर प्रकृति बन्ध ये दो भेद हैं। मूल प्रकृतिबन्ध के आठ भेद और उत्तर प्रकृतिबन्ध के १४८ भेद हैं। इन १४८ प्रकृतियों के घातियाकर्म और अघातिया कर्म ये दो विभाग हैं। घातिकर्म की ४७ प्रकृतियों में से २५ देशघाती तथा शेष २१ सर्वघात हैं। घातिकर्म को पापकर्म और अघातिकर्म को पुण्यकर्म कहा जाता है। कर्मों की बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना ये दस अवस्थाएँ होती हैं, जो करण कहीं जाती है। कर्म सिद्धान्त में नाना दृष्टियों से कर्म का तात्विक विवेचन रहता है। यद्यपि सिद्धान्त साहित्य में कर्म साहित्य का अन्तर्भाव हो जाता है, पर विषय के व्यापक और साङ्गोपांग रहने से इस साहित्य को उप प्रकरण के रूप में अलग विवेचित करना अधिक उपयुक्त है।

शील या आचार विषयक साहित्य से अभिप्राय उस श्रेणि के साहित्य से है, जिसमें अहिंसा मूलक व्यवहार को बनाये रखने का उपदेश दिया गया है। अहिंसाधर्म की रक्षा के लिए सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप धर्म का पालन करना भी आवश्यक है। ये पाँच महाव्रत जैनाचार का मूल हैं। गृहस्थ या श्रावक इनके एक अंश या अंग का पालन करते हैं और मुनि या साधु सर्वांश का। यों तो मनुष्य जो कुछ सोचता, बोलता या करता है, वह सब उसका आचरण कहलाता है। उस आचरण का सुधार ही मनुष्य का उत्थान है और उसका बिगाड़ मनुष्य का पतन। मनुष्य प्रवृत्तिशील है और उसकी प्रवृत्ति के तीन द्वार हैं। मन, वचन एवं काय। जो व्यक्ति अपने इन तीनों द्वारों को नियन्त्रित रखता है, वह शील या सदाचार का पालन करता है। अतः आचारात्मक साहित्य में प्रवृत्ति को शुभ रखने पर तो जोर दिया ही जाता है, पर साथ ही प्रवृत्ति को नियन्त्रित कर निवृत्तिमूलक बनने पर भी जोर दिया गया है।

उपर्युक्त सिद्धान्त, कर्म और आचारमूलक साहित्य निर्माताओं का कालक्रमानुसार विवेचन किया जायगा।

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका साहित्य

प्राकृत भाषा के महान् विद्वान् और सिद्धान्त साहित्य के प्ररूपक के रूप में आचार्य कुन्दकुन्द का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। अध्यात्म साहित्य के मुख्य प्रणेता होने के कारण प्रत्येक मंगल कार्य के प्रारम्भ में "मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो" कहकर आपका स्मरण किया जाता है।

जीवन परिचय—आचार्य कुन्दकुन्द दक्षिण भारत के निवासी थे। आपके पिता का नाम करमण्डु और माता का नाम श्रीमती था। आपका जन्म 'कोण्डकुन्दरपुर' नामक स्थान में हुआ था। इस गाँव का दूसरा नाम 'कुरुमरई' भी कहा गया है। यह स्थान पिदथनाडु नामक जिले में है। कहा जाता है कि करमण्डु दम्पति को बहुत दिनों तक कोई सन्तान नहीं हुई। अनन्तर एक तपस्वी ऋषि को दान देने के प्रभाव से पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका आगे चलकर गाँव के नाम पर कुन्दकुन्द नाम प्रसिद्ध हुआ। बाल्यावस्था से ही कुन्दकुन्द अत्यन्त प्रतिभाशाली थे। अपनी विलक्षण स्मरणशक्ति और कुशाग्र बुद्धि के कारण अल्प समय में ही इन्होंने अनेक ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया। युवावस्था प्राप्त होते ही विरक्त हो श्रमणदीक्षा धारण कर ली।

कुन्दकुन्द का दीक्षाकालीन नाम पद्मनन्दि प्राप्त होता है। देवसेनाचार्य ने दर्शनसार में बताया है—

जइ पउमणंदि-णाहो सीमंधरसामि-दिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥ ४३ ॥

इस कथन की पुष्टि श्रवणबेलगोल के ४० नं० शिलालेख से भी होती है।

कुन्दकुन्द महान् तपस्वी और ऋद्धि प्राप्त थे। किंवदन्तियों से पता चलता है कि इसके जीवन में कई महत्त्वपूर्ण घटनायें घटित हुई थीं। कुछ घटनायें निम्न प्रकार हैं—

(१) विदेह क्षेत्र में सीमन्धर स्वामी के समवशरण में जाना और वहाँ से आध्यात्मिक सिद्धान्त का अध्ययन कर लौटना।

(२) ५९४ साधुओं के संघ को लेकर गिरनार की यात्रा करना और वहाँ श्वेताम्बर संघ के साथ वाद-विवाद का होना।

(३) विदेह क्षेत्र जाते समय पिच्छिका मार्ग में गिर पड़ी, अतः गृध्र पक्षी के पंखों की पिच्छि धारण करने से गृद्धपिच्छाचार्य के नाम से प्रसिद्ध होना।[1]

(४) अध्ययन अधिक करने से गर्दन झुकजाने के कारण वक्रग्रीव नाम से प्रसिद्ध होना।[2]

कुन्दकुन्द मूलसंघ के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। कुन्दकुन्दान्वय का सम्बन्ध भी इन्हीं से कहा गया है। वस्तुतः कोण्डकुन्दतुर से निकले मुनिवंश को कुन्दकुन्दान्वय कहा गया हैं। शिललिखों से कुन्दकुन्दान्वय का अस्तित्व ई० सन् ७वीं शती से ही प्राप्त होने लगता है। मूलसंघ की सत्ता ई० ४–५ में शती में ही प्राप्त होती है। अतएव स्पष्ट हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द का कर्णाटक प्रान्त के साधुओं पर बहुत बड़ा प्रभाव था।

समय निर्धारण—तिथि के सम्बन्ध में निम्नलिखित मत प्रचलित हैं। डा० ए० एन० उपाध्ये ने अपनी प्रवचनसार की प्रस्तावना में इन मतों पर विचार कर निष्कर्ष निकला है। विचार-विनिमय की दृष्टि से इन मतों पर ऊहा-पोह कर लेना अनुचित न होगा।

(१) परम्परा प्राप्त
(२) श्री पं० नाथूराम प्रेमी का अभिमत
(३) डा० पाठक का अभिमत
(४) प्रो० चक्रवर्ती का अभिमत
(५) आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार का अभिमत
(६) डा० ए० एन० उपाध्ये का अभिमत

१–२ पट्टावली में बताया है—

तत ऽभवत्पंचसुनामधामा श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती।
आचार्यकुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृध्र-पिच्छः पदमनन्दीति तन्यते॥

नन्दिसंघ गुर्वावलि

यह निश्चित है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता कुन्दकुन्द नहीं हैं। ऐसा मालूम होता है कि ये गृध्रपिच्छ कोई दूसरे हैं।

१. पट्टावलियाँ—पट्टावलियों—के आधार पर मान्य परम्पराओं में सबसे पुरानी परम्परा यह है कि कुन्दकुन्द ने ई० पू० ८ वर्ष में ३६ वर्ष की अवस्था में आचार्य पद प्राप्त किया। 'बोहपाहुड'[1] के अन्त की एक गाथा में इन्होंने अपने को श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य बताया है। दूसरी पट्टावली के अनुसार (हार्नले आदि द्वारा सूचित) ई० पू० ९२ में आचार्यपद प्राप्त करने का निर्देश हुआ है। तीसरी परम्परा (विद्वज्जन बोधक ग्रन्थ में उद्धृत एक श्लोक के अनुसार) कुन्दकुन्द को ई० सन् २४३ में उमास्वाति के समकालीन मानती है।

२. प्रेमीजी का अभिमत—प्रेमीजी ने इन्द्रनन्दी श्रुतावतार का उल्लेख करते हुए लिखा है कि महावीर निर्वाण ई० पू० ५२७ के पश्चात् ६८३ वर्षों में पाँच श्रुतकेवली, एकादश दशपूर्व के पाठक, पाँच एकादश अंगधारी हुए। अनन्तर चार आरातीय साधु, अर्हबली, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त-भूतबलि और उनके बाद कुन्दकुन्द हुए। इससे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द वीर निर्वाण ६८३ (ई० १५६ के बाद) के अनन्तर हुए हैं।

कुन्दकुन्द और श्वेताम्बरों का ऊर्जयन्त गिरि पर जो वाद-विवाद हुआ, उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर साम्प्रदायिक भेदों के उत्पन्न होने के पश्चात् ही कुन्दकुन्द का आविर्भाव हुआ होगा। देवसेन के दर्शनासार के अनुसार वि० सं० १४६ (७९ ई० सन्) में श्वेताम्बर-दिगम्बर का भेद हुआ है, अतः कुन्दकुन्द का समय ई० सन् १५६ के बाद ही होना चाहिए।

३. डॉ पाठक का मत—डॉ० पाठक ने ई० सन् ७९७ और ई० ८०२ के ताम्र-पत्र के अनुसार यह बतलाया है कि इस ताम्रपत्र में उल्लिखित प्रभाचन्द्र पुष्पनन्दि के शिष्य थे और पुष्पनन्दि कुन्दकुन्द की परम्परा के तोरणाचार्य के शिष्य थे अर्थात् ई० सन् ७९७ में प्रभाचन्द्र और उसके पूर्व लगभग १२० वर्ष में तोरणाचार्य हुए होंगे। इससे निष्कर्ष निकलता है कि ई० सन् ५२८ में कुन्दकुन्द हुए होंगे।

इस तथ्य की पुष्टि के लिए उन्होंने 'पञ्चास्तिकाय' ग्रन्थ की बालचन्द्र और जयचन्द्र की टीका में उल्लिखित शिवकुमार महाराज को उपस्थित किया। आचार्य ने शिव कुमार महाराज को उपदेश देने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की है। यह शिवकुमार सम्भवतः ई० सन् ५८८ में होनेवाला कदम्बवंशीय शिवमृग वर्मन से अभिन्न है। अतः डॉ० पाठक कुन्दकुन्द का समय ई० सन् ५८८ के लगभग मानते हैं।

---

१. सद्दवियारो हूओ भासा-सुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ ६१ ॥—बोहपाहुड

४. **चक्रवर्ती का मत**—इनके मतानुसार थिरुकुरल नामक तमिल ग्रन्थ के रचयिता एलाचार्य द्रविडदेशीय कुन्दकुन्द से अभिन्न हैं। इनका समय ईस्वी प्रथम सदी है। चक्रवर्त्ती जी ने अपने कथन के समर्थन में डॉ० पाठक के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि शिवकुमार कदम्बवंशीय शिवमृग वर्मन से अभिन्न है। अपितु यह शिवकुमार दक्षिणभारत के पल्लववंशीय शिवस्कन्दवर्मन ही है। यह राजा काञ्चीवरम् में ई० सन् प्रथम शती में है। इसने जैनधर्म को आश्रय भी दिया था। अतः कुन्दकुन्द का समय ई० प्रथम शताब्दी है।

५. **मुख्तार सा० का अभिमत**—श्री जुगलकिशोर मुख्तार सा० ने हॉर्नले आदि के द्वारा पट्टावलियों के आधार पर जो मत स्थिर किये, उनका निरसन करते हुए लिखा है कि परस्पर विरोधी होने के कारण वे सभी मत सदोष है। डॉ० पाठक का मत तो किसी भी प्रकार विश्वास करने के योग्य नहीं है। इस मत को मान लेने से सभी आचार्यों के समय निर्धारण में कठिनाई उपस्थित हो जायगी। चक्रवर्ती ने कुन्दकुन्द को एलाचार्य से अभिन्न माना है, पर मुख्तार सा० एलाचार्य को कुन्दकुन्द की परम्परा में पृथक् रूप से स्वीकार करते हैं। इन्होंने प्रेमीजी द्वारा निर्धारित काल (१५६ ई० के बाद) पर विशेषरूप में विचार किया है।

कुन्दकुन्द ने 'बोहपाहुड' में अपने को भद्रबाहु का शिष्य लिखा है। यह भद्रबाहु द्वितीय भद्रबाहु हैं, जिनका समय वीर निर्वाण सं० ५८९–६१२ के मध्य है। अतः स्पष्ट है कि 'कुन्दकुन्द' वीर निर्वाण सं० ६०८–६९२ के बीच अर्थात् ई० ८१–१६५ के बाद हुए हैं।

डा० उपाध्ये ने उपर्युक्त सभी विद्वानों के मतों का अलोडन कर निम्न निष्कर्ष उपस्थित किया है—

१. कुन्दकुन्द के पूर्व दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय बन गये थे। उनके ग्रन्थों में श्वेताम्बरों पर आक्षेप उपलब्ध हैं।

२. डा० उपाध्ये कुन्दकुन्द द्वारा उल्लिखित भद्रबाहु को प्रथम भद्रबाहु ही मानते हैं।

३. श्रुतावतार के आधार पर कुन्दकुन्दपुर के पद्मनन्दि ने कर्म और कषाय प्राभृत विषयक ज्ञान प्राप्त करके षट्खण्डागम के आधे भाग पर टीका लिखी। यह पद्मनन्दि कुन्दकुन्द से अभिन्न हैं, क्योंकि कुन्दकुन्द के पूर्व के साहित्य में इनका उल्लेख नहीं है।

षड्खण्डागम की परिकर्म नामक टीका, जिसके कर्त्ता कुन्दकुन्द माने जाते हैं, कुन्दकुन्द के शिष्य कुन्दकीर्त्ति द्वारा लिखत होगी। विबुध श्रीधर ने भी ऐसा कहा है।

जयसेन और बालचन्द टीका के अनुसार कुन्दकुन्द किसी शिवकुमार महाराज के समकालीन थे, इस बात को डा० उपाध्ये स्वीकार नहीं करते। यतः कुन्दकुन्द ने न तो स्वयं ही इस व्यक्ति का उल्लेख किया है और न टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि ने ही।

शिवकुमार के व्यक्तित्व का आभास प्रवचनसार की टीका के आरम्भ में प्राप्त होता है। अतः शिवकुमार की घटना को यदि ऐतिहासिक मान भी लिया जाय तो यह शिवकुमार कदम्बवंशीय न होकर पल्लववंशीय रहा होगा।

तमिल कुरलकाव्य का रचयिता कुन्दकुन्द को तभी माना जा सकता है, जब कुन्द-कुन्द का दूसरा नाम एलाचार्य मान लिया जाय। यद्यपि नन्दिसंघ की गुर्वावलि में कुन्द-कुन्द के पाँच नामों का उल्लेख पाया जाता है तथा इन नामों में एलाचार्य भी एक नाम हैं, तो भी सुदृढ़ प्रमाण के अभाव में उक्त निष्कर्ष के स्वीकार करने में हिचक होती है।

अतएव उपर्युक्त प्रमाणों के प्रकाश में कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष निकलता है कि परम्परानुसार ई० पू० प्रथम शती के उत्तरार्ध और ई० सन् की प्रथम शती के पूर्वार्ध के कुन्दकुन्द हुए होंगे। यदि षट्खण्डागम की समाप्ति कुन्दकुन्द के पूर्व मान ली जाय तो उनका समय ई० सन् दूसरी शती है। कुन्दकुन्द का पल्लव नरेश शिवस्कन्द के समकालीन होना और कुरलकाव्य के रचयिता के रूप में स्वीकार करना उन्हें ई० सन् की द्वितीय शती का निश्चित करता है।

डा० उपाध्ये ने अन्तिम निष्कर्ष निकालते हुए लिखा है कि कुन्दकुन्द का समय ई० सन् का प्रारम्भ है। परम्परा के अनुसार भी ई० पू० ८ से ई० सन् ४४ तक कुन्दकुन्द का समय माना जाता है। अतएव ई० सन् की द्वितीय शती के अनन्तर कुन्दकुन्द का काल कभी नहीं माना जा सकता है[1]।

कुन्दकुन्द की रचनाएँ—प्राकृत साहित्य के रचयिताओं में कुन्दकुन्द आचार्य का मूर्धन्य स्थान है। इनकी सभी रचनाएँ शौरसेनी प्राकृत में हैं (१) प्रवचनसार, (२) समयसार (३) पञ्चास्तिकाय ये तीन ग्रन्थ विशाल हैं और जैनधर्म के तत्त्वज्ञान को समझने में कुञ्जी हैं। क्षेष रचनाओं का भी अध्यात्म विषय की दृष्टि से महत्त्व है।

प्रवचनसार—यह ग्रन्थ अमृतचन्द्र सूरि और जयसेनाचार्य की संस्कृत टीकाओं सहित रायचन्द्र जैन शास्त्र माला बम्बई से प्रकाशित है। इसमें तीन अधिकार हैं ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र। ज्ञानाधिकार में आत्मा और ज्ञान का एकत्व और अन्यत्व, सर्वज्ञ की सिद्धि, इन्द्रिय और अतीन्द्रिय सुख, शुभ, अशुभ और शुद्धोपयोग तथा मोहक्षय आदि का प्ररूपण है। ज्ञेयाधिकार में द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप, सप्तभंगी, ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप मूर्त और अमूर्त द्रव्यों के गुण; कालादि के गुण और पर्याय; प्राण, शुभ और अशुभ उपयोग; जीव का लक्षण, जीव और पुद्गल का सम्बन्ध; निश्चय और व्यवहार का अवरोध और शुद्धात्मा आदि का प्रतिपादन है। चारित्र अधिकार में श्रामण्य के चिह्न, छेदोपस्थापक श्रमण, छेद का स्वरूप, युक्त आहार, उत्सर्ग और अपवाद मार्ग, आगम ज्ञान का लक्षण, मोक्षतत्त्व आदि का कथन किया है।

---

१. प्रवचनसार, परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई, १९३५ई०, प्रस्तावना, पृ० १०-२५

अमृतचन्द्र आचार्य की टीका के अनुसार इसकी गाथा संख्या २७५ हैं और जयसेन की टीका के अनुसार ३१७ है। ये बढ़ी हुई गाथाएँ निम्न तीन वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं :—

(१) नमस्कारात्मक।
(२) व्याख्यान विस्तार विषयक।
(३) अपर विषय विज्ञापनात्मक।

प्रथम दो विषयों की गाथाएँ इस प्रकार की तटस्थ हैं, जिनका अभाव खटकता नहीं है। उनके रहने पर भी प्रवचनसार के विषय में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती। तृतीय विभाग की १४ गाथाएँ विचारणीय हैं। ये गाथाएँ निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए वस्त्र, पात्रादि का तथा स्त्रियों के लिए मुक्ति का निषेध करती हैं। इन गाथाओं के विषय यद्यपि कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों के विपरीत नहीं हैं, पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विरुद्ध अवश्य हैं। अतः अमृतचन्द्राचार्य के द्वारा इनके छोड़े जाने के सम्बन्ध में डा० उपाध्ये का कथन है "अमृतचन्द्र इतने आध्यात्मिक व्यक्ति थे कि वे साम्प्रदायिक वाद-विवाद में पड़ना नहीं चाहते थे, अतः इस बात की इच्छा रखते थे कि उनकी टीका संक्षिप्त एवं तीक्ष्ण साम्प्रदायिक आक्रमणों का लोप करती हुई कुन्दकुन्द के अति उदात्त उद्‌गारों के साथ सभी सम्प्रदायों को स्वीकृत हो।

पर डा० उपाध्ये का उक्त कथन हमें पूर्णतया उचित नहीं जँचता है। क्योंकि अमृतचन्द्र ने तत्वार्थसूत्र के पद्यवार्त्तिक में लिखा है—

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रसाहारी च केवली।
रुचिरेवं विधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम् ॥—५-६

अतः इसका कारण हमारी दृष्टि से कुछ और होना चाहिए।

२. समयसार[१]—यह सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक ग्रन्थ है। समय शब्द के दो अर्थ हैं—समस्त पदार्थ और आत्मा। जिस ग्रन्थ में समस्त पदार्थों अथवा आत्मा का सार वर्णित हो, वह समयसार है। यह भेद विज्ञान का निरूपण करता है। अनेक पदार्थों को स्व-स्व लक्षणों से पृथक्-पृथक् नियत कर देना और उनमें से उपादेय पदार्थ को लक्षित और उससे अन्य समस्त पदार्थों को उपेक्षित कर देने को भेद-विज्ञान कहा जाता है। यह ग्रन्थ दस अधिकारों में विभक्त है—

प्रथम जीवाजीवाधिकार में स्वसमय, परसमय, शुद्धनय, आत्मभावना और सम्यक्त्व का प्ररूपण है। जीव को काम, भोग विषयक बन्ध कथा ही सुलभ है किन्तु आत्मा का

१; इस ग्रन्थ के कई संस्करण उपलब्ध हैं, अंग्रेजी टीका सहित—भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित है।

एकत्व दुर्लभ है। एकत्व विभक्त आत्मा को निजानुभूति द्वारा ही जाना जाता है। जीव प्रमत्त-अप्रमत्त दोनों दशाओं से पृथक् ज्ञायक भाव मात्र है। ज्ञानी के दर्शन-ज्ञान-चरित्र व्यवहार से कहे जाते हैं, निश्चय से नहीं। निश्चय से ज्ञानी एक शुद्ध ज्ञायक मात्र ही है। इस अधिकार में व्यवहार नय को अभूतार्थ और निश्चय को भूतार्थ कहा है। दूसरे कर्तृकर्माधिकार में आस्रव बन्ध आदि की पर्यायाओं का विवेचन किया गया है। आत्मा के मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीन परिणाम अनादि है जब इन तीन प्रकार के परिणाम का कर्तृत्व होता है, तब पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणमन करता है। पर-द्रव्य के भाव का जीव कभी भी कर्त्ता नहीं है। तीसरे पुण्यपाप अधिकार में शुभाशुभ कर्म के स्वभाव वर्णित हैं। अज्ञानपूर्वक किये गये व्रत, नियम, शील और तप मोक्ष का कारण नहीं हैं। जीवादि पदार्थों का श्रद्धान, उनका अधिगम और रागादि भाव का त्याग मोक्ष का मार्ग बतलाया है। चौथे आस्रवाधिकार में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद योग और कषाय आस्रव के कारण हैं। वस्तुतः राग-द्वेष-मोहरूप परिणाम ही आस्रव हैं। ज्ञानी के आस्रव का अभाव रहता है, यतः राग-द्वेष-मोहरूप परिणाम के उत्पन्न न होने से आस्रव प्रत्ययों का अभाव कहा जाता है। पाँचवें संवर अधिकार में संवर का मूल भेद-विज्ञान बताया है। इस अधिकार में संवर के क्रम का भी वर्णन है। छठवें निर्जराधिकार में द्रव्य-भाव रूप निर्जरा का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। ज्ञानी व्यक्ति कर्मों के बीच रहने पर भी कर्मों से लिप्त नहीं होता है, पर अज्ञानी कर्मरज से लिप्त रहता है। सातवें बन्धाधिकार में बन्ध के कारण रागदि का विवेचन किया है। आठवें मोक्षाधिकार में मोक्ष का स्वरूप और नवे सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में आत्मा का विशुद्ध ज्ञान की दृष्टि से अकर्तृत्व आदि सिद्ध किया है। अन्तिम दसवें अधिकार में स्याद्वाद की दृष्टि से आत्म स्वरूप का विवेचन किया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र के टीकानुसार ४१५ गाथाएँ और जयसेनाचार्य की टीका के अनुसार ४३९ गाथायें हैं। शुद्ध आत्मा का इतना सुन्दर और व्यवस्थित विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। इस ग्रन्थ की तुलना उपनिषद् साहित्य से की जा सकती है।

३. **पञ्चास्तिकाय**[१]—इस ग्रन्थ में कालद्रव्य से भिन्न जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच अस्तिकायों का निरूपण किया गया है। बहुप्रदेशी द्रव्य को आचार्य ने अस्तिकाय कहा है। द्रव्य लक्षण, द्रव्य के भेद, सप्तभंगी, गुण, पर्याय, कालद्रव्य एवं सत्ता का बहुत सुन्दर प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ दो अधिकारों में विभक्त है। प्रथम अधिकार में द्रव्य, गुण और पर्यायों का विवेचन है और द्वितीय

---

१. इसके कई संस्करण प्रकाशित हैं, अंग्रेजी टीका के साथ आरा जैन पब्लिसिंग हाउस का संस्करण प्रसिद्ध है।

अधिकार में पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष इन सात पदार्थों के साथ मोक्षमार्ग का निरूपण किया है।

इसमें अमृतचन्द्राचार्य की टीका के अनुसार १७३ गाथायें और जयसेनाचार्य के अनुसार १८१ गाथायें हैं। द्रव्य के स्वरूप को अवगत करने के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

४. नियमसार—आध्यात्मिक दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। इसमें सम्यग्दर्शन, साम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को नियम—मोक्ष प्राप्ति का मार्ग कहा है। अतएव सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप कथन करते हुए उसके अनुष्ठान करने एवं मिथ्यादर्शनादि के त्याग का विधान किया है। इस पर पद्मप्रभ मलधारि देव की संस्कृत टीका भी उपलब्ध है।

५. बारस अणुवेक्खा—(द्वादशानुप्रेक्षा)—इसमें अध्रुव, अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, नि॰रा, धर्म और बोधि दुर्लभ इन बारह भावनाओं का ९१ गाथाओं में वर्णन है।

६. दंसणपाहुड—इसमें धर्म के मूल सम्यग्दर्शन का २६ गाथाओं में विवेचन किया गया है। साम्यग्दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति को निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता है।

७. चारित्तपाहुड—सम्यक् चरित्र का निरूपण ४४ गाथाओं में किया गया है। सम्यक् चरित्र के दो भेद किये हैं—सम्यक्त्वचरण और संयमचरण। संयमचरण के सागार और अनगार, इन दो भेदों द्वारा श्रावक और मुनिधर्म का संक्षेप में निर्देश किया है।

८. सुत्तपाहुड—२७ गाथाओं में आगम का महत्त्व बतलाते हुए उसके अनुसार चलने की शिक्षा दी गयी है।

९. बोहपाहुड—६२ गाथायें हैं। इनमें आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, आत्मज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हन्त और प्रव्रज्या इन ग्यारह बातों का बोध दिया गया है।

१०. भावपाहुड—१६३ गाथाओं में चित्तशुद्धि की महत्ता का वर्णन किया है। बताया है कि परिणाम शुद्धि के बिना संसार-परिभ्रमण नहीं रुक सकता है और न विना भाव के कोई पुरुषार्थ ही सिद्ध होता है इसमें कर्म की अनेक महत्वपूर्ण बातों का विवेचन हैं।

११. मोक्खपाहुड—इस ग्रन्थ में १०६ गाथाओं में मोक्ष के स्वरूप का निरूपण किया गया है। आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीनों भेदों का स्वरूप समझाया है। मोक्ष—परमात्मपद की प्राप्ति किस प्रकार होती है, इसका निर्देश किया है।

१२. लिंगपाहुड—२२ गाथाएँ हैं। श्रमणलिङ्ग को लक्ष्य कर मुनिधर्म का निरूपण किया गया है।

१३. सीलपाहुड—४ गाथाएँ हैं। शील ही विषयासक्ति को दूर को मोक्ष प्राप्ति में सहायक होता है। जीवदया, इन्द्रियदमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और तप को शील के अन्तर्गत परिगणित किया है।

१४. रयणसार—इस ग्रन्थ में रत्नत्रय का विवेचन है। १६७ पद्य हैं और किसी किसी प्रति में १५५ पद्य भी मिलते हैं। गृहस्थ और मुनियों को रत्नत्रय का पालन किस प्रकार करना चाहिए, यह इसमें वर्णित है। डा० ए० एन० उपाध्ये इस ग्रन्थ को गाथाविभेद, विचार पुनरावृत्ति, अपभ्रंश पद्यों की उपलब्धि एवं गण-गच्छादि के उल्लेख मिलने से कुन्दकुन्द के होने में आशंका प्रकट करते हैं। वस्तुतः हमें भी यह रचना कुन्दकुन्द की प्रतीत नहीं होती है।

१५. सिद्ध-भक्ति—१२ गाथाओं में सिद्धों के गुण, भेद, सुख, स्थान, आकृति और सिद्धि मार्ग का निरूपण किया गया है।

१६. श्रुत-भक्ति—११ गाथाएँ हैं और श्रुतज्ञान का स्वरूप स्तुतिरूप में वर्णित है।

१७. चारित्र-भक्ति—१० अनुष्टुप छन्द हैं। पाँच चारित्रों का वर्णन है।

१८. योग-भक्ति – २३ गाथाओं में योगियों की अनेक अवस्थाओं का वर्णन है।

१९. आचार्य-भक्ति– १० गाथाओं में आचार्य के गुणों का निरूपण है।

२०. निर्वाण-भक्ति—२७ गाथाओं में निर्वाण का स्वरूप, निर्वाण प्राप्त तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है।

२१. पंचगुरुभक्ति—७ पद्यों में पञ्चपरमेष्ठी की स्तुति की गयी है।

२२. कोस्सामि थुदि—८ गाथाओं मे तीर्थंकरों की नामोल्लेखपूर्वक स्तुति वर्णित है।

निस्सन्देह प्राकृत आगम ग्रन्थों के रचयिताओं में कुन्दकुन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

यतिवृषभ और उनका साहित्य

करणानुयोग सम्बन्धी साहित्य निर्माताओं में आचार्य यतिवृषभ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में कषाय प्राभृत नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध के चूर्णि सूत्रों का इन्हें कर्त्ता बताया है। लिखा है कि[1] गुणधर आचार्य ने कषाय प्राभृत का जिन

---

१. पार्श्वे तयोरप्यधीत्य सूत्राणि तानि यतिवृषभः।
यतिवृषभ नामधेयो बभूव शास्त्रार्थनिपुणमतिः॥
तेन ततो यतिपतिना तद्गाथा वृत्तिसूत्ररूपेण।
रचितानि षट्सहस्रग्रन्थान्यथ चूर्णि सूत्राणि॥ श्रुतावतार श्लो० १५५-५६

नागहस्ति और आर्यमंक्षु मुनियों के लिए व्याख्यान किया था, उन दोनों के पास यतिवृषभ नामक श्रेष्ठ यति ने उसे पढ़ा और उस पर छह हजार श्लोक परिमाण चूर्णिसूत्र रचे। जयधवला टीका में "सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देउ।" कहकर इन्हें आर्यमंक्षु और नागहस्ति का शिष्य कहा है।

यतिवृषभ का समय श्री पं० नाथूराम प्रेमी ने अनेक प्रमाणों के आधार पर शक संवत् ३९५ माना है और तिलोय पण्णत्ति का रचनाकाल शक संवत् ४०५ (वि० सं० ५४०) लगभग माना है। श्री पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने यतिवृषभ और कुन्दकुन्द के समय की आलोचना करते हुए कुन्दकुन्द को यतिवृषभ से पूर्ववर्त्ती सिद्ध किया है। आर्यमंक्षु और नागहस्ति के समय पर विचार करते हुए श्वेताम्बर परम्परानुसार उन दोनों के समय में पर्याप्त अन्तर सिद्ध किया है।

यतिवृषभ की रचनाओं में चूर्णि सूत्रों के अतिरिक्त तिलोयपण्णत्ति[1] नामक ग्रन्थ उपलब्ध है। ग्रन्थ के अन्तिम भाग में बताया गया है कि—"अट्ठसहस्सपमाणं तिलोयपण्णत्तिणामाए" अर्थात् आठ हजार श्लोक प्रमाण में इस ग्रन्थ की रचना की गयी है।

तिलोयपण्णत्ति में तीन लोक के स्वरूप, आकार, प्रकार, विस्तार, क्षेत्रफल और युगपरिवर्तनादि विषय का निरूपण किया है। प्रसंगवश जैनसिद्धान्त, पुराण और भारतीय इतिहास विषयक सामग्री भी निरूपित है। यह ग्रन्थ नौ महा-अधिकारों में विभक्त है— (१) सामान्य जगत्स्वरूप (२) नारकलोक (३) भवनवासिलोक (४) मनुष्यलोक (६) व्यन्तरलोक (७) ज्योतिर्लोक (८) सुरलोक और (९) सिद्धलोक। अवान्तर अधिकारों की संख्या १८० है। द्वितीयादि महाधिकारों के अवान्तर अधिकार क्रमशः १५, २४, १६, १६, १७, १७, २१, ५ और १३१ हैं। चतुर्थ महाधिकार के जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड द्वीप और पुष्कर द्वीप नामके अवान्तर अधिकारों के पुनः सोलह-सोलह अवान्तर अधिकार हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ में विषय का बहुत ही विस्तृत रूप में निरूपण किया गया है।

इस ग्रन्थ में भूगोल और खगोल का विस्तृत निरूपण है। प्रथम महाधिकार में २८३ गाथाएँ हैं और तीन गद्य भाग हैं। इस अधिकार में अठारह प्रकार की महाभाषाएँ और सात सौ प्रकार की क्षुद्र भाषाएँ उल्लिखित हैं। राजगृह के विपुल, ऋषिशैल, वैभार, छिन्न और पाण्डु नाम के पाँच शैलों का उल्लेख है। दृष्टिवाद सूत्र के आधार पर त्रिलोक की मोटाई, चौड़ाई और ऊँचाई का निरूपण किया है। दूसरे महाधिकार में ३६७ गाथाएँ हैं, जिनमें नरक लोक के स्वरूप का वर्णन है। तीसरे महाधिकार में

१. डॉ० ए० एन० उपाध्ये और डॉ० हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुर से सन् १९४३ और सन् १९५१ में दो भागों में प्रकाशित है।

२४३ गाथायें है। इनमें भवनवासी देवों के प्रासादों में जन्मशाला, अभिषेकशाला, भूषणशाला, मैथुनशाला, ओलग्गशाला—परिचर्या गृह और मन्त्रशाला आदि शालाओं तथा सामान्यगृह, गर्भगृह, कदलीगृह, चित्रगृह, आसनगृह, नादगृह एवं लतागृह आदि का वर्णन है। अश्वस्थ, सप्तपर्ण, शाल्मलि, जंबू, वेतस, कदम्ब, प्रियंगु, शिरीष, पलाश और राजद्रुम नाम के दस चैत्यवृक्षों का उल्लेख है। चौथे महाधिकार में २९६१ गाथायें हैं। इसमें मनुष्य लोक का वर्णन करते हुए विजयार्ध के उत्तर और दक्षिण अवस्थित नगरियों का उल्लेख है। आठ मंगलद्रव्यों में भृंगार, कलश, दर्पण, व्यञ्जन, ध्वजा, छत्र, चमर और सुप्रतिष्ठ के नाम आये हैं। भोगभूमि में स्थित दस कल्पवृक्ष, नर-नारियों के आभूषण, तीर्थंकरों की जन्मभूमि, नक्षत्र आदि का निर्देश किया गया हैं। बताया गया है कि नेमि, मल्लि, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ कुमारवस्था में और शेष तीर्थंकर राज्य के अन्त में दीक्षित हुए हैं। समवशरण का ३० अधिकारों में विस्तृत वर्णन है। पाँचवें महाधिकार में ३२१ गाथायें हैं, इसमें गद्यभाग भी है। इसमें जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदसमुद्र, पुष्करवर द्वीप आदि का विस्तार सहित वर्णन है। छठवें महाधिकार में १०३ गाथायें हैं, जिनमें १७ अन्तराधिकारों द्वारा व्यन्तरदेवों के निवास क्षेत्र, उनके भेद, चिह्न, उत्सेध, अवधिज्ञान आदि का वर्णन है। सातवें महाधिकार में ६१९ गाथायें हैं, जिनमें ज्योतिषी देवों का वर्णन है। आठवें महाधिकार में ७०३ गाथायें हैं, जिनमें वैमानिक देवों का विस्तृत कथन है। नौवें महाधिकार में सिद्धों के क्षेत्र, उनकी संख्या, अवगाहना और सुख का प्ररूपण है। जहाँ-तहाँ सूक्तियाँ भी पायी जाती हैं—

अन्धो णिवडइ कूवे बहिरोण सुणेदि साधु उवदेसं।
पेच्छंतो णिसुणंतो णिरए जं पडइ तं चोज्जं॥

अन्ध कूप में गिर जाता है और बहरा साधु का उपदेश नहीं सुनता है, यह आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य इस बात का है कि जीव देखता और सुनता हुआ नरक में जा पड़ता है।

श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य उपलब्ध तिलोयपण्णत्ति को यतिवृषभ की प्राचीन कृति नहीं मानते हैं, उन्होंने जैन सिद्धान्त भास्कर के ११वें भाग की पहली किरण में एक निबन्ध लिखा है, जिसमें तिलोयपण्णत्ति को वि० सं० ८७३ के अनन्तर की रचना माना है और उसके कर्त्ता भी यतिवृषभ को नहीं स्वीकार किया है। श्री पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने उक्त पंडित जी के प्रमाणों पर पर्याप्त ऊहा-पोह कर यह निष्कर्ष निकाला है कि तिलोयपण्णत्ति प्राचीन रचना ही है। ग्रन्थ के ज्योतिष और गणित सम्बन्धी सूत्रों से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे प्राचीन परम्परा प्राप्त हैं, उनका अस्तित्व ई० सन् को

प्रथम शताब्दी में भी वर्तमान था। अतः हम भी पंडित जी के उस विचार से सहमत नहीं हैं। वस्तुतः यह ग्रन्थ विक्रम संवत् ५वीं शती से पूर्व ही रचा गया है।

बट्टकेर और उनका साहित्य

आचार्य बट्टकेर के गण और गच्छ के सम्बन्ध में निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है। पर इतना सत्य है कि ये प्राचीन आचार्य हैं। श्री पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने लिखा है कि "वट्टक का अर्थ वर्तक-प्रवर्तक है, 'इर' गिरा वाणी सरस्वती को कहते हैं, जिसकी वाणी प्रवर्त्तिका हो—जनता को सदाचार एवं सन्मार्ग में लगाने वाली हो—उसे 'वट्टकेर' समझना चाहिए। दूसरे, वट्टकों-प्रवर्तकों में जो इरि-गिरि-प्रधान-प्रतिष्ठित हो अथवा ईरि समर्थ शक्तिशाली हो, उसे वट्टकेरि जानना चाहिए। तीसरे वट्ट नाम वर्तन-आचरण का है और 'ईरक' प्रेरक तथा प्रवर्तक को कहते हैं, सदाचार में जो प्रवृत्ति करने वाला हो, उसका नाम वट्टकेर हैं।"[1] इस प्रकार मुख्तार साहब ने वट्टकेर का अर्थ प्रवर्तक, प्रधान पद प्रतिष्ठित अथवा श्रेष्ठ आचारनिष्ठ किया है और इसे कुन्दकुन्दाचार्य का विशेषण बताया हैं। अतः इनके मत से कुन्दकुन्द ही वट्टकेर हैं।

श्री पं० नाथूराम प्रेमी ने दक्षिण भारत में वेट्टगेरि या वेट्टकेरी नाम के ग्राम तथा स्थानों के पाये जाने से मूलाचार के कर्त्ता को वेट्टगेरि या वेट्टकेरी ग्राम का रहनेवाला बताया है। जिस प्रकार कोण्डकुन्द के रहनेवाले होने से कुन्दकुन्द नाम प्रसिद्ध हुआ, उसी प्रकार वेट्टकेरि के रहनेवाले होने से मूलाचार के कर्त्ता भी 'वट्टकेर' कहलाये।[2]

इसमें सन्देह नहीं कि वट्टकेर एक स्वतन्त्र आचार्य हैं और ये कुन्दकुन्दाचार्य से भिन्न हैं। विषय निरूपण कुन्दकुन्द के अनुसार होने पर भी भाषा की दृष्टि से मूलाचार में कई भिन्नताएँ हैं। अतः मूलाचार कुन्दकुन्द की रचना नहीं है। वट्टकेर का समय अनुमानतः कुन्दकुन्द के पश्चात् मानना उचित है।

मूलाचार में मुनियों के आचार का निरूपण है। इसकी अनेक गाथायें आवश्यक निर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, भत्तपइण्णा और मरण समाही आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों में मिलती है।[3]

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, पृ० १००।

२. जैनसिद्धान्त भास्कर भाग १२ किरण १ पृ० ३८-३९।

३. विशेष के लिए देखें—डॉ० ए० एम० घाटगे का दशवैकालिक निर्युक्ति, लेख—सन् १९३५ की इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली। इसमें मूलाचार की तुलना दशवैकालिक निर्युक्ति के साथ की गयी है।

इस ग्रन्थ में १२ अधिकार और १२५२ गाथाएँ हैं। पहले मूलगुणाधिकार में पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक, केशलुञ्च, अचेलकत्व, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्त-धावन, स्थिति-भोजन और एकबार भोजन इस प्रकार २८ मूल गुणों का निरूपण किया है। बृहत्प्रत्याख्यान संस्तव अधिकार में क्षपक को समस्त पापों का त्याग कर मृत्यु के समय में दर्शनाराधना आदि चार आराधनाओं में स्थिर रहने और क्षुधादि परीषहों को जीतकर निष्कषाय होने का कथन किया है। संक्षेप में प्रत्याख्यानाधिकार में सिंह, व्याघ्र आदि के द्वारा आकस्मिक मृत्यु उपस्थित होने पर कषाय और आहार का त्याग कर समताभाव धारण करने का निर्देश किया है। सम्यक् आचाराधिकार में दस प्रकार के आचारों का वर्णन है। आर्यिकाओं के लिए भी विशेष नियम वर्णित हैं। पंचाचाराधिकार में दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि पाँच आचार और उसके भेदों का विस्तार सहित वर्णन है। लोकादि मूढ़ताओं में प्रसिद्ध होनेवालों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। स्वाध्याय सम्बन्धी नियमों में आगम और सूत्र ग्रन्थों के स्वरूप भी बतलाये गये हैं। पिण्डशुद्धि अधिकार में मुनियों के आहार सम्बन्धी नियमों का विवेचन है। षडावश्यक अधिकार में सामायिक आदि छह आवश्यकों का नाम आदि निक्षेपों द्वारा प्ररूपण किया है। कृति कर्म और कायोत्सर्ग के दोषों का भी वर्णन है। अनगार भावनाधिकार में लिङ्ग, व्रत, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान, शरीर, संस्कार-त्याग, वाक्य, तप और ध्यान सम्बन्धी शुद्धियों का पालन करनेवाले ही मोक्ष प्राप्त करते हैं; का निर्देश हैं। समयसाराधिकार में शास्त्र के सार का प्रतिपादन करते हुए चारित्र को सर्वश्रेष्ठ कहा है। द्वादश अनुप्रेक्षा अधिकार में अनित्य, अशरण आदि द्वादश भावनाओं का स्वरूप वर्णित है। पर्याप्ति अधिकार में छह पर्याप्तियों का निरूपण है। पर्याप्ति के संज्ञा, लक्षण, स्वामित्व, संख्यापरिमाण, निर्वृत्ति और स्थितिकाल से छह भेद किये हैं। शील गुण नामक अधिकार में शील के अठारह हजार भेदों का निरूपण किया है।

यह ग्रन्थ आगम विषय को समझने और विशेषतः मुनियों के आचार को जानने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। भाषा और विषय दोनों ही प्राचीन हैं।

शिवार्य और उनकी भगवती आराधना

भगवती आराधना एक प्राचीन ग्रन्थ है। इसके रचयिता आचार्य शिवार्य हैं। ग्रन्थ के अन्त[1] में आयी हुई प्रशस्ति से अवगत होता है कि आर्य जिननन्दि गणि, आर्य सर्वगुप्त

---

१. अज्जजिणणंदिगणि अज्जमित्तणंदीणं।
अवगमियपायमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥ २१६१ ॥
पुव्वायरियणिबद्धा उपजीवित्ता इमा ससत्तीए।
आराहणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥ २१६२ ॥

गणि और आर्य मित्रनन्दि गणि के चरणों में अच्छी तरह सूत्र और उनका अर्थ समझ कर तथा पूर्वाचार्यों की रचना को उपजीव्य बनाकर 'पाणितल भोजी' शिवार्य ने इस ग्रन्थ की रचना की।

प्रशस्ति में जिन तीन गुरुओं का नाम आया है, उनके पूर्व आर्य विशेषण है। इससे ज्ञात होता है कि इनके नाम में भी आर्य शब्द विशेषण ही है। इसी कारण श्री प्रेमी जी ने अनुमान किया था कि आर्य शिवनन्दि, शिवगुप्त, शिवकोटि या ऐसा ही कुछ नाम रहा होगा, जो संक्षेप में शिव हो गया है।

शिवकोटि का पुरातन उल्लेख जिनसेन के आदिपुराण में पाया जाता है। राजाबलि कथे एवं आराधना कथाकोष में समन्तभद्र के शिष्य शिवकोटि का उल्लेख मिलता है; पर आदिपुराण के उल्लेख के आधार पर उन्हें समन्तभद्र का शिष्य नहीं माना जा सकता हैं। कवि हस्तिमल्ल ने विक्रान्त कौरव में समन्तभद्र के शिवकोटि और शिवायन दो शिष्य बतलाये हैं और उन्हीं के अन्वय में वीरसेन, जिनसेन को बताया है। शिवार्य का समय विक्रम की तीसरी शती है। यह भी संभव कि कुन्दकुन्द के कुछ ही समय पश्चात् इनका जन्म हुआ हो। ये यापनीय संघ के आचार्य माने जाते हैं। पर यह अभी विचारणीय है।

इस ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चार आराधनाओं का निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ में २१६६ गाथाएँ और ४० अधिकार हैं। इस ग्रन्थ पर अपराजित सूरि की विजयोदया टीका, आशाधर की मूलाराधना दर्पण टीका, प्रभाचन्द्र की आराधना-पञ्जिका और शिवजिद् अरुण की भावार्थ दीपिका टीका उपलब्ध है। इससे इसकी लोकप्रियता जानी जा सकती है। इसकी कई गाथाएँ आवश्यक निर्युक्त, बृहत्कल्पभाष्य, भत्तपइण्णा, संथारग आदि श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों में भी पायी जाती हैं।

इस ग्रन्थ में १७ प्रकार के मरण बताये गये हैं इनमें पंडित—पंडित मरण, पंडित-पंडित मरण और बाल-पण्डित मरण को श्रेष्ठ कहा है। पंडित मरण में भक्त प्रतिज्ञामरण को प्रशस्त माना गया है। लिङ्गाधिकार में आचेलक्य, लोच, देह से ममत्व त्याग और प्रतिलेखन ने चार निर्ग्रन्थ लिङ्ग के चिह्न बताये हैं। अनियताधिकार में नाना देशों में विहार करने के गुणों के साथ अनेक रीतिरिवाज, भाषा और शास्त्र आदि की कुशलता प्राप्त करने का विधान है। भावनाधिकार में तपोभावना, श्रुतभावना, सत्य भावना, एकत्वभावना और धृतिबलभावना का प्ररूपण है। संल्लेखनाधिकार में संल्लेखना के साथ बाह्य और अन्तरंग तपों का वर्णन किया है। आर्यिकाओं को किस प्रकार संघ में रहना चाहिए, इसके लिए अनेक नियमों का प्रतिपादन किया गया है। मार्गणा अधिकार में आचार, जीत और कल्प का उल्लेख है। आचेलक्य का समर्थन किया है

और टीकाकार अपराजित सूरि ने आचरांग, सूत्रकृतांग, निशीथ, बृहत्कल्पसूत्र और उत्तराध्ययन के प्रमाण भी उपस्थित किये हैं। आभ्यन्तर शुद्धि पर पूरा जोर दिया है। बताया है—

घोडयलद्दिसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स।
बाहिरकरणं किं से काहिदि वगणिहुदकरणस्स॥

अर्थात्—जैसे घोड़े की लीद बाहर से चिकनी दिखाई देती है, पर भीतर से दुर्गन्ध के कारण महा मलिन हैं। इसी प्रकार जो मुनि बाह्य आडम्बर तो धारण करता है, पर अन्तरंग शुद्ध नहीं रखता है, उसका आचरण बगुले के समान होता है।

चालीसवें अधिकार में मुनियों के मृतक संस्कार का वर्णन है। इस प्रसंग में कुछ ऐसी बातें भी वर्णित हैं, जो आज अनुचित सी प्रतीत होती हैं।

स्वामिकार्त्तिकेय और उनकी कत्तिगेयाणुवेक्खा (कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा)

कुमार कार्त्तिकेय के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। हरिषेण, श्रीचन्द्र और नेमिदत्त के कथाकोषों में बताया गया है कि कात्तिय ने कुमारावस्था में ही मुनिदीक्षा धारण की थी। इनकी बहन का विवाह रोहेड नगर के राजा कौंच के साथ हुआ था और इन्होंने दारुण उपसर्ग सहन कर स्वर्गलोक प्राप्त किया था। ये अग्नि नामक राजा के पुत्र थे। तत्त्वार्थराजवार्त्तिक में अनुत्तरोपपाद दशांग के वर्णन प्रसंग में दारुण उपसर्ग सहन करने वालों में कार्त्तिकेय का भी नाम आया है। इससे इतना स्पष्ट है कि कार्तिकेय नाम के कोई उग्र तपस्वी हुए हैं, जिन्होंने 'बारस अणुवेक्खा' नामक ग्रन्थ रचा है। इस ग्रन्थ का रचना काल पं० जुगलकिशोर मुख्तार सा० वट्टकेर और शिवार्य के समान ही प्राचीन मानते हैं, पर डॉ० ए० एन० उपध्ये योगसार के एक दोहे को परिवर्तित गाथा के रूप में प्राप्तकर इसे ९ वीं शती के अनन्तर की रचना मानते हैं।

कार्त्तिकेयानुप्रेक्ष्या पर आचार्य शुभचन्द्र की संस्कृत टीका भी है। इस ग्रन्थ में ४८९ गाथाएँ हैं। अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारह अनुप्रेक्षाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। प्रसंगवश जीव, अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का स्वरूप भी वर्णित है। जीवसमास, मार्गणा के निरूपण के साथ द्वादश व्रत, पात्रों के भेद, दाता के सात गुण, दान की श्रेष्ठता, माहात्म्य, सल्लेखना, दशधर्म, सम्यक्त्व के आठ अंग, बारह प्रकार के तप एवं ध्यान के भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है। आचार का स्वरूप एवं आत्मशुद्धि की प्रक्रिया इस ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक वर्णित है। संसार में कामिनी और कंचन के साम्राज्य का विवेचन करते हुए कहा है—

को ण वसो इत्थि-जणे कस्स ण मयणेण खंडियं माणं।
को इंदिएहिं ण जिओ को ण कसाएहि संतत्तो ॥ २८१ ॥

इस लोक में स्त्रीजन के वश में कौन नहीं है ? काम ने किसका मान खण्डित नहीं किया ? इन्द्रियों ने किसे नहीं जीता और कषायों से कौन सन्तप्त नहीं हुआ। ग्रन्थकार ने उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर में कहा है—

सो ण वसो इत्थि जणे सो ण जिओ इन्दिएहिं मोहेण।
जो ण य गिणहदि गंथं अब्भं तर-बाहिरं सव्वं ॥ २८२ ॥

जो मनुष्य बाह्य और अभ्यन्तर, समस्त परिग्रह को ग्रहण नहीं करता, वह मनुष्य न तो स्त्रीजन के वश में होता है और न मोह तथा इन्द्रियों के द्वारा जीता जा सकता है।

आचार्य नेमिचन्द्र और उनका साहित्य

आचार्य नेमिचन्द्र देशीयगण के हैं। ये गंगवंशीय राजा राचमल्ल के प्रधान मन्त्री और सेनापति चामुण्डराय के समकालीन थे। इन्होंने आचार्य अभयनन्दि, वीरनन्दि और कनकनन्दि को अपना गुरु माना है।

आचार्य नेमिचन्द्र अत्यन्त प्रभावशाली और सिद्धान्तशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इन्होंने स्वयं गोम्मटसार के अन्त में कहा है—"जिस प्रकार चक्रवर्ती षट्खण्ड पृथ्वी को अपने चक्र द्वारा आधीन करता है, उसी प्रकार मैंने अपने बुद्धिरूपी चक्र से षट्खण्डागम को सिद्धकर अपनी इस कृति में भर दिया है।" इसी सफलता के कारण उन्हें सिद्धान्त चक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त हुई।

आचार्य नेमिचन्द्र का शिष्यत्व चामुण्डराय ने ग्रहण किया था। इसने श्रवणबेल्गोल में चैत्रशुक्ला पञ्चमी रविवार २२ मार्च सन् १०२८ में विश्व प्रसिद्ध गोम्मट स्वामी बाहुबलि की मूर्त्ति प्रतिष्ठित की थी। यह मूर्त्ति अपनी विशालता और कलात्मकता के लिए विश्व में अतुलनीय है। अतएव आचार्य नेमिचन्द्र का समय ई० सन् ११ वीं शती है। इनकी निम्नलिखित रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—

(१) गोम्मटसार—
(२) त्रिलोकसार
(३) लब्धिसार
(४) क्षपणासार
(५) द्रव्यसंग्रह

गोम्मटसार दो भागों में विभक्त है—(१) जीवकाण्ड और (२) कर्मकाण्ड जीवकाण्ड में ७३३ गाथाएँ और कर्मकाण्ड में ९६२ गाथाएं हैं। इस ग्रन्थ पर संस्कृत

में दो टीकाएँ लिखी गयी हैं—(१) नेमिचन्द्र द्वारा जीव प्रदीपिका और (२) अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्वारा मन्दप्रबोधिनी। गोम्मटसार पर केशववर्णी द्वारा एक कन्नड़ वृत्ति भी लिखी मिलती है। टोडरमलजी ने सम्यग्ज्ञान चंद्रिका नाम की वचनिका लिखी है।

गोम्मटसार षटखण्डागम की परम्परा का ग्रन्थ है। जीवकाण्ड में महाकर्मप्राभृत के सिद्धान्त सम्बन्धी जीवस्थान, क्षुद्रबल, बन्धस्वामी, वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्ड इन पाँच विषयों का वर्णन है। गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इन बीस अधिकारों में जीव की अनेक अवस्थाओं का प्रतिपादन किया गया है।

कर्मकाण्ड में प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन, बन्धोदय, सत्त्व, सत्त्वस्थान भंग, त्रिचूलिका, स्थान समुत्कीर्त्तन, प्रत्यय, भावचूलिका और कर्मस्थिति रचना नामक नौ अधिकारों में कर्म की विभिन्न अवस्थाओं का निरूपण किया है।

त्रिलोकसार—इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में १०१८ गाथाएँ हैं। यह करणानुयोग का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसका आधार त्रिलोकप्रज्ञप्ति ग्रन्थ है। इसमें सामान्य लोक, भवन, व्यन्तर, ज्योतिष, वैमानिक और नर-तिर्यक् लोक ये अधिकार हैं। जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, मानुष क्षेत्र, भवनवासियों के रहने के स्थान, आवास भवन, आयु, परिवार आदि का विस्तृत वर्णन किया हैं। ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक, तारा एवं सूर्य-चन्द्र के आयु, विमान, गति, परिवार आदि का भी साङ्गोपाङ्ग वर्णन पाया जाता है। त्रिलोक की रचना के सम्बन्ध में सभी प्रकार की जानकारी इस ग्रन्थ से प्राप्त की जा सकती है।

लब्धिसार—आत्मशुद्धि के लिए पाँच प्रकार की लब्धियाँ आवश्यक है। इन पाँच लब्धियों में करण लब्धि प्रधान है, इस लब्धि के प्राप्त होने पर मिथ्यात्व से छूटकर सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती हैं। इस ग्रन्थ में तीन अधिकार हैं—(१) दर्शन लब्धि (२) चरित्र लब्धि (३) क्षायिक चारित्र। इन तीनों अधिकारों में आत्मा की शुद्धि रूप लब्धियों को प्राप्त करने की विधि पर प्रकाश डाला है।

क्षपणसार—कर्मों को क्षय करने की विधि का निरूपण इस ग्रन्थ में किया गया है। इसकी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि माधवचन्द्र त्रैविध्य ने बाहुबलि मन्त्री की प्रार्थना से संस्कृत टीका लिखकर सन् १२०३ में पूर्ण किया है।

द्रव्यसंग्रह—यह छोटा सा ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है, इसमें कुल ५८ गाथाएँ हैं। जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, कर्म, तत्त्व ध्यान आदि की चर्चा संक्षेप में व्यवस्थित ढंग से की गयी है। समस्त विषय को तीन अधिकारों में विभक्त किया है—(१) जीवाधिकार (२) सातपदार्थ निरूपण अधिकार (३) मोक्षमार्ग अधिकार। प्रथम अधिकार में २७ गाथों में षट्द्रव्य और पञ्चास्तिकाय का वर्णन किया है। दूसरे अधिकार में ११ गाथाओं में साततत्त्व और नौ पदार्थों का तथा तीसरे अधिकार में

२० गाथाओं में निश्चय और व्यवहार मार्ग का निरूपण किया है। द्रव्य, अस्तिकाय और तत्त्वों का संक्षेप में समझने के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी है।

अन्य आगम साहित्य

कर्म सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ अभी हाल में 'पञ्चसंग्रह' नामका प्रकाशित हुआ है। इस पञ्चसंग्रह के कर्त्ता और रचनाकाल के सम्बन्ध में निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं है। पर इतना सत्य है कि यह ग्रन्थ ८ वीं शती के पहले का है। इसमें कर्मस्तव, प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन, जीवसमास, शतक और सत्तरी ये पाँच प्रकरण हैं। इस ग्रन्थ में मूल गाथाएँ ४४५ और भाष्य गाथायें ८६४, इस प्रकार कुल १३०९ गाथायें हैं। इसके अतिरिक्त कर्म प्रकृतियों को गनानेवाला बहुत सा अंश प्राकृत गद्य में है। प्रस्तुत रचना गोम्मटसार से भी मिलती जुलती है।

एक प्राकृत पञ्चसंग्रह श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य पार्श्वर्षि के शिष्य चन्द्रर्षि का है। इनका समय अनुमानतः छठी शती है। इस ग्रन्थ में ९६३ गाथायें हैं। ग्रन्थ शतक, सप्तति, कषायपाहुड, षट्कर्म और कर्मप्रकृति नामक पाँच द्वारों में विभक्त है। इस पर मलयगिरि की टीका भी उपलब्ध है।

शिवशर्म कृत कम्मपयडि (कर्म प्रकृति) ग्रन्थ में ४१५ गाथायें हैं। बन्धन, संक्रमण उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरण, उपशमना, उदय और सत्ता इन आठ करणों—अध्य यों में विभाजित है। इस पर चूर्णि तथा मलयगिरि की टीका भी उपलब्ध है।

शिवशर्म की दूसरी रचना शतक नामक भी है। कम्मविवाग (कर्म-विपाक) गर्गर्षि-कृत; सडसीइ (षडशीति) जिनवल्लभगणि कृत एवं कम्मत्थ (कर्मस्तव) सामित्त (बन्ध स्वामित्व) और सप्ततिका अनिश्चित कर्त्ताओं की रचनायें उपलब्ध हैं। उपर्युक्त छहों रचनायें प्राचीन कर्मग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनपर चूर्णि, भाष्य एवं वृत्ति आदि टीकायें भी प्राप्य हैं।

ईस्वी की १३ वीं शती में जगच्चन्द्र सूरि के शिष्य देवेन्द्रसूरि ने कर्मविपाक (६० गा०), कर्मस्तव (३४ गा०), बन्ध स्वामित्व (गा० २४), षडशीति (७६ गा०) और शतक (१०० गा०) इन पाँच कर्मग्रन्थों को रचना की है, जो नये कर्म ग्रन्थों के नाम से प्रसिद्ध हैं।

विशेषणवति की रचना जिनभद्र गणि ने ६ वीं शती में की है। इसमें ४०० गाथायें हैं। ज्ञान, दर्शन, जीव, अजीव आदि का प्ररूपण किया गया है।

जीव समास नामक एक प्राचीन रचना २८६ गाथाओं में पूर्ण हुई है। उसमें सत् संख्या आदि सात प्ररूपणाओं द्वारा जीवादि द्रव्यों का स्वरूप समझाया गया है। इस ग्रन्थ पर मलधारी हेमचन्द्र की एक बृहद्वृत्ति भी उपलब्ध है।

कारणानुयोग सम्बन्धी एक प्रसिद्ध ग्रंथ मुनि पद्मनन्दि का है। इस ग्रंथ का नाम जम्बूदीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति) है। इसमें २३८९ गाथाएँ हैं। तिलोयपण्णत्ति के आधार पर इसकी रचना की गयी है। इसमें तेरह उद्देश्य प्रकरण हैं—उपोद्घात, भरत-ऐरावत वर्ष, शैल-नन्दी भोगभूमि, सुदर्शन मेरु, मंदर जिनभवन, देवोत्तरकुरु, कक्षाविजय, पूर्वविदेह, अपरविदेह, लवणसमुद्र, द्वीपसागर, अधः-ऊर्ध्व-सिद्ध-लोक, ज्योतिर्लोक और प्रमाण परिच्छेद। इस ग्रंथ में ढाई द्वीप का बहुत विस्तृत विवेचन किया गया है। इस ग्रंथ के अन्त में बताया गया है कि विजय गुरु के समीप जिनागम को सुनकर उन्हीं के प्रसाद से यह रचना माघनन्दि के प्रशिष्य तथा सकलचन्द्र के शिष्य श्रीनन्दि गुरु के निमित्त की है। इन्होंने स्वयं अपने को वीरनन्दि का प्रशिष्य और बालनन्दि का शिष्य कहा है। ग्रंथ रचना का स्थान पारियात्र देश के अन्तर्गत वारानगर कहा है और वहाँ के राजा संति या सत्ति का उल्लेख किया है।

श्वेताम्बर परम्परा में सूर्य, चन्द्र और जम्बूद्वीप के विषय निरूपण से सम्बद्ध जिन-भद्र गणि कृत क्षेत्रसमास और संग्रहणी उल्लेखनीय हैं। इन रचनाओं के परिमाण में बहुत परिवर्द्धन हुआ है और उनके लघु एवं बृहद् संस्करण टीकाकारों ने प्रस्तुत किये है। उपलब्ध बृहत् क्षेत्र समास का दूसरा नाम त्रैलोक्य दीपिका है। इसमें ६५६ गाथाएँ हैं तथा पाँच अधिकार हैं। बृहत्संग्रहणी के संकलनकर्त्ता मलधारी हेमचन्द्र सूरि के शिष्य चन्द्र सूरि हैं। इसमें ३४९ गाथाएँ हैं। देव, नरक, मनुष्य और तिर्यञ्च इन चार अधिकारों में विषय का निरूपण किया गया है। लघु क्षेत्रसमास रत्नशेखर सूरि कृत २६२ गाथाओं में उपलब्ध है। रचनाकाल १४वीं शती है। बृहत्क्षेत्रसमास सोम-तिलक सूरि कृत ४८९ गाथाओं में पाया जाता है। इसका भी रचनाकाल १४वीं शती है। इसमें अढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य-लोक का वर्णन है। विचारसार प्रकरण भी एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें ९०० गाथाएँ हैं, जिनमें कर्मभूमि, भोगभूमि, आर्य, अनार्य देश, राजधानियाँ, तीर्थंकरों के पूर्वभव, माता-पिता, स्वप्न, जन्म, समवशरण, गणधर, अष्टमहाप्रातिहार्य, कल्कि, शक, विक्रम, काल गणना, दशनिह्नव, चौरासी लाख योनियाँ एवं सिद्ध स्वरूप आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया हैं। इसके रचयिता देवसूरि के शिष्य प्रद्युम्न सूरि हैं। इनका समय १३वीं शती है।

ज्योतिष्करण्डक नामक प्रकीर्णक ३७६ गाथा प्रमाण है। इसमें सूर्यप्रज्ञप्ति के विषय का ही संक्षेप में निरूपण किया है। यह ज्योतिष विषय से सम्बद्ध हैं। इसमें विषुव लग्न का सुन्दर वर्णन किया है। यह लग्न प्रणाली ग्रीक पूर्व है और इसका सम्बन्ध नक्षत्र के साथ है। एक प्रकार से यह नक्षत्र लग्न है।

न्याय विषयक प्राकृत साहित्य

स्याद्वाद, अनेकान्तवाद और नयवाद का विवेचन प्राकृत साहित्य में पाया जाता है। यद्यपि आगम साहित्य में आरम्भ से ही प्रमाण, नय, निक्षेप के स्वरूप और भेद बतलाये गये हैं तथा बीज रूप में अनेकान्त सिद्धान्त भी आरम्भ से ही पाया जाता है। आचार्य सिद्धसेन ने पाँचवी-छठीं शताब्दी में सम्मइसुत्त (सन्मति सूत्र) नामक ग्रंथ लिखा है। यह ग्रन्थ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही मान्यताओं में समान रूप से मान्य है। इस पर अभयदेव कृत २५०० श्लोक प्रयाण तत्त्वबोध विधायिनी नामक टीका है। ग्रन्थ का सामान्य परिचय निम्न प्रकार है।

इस[1] ग्रन्थ के रचयिता आचार्य सिद्धसेन हैं। इनका समय गुप्तकाल है। इस ग्रन्थ की प्रत्येक गाथा सूत्र कही गयी है। समस्त ग्रन्थ तीन काण्डों में विभक्त है। प्रथम काण्ड में ५४, द्वितीय में ४३ और तृतीय में ६७; इस प्रकार कुल १६७ गाथायें हैं। प्राकृत भाषा में लिखा गया दर्शन का यह पहला ग्रन्थ है, जिसमें नय, ज्ञान, दर्शन प्रभृति का दार्शनिक दृष्टि से विचार किया है। आचार्य ने बताया है कि अर्थ की जानकारी नयज्ञान से ही होती है, केवल ग्रन्थों का अध्ययन कर लेने से कोई भी अर्थ का वेत्ता नहीं हो सकता है। नयवाद दृष्टि का विस्तार करता है, अतः यथार्थ अर्थ का बोध इसीकी जानकारी से संभव है। यथा—

सुत्तं अत्थनिमेणं न सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ती।
अत्थगई उण णयवायगहणलीला दुरभिगम्मा॥ ३।६४

ग्रन्थकार ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक (पर्यायास्तिक) इन दोनों मूलनयों को मानकर अन्य समस्त नयों को इन्हीं का विकल्प माना है। यथा —

तित्थएरवयणसंगह–विसेसपत्थारमूलवागरणी।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं॥ १।३

इन तीनों काण्डों को नयकाण्ड, उपयोगकाण्ड और अनेकान्तकाण्ड नामों से अभिहित भी किया गया हैं। इस ग्रन्थ में नयवाद का बहुत ही विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन है।

इसकी भाषा जैनमहाराष्ट्री है। यश्रुति का पालन सर्वत्र किया गया है। यश्रुति की व्यवस्था वररुचि के व्याकरण में नहीं मिलती है। प्राकृत वैयाकरणों में आचार्य हेमचन्द्र ने ही यश्रुति का उल्लेख सर्वप्रथम किया है। अर्धमागधी के अनन्तर उत्तर-पश्चिम के

---

१. श्री पं० सुखलालजी संघवी और श्री पं० बेचरदास दोषी द्वारा सम्पादित, एवं अनूदित (हिन्दी संस्करण) ज्ञानोदय ट्रष्ट, अहमदाबाद से १९६३ ई० में प्रकाशित।

जैन प्राकृत साहित्यकारों ने खुलकर पाँचवीं-छठी शती से ही इस भाषा का व्यवहार किया है। यहाँ यश्रुति के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

तित्थयर (तीर्थंकर) १।३, वयण (वदन), १।३, सुहुमभेया (सूक्ष्मभेदाः), पयडी (प्रकृति) १।४, णयवाया (नयवादाः) १।२५, वियप्पं (विकल्पं) १।३३, वयण (वदन) १।४, सत्तवियप्पो (सप्तविकल्पः) १।४१, जइयव्वं (यतितव्यम्), ३।६५, सुयणाण (श्रुतज्ञान) २।२७, सयले (सकले) २।२८, सायारं (साकारं) २।१०, सया (सदा) २।१०, णिय (निज) २।१४ आदि।

महाराष्ट्री की अन्य प्रवृत्तियों में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में ओकार का पाया जाना भी उपलब्ध है। यथा पज्जवणओ (पर्यायार्थिकनयः) १।३, विसओ (विषयः) १।४, ववहारो (व्यवहारः) १।४, दविओवओगो (द्रव्योपयोगः) १।८, संसारो (संसारः) १।१७, समूहसिद्धो (समूहसिद्धः) १।२७, अत्थो (अर्थः) १।२७, अणाइणिहणो (अनादिनिधनः) १।३७ आदि। सप्तमी विभक्ति के एकवचन में 'म्मि' का व्यवहार भी पाया जाता है—थोरम्मि, नसमयम्मि ३।२५, तम्मि ३।४, दंसणम्मि २।२४, चक्खुम्मि २।२४ आदि। इस प्रकार इस ग्रन्थ की भाषा जैनमहाराष्ट्री है।

स्याद्वाद और नय का स्वरूप प्रतिपादन करने वाले आचार्य देवसेन बहुत ही प्रसिद्ध हैं। इन्होंने ८७ गाथाओं में लघुनयचक्र और माइल धवल ने ४२३ गाथाओं में बृहन्नयचक्र नामक ग्रन्थ लिखे हैं। लघुनयचक्र में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के साथ नैगमादि नयों के भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन किया गया है। बृहन्नयचक्र में नय और निक्षेपों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। स्याद्वाद और नयवाद का स्वरूप अवगत करने के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

तर्क शैली या न्यायशैली की उक्त रचनाएँ भी सिद्धान्त आगम साहित्य के अन्तर्गत हैं।

आचार विषयक प्राकृत साहित्य

वट्टकेर कृत मूलाचार और शिवार्य कृत भगवती आराधना इस प्रकार के ग्रन्थ हैं, जिनमें साधुओं के आचार का निरूपण किया गया है। मुनि आचार का प्रतिपादन करने वाले तत्त्व का आचाराङ्ग आदि सूत्र ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं। प्राकृत साहित्य का सूत्रपात आत्मोत्थान के हेतु हुआ है। अतः इस साहित्य में आरम्भ से ही आचार सूचक तत्त्व समाहित होते रहे हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में श्रावक गृहस्थ आचार विषयक साहित्य का अतिसंक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। श्रावकों के आचार विषयक अनेक ग्रन्थ प्राकृत में पाये जाते हैं।

सावयपण्णत्ति[1] (श्रावक प्रज्ञप्ति) श्रावकाचार का प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें ४०१ गाथाएँ हैं। इसका रचयिता उमास्वाति को मानते हैं। कुछ विद्वान् इसे आचार्य

१. ज्ञानप्रसार मंडल द्वारा बम्बई से वि० सं० १९६१ में प्रकाशित

हरिभद्र की कृति बतलाते हैं। इस ग्रन्थ में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का निरूपण किया है। अहिंसाव्रत का निरूपण विस्तारपूर्वक लगभग ८०-९० गाथाओं में किया गया है। डॉ० हीरालाल जी जैन[१] ने बताया है कि ग्रन्थ के अन्तः-परीक्षण से यह हरिभद्र का ही प्रतीत होता है; उमास्वाति की अन्य कोई श्रावक प्रज्ञप्ति संस्कृत में रही होगी।

सावयधम्मविहि[२] (श्रावक धर्मविधि) रचना भी हरिभद्र सूरि की है। इसमें १२० गाथाओं में सम्यक्यत्व और मिथ्यात्व का वर्णन करते हुए श्रावक धर्म का संक्षेप में निरूपण किया है तथा मानदेव सूरि ने इस पर विवृत्ति भी लिखी है।

समत्तसत्तरि[३] (सम्यक्त्व सप्तति)—इस ग्रन्थ का दूसरा नाम दंसण-सत्तरि भी है। यह रचना भी हरिभद्र सूरि (आठवीं शती) की है। इसमें ७० गाथाओं में सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाया गया है। अष्ट प्रभावकों में वज्रस्वामी, मल्लवादि, भद्रबाहु, विष्णुकुमार, आर्यखपुट, पादालिप्त और सिद्धसेन का चरित वर्णित है। इस पर सिघ-तिलक सूरि (चौदहवीं शती) की वृत्ति भी उपलब्ध है।

वीरचन्द्रसूरि के शिष्य देवसूरि ने ई० सन् ११०५ में जीवानुशासन नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें ३२३ गाथाएँ हैं। इसमें बिम्बप्रतिष्ठा, बन्दनकत्रय, संघ, मासकल्प, आचार और चरित्रसत्ता के ऊपर प्रकाश डाला गया है।

धम्मरयणपगरण[४] (धर्मरत्न प्रकरण) विक्रम की बारहवीं शती में शान्तिसूरि ने धर्मरत्नप्रकरण की रचना की है। इस पर इनकी स्वोपज्ञ वृत्ति भी है। श्रावकपद की योग्यता के लिए प्रकृति सौम्य, लोकप्रिय, भीरु, लज्जालु, दीर्घदर्शी आदि २१ गुणों का निरूपण किया है। भावश्रमण का निरूपण भी किया है। इसमें १८१ गाथाएँ हैं।

धम्मविहिपयरण[५] (धर्मविधि प्रकरण)—बारहवीं शती की एक अन्य रचना श्री प्रभदेव की धर्मविधि प्रकरण है। इस पर उदयसिंह सूरि ने वृत्ति लिखि है। धर्मविधि के द्वारा धर्मपरीक्षा, धर्म के दोष, धर्म के भेद, गृहस्थ धर्म आदि विषयों का निरूपण किया गया है। प्रसंगवश इलापुत्र, उदयन, कामदेव श्रावक, जम्बूस्वामी, मूलदेव, विष्णुकुमार आदि की कथाएँ भी वर्णित हैं।

---

१. देखें—भारतीय संस्कृत में जैनधर्म का योगदान, पृ० ११०

२. आत्मानन्द सभा भावनगर द्वारा प्रकाशित सन् १९२४

३. देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला से सन् १९१६ में प्रकाशित।

४. वि० सं० १९५३ में अहमदाबाद से प्रकाशित।

५. सन् १९२४ में अहमदाबाद से प्रकाशित।

उवासयाज्झयणं[1] (उपासकाध्ययनं)—प्राकृत गाथाओं द्वारा आचार्य वसुनन्दि ने इस ग्रन्थ में श्रावकधर्म का विस्तृत निरूपण किया है। इसमें ५४६ गाथाएँ हैं। रचयिता ने ग्रन्थ के अन्त में दी गयी प्रशस्ति में बताया है कि कुन्दकुन्दाम्नाय में श्रीनन्दि, नयनन्दि, नेमिचन्द्र और वसुनन्दि हुए। वसुनन्दि के गुरु नेमिचन्द्र हैं, इन्हीं के प्रसाद से आचार्य परम्परागत प्राप्त उपासकाध्ययन को वात्सल्य और आदर भाव से भव्य जीवों के कल्याण हेतु मैंने रचा है। इस ग्रन्थ के रचनाकाल का निश्चित पता नहीं है, पर इतना निश्चित है कि पंडित आशाधर जी के ये पूर्ववर्ती हैं। आशाधर जी ने सागारधर्मामृत की टीका में वसुनन्दि का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः इनका समय ई० १२३९ के पहले है।

इस ग्रन्थ में श्रावक के आचार-विचार का निरूपण किया गया है। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का निरूपण करना ही इसका मुख्य उद्देश्य है। बताया है कि सम्यक्त्व बिना ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन संभव नहीं है, अतः सम्यक्त्व का वर्णन करना भी आवश्यक है। इस प्रकार जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व का निरूपण किया है। सम्यक्त्व के आठ अंगों में प्रसिद्ध होनेवाले अंजन चोर, अनन्तमती, उदयनराजा आदि का नामोल्लेख भी किया है।

सम्यक्त्व को विशुद्ध करने के लिए पञ्च उदुम्बर फल और सप्तव्यसन का त्याग करना आवश्यक है। द्यूतसेवन, मद्यसेवन आदि का स्वरूप विस्तारपूर्वक बतलाया है। श्रावक के अन्य कर्त्तव्यों का निम्न प्रकार विवेचन किया है—

विणओ विज्जाविच्चं कायकिलेसो य पुज्जणविहाणं।
सत्तीए जहजोग्गं कायव्वं देस-विरएहिं॥ १३९॥

अर्थात् देशविरत श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार यथायोग्य विनय, वैयावृत्य, कायक्लेश और पूजन विधान करना चाहिये।

कायक्लेश के अन्तर्गत पंचमी व्रत, रोहिणीव्रत, अश्विनीव्रत, सौख्य-सम्पत्तिव्रत, नदीश्वरपंक्तिव्रत और विमानपंक्तिव्रत का स्वरूप एवं विधि का निरूपण किया है। प्रतिमा-विधान, प्रतिष्ठा-विधान, द्रव्यपूजा, क्षेत्रपूजा, कालपूजा, भावपूजा, पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपातीत ध्यान आदि विषयों का निरूपण इस ग्रन्थ में किया गया है। श्रावकधर्म को विस्तृतरूप में समझने के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। इसमें कुल ५४६ गाथाएँ हैं।

विधिमार्गप्रपा[2] नामक विधिविधान सम्बन्धी जिनप्रभ सूरि की रचना है।

---

१. सन् १९५२ ई० में भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित।
२. सन् १९४१ ई० में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

ईस्वी सन् १३०६ में अयोध्या में इस ग्रन्थ को समाप्त किया गया है। इसमें साधु और श्रावकों की नित्य एवं नैमित्तिक क्रियाओं की विधि का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ में ४१ द्वार हैं। सम्यक्त्व व्रत आरोपणविधि, परिग्रहपरिमाणविधि, सामायिक आरोपणविधि एवं मालारोपणविधि आदि का निरूपण किया है। मालारोपणविधि में मानदेव सूरि रचित ५४ गाथाओं का उवहाणविधि नामक प्राकृत का प्रकरण उद्धृत किया है। इसके पश्चात् प्रौषधविधि, प्रतिक्रमणविधि, तपोविधि, नन्दिरचना, लोचकरणविधि, उपयोगविधि, अनध्यायविधि, स्वाध्यायविधि, योगनिक्षेपणविधि का सुन्दर निरूपण किया है।

आगम साहित्य की साहित्यिक उपलब्धियाँ

आगम साहित्य का विषय की दृष्टि से तो महत्त्व है ही, पर साहित्यिक दृष्टि से भी कई विशेषताएँ पायी जाती हैं। यहाँ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है—

१. गाथा, इन्द्रवज्रा, स्रग्धरा, उपजाति, दोधक, शार्दूल-विक्रीडित, वसन्ततिलका, मालिनी प्रभृति अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है। उत्तराध्ययन और तिलोयपण्णत्ति में छन्द वैविध्य दर्शनीय है। तिलोयपण्णत्ति में इन्द्रवज्रा, स्रग्धरा, उपजाति, दोधक, शार्दूल-विक्रीडित, वसन्ततिलका और मालिनी छन्द पाये जाते हैं। इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वसन्ततिलका छन्द उत्तराध्ययन में प्रयुक्त हुए हैं। गाथाओं के भेद-प्रभेद रूप में लक्ष्मी, ब्राह्मणी और क्षत्रिया आदि का निरूपण भी पाया जाता है। अर्थात् गाथाओं के उपभेदों का व्यवहार भी आगम साहित्य में हुआ है।

२. उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, श्लेष और अर्थान्तरन्यास अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। काव्य की दृष्टि से भी आगम साहित्य का महत्त्व कम नहीं है। यहाँ उदाहरणार्थ एक-दो पद्य उद्धृत किये जाते हैं :—

जहा पवग्गी पउरिंधणे वणे।
समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविंदियग्गी वि पगामभोइणो॥
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई॥—उत्तरा० ३२।११

इस पद्य में विविध प्रकार के रस युक्त भोजन को प्रचुर इन्धन युक्त वन एवं इन्द्रिय लालसा को दवाग्नि की उपमा दी गई है। आचार्य ने इसी उपमा के सहारे स्वादिष्ट, सरस आहार को संयमी के लिए त्याज्य बताया है। जिस प्रकार प्रचुर इन्धनयुक्त वन में वायुसहित उत्पन्न हुई दवाग्नि शान्त नहीं होती, उसी प्रकार विविध प्रकार के रसयुक्त पदार्थों का उपभोग करने वाले संयमी की इन्द्रियरूपी अग्नि शान्त नहीं होती। अर्थात् स्वादिष्ट भोजन करने से विषय-वासना प्रबल होती जाती है।

रुवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ से विणासं ॥
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥—उत्तरा० ३२।२४

इस पद्य में जीव को पतंग, विषयों को दीपक, आसक्ति को आलोक की उपमा दी गयी है। दीपक के प्रकाश पर अत्यन्त आसक्त रहने वाला पतंग जिस प्रकार विनाश को प्राप्त करता है, उसी प्रकार रूपादि विषयों में अत्यन्त आसक्त रहने वाला व्यक्ति भी विनाश को प्राप्त करता है।

वेढेदि निसयहेदुं कलत्तपासेहिं दुव्विमोचेहिं।
कोसेण कोसकारो य दुम्मदी मोहपासेसु ॥
—तिलोयपण्णत्ति ४ अ० ६२६ गा०

इस पद्य में रेशम का क्रीड़ा उपमान, उपमेय जीव के लिए प्रयुक्त है और रेशम का तन्तुजाल दुर्विमोच स्त्री-रूपीपाश के लिए व्यवहृत हैं। अतः उपमा का स्फोटन करने पर अर्थ निकला कि जिस प्रकार रेशम का क्रीड़ा रेशम के तन्तुजाल से अपने आपको वेष्टित करता है, उसी प्रकार दुर्मतिजीव मोहपाश में बँधकर विषय के निमित्त दुर्विमोच स्त्रीरूप के पाशों से अपने को मोहजाल में फँसा लेता है।

मिच्छतं वेयंतो जीवो विपरीय—दंसणो होइ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥
—धवलाटीका जिल्द १, गा० १०६

यहाँ मिथ्यात्व को पित्तज्वर और तत्त्व श्रद्धान को मधुररस का उपमान दिया गया है। मिथ्यात्वभाव का अनुभव करने वाले विपरीत श्रद्धानी व्यक्ति को तत्त्वश्रद्धान उसी प्रकार रुचिकर नहीं होता है, जैसे पित्तज्वरवाले के लिए मधुर रस।

३. आगम साहित्य में गद्य-पद्य का मिश्रण पाया जाता है। विषय निरूपण में गद्य-पद्य दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। गद्य और पद्य दोनों ही समान रूप से विषय को विकसित और पल्लवित करते हैं। अतएव यह प्रणाली आगे चम्पूकाव्य या गद्य-पद्यात्मक कथा-काव्य के विकास का मूल मानी जा सकती है। चाम्पूकाव्य के विकास में शिलालेख और यजुर्वेद की ऋचाओं के समान प्राकृत आगम को भी आधार मानना तर्क-संगत है।

४. कथाओं के विकास के समस्त बीज सूत्र आगम साहित्य में उपलब्ध हैं। वस्तु, पात्र, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण प्रभृति तत्त्व आगम ग्रन्थों में, विशेषतः णाया धम्मकहाओ उवासग दशाओं, चूर्णियों और भाष्यों में पाये जाते हैं। सरस प्रेमाख्यान की परम्परा के कई आधार आगम साहित्य में वर्तमान हैं।

५. तर्क प्रधान दर्शन शैली का विकास भी आगम साहित्य से ही होता है। वस्तुतः आगम ग्रन्थों की सामग्री बहु विषयक है। विषयों का स्वतन्त्र रूप में विकास उत्तर काल में हुआ है।

६. अर्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री—इन तीनों प्राकृत भाषाओं के विकास क्रम को अवगत करने के लिए भी आगम साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा के रूप गठन, शब्दावलि, वाक्य संगठन एवं अर्थ विकास और अर्थ परिवर्त्तन के क्रम को सुव्यवस्थित रूप से अवगत करने के लिए आगम साहित्य बहुत उपयोगी है। समस्यन्त पदों का प्रयोग तथा सन्धि आदि की विभिन्न समस्याएँ इस साहित्य से ज्ञात की जा सकती हैं।

७. संस्कृति और समाज के इतिहास का यथार्थ परिज्ञान आगम साहित्य के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। कला और साहित्य के अनेक प्राचीन रूप इसमें सुरक्षित हैं।

८. जीवन और जगत् के विविध अनुभवों की जानकारी इस साहित्य में निहित है।

९. प्रबन्ध काव्यों के तत्त्व वस्तुवर्णन, इतिवृत्त और संवाद आगम साहित्य में प्रचुर परिमाण में पाये जाते हैं। अतः प्रबन्धों की परम्परा को व्यवस्थित रूप देने के लिए आगम साहित्य से सम्बन्ध जोड़ना उपयुक्त है।

●

द्वितीयोऽध्यायः

शिलालेखी साहित्य

प्राकृत भाषा का शिलालेखी साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राप्त शिलालेख भाषा और साहित्य की दृष्टि से संस्कृत भाषा के शिलालेखों की अपेक्षा कई बातों में विशिष्ट हैं। उपलब्ध शिलालेखी साहित्य में प्राकृत भाषा के शिलालेख ही सबसे प्राचीन हैं। आरम्भ से ईस्वी सन् की प्रथम शती तक के समस्त शिलालेख प्रायः प्राकृत में ही हैं। इन शिलालेखों में किसी व्यक्ति विशेष का केवल यशोगान ही निबद्ध नहीं है, बल्कि मानवता के पोषक सिद्धान्त अंकित हैं, हमारा विश्वास है कि इस कोटि का साहित्य विश्व में बहुत कम मिलेगा। प्राकृत शिलालेखों में साहित्य के विकास की अनेक विधाओं के बीज वर्तमान हैं। अतः प्राकृत साहित्य के इतिहास पर विचार करते समय शिला-लेखों पर चिन्तन करना आत्यावश्यक है।

दूसरी बात यह है कि साहित्य के व्यवस्थित अध्ययन की परम्परा सबसे अधिक शिलालेखों में सुरक्षित रहती है। यतः शिलालेखी साहित्य में किसी भी प्रकार का संशोधन और परिवर्तन संभव नहीं है। शिलापट्टों पर उत्कीर्ण साहित्य समय के शाश्वत प्रवाह में तदवस्थ रहता है। यही कारण है कि शिखालेखों का अध्ययन किसी भी भाषा और साहित्य की परम्परा के लिए नितान्त आवश्यक होता है।

प्राकृत में सबसे प्राचीन शिलालेख प्रियदर्शी सम्राट् अशोक के हैं। ये शिलालेख ई० पू० २६९ में राज्याभिषेक के बारह वर्ष पश्चात् गिरनार, कालसी, धौलि, जौगढ़ एवं मनसेहरा आदि स्थानों पर उत्कीर्ण कराये गये हैं। इन शिलालेखों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनके द्वारा सम्राट् अशोक ने प्रजा में अहिंसा के प्रति आस्था उत्पन्न करने का प्रयास किया है। समाज में सदाचार, सुव्यवस्था एवं निश्छल प्रेम उत्पन्न करने का प्रयास शिलालेखों द्वारा किया गया है। त्याग, आत्म-संयम एवं राग रहित प्रवृति को जागृत करने के लिए धर्मादेश प्रचारित किये हैं। अशोक ने कलिंग के अभिलेख में कहा है—"मेरी प्रजा मेरे बच्चों के समान है और मैं चाहता हूँ कि सबको इस लोक तथा परलोक में सुख तथा शान्ति मिले"। अशोक के शिलालेखों से उपलब्ध होनेवाले तथ्य निम्न प्रकार हैं—

१. मौर्य साम्राज्य पश्चिमी भाग में अफगानिस्तान से उड़ीसा तक तथा हिमालय की तराई से (नेपाल की तराई का स्तम्भ लेख रुम्मनदेई तथा कालसी के लेख) मद्रास प्रान्त के येरुगुडी (करनूल जिला) तक व्याप्त था। क्योंकि शिलालेख का

सीमाक्षेत्र उपर्युक्त ही है। अशोक के द्वितीय तथा तेरहवें शिलालेख में राजाओं की जो नामावलि आयी है, उससे भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

२. मौर्यकालीन शासन व्यवस्था का परिज्ञान भी अशोक के शिलालेखों से होता है। पाँचवें स्तम्भलेख में धर्ममहामात्य नामक नये कर्मचारी की नियुक्ति का वर्णन है। तीसरे में रज्जुक, प्रादेशिक तथा युक्त नामक पदाधिकारियों को प्रजाहित के लिए राज्य में परिभ्रमण करने की आज्ञा दी गयी है। चौथे स्तम्भ लेख में अशोक ने स्वयं रज्जुक के विभिन्न कार्यों का विवेचन किया है। उन्होंने प्रजा के हित के चिन्तन पर विशेष बल दिया है। अभिलेखों से स्पष्ट है कि पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, तक्षशिला, उज्जयिनी, तोसल्ली, सुवर्णगिरि नामक प्रान्तों में शासन विभक्त था।

३. शिलालेखों में प्रधान कर्त्तव्यों का विवेचन किया गया है। बताया गया है कि माता-पिता की सेवा, प्राणियों के प्राणों का आदर, विद्यार्थियों को आचार्य की सेवा एवं जाति भाइयों के साथ उचित व्यवहार करना चाहिए। दूसरों के धर्म और विश्वासों के साथ सहानुभूति रखने का निर्देश करते हुए द्वादश शिलालेख में लिखा है—"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी विविधदान और पूजा से गृहस्थ तथा संन्यासी सभी साम्प्रदायवालों का सत्कार करते हैं। किन्तु देवताओं के प्रिय दान या पूजा की इतनी परवाह नहीं करते, जितनी इस बात की कि सब सम्प्रदायों के सार की वृद्धि हो। सम्प्रदायों के सार की वृद्धि कई प्रकार से होती है, पर इसकी जड़ वाक् संयम है अर्थात् लोग केवल अपने ही साम्प्रदाय का आदर और दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करें।" तृतीय शिलालेख में बताया है "माता पिता की सेवा करना, मित्र, परिचित, स्वजातीय, ब्राह्मण और श्रमणों को दान देना अच्छा है, कम खर्च करना और कम संचय करना हितकर है।"

४. यात्रियों की सुखसुविधा का निरूपण करते हुए सप्तम स्तम्भ लेख में बताया गया है—"सड़कों पर मनुष्य और पशुओं को छाया देने के लिए बरगद के पेड़ लगवाये, आम्रवाटिकाएँ लगवायीं, आधे-आधे कोस पर कुएँ खुदवाये, सराएँ बनवायीं और जहाँ-तहाँ पशुओं तथा मनुष्यों के उपकार के लिए अनेक पौसरे बैठाये।" रोगी मनुष्य और पशुओं की व्यवस्था का प्रतिपादन द्वितीय शिलालेख में किया गया है। "दोनों—मनुष्य और पशुओं के लिए चिकित्सा का पूरा प्रबन्ध था। औषधियाँ जहाँ-जहाँ नहीं थीं, वहाँ लायी और रोपी गयीं"।

५. द्वितीय स्तम्भ लेख में धर्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए बताया है—"अपासिनवे बहुकयाने दया दाने सचे य सोचये"—पाप से दूर रहना, बहुत अच्छे कार्य करना तथा दया, दान, सत्य और शौच का पालन करना धर्म है। धर्म का यह असाम्प्रदायिक और सार्वजनीन रूप मानवमात्र के लिए उपादेय है।

६ जीवन में अहिंसा को उतारने के लिए आहार-पान की शुद्धि का भी निर्देश शिलालेखों में है।

सम्राट् खारवेल का हाथी गुंफा शिलालेख

उड़ीसा में जैनधर्म का प्रवेश शिशुनाग वंशीय राजा नन्दवर्धन के समय में ही हो गया था तथा खारवेल के पूर्व भी उदयगिरि पर्वत पर अर्हन्तों के मन्दिर थे। सम्राट् सम्प्रति के समय में वहाँ चेदिवंश का राज्य था। इसी वंश में जैन सम्राट् खारवेल हुआ, जो उस समय का चक्रवर्ती राजा था। उसका एक शिलालेख उड़ीसा के भुवनेश्वर तीर्थ के पास उदयगिरि पर्वत की एक गुफा में खुदा मिला है, जो हाथीगुंफा के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्रतापी राजा खारवेल के जीवन वृत्तान्तों का वर्णन है। इस शिलालेख से ज्ञात होता है कि खारवेल ने मगध पर दो बार चढ़ाई की और वहाँ के राजा वहसति मित्र को पराजित किया। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने पुष्यमित्र और वहसति मित्र को एक अनुमान किया है। शुङ्गवंशी अग्निमित्र के सिक्के के समान ठीक उसी रूप का सिक्का वहसति मित्र का मिलता है।

दक्षिण आन्ध्रवंशी राजा शातकर्णी खारवेल का समकालीन था। शिलालेख से ज्ञात होता है कि शातकर्णी की परवाह न कर खारवेल ने दक्षिण में एक बड़ी भारी सेना भेजी, जिसने दक्षिण के कई राज्यों को परास्त किया। सुदूर दक्षिण के पाण्ड्य राजा के यहाँ से खारवेल के पास बहुमूल्य उपहार आते थे। उत्तर से लेकर दक्षिण तक समस्त भारत में उसकी विजयपताका फहराई।

खारवेल एक वर्ष विजय के लिए प्रस्थित होता था, तो दूसरे वर्ष महल आदि बनवाता, दान देता तथा प्रजा के हित के कार्य करता था। उसने अपनी ३५ लाख प्रजा पर अनुग्रह किया था, विजययात्रा के पश्चात् राजसूय यज्ञ किया और ब्राह्मणों को बड़े-बड़े दान दिए; उसने एक बड़ा जैन सम्मेलन बुलाया था, जिसमें भारत भर के जैन-यतियों, तपस्वियों, ऋषियों तथा पण्डितों को बुलाया था। जैनसंघ ने खारवेल को खेम-राजा, भिक्षुराजा और धर्मराजा की पदवी प्रदान की। यह शिलालेख ई० पू० १५-१०० के लगभग का है। ऐतिहासिकों का मत है कि मौर्यकाल की वंशपरम्परा तथा काल गणना की दृष्टि से इसका महत्त्व अशोक के शिलालेखों से भी अधिक है। देश में उपलब्ध शिलालेखों में यही एक ऐसा लेख है, जिसमें वंश तथा वर्ष संख्या का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। प्राचीनता की दृष्टि से यह अशोक के बाद का शिलालेख माना जाता है। इसमें तत्कालीन सामाजिक अवस्था और राज्य व्यवस्था का सुन्दर चित्रण है। १७ पंक्तियों के इस शिलालेख को ज्यों के त्यों रूप में उद्धृत किया जाता है। भारत वर्ष का सर्वप्रथम उल्लेख इसी शिलालेख की दशवीं पंक्ति में भरधवस (भारतवर्ष) के रूप में मिलता है। इस देश का भारतवर्ष नाम है, इसका पाषाणोत्कीर्ण प्रमाण यही शिलालेख है। साहित्य की दृष्टि से भी इसका महत्व अत्यधिक है।

प्राकृत मूलपाठ	संस्कृतच्छाया
(१)	(१)
नमो अरहंतानं [।] नमो सवसिधानं [।] एरेन महाराजे माहामेघवाहनेन चेतिराजवसवधनेनपसथ-सुभलेखनेन चतुरंतलुठितगुनोपहिनेन कलिंगाधिपतिना सिरिखारवेलेन	नमोऽर्हद्भ्यः [।] नमः सर्वसिद्धेभ्यः [।] ऐलेन महारायेन महामेघवाहनेन चेदिराजवंशवर्धनेन प्रशस्तशुभलक्षणेन चतुरन्तलुठितगुनोपहितेन कलिङ्गाधिपतिना श्रीखारवेलेन
(२)	(२)
पंदरवसानि सिरि-कडार-सिरि-वता कीडिता कुमारकीरिका [।] ततो लेखरूपगणना-ववहारविधि-विसारदेन सवविजावदातेन नववसानि योवरजं पसासितं [।] संपुण-चतु वीसति-वसो तदानि वधमानसेसयोवेनाभिविजयो ततिये	पञ्चदश वर्षाणि श्रीकडारशरीर-वताक्रीडिताः कुमारक्रीडाः [।] ततो लेख्यरूपगणनाव्यवहारविधिविशारदेन सर्वविद्यावदातेन नववर्षाणि यौवराज्यं प्रशासितम् [।] सम्पूर्ण-चतुर्विंशतिवर्षस्तदानीं वर्धमानशैशवो येनाभिविजयस्तृतीये
(३)	(३)
कलिंगराजवस-पुरिसयुगे माहाराजाभिसेचनं पापुनाति [।] अभिसितमतो च पधमे वसे वात-विहत-गोपुर-पाकार-निवेसनं पटिसंखारयति [।] कलिंगनरि [f] खबीर-इसि-ताल-तडाग-पाडियो च बंधापयति [।] सवुयान पटिसंठपनं	कलिंगराजवंश-पुरुष-युगे माहाराज्याभिषेचनं प्राप्नोति [।] अभिषिक्तमात्रश्च प्रथमे वर्षे वातविहृतं गोपुर-प्रकारनिवेशनं प्रतिसंस्कारयति [।] कलिङ्गनगर्याम् खबीरर्षि-तल्ल-तडाग-पालीश्च बन्धयति [।] सर्वोद्यानप्रतिसंस्थापनञ्च
(४)	(४)
कारयति [॥] पनतीसाहि सतसहसेहि पकतियो च रंजयति [।] दुतिये च वसे अचितयिता सातकणि पछिमदिसं हय-गज-नर-रध-बहुलं दंड पठापयति [१] कन्हवेंनां गताय च सेनाय वितासितं मुसिकनगरं [।] ततिये पुन वसे	कारयति [॥] पञ्चत्रिंशद्भिः शतसहस्रैः प्रकृतीश्च रञ्जयति [।] द्वितीये च वर्षे अचिन्तयित्वा सातकर्णि पश्चिमदेशं हय-गज-नर-रथ बहुलं दण्डं प्रस्थापयति [।] कृष्णवेणां गतया च सेनाय वित्रासितं मूषिकनगरम् [।] तृतीये पुनर्वर्षे

(५)

गंधव-वेदबुधो दंप-नत'गीत-वादित संदसनाहि उसव-समाज-कारापनाहि च कीडापयति नगरिं तथा च बुथे वसे विजाधराधि-वासं अहत-पुवं कालिंगयुवराज-निवेसितं...वितधमुकुट सबिलमढिते च निखित-छत

(५)

गन्धर्ववेदबुधो दम्प-नृत्त-गीतवादादित्र-सन्दर्शनैरुत्सव-समाज-कारणैश्च क्रीडयति नगरीम् [।] तथा चतुर्थे वर्षे विद्याधराधिवासं अहतपूर्वं कालिङ्गपूर्वराजनिवेशितं वितथमकुटान् सार्धितबिल्मांश्च निक्षिप्तछत्र

(६)

भिंगारे हित-रतन-सापतेये सवरठिक भोजके पादे वंदापयति [।] पंचमे च धानी वसे नंदराज-तिवस-सत-ओघाटितं तन-सुलिय वाटा पनाडि नगरं पवेस [च] ति [।] सो...भिसितो च राजसुय [˙] संदस-यंतो सव-कर-वणं

(६)

भृङ्गारान् हृत-रत्न'स्वापतेयान् सर्व-राष्ट्रिक भोजकान् पादावभिवादयते [।] पञ्चमे चेदानीं वर्षे नन्दराजस्य त्रिशत-वर्षे अवघट्टितां तनसुलियवाटात् प्रणालीं नगरं प्रवेशयति [।] सो (ऽ पि च वर्षे षष्ठे) ऽभिषिक्तश्च राजसूयं सन्दर्शयन् सर्व-कर-पणम्

(७)

अनुगह-अनेकानि सतसहसानि विसजति पोरं जानपदं [।] सतमं च वसं पसासतो वजिरघर व [˘] ति-घुसितघरिनीस [म-तुक-पद] पुंना [ति कुमार]...... ......[।] अठमे च वसे महता सेना... गोरध गिरिं

(७)

अनुग्रहाननेकान् शतसहस्रं विसृजति पौराय जानपदाय [।] सप्तमं च वर्षं प्रशासतो वज्रगृहवती घुषिता गृहिणी [सन्-मातृक पदं प्राप्नोति ?] [कुमारं]... [।] अष्टमे च वर्षे महता सेना......गो-रथगिरिं

(८)

धातापयिता राजगहं उपपीडापयति [।] एतिनं च कंमापदान-संनादेन संवित सेन-वाहनो विपमुंचित मधुरं अपयातो यवन-राज डिमित....[सो ?] यछति [वि] पलव...

(८)

घातयित्वा राजगृहमुपपीडयति [।] एतेषां च कर्मावदान-संनादेन संवीतसैन्य-वाहनो विप्रमोक्तुं मथुरामपयातो यवनराजः डिमित......[मो ?] यच्छति [वि] पल्लव....

(९)

कपरूखे हय-गज-रध-सह-यंते सवघरा-वास-परिवसने स-अगिण-ठिया [।] सव-गहनं च कारयितुं बम्हणानं जातिं परिहारं ददाति [।] अरहतो ...व...न...गिय

(९)

कल्पवृक्षान् हयगजरथान् सयन्तॄन् सर्व-गृहावास-परिवसनानि साग्निष्ठिकानि [।] सर्वग्रहणं च कारयितुं ब्राह्मणानां जातिं परिहारं ददाति [।] अर्हतः...व...न... गिया [?]

(१०)

.......[क] . ा . मान [ति] रा [ज]–संनिवासं महाविजयं पासादं कार-यति अठतिसाय सातसहसहि [।] दसमे च वसे दंड-संधी-साम-मयो भरध-वस-पठानं महि जयनं........ति कारापयति......... [निरितय] उयातानं च मनि-रतना [नि] उपलभते [।]

(१०)

...[क]...ो....मानति (?) राज-सन्निवासं महाविजयं प्रासादं कारयति अष्टात्रिंशता सतसहस्त्रैः [।] दशमे च वर्षे दण्डसन्धि-साममयो भारतवर्ष-प्रस्थानं मही-जयनं........ति कारयति......... [निरित्या ?] उद्यातानां च मणिरत्नानि उपलभते [।]

(११)

........मंडं च अवराज-निवेसितं पीथुड-गदभ-नंगलेन कासयति [।] जनस दंभा-वनं च तेरसवस-सतिक [०] तु भिदति तमरदेह-संघातं [। बारसमे च वसे... हस....के....ज....सवसेहि वितासयति उत-रापथ-राजनो........

(११)

........मण्डं च अपराजनिवेशितं पृथुल-गर्दभ-लाङ्गलेन कर्षयति जिनस्य दम्भापनं त्रयोदश-वर्ष-शतिकं तु भिनति ताम-रदेह-संघातम् [।] द्वादशे च वर्षे ... भिः वित्रासयति उत्तरापथराजान्

(१२)

........मगधानं च विपुलं भयं जनेतो हथी सुगंगीय [०] पाययति [।] मागधं च राजानं बहसतिमितं पादे वंदापयति नन्दराजनीतं च कालिंग-जिनं संनिवेसं ....गह-रतनान पडिहारेहि अंगमागधवसुं च नेयाति [।]

(१२)

......मागधानाञ्च विपुलं भयं जन-यन् हस्तिनः सुगाङ्गेयं प्रापयति [।] मागधञ्च राजानं बृहस्पतिमित्रं पादावभिवा-दयते [।] नन्दराजानीतञ्च कालिङ्गजिन-सन्निवेशं......गृहरत्नानां प्रतिहारैराङ्ग-मागधवसूनि च नाययति [।]

(१३)

.......तु [०] जठर-लिखिल-बरानि सिहरानि निवेसयथि सत-वेसिकनं परिहारेन [।] अभुत मछरियं च हथि-नावन परीपुरं सव-देन हय-हथी-रतन [मा] निकं पंडराजा चेदानि अनेकानि मुतमणिरतनानि अहराप यति इध सतो

(१३)

.......तुं जठरोल्लिखितानि वराणि शिखराणि निवेशयति शत-वैशिकानां परिहारेण [।] अद्भुतमाश्चर्यञ्च हस्तिनाथां पारिपूरम् सर्वदेयम् हय-हस्ति-रत्न-माणिक्यं पाण्ड्यराजात् चेदानीमनेकानि मुक्तामणि-रत्नानि आहारयति इह शक्तः [।]

(१४)

.......सिनो बसीकरोति [।] तेरसमे च वसे सुपवत-विजय-चक-कुमारीपवते अरहिते [य] प-खीण- संसिते हि कायनिसीदीयाय याप-ञावकेहि राजभितिनि चिनवातानि वसासितानि [।] पूजाय रतउवास-खारवेल सिरिना जीवदेह-सिरिका परिखिता [।]

(१४)

... ..सिनो वशीकरोति [।] त्रयोदशे च वर्षे सुप्रवृत्त-विजय-चक्रे कुमारी पर्वतेऽर्हिते प्रक्षीया संसृतिभ्यः कायिकानिषीद्यां यापज्ञापकेभ्यः राजभृतीश्चीर्णव्रताः [एव] शासिताः [।] पूजायां रतोपासेन खारवेलेन श्रीमता जीवदेहश्रीकता परीक्षिता [।]

(१५)

......[सु] कति—समणासुविहितानं (नं) च सत-दिसानं (नं) ञानिनं तपसि-इसिनं संघियनं (नं १) [:] अरहतनिसीदिया समीपे पभारे वराकर समुथपिताहि अनेक योजनाहि ताहि प. सि. ओ......सिलाहि सिंहपथरानिसि [˙] धुडाय निसयानि

(१५)

......सुकृति श्रमणानां सुविहितासां शतदिशानां तपस्विऋषीणां सङ्घिनां [।] अर्हन्निषीद्याः समीपे प्राग्भारे वराकरसमुत्थापिताभिरनेकयोजनाहृताभिः.......... शिलाभिः सिंहप्रस्थीयायै राज्ञै सिन्धुडायै निःश्रयाणि

(१६)

........घंटालक्तो चतरे त वेडूरियगभे थंभे पतिठापयति [,] पान-तरिया सत-सहसेहि [।] मुरिय-काल-वोछिनं च चोयठि अंग सतिकं तुरियं उपादयति [।] खेमराजा स वढराजा स भिखुराजा धमराजा पसंतो सुनंतो अनुभवंतो कलाणानि

(१६)

......घंटालक्तः [१], चतुरस्य वैडूर्य्यं गर्भान् स्तम्भान् प्रतिष्ठापयति [,] पञ्चसप्तशतसहस्त्रैः [।], मौर्यकालव्यवच्छिन्नञ्च चतुःषष्टिकाङ्गसप्तिकं तुरीयमुत्पादयति [।] क्षेमराजः स वर्द्धराजः स भिक्षुराजः धर्मराजः पश्यन् श्रृण्वन्ननुभवन् कल्याणानि

(१७)	(१७)
......गुण-विसेस-कुसलो सवपासंड-पूजको सव-देवायतन-संकारकारको [अ] [अ] पति-हत-चकि-वाहि-निबलो चकधुरो गुसचको पवत-चको राजसि-वस-कुल-विनि-सितो महाविजयो राजा खारवेल-सिरि	गुण-विशेष-कुशलः सर्वपाषण्डपूजकः सर्वदेवायतन-संस्कारकारकः [अ] प्रतिहत-चक्रिवाहिनी-बलःचक्ररोगुप्त-चक्रः प्रवृत्त-चक्रो राजर्षिवंशकुशल-विनिःसृतो महाविजयो राजा खारवेलश्रीः

प्राकृत भाषा में लिखे गये अन्य शिलालेखों में पल्लवराजा शिवस्कन्दवर्मन् और पल्लवयुवराज विजयबुद्धवर्मन् की रानी के दानपत्र, कक्कुक का घटयाल प्रस्तरलेख एवं सोमदेव के ललित विग्रहराज नाटक के उत्कीर्ण-अंश परिगणित है। ईस्वी सन् १४९ में नासिक में उत्कीर्ण वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का शिलालेख भी प्रसिद्ध है। दक्षिण भारत के शासक सातवाहन वंश के लेखों एवं मुद्रालेखों में प्राकृत का व्यवहार किया गया है। इतिहास से सिद्ध है कि जूनागढ़ के अतिरिक्त नहपान कालीन सभी अभिलेख (नासिक, जूनार, कार्ले आदि) तथा क्षत्रप मुद्रालेख प्राकृत भाषा में हैं। मिलिन्द का विजौर का लेख तथा सभी शासकों के खरोष्ठी मुद्रा लेख भी प्राकृत में हैं। "मिनेद्रस महरजस कटि अस दिवस" (विजौर लेख) तथा "महरजस त्रतरस हेरमयस" (मुद्रालेख) उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जाते हैं। उनके उत्तराधिकारी पहलव नरेशों के मुद्रालेख भी प्राकृत में उपलब्ध हैं। यथा—"रजदिरजस महतस मोअस। महरजस, महतस अभिलिषस; इन दोनों गद्य खण्डों में से पहला गद्यखण्ड राजा मोग की मुद्राओं पर और दूसरा अयिलिष की मुद्राओं पर उत्कीर्ण है।

कुषाण राजा वीमकदफिस तथा कनिष्क समूह के शासकों के अभिलेख या मुद्रालेख प्राकृत में खोदे गये थे। वीमकदफिस की स्वर्णमुद्रा पर निम्नलिखित लेख अंकित है।

"महरजस रजरजस सवलोक ईश्वरस महीश्वरस"

कनिष्क तथा उसके उत्तराधिकारी पेशावर में राज्य करते रहे, जहाँ पर अशोक के समय से ही खरोष्ठी का प्रसार था। उस लिपि में जितने लेख हैं, प्रायः प्राकृत में ही हैं। यह सत्य है कि कनिष्क के प्राकृत लेख संस्कृत भाषा से प्रभावित हैं। उनके पञ्जाब से उपलब्ध लेखों में "अषडस मसस—कनिष्कस" प्राकृत भाषा में है तो दूसरे में "महरजस्य रजतिरजस्य देवपुत्रस्य कनिष्कस्य" संस्कृत-प्राकृत में है। हुविष्क का मथुरा लेख, लखनऊ संग्रहालय के जैनप्रतिमालेख एवं वासुदेव का मथुरा प्रतिमा-अभिलेख संस्कृत मिश्रित प्राकृत में है।

वासिष्ठी पुत्र पुलुमावि और गौतमीपुत्र शातकर्णी के नासिकवाले शिलालेखों का इतिहास की दृष्टि से जितना महत्त्व है, प्राकृत साहित्य की दृष्टि से भी उससे कम नहीं। गौतमी बलश्री के द्वारा कैलाश पर्वत के शिखर के सदृश त्रिरश्मि पर्वत के शिखर पर

श्रेष्ठ विमान की भाँति महासमृद्धि युक्त एक गुफा के खुदवाने का उल्लेख है। यथा—
सिरि-सातकणिसमातुय महादेवीय गोतमीय बलसिरीय स च वचन-दान-क्षमा-हिसनिरताय तप-दम-नियमोपवासतपराय राजरिसिवधु-सदमखिलमनुविधीय-मानाय कारितदेयधम (केलास पवत)—सिखर-सदि से (ति) रण्हुपवत-सिखरे विमा (न) वरनिविसेसमहिढीकं लेण[1]।

कक्कुक का घटयाल प्रस्तर लेख

जोधपुर से २० मील उत्तर की ओर घटयाल ग्राम के गाँव में कक्कुक का एक प्राकृत शिलालेख उत्कीर्ण है। इस शिलालेख का प्रकाशन मुंशी देवीप्रसाद ने सन् १८९५ में जॅर्नल ऑफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी के पृ० ५१३ पर किया है। शिलालेख की तिथि वि० सं० ९१८ (ई० सन् ८६१) है। इसमें बताया गया है कि कक्कुक ने एक जैन मन्दिर का निर्माण किया था। उसने एक बाजार भी लगवाया था। इसने दो कीर्तिस्तम्भ भी स्थापित किये थे, एक मड्डोअर में और दूसरा रोहिन्स कूप नामक ग्राम में। यहाँ अर्थसहित शिलालेख दिया जाता है।

ओं सग्गायवग्गमग्गं पढमं सयलाण कारणं देवं।
णीसेस दुरिअदलणं परम गुरु णमह जिणनाहं ॥ १ ॥

रहुतिलओ पडिहारो आसी सिरि लक्खणोत्ति रामस्स।
तेण पडिहारो वंसो समुण्णइं एत्थ संपत्तो ॥ २ ॥

विप्पो हरिअंदो भज्जा असि त्ति खत्तिआ भद्दा।
ताण सुओ उप्पणो वीरो सिरि रज्जिलो एत्थ ॥ ३ ॥

अस्स वि णरहड णामो जाओ सिरि णाहडो त्ति एअस्स।
अस्स वि तणाओ ताओ तस्स वि जसवद्धणो जाओ ॥ ४ ॥

अस्स वि चंदुअ णामो उप्पण्णो सिल्लुओ वि एअस्स।
झोटो भिल्लुअस्स तणुओ अस्स वि सिरि भिल्लुओ चाई ॥ ५ ॥

सिरि भिल्लुअस्स तणुओ सिरिकक्को गुरुगुणेहि गारविओ।
अस्स वि कक्कुअ नामो दुल्लहदेवीए उप्पणो ॥ ६ ॥

ईसि विआसं हसिअं, महुरं भजिअं पलोइअ सोम्मं।
णमय जस्स ण दीणं रो (सो) थेओ थिरा मेत्ती ॥ ७ ॥

णो जंपिअं ण हसिअं ण कयं ण पलोइअं ण संभरिअं।
ण थिअं, ण परिब्भमिअं जेण जणे कज्ज परिहीणं ॥ ८ ॥

---

१. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन-मोतीलाल बनारसीदास सन् १९६१ ई०

सुत्था दुत्थ वि पया अहमा तह उत्तिमा कि सोक्खेण।
जणणि व्व जेण धरिआ णिच्चं णिय मंडले सव्वा ॥ ९ ॥
उअरोह रामअच्छर लोहेहि इ णायवज्जिअं जेण।
ण कओ दोण्ह विसेसो ववहारे कवि मणयं पि ॥ १० ॥
दिअवर दिण्णाणुज्जं जेण जण य रंजिऊण सयलं पि।
णिमच्छरेण जणिअं दुट्ठाण वि दंडणिट्ठवणं ॥ ११ ॥
धण रिद्ध समिद्धाण वि पउराणं निअकरस्स अब्भहिअं।
लक्ख सयं च सरिसन्तणं च तह जेण दिट्ठाइं ॥ १२ ॥
णव जोव्वण रूअपसाहिएण सिंगार-गुण गरुक्केण।
जणवय णिज्जमलज्ज जेण जणे णेय संचरियं ॥ १३ ॥
बालाण गुरु तरुणाण सही तह गयवयाण तणओ व्व।
इय सुचरिएहि णिच्चं जेण जणो पालिऔ सव्वो ॥ १४ ॥
जेण णमंतेण सया सम्माणं गुणथुई कुणंतेण।
जंपंतेण य ललिअं दिण्णं पणईण धण-निवहं ॥ १५ ॥
मरु माड-वल्ल-तमणी-परिअंका-मज्ज-गुज्जरत्तासु।
जणिओ जेन जणाणं सच्चरिअगुणेहि अणुराहो ॥ १६ ॥
गहिऊण गोहणाइं गिरिम्मि जालाउ (ला) ओ पल्लीओ।
जणिआओ जेण विसमे वउणाणय-मंडले पयडं ॥ १७ ॥
णीलुप्पलदलगन्धा रम्भा मायन्द-महुअ विन्देहिं।
वरइच्छु पण्णच्छण्ण एसा भूमि कया जेण ॥ १८ ॥
वरिस-सएसु अणवसुं अट्ठारसमग्गलेसु चेत्तम्मि।
णक्खत्ते विहुहत्थे बुहवारे धवल बीआए ॥ १९ ॥
सिरिकक्कुएण हट्टं महाजणं विप्प पयइ वणि बहुलं।
रोहिंसकूअ गामे णिवेसि अं कित्तिविड्ढीए ॥ २० ॥
मड्डोअरम्मि एक्को बीओ रोहिंसकूअ-गामम्मि।
जेण जसस्स व पुंजा एए त्थम्भा समुत्थविआ ॥ २१ ॥
तेण सिरिकक्कुएणं जिणस्स देवस्स दुरिअ णिच्छलणं।
कारविअं अचलमिमं भवणं भवणं भत्तीए सुहं जययं ॥ २२ ॥
अप्पिअमेअं भवणं सिद्धस्स गणेसरस्स गच्छम्मि।
तह सन्त जंव-अंबय वणि, भाउड-पमुह-गोट्ठीए ॥ २३ ॥

स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग का निरूपण करनेवाले, समस्त कल्याणों के करनेवाले और समस्त पापों को नष्ट करनेवाले परम गुरु सर्वज्ञ भगवान् को नमस्कार करो ॥ १ ॥

जिस प्रकार रघुकुल तिलक राम के लिए लक्ष्मण प्रतिहार—सेवक थे, उसी प्रकार प्रतिहार वंश में रघुकुल तिलक हुआ, जिससे प्रतिहार वंश उन्नति को प्राप्त हुआ ॥ २ ॥

हरिश्चन्द्र नामक ब्राह्मण की भद्रा नाम की क्षत्राणी पत्नी थी। इस दम्पति से अत्यन्त पराक्रमी रज्जिल नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ३ ॥

उस रज्जिल का नरभट्ट नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ तथा उसका णाहड नाम का पुत्र हुआ। णाहड का ताट और ताट का पुत्र यशोवर्द्धन हुआ ॥ ४ ॥

इस यशोवर्द्धन का चन्दुक, चन्दुक का शिल्लुक, शिल्लुक का झोट नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ और झोट का भिल्लुक पुत्र हुआ ॥ ५ ॥

इस भिल्लुक का पुत्र कक्कुक हुआ, जो महान् गुणों से युक्त था। यह कक्कुक दुर्लभ-देवी से उत्पन्न हुआ था ॥ ६ ॥

वह कक्कुक मन्दमुस्कानवाला था, मधुर वाणी बोलनेवाला, सौम्य दृष्टि से देखने-वाला, अत्यन्त नम्र एवं दीन और अनाथों पर कभी क्रुद्ध नहीं होनेवाला था। यह अत्यन्त उदार था और इसकी मित्रता स्थिर—स्थायी तथा क्रोध क्षणविध्वंसी था ॥ ७ ॥

वह प्रजा एवं लोकहित के कार्यों को छोड़कर अन्य व्यर्थ के कार्यों के सम्बन्ध में न बोलता था, न हँसता था, न कोई कार्य करता था, न स्मरण करता था, न बैठता था और न घूमता ही था ॥ ८ ॥

कक्कुक ने अपने राज्य में सदैव अधम, मध्यम, उत्तम, सुखी अथवा दुःखी सभी प्रकार की प्रजा का पालन सच्ची माता के समान हितैषी बनकर किया था ॥ ९ ॥

न्यायवर्जित विरोध, विघ्न, बाधा, राग-द्वेष, मात्सर्य एवं लोभ आदि से प्रभावित होकर जिसने न्याय करने में कभी भी भेद भाव नहीं किया था ॥ १० ॥

द्विज श्रेष्ठों द्वारा प्रदत्त आज्ञा से जिसने समस्त प्रजा का मनोरंजक करते हुए बिना किसी ईर्ष्या, द्वेष एवं अहंकार के दुष्टजनों को कठोर दण्ड देने की व्यवस्था की ॥ ११ ॥

सभी प्रकार की सम्पत्तियों एवं समृद्धियों से युक्त नागरिकजनों को उसने अपने राजस्व की आय से भी अधिक सैकड़ों, लाखों की सम्पत्ति समय आने पर बाँट दी ॥ १२ ॥

नव यौवन, रूप-प्रसाधन एवं महान् शृङ्गार से युक्त होते हुए भी जिसने जनपद के लोगों में अपने प्रति निन्दा एवं निर्लज्जता का भाव जागृत नहीं होने दिया ॥ १३ ॥

वह कक्कुक बच्चों के लिए गुरु, युवकों के लिए मित्र तथा वयोवृद्धों के लिए पुत्र के समान था। इस प्रकार उसने अपने सुचरित द्वारा समस्त प्रजा का भली प्रकार पालन-पोषण किया ॥ १४ ॥

वह नम्रतापूर्वक सदैव लोगों का सम्मान करता था। सद्गुणों की निरन्तर प्रशंसा करता था, मधुर वाणी बोलता था तथा आश्रय ग्रहण करने वाले प्रेमी व्यक्तियों को नित्य ही धन समूह दान में देता था ॥ १५ ॥

मारवाड़, वल्लतमणी तथा गुजरात आदि देशों के लोगों में जिसने अपने सदाचार आदि सद्गुणों के प्रति अनुराग उत्पन्न कर दिया ॥ १६ ॥

पर्वत में अग्नि लगाकर और पल्लियों से गोधन लेकर जिसने वटनामक मण्डल में आतंक उत्पन्न कर दिया ॥ १७ ॥

तथा वटनामक मंडल की भूमि को नीलकमलों की सुगन्धि से युक्त, माकन्द और मधूक वृक्षों से रमणीक एवं श्रेष्ठ इक्षुओं के पत्तों से आच्छादित कर दिया ॥ १८ ॥

वि० सं० ९१८ चैत्र शुक्ला द्वितीया बुधवार को हस्त नक्षत्र में श्री कक्कुक ने अपनी कीर्त्ति की वृद्धि के लिए रोहिन्सकूप नाम के ग्राम में महाजनों, ब्राह्मणों, सेना एवं व्यापारियों के लिए एक बाजार बनवाया ॥ १९–२० ॥

कक्कुक ने मड्डोअर और रोहिन्सकूप नामके ग्रामों में एक-एक कीर्त्ति-स्तम्भ बनाकर अपने यशःसमूह का विस्तार किया ॥ २१ ॥

उस कक्कुक ने सभी प्रकार के पापों को नष्ट करनेवाले एवं सुख देनेवाले वीतरागी भगवान् के मन्दिर को भक्तिपूर्वक बनवाया ॥ २२ ॥

मन्दिर निर्माण के उपरान्त उस कक्कुक ने वह मन्दिर सिद्ध धनेश्वर के गच्छ में होनेवाले सन्त, जम्ब, अम्बय, वणिक्, भाकुट आदि प्रमुखों की गोष्ठी को आपूर्ति कर दिया ॥ २३ ॥

मथुरा के शिलालेखों में भी प्राकृत है। पर इन शिलालेखों की प्राकृत भाषा संस्कृत मिश्रित है। अनुमानतः ई० पू० १५० के एक शिलालेख की एक पंक्ति उद्धृत की जाती है।

समनस माहरखितास आतेवासिस वछीपुत्रस सावकास उतरदासक [T] स पासादोतोरनं [॥]

अर्थात् माघरक्षित के शिष्य वात्सी माता के पुत्र उत्तरदासक श्रावक का दान इस मन्दिर का तोरण है।

मथुरा के प्रायः सभी प्राचीन लेख प्राकृत में हैं।

इलाहाबाद के पास प्राप्त हुए पभोसा (प्रभास या प्रभात) के शिलालेख भी प्राकृत में हैं। इनका समय ई० पू० प्रथम या द्वितीय शती है। भाषा और साहित्य का रूप निम्न है।

अधियछात्रा रात्रो शोनकायनपुत्रस्य वंगपालस्य
पुत्रस्य रात्रो तेवणीपुत्रस्य भागवस्य पुत्रेण
वैहिदरीपुत्रेण आषाढसेनेन कारितं [॥]

अधिछत्रा के राजा शौनकायन के पुत्र राजा वंगपाल के पुत्र और त्रैवर्ण राजकन्या के पुत्र राजा भगवत के पुत्र तथा वैहिदर-राजकन्या के पुत्र आषाढसेन ने गुफा बनवायी।

इस प्रकार प्राकृत शिलालेख भाषा, साहित्य और इतिहास इन तीनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं।

तृतीयोऽध्यायः

प्राकृत के शास्त्रीय महाकाव्य

काव्य शान्ति के परिपूर्ण क्षणों में रची गयी कोमलशब्दों, मधुर कल्पनाओं तथा उद्रेकमयी भावनाओं की मर्मस्पृक् भाषा है। सहजरूप में तरंगित भावों का मधुर प्रकाशन हैं। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि 'काव्य भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना द्वारा जीवन का पुनः सृजन' है। प्राकृत भाषा में काव्य प्रणयन उसके प्रादुर्भाव काल से ही होता आ रहा है। प्राकृत भाषा जनभाषा थी, अतः यह साहित्य जनता का साहित्य है। नभोमण्डल से अवतरित होती चिरकुमारी ऊषा-नर्तकी के अधखुले लावण्य से मुग्ध होकर ही प्राकृत के आचार्यों ने अपनी मनोवीणा के तार झंकृत नहीं किये हैं और न उन्होंने अमर्त्य श्रृंगार के अभिनन्दन के हेतु ही अपने को मुखरित किया है। बल्कि प्राकृत भाषा के कवियों ने सिसकती और आहें भरती मानवता का करुणक्रन्दन सुना, उनका हृदय द्रवीभूत हो गया और करुणाभिभूत आदि-कवि वाल्मीकि की वाणी के समान मानवता के त्राण के हेतु वे भी काव्य रचना में प्रवृत्त हुए। वैदिक यज्ञ-समाज और पौराणिक ब्राह्मण समाज की उन विकृतियों के प्रति प्राकृत भाषा के मनीषियों ने अपनी विचार असहमति प्रकट की, जिसमें राजाओं, सामन्तों एवं पुरोहितों का अखण्ड साम्राज्य था। सामान्य जनता को अपने विचार और विश्वास प्रकट करने का अवसर नहीं दिया जाता था। समाज में एक प्रकार की घुटन उत्पन्न हो रही थी। सम्भ्रान्तवाद का व्यापक प्रभाव सभी पर पड़ रहा था। दलित और दीन समाज में कष्ट पा रहे थे। ऐसी परिस्थिति में प्राकृत के मनीषियों ने वैदिक साहित्य के समानान्तर एक नयी विचारधारा को प्रादुर्भूत किया। फलतः प्राकृत आगम ग्रन्थों में सिद्धान्तों के साथ आख्यान, सांस्कृतिक उपाख्यान, ऐतिहासिक कथाएँ, रूपकात्मक आख्यायिकाएँ एवं लोककथाओं के मूलरूप भी समाविष्ट हुए, उच्च और अभिजात वर्ग की सामन्तशाही का प्रतिरोध करने से प्राकृत साहित्य में रूढ़िवादिता प्रविष्ट न हो पायी। फलतः मानवता की फौलादी नींव पर भारतीय संस्कृति और साहित्य की अट्टालिका खड़ी होकर अपनी गुरुता और महत्ता से आकाश को चुनौती देने लगी।

प्राकृत में जनवादी या मानवतावादी साहित्य तो लिखा ही गया है, पर रसमय साहित्य की भी कमी नहीं है। यह सत्य है कि इस रसमय साहित्य की आत्मा भी मानवतावाद से पुष्ट है। तिरस्कृत एवं दलित पात्र काव्यों के नायक हैं अथवा राजा, महाराजा,

सेठ, साहूकार यदि नायक भी कहीं हैं, तो रूढ़िवादी नहीं है। कट्टरता का पूर्णतया उनमें अभाव है। कवि वाक्पतिराज ने कहा है—

णवमत्थ—दंसणं संनिवेस सिसिराओ बन्ध-रिद्धीओ।
अविरलमिणमो आभुवण-बन्धमिह णवर पययम्मि ॥ गउडवहो ९२ ॥

अर्थात्—सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक प्रचुर परिमाण में नूतन-नूतन अर्थों का दर्शन तथा सुन्दर रचनावाली प्रबन्ध-सम्पत्ति यदि कहीं भी है, तो केवल प्राकृत में है।

प्राकृत भाषा के ललित और सुकुमार होने से काव्य रचना आरम्भ से ही होती आ रही है। प्राकृत भाषा के प्रबन्ध काव्यों का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है।

२. शास्त्रीय महाकाव्य या केवल रसमय महाकाव्य

३. खण्डकाव्य

४. चरितकाव्य

यह सत्य है कि प्राकृत के शास्त्रीय महाकाव्य संस्कृत महाकाव्यों की शैली पर ही निर्मित हैं। शृङ्काररस की इतनी सुन्दर व्यञ्जना अन्यत्र सम्भवतः नहीं मिल सकेगो। प्राकृत के कवियों ने संस्कृत महाकाव्यों से रूप-संयोजन और कलात्मक प्रौढ़ि को ग्रहण किया है। अतः शास्त्रीय प्राकृत महाकाव्यों में निम्नलिखित तत्त्व पाये जाते हैं।

१. कथात्मकता और छन्दोबद्धता।

२. सर्गबद्धता या खण्डविभाजन और कथा का विस्तार।

३. जीवन के विविध और समग्र रूप का चित्रण।

४. लोकगीत और लोककथाओं के अनेक तत्त्वों के सम्मिश्रण से संगठित कथानक निर्माण।

५. शैली की गम्भीरता, उदात्तता और मनोहारिता

वस्तुतः शास्त्रीय महाकाव्य कलात्मक प्रतिभा की सर्वोत्तम देन हैं। इनमें जातीय गुणों, सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियों और परम्परागत अनुभवों का पंजीभूत ऐसा रसात्मक रूप दृष्टिगोचर होता है; जो समग्र सामाजिक जीवन का प्रतिनिधि है। यद्यपि उसके बाह्य स्वरूप में देश-काल के भेद के साथ निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, तो भी उसके आन्तरिक मूल्य और स्वाभाविक गुण शाश्वत एवं चिरन्तन होते हैं। संक्षेप में महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्यरूप है, जिसमें क्षिप्र कथा-प्रवाह, अलंकृत वर्णन और मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित, साङ्गोपाङ्ग और जीवन्त कथानक होता है, जो रसात्मकता या प्रभान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण सक्षम है। शास्त्रीय प्राकृत महाकाव्यों में यथार्थ कल्पना या सम्भावना पर आधारित ऐसे चरितों का विन्यास किया गया है, जो अपने युग के सामाजिक जीवन का

किसी न किसी रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं। महत्प्रेरणा और महदुद्देश्य भी इन काव्यों में प्रतीकात्मक या अप्रत्यक्षरूप में विद्यमान रहता है। रसात्मकता के साथ घटनाओं का संश्लिष्ट और समन्वित रूप समग्र जीवन के विविध रूपों को उपस्थित करता है। फलतः प्राकृत महाकाव्यों के उद्देश्य के मूल में कोई महत्प्रेरणा रहती है, जो समस्त महाकाव्य को प्राणवन्त बनाती है। प्रेरणा उत्पन्न करने वाली वस्तुएँ और घटनाएँ बहुत-सी हो सकती हैं, या उनकी अनुभूति की गहराई सबके लिये एक समान नहीं हो सकती है। प्राकृत महाकाव्यों में उपदेश और धर्मतत्त्व भी यत्र-तत्र बिखरा मिल सकता है, पर वास्तव में उनका अवसान भी किसी न किसी रस में हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि कवि का मानसिक धरातल जितना ही ऊँचा होगा, उतनी गरिमा और उच्चता उसके महाकाव्य में समाविष्ट होगी।

महाकाव्य के सम्बन्ध में लक्षण ग्रन्थों में बताया गया है कि गुरुत्व के अभाव में कोई भी महाकाव्य महाकाव्य की श्रेणी में परिगणित नहीं किया जा सकता। गुरुत्व का समवाय उच्च विचारों से होता है तथा गाम्भीर्य उसकी संयति और भावाभिव्यक्ति की गहनता से उत्पन्न होता है।

महाकाव्य में युगविशेष के समग्र जीवन का चित्रण किसी कथावस्तु के माध्यम से होता है। जिसका चरम बिन्दु कोई महत्वपूर्ण कार्य और आश्रय कोई प्रधान पात्र होता है। चिन्तक कवि का मानस-क्षितिज इतना व्यापक और विशाल होता है कि युग का समग्र रूप उसमें स्वभावतः समाविष्ट हो जाता है। मानव प्रकृति, मानसिक दशाएँ, मानवीय प्रवृत्तियाँ और उपलब्धियाँ, मानव और प्रकृति का सम्बन्ध और संघर्ष, मानव-मानव का पारस्परिक सम्बन्ध और संघर्ष एवं तत्कालीन सामाजिक कार्यव्यापार काव्य में समाविष्ट होकर अपने युग का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं। अतः महाकाव्य में विविध घटनाओं का प्रवाह फल प्राप्ति की ओर ही अग्रसर रहता है।

शास्त्रीय महाकाव्य और चरित महाकाव्य की कथावस्तु में अन्तर रहता है। चरित काव्य की कथा नायक के चरित का विश्लेषण करती है पर उपदेश, धर्मतत्त्व और आचार सम्बन्धी निष्ठाएँ इतनी अधिक रहती है, जिससे कथा का आयाम शास्त्रीय महाकाव्य की अपेक्षा बड़ा होता है। घटनाएँ सूचीबद्ध रहने पर भी मूल में अधिक बिखरी रहती हैं, जिससे विस्तार दिखलायी पड़ता है नुकीलापन नहीं। महाकाव्य की कथा का आयाय समचतुरस्र होता है, जबकि चरितकाव्य की कथावस्तु का आयाम समानांतर चतुरस्र। दोनों के कथानकों में पर्याप्त विस्तार होता है, सम्पूर्ण जीवन का चित्रण किसी विशेष सीमा रेखा के भीतर आबद्ध किया जाता है। कथानक में कार्यान्वियन की क्षमता का रहना आवश्यक माना गया है। संवाद, सक्रियता और औचित्य का कथावस्तु में रहना भी अनिवार्य है।

चरित काव्य और महाकाव्य में दूसरा अन्तर घटनाओं की प्रवाह गति भी है। चरितकाव्य की घटनाओं की गति दीर्घवर्तुल होती है, जबकि शास्त्रीय महाकाव्य की कथावस्तु की गति वर्तुल रूप होती है। दीर्घवर्तुल और वर्तुल में अन्तर इतना ही है कि एक का प्रवाह ढोलक के समान धक्का देता हुआ-सा है और दूसरे का प्रवाह पन-डुब्बी के समान है, जो अपनी स्वेच्छया गति से कहीं तेजधारा को काटकर और कहीं यों ही उचटकर आगे बढ़ती है। शास्त्रीय महाकाव्य की घटनाएँ कहों संघर्षों के बीच से आगे बढ़ती हैं, तो कहीं यों ही ऊपर-ऊपर होकर निकल जाती हैं। वहाँ वस्तुतः कल्पना और अलंकरण का ऐसा चमत्कार रहता है, जिससे घटनाओं की गति कहीं मंडूक-प्लुत हो जाती है और कही कच्छप के समान वर्णनों के आवेष्टन में अवगुण्ठित हो पाठक के मानस-नेत्रों के सम्मुख अत्यन्त आकर्षक चित्र उपस्थित कर शनैः शनैः आगे बढ़ती है। पर चरितकाव्य के लिए यह आवश्यक नहीं है। उसके घटना प्रवाह में ऐसा धक्का लगना चाहिए जिससे चरित्र का साक्षात्कार दृष्टिगोचर होने लगे, वर्णन अपना प्रवाह वहीं तक सीमित रखते हैं, जहाँ तक रागात्मक सम्बन्ध के उद्घाटन में बाधा उत्पन्न नहीं होती है। अतएव प्राकृत काव्यों का विश्लेषण स्पष्टतः शास्त्रीय महाकाव्य और चरितमहाकाव्य इन दोनों श्रेणियों में करना उचित है। यहाँ शास्त्रीय महाकाव्य से हमारा तात्पर्य शुद्ध रसात्मक काव्यों से है, जो मानव मात्र की रागात्मिका वृत्ति को उद्बुद्ध करने की पूर्ण क्षमता रखते हैं।

सेतुबन्ध[1]

कथात्मक संगठन और घटनात्मक विकास की दृष्टि से यह महाकाव्य अद्वितीय है। संस्कृत का कोई भी महाकाव्य इस दृष्टि से इसकी समकक्षता प्राप्त नहीं कर सकता है। इस महाकाव्य में दो मुख घटनाएँ हैं—सेतुबन्धन और रावणवध। इन दोनों घटनाओं के आधार पर इसका नाम सेतुबन्ध अथवा रावणवध रखा गया है। जिस उत्साह और विस्तार से कवि ने सेतु रचना का वर्णन किया है, उससे यही लगता है काव्य का फल रावणवध भले ही हो, पर समस्त घटना का केन्द्र सेतु रचना हो हैं। अतएव इसका सार्थक नाम सेतुबन्ध है। इस महाकाव्य में १२९१ गाथाएँ हैं, जो १५ आश्वासों में विभक्त हैं। रामदास भूपति ने अपनी टीका के प्रारम्भिक छन्दों में "रामसेतुप्रदीपम्" कहकर इसका नाम रामसेतु बताया है।

इस महाकाव्य का रचयिता प्रवरसेन नामक महाकवि हैं। आश्वासों के अन्त में प्राप्त पुष्पिकाओं में "पवरेसेण विरए" के साथ 'कालिदासकए' पद भी पाया जाता है। सेतुबन्ध के टीकाकार रामदास भूपति वि० सं० १६५२ ने इस महाकाव्य का रचयिता कालिदास को माना है :—

१. सन् १९३५ में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

धीराणां काव्यचर्चा चतुरिमविधये विक्रमादित्यवाचा
यं चक्रे कालिदासः कविकुमुदविधुः सेतुनामप्रबन्धम् ।
तद्व्याख्या सौष्ठवार्थं परिषदि कुरुते रामदासः स एव,
ग्रन्थं जल्लालदीन्द्रक्षितिपतिवचसा रामसेतुप्रदीपम् ॥

टीकाकार ने पुनः इसी बात को दुहराते हुए कहा—

"इह तावन्महाराजप्रवरसेननिमित्तं महाराजाधिराज विक्रमादित्येनाज्ञप्तो निखिलकविचक्रचूडामणिः कालिदासमहाशयः सेतुबन्धप्रबन्धं चिकीर्षुः·······।

उपर्युक्त उल्लेखों से सेतुबन्ध का रचयिता कौन है ? कालिदास अथवा प्रवरसेन, यह विवादास्पद है।

सेतुबन्ध की कुछ पाण्डुलियाँ इस प्रकार की भी उपलब्ध हैं, जिनमें केवल प्रवरसेन का ही नाम उपलब्ध होता है। अतएव प्रवरसेन इस काव्य ग्रन्थ के रचयिता हैं, यह सर्वमान्य है। पर कालिदास के नाम से यह भ्रम किस प्रकार व्याप्त हुआ, यह भी विचारणीय है। इसके लिए एक तर्क यह हो सकता है कि कालिदास ने इस काव्य की रचना कर इसे प्रवरसेन को समर्पित कर दिया हो अथवा दोनों ने मिलकर इसकी रचना की हो अथवा यह भी संभव है कि कालिदास ने प्रवरसेन को इसकी रचना में सहायता दी हो। इस तीसरी संभावना का समर्थन सेतुबन्ध १।९ से होने की बात कही जाती है। पर उस गाथा से इतना ही ज्ञात होता है कि रचना में संशोधन और सुधार किये गये हैं। संशोधन कर्त्ता कवि स्वयं भी हो सकता है।

डॉ० रामजी उपाध्याय ने 'प्राकृत महाकाव्यों का अध्ययन' शोध प्रबन्ध में रामदास भूपति के भ्रम के सम्बन्ध में लिखा है—"वह संभवतः 'कुन्तलेश्वरदौत्य" पर आधारित भ्रामक परम्परा से प्रभावित हुआ है। क्षेमेन्द्र के अनुसार इसकी रचना कालिदास ने विक्रमादित्य के द्वारा प्रवरसेन के पास दूत रूप में भेजे जाने के अनन्तर की है और प्रवरसेन और कालिदास की यह मित्रता भ्रम का मूल कारण हो गयी होगी।" इस कथन से भी स्पष्ट है कि कालिदास और प्रवरसेन में मित्रता रहने का कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अन्य लेखक या कवियों ने सेतुबन्ध का जहाँ भी उल्लेख किया है वहाँ प्रवरसेन के साथ कालिदास का नाम बिल्कुल नहीं लिया है।

महाकवि बाण ने हर्षचरित (१।१४।५) में सेतुबन्ध का नामोल्लेख निम्नप्रकार किया है—

कीर्त्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना ॥

बाण का समय सातवीं सदी माना जाता है, जो प्रवरसेन के सर्वाधिक निकटवर्ती है। यदि उनके समय में इस काव्य का कर्ता कालिदास प्रचलित रहा होता, तो वे

अवश्य ही कालिदास का नामोल्लेख करते। अतः स्पष्ट है कि इस कृति का कर्त्ता कालिदास नहीं हैं।

कम्बुज के[1] एक शिलालेख से भी बाण की उक्ति का समर्थन होता है। इस शिलालेख के आधार पर कह सकते हैं कि दसवीं सदी के प्रारम्भ तक सेतुबन्ध काव्य का रचयिता प्रवरसेन ही माना जाता था। लेख में बताया है—

येन प्रवरसेनेन धर्मसेतुं विवृण्वता।
परः प्रवरसेनोऽपि जितः प्राकृतसेतुकृत् ॥

अर्थात्—यशोवर्मा (८८९–९०९ ई०) अपनी प्रवरसेन द्वारा स्थापित धर्मसेतुओं से दूसरे प्रवरसेन को पीछे छोड़ गया; क्योंकि उसने केवल एक साधारण प्राकृत सेतु (सेतुबन्ध महाकाव्य) का निर्माण किया है।

क्षेमेन्द्र ने अपने औचित्यविचार चर्चा नामक ग्रन्थ में[2] एक उदाहरण के प्रसंग में सेतुबन्ध की एक गाथा उद्धृत की है। अतएव उक्त साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सेतुबन्ध का कर्त्ता प्रवरसेन हैं, कालिदास नहीं। यदि यह काव्य कालिदास का रचा होता तो बाण जैसे परवर्ती उनका अवश्य उल्लेख करते।

पुष्पिका में प्रवरसेन के साथ कालिदास का नाम जोड़े जाने के सम्बन्ध में कहा गया है कि कालिदास नामक किसी लिपिक ने ग्रन्थ की प्रतिलिपि करने के बाद अपना नाम प्रवरसेन के नाम के साथ जोड़ दिया, जो बाद में भ्रम से महाकवि कालिदास समझ लिया गया हैं।

कुछ कवियों ने प्रवरसेन को कुन्तलेश्वर[3] माना है। क्षेमेन्द्र की मान्यता है कि प्रवरसेन ही कुन्तलेश्वर था, जिससे यहाँ कालिदास ने दौत्यकर्म किया।

यह कुन्तलेश्वर कौन है? इसका विचार करते हुए कहा है कि साधारणतः दक्षिण महाराष्ट्र तथा मैसूर के उत्तर भाग को कुन्तलदेश कहा जाता है। मैसूर राज्य के शिमोगा जिले में तालगुण्ड नामक स्थान में कदम्बों का एक शिलालेख मिला है। उसमें ऐसा उल्लेख किया है कि 'काकुस्थवर्मन् नामक राजा ने अपनी बेटी का विवाह गुप्तराज के साथ किया था।' इससे बम्बई के सेंट जेवियर कालेज के अध्यापक फादर हैंसस ने यह अनुमान निकाला कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने इस राजा की कन्या को अपने राजकुमार के लिए माँगा होगा और उस विवाह सम्बन्ध को जोड़ने के लिए कालिदास को अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा होगा।

---

१. इंसक्रिप्शंस ऑव कम्बोज, लेख नं० ३३ पृ० ९९।३४

२. काव्यमाला प्रथम गुच्छक पृ० १२७ पर सेतुबन्ध की 'दणुइंदरुहिर' १।२ उद्धृत। डॉ० मिराशीकृत कालिदास पृ० ३८

कुछ विद्वानों ने कुन्तलेश्वर को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का नाती वाकाटक द्वितीय प्रवरसेन कहा है। इतिहास साक्षी है कि चन्द्रगुप्त ने अपनी बेटी प्रभावती गुप्ता वाकाटक घराने के राजा द्वितीय रुद्रसेन को दी थी। प्रो० विंसेन्ट स्मिथ ने बताया है कि ईस्वी सन् ३९५ के लगभग यह विवाह सम्पन्न हुआ होगा।

इतिहास में प्रवरसेन नाम के चार राजा उपलब्ध होते हैं, दो कश्मीर में और दो दक्षिण के वाकाटक वंश में। प्रथम प्रवरसेन का समय ईस्वी सन् प्रथम शताब्दी (राज० ३ । ९६–१०१) और द्वितीय प्रवरसेन का समय ईस्वी सन् द्वितीय शताब्दी आता है (रा० ३ : १०९–१२५)। विचार करने पर कश्मीर के इन दोनों ही प्रवरसेनों का सम्बन्ध सेतुबन्ध के रचयिता के साथ स्थापित करना संभव नहीं जान पड़ता।

वाकाटक वंश में भी दो प्रवरसेन हुए हैं। वाकाटकों का कार्यक्षेत्र विदिशा और विदर्भ है। विन्ध्यशक्ति के पुत्र प्रवरसेन प्रथम ने २७५ ई० से ३३५ ई० तक शासन किया। इस वंश के इसी राजा ने सम्राट् की उपाधि ग्रहण की थी और इसी ने वाकाटक राज्य का समस्त दक्षिण में विस्तार किया था। इसके बाद रुद्रसेन प्रथम ने अपने पितृव्य का स्थान ग्रहण किया (३३५ ई० से ३६० ई०) और पश्चात् उनके पुत्र पृथ्वीसेन प्रथम ने राज्य किया। इसी समय कुन्तल वाकाटक राज्य में सम्मिलित हुआ था। पृथ्वीसेन के समय में ही राजकुमार रुद्रसेन द्वितीय से गुप्तसम्राट् चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती का विवाह हो चुका था। रुद्रसेन द्वितीय पाँच वर्ष ही राज्य कर सका और उसकी मृत्यु के पश्चात् प्रभावती ने अपने पिता के संरक्षण में राज्य का भार संभाला। सन् ४१० ई० में प्रभावती के द्वितीय पुत्र ने प्रसरसेन द्वितीय के नाम से राज्यभार सँभाला। इसका राज्यकाल ४४० ई० तक रहा। यही प्रवरसेन प्रस्तुत सेतुबन्ध नामक महाकाव्य का रचयिता है। प्रवरसेन ने वैष्णव धर्मानुयायी होने के कारण विष्णु के अवतार रूप में रामकथा को अपने इस महाकाव्य का आधार बनाया है। अतः इस काव्य का रचनाकाल पाँचवीं शताब्दी है। इसमें सन्देह नहीं कि इस काव्य की रचना कालिदास के अनन्तर और अन्य संस्कृत महाकाव्यों से पूर्व सम्पन्न हुई होगी।

निष्कर्ष यह है कि सेतुबन्ध का रचयिता या संशोधक कालिदास नहीं है, बल्कि वाकाटक वंशी द्वितीय प्रवरसेन है। क्योंकि विचारों, कल्पनाओं और उद्भावनाओं की दृष्टि से दोनों कवियों के क्षेत्र नितान्त भिन्न हैं। कालिदास सामान्यतः कोमल कल्पना के आचार्य हैं तो प्रवरसेन विराट् के। सेतुबन्ध कालिदास के काव्य की अपेक्षा अधिक अलंकृत है। इसकी महाराष्ट्री प्राकृत कालिदास के नाटकों की शौरसेनी प्राकृत की अपेक्षा भिन्न है।

कथावस्तु—इस काव्य की कथा का आधार वाल्मीकि-रामायण का युद्धकाण्ड है। कथावस्तु में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखलाई पड़ता है। काव्य की कथा का प्रारम्भ

शरद ऋतु के वर्णन से हुआ है। राम ने वालिबध करके सुग्रीव को राजा बना दिया और निष्क्रियता की स्थिति में वर्षाकाल अत्यन्त क्लेशपूर्वक व्यतीत हुआ। शरद ऋतु का आरम्भ नवीन प्रेरणा के रूप में होता है। सीतान्वेषण के लिए गये हुए हनूमान को अधिक दिन हो जाने के कारण राम सीता के वियोग में दुःखी हैं। राम सीता की स्मृति होने से रोमाञ्चित होते हैं तथा रावण के ऊपर क्रुद्ध भी। सेना सहित राम लंकाभियान करते हैं तथा विन्ध्य और सह्य पर्वतों को पार करते हुए दक्षिण सागर-तट पर पहुँच जाते हैं। वे विराट् समुद्र का दर्शन करते हैं। 'समुद्र किस प्रकार लाँघा जाय' इस भावना से चिन्तित वानरों को सम्बोधित करके सुग्रीव ने ओ स्वी भाषण दिया। सुग्रीव के भाषण से वानरसेना में हर्षोल्लास व्याप्त हो गया। जाम्बवान् ने सभी वानरों को समझाया और उचित कार्य करने के लिए प्रेरित किया। इसी समय आकाश मार्ग से विभीषण आता है और अनूमान उसे राम के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। वह राम के चरणों में झुक जाता है। राम ने विभीषण की प्रशंसा करके उसका अभिषेक कर दिया।

जब राम के द्वारा प्रार्थना करने पर भी समुद्र विचलित न हुआ तो राम को क्रोध आ गया और उन्होंने धनुष पर बाण आरोपित किया। सागर पर बाण चलाते ही वह बाण की ज्वाला से क्षुब्ध हो जाता है, जल में रहनेवाले जीवजन्तु व्याकुल हो जाते हैं। सागर बाहर निकलता है और सेतु निर्माण के लिए प्रार्थना करता है। सेतु निर्माण के लिए बड़े-बड़े विशाल पर्वतों को उखाड़ कर लाया जाता है और उन पर्वतों को सागर में गिरने से सागर विक्षुब्ध हो उठता है। वानरों के इस प्रकार प्रयत्नशील होने पर भी सेतु निर्मित नहीं हुआ, जिससे वानरसेना बहुत हतोत्साहित हुई। सुग्रीव ने नल के साथ परामर्श किया। नल ने नियमपूर्वक सेतुनिर्माण का कार्य आरम्भ किया। कुछ ही समय में सेतु निर्माण का कार्य सम्पन्न हो गया। वानरसेना सेतुपथ द्वारा सागर पार करती है और सुवेल पर्वत पर डेरा डालती है। वानरसेना के उस पार पहुँच जाने पर राक्षस रावण की आज्ञा की अवहेलना करने लगते हैं और राम का प्रताप बढ़ जाता है।

रावण जब सीता को अन्य किसी उपाय से वश नहीं कर पाता तो वह राम का मायाशीश सीता को दिखाता है। सीता बेहोश हो जाती है और होश में आने पर विलाप करती हैं। त्रिजटा उसे नाना तरह से आश्वासन देती है, पर सीता का विलाप कम नहीं होता। प्रातःकालीन वानरों के कल-कल नाद को सुनकर सीता को राक्षसी माया का विश्वास हो जाता है। रावण का युद्ध वाद्य बजना आरम्भ होता है। राक्षस जाग जाते हैं और संभोगरत ललनाओं से अलग होते हैं। राक्षससेना तैयार होती है और दोनों का आमने-सामने उपस्थित होकर युद्ध आरम्भ हो जाता है। दोनों सेनाओं में संघर्ष आरम्भ

होती है और आक्रमण-प्रत्याक्रमण होने लगते हैं। रावण को सम्मुख न पाकर राम खिन्न हो जाते हैं और वे राक्षसों पर बाण प्रहार करते हैं। मेघनाद राम-लक्ष्मण को नागपाश में बाँधता है। राम-लक्ष्मण को नागपाश में बँधे हुए देखकर देवता व्याकुल हो जाते हैं और वानरसेना किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाती हैं। सेना में हाहाकार होने लगता है। राम गरुड का आवाहन करते हैं। गरुड के आते ही उनकी नाग-पाश से मुक्ति हो जाती है। अनन्तर रावण की सेना के अनेक योद्धा मारे जाते हैं। बन्धुजनों के निधन के बाद रावण अट्टहास करता हुआ युद्धभूमि में प्रवेश करता हैं। वह राम-बाण से आहत होकर लंका में घुस जाता है। कुम्भकर्ण को जगाता है। कुम्भकर्ण असमय में जागकर युद्ध करने के लिए दौड़ता है। वानरसेना कुम्भकर्ण के आते ही त्रस्त हो जाती है। भयंकर युद्ध के अनन्तर कुम्भकर्ण युद्ध में मारा जाता है। विभीषण की मन्त्रणानुसार इन्द्रजीत का भी लक्ष्मण द्वारा बध होता है। राम-रावण का भयंकर युद्ध होता है। राम-रावण के सिरों और हाथों को काटते हैं, पर वे पुनः निकल आते हैं। अन्त में वे एक ही बाण द्वारा रावण के दसों सिरों को काट-गिराते है। रावण की मृत्यु होती है। विभीषण रुदन करता है। रावण का अन्तिम संस्कार किया जाता है और अग्नि में विशुद्ध हुई सीता को लेकर राम अयोध्या आ जाते हैं।

समीक्षा—सेतुबन्ध महाराष्ट्री का महाकाव्य है। प्राकृत महाकाव्यों में सर्ग के स्थान पर आश्वास का प्रयोग होता है, अतः इस महाकाव्य में भी सर्ग के स्थान पर आश्वास का प्रयोग हुआ है। इसी प्रबन्ध कल्पना बहुत ही उदात्त है। इसकी कथावस्तु में नाटकीयता का समावेश है। इस काव्य में जिस प्रकार शरद ऋतु का वर्णन कथा की स्थापना के रूप में किया गया है, उसी प्रकार सागर भी कथा का अंग हैं। अतएव समुद्र का वर्णन, वानरों पर प्रभाव, सुग्रीव का ओजस्वी भाषण, जाम्बवान् की शान्तवाणी आदि के प्रयोग कथावस्तु को आकर्षक और प्रवाहपूर्ण बनाते हैं। विभीषण के आगमन प्रसंग को संक्षिप्त कर प्रधानकथा को अबाधित गति से विकसित दिखलाया है। सेतु निर्माण का लम्बा प्रसंग कथाविकास में व्यवधान नहीं है, अपितु राम-रावण के कठिन युद्ध के प्रारम्भ होने के पूर्व एक उचित विराम बन गया है। इसके पश्चात् घटनाएँ क्षिप्रगति से आगे बढ़ने लगती हैं। कवि ने व्यर्थ के वर्णनों से अपनी कथा को शिथिल नहीं होने दिया है। दसवें आश्वास में सन्ध्या, रात्रि एवं चन्द्रोदय के वर्णन राक्षस कामिनियों के संयोग वर्णन के उद्दीपन रूप में किये गये हैं। इस सन्दर्भ में रावण की कामपीड़ा का प्रतिपादन भी काव्य कौशल का परिचायक हैं। बारहवें आश्वास से युद्धारम्भ की पीठिका के रूप में प्रातःकाल का वर्णन किया है। अतएव सेतुबन्ध का घटना क्रम सुचिन्तित और सुगठित है। इसमें वैसी ही घटनाओं को स्थान दिया गया है, जिनसे कथानक की गति तीव्र बनी रहे। चमत्कारवादिता और ऊहात्मकता को

इसमें स्थान नहीं दिया है। घटनाओं के विस्तार और वर्णनों ने चरित्रों के विकास में बाधा उत्पन्न नहीं की हैं।

इस काव्य के नायक राम का अपना व्यक्तित्व है। राम आदर्श धीरोदात्त नायक हैं। कवि ने जहाँ राम के चरित्र में अनेक गुणों का समावेश किया है, वहाँ उनके चरित्र में यह कमजोरी भी दिखलायी है कि वे निरुपाय समय में निराश हो गये हैं। कार्य की दिशा ज्ञात हो जाने पर—सिद्धि का उपाय स्पष्ट हो जाने पर वे क्षणभर के लिए बिलम्ब नहीं करते। वीरोचित उत्साह की राम में कमी नहीं है। सागर के सम्मुख राम किंकर्त्तव्यविमूढ़ दिखलायी पड़ते हैं, गम्भीर भाव से इस समस्या पर विचार करते हुए प्रतीत होते हैं; पर उनमें आत्मविश्वास की कमी नहीं दिखलायी पड़ती। प्रार्थना न सुनने पर राम सागर को बाण द्वारा अनुशासित करते हैं। वीर होने के साथ वे नीतिकुशल भी हैं। वियोग जन्य कातरता वहीं तक रहती है, जहाँ तक कर्त्तव्यपथ उनके समक्ष नहीं आता। कर्त्तव्य के उपस्थित होने पर वे तुरन्त क्रियाशील हो जाते हैं। नाग-पाश में बँधे राम निराश मालूम होते हैं, पर यह निष्क्रियता अधिक समय तक नहीं रहती। गरुड को याद कर वे नागों को भगा देने के कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं। राम के चरित्र में क्षमाशीलता तथा अपने प्रियजनों के प्रति कृतज्ञता की भावना विशेषरूप से पायी जाती है।

काव्य की नायिका सीता है। सेतुरचना और रावण-बध इन दोनों प्रमुख घटनाओं का केन्द्र सीता ही है। सीता का चरित्र अनेक बार सामने नहीं आता। राम के मायाशीश के प्रसंग में सीता प्रत्यक्ष होती है। रावण के अशोक-वन में नन्दिनी सीता की विरह वेदना तथा उसके मलिन रूप की कल्पना प्रथम सर्ग में ही हमारे सामने साकार हो जाती है। शील-मूर्ति सीता का दृढ़ चरित्र प्रत्येक रमणी के लिए आदर्श है।

प्रतिनायक रावण का चरित्र भी विकसित है। वह राम की अपेक्षा कायर है। राम के बाणों से भयभीत होकर वह लंका भाग जाता है। भागते हुए वह वानरों की हँसी को चुपचाप सह लेता है। युद्धभूमि में वह राम का यथार्थ प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध होता हैं। रावण के चरित्र में उदारता की कमी नहीं है। वह सीता का अपहरण करने के बाद भी उसपर बल प्रयोग नहीं करता। वह सीता को प्रसन्न किये बिना अपनाना नहीं चाहता। उसके हृदय में कोमलता भी है, वह अपने पुरजन और परिजनों से स्नेह करता है। संक्षेप में इस काव्य में कथात्मक योजना में आनेवाले सभी पात्रों का चरित्र अपने-अपने स्थान पर सजीव रूप में प्रस्तुत किया गया है।

कथोपकथन की दृष्टि से यह महाकाव्य सफल है। वार्तालाप पर्याप्त सजीव हैं, अतः कथावस्तु में एकरसता नहीं आने पायी है और चारित्रिक विकास में स्वाभाविकता का समावेश होता गया है। भावात्मक परिस्थियों के चित्रण में भी कथोपकथन सहायक

हैं। हनुमान् जब सीता का कुशल समाचार राम से निवेदित करते हैं तो भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रभाव व्यञ्जित होता गया है। भावात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्ष दर्शन इस स्थल पर हुआ है। सागर के तट पर सुग्रीव ने हतोत्साहित कपिसैन्य को एक लम्बा भाषण दिया है। यह ओजपूर्ण तर्क-शैली से युक्त है। सुग्रीव वानर वीरों की प्रशंसा कर उनमें आत्मविश्वास जगाना चाहते हैं, राम की शक्ति का स्मरण दिलाकर उनके मन से भय और सन्देह दूर करना चाहते हैं। कथोपकथनों में पर्याप्त मार्मिकता भी है।

विभिन्न मनोभावों की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में यह काव्य कालिदास के काव्यों के निकट है। इस महाकाव्य में मनुष्य के मन के नाना भाव अनेक प्रकार से अभिव्यक्त हुए हैं। 'हनुमान के जाने के बहुत समय बीत जाने पर सीता मिलन के आशा-सूत्र के अदृश्य होने के कारण अश्रुप्रवाह के रुक जाने पर भी राम के मुख का रुदन का भाव घना था।' इस चित्र में कवि ने राम के मन की निराशा, पीड़ा, क्लेश और उनकी निरुपायस्थिति की सुन्दर व्यञ्जना की है। सुग्रीव के गम्भीर भाषण के अनन्तर जाम्बवान की गम्भीर तथा विचारशील मुद्रा के अंकन द्वारा उनके आन्तरिक भावों की अभिव्यञ्जना भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। नल के कथन के समय की भंगिमा द्वारा उनका आत्मविश्वास, उद्विग्नता एवं आदरभाव एक साथ अभिव्यक्त हुए हैं। मानसिक भावस्थितियों का सूक्ष्म चित्रण गहन मुद्राओं के सहारे किया गया है। वानरसेना की विभिन्न मानसिक परिस्थितियों का कवि ने कितना सुन्दर चित्रण किया है।

कह वि ठवेंति पवंगा समुद्दंसणविसाअविमुहिज्जन्तम्।
गलिअगमणाणुराअं पडिवन्थणिअन्तलोअणं अप्पाणम्॥ २।४६

सागर को देखकर उत्पन्न विषाद से व्याकुल, जिनका वापस लौट जाने का अनुराग नष्ट हो गया है तथा पलायन के मार्ग से लौट आये हैं नेत्र जिनके, ऐसे वीर वानर किसी प्रकार अपने आपको ढाढ़स बँधा रहे हैं।

इसी प्रकार पात्रों की विभिन्न क्रियात्मक स्थितियों को नाना रूपों में व्यंजित किया गया है। वस्तुस्थिति के वर्णन प्रसंग में कवि ने अनेक सुन्दर भावात्मक चित्र उपस्थित कर चमत्कार उत्पन्न किया है। अतएव भावाभिव्यञ्जना की दृष्टि से यह महाकाव्य रमणीय है।

सेतुबन्ध में प्रकृति का विस्तार कथा से सम्बद्ध होकर प्रस्तुत हुआ है। प्राकृतिक स्थानों में 'सेतुबन्ध में पर्वत, वन, सागर, सरिता तथा आकाश का वर्णन प्रमुख है। वानरसेना द्वारा पर्वतों को उखाड़ना, उन्हें आकाश मार्ग से ले जाकर समुद्र में फेंकना, पर्वतों का सागर में उतराना आदि रूप में पर्वतों की विभिन्न स्थितियाँ चित्रित हैं। पर्वतों के साथ वन, नदियाँ, निर्झरों और पशुओं का भी चित्रण किया है। सागर के निरूपण में कवि ने जिस प्रकार विराट् कल्पनाओं का आश्रय ग्रहण किया है, उसी

प्रकार सुवेल पर्वत के चित्रण में आदर्श कल्पनाओं का। दसवें आश्वास में कवि ने सायंकाल तथा रात्रि का वर्णन करते हुए सूर्यास्त, अन्धकार-प्रवेश, चन्द्रोदय के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। प्रकृति के चित्र क्रमशः उपस्थित किये गये हैं, जिससे वे शृंखलाबद्ध प्रतीत होते हैं और उनका समवेत प्रभाव दृश्यबोध पर गतिशील रूप में चलचित्र के समान जान पड़ता है। इस काव्य में केवल सौन्दर्य की अनुकृति ही प्रकृति में नहीं पायी जाती, बल्कि सौन्दर्य के अनेक भावात्मक प्राकृतिक दृश्य चित्र भी उपलब्ध होते हैं।

इस काव्य में चित्रात्मक शैली का समावेश है। अप्रस्तुत योजना द्वारा अनेक रमणीय चित्रों का सूक्ष्म अंकन किया गया है। यहाँ एकाध उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है।

पीणपओहरलग्गं दिसाणं पवसँतजलअसमअविइण्णम्।
सोहग्गपढमइण्हं पम्माअइ सरसणहवअं इंदधणुम्॥ १-२४

प्रवास के समय वर्षाकाल रूपी नायक ने दिशा—नायिका के मेघरूपी पीन पयोधरों में इन्द्रधनुष के रूप में प्रथम सौभाग्य चिह्न स्वरूप नखक्षत लगाये थे, वे अब बहुत अधिक मलिन हो गये हैं।

इस चित्र में भावव्यञ्जना के स्थान पर वैचित्र्य पूर्ण रूपाकार का आरोप ही प्रधान है। कवि ने मानव जीवन के व्यापक विश्लेषण के हेतु प्रकृति को स्वयं ही इतिवृत्त बनाया है। प्रकृति के उपकरण जीवन्त पात्रों के समान क्रिया व्यापार करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। सागर का विराट् रूप स्वयं घटना तो है ही, साथ ही उसमें प्रकृति का अलौकिक सौन्दर्य भी छिपा है। अनेक स्थलों पर पात्रों के चरित्र का संकेत भी प्राप्त हो जाता है, यतः इस काव्य में प्रकृति को मानवीय सम्बन्धों के धरातल पर उपस्थित किया है। प्रकृति में मानवीय सहानुभूति भी पायी जाती है।

अलंकार योजना—कल्पना-शक्ति और सौन्दर्यबोध को उपस्थित करने के लिए अलंकारों का प्रयोग भी किया गया है। प्रस्तुत वर्ण्यवस्तु को अधिक प्रत्यक्ष, बोधगम्य तथा सुन्दर रूप में चित्रित करने के लिए अलंकारों का नियोजन आवश्यक होता है। अलंकारों द्वारा वर्ण्यवस्तु के विवेचन में रमणीयता आ जाती है। सेतुबन्ध में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त, श्लेष, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार प्रयुक्त हैं। कवि ने आकाश के विराट् रूप को निम्नलिखित उपमा अलंकार द्वारा उपस्थित किया है।

रइअरकेसरणिवहं सोहइ धवलब्भदलसहस्सपरिगअम्।
महुमहदंसणजोग्गं पिआमहुप्पत्तिपङ्कअं व णहअलम्॥ १-१७

शरद् ऋतु का आकाश भगवान् विष्णु की नाभि से निकले हुए उस अपार विस्तृत कमल के समान सुशोभित हो रहा है, जिससे ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है। सूर्य की किरणें ही जिसमें केसर हैं और बादलों के सहस्रों खण्ड दल हैं।

यहाँ विस्तृत कमल उपमान है और आकाश उपमेय। कमल भी सामान्य नहीं है, इसमें सहस्र दल हैं और केसर भी। आकाश में सहस्रों बादल हैं और रविकिरणें। इस प्रकार कवि ने उपमा के द्वारा आकाश का भव्य और विशाल रूप प्रत्यक्ष कर दिखलाया है।

सोहृ व्व लक्खणमुहं वणमाल व्व विअडं हरिवइस्स उरम्।
कित्ति व्व पवणतणअं आण व्व बलाइँ से विलग्गइ दिट्ठी ॥ १-४८ ॥

राम की दृष्टि वानरराज सुग्रीव के कठोर वक्षस्थल पर वनमाला की तरह, पवनपुत्र हनुमान पर कीर्त्ति के समान, वानरसेना पर आज्ञा के समान तथा लक्ष्मण के मुखमण्डल पर शोभा के समान पड़ी।

इस पद्य में सहोपमा तथा साधर्म्य उपमा के साथ यथासंख्य तया उत्प्रेक्षा का प्रयोग भी वर्तमान है। राम की दृष्टि के यहाँ कई उपमान हैं। वनमाल, कीर्त्ति, आज्ञा एवं शोभा ये चार उपमान भिन्न-भिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति करते हैं।

उत्प्रेक्षा के भी सुन्दर उदाहरण इस काव्य में प्राप्त हैं—

उक्खअदुमं व सेलं हिमहअकमलाअरं व लच्छिविमुक्कम्।
पीअमइरं व चसअं बहुलपओसं व मुद्धचन्दविरहिअम् ॥ २-११ ॥

सागर मानो वृक्षहीन पर्वत है। यह सागर ऐसा प्रतीत होता है मानो कमलोंवाला सरोवर हो, मदिरा पीकर खाली किया गया प्याला हो अथवा अन्धेरी रात ही हो। इस उत्प्रेक्षा द्वारा सागर का विराट् रूप, विस्तार तथा आतंकित करनेवाला रूप व्यंजित हुआ है। कवि उत्प्रेक्षाओं का धनी हैं, वह नयी-नयी कल्पनाओं के द्वारा सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ प्रस्तुत करता है।

महाकवि प्रवरसेन ने रूपकों का भी सफल प्रयोग किया है। रूपकों के प्रयोग से काव्य की चारुता अधिक पुष्ट हो गयी है तथा वर्ण्य-विषय अतीव मार्मिक हो गया है। उपमेय और उपमानों की सटीक योजना भी जीवन्त और मर्मस्पक् है। कुछ रूपकों का सौन्दर्य द्रष्टव्य है :—

ववसाअरइपओसो रोसगइन्ददिढसिङ्खलापडिबन्धो।
कह कह वि दासरहिणो जअकेसरिपञ्जरो गओ घणसमओ ॥ १।१४

प्रस्तुत रूपक में राम के उद्यम सूर्य के लिये रात्रिकाल, आकाश रूपी महागज के लिये अर्गलाबन्ध तथा विजय सिंह के लिये पिंजड़ा हैं। इसमें राम की मनःस्थिति का मार्मिक वर्णन किया गया है साथ ही राम की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की गूढ़ व्यञ्जना भी की गई है।

कविवर प्रवरसेन ने सांगरूपक की जहाँ योजना की है, वहाँ वर्णन और काव्यात्मकता में चारुता आ गयी है।

मम्महधणुणिग्घोसो कमलवणक्खलिअतेच्छिणेउर सद्दो ।
सुव्वइ कलहंसरओ महुअरिवाहिन्तणलिणिपडिसंलाओ ॥१।२९॥

यहाँ हंसों के नाद को कामदेव के धनुष की टंकार, कमलवन पर संचरण करने वाली लक्ष्मी के नुपूर की ध्वनि को नलिनी के ऊपर मड़रानेवाली भ्रमरी के संवाद के रूप कहता है ।

उपमा से अनुप्राणित रूपकों का सौन्दर्य भी सेतुबन्ध में अत्यन्त मनभावन लगता है—

अह व सुवेलालग्गं पेच्छइ अज्जेअ भग्गरक्खसविडवम् ।
सीअकिसलअसेसं मज्झ भुआअट्ठिअं लअं मिव लङ्कम् ॥३।६२॥

अर्थात् जिसके विटप राक्षस हैं । सीता किसलय है, ऐसी लता के समान लंका सुवेल सी लगी । यहाँ रूपक और उपमा की संसृष्टि से लंका की सुन्दरता पूर्णरूपेण स्पष्ट हो गयी है, साथ ही दृश्यबोध में प्रेषणीयता भी आ गयी हैं ।

दीसन्ति गअउलणिहे ससिधवलमइन्दविद्दुए तमणिवहे ।
भवगच्छाहिसमूहा दीहा णीसरिअकद्दमपअच्छाआ ॥१०।४७॥

प्रस्तुत पद्य में कवि ने कल्पना रूपक की योजना की है । इस रूपक में गजकुल के ऊपर तमोनिवह का आरोप किया है और धवलशशि पर मृगेन्द्र का । कवि ने यह आरोप कल्पना और वन्यपशुशक्ति जन्य भावों के मिश्रण के आधार पर किया है । कवि के मानस क्षितिज में यह सत्य अंकित है कि मृगेन्द्र के दर्शनमात्र से वनगजघटा तितिर-वितिर हो जाती है । इसी तथ्य द्वारा रूपक की सृष्टि हुई है ।

अर्थान्तरन्यास अलंकार की योजना भी कवि ने सुन्दर की है । यथा—

तुम्ह च्चिअ एस भरो आणामेत्तप्फलो पहुत्तणसद्दो ।
अरुणो छाआवहणो विसअं विअसंति अप्पणा कमलसरा ॥ ३।६ ॥

सुग्रीव वानरों से कहते हैं—'हे वानर वीरो ! प्रस्तुत कार्यभार तुम्हारा ही है; प्रभु शब्द का अर्थ होता है, केवल आज्ञा देनेवाला; क्योंकि सूर्य तो प्रभामात्र विस्तारित करता है, पर कमल सरोवर अपने आप खिल जाते हैं ।

यहाँ सामान्य का विशेष से साधर्म्य द्वारा समर्थन किया गया है । अतः अर्थान्तरन्यास है । इससे वर्ण्य प्रसंग में उत्कर्ष आ गया हैं और वर्णन अधिक बोधगम्य हो गये हैं ।

निदर्शना अलंकार की योजना कर वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध द्वारा उनके बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का बोध कराया गया हैं ।

केच्चिरमेत्तं व ठिई एअ विसंवाइआ ण मेच्छिहि रामम् ।
कमलम्मि समुप्पण्णा तं चिअ रअणीसु किं ण मुंचइ लच्छी ॥३।३०॥

क्या अधिक समय बीतने पर इस प्रकार विचलित राम को धैर्य छोड़ न देगा ? कमल से उत्पन्न लक्ष्मी क्या रात में उसका त्याग नहीं कर देती।

छन्दों की दृष्टि से इस महाकाव्य में १२९१ छन्दों में से १२४७ आर्यागीति—गाथा छन्द हैं और ४४ विविध प्रकार के हैं। इसमें संस्कृत महाकाव्यों के समान सर्ग के अन्त में भी छन्द परिवर्तन नहीं हुआ है।

सांस्कृतिक निर्देश—इस महाकाव्य में अवतारवाद का पूर्ण विकास परिलक्षित होता है। ब्रह्म ही विष्णु हैं और विष्णु ने अनेक अवतार ग्रहण किये हैं। ये विष्णु इन्द्र से महान् हैं, क्योंकि इन्होंने देवराज के यश को उखाड़ फेंका है। इसमें त्रिदेव की स्थापना की गयी है। सामाजिक वातावरण में मैत्री का निर्वाह पवित्र कर्त्तव्य माना गया है। उपकार का बदला चुकाना अनिवार्य है। आत्मनिर्भरता, आत्मसंयम, उत्साह, वीरता आदि गुणों को मानवता का निर्माण करनेवाला कहा है। आचरण नीति के अतिरिक्त एक व्यवहार नीति भी होती है। राजा अपने सेनापति पर विश्वास करता है, सेनापति के सहयोग के विना विजय संभव नहीं है। आभूषण, अङ्गराग एवं सुगन्धित पदार्थों का प्रयोग समाज में होता था। आमोद-प्रमोद का जीवन ही समाज की विशेषता है। इसके लिए क्रीड़ागृह, प्रमद वन, लता-कुञ्ज आदि का कथन आया है। इस काव्य में सुन्दर नगरों की कल्पनाएँ आयी हैं। स्फटिक तथा नीलमणि के फर्शवाले ऊँचे भवन, उद्यान और उपवन सभी अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। धनुर्विद्या के साथ खड्ग, शूल, परिघ, मूसल और असि आदि अस्त्रों का उल्लेख आया है। चक्रव्यूह, चक्रबंध, द्वन्द्वयुद्ध तथा मुस्कयुद्ध का वर्णन भी आया है। नाग एवं यक्ष संस्कृति का निरूपण भी इसमें आया है। इस प्रकार यह काव्य रसमय होते हुए भी संस्कृति के अनेक तत्त्वों पर प्रकाश डालता है।

गउडवहो[1]

यह एक ऐतिहासिक काव्य है। इसका रचयिता वाक्पतिराज है। यह कवि कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रय में रहता था। इस काव्य में उसने कन्नौज राजा यशोवर्मा द्वारा गौड देश—मगध के किसी राजा के वध किये जाने का वर्णन किया है। इसमें १२०९ गाथाएँ हैं। ग्रन्थ का विभाजन सर्गों में न होकर कुलकों में हुआ है। सबसे बड़े कुलक में १५० पद्य और सबसे छोटे कुलक में ५ पद्य हैं।

रचयिता—काव्य के रचयिता वाक्पतिराज निश्चयतः अपने आश्रयदाता का समकालीन है। उसने अपने पूर्ववर्ती कवियों का नामोल्लेख किया है। भास, कालिदास, सुबन्धु, भवभूति, हरिश्चन्द्र आदि कवियों का नाम निर्देश इस काव्य में पाया जाता है।

---

१. सन् १९२७ में ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना से प्रकाशित।

काव्य में उल्लिखित भवभूति के नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि भवभूति का समकालीन रहा है। यथा—

भवभूइ-जलहि-णिग्गय-कव्वामय रस-कणा इव फुरन्ति।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहा-णिवेसेसु ॥७९९॥

इस गाथा में आये हुए 'अज्जवि' शब्द से प्रतीत होता है कि भवभूति वाक्पतिराज से पहले हुए थे और यशोवर्मा के राज्यकाल के पूर्वार्ध में उनकी प्रसिद्धि हो चुकी थी।

कल्हण कृत 'राजतरंगिणी' से विदित होता है कि वाक्पतिराज का नाम भवभूति के साथ लिया गया है।

कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥४।१४४॥

राजतरंगिणी ४।१३४ में कल्हण ने बतलाया है कि कश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड ने कन्नौज के राजा यशोवर्मा को परास्त किया था। डा० स्टीन का मत है कि यह घटना सन् ७३६ ई० के पूर्व की नहीं हो सकती। वाक्पतिराज ने अपने इस काव्य में यशोवर्मा का यशोगान किया है। इस काव्य के अधूरे होने से प्रतीत होता है कि वाक्पतिराज ने अपने काव्य की रचना यशोवर्मा के विजयी दिनों में आरम्भ की थी, किन्तु कश्मीर के राजा ललितादित्य के हाथों यशोवर्मा का पराजय होने पर उसे अधूरा ही छोड़ दिया। अतः इससे अनुमान किया जा सकता है कि वाक्पतिराज का समय ई० सन् ७६० के लगभग है।

वाक्पतिराज ने यशोवर्मा की बहुत प्रशंसा की है। बताया है कि यह साधारण राजा नहीं है। यह पौराणिक राजा पृथु से भी महान् है, जिस पृथु ने दानवों द्वारा समस्त पृथ्वी की रक्षा की थी। यशोवर्मा की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि नश्वर और अपूर्णता से युक्त इस जगत् में केवल यशोवर्मा ही ऐसा व्यक्ति है, जिसकी कीर्त्ति और सद्गुण सुनने योग्य हैं। कवि ने यशोवर्मा को विष्णु के अवतार रूप में चित्रित किया है। इस यशोवर्मा की प्रसिद्धि भूमण्डल पर सर्वत्र व्याप्त है।

इस कवि के महुमहविअअ (मधुमथ विजय) नामक काव्य का भी उल्लेख मिलता है। अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक १५३।१५ टका में तथा हेमचन्द्र के काव्यानुशासन की अलंकार चूडामणि वृत्ति १।२४ पृ० ८१ में इस काव्य ग्रन्थ की एक गाथा उद्धृत मिलती है। दुर्भाग्यवश यह महुमहविअअ ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है।

वाक्पतिराज प्रतिभाशाली लोकप्रिय कवि हैं। संस्कृत के काव्यों से पूर्णतया प्रभावित हैं। ऋतु वर्णन और प्रकृति चित्रण पर संस्कृत काव्यों का पूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह न्यायशास्त्र, छन्दशास्त्र और पुराण आदि विषयों का ज्ञाता था।

कथावस्तु—काव्य का आरम्भ विभिन्न देव-देवियों के नमस्कार एवं आदर्शों की लम्बी परम्परा से होता है। प्रारम्भ के ६१ पद्यों में विष्णु के विभिन्न अवतारों, गणेश, गौरी, सरस्वती, चन्द्र, सूर्य और लक्ष्मी की स्तुति की गयी है। ६२वें पद्य से ९८वें पद्य तक कवि प्रशंसा कुलक में महाकवि, सुकवि, सामान्य कवि आदि की प्रशंसा और स्वरूप विश्लेषण के अनन्तर प्राकृत भाषा और प्राकृत काव्य की महत्ता बतलायी गयी है।

काव्य का आरम्भ करते हुए कवि ने नायक यशोवर्मा के गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है कि यशोवर्मा ऐसा राजा है, जिसने पृथ्वी के सभी दुःखों को समाप्त कर इन्द्र को प्रसन्न कर दिया है, जिसके गुण पृथ्वी की चारों दिशाओं में व्याप्त हैं। जब वह अपनी सेना के साथ चलता है तो पैरों से उठी हुई धूल से स्वर्ग से भी आच्छादित हो जाता है और इस भार से पृथ्वी को धारण करनेवाला शेषनाग भी दुःख का अनुभव करता है। इसके पश्चात् ९३ गाथाओं में यशोवर्मा की महाशक्ति और सौन्दर्य का वर्णन किया है। यशोवर्मा की समर शक्ति को देखकर देवाङ्गनाओं के मन में भी मन्मथ विकार उत्पन्न हो जाता है। पर्वतों के पक्षों को छिन्न करनेवाला इन्द्र भी यशोवर्मा के साथ एकासन पर बैठने की इच्छा करता है। यशोवर्मा शत्रुओं को अपने पराक्रम से नष्ट कर देता है। शत्रु राजा उसके अधीन हो जाते हैं। वह शत्रु राजाओं की वापियों में वाराङ्गनाओं के साथ जलक्रीड़ा करता है।

कवि ने अपने काव्य के नायक को बालक हरि का अवतार कहा है, जो प्रलय में अवशेष रह जाता है। अनन्तर विश्वदहन का मनोहर और रोमाञ्चक वर्णन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि सुवर्ण मेरु पर्वत के द्रवीभूत होने से सोने के स्रोत निकल कर उत्तर दिशा की ओर प्रवाहित हुए। यह दृश्य ऐसा मालूम पड़ता था, मानों नीचे की ओर प्रज्वलित लहरें ही हों। देवताओं का नन्दन वन भी पुष्पचयन करनेवाली सुन्दरियों तथा धूम्र में उलझे हुए भ्रमरों सहित दग्ध हो रहा था। इस अग्नि की प्रचण्डता से कुबेर का कोष भी जलने लगा, जिससे कोष रक्षक सर्पों ने उस दहन से बचाने के लिए अपने विषरूपी जल की वर्षा की।

कवि ने यशोवर्मा के शत्रुओं की विधवाओं का जीवन्त वर्णन किया है। युद्ध में मृत्यु प्राप्त शत्रुओं की स्त्रियाँ नाना प्रकार से विलाप कर रही हैं। उसके केश बिखरे हुए हैं और वे धैर्य धारण करने पर भी स्थिर नहीं रह पातीं। आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है।

यशोवर्मा वर्षा ऋतु के समाप्त होने पर विजय-यात्रा के लिए प्रस्थान करता है। राजमहल छोड़ते ही शुभ शकुन प्रारम्भ हो जाते हैं। आकाश से पुष्प-वृष्टि होती है और नन्दन वन की सुगन्धित वायु प्रवाहित होने लगती है। सुन्दर युवतियाँ अपने

भवनों के वातायन से इस यात्रोत्सव को देखने लगती हैं। वे आनन्दातिरेक के कारण अपने प्रसाधन को भी भूल जाती है और आभूषणों को गलत स्थान में धारण कर लेती हैं। सभा के बड़े-बड़े कवि तथा चारण माङ्गलिक वाद्यों द्वारा राजा की स्तुति करते हैं। इन्द्र भी यशोवर्मा के प्रताप के समक्ष नम्रीभूत हो जाता है। विजय-यात्रा के प्रारम्भ होते ही शरद् ऋतु आ जाती है। सैनिकों के प्रयाण से शालि के खेत नष्ट होने लगते हैं। वहाँ से वह विन्ध्य पर्वत की ओर गमन करता है और वहाँ विन्ध्यवासिनी देवी की स्तुति करता है। मन्दिर के भीतर दीपक प्रज्वलित हो रहा है, द्वार पर तोरण और घण्टे लगे हुए हैं। महिषासुर का मस्तक देवी के पैरों से भिन्न हो रहा है। पुष्प एवं धूप आदि सुगन्धित पदार्थों से आकृष्ट होकर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। स्थान-स्थान पर रक्त की भेंट चढ़ाई गयीं हैं। कपालों के मण्डल बिखरे हुए हैं। साधक लोग अक्षत, पुष्प एवं मुण्ड आदि से साधना कर रहे हैं। अरुण पताकाएँ फहरा रहीं हैं। भूत-प्रेतात्माएँ रुधिर आसव का पान कर सन्तोष प्राप्त कर रही हैं। देवी-श्मशान में साधक लोग महामांस की विक्री कर रहे हैं। गौड—मगध नृपति यशोवर्मा के भय से पलायन कर गया है। उसके सहायक राजा लौट आये हैं। यशोवर्मा की सेना के साथ उनका युद्ध होता है, जिसमें मगध का राजा मारा जाता है। इस प्रकार गौडवध की प्रमुख घटना को लेकर ही इस काव्य का नाम गउडवध पड़ा है।

तदनन्तर यशोवर्मा ने एला से सुरभित समुद्र तट के प्रदेश में प्रयाण किया। वहाँ से बंग देश की ओर प्रस्थान किया। यह देश हाथियों के लिए प्रसिद्ध था। बंगराज को पराजित कर मलय पर्वत को पारकर दक्षिण की ओर बढ़ा और समुद्र तट पर पहुँचा। पुनः पारसीक जनपद में पहुँच कर वहाँ के राजा के साथ युद्ध किया और कोकण को विजय कर नर्मदा के तट पर पहुँचा। तदनन्तर मरुदेश की ओर गमन किया। वहाँ से श्रीकण्ठ गया। तत्पश्चात् कुरुक्षेत्र में पहुँच कर जलक्रीड़ा का आनन्द लिया। वहाँ से यशोवर्मा हरिश्चन्द्र की नगरी अयोध्या के लिए रवाना हुआ। महेन्द्र पर्वत के निवासियों पर विजय प्राप्त कर उत्तर दिशा की ओर चला।

कवि ने इस प्रसंग में १४६ पद्यों में विजय-यात्रा में आये हुए तालाब, नदी, पर्वत, वन, वृक्ष आदि का सुन्दर वर्णन किया है। यशोवर्मा विजय-यात्रा के अनन्तर कन्नौज लौट आता है। उसके सहायक राजा अपने-अपने घर चले जाते हैं। सैनिक अपनी पत्नियों से मिलकर बड़े प्रफुल्ल होते हैं। बन्दिजन यशोवर्मा का जय-जयकार करते हैं। यशोवर्मा की यह विजय-यात्रा रघुवंश में वर्णित रघु की दिग्विजय-यात्रा के समान ही है। वर्णन क्रम बहुत अंशों में समान है।

तत्पश्चात् कवि ने अपनी प्रशस्ति लिखी है। कवि यशोवर्मा के दरबार में रहता था। न्याय, छन्द एवं पुराणों का वह पण्डित था। पण्डितों के अनुरोध से ही उसने

इस काव्य की रचना की है। कवि की इस कथावस्तु से स्पष्ट है कि नायक के उत्तरार्द्ध जीवन की कथा इस महाकाव्य में नहीं वर्णित है।

समालोचना—यह एक सरस काव्य है। इसमें ऋतु, वन, पर्वत, सरोवर, सन्ध्या, प्रातः, उषा, रात्रि, नदी आदि का सुन्दर वर्णन किया है। जीवन के मधुर और कठोर कटु दोनों ही चित्र समानान्तर रूप में अंकित किए गये हैं। चित्रों की रेखाएँ इतनी सन्तुलित हैं, जिससे उनमें भद्दापन नहीं आ पाया है। उदाहरण के लिए ग्रामों के चित्र प्रस्तुत किए जाते हैं—

> टिविडिक्किअ-डिम्भाणं णव-रंगय-गव्व-गरुय-महिलाण।
> णिक्कंप-पामराणं भद्दं गामूसव-दिणाण॥ ५९८॥

ग्रामोत्सव के दिन कितने सुन्दर हैं, जबकि बालकों को प्रसाधित कर नये रंग-विरंगे वस्त्रों को धारण कर स्त्रियाँ गर्व का अनुभव करती हैं और ग्रामवासी निश्चेष्ट खड़े रहकर खेल आदि देखते हैं।

> फल-लम्भ-मुइय-डिम्भा सुदारु-घर-संणिवेस रमणिज्जा।
> एए हरन्ति हिययं अजणाइण्णा वण-ग्गामा॥ ६०७॥

गाँवों में फलों को प्राप्त कर बालक प्रसन्न होते हैं। लकड़ी के बने हुए घरों के कारण ग्राम रमणीक जान पड़ते हैं और वहाँ बहुत लोग निवास नहीं करते हैं, ऐसे वन-ग्राम किसका मन मुग्ध नहीं करते? तात्पर्य यह है कि गाँवों में घनी बस्ती नहीं रहती। वहाँ घर फैले हुए दूर-दूर रहते हैं, फलतः वे स्वास्थ्यप्रद होने के साथ सुन्दर भी प्रतीत होते हैं।

> किं पि दुम-जज्जरेसुं [illegible] घोसावबद्ध-धूमेसु।
> लग्गइ विरल-ट्ठिय-वायसेसु उव्वत्थ गामेसु॥ ६०८॥

घरों के बीच से उत्पन्न हुए वृक्षों से घरों की दीवालें जर्जरित हो रही हैं। गोकुलों में से निकलनेवाले धूम और विरलरूप में स्थित वृक्षों पर बैठे कौवे किसके मनको सुन्दर नहीं लगते हैं?

वृक्ष, खलिहान, सरोवर, कुएँ आदि गाँवों में किसी प्रकार अपनी मनमोहक छटा द्वारा लोगों को आकृष्ट करते रहते हैं, इसका सुन्दर निरूपण किया है। ग्राम शोभा के ऐसे रमणीय चित्र अन्यत्र बहुत ही कम मिल सकेंगे। [illegible]वृक्ष की शोभा का प्रतिपादन करता हुआ कवि कहता है—

> इह हि हलिद्दा-हय-दविड-सामली-गण्ड-मण्डलानीलं।
> फलमसहल-परिणामावलम्बि अहिहरंति सूयाण॥ ६१०॥

हल्दी से रंगे हुए द्रविड देश की सुन्दरियों के कपोल मण्डल के समान, अध-पका आम का फल वृक्ष पर लटकते हुए कितना सुन्दर मालूम पड़ता। यहाँ आम्रफल की स्वाभाविक सुन्दरता का बहुत ही रुचिर चित्रण किया है। यह पद्य आम के अधपके फलों सहित आम्रवृक्ष का साङ्गोपाङ्ग चित्र प्रस्तुत करने में पूर्ण सक्षम हैं। वस्तुतः ग्राम्य सौन्दर्य नैसर्गिक होता है, कवि ने इसका चित्रण बहुत ही सुन्दर किया है।

अलंकार योजना—चित्तवृत्तियाँ या भावनाएँ प्रपंचात्मक विश्व का प्रतिभासमात्र होती हैं। जिस प्रकार प्रपञ्चात्मक विश्व अनन्त है, उसी प्रकार उसकी प्रतिच्छाया-रूपिणी भावनाएँ भी अनन्त ही होती हैं। यही अनन्तता काव्य की अनेकरूपता की विधायिका होती हैं। भावना सर्वदा सापेक्षिणी होती है। अतः भावक्षेत्र में व्यक्ति वैचित्र्य का त्याग नहीं किया जा सकता। इस प्रपञ्चात्मक विश्व के कार्यादि का अवलोकन और चित्रण कवि अनेक रूपों में करता है। अनेक व्यक्ति जिन भावनाओं का अनुभव करते हैं, उनमें एकसूत्रता और एकरूपता लाने के लिए रस और अलंकारों का नियोजन कवि करता हैं। वस्तुव्यापार, मनःस्थिति, विविध सौन्दर्य के चित्रण में कवि को अलंकारों का नियोजन करना ही पड़ता है। कवि वाक्पतिराज ने भी चित्तवृत्तियों की विभिन्न स्थितियों के विश्लेषण के लिए उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, व्यंग्योक्ति, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त आदि अलंकारों की योजना की है। उपमा के प्रयोग द्वारा ग्राम्य जीवन के चित्र और दृश्यों को बड़े ही सुन्दर ढंग से उपस्थित किया है। उपमा के निम्न उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

तं णमह पीय-वसणं जो वहइ सहाव-सामलं-च्छायं।
दिअस-णिसा-लय-णिग्गम-विहाय-सबलं पिव सरीरं ॥ २७ ॥

इस गाथा में निरूपित श्याम शरीरवाले पीतवस्त्रधारी हरि का सौन्दर्य रात्रि और दिन के मिश्रण के समान बताया है। यहाँ पीत वस्त्रों के लिए दिवस उपमान और श्याम के लिए रात्रि उपमान है। कवि ने रात्रि और दिन के प्रवेश-निगर्मन काल—प्रातः सन्ध्या और सायं-सन्ध्या के मिश्रित श्याम-धवल रूप के तुल्य हरि को बताया है।

गण-वइणो सइ-संगय-गोरी-हर पेम्म-राय-विलियस्स।
दंतो वाम-मुहद्धन्त-पुज्जिओ जयइ हासो व्व ॥ ५४ ॥

हँसी समूह के समान पार्वती के साथ रहनेवाले गणेय जय को प्राप्त हों। यहाँ गणेश के गौर वर्ण की अभिव्यञ्जना 'हासो व्व' उपमान द्वारा बहुत ही सुन्दर की गयी है।

उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा कवि ने बताया है कि यशोवर्मा की युद्ध प्रवीणता को देखकर देवाङ्गनाओं के मन में भी काम-विकार उत्पन्न हो जाता हैं। यथा—

इय जस्स समर-दंसण-लीला निम्मविय-वाम्मह-वियारा ।
तियस-तरुणीओ अज्जवि मण्णे निहुयं किलम्मन्ति ॥ ११३ ॥

विन्ध्यवासिनी देवी के मन्दिर के वर्णन में कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा के साथ रूपक अलंकार का भी व्यवहार किया है। सिरकमल देवी के समक्ष किस प्रकार लोटने लगता है। कवि कहता है—

हा हा तं चेय करिल्ल पिययमा-बाहु-सयण-दुल्ललियं ।
उवहाणीकय-वम्मीय-मेहलं लुलइ सिर-कमलं ॥ ३४२ ॥

प्रियतमाओं के बाहुशयन से दुर्ललित बल्मीक मेखला को तकिया बनाये हुए शिर-कमल विन्ध्यवासिनी देवी के समक्ष समर्पित हैं।

इस प्रकार कवि ने अत्यन्त अलंकृत वर्णनों; दूरूढ कल्पनाओं, विद्वत्तापूर्ण सन्दर्भों तथा आवश्यक वस्तुव्यापार वर्णन से काव्य का कलेवर मंडित किया है।

निष्कर्ष—शास्त्रीय महाकाव्य के लक्षणों की दृष्टि से इस काव्य में अनेक त्रुटियाँ दिखलायी पड़ती हैं। कथा सर्गबद्ध नहीं है। प्रारम्भ में मंगलाचरण, पूर्व कवियों की प्रशंसा, आदि ऐसी बातें हैं, जिनके कारण इसमें आख्यायिका के गुण अधिक आ जाते हैं। कथान्तर रूप में प्रलय वर्णन इस प्रकार का अप्रासंगिक वर्णन है, जिसके कारण इसमें महाकाव्यत्व की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो पाती है। यशोवर्मा के दिग्वजय प्रसंग में बीच-बीच में उसकी प्रशस्ति भी आ जाती है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि वाक्पति-राज ने इसे बाणभट्ट के हर्षचरित की शैली पर छन्दोबद्ध किया है। अलंकृत वर्णन निस्सन्देह इसे शास्त्रीय महाकाव्य की कोटि में उपस्थित करते हैं। यशोवर्मा के आक्रमण के समय शत्रुस्त्रियों की विभिन्न भावनाओं का वर्णन इस काव्य में पर्याप्त चारुता उत्पन्न करता है। वस्तुव्यापार वर्णन भी प्रायः सटीक हैं। वर्णनों में कवि ने अपनी प्रतिभा का पूरा परिचय दिया है। निम्न पद्य दर्शनीय है—

पत्थिव-घरेसु गुणिणोवि णाम जइ कोवि सावयासव्व ।
जण-सामण्णं तं ताण किं पि अण्णं चिय निमित्तं ॥ ८७६ ॥

यदि कोई गुणी व्यक्ति राजमहलों में पहुँच जाता है तो इसका कारण यही हो सकता है कि जनसाधारण की वहाँ तक पहुँच है अथवा इसमें अन्य कोई कारण हो सकता है, उसके गुण तो इसमें कदापि कारण नहीं है।

स्पष्ट है कि राजघरों से आतंक को कवि ने काव्यशैली में उपस्थित किया है। राजमहलों में पहुँचना सबके लिए संभव नहीं है, जो जो व्यक्ति गुणी है या अन्य किसी कारणवश जिसमें किसी भी प्रकार की अलौकिकता है, वही राजमहलों में पहुँच पाता है। सीधी और सामान्य बात को व्यंग्योक्ति द्वारा कवि ने निबद्ध किया है।

अतएव परम्परा प्राप्त इस महाकाव्य में शास्त्रीय शैली के अल्पगुण रहने पर भी अपनी उदात्तता के कारण यह महाकाव्य है; परम्पराबद्ध शास्त्रीय महाकाव्य की अनेक रूढ़ियों का निर्वाह इस काव्य में किया गया है।

'साहित्य दर्पण' में आश्वास को सर्ग का पर्याय माना गया है, पर एक मान्यतानुसार कुलक भी सर्ग का पर्याय है। यद्यपि कुलकों में असमानता है, कोई कुलक बहुत ही बड़ा है और कोई बहुत छोटा। इस त्रुटि के रहने पर भी गउडवहो शास्त्रीय महाकाव्य है। इसमें महोद्देश्य की पूर्ति उदात्तशैली में की गयी है।

द्व्याश्रयकाव्य[1]

कुमारपाल चरित स्वरचित—प्राकृत व्याकरण के नियमों को स्पष्ट करने के लिए जैनाचार्य हेमचन्द्र ने इस महाकाव्य की रचना की है। इसमें आठ सर्ग हैं। आरम्भ के छः सर्गों में महाराष्ट्रीय प्राकृत के उदाहरण और नियम वर्णित हैं और शेष दो सर्गों में शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश भाषा के उदाहरण प्रयुक्त हैं। इस काव्य का प्राकृत में वही महत्त्व और स्थान है, जो संस्कृत में भट्टिकाव्य का। यह शास्त्रीय काव्य है। इस पर पूर्णकलश गणि की संस्कृत टीका भी है।

रचयिता—द्व्याश्रयकाव्य के रचयिता आचार्य हेमचन्द्र का जन्म वि० सं० ११४५ कार्तिकी पूर्णिमा को गुजरात के अन्तर्गत धधुका नामक गाँव में हुआ था। यह गाँव वर्तमान में भाधर नदी के दाहिने तट पर अहमदाबाद से उत्तर-पश्चिम में ६२ मील की दूरी पर स्थित है। इनके पिता शैवधर्मानुयायी मोढकुल के वणिक् थे। इनका नाम चाचदेव या चाचिगदेव था। चाचिगदेव की पत्नी का नाम पाहिनी था। एक रात को पाहिनी ने सुन्दर स्वप्न देखा। उस समय वहाँ चन्द्रगच्छ के आचार्य देवचन्द्र सूरि पधारे हुए थे। पहिनी देवी ने अपने स्वप्न का फल उनसे पूछा। आचार्य देवचन्द्र सूरि ने उत्तर दिया—'तुम्हें एक अलौकिक प्रतिभाशाली पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी। वह पुत्र ज्ञान, दर्शन और चरित्र से युक्त होगा तथा साहित्य एवं समाज सेवा में संलग्न रहेगा।' स्वप्न के इस फल को सुनकर पाहिनी बहुत प्रसन्न हुई।

समय पर पुत्र का जन्म हुआ। इनकी कुलदेवी 'चामुण्डा' और कुल यक्ष 'गोनस' था; अतः माता-पिता ने देवता के प्रीत्यर्थ उक्त दोनों देवताओं के आद्यक्षर लेकर बालक का नाम चाङ्गदेव रक्खा। लाड़प्यार से चाँगदेव का पालन-पोषण होने लगा। शिशु चाँगदेव बहुत होनहार था। पालने में ही उसकी भवितव्यता के शुभ लक्षण प्रकट होने लगे थे।

---

१. सन् १९३६ में ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, पूना द्वारा प्रकाशित।

एक बार आचार्य देवचन्द्र अणहिलपत्तन से प्रस्थान कर भव्यजनों के प्रबोधहेतु धन्धुका गाँव में पधारे। उनकी पीयूषमयी वाणी का पान करने के लिए श्रोताओं और दर्शनार्थियों की अपार भीड़ एकत्र थी। पहिनी भी चाँगदेव को लेकर गुरुवंदना के लिए गयी। सहजरूप और शुभ लक्षणों से युक्त चांगदेव को देखकर आचार्य देवचन्द्र उस पर मुग्ध हो गये और पाहिनी से उन्होंने कहा—"बहिन ! इस चिन्तामणि को तुम मुझे अर्पित करो। इसके द्वारा समाज और साहित्य का बड़ा कल्याण होगा। यह यशस्वी आचार्य पद प्राप्त करेगा।" यहाँ ध्यातव्य है कि पाहिनो जैन कुल की थी और चाचदेव शैव था अतः पाहिनी आचार्य के आदेश का उल्लंघन न कर सकी और पुत्र को आचार्य को सौंप घर चली आयी।

देवचन्द्र सूरि उस पुत्र को लेकर कर्णावती पहुँचे और वहाँ उदयन मन्त्री के यहाँ उसे रख दिया। उदयन उस समय जैनधर्म का सबसे बड़ा प्रभावशाली व्यक्ति था। अतः उसके संरक्षण में चाँगदेव को रखकर आचार्य देवचन्द्र चिन्तामुक्त हुए।

चाचिग जब ग्रामान्तर से लौटा तो पुत्र सम्बन्धी समाचार को सुनकर बहुत दुःखी हुआ और पुत्र को वापस लाने के लिए तत्काल ही कर्णवती को चल दिया। आचार्य ने चाचिग को उदयन मन्त्री के पास भेज दिया। मन्त्रिवर ने बड़ी चतुराई के साथ वार्तालाप किया। उसका खूब आदर-सत्कार किया। मन्त्री की उदारता और स्नेह ने उसे आर्द्र कर दिया। अतः वह चांगदेव को वहीं छोड़कर चला आया।

आठ वर्ष की अवस्था में हेमचन्द्र—चाँगदेव की दीक्षा सम्पन्न हुई। दीक्षा के उपरान्त चाँगदेव का नाम सोमचन्द्र रखा गया। सोमचन्द्र की प्रतिभा अत्यन्त प्रखर थी। अतः उन्होंने तर्क, व्याकरण, काव्य, अलंकार, छन्द और आगम आदि ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन अल्प समय में ही समाप्त कर दिया।

एक्कीस वर्ष की अवस्था में इनको सूरिपद प्रदान किया गया और इनका नाम सोमचन्द्र के स्थान पर हेमचन्द्र कर दिया गया। सूरिपद की प्राप्ति वि० सं० ११६६ में हुई थी।

हेमचन्द्र के पाण्डित्य से महापराक्रमी गुर्जरेश्वर जयसिंह सिद्धराज बहुत प्रभावित हुए और सिद्धराज के आदेश से सिद्धहैम नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में सात अध्याय संस्कृत भाषा के अनुशासन के सम्बन्ध में हैं और एक प्राकृत भाषा के अनुशासन पर लिखा गया है।

हेमचन्द्र का कुमारपाल के साथ भी गुरु-शिष्य का सम्बन्ध था। उन्होंने सात वर्ष पहले ही कुमारपाल को राज्य प्राप्त होने की भविष्यवाणी की थी। एक बार जब राजकीय पुरुष उसे पकड़ने आये तो हेमचन्द्र ने उसे ताड़पत्रों में छिपा दिया था। कुमारपाल का राज्याभिषेक वि० सं० ११९४ में मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्दशी को सम्पन्न हुआ।

आचार्य हेमचन्द्र की साहित्य साधना विशाल एवं व्यापक है। व्याकरण, छन्द, अलंकार, कोश, काव्य एवं चरितकाव्य विषयक इनकी रचनाएँ बेजोड़ हैं। इनके काव्य रोचक, मर्मस्पर्शी एवं सजीव हैं। पश्चिम के विद्वान् इनके साहित्य पर इतने मुग्ध हैं कि इन्होंने ज्ञान का महासागर कहा है। हैम व्याकरण (१) सूत्रपाठ (२) धातु-पाठ (३) गणपाठ (४) उणादि प्रत्यय एवं (५) लिंगानुशासन इन पाँचों अंगों से परिपूर्ण है। इस ग्रन्थ में लगभग पांच हजार सूत्र हैं। आचार्य हेम ने इस ग्रन्थ पर छः हजार प्रमाण लघुवृत्ति और अठारह हजार श्लोक प्रमाण बृहद् वृत्ति लिखी है। बृहद्-वृत्ति अध्यायों पर ही प्राप्त हैं, आठवें अध्याय पर नहीं।

चरित काव्य में त्रिषष्टि-शलाका-पुरुषचरित; अलंकार में काव्यानुशासन; छन्द में छन्दोनुशासन; न्याय में प्रमाणमीमांसा; कोष ग्रन्थों में अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थ-संग्रह, निघण्टु और देशीनाममाला; योग विषय पर योगशास्त्र एवं स्तोत्रों में द्वात्रिंशिकाएँ लिखी हैं। साहित्य के क्षेत्र में हेमचन्द्र का यश अति प्रसिद्ध है। इनकी रचनाएँ अपने विषय की अनुपम मणियाँ हैं।

कथावस्तु—अणहिलपुर नगर में राजा कुमारपाल शासन करता था। इसने अपने भुजबल से राज्य की सीमा को बहुत विस्तृत किया था। प्रातःकाल स्तुतिपाठक अपनी स्तुतियाँ सुनाकर राजा को जागृत करते थे। शयन से उठकर राजा नित्यकर्म कर तिलक लगाता और द्विजों से आशीर्वाद प्राप्त करता था। वह सभी लोगों की प्रार्थनाएँ सुनता, मातृगृह में प्रवेश करता और लक्ष्मी की पूजा करता था। तत्पश्चात् व्यायामशाला में जाकर व्यायाम करता था। इन समस्त क्रियाओं के अनन्तर वह हाथी पर सवार होकर जिन मन्दिर में दर्शन के लिए जाता था। वहाँ जिनेन्द्र भगवान् की विधिवत् पूजा-स्तुति करने के अन्तर संगीत का कार्यक्रम आरम्भ होता था। तदनन्तर वह अपने अश्व पर आरूढ़ होकर धवलगृह में लौट आता था।

मध्याह्नोत्तर कुमारपाल उद्यान क्रीड़ा के लिए जाता था। इस प्रसंग में कवि ने वसन्त ऋतु की सुषमा का व्यापक वर्णन किया है। क्रीड़ा में सम्मिलित नर-नारियों की विभिन्न स्थितियाँ वर्णित हैं।

वसन्त ऋतु के अनन्तर अब ग्रीष्म ऋतु का प्रवेश होता हैं, तो कवि ग्रीष्म की उष्णता और दाह का वर्णन करता है। इस प्रसंग में राजा की जलक्रीड़ा का निरूपण किया गया है। वर्षा, हेमन्त और शिशिर इन तीनों ऋतुओं का चित्रण भी सुन्दर किया हैं। उद्यान से लौटकर राजा कुमारपाल अपने महल में आ जाता है। सान्ध्यकर्म करने में संलग्न हो जाता है।

चन्द्रोदय होता है। कवि आलंकारिक शैली में चन्द्रयोदय का वर्णन करता है। कुमारपाल मण्डपिका में बैठता है, पुरोहित मन्त्रपाठ करता है, बाजे बजते हैं और

वारबनिताएँ थाली में दीपक रखकर उपस्थित होती हैं। राजा के समक्ष सेठ, सार्थवाह आदि महाजन आसन ग्रहण करते हैं। तत्पश्चात् सान्धिविग्रहिक राजा के बल-वीर्य का यशोगान करता हुआ विज्ञप्ति पाठ आरम्भ करता हैं।

"हे राजन्! आपकी सेना के योद्धाओं ने कोंकण देश में पहुँचकर मल्लिकार्जुन नामक कोंकणाधीश की सेना के साथ युद्ध किया और मल्लिकार्जुन को परास्त किया है। दक्षिण दिशा को जीत लिया गया है। पश्चिम का सिन्धु देश आपके अधीन हो गया है। यवननरेश ने आपके भय से ताम्बूल का सेवन त्याग दिया है। वाराणसी, मगध, गौड़, कान्यकुब्ज, चेदि, मथुरा और दिल्ली आदि नरेश आपके वशवर्ती हो गये।"

इन क्रियाओं के अनन्तर राजा शयन करने चला जाता है। सोकर उठने पर परमार्थ की चिन्ता करता है। आठवें सर्ग में श्रुतदेवी के उपदेश का वर्णन है। इसमें मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश के उदाहरण आये हैं। इस सर्ग में आचार सम्बन्धी नियमों के साथ, उनकी महत्ता एवं उनके पालन करने का फल भी प्रतिपादित है।

आलोचना—इस महाकाव्य की कथावस्तु एक दिन की प्रतीत होती है। यद्यपि कवि ने कथा को विस्तृत करने के लिए ऋतुओं तथा उन ऋतुओं में सम्पन्न होनेवाली क्रीड़ाओं का व्यापक चित्रण किया है। तो भी कथा का आयाम महाकाव्य की कथावस्तु के योग्य बन नहीं सका है। विज्ञप्ति निवेदन में दिग्विजय का चित्रण आ गया है, पर यह भी कथा-प्रवाह में साधक नहीं है। कथा की गति वर्तुलाकार सी प्रतीत होती है और दिग्विजय का चित्रण उस गति में मात्र बुल-बुला बनकर रह गया हैं। अतः संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि इस महाकाव्य की कथावस्तु का आयाम बहुत छोटा है। एक अहोरात्र की घटनाएँ रस संचार करने की पूर्ण क्षमता नहीं रखती हैं।

नायक का सम्पूर्ण जीवन चरित समक्ष नहीं आ पाता हैं। उसके जीवन का उतार चढ़ाव प्रत्यक्ष नहीं हो पाया है। अतः धीरोदात्त नायक के चरित का समग्रतया उद्घाटन न होने के कारण कथावस्तु में अनेकरूपता का अभाव है। अवान्तर कथाओं की योजना भी नहीं हो पायी है। विज्ञप्ति में निवेदित घटनाएँ नायक के चरित का अंग बनकर उससे पृथक् जैसी प्रतीत होती हैं। अतएव कथावस्तु में शैथिल्य दोष होने के साथ कथानक की अपर्याप्तता नामक दोष भी है।

वस्तु वर्णन की दृष्टि से यह महाकाव्य सफल है। ऋतु वर्णन, सन्ध्या, उषा, प्रातः एवं युद्ध आदि के दृश्य सजीव हैं। व्याकरण के उदाहरणों को समाविष्ट करने के कारण कृत्रिमता अवश्य है, पर इस कृत्रिमता ने काव्य के सौन्दर्य को अपकर्षित नहीं किया है। प्राकृतिक दृश्यों के मनोरम चित्रण और प्रौढ़व्यंजनाओं ने काव्य को प्रौढ़ता प्रदान की है। इसमें सन्देह नहीं कि इस शास्त्रीय काव्य में व्याकरण के जटिल-जटिल नियमों

के उदाहरण उपस्थित करने के हेतु कथानक में सर्वाङ्गपूर्णता का सन्निवेश होना कठिन हो गया है। वस्तुविन्यास में प्रबन्धात्मक-प्रौढ़ता आडम्बरयुक्त उदाहरणों के कारण नहीं आने पाती है; फिर भी कथानक में चमत्कार और कमनीयता का अभाव नहीं है।

यह काव्य कलावादी है। इसमें शाब्दी क्रीड़ा भी वर्तमान है। सुन्दर-सुन्दर वर्णनों की योजना कर कवि ने उक्त कथावस्तु में अलंकार-वैचित्र्य और कल्पना शक्ति के मिश्रण द्वारा चमत्कृत करने की सफल योजना की है। कवि हेमचन्द्र की अनेक उक्तियों में स्वाभाविकता, व्यंग्य तथा पाण्डित्य भरा हुआ है। कुमारपाल की दिनचर्या पाठकों को सुसंस्कृत जीवन बनाने के लिये प्रेरणा देती है। जिनेन्द्र वन्दन एवं अन्य धार्मिक कार्यों में राजा का प्रतिदिन भाग लेना वर्णित है। इस काव्य में केवल राजा के विलासी जीवन का ही वर्णन नहीं है; अपितु उसके कर्मठ एवं नित्य कार्य करने में अप्रमादी जीवन का चित्रण है। नायक का चरित्र उदात्त और भव्य है। उसके महनीय कार्यों का सटीक वर्णन किया गया है।

अलंकार योजना—अलंकार की प्रवृत्ति मानव-जीवन में सर्वकालिक, सार्वजनीन और सार्वत्रिक है। अलंकरण का सम्बन्ध सौन्दर्य से है। प्रत्येक कलाकार अपनी रचना को सुन्दर बनाना चाहता है, अतः उसे अलंकारों की योजना करनी पड़ती। रमणी के शरीर पर आभूषणों की जो उपयोगिता है, वही उपयोगिता कविता में अलंकारों की। काव्य में स्वाभाविक माधुर्य और सौन्दर्य के रहने पर ही अलंकार सौन्दर्याधान का कार्य करते हैं। महाकवि हेमचन्द्र ने उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, दीपक, अतिशयोक्ति, रूपक, आदि अलंकारों की सुन्दर योजना की है। यहाँ कुछ अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं। कवि ने पूर्णोमा का प्रयोग कर भावों को कितना तीव्र बनाया है, यह दर्शनीय है—

विज्जु-चलं महुर-गिरो दिन्तो लच्छि जणो छुहत्ताण।
भिसओ खु जहा सरओ दिसाण पाउस-किलन्ताण॥ १।९॥

अणहिलपुर के निवासी अपनी लक्ष्मी को चंचल और नश्वर समझ कर प्रियवचन-पूर्वक भूखे-प्यासे व्यक्तियों को उसी प्रकार दान देते हैं, जिस प्रकार शरत्काल वर्षा ऋतु में मलिन और कलुषित हुई दिशाओं को स्वच्छ बनाता है। वहाँ के वैद्य भी जनता का उपचार करुणाभावपूर्वक करते हैं। नीरोगता प्राप्त रोगी वैसे ही प्रसन्न दिखलाई पड़ते हैं, जैसे शरत्काल में दिशाएँ। इस पद्य में कवि ने पूर्णोमा द्वारा अणहिलनगर के व्यक्तियों की दानशीलता और कर्त्तव्यपरायणता का निरूपण किया है।

उत्प्रेक्षा अलंकार के व्यवहार द्वारा कवि हेम ने सरसता के साथ काव्य में कमनीय भावनानों का संयोजन किया है। निम्न उदाहरण दर्शनीय है—

भव्वसरा वण-वारे सद्दिअ-विक्कव-पउत्थ-वहु-वन्द्रा ।
भद्दं व भद्दसिरिणो पढिउं लग्गा पिगी महुणो ॥ ३।३४ ॥

वसन्त के आगमन के समय उसका स्वागत करने के लिए वन के द्वार पर कोयलें मधुर ध्वनि में मंगल पाठ कर रही हैं। यह मंगल पाठ ऐसा मालूम होता है, जैसे कामविह्वल प्रोषित पतिकाएँ अपने पतियों के स्वागत के लिए मधुर वाणी में स्तुतिपाठ करती हों। उत्प्रेक्षा का सुन्दर प्रस्तुतीकरण है।

अतिशयोक्ति के प्रयोग द्वारा तथ्य का स्पष्टीकरण मनोरम रूप में उपस्थित किया है --

जत्थ भवणाण उवरिं देवं-नागेहिं विम्हया दिट्ठो ।
रमइ मणोसिल-गोरो मणसिल-लित्तो मयच्छि-जणो ॥ १।१३ ॥

गौरवर्ण के नागरिक अपनी-अपनी पत्नियों सहित भवनों के ऊपर रमण करते हुए देव और नागकुमारों द्वारा आश्चर्यपूर्वक देखे जाते हैं। अर्थात् वहाँ की नारियाँ अपने सौन्दर्य से अप्सराओं को और पुरुष देवों को तिरस्कृत करते हैं।

जम्सि सकलंकं वि हु रयणी-रमणं कुलन्ति अकलंक ।
सद्धधर-संख भंगोज्जलाओ भवणंसु-भंगीओ ॥ १।१६ ॥

जिस नगर के भवनों में लगे हुए शंख, मुक्ता आदि रत्न अपनी ज्योतिर्मयी किरणों के प्रभाव से सकलंक चन्द्रमा को निष्कलंक बनाते हैं। यहाँ शंख, मुक्ता, सीप आदि की कान्ति का वर्णन मर्यादा का अतिक्रमण करनेवाला है। अतः अतिशयोक्ति अलंकार है।

हरि-हर विहिणो देवा जत्थन्नाइं वि वसंति देवाइं ।
एयाए महिमाए हरिओ महिमा सुर-पुरीए ॥ १।२६ ॥

इस नगर में ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं सूर्य आदि अनेक देवों के मन्दिर हैं। अतः यह नगरी अपनी महिमा से स्वर्गपुरी को तिरस्कृत करती है। क्योंकि स्वर्गपुरी में अकेला इन्द्र ही रहता है और इस नगरी में अनेक देव रहते हैं। अपने महत्त्व द्वारा स्वर्गपुरी का तिरस्कृत करना अतिशयोक्ति है।

राजा कुमारपाल के अनुपम सौन्दर्य और दानशीलता की समता कोई भी नहीं कर सकता है। इन्द्रादि सभी देवों को अतुलनीय सिद्ध कर दिया है।

जइ सक्को न उण नरो उणो नारायणो वि सारिच्छो ।
जस्स पुणाइ पुणाइ वि भुवणाभय-दाण ललिअस्स ॥ १।४५ ॥

कुमारपाल की तुलना न इन्द्र कर सकता है, न अर्जुन कर सकता और न नारायण ही। यह तीन लोकों के समस्त प्राणियों को अभय दान देनेवाला होने से सबसे ललित

और मनोहर है। यद्यपि शौर्यादि गुणों में इन्द्रपाल के समान हो सकता है, किन्तु अविरत रहने के कारण वह भी इस राजा की समता नहीं कर सकता है।

छठवें सर्ग में चन्द्रोदय के वर्णन में प्रश्नोत्तर रूप अलंकृत शैली का प्रयोग किया है। बताया है—

सहसु कीए रत्तो बोल्लसु अन्ना वि किं पिआ तुज्झ।
सङ्कसु किमहं मुक्का चवसु मए किं कयं विलिअं॥ ६।१२॥

कोई प्रियतमा अपने प्रिय से प्रश्न करती है कि बताओ कि अन्य स्त्री में आसक्त हो क्या? बताओ क्या मुझे छोड़ अन्य कोई भी तुम्हारी प्रिय बल्लभा है? बताइये क्या मुझे आपने त्याग दिया है? बताइये कि मैंने कौन-सा अपराध किया है।

भ्रान्तिमान अलंकार का कवि ने कितना सुन्दर प्रयोग किया है—

न बुहुक्खिओ वि चिक्को निय-छाहिं निअवि णीरवीअ बिसं।
निअ-पक्ख-वीजणेहिं वोज्जन्तो घरणि-सङ्काए॥ ६५॥

चक्रवाक पक्षी अपनी छाया को पत्नी समझ गया, अतः भ्रान्तिमान होता हुआ भूखा होने पर भी मृणालदण्ड का भक्षण नहीं कर रहा है। भ्रान्ति के कारण अपनी छाया को प्रिया समझ लेने से प्रिया के सङ्गम सुख में निमग्न है, अतः उसने मृणालदण्ड का खाना बन्द कर दिया है।

इस प्रकार आचार्य हेम ने अलंकार योजना द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया है।

रस-भाव योजना—रस और भावाभिव्यञ्जन की दृष्टि से भी यह काव्य उच्च-कोटि का है। शृङ्गार, शान्त और वीर इन रसों से सम्बन्धित अनेक श्रेष्ठ पद्य आये हैं। एक विट पुरुष आसन पर बैठी हुई अपनी प्रिया की आँखें बन्द कर प्रेमिका का चुम्बन कर लेता है। कवि हेम ने इस सन्दर्भ का सरस वर्णन किया है। कहा है—

आसण-ठिआइ घरिणीय गह-वई झम्पिऊण अच्छीइं।
हसिरो मोत्तुं सङ्कं चुम्बिअ अन्नं सढो मुइओ॥ ३।७४॥
मा सोउआण अलिअं कुप्प मईआ सि तुम्हकेरो हं।
इअ केण वि अणुणीआ णिअय-पिआ पाणिणीअजडा॥ ३।७५॥

एक आसन पर स्थित अपनी प्रेमिका की आँखें बन्दकर किसी विट पुरुष ने दूसरी प्रेमिका का चुम्बन ले लिया। जब उस प्रियतमा को उसकी धूर्त्तता का आभास मिला तो वह उससे रुष्ट हो गयी। अतः वह उसको प्रसन्न करता हुआ चाटुकारितापूर्वक कहने लगा—'प्रिये! झूठी बात सुनकर क्रोध मत करो, मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरी हो। भला तुम्हारे अतिरिक्त मैं अन्य किसी से प्रेम कर सकता हूँ। तुम्हें भ्रम हो गया है, इस प्रकार चाटुकारी बातें कर उस विचक्षण नायिका को वह प्रसन्न करता है।

दशार्णपति को जीतकर कुमारपाल की सेना ने उसकी नगरी को लूटकर सारा धन ले लिया। कवि ने युद्ध के इस प्रसंग का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

अणकढिअ-दुद्ध-सुइ-जस पयाव-घम्मट्टिआरि-जस कुसुम।
तुह गण्ठिअ-वूहेणं विरोलिओ तस्स पुर-जलही ॥
मन्त्रिअ-दहिणो तुप्पं व घुसलिया तस्स नयरओ कणयं।
गिण्हन्तेहिं तुह सेणिएहिं अवअच्छिआ अम्हे ॥ ६–८१।८२ ॥

अमथित दुग्ध के समान श्वेत कीर्त्तिधारी आपके तेज और प्रताप की उष्णता ने दशार्ण नृपति के कीर्त्तिरूपी पुरुष को म्लान कर दिया है। आपकी सेना ने समुद्र मन्थन के समान नगर का मन्थन कर सुवर्ण, रत्नादि को लूट किया है। दशार्णपति का नगर समुद्र के समान विशाल था, इसी कारण कवि ने रूपक द्वारा उसे जलधि कह दिया है। इन पद्यों में कवि ने रूपक अलंकार की योजना कर वीरता का वर्णन किया है। सेना द्वारा दशार्णपति के नगर को लूटे जाने का सुन्दर और सजीव चित्रण किया है।

भावों की विशुद्धि पर बल देता हुआ कवि कहता है कि गंगा, यमुना आदि नदियों में स्नान करने से शुद्धि नहीं हो सकती। शुद्धि का कारण भाव है, अतः जिसकी भावनाएँ शुद्ध हैं, आचार-विचार पवित्र हैं, वही मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है। कवि ने कहा है—

जमुण गमेप्पि गमेप्पिणु जन्हवि।
गम्पि सरस्सइ गम्पिणु नम्मद ॥
लोउ अजाणउ जं जलि बुड्डई।
नं पसु किं नीरइ सिव-समंद ॥ ८।८० ॥

गंगा, यमुन, सरस्वती और नर्मदा नदियों में स्नान करने से यदि शुद्धि हो तो महिष आदि पशु इन नदियों में सदा ही डुबकी लगाते रहते हैं, अतः उनकी भी शुद्धि हो जानी चाहिये; जो लोग अज्ञानतापूर्वक इन नदियों में स्नान करते हैं और अपने आचार-विचार को पवित्र नहीं बनाते, उन्हें कुछ भी लाभ नहीं हो सकता है। भावनाओं और क्रिया व्यापारों को पवित्र रखनेवाला व्यक्ति ही मोक्ष सुख को पाता है। इसी को पुष्ट करने के लिए कवि कहता है—

अन्तु करेप्पि निरानिउ कोहहो।
अन्तु करेप्पिणु सव्वई माणहो ॥
अन्तु करेविणु माया जाल हो।
अन्तु करेवि नियत्तसु लोहहो ॥ ८।७७

क्रोध, मान, माया और लोभ का अन्त विनाश किये बिना व्यक्ति का अन्तरंग शुद्ध नहीं हो सकता है। अतः जो व्यक्ति अपनी आन्तरिक शुद्धि की कल्पना करता है, उसे अपने विकारों को दूर करने का प्रयास करना चाहिए।

इस प्रकार आचार्य हेम ने रस और भावों की सुन्दर और सजीव अभिव्यञ्जना की है।

इस काव्य में गाथा छन्द के अतिरिक्त वदनक, झंवटक, दोहक, मनोरमा आदि अन्य मात्रिक छन्दों का व्यवहार भी किया गया है। सर्गान्त में छन्द बदला हुआ है। वर्णिक छन्दों में इन्द्रवज्रा का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है।

शास्त्रीय दृष्टि से इसमें महाकाव्य के सभी लक्षण घटित होते हैं। कथा सर्गबद्ध है और शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार आठ सर्गों में विभक्त है। वस्तुवर्णन, संवाद, भावाभिव्यञ्जन एवं इतिवृत्त में सन्तुलन है।

लीलावइ[1]

लीलावती—अलंकारिकों ने लीलावइ कहा का उदाहरण कादम्बरी के समान पद्य-कथा के लिए उद्धृत किया है। दिव्यमानुषी कथा के नाम से इसका उल्लेख मिलता है, पर वस्तुतः यह पद्य-कथा न होकर शास्त्रीय महाकाव्य है। यद्यपि डा० ए० एन० उपाध्ये ने इसे कथा कहा है, किन्तु आचार्य जिनविजय जी ने इसे महाकाव्य माना है। रुद्रट की परिभाषा के अनुसार इसमें महाकाव्य के लक्षण भी घटित होते हैं। पर यथार्थतः शास्त्रीय दृष्टि से परीक्षण करनेपर इसमें शास्त्रीय महाकाव्य और कथा-आख्यायिका इन दोनों की विशेषताओं का सम्मिश्रण है। अतः शुद्ध रूप में न तो यह महाकथा है और न महाकाव्य ही। महाकाव्य के स्वरूप विकास पर विचार करने से ज्ञात होगा कि इस कृति में रोमाण्टिक महाकाव्य के प्रचुर लक्षण वर्तमान हैं। यतः प्रेमकथा की अनन्तरात्मा और स्थापन पद्धत्ति में महाकाव्य की शैली का उपयोग किया गया है। रोमाण्टिक कथावस्तु की योजना कवि ने नाटकीय शैली में की है। घटनाओं का विस्तार न होकर वस्तु-व्यापार, मानःस्थिति, विविध सौन्दर्य आदि का सूक्ष्म और प्रचुर वर्णन है। इस कृति का लक्ष्य केवल मनोरञ्जन नहीं है, अपितु किसी महत् उद्देश्य की सिद्धि है। लीलावइ मनोरञ्जन या किसी धार्मिक या नैतिक तथ्य का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए नहीं लिखी गयी है। कथा का लक्षण इसमें इतना ही है कि विविध घटनाएँ और अवान्तर कथाएँ अपना जाल बिछाये हैं। पाठक की जिज्ञासा वृत्ति को बनाये रखने के लिए घटनाओं में चमत्कार भी सन्निविष्ट हैं। पर एक बात है वस्तु-व्यापार और भावाभिञ्जन का गाम्भीर्य इतना अधिक हैं, जिससे इसे रोमाण्टिक महाकाव्य मानने में कोई बाधा नहीं आती है।

---

१. डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित होकर सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई से सन् १९४९ में प्रकाशित।

इसे पद्यबद्ध कथाकाव्य भी नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि इसकी शैली उससे भिन्न है। प्रारम्भ में देवताओं की स्तुति, सज्जन स्तुति और दुर्जन निन्दा, कविवंशपरिचय, कवि और उनकी पत्नी के बीच संवाद रूप में कथा का प्रारम्भ, प्रधान कथा के भीतर अनेक प्रासंगिक कथाओं का अस्तित्व एवं धारा प्रवाह कथा वर्णन ऐसे तत्त्व हैं, जिनके कारण इस कृति को कथाकाव्य माना जा सकता है।

अलंकृति, वस्तु-व्यापार वर्णन, प्रेम की गम्भीरता और विजय की महत्ता स्थापित करने का महद्दुदेश्य, रसों और भाव सौन्दर्य की अभिव्यक्ति, उदात्तशैली एवं महाकाव्योचित्त गरिमा ऐसे तत्त्व है, जिनके कारण इसे महाकाव्य भी मानना तर्कसंगत है। हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की शैली का विकास प्राकृत के इसी कोटि के काव्यों से हुआ है। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थ का विवेचन महाकाव्य की श्रेणी में करना अधिक उचित है।

रचयिता—इस महाकाव्य का रचयिता कोऊहल कवि है। इन्होंने अपने वंश का परिचय देते हुए लिखा है कि इनके पितामह का नाम बहुलादित्य था, जो बहुत बड़े विद्वान् और यज्ञयागादि अनुष्ठानों के विशेषज्ञ थे। ये इतना अधिक यज्ञानुष्ठान करते थे कि चन्द्रमा भी यज्ञ धूम से काला हो गया था। इनका पुत्र भूषणभट्ट हुआ, वह भी बहुत बड़ा विद्वान् था। इनका पुत्र असारमति कौतूहल कवि हुआ। इस ग्रन्थ में कवि ने अपने नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, पर जिस क्रम से अपना वंश परिचय दिया है, उससे कौतूहल नाम भी उचित जान पड़ता है। यशस्तिलक और पउमचरिउ (स्वयंभू) काव्य ग्रन्थों में कोहल का उल्लेख मिलता है, अतः यदि कोऊहल और कोहल दोनों एक हैं, तो निश्चय ही कवि का नाम कोऊहल (कौतूहल) है।

इस महाकाव्य की रचना कब और कहाँ हुई है, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। बहिरंग प्रमाणों से इसकी समय-सीमा निम्न प्रकार निर्धारित की जा सकती है—१४ वीं शती के विद्वान् वाग्भट्ट, १३ वीं शती के त्रिविक्रम, १२ वीं शती के हेमचन्द्र और ९ वीं शती के आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में इसका उल्लेख किया है। अतः इसकी समय सीमा ९ वीं शती के पश्चात् नहीं मानी जा सकती है।

ग्रन्थ के अन्तरंग अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस पर कादम्बरी और समराइच्चकहा का प्रभाव है, अतएव सातवीं शती के पूर्व भी इसका रचनाकाल नहीं हो सकता। अनुमान है कि कोऊहल हरिभद्र के अनन्तर और आनन्दवर्धन से पूर्व हुए हैं। अतः उनका समय ९ वीं शताब्दी का प्रथम पाद है। कवि वैष्णव धर्मानुयायी है।

कथावस्तु—काव्य का नायक प्रतिष्ठान का राजा सातवाहन है। इसका विवाह सिंहलद्वीप की राजकुमारी लीलावती के साथ हुआ था। अतः नायिका के नाम पर ही काव्य का नामकरण किया गया है। कुवलयावली राजर्षि विपुलाशय की अप्सरा रम्भा से उत्पन्न कन्या थी। उसने गन्धर्वकुमार चित्रांगद से गन्धर्व विवाह कर लिया। उसके

पिता ने कुपित होकर चित्रांगद को शाप दिया और वह भीषणानन राक्षस बन गया। कुवलयावली आत्महत्या करने को उद्यत हुई, पर रम्भा ने आकर उसको धैर्य बँधाया और उसे नलकूबर के संरक्षण में छोड़ दिया। यक्षराज नलकूबर का विवाह वसन्तश्री नाम की विद्याधरी से हुआ था; जिससे महानुमति का जन्म हुआ। महानुमती और कुवलयावली दोनों सखियों में बड़ा स्नेह था। एक बार वे विमान पर चढ़कर मलय पर्वत पर गयीं। वहाँ सिद्धकुमारियों के साथ झूला झूलते हुए महानुमति और सिद्धकुमार माधवनिल की आँखें चार हुईं। घर लौटने पर महानुमति व्याकुल रहने लगी। उसने कुवलयावली को पुनः मलय प्रदेश भेजा। परन्तु वहाँ जाकर पता लगा कि माधवानिल को कोई शत्रु भगाकर पाताललोक में ले गया है। वापस जाकर उसने दुःखी महानुमति को सान्त्वना दी। दोनों गोदावरी के तट पर भवानी की पूजा करने लगीं।

यहाँ तक अवान्तर कथाओं का वितान है। अब प्रधान कथा का प्रवेश होता है। सिंहलराज की पुत्री लीलावती का जन्म वसन्तश्री की बहन विद्याधरी शारदश्री से हुआ था। एक दिन लीलावती प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन के चित्र को देखकर मोहित हो गयी। बाद में उसने उसे स्वप्न भी देखा। माता-पिता की आज्ञा लेकर वह अपने प्रिय की खोज में निकल पड़ी। उसका दल मार्ग में गोदावरी तटपर ठहरा, जहाँ उसे अपनी मौसी की लड़की महानुमति मिल गयी। तीनों विरहिणियाँ एक साथ रहने लगीं।

अपने राज्य का विस्तार करते हुए सातवाहन ने सिंहलराज पर आक्रमण करना चाहा। पर उसके सेनापति विजयानन्द ने सलाह दी कि सिंहल से मैत्री रखना ही अच्छा होगा। राजा सातवाहन ने विजयानन्द को ही दूत बनाकर भेजा। विजयानन्द नौका टूट जाने के कारण गोदावरी के तट पर ही रुक गया। उसे पता लगा कि सिंहलराज की पुत्री लीलावती यहीं निवास करती है। उसने आकर सातवाहन को सारा वृत्तान्त सुनाया। सातवाहन सेना लेकर उपस्थित हुआ और लीलावती से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। परन्तु लीलावती ने यह कहकर इन्कार किया कि जबतक महानुमति का प्रिय नहीं मिलेगा, तबतक मैं विवाह नहीं करूँगी। राजा पाताल पहुँचा और माधवानिल को छुड़ा लाया। उसने भीषणानन राक्षस पर आक्रमण किया, चोट खाते ही वह पुनः राजकुमार हो गया।

संयोगवश इसी समय यक्षराज नलकूवर, विद्याधर हंस और सिंहलनरेश वहाँ एकत्र हो जाते हैं। उन्होंने अपनी-अपनी पुत्रियों का विवाह उनके अभीष्ट राजकुमार वरों के साथ कर दिया। यक्षों, गन्धर्वों, सिद्धों, विद्याधरों, राक्षसों और मानवों ने अनेक सिद्धियाँ वर-वधुओं को उपहार में दीं।

समीक्षा—यह पहले ही लिखा जा चुका है कि यह कथाकाव्य मिश्रित शास्त्रीय महाकाव्य है। कवि ने इसमें प्राकृतिक दृश्यों का कलात्मक वर्णन किया है। इसमें प्रेम

का संयत और सन्तुलित चित्रण सफलतापूर्वक किया गया है। प्रेमी और प्रेमिकाओं की दृढ़ता का दीर्घ परीक्षा करके ही उन्हें विवाह बन्धन में बाँधा गया है। राजाओं के जीवन का चित्रण विस्तृत और काव्यात्मक है। प्रबन्ध में उतार-चढ़ाव कार्य व्यापारों के अनुसार घटित हुआ है। मर्मस्थल की पहचान कवि को है। संवाद भी बड़े सरस हैं। अलंकारों के प्रयोग तो इस रचना में सर्वाधिक उपलब्ध होते हैं। यहाँ कुछ अलंकारों का निरूपण किया जाता है। उपमा—

णिय-तेय-पसाहिय-मंडलस्स ससिणो व्व जस्स लोएण।
अवक्कंत-जयस्स जए पट्ठी ण परेहि सच्चविया॥ ६९॥

राजा सातवाहन की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है कि जिस प्रतापी राजा ने अपने पराक्रम से समस्त संसार को जीत लिया है, पर उसकी पीठ शत्रुओं ने कभी भी उसी प्रकार नहीं देखी है, जिस प्रकार अपने तेज से संसार को उज्ज्वल करनेवाले चन्द्रमा का पृष्ठभाग किसी ने नहीं देखा है। यहाँ चन्द्र का पृष्ठभाग उपमान है और राजा का पृष्ठभाग उपमेय। इसी प्रकार चन्द्रमा का तेज उपमान है और राजा का पराक्रम उपमेय। उपमान एवं उपमेय के इस आयोजन द्वारा कवि ने राजा सातवाहन के पराक्रम की सुन्दर व्यञ्जना की है।

ओसहि सिहा-पिसंगाण वोलिया गिरि गुहासु रयणीओ।
जस्स पयावाणलकन्ति-कवलियाणं पिवं रिऊणं॥ ७०॥

राजा सातवाहन के शत्रुओं की रात्रियाँ पर्वत की कन्दराओं में औषधियों की शिखा ज्वाला से रक्तवर्ण होकर व्यतीत होती थीं। वे उसकी प्रतापाग्नि की कान्ति से ग्रस्त थे।

इस पद्य में औषधियों की शिखा को प्रतापाग्नि की कान्ति से उपमा दी गयी है। यहाँ पर अपह्नुति अलंकार होने जा रहा था, पर कवि ने इव शब्द का प्रयोग कर उपमा ही रहने दिया है। कवि की उपमा सम्बन्धी यह कुशलता उच्चकोटि की है।

उत्प्रेक्षा—

चंदुज्जुयावयंसं पवियंभिय-सुरहि-कुवलयामोयं।
णिम्मल तारा लोयं पियइ व रयणी-मुहं चंदो॥ ३१॥

कुमुद के अवतंस—कर्णाभूषण को धारण करनेवाली रात्रि के मुख का पान चन्द्रमा कर रहा है तथा इस रात्रि में नीलकमल की गन्ध बह रही है और निर्मल ताराओं का प्रकाश है।

यहाँ उत्प्रेक्षा के साथ 'रयणीमुहुँ' रात्रिमुख में नायिका मुख का श्लेष भी है। उत्प्रेक्षा द्वारा कवि ने चन्द्रमा द्वारा रजनीमुख के चुम्बन की स्थिति पर प्रकाश डाला है।

हेतूत्प्रेक्षा—

केत्तिय मेत्तं संझायवस्स सेसं ति दंसणत्थं व ।
आरूढा तिमिर-चर व्व वासतरुसेहरं सिहिणो ॥ २६२ ॥

सायंकाल का सूर्यप्रकाश अब कितना शेष रहा है, यह देखने के लिये मानों मयूर, तिमिर चर—अन्धकार के दूत के सदृश अपने निवासवृक्षों के शिखर पर चढ़ गये ।

रूपक—

तं जह मियंक केसरि-कर-पहरण-दलिय-तिमिर-करि-कुम्भे ।
विक्खित्त-रिक्ख-मुत्ताहलुज्जले सरय-रयणीए ॥ ३३ ॥

चन्द्रमारूपी सिंह के किरणरूपी हाथ के प्रहार से अन्धकाररूपी गजकुमार के ध्वस्त होने पर बिखरे हुए, नक्षत्ररूपी मोतियों से उज्ज्वल शरद् कालीन रात्रि थी ।

चन्द्रमा में सिंह का, किरणों में हाथ का, अन्धकार में गजकुमार का और नक्षत्रों में मोतियों का आरोप किया गया है ।

व्यतिरेक—

जस्स पिय-बंधवेहि व चउवयण-विणिग्गएहि वेएहि ।
एक्क-वयणारविंदट्ठिएहिं बहु-मण्णिओ अप्पा ॥ २१ ॥

इसके प्रिय बान्धवों ने ब्रह्मा के चार मुखों से निकले चार वेद इसके एक ही मुख में स्थित होने से अपने को कृतार्थ समझा ।

चारों मुखों से निर्गत चारों वेदों को एक ही मुख में स्थित करना व्यतिरेक है । कवि ने बहुलादित्य की विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिये इस अलंकार की योजना की है ।

समासोक्ति—

जोण्डाऊरिय कोसकंति-धवले सव्वंग-गंधुक्कडे ।
णिव्विग्घं घर-दीहियाए सुरसं वेवंतओ मासलं ॥
आसाएइ सुमंजु-गुंजिय-रवो तिंगिच्छि-पाणासवं ।
उम्मिल्लंत-दलावली-परियओ चंदुज्जुए छप्पओ ॥ २८ ॥

भ्रमर मकरन्द—पुष्परस को पी रहा है, जबकि कुमुदिनी ज्योत्स्ना से पूरित होने के कारण उसका आभ्यन्तर भाग प्रकाशित हो रहा है । सुगन्ध तीव्रता से बढ़ रही है । घर की दीर्घिका—बावड़ी में कम्पायमान होता हुआ तथा मधुर गुञ्जार करता हुआ और विकसित पत्र-पंक्ति से घिरा हुआ यह भ्रमर कुमुदिनी का रसपान कर रहा है ।

अपह्नुति—

अज्ज वि महग्गि-पसरिय-धूम-सिहा-कलुसियं व वच्छयलं ।
उव्वहइ मय कलंकच्छलेण मयलंछणो जस्स ॥ १९ ॥

जिनकी हवन-कुण्डों में प्रज्वलित महाग्नियों की प्रसरित धूमशिखा से काले हुए वक्षस्थल रूप लांछन को चन्द्रमा मृगलांछन के बहाने से धारण किये हुए हैं।

यहाँ वास्तविक मृगलांछन का अपह्नव कर धूमशिखा से वक्षस्थल के कलुषित कालिमा युक्त होने की कल्पना की गयी है।

मालादीपक—

इमिणा सरएण ससी ससिणा वि णिसा णिसाए कुमुय-वणं।
कुमुय-वणेण व पुलिणं पुलिणेण व सहइ हंस उल ॥ २५ ॥

इस शरत्काल से शशि सुशोभित होता है, शशि से रात्रि, रात्रि से कुमुदवन, कुमुदवन से पुलिन और पुलिन से राजहंस श्रेणि सुशोभित होती हैं।

भ्रान्तिमान—

घर-सिर-पसुत्त-कामिणि-कवोल संकन्त-ससिकला-वलयं।
हंसेहि अहिलसिज्जइ मुणाल-सद्धालुएहि जहि ॥ ६० ॥

जहाँ पर घर की छतों के ऊपर सोई हुई कामनियों के कपोलों में प्रतिबिम्बित चन्द्रकला के समूह को मृणाल के इच्छुक श्रद्धालु हंस प्राप्त करने की इच्छा करते हैं।

विरोधाभास—

णितच्छरो वि रामाणुलंघिओ णिव्विसो विसमइओ।
करि-तुरय-वज्जिओ वि हु पडिरक्खिय-महिहरुग्घाओ ॥ १६९ ॥

यद्यपि वहाँ से अप्सराएँ निकल चुकी हैं, फिर भी स्त्रियों से अक्रान्त हैं, (विरोध) परिहार—अप्सराएँ निकल गयी हैं और राम उसका उल्लंघन किया है। निर्विष होने पर भी विषमय था—जलमय था। ऐरावत हाथी और वाजिश्रवा अश्व से रहित होते हुए भी वह नरेशों की प्रतिरक्षा करनेवाला है—पर्वत के समूह की रक्षा करता है।

असुरो वि सया मत्तो वि अमुक्क-णियय-मज्जाओ।
मज्जाय-संठिओ वि हु विरसो वि सवाणिओ च्चेव ॥ १७० ॥

सुरा रहित होने पर भी सदा मत्त था (विरोध)—परिहार, लहरों से सदा चलायमान रहता था अथवा विष्णु को धारण करने के कारण वह सदा मत्त—गौरव का अनुभव करता था। वह मत्त होने पर भी अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता था और मर्यादा स्थित तथा विरस—खारी होते हुए भी सुपानीय-सुगमता से पिया जा सकता था—परिहार—पानी सहित था।

निदर्शना—

इय केण णियय विण्णाण-नयडणुप्पण्ण-हियंग-भावेण।
अविहाविय-गुण दोसेण पाइया सप्पिणी खीरं ॥ १८० ॥

इस प्रकार किसने अपने विज्ञान को प्रकट करने की हृदय की इच्छामात्र से बिना गुण दोष का विचार किए सर्पिणी को दूध पिलाया है। अर्थात् स्वभावतः सुन्दरी इस रमणी को अलंकृत करने की किसने असफल चेष्टा की है।

दृष्टान्त—

जइ सो तेणं चिय उयणमेइ ता साहु किं पयासेण।
वायाए जो विवज्जइ विसेण किं तस्स दिण्णेण ॥ १५५ ॥

यदि सिंहल नरेश उतने से ही नम्रभूत हो जाय तो फिर प्रयास करने से क्या लाभ ? जो शब्द द्वारा ही मारा जाय, उसे विष देने से क्या लाभ ?

इस पद्य में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होने से दृष्टान्तालंकार है।

काव्यलिङ्ग—

ता तत्थ सिय-जडा हार-विणय-वेवंत-कंधरा-बंधो।
वय-परिणामोहामिय लायण्ण-विओइयावयवो ॥ २०४ ॥

तब मैंने श्वेत जटाओं के भार से झुके हुए कन्धोंवाले नग्न पाशुपति को देखा, जो नम्रीभूत था। अवस्था विशेष के कारण जिसका लावण्य दूर हो गया था। यद्यपि उपर्युक्त लक्षण आयुजन्म हैं, वृद्धावस्था के कारण पाशुपति की उक्त स्थिति है, पर कवि ने कल्पना द्वारा निरूपण किया है।

इस प्रकार इस महाकाव्य में अलकृत वर्णनों की बहुलता है।

श्रृंगार और वीर रस का चित्रण भी बहुत ही सुन्दर हुआ है। हाँ सर्ग विभाजन न होने से यह कृति भी गउडवहो के समान ही पूर्णरूपेण महाकाव्य के पद पर प्रतिष्ठित होने में अक्षम है। इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है।

सिरिचिंधकव्व

सिरिचिंधकव्व (श्रीचिन्हकाव्य) की रचना वररुचि के प्राकृत-प्रकाश और त्रिविक्रम के प्राकृत व्याकरण के नियमों को स्पष्ट करने के लिए की गयी है। जिस प्रकार आचार्य हेम ने द्वयाश्रय काव्य की रचना अपने प्राकृत व्याकरण के उदाहरणों का समावेश करने के लिए की है, उसी प्रकार कृष्णलीला शुक कवि ने वररुचि के प्राकृत उदाहरणों के प्रयोग इस काव्य में किये हैं।

इस काव्य का दूसरा नाम गोविन्दाभिषेक भी है। इसमें बारह सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग श्रीशब्द से अंकित होने के कारण यह श्रीचिह्न काव्य कहलाता है। इस महाकाव्य के आदि के आठ सर्ग कृष्णलीलाशुक द्वारा रचे गये हैं और अन्तिम चार सर्ग उनके शिष्य दुर्गाप्रसाद द्वारा रचित हैं। इसकी शैली संस्कृत के महाकाव्यों के समान है। कवि का

समय १३वीं शती माना जाता है। दुर्गाप्रसाद की संस्कृत टीका विद्वत्तापूर्ण है। इस टीका की सहायता के बिना ग्रन्थ को समझना कठिन है।

कविता का नमूना निम्न प्रकार है—

ईसि-पिक्क फल-पाअवे महा-
वेडिसे विअण-पल्लवे वणे।
सो जणो असुइणो अ-पावइं
गालअम्मि लसिओ मिअंगिओ॥ १–६॥

सोरिचरित (शौरिचरित)

इस काव्य-ग्रन्थ का रचयिता मलाबार कोलत्तुनाड के राजा केरल वर्मन की राज-सभा का बहुश्रुत विद्वान् श्रीकण्ठ है। ई० सन् १७८० के लगभग इस काव्य की रचना हुई है। इस महाकाव्य के अभी तक चार ही आश्वास प्राप्त हैं, शेष आश्वास लुप्त हैं। श्रीकण्ठ के शिष्य रुद्रमिश्र ने शौरिचरित पर विद्वत्तापूर्ण संस्कृत टीका लिखी है। इस काव्य में श्रीकृष्ण की कथा वर्णित है। अलङ्कारों की योजना भी कवि ने यथास्थान की है। कृष्ण की क्रीडा का एक चित्र देखिए—

जोणिच्चो राअंतो रमावई सो वि गव्व-चोराअंतो।
वअ-बहुबद्धो संतो सद्दो व्व ठिइ-च्चुओ अबद्धो संतो॥

जो नित्य शोभा को प्राप्त होते हुए, गायों के दूध की चोरी करते हुए, ब्रजवनिता यशोदा के द्वारा बाँध दिए गये, फिर भी वे शान्त रहे। मर्यादा से च्युत शब्द के समान वे अबद्ध रहे।

इस प्रकार प्राकृत भाषा में महाकाव्य लिखे जाते रहे। ये सभी महाकाव्य महाराष्ट्री प्राकृत में लिखे गये हैं। स्पष्ट है कि काव्य की भाषा महाराष्ट्री स्वीकृत हो चुकी थी।

●

प्राकृत-खण्डकाव्य

जीवन की बिखरी अनुभूतियों को समेटकर जब कवि उन्हें शब्द और अर्थ के माध्यम से एक कलापूर्ण रूप देता है, तब काव्य का जन्म होता है। अनुभूति जन्य आनन्द जब अपनी सीमा तोड़कर आगे बढ़ जाता है, तो मनीषी कवि को उसे वाणी का रूप देना पड़ता है। अतएव अनुभूति काव्य का अन्तरंग धर्म है और अभिव्यक्ति बाह्य। पर अनुभूति और अभिव्यक्ति का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। यतः भाव की अनुभूति काव्य की आत्मा से सम्बन्धित है और भाव का विधान या अभिव्यक्ति उसके शरीर पक्ष से। आत्मा के बिना शरीर निर्जीव है तो शरीर के बिना आत्मा की महत्ता नहीं। काव्य के ये दोनों ही तत्त्व अभिन्न अंग हैं।

खण्डकाव्य की परिभाषा साहित्यदर्पण में महाकाव्य के एकदेश का अनुसरण करने रूप कही गयी है। वस्तुतः खण्डकाव्य भी महाकाव्य के समान प्रबन्ध प्रधान काव्य है। इसमें भी प्रबन्ध के समस्त तत्त्वों का रहना आवश्यक माना गया है। अलंकृति, वस्तु-व्यापार वर्णन, रस-भाव एवं संवाद तत्त्व इस काव्यविधा में भी पाये जाते हैं। महाकाव्य में समस्त जीवन का चित्रण रहता है, पर खण्डकाव्य में जीवन के एक पक्ष का। यह जीवन के किसी मर्मस्पर्शी पक्ष को अभिव्यञ्जित करता है। पर यह ध्यातव्य है कि जीवन का एक अंग भी अपने में पूर्ण होता है और उसकी अनुभूति भी पूर्ण ही होती है।

खण्डकाव्य में जीवन सम्पूर्ण रूप में कवि को प्रभावित नहीं करता है, एक अंश या खण्डरूप में ही वह प्रभावित होता है। अतः किसी एक मर्म को कवि चुनता है और उसकी अभिव्यक्ति समग्ररूपेण करता है। कवि की सारग्राहिणी प्रतिभा एक छोटे से कथा खण्ड में चरित्र विकास की प्रतिष्ठा करती है। इसमें काल और प्रभाव की एकता अपेक्षित होती है। कथावस्तु का विकास धीरे-धीरे होता जाता है। खण्डकाव्य के नायक को पौराणिक या ऐतिहासिक होना आवश्यक नहीं। इसका चयन लोकजीवन से भी किया जाता है। पौराणिक काव्य भी किसी प्रेरणा या महत् उद्देश्य को लेकर लिखे जाते हैं। खण्डकाव्य के लिए मानव जीवन की बहुमुखी परिस्थितियों का समावेश एवं प्रासंगिक कथा के साथ अवान्तर कथाओं का सन्निवेश आवश्यक नहीं है।

संक्षेप में खण्डकाव्य प्रबन्ध-काव्य का वह अंग है, जिसमें मानव जीवन के किसी एक साधारण अथवा मार्मिक पक्ष की अनुभूति का काव्यात्मक अभिव्यञ्जन होता है। प्राकृत में खण्डकाव्य बहुत कम लिखे गये हैं। इन उपलब्ध प्राकृत खण्डकाव्यों में कवियों ने अपनी सारग्राहिणी प्रतिभा के बलपर जीवन के किसी एक अंश का ही प्रतिपादन किया

है; इसमें युग का कोई महत् संदेश अभिव्यञ्जित नहीं हुआ है। कथावस्तु का विकास भी धीरे-धीरे ही हुआ है। प्राकृत के खण्डकाव्यों में निम्नि तत्त्वों का समावेश किया गया है—

१. लोक जीवन—लोक-हृदय की सामान्य एवं सहज प्रवृत्तियाँ।

२. वीरभाव—वीरनायक के आख्यान का समावेश, फलतः युद्ध और शृंगार का समन्वय कर घृणा, क्रोध, भय आदिका अन्वयन।

३. प्रेमतत्त्व—जनरुचि के अनुकूल प्रेमतत्त्व का सन्निवेश।

४. पौराणिकता—पौराणिक कथानकों के कारण पौराणिक मान्यताओं का समावेश।

५. अहिंसा, वीरता, तप, त्याग आदि का सन्देश तथा विभिन्न साधनाओं का रसमय रूप।

उपलब्ध प्राकृत खण्डकाव्य निम्न लिखित हैं, इनका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

कंसवहो[1]

इस काव्य के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें 'कंसवध' का आख्यान वर्णित है। नाम-कारण प्राकृत के 'गउडवहो' और संस्कृत के 'शिशुपालबध' के आधार ही किया गया प्रतीत होता है। यह एक सरस काव्य है, इसमें लोकजीवन, वीरता और प्रेमतत्त्व का एक साथ समावेश किया गया है। उद्धव श्रीकृष्ण और बलराम को धनुषयज्ञ के बहाने गोकुल से मथुरा ले जाता है। वहाँ पहुँचने पर श्रीकृष्ण के द्वारा कंस की मृत्यु हो जाती है। कथानक का आधार श्रीमद्भागवत है। शैली पर कालिदास, भारवि और माघ की रचनाओं का प्रभाव प्रचुर परिमाण में दिखलायी पड़ता है।

रचयिता—इस काव्य के रचयिता रामपाणिवाद मलावर प्रदेश की नम्बियम् जाति के थे। इनका व्यवसाय नाट्य प्रदर्शन के समय मुरज या मृदङ्ग बजाना था। यही यथार्थतः पाणिवाद नामकी सार्थकता है। इस प्रकार कवि साहित्य और नृत्यकला की परम्परा से सुपरिचित था।

कवि का जन्म ई० सन् १७०७ के लगभग दक्षिण मलावर के एक ग्राम में हुआ था। बाल्यकाल में उसने अपने पिता से ही शिक्षा प्राप्त की थी। अनन्तर उस समय के एक प्रसिद्ध विद्वान् नारायणभट्ट से काव्य साहित्य की शिक्षा प्राप्त की। विद्वान् कवि होने के अनन्तर ये उत्तर मलावार के कोलतिरि राजा के आश्रय में चले गये। राजा उन दिनों अपने पड़ोसी राजा से युद्ध करने में उलझा हुआ था, अतएव कवि की ओर

१. डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित और हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई द्वारा १९४६ ई० में प्रकाशित।

वह विशेष ध्यान न दे सका। राजा की इस उदासीनता से कवि को पर्याप्त मानसिक क्लेश हुआ, जिसका वर्णन निम्नलिखित पद्य में किया है—

कोलनृपस्य नगरे वासरा हरिवासराः।
मशकैः मत्कुणैश्चापि रात्रयः शिवरात्रयः॥

अर्थात्—कोल नरेश के नगर में मेरे सभी दिन उपवास में बीतते थे और रात्रियाँ मच्छरों तथा खट्मलों के कारण शिवरात्रि के समान जागरण करते हुए व्यतीत होती थीं।

यहाँ से चलकर ये क्रमशः राजा वीरराय, कोचीन के एक ताल्लुकेदार मुरियनाडु, चेम्पक केसरी के राजा देवनारायण, वीरमार्त्तण्ड वर्मा एवं कार्तिक तिरूनाल आदि राजाओं के आश्रय में रहे। इनकी मृत्यु संभवतः पागल कुत्ते के काटने ई० सन् १७७५ के लगभग हुई थी।

कवि यावज्जीवन ब्रह्मचारी रहा। संस्कृत, प्राकृत और मलयालम इन तीनों भाषाओं में उसने समान रूप से रचनाओं का प्रणयन किया है। संस्कृत में इनके चार नाटक; तीन काव्य और पाँच स्तोत्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनके दो टीका ग्रन्थ भी मिले हैं। मलयालम में इनकी बहुत सी रचनाएँ हैं; जिनमें कृष्णचरित, शिवपुराण, पंचतन्त्र एवं रुक्मांगद चरित विख्यात हैं।

प्राकृत भाषा का कवि महान् पण्डित है। इन्होंने वररुचि के प्राकृत प्रकाश पर 'प्राकृतवृत्ति' नामक टीका लिखी हैं तथा दो खण्ड काव्य—कंसवहो और उषानिरुद्ध।

कथावस्तु—इस कंसवहो नामक खण्डकाव्य में चार सर्ग और २३३ पद्य हैं। बताया गया है कि एक बार श्रीकृष्ण अपने बड़े भाई बलराम के साथ सायंकाल के समय व्रज में चंक्रमण कर रहे थे। उसी समय गन्दिनी पुत्र अक्रूर उनके पास आया। कृष्ण ने उसका स्वागत किया और अक्रूर ने उनकी स्तुति की। अनन्तर उसने दुःख में साथ प्रकट किया कि मथुरा में कंस छल से उन्हें मारने का कूट-जाल रच रहा है और उसीके लिए उसने श्रीकृष्ण को धनुष यज्ञ का निमन्त्रण भेजा है। बलराम को धनुष यज्ञ देखने का कौतुक उत्पन्न हुआ, किन्तु साथ ही उक्त कपटजाल के कारण उनके मन में भय भी उत्पन्न हुआ। श्री कृष्ण ने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और अक्रूर के साथ ही जाने का निश्चय किया। प्रस्थान के समय उन्हें रथारूढ़ देखकर गोपियाँ विलाप करने लगीं। अक्रूर ने उन्हें आश्वासन दिया कि कृष्ण उन्हें सदा के लिए छोड़कर नहीं जा रहें है, बल्कि एक महत्वपूर्ण कार्यसिद्ध कर वे पुनः उनसे आकर मिलेंगे। तत्पश्चात् कृष्ण और बलराम अपने परिजनों सहित चलकर यमुना के तीर पर आये और वहाँ स्नान कर मथुरा में प्रविष्ट हुए।

कृष्ण और बलराम राजमार्ग से जा रहे थे। उन्हें कंस का धोबी मिला, जिससे उन्होंने कुछ वस्त्रों की याचना की। उत्तर में उसका व्यवहार कटु पाकर क्रुद्ध हो

श्रीकृष्ण ने उसे पछाड़ दिया, जिससे उसके प्राण पखेरू उड़ गये। कुछ और दूर आगे बढ़ने पर उन्हें कंस की कुब्जा शिल्पकारिका दासी मिली, जो कंस के लिए केशर, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थं ले जा रही थी। उसने हर्ष और विनयपूर्वक वे केशर-चन्दन आदि सभी पदार्थ कृष्ण को अर्पण किये। प्रसन्न होकर कृष्ण ने उसके कुब्जा को छू दिया, जिससे उसका कुबड़ापन दूर हो गया और वह एक सुन्दर युवती बन गयी। उसने कृष्ण से प्रेम की भिक्षा माँगी, जिसे उन्होंने यह कहकर टाल दिया कि अभी इसके लिए अवकाश नहीं है, फिर देखा जायगा। वहाँ से चलकर वे धनुषशाला में प्रविष्ट हुए और वहाँ रखे हुए धनुष को तोड़कर फेंक दिया। रक्षकों के विरोध करने पर उन्होंने उन्हें यमगेह का अतिथि बना दिया। अनन्तर वे मथुरा नगरी की शोभा देखने लगे। सन्ध्या समय वे अपने निवास स्थान पर लौट आये।

प्रातःकाल होनेपर वन्दीजनों ने प्रभात वर्णन एवं स्तुति-पाठ द्वारा श्रीकृष्ण को जगाया। कृष्ण और बलराम प्रातःक्रियाओं से निवृत्त होकर पुनः नगर की ओर चल पड़े। नगर द्वार पर अम्बष्ट ने कुवलयापीड नामक उन्मत्त हाथी उनको रोकने के लिए खड़ा कर दिया था। कृष्ण ने उस हाथी को भी पछाड़ा और अम्बष्ट को भी। आगे चलने पर चाणूर और मुष्टिक नामक मल्ल मिले, जिन्हें कृष्ण और बलराम ने मल्लयुद्ध करके स्वर्ग पहुँचा दिया। इस समाचार से क्रुद्ध होकर कंस स्वयं ढाल, तलवार लेकर उठा ही था कि तत्क्षण ही कृष्ण ने उसे पछाड़ कर अपने खडग द्वारा उसका नामशेष कर दिया। उसके इस पराक्रम के कारण दिव्य पुष्प वृष्टि हुई, दुन्दुभि बाजे बजने लगे और देवाङ्गनाएँ आकाश में नाच उठीं।

कंस की मृत्यु से समस्त जनता को आनन्द और सन्तोष हुआ। कृष्ण ने उग्रसेन को भोज और अन्धकों का चक्रवर्ती बनाया और अपने माता-पिता वसुदेव और देवकी को बन्दीगृह से छुड़ाया। पिता ने स्नेह से गद्‌गद होकर उन्हें आशीर्वाद दिया। अक्रूर ने स्तुति के रूप में कृष्ण की समस्त लीला का वर्णन किया, जिसे सुनकर कृष्ण के माता-पिता अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने पुनः आशीर्वाद दिया।

समीक्षा—प्रस्तुत काव्य का कथानक श्रीमद्भागवत पर आधृत है और कथावस्तु कृष्ण के व्रज से मथुरा की ओर प्रस्थान से आरम्भ होती है, तथापि अन्तिम सर्ग में अक्रूर के मुख से कवि ने कृष्ण का पूर्व वृत्तान्त वर्णन कराकर उसे एक प्रकार से कृष्ण का कंस वध तक का पूर्ण जीवन चरित बना दिया है। इस रचना में कवि पर कालिदास, भारवि और माघ आदि संस्कृत के महाकवियों का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। अक्रूर का आगमन, स्वागत और स्तुति हमें, 'किरातार्जुनीयम्' में किरात के तथा 'शिशुपालवध' में नारद के आगमन वृत्तान्त का स्मरण कराते हैं। तृतीय सर्ग के आदि में वैतालिकों द्वारा प्रभात का वर्णन शिशुपालवध के प्रभात वर्णन से बहुत कुछ मिलता-जुलता

है। रघुवंश के पाँचवें सर्ग में अज के उद्‌बोधन के लिए किए गये बन्दिजनों के पाठ से भी अनुप्राणित प्रतीत होता है, क्योंकि कृष्ण वहाँ मथुरा अधिपति नहीं है, बल्कि गोप-समुदाय के साथ एक जननायक के रूप में ही गये थे। यहाँ काव्य की दृष्टि से कृष्ण को बन्दियों द्वारा न जगाकर कंस को बन्दियों द्वारा जगाया जाना चाहिए था। यतः अधिपति का वैतालिकों द्वारा उद्‌बोधन करना ही काव्य का औचित्य है। एक बात और खटकनेवाली है कि जिस प्रमुख घटना के आधार पर इस काव्य का नामकरण किया गया है, उस प्रमुख घटना का विस्तार से वर्णन नहीं हुआ है। कवि ने दो एक पद्य में ही चलता वर्णन कर दिया है। इसकी अपेक्षा तो धोबी और चाणूर आदि मल्लों का वध अधिक विस्तार के साथ वर्णित है तथा यह वर्णन वीरोचित भी नहीं है। पर कंस के वध के निरूपण में वीररस का परिपाक नहीं हो पाया है, उद्दीपन और आलम्बन आदि भाव-विभाओं को उद्दीप्त होने का अवसर ही नहीं मिला है। अतः प्रमुख घटना का वर्णन-शैथिल्य इस काव्य का एक बहुत बड़ा दोष है।

इतना होने पर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि कथावस्तु का केन्द्र कंसवध की घटना है। समस्त कथावस्तु इसी केन्द्रविन्दु के चारों ओर चक्कर लगाती है। अतः प्रधान घटना के आधार पर काव्य के नामकरण का औचित्य सिद्ध हो जाता है।

कवि ने बलराम का अन्तर्द्वन्द्व मनोविज्ञान की आधार शिलापर प्रस्तुत किया है। यद्यपि यह वर्णन पूर्णतया शिशुपालवध से प्रभावित है और एक प्रकार से उसीका संक्षिप्त रूप है, तो भी प्रतिपादन करने की प्रक्रिया कवि की अपनी है। कवि कहता है—

पवट्टए चावमहं ति कोदुअं।
णिवट्टए वंचण-सहणं ति तं॥
दुहा बसे भादर भाव-बंधणं।
महत्ति तं जंपइ रोहिणी-सुओ॥ १।२७॥
इदं वओ भग्गइ वण्णमालिणा।
अलं कवित्थेण पलंव-सूअण॥
अकज्ज-सज्जाण हि सत्तु-संभवो।
कुदो भअं कज्ज-पहुम्मुहाण णो॥ १।२८॥

रोहिणी सुत बलराम कहने लगे—भई! मेरा मन बड़ी दुविधा में पड़ा है। धनुष यज्ञ हो रहा है, उसे देखने का बड़ा कौतुक है। पर ऐसा भी मालूम पड़ रहा है कि वह हमें धोखा देने का एक साधनमात्र है। इस कारण मन चिन्ता में पड़ गया है, जाने की इच्छा होते हुए भी मन को पीछे हटाना पड़ रहा है। कृष्ण उत्तर देते हैं।

—प्रलम्ब को पछाड़नेवाले आपको इस प्रकार का सन्देह करना उचित नहीं। शत्रु की सम्भावना तो उनको करनी चाहिए जो अकार्य में प्रवृत्त होते हैं। जब हम कर्त्तव्य-परायण हैं, तब हमें किसी से क्या भय ?

इस प्रसंग में बलराम और कृष्ण की विचारधारा का सुन्दर विश्लेषण हुआ है।

भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से यह काव्य संस्कृत से बहुत प्रभावित है। इसमें प्राकृत के गाथा छन्द का प्रयोग नहीं हुआ है। कवि ने संस्कृत के वंशस्थ, वसन्ततिलका, प्रहर्षिणी, इन्द्रवज्रा, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, पृथिवी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, शिखरिणी आदि छन्दों का प्रयोग किया है। प्राकृत का अपना छन्द गाथा है, जिसका इसमें अत्यन्त भाव है।

अलंकार—संस्कृत की शैली पर इस काव्य के लिखे जाने के कारण इसमें अलङ्कारों की समुचित योजना की गयी है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त, निदर्शना आदि अलङ्कार प्रयुक्त हैं। उपमा द्वारा कवि ने भावों में कितनी स्फीति उत्पन्न की है, यह दर्शनीय है। यथा—

हरिस्स रूवं चिअ संभरेह हो,
हरिम्मणी-सामल-कोमल-प्पहं।
सिणिद्ध-केसंचिअ-मोर-पिंछिअं
विसट्ट-कन्दोट्टविसाल-लोअणं ॥ १।४१ ॥

हरितमणि के समान कोमल श्याम प्रभावाले-मयूरपंख से सुशोभित स्निग्ध केश वाले और विकसित कमल के समान विशाल नेत्र वाले कृष्ण के रूप का स्मरण करो।

यहाँ कृष्ण के रूप के लिए हरितमणि का उपमान, उनके केशों के लिए मयूरपंख का उपमान एवं उनके नेत्रों के लिए विकसित कमल का उपमान प्रयुक्त किया गया है।

मुहं रहम्मि च्चिअ हम्मिओवमे,
सअं सअंतो गमिऊण जामिणि।
पगे समं संमिलिदेहि माहवो;
स णंद-गोव-प्पमुहेहि पट्ठिओ ॥ १।३४ ॥

राजभवन की उपमावाले उस रथ में सुखपूर्वक सोते हुए रात्रि व्यतीत करके वह श्रीकृष्ण नन्द आदि प्रमुख गोपों के साथ सम्मिलित होकर प्रातःकाल में वहाँ से चल दिए।

यहाँ रथ के लिए हर्म्य—भव्य प्रासाद का उपमान प्रयुक्त हुआ है। इस उपमान ने अर्थ वैचित्र्य के साथ भाव को व्यापकत्व प्रदान किया है।

जिअं जिअं मे णअणेहि जेहि दे
सुजाअ-सुंदेर-गुणेक्क-मंदिरं ।
पसण्ण पुण्णामअ-मोह-सच्छहं
मुहं पहासुज्जलमज्ज पिज्जए ।। १।१७ ।।

मेरे नेत्रों की आज विजय हुई, जिन्होंने सौन्दर्य-गुणों के अद्वितीय मन्दिर स्वरूप प्रसन्न पूर्णमासी के चन्द्रमा की अमृतमय किरणों के समान तथा अपनी हँसी के कारण कारण उज्ज्वल हुए आपके मुख को पिया है ।

प्रस्तुत पद्य में हँसी युक्त मुख को अमृतमय किरणों से सहित पूर्णमासी के चन्द्रमा की उपमा दी गई है ।

भावों का प्रसार और रसोत्कर्ष के हेतु कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार की भी सुन्दर योजना की है । कवि की कल्पनाएँ हृदयग्राही और मार्मिक हैं । हृदय में रहनेवाले बिम्बों को उत्प्रेक्षाओं द्वारा सहज सहज अभिव्यञ्जना प्रदान की है । यथा—

इमस्स कज्जस्स सरीरमेरिसं
जहिं खु पाणाअइ विप्पलंभणं ।
ण वच्च वा णंदअ वच्च वा तुवं
विही णिसेहो वि ण दूअ-कत्तओ ।। १।२६ ।।

इस कार्य का शरीर तो ऐसा है, जिसमें छल-कपट सासें भर रहा है । हे नन्दपुत्र आप इसमें सम्मिलित हों या नहीं, क्योंकि विधि या निषेध दूत का कार्य नहीं है ।

इस पद्य में धनुष-यज्ञ में सम्मिलित होने रूप कार्य की उत्प्रेक्षा मानव शरीर से की गयी है । मानव शरीर में साँस आती जाती है और श्वांस का आना-जाना ही जीवन है । इस कार्य में छल-कपट भरा हुआ है, अतः इससे भी छल-कपट की साँसें निकल रही हैं । तथ्य यह हैं कि यह षड्यन्त्र छल-कपट से पूर्ण है । कवि ने कल्पना द्वारा षड्यन्त्र की गम्भीरता पर प्रकाश डाला है ।

मउंद-वेणूअर-णित बंधुर
रसणाम आसाअ-विरूढ-पल्लवा ।
दवुम्ह-सुक्का वि वणंत पाअवा
जहिं खु गिम्हा अवमाणुणंति णो ।। १।४७ ।।

दवाग्नि से शुष्क वनान्त के वृक्षों के पत्ते कृष्ण की बांसुरी से निकली मधुर अमृत ध्वनि का रसास्वादन कर प्रादुर्भूत होने के कारण हम लोगों की गर्मी के दुःखों को शान्त करते हैं । यहाँ पर कवि ने किसलयों के निकलने का कारण कृष्ण की बाँसुरी की मधुर ध्वनि को कल्पित किया है । यह उत्प्रेक्षा का सुन्दर उदाहरण है ।

रूपक का व्यवहार कवि ने भावों को प्रेषणीय एवं चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए किया है। निम्नलिखित रूपक द्रष्टव्य है—

जहिं च वुंदावणमेक्क-मंदिरं
मणि-प्पदीवो मअ-लंछणो सअं।
णवा अ सेज्जा तरु-पल्लवावली
वसं-पुप्फाइ अ भूसणाइ णो ॥ १।५० ॥

प्रस्तुत पद्य में कवि ने वृन्दावन को मन्दिर का रूपक दिया है। मन्दिर में मणि-प्रदीप प्रज्वलित होते हैं, यहाँ चन्द्रमा ही मणि-प्रदीप हैं। मन्दिर में शय्या रहती है, यहाँ वृक्षों के पल्लव ही शय्या हैं। मन्दिर में आभूषण धारण किये जाते हैं, यहाँ वसन्त के पुष्प की आभूषण हैं।

फुरंत-दंतुज्जल-कन्ति-चंदिमा
समग्ग-सुंदेर-मुहेंदु-मंडलं
विसुद्ध-मोत्ता-गुण-कोत्थुह-प्पहा
पलित्त-वच्छं फुड-वच्छ-लंछणं ॥ १।४२ ॥

कृष्ण के दाँतों की उज्ज्वल कान्ति चन्द्रमा है, जिससे मुखरूपी चन्द्रमण्डल सुशोभित हो रहा है। उनका वक्षस्थल भुजा की मालाओं और कौस्तुभ-मणि से दीप्त है तथा श्रीवत्सचिह्न से सुशोभित है।

विओअ-सोउम्हल-गिम्ह-ताविअं
वइत्थिआ सत्थअ-चादई-उलं
वअंबु-धाराहि सु-सीअलाहि सो
सुहावए माहव-दूअ-वारिओ ॥ १।६० ॥

वियोग से उत्पन्न शोकरूपी उष्णता के ताप से संतप्त व्रजाङ्गनारूपी उस चातक समूह को श्रीकृष्ण के दूतरूपी सजल मेघ ने अपनी वाणीरूपी शीतल-जलधारा से आश्वस्त किया।

प्रस्तुत पद्य में दूत पर मेघ का आरोप, शोक पर उष्णता का आरोप और व्रजाङ्ग-नाओं पर चातक समूह का आरोप किया है।

अपह्नुति—

पहाण-पाणाणि खु णो जणद्दणो
स जेण दूरं गमिओ दुरप्पणा।
कअंत दूओ च्चिअ सो समागओ
ण कंस-दूओ त्ति मुणेह गोविआ ॥ १।३९ ॥

इस पद्य में कंसदूत का अपह्लव कर कृतान्त—यमराज के दूत का आरोप किया गया है।

दृष्टान्त—

अमुद्धअंदम्मि व संभु-मत्थए
अकोत्थुहम्मि व्विअ विण्हु-वच्छए।
अणंदए णंद-घरम्मि का सिरी
हआ हआ हंत वअं वअंगणा ॥ १।३६ ॥

शम्भू के मस्तक पर यदि पूर्ण विकसित चन्द्रमा न हो और विष्णु के वक्षस्थल पर यदि कौस्तुभमणि न हो तो उनकी शोभा ही क्या ? ठीक इसी प्रकार नन्दपुत्र के बिना नन्द के गृह की शोभा ही क्या ? हम सभी ब्रजाङ्गनाएँ तो हतभाग्य हो गयीं।

यहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होने से दृष्टान्त अलंकार है।

भाषा—

कंसवहो की भाषा के सम्बन्ध में भी थोड़ासा विचार कर लेना आवश्यक है। डॉ० एन० उपाध्ये ने इसपर बहुत विस्तार से विचार किया है। इस काव्य की भाषा में अल्प प्राण क, ग, आदि मध्यवर्ती व्यञ्जनों का लोप; महाप्राण ख, फ, के स्थान पर ह का आदेश; पूर्वकालिक क्रिया का रूप ऊण प्रत्ययान्त; कारक रचना में सप्तमी एक वचन में म्मि प्रत्यय आदि महाराष्ट्री के लक्षण पाये जाते हैं। मागधी के उदाहरण भी इसमें वर्तमान हैं, यहाँ अहं के स्थान पर अहके और क्वचित् र, के स्थान पर ल—यथा कालण (कारण), गलुल (गरुण), मुहल (मुखर) आदि पाये जाते हैं। इसी प्रकार अनेक शब्दों के मध्य में त, का लोप न होकर द, आदेश पाया जाता है। यथा—अदिहि <अतिथि, तदो <ततः, वामदा <वामता आदि। लम्भदो, करादो, सूरादो आदि शब्दों में पञ्चमी विभक्ति में दो प्रत्यय पाया जाता है। होदु, अहिदोदु जैसे रूपों में 'तु' के स्थान पर 'दु' पाया जाता है। उक्त उदाहरणों में शौरसेनी की प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं। इस प्रकार इस काव्य में महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी इन तीनों भाषाओं के प्रयोग वर्तमान हैं। यद्यपि महाराष्ट्री कोई स्वतन्त्र प्राकृत नहीं है, यह शौरसेनी की ही प्रवृत्ति है; तो भी भाषा की दृष्टि से इस काव्य को व्याकरण सम्मत कहा जा सकता है।

उषानिरुद्ध[1]

इस काव्य के रचयिता भी रामपाणिवाद हैं। यह कंसवहो से पूर्व की रचना हैं। इसकी कविता कंसवहो की अपेक्षा निम्नस्तर की है। यद्यपि संस्कृत काव्यों का प्रभाव इस काव्य पर भी विद्यमान है, तो भी कंसवहो जैसी प्रौढ़ता नहीं है।

---

१. सन् १९४३ में अडियार लाइब्रेरी, मद्रास से प्रकाशित।

इस खण्डकाव्य में चार सर्ग हैं। इसकी कथा का आधार भी श्रीमद्भागवत ही है। इसमें बाणासुर की कन्या उषा का श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के साथ विवाह होना वर्णित है। प्रेम काव्य की दृष्टि से यह मध्यम कोटि का काव्य है। कवि ने शृंगार का परिष्कृत रूप निरूपित किया है।

कथावस्तु—बाण की कन्या उषा रात्रि में स्वप्न में अनिरुद्ध को देखती है। उसे प्रच्छन्न रूप से उषा के घर लाया जाता है और वह वहाँ पर अपनी प्रेमिका के साथ नाना प्रकार की क्रीडाएँ करता है। एक दिन नौकरों को पता लग जाता है और वे इस प्रणय व्यापार का समाचार राजा को दे देते हैं। राजा अनिरुद्ध को पकड़कर जेल में डाल देता है। उषा अपने प्रेमी के विरह में नाना प्रकार से विलाप करती है।

कृष्ण को जब यह वृत्तान्त अवगत होता है कि उनके पौत्र को कारागृह में बन्द कर दिया गया है, तो वे बाण के साथ युद्ध करने के लिए आते हैं। बाण की सेना पराजित हो जाती। बाण की सहायता करने वाले शिव कृष्ण की स्तुति करने लगते हैं। बाण अपनी कन्या का विवाह अनिरुद्ध से कर देता है। कृष्ण द्वारिका लौट आते हैं।

नगर की नारियाँ अपना काम छोड़कर उषा और अनिरुद्ध को देखने के लिए शीघ्रतापूर्वक आती हैं। शीघ्रतावश भ्रान्ति के कारण वे नारियाँ कमर में हार और गले में मेखला धारण कर लेती हैं। कोई शीघ्रता से चलने के कारण अपनी नीबी को हाथ में पकड़ कर चलती हैं। उषा और अनिरुद्ध नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हुए अपना समय यापन करते हैं।

यह खण्डकाव्य प्रबन्ध काव्य के गुणों से सम्पृक्त है। कथावस्तु सरस है और कवि ने नायक अनिरुद्ध और नायिका उषा के चरित को प्रणय की चौरस भूमि पर अङ्कित किया है। घटनाओं के वर्णन का क्रम इस प्रकार का अन्यत्र शायद ही मिल सकेगा।

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, काव्यलिङ्ग, अलंकारों का नियोजन भी सुन्दर किया गया है। वीर और शृङ्गार रस का भव्यचित्रण प्रस्तुत किया है। कविता पर संस्कृत कवियों की शैली, छन्दोयोजना एवं वर्णन क्रम का प्रभाव सर्वत्र दिखलायी पड़ता है। इस काव्य पर कर्पूरमंजरी का प्रतिबिम्ब भी है।

भृङ्गसन्देश[1]

मेघदूत के अनुकरण पर मन्दाक्रान्ता छन्द में यह काव्य लिखा गया है। इसमें एक विरही व्यक्ति अपनी प्रिया के पास भृङ्ग द्वारा सन्देश भेजता है। माया के प्रभाव के

१. इस काव्य की छः गाथाएँ डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने प्रिंसिपल करमकर कॉमोमॉरेशन वोल्यूम, पूना, १९४८ में प्रकाशित की हैं।

कारण उसका वियोग अपनी पत्नी से हो जाता है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता का भी पता नहीं है। ग्रन्थ की प्रति भी त्रिवेन्द्रम् के पुस्तकालय में अधूरी मिली है। इस पर संस्कृत टीकाकार का नाम अज्ञात है।

कविता की शैली निम्न प्रकार की है—

आलावं से अह सुमहुरं कूइअं कोइलाणं
अङ्गं पाओ उण किसलअं आणणं अम्बुजम्मं।
णेत्तं भिंगं सह पिअअयं तस्स माआ-पहावा
सो कप्पंतो विरह सरिसिं तं दसं पत्तवन्तो॥

———

चतुर्थोऽध्यायः

प्राकृत-चरितकाव्य

यह पूर्व में लिखा जा चुका है कि प्राकृत साहित्य का प्रदुर्भाव धार्मिक क्रान्ति से हुआ है। अतः आगम सम्बधी मान्यताओं का प्राप्त होना और तत्सम्बन्धी साहित्य का प्रचुररूप में लिखा जाना स्वाभाविक है। इस साहित्य में भी लौकिक साहित्य के निम्न बीज सूत्र वर्तमान हैं, जिनके आधार प्रबन्धात्मक काव्य एवं कथा साहित्य के विकास की परम्परा स्थापित की जा सकती है।

(१) धार्मिक भावों के स्पष्टीकरण के लिए रूपक और उपमाओं के प्रयोग

(२) कथात्मक आख्यान

(३) संवाद—प्रश्नोत्तर के रूप में कथोपकथनों की शृङ्खला

(४) उपदेशात्मक या नीति सम्बन्धी गद्य-पद्य

(५) छन्दों की अनेकरूपता

(६) प्रसंगवश अलंकृत वर्णन

(७) वंश और जातियों के संकेत

(८) आचार-दर्शन एवं प्राकृतिक वस्तुओं के इतिवृत्त

(९) साधनाओं के उदाहरण

उपर्युक्त बीज सूत्रों के आधार पर चरितकाव्यों का प्रणयन प्राकृत कवियों ने किया है। संस्कृत के चरित काव्यों का मूलस्रोत जिस प्रकार वेद है, प्राकृत के चरित काव्यों का मूलस्रोत उसी प्रकार आगमन साहित्य है। वस्तुतः चरित काव्य प्रबन्ध की ही एक रूप योजना है। जहाँ पात्र पौराणिक-ऐतिहासिक हैं और कालक्रम के तिथिगत एवं तथ्यगत व्योरों से पुष्ट हैं, वहाँ भी प्रसंगों की उद्भावना और मनोभावों की व्यञ्जना के चलते ही वे चरितकाव्य के विषय बनते हैं। कल्पना और सहानुभूति के अभाव में ऐतिहासिक या पौराणिक पात्र सीप रह जाते हैं, मुक्तामणि नहीं हो पाते। जीवधर्म की रसानुवर्त्ती प्रज्ञा और तीव्र भावना के चलते पात्रों के शील रुचि, रस, अनुराग और सार्थकता का समावेश होता है और चरित काव्य की परम्परा आरम्भ हो जाती है।

चरितकाव्य, भवितव्यता की कोटि में परिगणित हैं, वे मात्र भूतकाव्य नहीं। मात्रभूत से अभिप्राय विचित्र और कुतूहलवर्धक घटनाओं के शृंखला क्रम से है। केवल 'होना' एक घटना है, किसी से कुछ हो जाना केवल 'क्रिया' है। चरित काव्य 'क्रिया' का नहीं, बल्कि कर्म का प्रबन्ध है। 'कर्म' इच्छाशक्ति के चलते होता है। इच्छाशक्ति

को सक्रिय करता है और कोई न कोई 'भाव' ही शील की, चरित की आधार शिला है। यही कारण है कि चरितकाव्य का नायक मोक्ष पुरुषार्थ को प्राप्त करने का प्रयास करता है। उसकी समस्त भाव-शक्ति अपने लक्ष्य की ओर प्रवृत्त रहती है। कभी-कभी चरितकाव्य का, प्रबन्ध का अन्त पाठक की कल्पना के प्रतिकूल भी देखा जाता है। यतः काव्य का फल जहाँ मनोविकारों का न्यायसंगत परिणाम न होकर अन्यथा हो, वहाँ घटना भवितव्यता का रूप धारण कर लेती है। फलतः काव्य में सहज में ही उदात्तता का समावेश हो जाता है।

वंशरेतस् परम्परा के चलये (Heredity), माता-पिता, पूर्वज परिवार के रक्त सम्बन्ध आदि के कारण कभी-कभी चरितों में विकृतियाँ दिखलायी पड़ती हैं, जिसके परिणाम स्वरूप काव्य का सार आभ्यन्तरिक दुर्दैव की शाश्वत और व्यापक महिमा का हो जाता है। इस कोटि के चरितकाव्य भी प्राकृत साहित्य में उपलब्ध है।

चरितकाव्यों में प्रबन्ध के अनेक रूप दिखलायी पड़ते हैं। यहाँ कुछ प्रबन्ध प्रारूपों का विवेचन किया जाता है—

१. मनःप्रधान प्रबन्ध—जहाँ चरित मन की ग्रन्थियों, शैशव की दमित वासनाओं बाधित रतिचेष्टाओं, चेतनाओं के स्तरों या तलो, स्थिरभूत दशाओं, उन्नतकर्त्तव्यों, नाना विकल्पों आदि के आधार पर वैज्ञानिक कारण-कार्य स्वरूप का विधान प्रस्तुत करते हैं। इस श्रेणी के प्रबन्धों में मन की विभिन्न स्थितियों का मनोवैज्ञानिक ऐसा चित्रण रहता है, जिससे चरित का उद्घाटन होता है।

२. चेतना-प्रधान—जहाँ चेतना की सरणि प्रस्तुत की जाती है और चेतना में उठनेवाले बुद्-बुद्, विचार धाराएँ विकारों के साथ स्वचालित शब्दावली में प्रस्तुत की जाती हैं। उपयोग की विशुद्धता का चरित के माध्यम से प्रकट होना चेतना प्रधान प्रबन्ध है।

३. जीव-परक—नायक या नायिका के यश वर्णन से सम्बद्ध होते हैं। घटनाओं और कार्यों का चयन, संगति और मर्यादा बहुधा एकपक्षीय रहती हैं। ऐसे चरितकाव्य प्रतीति कम उन्नत करते हैं, रीति से लगते हैं, अलंकार और रूपकों के मोहजाल में खो जाते हैं, अतिशयोक्ति से काम लेते हैं। विभावन गुण की अल्पता के कारण रस-संचार की क्षमता कम रहती है। जीव की लोक एषणा या वित्त एषणा का उद्घाटन करना जिस चरित का लक्ष्य रहता है, वह जीव-परक प्रबन्ध है।

४. जगत-परक—इस कोटि के चरित काव्यों में नायक का चरित तो व्याज या निमित्त रहता है, पर देश या युग का चित्रण प्रधान होता है।

साहित्य विधाओं के विकास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि कथा, वर्णन एवं आचार विषयक मान्यताओं के अनन्तर ही चरितकाव्य का सृजन आरम्भ होता है।

इसके प्रारूप में चरित और काव्य दोनों के तत्त्व मिश्रित हैं। घटनाविन्यास और कुतूहल ये दोनों तत्त्व कथा या आख्यानों से ग्रहण किये जाते हैं अथवा कथा और आख्यानों के अध्ययन से घटना विन्यास में कौतूहल तत्त्व का समन्वय कर ऐसे चरित की स्थापना की जाती है, जो उत्तरोत्तर रसानुभूति उत्पन्न करने की क्षमता रखता हो पर अलंकृत कम हो। श्रेष्ठ चरितकाव्य में निम्नाङ्कित तथ्यों का रहना परम आवश्यक है—

१. कथावस्तु में व्यास का अधिक समावेश रहता है।

२, सूक्ष्म भावों या दशाओं की चरित्रमूलक उपस्थापना अपेक्षित होती है।

३. घटनाओं, पात्रों या परिवेश की सन्दर्भ पुरस्सर व्याख्या अथवा वातावरण के सौरभ की व्यञ्जना रहती हैं।

४. सन्धिस्थलों पर संयोजक का कार्य—सन्धियों का संयोजन संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करना। कथावस्तु के प्रवाह एवं उसकी मार्मिकता के निर्वाह के लिए सन्धि-संयोजन आवश्यक है।

५. कथानक में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए परिस्थितियों का नियोजन तथा जीवन या जगत् सम्बन्धी नीति या उपदेश प्रस्तुत करना अपेक्षित है।

६ मूलकथानक के चुने तथ्यों के अतिरिक्त लोक से इधर-उधर प्रवृत्ति देश, काल और व्यक्ति के उन व्योरों को प्रस्तुत करना, जो अतिरिक्त से मालूम पड़ते है, पर रुचि का पोषण करते हैं तथा कथावस्तु को कृत्रिम होने से बचाते हैं। गौण व्योरों की प्रचुरता न हो और सभी व्योरे सत्य संगत हों, इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है।

७. कोई भी चरितकाव्य तभी कथाकोटि से आगे बढ़ता है, जब उसमें अन्योक्ति गर्भित अनुभव की सरणि के आधार पर चरित का द्वन्द्वात्मक विकास दिखलाया जाता है। कथावस्तु के साधारण विवेचन से तो चरितकाव्य भी कथा ही बनकर रह जाता है।

८ पाश्चात्य समीक्षकों का मत है कि जहाँ शील वैचित्र्य नहीं है, अविकारी चरित वर्णित हैं, वहाँ साधारणीकरण की स्थिति नहीं आ पाती। अतः चरितकाव्य के लिए एक या अनेक चरितों में स्वाभाविता का रहना आवश्यक है। पात्रों का अस्वाभाविक दैवी रूप चरित काव्य को पुराण बना देता है, काव्य नहीं। यद्यपि चरितकाव्यों में पुराण के अनेक तत्त्व रहते हैं। आत्मा के आवागमन, स्वर्गनरक, भूत-प्रेत, रूपपरिवर्त्तन आदि विषय चरित काव्यों में भी पाये जाते हैं और पुराणों में भी। पर चरित काव्यों की यह विशेषता होती है कि वहाँ पर उक्त विषयों का समावेश रसानुभूति के उस धरा-तल पर प्रतिष्ठित किया जाता है, जिस धारातल पर पाठक मनोरंजन के साथ भावों का तादात्म्य भी स्थापित करता है।

९. जीवन के विभिन्न व्यापारों और परिस्थितियों का चित्रण—जैसे प्रेम, विवाह, मिलन, कुमारोदय, संगीत-समाज, दूत-प्रेषण, सैनिक-अभियान, नगरावरोध, युद्ध, दीक्षा, तपश्चरण, नाना उपसर्ग एवं विघ्नों का निरूपण रहता है।

१०. नायक के चरित में इस प्रकार की परिस्थितियों का नियोजन होना चाहिए, जिससे उसका चरित क्रमशः उद्घाटित होता चला जाय। कथानक बिखरा हुआ न होकर सूचीबद्ध रहे तथा उसका प्रवाह नदी की शान्त स्वभाव से बहने वाली धारा के समान न होकर आवर्त-विवर्तमयी धारा के समान हो। संयमित कथानक ही समन्वित प्रभाव उत्पन्न करता है।

११. घटना और वर्णन दोनों में समन्वय को स्थापना चरित काव्य का प्राण है। घटनाओं की प्रधानता उसे कथा कोटि में और वर्णनों की प्रधानता विशुद्ध काव्यकोटि में स्थापित कर देती है। अतः समन्वय की स्थित ही चरितकाव्य की आधारशिला है।

१२. रस को उत्पत्ति पात्रों, और परिस्थितियों के सम्पर्क, संघर्ष और क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा प्रदर्शित करना आवश्यक है।

१३ चरित काव्यों का मूल आगम और पुराणों में है, अतः इसमें मानवमात्र के हृदय में प्रतिष्ठित धार्मिक वृत्तियों; पौराणिक और निजन्धरी विश्वासों और आश्चर्य तथा औत्सुक्य की सहज-प्रवृत्तियाँ भी पायी जाती हैं।

१४. मूलकथा और अवान्तर-कथाओं के अतिरिक्त वस्तुओं, पात्रों और भाव-अनुभावों का निरूपण भी आवश्यक है। चरितकाव्य का रचयिता चरित्रोद्घाटन के लिए किसी व्यक्ति के जीवन की आवश्यक घटनाओं को ही चुनता है, पर जीवन की समग्रता का चित्रण करने के हेतु वह अपनी कल्पना से जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुओं और व्यापारों का चित्रण भी करता है। जीवन के रूपों और पक्षों का वैविध्य चरित्र विकास के लिए आवश्यक है।

१५. चरित काव्य की शैली में गम्भीरता, उदात्तता और रुचिरता अपेक्षित हैं। प्रभावान्विति को नुकीली बनाने के लिए शैली में उक्त गुणों का समावेश नितान्त आवश्यक है।

प्राकृत चरितों की कथावस्तु राम, कृष्ण, तीर्थंकर या अन्य महापुरुषों के जीवन तथ्यों को लेकर निबद्ध की गयी है। तिलोयपण्णत्ति में चरित काव्यों के प्रचुर उपकरण वर्तमान हैं। कल्पसूत्र एवं जिनभद्र क्षमाश्रमण के विशेषावश्यक भाष्य में चरित-काव्यों के अर्धविकसित रूप उपलब्ध हैं। विमल सूरि का पउमचरिय, वर्धमान सूरि का आदिनाथ चरित, सोमप्रभ का सुमतिनाथ चरित, देवसूरि का पद्मप्रभ स्वामी चरित, यशोदेव का चन्द्रप्रभ चरित, अजितसिंह का श्रेयांसनाथ चरित, नेमिचन्द्र का अनन्तनाथ चरित, देवचन्द्र का शान्तिनाथ चरित, जिनेश्वर का मल्लिनाथ चरित, श्रीचन्द्र का मुनिसुव्रत

चरित एवं नेमिचन्द्र का रयणचूडरायचरित प्रसिद्ध चरितकाव्य हैं। कुछ ऐसे पौराणिक चरित भी उपलब्ध हैं, जिनमें एक से अधिक व्यक्तियों के जीवन तथ्य संकलित हैं। चरित काव्यों की यह परम्परा संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं में भी वर्तमान है। प्राकृत में कुछ ऐसे भी चरितकाव्य हैं, जिसके नायक न तो पौराणिक पुरुष हैं और न ऐतिहासिक या अर्ध ऐतिहासिक ही। ऐसा प्रतीत होता है कि लोकजीवन से ख्याति प्राप्त महनीय चरित ग्रहण कर उक्त श्रेणि के चरित काव्यों का प्रणयन किया गया है, यही कारण है कि इस प्रकार के चरित काव्यों में लोकतत्त्वों का प्राचुर्य है। जीवन का अनेक पक्षों के साथ प्रधानतः धार्मिक जीवन का विश्लेषण भी किया गया है। आख्यानों में अलंकरण के तत्त्वों का समावेश कर चरितकाव्यों को पूर्ण सरस बनाया है। यहाँ प्रमुख चरितकाव्यों का अनुशीलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

पउमचरियं[1]

यह रामकथा से सम्बद्ध सर्व प्रथम प्राकृत-चरितकाव्य है। संस्कृत साहित्य में जो स्थान वाल्मीकि रामायण का है, प्राकृत में वही स्थान इस चरितकाव्य का। इसके रचयिता विमल सूरि नाम के जैन आचार्य हैं। ये आचार्य राहु के प्रशिष्य, विजय के शिष्य और नाइलकुल के वंशज थे। प्रशस्ति में इनका समय ई० सन् प्रथम शती हैं; पर ग्रन्थ के अन्तःपरीक्षण से इसका रचना काल ई० सन् ३-४ शती प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में महाराष्ट्री प्राकृत का परिमार्जित रूप विद्यमान है, अतः दूसरी शती के पूर्व इसकी रचना कभी भी संभव नहीं है। इसके समय की उत्तर सीमा ७ वीं शती है, क्योंकि इसी शताब्दी में महाकवि रविषेण ने इसी चरितकाव्य के आधार पर संस्कृत 'पद्मचरितम्' की रचना की है। अतः ७ वीं शती के पूर्व इनका स्थितिकाल सुनिश्चित है। इस ग्रन्थ में उज्जैन के स्वतन्त्र राजा सिंहोदर का दशपुर के अपने अधीनस्थ राजा से युद्ध का होना, दूसरी शती ई० के महाक्षत्रपों की ओर संकेत करता है। दीनार का उल्लेख एवं श्रीपर्वतवासियों का उल्लेख भी इस बात का प्रमाण है कि विमलसूरि का समय द्वितीय शताब्दि के पश्चात् होना चाहिए। उत्तरकालीन छन्दों के प्रयोग भी उक्त मत की पुष्टि करते हैं।

कथावस्तु—अयोध्या नगरी के अधिपति महाराज दशरथ की अपराजिता और सुमित्रा दो रानियाँ थीं। एक समय नारद ने दशरथ से आकर कहा कि आपके पुत्र द्वारा सीता के निमित्त से रावण का वध होने की भविष्यवाणी सुनकर विभीषण आपको मारने आ रहा है। नारद से इस सूचना को प्राप्त कर दशरथ छद्मवेश में राजधानी छोड़कर चले गये। संयोगवश कैकेयी के स्वयंवर में पहुँचे। कैकेयी ने दशरथ का वरण

१. डॉ हर्मन जेकोबी द्वारा भावनगर से प्रकाशित—सन् १९१४ ई०।

किया, जिससे अन्य राजकुमार रुष्ट होकर युद्ध करने के लिए तैयार हो गये। युद्ध में दशरथ के रथ का संचालन कैकेयी ने बड़ी कुशलता के साथ किया, जिससे दशरथ विजयी हुए। अतः प्रसन्न होकर दशरथ ने कैकेयी को एक वरदान दिया।

अपराजिता के गर्भ से एक पुत्र का जन्म हुआ, जिसका मुख पद्म जैसा सुन्दर होने से पद्म नाम रखा गया। इनका दूसरा नाम राम है, जो पद्म की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध है। इसी प्रकार सुमित्रा के गर्भ से लक्ष्मण और कैकेयी के गर्भ से भरत का जन्म हुआ।

एक बार राम-पद्म अर्ध-बर्बरों के आक्रमण से जनक की रक्षा करते हैं, जनक प्रसन्न हो अपनी औरस पुत्री सीता का सम्बन्ध राम के साथ तय करते हैं। जनक के पुत्र भामण्डल को शैशवकाल में ही चन्द्रगति विद्याधर हरण कर ले जाता है। युवा होने पर अज्ञानतावश सीता से उसे मोह उत्पन्न हो जाता है। चन्द्रगति जनक से भामण्डल के लिए सीता की याचना करता है। जनक असमंजस में पड़ जाते हैं और सीता स्वयंवर में धनुष यज्ञ रचते हैं। सीता के साथ राम का विवाह हो जाता है।

दशरथ रामको राज्य देकर भरत सहित दीक्षा धारण करना चाहते हैं। कैकेयी भरत को गृहस्थ बनाये रखने के हेतु वरदान स्वरूप दशरथ से भरत के राज्याभिषेक की याचना करती है, दशरथ भरत को राज्य देने के लिए तैयार हो जाते हैं। भरत के द्वारा अनाकानी करने पर भी राम उन्हें स्वयं समझा-बुझाकर राज्याधिकारी बनाते हैं। और स्वयं अपनी इच्छा से लक्ष्मण तथा सीता के साथ वन चले जाते हैं। दशरथ श्रमण दीक्षाधारण कर तप करने लगते हैं। इधर अपराजिता और सुमित्रा अपने पुत्र के वियोग से बहुत दुःखी होती हैं। कैकेयी से यह देखा नहीं जाता, अतः वह परियात्र बन में जाकर उनको लौटाने का प्रयत्न करती है, पर राम अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहते हैं।

जब राम दण्डकारण्य में पहुँचते हैं, तो लक्ष्मण को एक दिन तलवार की प्राप्ति होती है। उसकी शक्ति की परीक्षा के लिए वे एक झुरमुट को काटते हैं। असावधानी से शंबुक की हत्या हो जाती है, जो कि उस झुरमुट में तपस्या कर रहा था। शंबुक की माता चन्द्रनखा, जो कि रावण की बहन थी, पुत्र की खोज में वहाँ आ जाती है। वह राजकुमारों को देखकर प्रथमतः क्षुब्ध होती है, पश्चात् उनके रूप से मोहित होकर वह दोनों भाइयों में से किसी एक को अपना पति बनने की याचना करती है। राम-लक्ष्मण द्वारा चन्द्रनखा का प्रस्ताव ठुकराये जाने पर वह क्रुद्ध होकर अपने पति खरदूषण को उलटा-सीधा समझा कर उनके वध के लिए भेजती है। इधर रावण भी अपने बहनोई की सहायता के लिए वहाँ पर पहुँचता है। रावण सीता के सौन्दर्य पर मुग्ध हो राम और

लक्ष्मण की अनुपस्थिति में सीता हरण कर लेता है। खरदूषण को मारने के अनन्तर राम सीता को न पाकर बहुत दुःखी होते हैं। उसी समय एक विद्याधर विराधित राम को अपनी पैतृक राजधानी पातालपुर लंका में ले जाता है, जिसे खरदूषण ने विराधित के पिता का वधकर छीन लिया था।

सुग्रीव अपनी पत्नी तारा को विट-सुग्रीव के चंगुल से बचाने के लिये राम की शरण में जाता है और राम सुग्रीव के शत्रु विट-सुग्रीव को पराजित कर वानर वंशी सुग्रीव का उपकार करते हैं। लक्ष्मण सुग्रीव की सहायता से रावण का वध करते हैं। सीता को साथ लेकर राम लक्ष्मण सहित अयोध्या लौट आते हैं।

अयोध्या लौटने पर कैकेयी और भरत दीक्षाधारण करते हैं। राम स्वयं राजा न बनकर लक्ष्मण को राज्य देते हैं। कुछ समय पश्चात् सीता गर्भवती होती है, पर लोकापवाद के कारण राम उसका निर्वासन करते हैं। संयोगवश पुण्डरीक पुर का राजा सीता को भयानक अटवी से लेजाकर अपने यहाँ बहन की तरह रखता है। वहाँ पर लवण और अंकुश का जन्म होता है। वे देश विजय करने के पश्चात् अपनी माता के दुःख का बदला लेने के लिए राम पर चढ़ाई करते हैं और अन्त में पिता के साथ उनका प्रेम पूर्वक समागम होता है। सीता की अग्निपरीक्षा होती है, जिसमें वह निष्कलंक सिद्ध होती है और उसी समय साध्वी बन जाती है। लक्ष्मण की अकस्मात् मृत्यु हो जाने पर राम शोकाभिभूत हो जाते हैं और भ्रातृमोह में उनका शव बठाकर इधर-उधर भटकते हैं। जब उनका मनोद्वेग शान्त हो जाता है, तब वे दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं और कठोर तप करके निर्वाण प्राप्त करते हैं।

समीक्षा—इस चरित काव्य में पौराणिक प्रबन्ध और शास्त्रीय प्रबन्ध दोनों के लक्षणों का समावेश है। वाल्मीक रामायण की कथावतु में किञ्चत् संशोधन कर यथार्थ बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा की है। राक्षस और वानर इन दोनों को नृवंशीय कहा है। मेघवाहन ने लंका तथा अन्य द्वीपों की रक्षा की थी, अतः रक्षा करने के कारण उसके वंश का नाम राक्षसवंश प्रसिद्ध हुआ। विद्याधर राजा अमरप्रभ ने अपनी प्राचीन परम्परा को जीवित रखने के लिए महलों के तोरणों और ध्वजाओं पर वानरों की आकृतियां अंकित करायी थीं तथा उन्हें राज्य-चिह्न की मान्यता दी, अतः उसका वंश वानर वंश कहलाया ये दोनों वंश दैत्य और पशु नहीं थे, बल्कि मानव जाति के ही वंश विशेष थे। इसी प्रकार इन्द्र, सोम, वरुण इत्यादि देव नहीं थे, बल्कि विभिन्न प्रान्तों के मानव वंशी सामन्त थे। रावण को उसकी माता ने नौ मणियों का हार पहनाया, जिससे उसके मुख के नौ प्रतिबिम्ब दृश्यमान होने के कारण पिता ने उसका नाम दशानन रखा।

इसी प्रकार हनुमान विद्याधर राजा प्रह्लाद के पुत्र पवनञ्जय और उनकी पत्नी अञ्जनासुन्दरी के औरस पुत्र थे। सूर्य को फल समझकर हनुमान द्वारा ग्रसित किये

जाने का वृत्तान्त इस चरितकाव्य में नहीं है। हनुरूहपुर में जन्म होने के कारण उनका नाम हनुमान् रखा गया था।

सीता की उत्पत्ति भी हल की नोक से भूमि खोदे जानेपर नहीं हुई है। वह तो राजा जनक और उनकी पत्नी विदेहा की स्वाभाविक औरस पुत्री थी।

हनुमान् कोई पर्वत उठाकर नहीं लाये। वे विशल्या नामक एक स्त्री चिकित्सक को घायल लक्ष्मण की चिकित्सा के लिए सम्मानपूर्वक लाये थे।

चरितकाव्य का सबसे प्रधानगुण नायक के चरित्र का उत्कर्ष दिखलाना हैं। दशरथ द्वारा भरत को राज्य देने का समाचार सुनकर राम अपने पिता को धैर्य देते हुए कहते हैं कि पिताजी आप अपने वचन की रक्षा करें। मैं नहीं चाहता कि मेरे कारण आपका लोक में अपयश हो। जब भरत राज्य ग्रहण करने में आनाकानी करते है, तब राम उन्हें अपने पिता की विमल कीर्ति बनाये रखने और माता के वचन की रक्षा करने का परामर्श देते हैं। जब भरत अनुरोध स्वीकार नहीं करते तो राम स्वयं ही अपनी इच्छा से वन चले जाते हैं। यह नायक की स्वाभाविक उदारता का निदर्शन है। युद्ध के समय जब विभीषण राम से कहता है कि विद्यासाधना में ध्यानमग्न रावण को क्यों नहीं बन्दी बना लिया जाय, तब राम क्षात्रधर्म बतलाते हुए कहते हैं कि धर्म—कर्त्तव्य में लगे व्यक्ति को धोखे से बन्दी बनाना अनुचित है। परिस्थितिवश लोकापवाद के भय से राम सीता का निर्वासन करते है, यह भी अनुचित है। किन्तु सीता की अग्नि-परीक्षा के अनन्तर राम बहुत पछताते हैं और क्षमा याचना करते हैं।

रावण स्वयं धार्मिक और व्रती पुरुष अंकित किया गया है। सीता की सुन्दरता पर मोहित होकर रावण ने अपहरण अवश्य किया, किन्तु सीता की इच्छा के विरुद्ध उसपर कभी बलात्कार करने की इच्छा नहीं की। जब मन्दोदरी ने बलपूर्वक सीता के साथ दुराचार करने की सलाह रावण को दी, तो उसने उत्तर दिया—"यह संभव नहीं है, मेरा व्रत है कि किसी भी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध बलात्कार नहीं करूँगा।" वह सीता को लौटा देना चाहता था, किन्तु लोग कायर न समझ लें, इस भय से नहीं लौटाता। उसने मन में निश्चय किया था कि युद्ध में राम और लक्ष्मण को जीतकर परम वैभव के साथ सीता को वापस करूँगा। इससे उसकी कीर्त्ति में कलंक नहीं लगेगा और यश भी उज्ज्वल हो जायगा। रावण की यह विचारधारा रावण के चरित्र को उदात्तभूमि पर ले जाती है। वास्तव में विमल सूरि ने रावण जैसे पात्रों के चरित्र को भी उन्नत दिखलाया है।

दशरथ राम के वियोग में अपने प्राणों का त्याग नहीं करते, बल्कि निर्भयवीर की तरह दीक्षाग्रहण कर तपश्चरण करते हैं। कैकेयी ईर्ष्यावश भरत को राज्य नहीं दिलाती

किन्तु पति और पुत्र दोनों को दीक्षा ग्रहण करते देखकर उसको मानसिक पीड़ा होती है। अतः वात्सल्य भाव से प्रेरित हो अपने पुत्र को गृहस्थी में बाँध रखना चाहती है। राम स्वयं वन जाते हैं, वे स्वयं भरत को राजा बनाते हैं। राम के वन से लौटने के पश्चात् कैकेयी प्रव्रजित हो जाती है और राम से कहती है, कि भरत को अभी बहुत कुछ सीखना है। भरत के दीक्षित हो जाने पर वह घर में नहीं रह पाती, इसी कारण शान्तिलाभ के लिए वह दीक्षित होती है। इस प्रकार 'पउमचरियं' में सभी पात्रों का उदात्त चरित्र अंकित किया गया है।

यह प्राकृत का सर्व प्रथम चरित महाकाव्य है। इसकी भाषा महाराष्ट्रीय प्राकृत है, जिसपर यत्र-तत्र अपभ्रंश का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भाषा में प्रवाह तथा सरलता है। वर्णनानुकूल भाषा ओज, माधुर्य और प्रसाद गुण युक्त होती गयी है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिङ्ग, श्लेष आदि अलंकारों का प्रचुर प्रयोग पाया जाता है। वर्णन संक्षिप्त होनेपर भी मार्मिक हैं, जैसे दशरथ के कंचुकी वृद्धावस्था, सीताहरण पर राम का क्रन्दन, युद्ध के पूर्व राक्षस सैनिकों द्वारा अपनी प्रियतमाओं से विदा लेना, लंका में वानर-सेना का प्रवेश होनेपर नागरिकों की घबड़ाहट और भागदौड़, लक्ष्मण की मृत्यु से राम की उन्मत्त अवस्था आदि। माहिष्मती के राजा की नर्मदा में जलक्रीड़ा तथा कुलङ्गनाओं द्वारा गवाक्षों से रावण को देखने का वर्णन भी मनोहर है।

समुद्र, वन, नदी, पर्वत, सूर्योदय, सूर्यास्त, ऋतु, युद्ध आदि के वर्णन महाकाव्यों के समान हैं। इस काव्य में ११८ सर्ग हैं। घटनाओं की प्रधानता होने के कारण वर्णन लम्बे नहीं हैं। भावात्मक और रसात्मक वर्णनों की कमी नहीं है। उदाहरणार्थ कुछ पद्य प्रस्तुत किये जाते हैं।

वर्षा ऋतु का उद्दीपन और आलम्बन के रूप में चित्रण करते हुए बादलों की गड़-गड़ाहट, बिजली की चमक, भूमि पर गिरती हुई जलधारा, प्रोषित-पतिकाओं की पतियों से मिलने की उत्सुकता का रूपक और उपमा द्वारा सजीव वर्णन किया है।

ववगयसिसिरनिदाहे गंगातीरट्ठियस्स रमणिज्जे।
गजन्तमेहमुहलो, संपत्तो पाउसो कालो॥
धवलवलायाधयवड विज्जुलया कणयबन्धकच्छा य।
इन्दाउह कयभूसा-झरन्तनवसलिलदाणोहा॥
अंजण गिरिसच्छाया, घणहत्थी पाहुडं व सुरवइणा।
संपेसिया पभूया रक्खनाहस्य अइगुरुया॥
अन्धारियं समत्थं गयणं रवियरपगट्ठगहचक्कं।
तडयडसमुट्ठियरवं धारासरभिन्नभुवणयलं॥

कवि विमलसूरि की दृष्टि में प्रकृति शुद्ध या निष्काम आनन्द का अनुभव कराती है। जीवन तथा साहित्य दोनों में ही उसका महत्वपूर्ण स्थान हैं। प्राकृति का सौन्दर्य कवि के भाव-स्फोट का प्रबल प्रेरक है। हमारे हृदय के राग-क्षेत्र की परिस्थिति बहुत विशाल है। कवि ने शरद् ऋतु की स्वच्छता, मनमोहकता और सुन्दरता का ऐसा सटीक वर्णन किया है, जिससे उसने मानसिक स्वर्ग की सृष्टि की है। कवि कहता है—

ववगयघणसेवालं, ससिहंसं धवलतारयाकुसुमं।
लोगस्स कुणइ पीई, नभसलिलं पेच्छिउं सराए॥
चक्कायहंससारस अन्नोन्नरसन्तकयसमालावा।
निप्फण्णसव्वसस्सा, अहियं चिय रेहए वसुहा॥

नख-शिख चित्रण में भी कवि पटु हैं। उसने सीता के अङ्गों, वेशभूषाओं, आभूषणों के अतिरिक्त उसके अङ्गों की गठन, स्निग्धता, सुडौलता, मृदुलता एवं सुकुमारता आदि का भी सजी चित्रण किया है।

वरकमलपत्तनयणा, कोमुइरयणियरसरिसमुहसोहा।
कुन्ददलसरिसदसणा, दाडिमफुल्लाहरच्छाया॥
कोमलबाहालइया, रत्तासोउज्जलाभकरजुयला।
करयलसुगेज्झमज्झा, वित्थिण्णनियम्बकरभोरू॥
रत्तुप्पलसमचलणा, कोमुइयणियरकिरणसंघाया।
ओहासिउं व नज्जइ, रयणियरं चेव कन्तीए॥२६।९९–१०२॥

इन पद्यों में सीता के नयनों को कमलपत्रों के समान, मुख को चन्द्रिका के समान, दन्तपंक्ति को कुन्ददल के समान, अधरों को अनार की कली के समान, बाहुओं को लता के समान, हाथों को रक्ताशोक के समान, विशाल नितम्ब और उरू को करभ के समान, चरणों को रक्तोत्पल के समान, हास्य को चन्द्रमा की किरणों के समूह के समान और कान्ति को चन्द्र के समान बताया है।

अलंकार योजना में भी कवि किसी से पीछे नहीं है। वसन्त को सिंह का कितना सुन्दर रूपक प्रदान किया है।

अंकोलतिक्खणक्खो, मल्लियणयणो असोयदलजीहो।
कुरवयकरालदसणो, सहयारसुकेसरासणियो॥
कुसुमरयपिंजरंगो, अहमुत्तलयासभूसियकरग्गो।
पत्तो वसन्तसीहो, गयवहयाणं भयं देन्तो॥ ९२।७–८॥

इस वसन्त सिंह का अंकोल तीक्ष्ण नख है, मल्लिका पुष्प नेत्र हैं, अशोक पल्लव जिह्वा है, कुरुवक भयंकर दाँत हैं और मुक्तकलता कराग्र है।

उत्प्रेक्षा द्वारा कवि ने वर्णनों को बहुत सरस और अभिव्यञ्जना पूर्ण बनाया है। सन्ध्याकालीन अन्धकार द्वारा सभी दिशाओं को कलुषित होते देखकर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि यह तो दुर्जन स्वभाव है, जो सज्जनों के उज्ज्वल चरित्र पर कालिख पोतता है।

उच्छरई तमो गयणो मइलन्तो दिसिवहे कसिणवण्णो।
सज्जणचरिउज्जोयं नज्जइ ता दुज्जण सहावो॥ २।१००॥

नदी में सीता और राम जलक्रीड़ा कर रहे हैं। इस मनोविनोद के अवसर पर कवि ने भ्रान्तिमान अलंकार की सुन्दर योजना की है। कवि कहता है कि सीता के मुखकमल में राम को कमल की भ्रान्ति हो जाती है, अतः वह सीता के मुखकमल को लेने के लिए झपटते हैं।

अह ते तथ्य महुपरा, रामेण समाहया परिभमेंउं।
सीयाएँ वयणकमले, निलेंति पउमाहिसंकाए॥

इसमें सन्देह नहीं कि इस काव्य में विषय को उदात्तता, घटनाओं का वैचित्र्य पूर्ण विन्यास तथा भाषा का सौष्ठव पूर्णतया पाया जाता है। रचना शैली, विचारों की मनोहारिता तथा रमणीय दृश्यों के चित्रण के कारण यह चरितकाव्य सर्वोत्कृष्ट है। मानव के अन्तः प्रकृति का जैसा स्वभाविक, सूक्ष्म एवं सुन्दर विश्लेषण इस काव्य में हुआ है, वैसा ही बाह्य प्राकृतिक दृश्यों का भी सजीव और यथातथ्य चित्रण हुआ है। इसमें पौराणिक विश्वास, धार्मिक कथन, उपदेश वर्णन, वंशों और जातियों के निरूपण ऐसे तत्त्व हैं, जिनके कारण इसे शास्त्रीय शैली का महाकाव्य न मानकर चरित महाकाव्य माना जायगा। यतः उपर्युक्त प्रसंग पात्रों के चरित्र विश्लेषण के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

इस काव्य में भाषा को सजीव बनाने के लिए सूक्तियों का प्रचुर परिमाण में उपयोग किया गया है। हनुमान् रावण को समझाते हुए सूक्ति का प्रयोग करते हैं—

पत्ते विणासकालो नाइस बुद्धि नराण निक्खुत्तं–५३।१३८

विनाशकाल प्राप्त होने पर मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है। मन्दोदरी रावण को समझाते हुए कहती है—

किं दियणयरस्स दीवो दिज्जइ वि हु मग्गणट्ठए। ७०।२७

—क्या सूर्य को भी मार्ग दिखलाने के लिए दीपक दिया जाता है।

उच्च और वैभवशाली कुल में जन्म लेने पर भी महिला को परगृह में जाना ही पड़ता है। आशय यह है कि कन्या परकीय धन हैं, इस सूक्ति वाक्य की पुष्टि वाक्य में की गयी है—

परगेहसेवणं चिय एव सहावो महिलियाणं। ६।२२

महिलाओं का स्वभाव परगृह में जाना ही है—कन्या परकीय धन है।

कवि ने गाथा छन्द का प्रयोग प्रधानरूप से किया है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तित हो गया है। वर्णिक छन्दों में वसन्ततिलका, उपजाति, मालिनी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, रुचिरा एवं शार्दूलविक्रीडित का प्रयोग उल्लेखनीय है। कवि ने आठ वर्णों के प्रमाणिका छन्द का ऐसा सुन्दर प्रयोग किया है, जिससे युद्ध संगीत के ताल और लय के साथ सैनिकों के पैर भी उठते प्रतीत होते हैं—

स सामिकज्जउज्जया, पवंगघायदारिया।
विमुक्कजीवबन्धणा, पडति तो महाखडा॥
सहावतिक्खनक्खया, लसन्त चारुचमरा।
पवंगमाउहाहया, खयं गया तुरंगमा॥
पवंगभिन्नमत्थया, खुडन्तददित्तमोत्तिया।
पणट्ठदाणदुद्दिणा, पडन्ति मत्तकुंजरा॥

इस चरित महाकाव्य की निम्न प्रमुख विशेषताएँ हैं—

१. कृत्रिमता का अभाव।
२. रस, भाव और अलंकारों की स्वाभाविक योजना।
३. प्रसंगानुसार कर्कश या कोमल ध्वनियों का प्रयोग।
४. भावाभिव्यक्ति में सरलता और स्वाभाविकता का समावेश।
५. चरितों की तर्कसंगत स्थापना।
६. बौद्धिकवाद की प्रतिष्ठा।
७. उदात्तता के साथ चरितों में स्वाभाविकता का समवाय।
८. कथा के निर्वाह के लिए मुख्य-कथा के साथ अवान्तर कथाओं का प्रयोग।
९. महाकाव्योचित गरिमा का पूर्ण निर्वाह।
१०. सौन्दर्य के उपकरणों का काव्यत्व वृद्धि के हेतु प्रयोग।
११. आर्यजीवन का अकृत्रिम और साङ्गोपाङ्ग वर्णन।
१२. सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों पर पूर्ण प्रकाश।

विमलसूरि का एक अन्य चरितकाव्य कृष्ण कथा के आधार पर 'हरिवंस चरियं' भी है, पर यह काव्य आज उपलब्ध नहीं है।

सुरसुन्दरीचरियं[1]

यह एक प्रेमाख्यानक चरित-महाकाव्य है। इससे १६ परिच्छेद या सर्ग हैं और प्रत्येक परिच्छेद में २५० पद्य हैं। इस महत्वपूर्ण चरित-काव्य के रचयिता धनेश्वर

१. सन् १९१३ में जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला से मुनिराज राजविजय जी द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित।

सूरि हैं। इन्होंने इस ग्रन्थ के अन्त में जो प्रशस्ति लिखी हैं, उसमें बतलाया है कि महावीर स्वामी के शिष्य सुधर्म स्वामी, सुधर्म स्वामी के शिष्य जम्बू स्वामी, उनके शिष्य प्रभव स्वामी, प्रभव स्वामी के शिष्य वज्र स्वामी, इसके शिष्य जिनेश्वर सूरि, जिनेश्वर सूरि के शिष्य अल्लकोपाध्याय उद्योतन सूरि, इनके वर्धमान सूरि और वर्धमान सूरि के दो शिष्य हुए—जिनेश्वर सूरि और बुद्धिसागर सूरि। यही जिनेश्वर सूरि धनेश्वर सूरि के गुरु थे। जिनेश्वर सूरि ने लीलावती नाम की प्रेम-कथा लिखी है। धनेश्वर नाम के कई सूरि हुए हैं। ये किस गच्छ के थे, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रशस्ति से इतना ही ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ की रचना चड्डावलि (चन्द्रावलि) स्थान में विक्रम सं० १०९५ (ई० सन् १०३८) भाद्रपद कृष्ण द्वितीया गुरुवार को धनिष्ठा नक्षत्र में की गयी है।[1]

परिचय और समीक्षा—इस चरित काव्य में ४००१ गाथाएँ जो १६ सर्ग या परिच्छेदों में विभक्त हैं। नायिका के नाम पर ही काव्य का नामकरण किया गया है। नायिका के चरित का विकास दिखलाने के लिए कवि ने मूलकथा के साथ प्रासंगिक कथाओं का गुम्फन घटना-परिकलन के कौशल का द्योतक है। परिस्थिति विशेष में मानसिक स्थितियों का चित्रण, वातावरण की सुन्दर सृष्टि, चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विकास, राग-द्वेष रूपी वृत्तियों के मूल संघर्ष एवं चरित के विभिन्न रूपों का उद्घाटन इस चरित काव्य के प्रमुख गुण हैं। कवि ने इस काव्य में जीवन के विविध पहलुओं के चित्रण के साथ प्रेम, विराग और पारस्परिक सहयोग का पूर्णतया विश्लेषण किया है। संसार के समस्त व्यापार और प्रवृत्तियों में कामना के बीज वर्तमान है, अतः राग-द्वेषात्मक व्यापार के मूल में भी प्रेम का ही अस्तित्व रहता है। लेखक ने धार्मिक भावना के साथ जीवन की मूल वृत्ति काम-वासना का भी विश्लेषण किया। चरितों के मनोवैज्ञानिक विकास, प्रवृत्तियों के मार्मिक उद्घाटन एवं विभिन्न मानवीय व्यापारों के निरूपण में कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

भिल्लों की क्रूरता, कनकप्रभ की वीरता, प्रियंगुमंजरी की जाति स्मरण होने पर विह्वलता, सुरसुन्दरी और कमलावती का विलाप एवं शत्रुञ्जय और नरवाहन का युद्ध प्रभृति कथानक इस काव्य की कथावस्तु को सरस ही नहीं बनाते, बल्कि उसमें गति एवं चमत्कार भी उत्पन्न करते हैं। चरित की भावात्मक सत्ता का विस्तार मानव जीवन की विविध परिस्थितियों तक व्याप्त है। महच्चरित से विराट् उत्कर्ष को इस काव्य में

---

१. चड्डावलि पुरिठियो स गुरुणो आणाए पाढंतरा।
काशी विक्कम-वच्छरम्मि य गए बाणंक सुन्नोडुपे॥
मासे भद्द गुरुम्मि कसिणो वीया-धणिट्ठादिने॥—१६।२५०–२५१

अंकित किया गया है। धार्मिक सिद्धान्तों के जहाँ-तहाँ आ जाने पर भी चरित विकास की काव्यात्मक दिशाएँ इतनी विस्तृत हैं, जिससे प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं के अंकन के साथ राग-विरागों के बीच विविध संघर्ष अंकित किये गये हैं।

अवान्तर कथाओं के अतिरिक्त अधिकारी कथा का कथानक बहुत संक्षिप्त और सरल है। धनदेव सेठ एक दिव्यमणि की सहायता से चित्रवेग नामक विद्याधर को नागों के पाश से छुड़ाता है। दीर्घकालीन विरह के पश्चात् चित्रवेग का विवाह उसकी प्रियतमा के साथ हो जाता है। वह सुरसुन्दरी को अपने प्रेम, विरह और मिलन की आशा-निराशामयी कथा सुनाता है। सुरसुन्दरी का विवाह भी मकरकेतु के साथ सम्पन्न होता है। अन्त में ये दोनों दीक्षा ले लेते हैं। अवान्तर कथाओं का जाल इतना सघन है कि काव्य की नायिका का नाम पहली बार ग्यारहवें परिच्छेद में आता है। काव्य का नामकरण सुरसुन्दरी नाम की नायिका के नाम पर हुआ है, यतः समस्त कथावस्तु नायिका के चारों ओर चक्कर लगाती है। इसमें सन्देह नहीं कि कवि ने नायिका का रूप अमृत, पद्म, सुवर्ण, कल्पलता एवं मन्दारपुष्पों से सँभाला है। वास्तव में यह नायिका कवि की अद्भुत मानस सृष्टि है। इस नायिका के जीवन के दोनों पहलुओं को उपस्थित किया है।

वस्तुवर्णनों में भीषण अटवी, मदनमहोत्सव, वर्षाऋतु, वसन्त, सूर्योदय, सूर्यास्त, पुत्रजन्मोत्सव, विवाह, युद्ध, समुद्रयात्रा, धर्मसभाएँ, नायिकाओं के रूप-सौन्दर्य, उद्यान क्रीड़ा आदि का समावेश है। वर्णनों को सरस बनाने के लिए लाटानुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, रूपक आदि का उचित प्रयोग किया है। विरहावस्था के कारण विस्तरे पर करवट बदलते हुए और दीर्घ निःश्वास छोड़कर सन्तप्त हुए पुरुष की उपमा भाड़ में भूने जाते हुए चनों के साथ दी है कवि कहता है—

भट्ठियचणगो वि य सयणीये कीस तडफडसि ॥ ३।१४८ ॥

इसी प्रकार एक उपमा द्वारा बताया गया है कि कोई प्रियतमा अपने पति के मुख-सौन्दर्य को देखते हुए नहीं अघाती और उसकी दृष्टि उसके मुख से हटने में उसी प्रकार असमर्थ है, जिस प्रकार कीचड़ में फँसी हुई दुर्बल गाय कीचड़ से निकलने में।

एयस्स वयण-पंकय पलोयणं मोत्तु मह इमा दिट्ठी।
पंक-निवुड्ढा दुब्बल गाइ व्व न सक्कए गंतु ॥

एक अन्य उपमा में बताया है कि जिस प्रकार खरगोश पाकशाला में आ जानेपर अपने प्राण भागकर नहीं बचा सकता है, उसी राजा के विरुद्ध कार्य करनेवाला व्यक्ति कभी भी त्राण नहीं पा सकता है। कवि कहता है—

काउं रायविरुद्धं नासंतो कत्थ छुट्टसे पावं।
सूयार-साल-वडिओ ससउ व्व विणस्ससे इण्हि ॥

राग को प्रेम का उत्पादक मानकर उसे सहस्रों दुःखों का कारण बताया है। प्रेम की व्यञ्जना इस गाथा में सुन्दर हुई है।

तावच्चिय परमसुहं जाव न रागो मणम्मि उच्छरइ।
हंदि! सरागम्मि मणे दुक्खसहस्साइं पविसंति ॥

जब तक मन में राग-प्रेम का उदय नहीं होता, तभी तक सुख है। प्रेम करने से संसार में किसी को सुख प्राप्त नहीं होता, क्योंकि राग सहित चित्तवाले के मन में सहस्रों दुःखों का समावेश होता है।

उद्यान में क्रीडा करते हुए सुरसुन्दरी और मकरकेतु का विनोदपूर्ण प्रश्नोत्तर पहेली और समस्या काव्य का स्वरूप स्पष्ट करता है।

किं धरइ पुन्नचंदो किं वा इच्छसि पामरा खित्ते।
आमंतसु अंतगुरुं किं वा सोक्खं पुणो सोक्खं ॥
दट्ठूण किं विसट्टइ कुसुमवणं जणियजणमणाणंदं।
कह णु रमिज्जइ पढमं परमहिला जारपुरिसेहिं ॥

इन प्रश्नों का उत्तर—'ससंकं' है—

अर्थात्—प्रथम प्रश्न में बताया गया है कि पूर्णचन्द्र किसे अपने में धारण करता है ?—सस—शश—हरिण को।

द्वितीय प्रश्न में कहा है कि किसान खेत में किसकी इच्छा करते हैं—कं—जल की।

तृतीय प्रश्न में बताया है कि अन्त गुरु कौन है—स—सगण।

चतुर्थ प्रश्न में सुख क्या—सं—शं—शान्ति या कषाय का शमन।

पञ्चम प्रश्न है कि पुष्पों का समूह किसे देखकर विकसित होता है—ससंकं—शशाङ्कं—चन्द्रमा को।

परस्त्री जारपुरुष से किस प्रकार रमण करती है—ससंकं—सशंक—शंकित होकर।

रसनिष्पत्ति की दृष्टि से यह काव्य उत्कृष्ट है। विविध रसों का समावेश होनेपर भी शान्तरस का निर्मल स्वच्छ प्रवाह अपना पृथक् अस्तित्व व्यक्त कर रहा है। सुरसुन्दरी संन्यास-ग्रहण कर घोर तपश्चरण करती। कषाय और इन्द्रिय-निग्रह की क्षमता उसमें अपूर्व शान्ति का संचार करती है। शत्रुञ्जय और नरवाहन के युद्ध के प्रसंग में वीर रस के साथ बीभत्स एवं भयानक रस का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। शत्रु के आमन्त्रण के अवसर पर गाँव खाली कर दिया जाता था तथा वहाँ के निवासी तालाब और कुओं के जल को अपेय बना देते थे।

इस चरितकाव्य की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव है। यों तो महाराष्ट्री में यह काव्य लिखा गया है। समान्यतः इस काव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

१. समस्त काव्य प्रौढ एवं उदात्त शैली में लिखा है।

२. जीवन के विराट् रूप का सांसारिक संघर्ष के बीच विश्लेषण किया है।

३. प्रकृति चित्रण का समावेश है।

४. सरल एवं ओजपूर्ण संवादों का नियोजन है।

५. लक्ष्य-सिद्धि के हेतु दार्शनिक और आचारात्मक मान्यताओं की योजना की गयी है।

६. स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि का समुचित सन्निवेश है।

७. नायिका के चरित का शनैः-शनैः विकास, फलतः आरम्भ में बासनात्मक जवन की रंगरेलियाँ, अन्त में विरक्ति और तपश्चरण का विवेचन हुआ है।

सुपासनाहचरियं[1]

इस चरितकाव्य के रचयिता लक्ष्मण गणि हैं। इस ग्रन्थ की रचना धंधुकनगर में आरम्भ की थी तथा इसकी समाप्ति कुमारपाल के राज्य में मण्डलपुरी में की गयी है। इनकी गुरुपरम्परा में बताया गया है कि जयसिंह सूरि के शिष्य अभयदेव सूरि और अभयदेव सूरि के शिष्य हेमचन्द्र सूरि थे। इन हेमचन्द्र के विजयसिंह सूरि, श्रीचन्द्र सूरि और लक्ष्मण गणि आदि चार शिष्य हुए। लक्ष्मण गणि ने विक्रम संवत् ११९९ में माघ शुक्ला दशमी गुरुवार के दिन इस रचना को समाप्त किया।[2]

इस चरित काव्य के नायक सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ है। लगभग आठ हजार गाथाओं में इस ग्रन्थ की समाप्ति की गयी हैं। समस्त काव्य तीन भागों में विभक्त है— पूर्वभव प्रस्ताव में सुपार्श्वनाथ के पूर्वभवों का वर्णन किया गया है और शेष प्रस्तावों में उनके वर्तमान जीवन का।

संक्षिप्तकथावस्तु—पूर्वभव प्रस्ताव में सुपार्श्वनाथ के मनुष्य और देवभवों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। बताया गया है कि सम्यक्त्व और संयम के प्रभाव से ही व्यक्ति अपने जीवन का निर्माण करता है तथा चरित्र का विकास हाने से हो निर्वाण-पथ की ओर अग्रसर होता है। सुपार्श्वनाथ ने अनेक जन्मों में संयम और सदाचार का पालनकर सत्संस्कारों का अर्जन किया और तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर सातवें तीर्थंकर हुए।

---

१. जैन विविध-शास्त्र-माला; वाराणसी द्वारा प्रकाशित।

२. विक्कमसएहिं एक्कारसेहिं नवनवइवास अहिएहिं....।
सुपासनाहचरियं प्रशस्ति गा० १५-१६

दूसरे प्रस्ताव में तीर्थंकर का जन्मोत्सव और विवाह आदि का वर्णन किया है। इसी प्रस्ताव में उनके निष्क्रमण का भी प्रतिपादन किया गया है।

केवलज्ञान नाम के तीसरे प्रस्ताव में छट्ठ, अट्ठम आदि उग्र तपों के कथन के पश्चात् केवलज्ञानोत्पत्ति का वृत्तान्त है। समवशरण और धर्मोपदेश सभा का कथन किया गया है। इस प्रस्ताव में अनेक रोचक कथाएँ आयी हैं। सम्यक्त्व की महत्ता के लिए चम्पकमाला की कथा वर्णित है। यह चूडामणि शास्त्र की पण्डित थी और इस शास्त्र की सहायता से यह जानती थी कि उसका पति कौन होगा और उसे कितनी सन्तानें प्राप्त होंगी। पुत्रोत्पत्ति के लिए कालिदेवी की उपासना की जाती है। पुत्रों को अब्रह्म का हेतु बतलाया है। सम्यक्त्व के आठ अंगों के महत्त्व के लिए आठ अवान्तर कथाएँ वर्णित हैं। शंकातिचार के लिए मणिसिंह, आकांक्षातिचार के लिए सुन्दर वणिक्, विचिकित्सातिचार के लिए भास्कर द्विज, पाखण्डिसंस्तवातिचार के लिए भीमकुमार और प्रशंसातिचार के लिए मन्त्रितिलक की कथा आयी है। अहिंसाणुव्रत के लिए विजयचन्द्र कुमार, बन्धातिचार के लिए बन्धुराज, वधातिचार के लिए श्रीवत्सविप्र, छविच्छेदातिचार के लिए राहडमन्त्री, अतिभारारोपण के लिए सुलभ श्रेष्ठि और भक्तपान-निरोध के लिए सिंहमन्त्री का वृत्तान्त आया है। सत्याणुव्रत के लिए कमल श्रेष्ठि, रहोऽभ्याख्यानातिचार के लिए धरण, स्वदारमन्त्रभेदातिचार के लिए मदन, मृषोपदेशातिचार के लिए पद्मवणिक् एवं कूटलेखातिचार के लिए बन्धुदत्त की चरित रेखाएँ अंकित की गयी हैं। अचौर्याणुव्रत के लिए देवयश, स्तेनाहृतकयातिचार के लिए नाहट, स्तेनप्रयोगातिचार के लिए मदन, विरुद्धराज्यातिक्रमातिचार के लिए सागरचन्द्र के आख्यान वर्णित हैं। इसी प्रकार अन्य श्रावक व्रतों और उनके अतिचारों के सम्बन्ध में कथाएँ प्रतिपादित हैं।

आलोचना—इस चरितकाव्य में प्रेम, आश्चर्य, राग-द्वेष एवं अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच नाना प्रकार के भावों की व्यञ्जना की गयी है। मूलकथा के नायक से कहीं ज्यादा अवान्तर कथा के नायकों का चरित्र विकसित है। चरित्रों के विकास के लिए वातावरण का सृजन भी किया गया है। प्रायः सभी अवान्तर कथाएँ धर्मतत्त्व के उपदेश के हेतु ही निर्मित हैं। एक प्रकार के वातावरण में एक-सी ही कथाएँ—जिनमें काव्यतत्त्व प्रायः नगण्य ही है। वर्णनों का आकर्षण भी नहीं है मन को उबा देनेवाली है। यों तो कवि ने कथासूत्रों को समेटने का पूरा प्रयास किया है और मूल चरित को रसमय बनाने के लिए भी सतत जागरूकता वर्तमान रखी है, तो भी मूल चरित का जैसा विकास होना चाहिए, नहीं हो पाया है। ऐसा मालूम होता है कि कवि सामान्यतः नर-नारी के व्रतों का विधान काव्य के परिधान में कर रहा है। नायक का चरित प्रधान होते हुए भी अवान्तर कथाओं के भीतर दबा हुआ है।

घटनाओं की बहुलता रहने से वर्णनों की संख्या अत्यल्प है। यद्यपि नगर, गाँव, वन, पर्वत, चैत्य, उद्यान, प्रातः, सन्ध्या, ऋतु आदि के प्रभावोत्पादक दृश्य वर्णित हैं, तो भी इसमें महाकाव्य के परिपार्श्व का अभाव है। भीमकुमार की कथा में नरमुण्ड की माला धारण किये हुए कापालिक का सजीव वर्णन है। कापालिक श्मशान में मण्डल बनाकर साधना करता है। उसकी विद्यासिद्धि की प्रक्रिया भी वर्णित है। इसी प्रसङ्ग में नरमुण्डों से मण्डित कालिदेवी का भी भयङ्कर रूप चित्रित किया है। यद्यपि इस वर्णन का स्रोत हरिभद्र की समराइच्चकहा का 'चण्डियाययणं' ही है।

सूक्ति और धर्मनीतियों द्वारा चरित को मर्मस्पर्शी बनाने का आयास किया गया है। मित्र और अमित्र का निरूपण करते हुए कहा है—

भवगिह मज्झम्मि पमायजलणजलियम्मि मोहनिद्दाए।
जो जग्गवइ सो मित्तं वारन्तो सो पुण अमित्त॥

प्रमादरूपी अग्नि द्वारा संसाररूपी घर के प्रज्वलित होने पर जो मोहरूपी निद्रा से सोते हुए पुरुष को जगाता है, वह मित्र है, और उसे जगाने से जो रोकता है, वह अमित्र है। तात्पर्य यह है कि जो संसार में आसक्त प्राणी को उद्‌बुद्ध करता है, वही सच्चा हितैषी है।

अतएव प्रत्येक व्यक्ति को समय रहते ही सचेत होकर आत्मसाधन करने में प्रवृत्त होने का प्रयास करना चाहिए। कवि ने कहा है—

जाव न जरकडपूयणि सव्वंगयं गसइ।
जाव न रोयभुयंगु उग्गु निद्दउ डसइ॥
ताव धम्मि मणु दिज्जउ किज्जउ अप्पहिउ।
अज्ज कि कल्लि पयाणउ जिउ निंच्चप्पहिउ॥

जब तक जरारूपी राक्षसी समस्त अङ्गों को नहीं डँसती है, उग्र और निर्दय रोग-सर्प नहीं काटते हैं, उससे पहले ही धर्मसाधना में चित्त लगाकर आत्महित करना चाहिए। यह शरीर तो आज या कल अवश्य ही छूट जायगा। अतएव साधना में लगना मानव का कर्त्तव्य होना चाहिए।

इस चरितकाव्य की भाषा पर अपभ्रंश का पूरा प्रभाव है। संस्कृत की शब्दावली भी अपनायी गयी है। कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलङ्कार की कई स्थलों पर सुन्दर योजना की है। वर्णनों की सजीवता ने चरितों को सरस बनाया है। अलंकृत वर्णन काव्यतत्त्व का समावेश करते हैं।

काव्य के साथ इस कृति में सांस्कृतिक तत्त्वों का भी प्रचुर परिमाण में समावेश हुआ है। कापालिक, वेदान्त एवं संन्यासी मत के आचार सम्बन्धी विचार भी इसमें निबद्ध हैं। बुद्धि माहात्म्य एवं कलाकौशल के निदर्शन भी पाये जाते हैं।

सिरिविजयचंद केवलिचरियं[1]

इस चरिकाव्य के रचयिता श्री चन्द्रप्रभ महत्तर हैं। ये अभयदेवसूरि के शिष्य थे। इसकी रचना वि० सं० ११२७ में हुई है। प्रशस्ति में बताया गया है—

सिरिनिव्वुयवंसमहा-धयस्स सिरि अभयदेवसूरिस्स।
सीसेण तस्स रइयं, चंदप्पहमहयरेणेयं ॥ १४९ ॥
देयावडवरनयरे रिसहजिणंदस्स मंदिरे रइयं।
नियवीरदेव सीसस्स साहुणो तस्स वयणेणं ॥ १५१ ॥
मुणिकमरुद्दककुए काले सिरिविक्कमस्स वट्टं ते।
रइयं फुडक्खरत्थं चंदप्पहमहयरेणेयं ॥ १५२ ॥

इस चरितकाव्य का उद्देश्य जिनपूजा का माहात्म्य प्रकट करना है। अष्टद्रव्यों से पूजा किये जाने का उल्लेख है। प्रत्येक द्रव्य से पृथक्-पृथक् पूजा का फल बतलाने के लिए कथानकों का प्रणयन किया गया है। उत्थानिका में बताया है—

भरत क्षेत्र में रत्नपुर नाम का नगर है। इसमें राजा रिपुमर्दन शासन करता था। इसकी भार्या का नाम अनंगरति था। इसी दम्पत्ति का पुत्र विजयचन्द्र हुआ। यह यथार्थ नामवाला था, चन्द्रमा के समान सभी के मन को प्रसन्न करता था। इसकी दो भार्याएँ थीं—मदनसुन्दरी और कमलश्री। क्रमशः इन दोनों के दो पुत्र हुए, जिनके नाम कुरुचन्द्र और हरिचन्द्र थे। एक समय वहाँ आचार्य पधारे। राजा रिपुमर्दन सपरिवार आचार्य के दर्शन के लिए गया। उनका धर्मोपदेश सुनकर उसे संसार से विरक्ति हो गयी। अतः वह विजयचन्द्र को राज्य देकर प्रव्रजित हो गया। कुछ समय तक राज्य सुख भोगने के अनन्तर विजयचन्द्र भी कुसुमपुर नगर का अधिकारी हरिचन्द्र को और सुरपुर नगर का अधिकारी कुरुचन्द्र को बनाकर दीक्षित हो गया। विजयचन्द्र ने घोर तपश्चरण कर केवलज्ञान की प्राप्ति की। विजयचन्द्र केवली विहार करता हुआ कुसुमपुर में आया और नगरी के बाहर उद्यान में समवशरण सभा आरम्भ हुई। नागरिकों के साथ राजा हरिचन्द्र भी केवली की वंदना के लिए आया। उसने केवली से अष्ट प्रकार की पूजा का माहात्म्य पूछा। केवली ने प्रत्येक द्रव्य से की जाने वाली पूजा का कथाओं द्वारा निरूपण किया।

ये सभी कथाएँ अपने में स्वतन्त्र होती हुयीं भी आपस में सम्बद्ध हैं। विजयचन्द्र केवली द्वारा कथित होने से उनके चरित में ही इनको सम्बद्ध कर दिया गया

---

१. श्री शुभंकर मुनि, प्राप्तिस्थान केशवलाल प्रेमचंद कंसारा (खंभात) व० सं० २००७।

है। कथानक बड़े ही मनोरंजक और शिक्षाप्रद हैं, अतएव इनका संक्षिप्त सार देना आवश्यक है।

पहली कथा में बताया गया है कि वैताढय पर्वत की दक्षिण श्रेणी में गजपुर नाम के नगर में जयसूर नाम का विद्याधर राजा अपनी शुभमति भार्या के साथ राज्य करता था। एक समय इसकी पत्नी गर्भवती हुई और उसे जिनपूजा तथा तीर्थंबन्दना का दोहद उत्पन्न हुआ। विद्याधर राजा उसे विमान में बैठाकर अष्टापद पर्वत पर ले गया और वहाँ उन्होंने गाजे-बांजे के साथ भगवान् की पूजा की। पूजा करने के उपरान्त रानी ने राजा से कहा—'स्वामिन्! कहीं से बड़ी दुर्गन्ध आ रही है। तलाश करना चाहिए कि यह दुर्गन्ध कहाँ से आ रही है' घूमते हुए उन लोगों ने एक शिलापट्ट पर एक मुनि को ध्यान मग्न देखा। धूप और धूल के कारण मुनिराज के शरीर से गन्दा पसीना निकल रहा था, अतः उन्हींके शरीर से दुर्गन्ध निकल रही थी। रानी शुभमती ने राजा से कहा—'स्वामिन्! इस ऋषिराज को प्रासुक जल से स्नान कराके चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों का लेप कर देना चाहिए, जिससे इनके शरीर की दुर्गन्ध दूर हो जाये।

रानी के परामर्शानुसार मुनिराज के शरीर का प्रक्षालन किया गया और सुगन्धित पदार्थों का लेप कर दिया गया। वे विद्याधर दम्पति वहाँ से अन्यत्र यात्रा करने चले गये। इधर सुगन्धित पदार्थों की गन्ध से आकृष्ट हो भौंरे मुनिराज के शरीर से आकर चिपट गये, जिससे उनको अपार वेदना हुई, पर ध्यानाभ्यासी मुनिराज तनिक भी विचलित नहीं हुए। जब कई दिनों के पश्चात् वे विद्याधर दम्पति तीर्थवन्दना से लौटे, तो उन्हें आकाशमार्ग से वह मुनिराज दिखलायी नहीं पड़े। कौतूहलवश वे लोग नीचे आकर मुनिराज की तलाश करने लगे। उन्होंने देखा कि मुनिराज के चारों ओर इतने अधिक भौंरे एकत्र थे, जिससे वह दिखलाई नहीं पड़े। उन लोगों ने सावधानीपूर्वक भौंरों को भगाया और उनके शरीर के सुगन्धित लेप को दूर किया। मुनिराज ने भौंरों के उपद्रव को शान्तिपूर्वक सहन कर घातिया कर्मों का नाश किया और केवलज्ञान प्राप्त किया। दम्पति केवली को प्रणाम कर नगर को चले गये।

दोहद सम्पन्न होने पर शुभमती ने सुन्दर सुहावने समय में पुत्ररत्न को जन्म दिया। शिशु का नाम कल्याण रखा गया। कल्याण के वयस्क होने पर राजा उसे राज्य देकर दीक्षित हो गया। आयुक्षय होने पर वह सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। शुभमती भी मरकर उसीकी देवाङ्गना हुई। वहाँ से च्युत हो शुभमती का जीव हस्तिनापुर के जितशत्रु राजा के यहाँ मदनवाली कन्या के रूप में उत्पन्न हुआ। इसका विवाह शिवपुर निवासी सिंहध्वज के साथ हुआ। कुछ समय के पश्चात् मदनावली का शरीर अत्यन्त दुर्गन्धित हो गया, जिससे नगर में जनता का रहना असंभव प्रतीत होने लगा। अतः

राजा सिंहध्वज ने जंगल में एक महल बनवा दिया और उसके रहने की सारी व्यवस्था वहीं कर दी। एक दिन एक शुक ने शुभमती के भव का वर्णन करते हुए मुनिराज के शरीर से निकलने वाली दुर्गन्धि से घृणा करने के कारण शरीर के दुर्गन्धित होने की बात कही और प्रतीकार के लिए गन्ध द्वारा भगवान् की पूजा करने को कहा। मदनावली ने गन्ध से भगवान् की पूजा की और उसका शरीर पूर्ववत् स्वस्थ्य हो गया। राजा रानी को हाथी पर सवार कर नगर में ले आया।

वसन्तोत्सव की तैयारियाँ होने लगी। उसी समय नगर के मनोरम नामक उद्यान में अमृत तेज मुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। राजा वसन्तोत्सव छोड़कर देवी के साथ केवली की वन्दना के लिए गया। रानी ने केवली से पूछा भगवन्! मुझे सूचना देनेवाला शुक कौन था।

केवलीं—भद्रे! वह तुम्हारा पूर्वजन्म का पति था। तुमको ज्ञान देने के लिए आया था। वह इन देवों के बीच में ही कान में कुण्डल और शरीर में आभूषण पहने हुए है। रानी उस देव के पास गयी और कहने लगी—'आपने मेरा बड़ा उपकार किया है। मैं आपके इस उपकार का बदला तो नहीं चुका सकती हूँ पर समय पड़ने पर यथाशक्ति आपकी सेवा करूँगी'।

देव—'आज से सातवें दिन मैं स्वर्ग से च्युत होऊँगा। आप भी अवसर आने पर मुझे प्रतिबोधित कीजियेगा'।

मदनावली को विरक्ति हुई और वह अपने पति की आज्ञा से आर्यिका हो गयी। इधर वह देव स्वर्ग से च्युत हो विद्याधर कुमार हुआ और उसका नाम मृगाङ्क कुमार रखा गया। युवावस्था प्राप्त होने पर वह रत्नमाला से विवाह करने के लिए जा रहा था कि मार्ग में उसे मदनावली तपश्चरण करती हुई मिली। उसके रूप-सौन्दर्य को देखकर मृगाङ्क कुमार मोहित हो गया और उसकी तपस्या में विघ्न करने लगा, पर मदनावली अपने तपश्चरण में दृढ़ रही। मृगाङ्क कुमार को अपनी भूल पर पश्चात्ताप हुआ और वह वन्दना कर चला गया।

आलोचना—इस चरित काव्य मे आयी हुई अवान्तर कथाओं का स्वतन्त्र अस्तित्व है। प्रत्येक कथा अपने में पूर्ण है और हर एक का घटनाचक्र किसी विशेष उद्देश्य को लेकर चलता है। जन्म-जन्मान्तर की घटनाएँ ससी प्रमुख उद्देश्य के चारों ओर चक्कर लगातीं रहती है। कथाओं में वातावरण की योजना सुन्दर रूप में हुई है। कथानक सरल है, वक्रता नाम की वस्तु नहीं आने पायी है। घटनाओं का बाहुल्य रहने से मनोरंजन स्वल्पमात्रा में रह गया है। कथानक का गठन असंलक्ष्य नहीं है, स्पष्ट सूत्र में आबद्ध है। भिन्न-भिन्न कार्यव्यापारों को एक ही सूत्र में पिरोया है। जिससे जटिलता न रहने से जिज्ञासावृत्ति नहीं हो पाती :

यह चरित-काव्य काव्य न होकर कथाओं का संग्रह बन गया है। मुख्य-कथा से अवान्तर कथाओं का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अतः कथानक का गठन चरित-काव्य की शैली में नहीं हो पाया है। वर्णनों में भी काव्य-तत्त्व की अपेक्षा आख्यान तत्त्व अधिक है। कथानक में नाटकीय सन्धियों का भी अस्तित्व नहीं है। प्रकृति वर्णन, शाब्दिक चमत्कार, कमनीयता और व्यापकता का समावेश भी नहीं पाया जाता है। प्रभावशाली संवादों एवं काव्योचित दृश्यों का समावेश नहीं हो सका है। प्रौढ़ व्यंजना प्रणाली तथा वस्तु-विन्यास में प्रबन्धात्मकता का परिस्फुटन भी चरित-काव्य के योग्य नहीं है।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से प्रायः ये सभी कथाएँ सफल है। इन लघु कथाओं में प्रधान-अप्रधान पात्रों के कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यों की भली प्रकार योजना की गयी है। गुरु या आचार्य का सम्पर्क प्राप्त करते ही पात्र कुछ से कुछ बन जाते हैं, यह इन लघु कथाओं से स्पष्ट है। ऐश्वर्य और सौन्दर्य पात्रों को रागात्मक बन्धन के लिए प्रेरित करता है, सभी पात्र जगत् के मायाजाल में उलझते हैं, किन्तु गुरु के सम्पर्क से वे संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर आत्म-कल्याण करने में लग जाते हैं। पात्रों में जातिगत, वर्गगत और साम्प्रदायिक विशेषताएँ भी वर्तमान हैं।

भक्ति या अर्चा में अद्भुत शक्ति है। इस रागमयी भावना से भी इस प्रकार का सरल और सहज मार्ग प्रस्तुत हो जाता है, जिसपर कोई भी व्यक्ति बिना आयास के चलता है। जीवन-शोधन के अन्य मार्ग कठोर हो सकते हैं, पर भक्ति-मार्ग बहुत ही सहज है। भक्त या प्रेमी अपने भावों को रसायन बनाकर भगवत् चरणों में अर्पित कर देता है; वह यह अनुभव करने लगता है कि जो ये है वही मैं हूँ। मेरे भीतर भी उसी ज्योति का प्रकाश है; अपना ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख का सागर लहरा रहा है। अतः प्रतिकूल भावों का द्वन्द्व ऊर्जस्वित हो स्वयमेव शुद्ध और उत्कर्ष को प्राप्त होने लगता है। जीवन में आनेवाले ज्वार-भाटों को भक्ति शान्त कर देती है और इस योग्य भावभूमि प्रस्तुत कर देती है, जिससे भक्त आचार्य या उपदेशक का सम्पर्क प्राप्त करते ही तपश्चरण की ओर प्रवृत्त हो जाता है। प्रस्तुत चरित-काव्य की सभी कथाओं में यह भक्ति का गुण पूर्णरूप में पाया जाता है। काव्य के रचयिता का उद्देश्य जनता में भगवद्भक्ति को उद्बुद्ध करना है और इस उद्देश्य में उसे पूर्ण सफलता प्राप्त भी हुई है।

भाषा सरल है। महाराष्ट्री प्राकृत में इस ग्रन्थ की रचना की गयी है। यत्र-यत्र अर्ध-मागधी का भी प्रभाव है। इस काव्य में कुल १०६३ गाथाएँ हैं। कवि ने इस ग्रन्थ के महत्त्व के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है—

> नियकंठंमि निवेसह नियजाया-बाहुजुयलं व्व।
>
> × × ×

तं निम्मलगुणकलियं, दइयं पिव रयणमालियं दठ्ठुं ॥

—गाथा ४६, ४७ पृ० ३६

प्रस्तुत चरित-काव्य में ऋषि-मुनियों के आदर्श चरितों की स्थापना हुई है और विजयचंद केवली के चरित को भी स्पष्ट किया है। सरसवर्णन, अलंकारनियोजन और विभाव-अनुभावों के चित्रण में कवि को सफलता नहीं मिली है।

महावीरचरियं[1] (पद्यबद्ध)

प्राकृत में महावीरचरियं के नाम से दो चरित-काव्य उपलब्ध है। इस चरित-काव्य के रचयिता चन्द्रकुल के बृहद्गच्छीय उद्योतन सूरि के प्रशिष्य और आम्रदेव सूरि के शिष्य नेमिचन्द्र सूरि हैं। आचार्य पद प्राप्त करने के पूर्व इनका नाम देवेन्द्रगणि था। इस चरितग्रन्थ की रचनां वि० सं० ११४१ में हुई है। इसकी कथावस्तु निम्न-लिखित हैं—

कथावस्तु—आरम्भ में बताया है कि अपर विदेह में बलाहिवपुर में दानी, दयालु और धर्मात्मा एक श्रावक रहता था। वह किसी समम राजा की आज्ञा से अनेक व्यक्तियों के साथ लकड़ी लाने के लिए वन में गया। वहाँ उसने भीषण वन में लकड़ियों को काटना आरम्भ किया। भोजन के समय उसे अनेक साधुओं सहित एक आचार्य मार्ग भूल जाने के कारण इधर-उधर भटकते हुए मिले। मुनियों को देखकर वह सोचने लगा कि मेरे बड़े भाग्य है; जिससे इन महात्माओं के दर्शन हुए। उसने उन मुनियों का अर्चन-वंदन किया और पूछा—भगवन् ! आप कहाँ से आये हैं और किस मार्ग से इस भयंकर वन में परिभ्रमण कर रहे हैं। आचार्य ने धर्मलाभ का आर्शीवाद दिया और बतलाया कि हमलोग भिक्षाचर्या के लिए ग्रामान्तर को जा रहे थे, पर मार्ग भूल जाने से इधर आ गये हैं। अचानक आपसे भेंट हो गयी। आचार्य के इन वचनों को सुनकर उस श्रावक ने उनको ग्रामान्तर में पहुँचा दिया। आचार्य से आत्मशोधन के लिए उसने अहिंसाधर्म का उपदेश ग्रहण किया। उन्होंने उपदेश में बतलाया कि जो व्यक्ति जीवन में नीति, धर्म और मर्यादा का पालन नहीं करता, वह समय निकल जाने पर पश्चात्ताप करता है। दान, शील, तप और सद्भावनाएँ व्यक्ति को वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में सभी प्रकार की सफलताएँ प्रदान करती है।

वह आचार्य के इस उपदेश से बहुत प्रभावित हुआ और धर्माचरण करने लगा। फलतः आयु क्षयकर वह अयोध्या नगरी के षट्खण्डाधिपति भरतचक्रवर्ती का पुत्र उत्पन्न हुआ। भगवान् ऋषभदेव के समवशरण में आगामी तीर्थंकर, चक्रवर्ती और नारायण आदि के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए भरत ने पूछा—प्रभो ! तीर्थंकर

१. वि० सं० १९७३ में आत्मानन्द सभा, भावनगर द्वारा प्रकाशित।

कौन-कौन होंगे ? क्या हमारे वंश में भी कोई तीर्थंकर होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने बतलाया—इक्ष्वाकुवंश में मारीच तीर्थंकर पद प्राप्त करेगा।

मारीच अपने सम्बन्ध में भगवान् की भविष्यवाणी सुनकर प्रसन्नता से नाचने लगा। उसने अनेक मत-मतान्तरों का प्रवर्त्तन किया। अन्त में २६ वें भव में अन्तिम तीर्थंकर महावीर नाम का हुआ।

आलोचना—लेखक ने इस चरित ग्रन्थ को रोचक बनाने की पूरी चेष्टा की है। कथावस्तु की सजीवता के लिए वातावरण का मार्मिक चित्रण हुआ है। भौतिक और मानसिक दोनों ही प्रकार के वातावरणों की चारुता इसका प्राण है। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही प्रकार के वातावरणों से राग-द्वेष की अनुभूतियाँ किस प्रकार घटित होती है तथा मानवीय राग-बिस्तृत होता है, इसका लेखा-जोखा बहुत ही सटीक उपस्थित किया गया हैं। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अभिव्यञ्जना पात्रों के क्रिया-व्यापारों द्वारा बहुत ही सुन्दर हुई है।

इस चरित काव्य में मनोरंजन के जितने तत्त्व हैं, उनसे कहीं अधिक मानसिक तृप्ति के साधन भी विद्यमान है। मारीच अपने अहंभाव द्वारा जीवन के आधारभूत विवेक और सम्यक्त्व की उपेक्षा करता हैं, फलतः उसे अनेक बार अधिक जन्म ग्रहण करना पड़ता है। श्रावक के जन्म में परोपकार करने से वह जीवनोत्थान की सामग्री का संचय करता है, पर अहंकार के कारण शील और सद्भावना की उपेक्षा करने से वह अपने संसार की सीमा बढ़ाता है। चरित ग्रन्थ होते हुए भी लेखक ने मर्मस्थलों की पूरी योजना की है। जिज्ञासा तत्त्व अन्त तक बना रहता है। जीवन के समस्त राग-विरोगों का चित्रण बड़ी निपुणता के साथ किया गया है। वर्णनों की सजीवता कथा में गतिमत्व धर्म उत्पन्न करती है। यथा—

तस्स सुओ उववन्तो सव्वङ्गोवङ्गसुन्दरो जुइयं।
धम्मप्पिओ अकूरो मारीचिति नामेण विक्खाओ॥
सो तारुण्णो पत्तो पञ्चपयारे य भुञ्जए भोए।
नियपासायवरगओ इट्ठो नियजणणिजणयाणं॥

म० च० पु० ३, गा० ५०-५१॥

समस्त ग्रन्थ पद्यबद्ध है। कुल २३८५ पद्य हैं। भाषा सरल और प्रवाहमय है। चमत्कार लाने के लिए अलंकारों की योजना भी की गयी है।

सुदंसणाचरियं[1]

इस चरित-काव्य की रचना देवन्द्रसूरि ने की है। इसके गुरु का नाम जगच्चद्रसूरि

---

१. सन् १९३२ में आत्मवल्लभ ग्रन्थ-सीरिज, वलाद (अहमदाबाद) से प्रकाशित

है देवन्द्र सूरि को गुर्जर राजा की अनुमति से वस्तुपाल मन्त्री के समक्ष अर्वुदगिरि—आबू पर सूरिपद प्रदान किया था। इनका समय लगभग ई० सन् १२७० के है। इसमें चार हजार पद्य है जो कि आठ अधिकार और सोलह उद्देशों में विभक्त है। इस चरित-काव्य का नाम नायिका के नाम पर रखा गया हैं। इस काव्य की नायिका सुदर्शना विदुषी और रूप-माधुर्य से युक्त है।

कथावस्तु—कथा की उत्थानिका के अनन्तर बताया गया हैं कि सुदर्शना का जन्मोत्सव धूम-धामपूर्वक सम्पन्न किया जाता है। शैशवकाल में वह विद्याध्ययन के लिए उपाध्यायशाला में जाकर लिपि, गणित, साहित्य आदि का अभ्यास करती हैं पंडिता होने पर जब वह घर लौटकर आती है तो उसके कलाभ्यास की परीक्षा ली जाती हैं। उसे जातिस्मरण हो जाता है। भरुयकच्छ का ऋषभदत्त नाम का सेठ राजा के पास भेंट लेकर राजसभा में उपस्थित होता है। सुदर्शना के पिता अपनी कन्या की परीक्षा करने के लिए कुछ पहेलियाँ पूछते हैं। सुदर्शना उन पहेलियों के उत्तर बहुत अच्छी तरह देती हैं। राजा बहुत प्रसन्न होता हैं और बेटी सुदर्शना के ज्ञान की प्रशंसा करता है। एक दिन राजसभा में ज्ञानविधि नामका पुरोहित आता है। वह ब्राह्मण धर्म का उपदेश देता है, पर सुदर्शना उसके उपदेश का खण्डन कर श्रमणधर्म का निरूपण करती है।

शीलमती का विवाह विजयकुमार के साथ होता है। एक विद्याधर शीलमती का हरण कर लेता हैं। विजयकुमार और विद्याधर में युद्ध होता है। अनन्तर धर्मयश नाम के चारण श्रमण आते हैं और उनकी धर्म-देशना होती है। सुदर्शना अपने माता-पिता के साथ सिहलद्वीप से भरुयकच्छ—भड़ौच के लिए प्रस्थान करती है। अन्य लोग बन्दरगाह पर ही रह जासे हैं, पर सुदर्शना शीलमती के साथ जहाज में बैठकर आगे बढ़ जाती है। जहाज विकलगिरि पहुँचता है; यहाँ महामुनि के उपदेश से सुदर्शना के मन में वैराग्य-भावना उदित हो जाती है। वह भृगुकच्छ के अश्वावबोध तीर्थ में मुनिसुव्रतनाथ का मन्दिर निर्माण कराती है और जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा विधि सम्पन्न की जाती हैं। नर्मदा के किनारे शकुनिका विहार नामक जिनालय के पूर्ण होने पर उसकी प्रशस्ति आदि की विधि की जाती है। अनन्तर शीलमती सुदर्शना के साथ रत्नावली आदि विविध प्रकार के तपश्चरण करती है। धनपाल ससंघ रैवतगिरि की यात्रा करता है और महासेन दीक्षित हो जाता है।

समीक्षा—इस चरित काव्य में तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का चित्रण किया गया है। मूलकथा वस्तु के साथ अवान्तर कथाओं का सुन्दर गुम्फन हुआ है। सुदर्शना का चरित मन्द-गति से विकसित होता हुआ आगे बढ़ा है। उसकी प्रतिभा का विकास प्रारम्भ से दृष्टिगोचर होने लगता हैं। विद्या और कलाओं के अभ्यास से उसकी बुद्धि निर्मल हो जाती हैं। वह आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर आत्मसाधना करती है।

प्रत्युत्पन्न मतित्व उसमें सर्वाधिक है। मुनि और साधकों के प्रति उसके मन में अपार श्रद्धा है। वह मुनिराज का उपदेश सुनकर विरक्त हो जाती है। विशुद्ध दान के सम्बन्ध में दी गयी वीरभद्र की कथा और शील के सम्बन्ध में कलावती का उदाहरण उसके चरित के विकास की वह दिशा है, जहाँ से उसे प्रेरणा और प्रकाश प्राप्त होता है। कवि ने सिंहलद्वीप की कल्पना तथा इस सिंहलद्वीप की राजकुमारी सुदर्शना की कल्पना कर शिव और सौन्दर्य का मेल प्रदर्शित किया है। श्रेयांसकुमार की कथा, मरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव का अवतरण, नरसुन्दर राजा के शौर्य और पराक्रम सम्बन्धी वृत्तान्त किसी भी व्यक्ति के जीवन को आन्दोलित करने की पूर्ण क्षमता रखते हैं। समुद्रयात्रा एवं रैवतगिरि की यात्रा भी चरित्र के विकास में सहायक है। कवि ने चरित को रसमय बनाने का पूर्ण प्रयास किया है। शील को परिष्कृत करने के हेतु उसने वर्णन एवं उपदेशों का समावेश भी किया है। समुद्र, पशु, पक्षी, पर्वत, वन, जिनालय, सन्ध्या, प्रातः, उत्सव आदि सन्दर्भों का रसमय वर्णन कर काव्य में उदात्त तत्त्व का समावेश हुआ है। यद्यपि इस चरित-काव्य में पौराणिक विश्वास एवं उपदेश तत्त्व इतने अधिक परिमाण में हैं; जिनसे कथा या आख्या के गुण अधिक रूप में समाविष्ट हो गये हैं; तो भी रसमय वर्णन चरित काव्यत्व की प्रतिष्ठा करने में पूर्ण क्षम हैं।

कवि ने इसमें जीवन के कई तथ्यों का स्फोटन किया है। जीवन की तीन विडम्बनाओं का कथन करते हुए कहा गया है—

तक्कविहूणो विज्जो लक्खणहीणो य तंडिओ लोए।
भावविहूणो धम्मो तिण्णि वि गरुई बिडम्बणया॥

तर्कहीन विद्या, लक्षण हीन—व्याकरणशास्त्र हीन पंडित और भावविहीन धर्म ये तीन जीवन की महान् विडम्नाएँ समझनी चाहिए।

इस ग्रन्थ की भाषा अपभ्रंश और संस्कृत से प्रभावित है। बीच-बीच में संस्कृत के श्लोक भी पाये जाते हैं।

कुम्मापुत्त चरियं[1]

इस चरितकाव्य में राजा महेन्द्रसिंह और रानी कूर्मा के पुत्र धर्मदेव के पूर्वजन्मों एवं वर्तमान जन्म की कथावस्तु वर्णित है। इसके रचयिता अनन्तहंस हैं, जिनका समय १६वीं शती माना जाता है। इनके गुरु का नाम जिनमाणिक्य कहा गया है। ये तपागच्छीय आचार्य हेमविमल की परम्परा में हुए हैं। इनकी दो गुजराती रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ में १९८ पद्य हैं।

---

१. के० वी० अभ्यङ्कर गुजरात कालेज, अहमदाबाद, सन् १९३३।

संक्षिप्त कथावस्तु—दुर्गमपुर में द्रोण राजा राज्य करता था, इसकी पटरानी का नाम द्रुमा था। इनके कामदेव के समान सुन्दर और गुणों का आगार दुर्लभकुमार नामक पुत्र हुआ। एक दिन दुर्गिला नामक उद्यान में सुलोचन नाम के केवली का समवशरण आया। इस उद्यान में भद्रमुखी नाम की यक्षिणी वटवृक्ष के नीचे अपना आवास बनाकर निवास करती थी। उसने केवली से पूछा—'प्रभो ! पूर्वभव में मैं मानवती नामक मनुष्य स्त्री थी, मेरा पति मुझे अत्यन्त प्यार करता था। मैं आयुक्षय के अनन्तर यहाँ भद्रमुखी नाम की यक्षिणी हुई हूँ। कृपया यह बताइये कि मेरे उस प्रेमी पति ने कहाँ जन्म लिया है ?" केवली ने उत्तर दिया—

"इस नगरी के द्रोण नृपति के यहाँ तुम्हारा पति उत्पन्न हुआ है और उसका नाम दुर्लभकुमार रखा गया है"।

केवली के उत्तर को सुनकर वह यक्षिणी बहुत प्रसन्न हुई और मानवती का रूप धारण कर कुमार के पास पहुँची। उसने कुमार से कहा—"यहाँ क्या क्रीड़ा कर रहे हो, चलो उद्यान में चलकर क्रीड़ा की जाय।" वह कुमार को अपने आवास पर ले गयी। कुमार उसके रत्नमय सुन्दर भवन को देखकर आश्चर्यचकित हो गया। कुमार की इस स्थिति को देखकर भद्रमुखी ने कहा—"नाथ ! मैं आपकी पूर्वभव की पत्नी हूँ। मैंने यक्ष पर्याय प्राप्त की है। हम लोगों का मिलन बड़े पुण्योदय से हुआ है।" कुमार भद्रमुखी के प्रेम में पड़कर वहीं रहने लगता है। कुमार के माता पिता पुत्र के चले जाने से बहुत दुःखी हुए और एक दिन केवली से पुत्र के सम्बन्ध में पूछा—

केवली—"तुम्हारा पुत्र पूर्वभव के स्नेह के कारण भद्रमुखी व्यन्तरी के प्रेमपाश में फँस गया है और जब तुम लोग व्रत धारण करोगे, तभी समागम होगा।"

राजा द्रोण ने अपने छोटे पुत्र को राज्यभार सौंपकर पटरानी सहित प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

अल्पायु रह जानेपर वह दुर्लभकुमार केवली के निकट गया और वहाँ उसने श्रमण दीक्षा धारण कर ली। तपस्या के प्रभाव से वह महाशुक्र विमान में देव उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्युत होकर वह राजगृह में राजा महेन्द्रसिंह और रानी कूर्मा के यहाँ धर्मदेव नाम का पुत्र हुआ। माता के नाम पर यही कुम्मापुत्त कहा जाने लगा। कुम्मापुत्त आरम्भ से ही संयम का पालन करने लगा और प्रव्रजित होकर घोर तपश्चरण द्वारा उसने केवल ज्ञान प्राप्त किया।

समीक्षा—इस चरितकाव्य में संवाद बहुत अच्छे बन पड़े हैं। बताया गया है कि व्यक्ति संयम और विशुद्ध भावना के बल से अपने चरित्र का इतना विकास कर सकता है कि गृहस्थावस्था में रहते हुए भी सिद्धि प्राप्ति की क्षमता अपने भीतर उत्पन्न

कर ले सकता है। जिस प्रकार कपड़े छोड़ते ही भरत चक्रवर्ती को केवल ज्ञान प्राप्त हो गया, उसी प्रकार साधना के कारण कुम्मापुत्त को भी।

इस चरितकाव्य में दान, शील, तप और भावशुद्धि की महत्ता वर्णित है। चरित का विकास भी उक्त चारों तत्त्वों द्वारा ही होता है।

कवि ने वर्णनों को भी सरस बनाया है। राजकुमार भद्रमुखी यक्षिणी के आवास पर पहुँचता है और वहाँ के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो जाता है। कवि ने इस वर्णन-प्रसङ्ग का अच्छा चित्रण किया है।

रयणमयखम्भपंती कंतीभरभरिअभिंतरपएसं।
मणिमयतोरणघोरणि तरुणपहाकिरणकब्बुरिअं ॥ २५ ॥
मणिमयखंभअहिट्ठिअ पुत्तलिआकेलिखोभिअजणोहं।
वहुभत्तिचित्तचित्ति अगवक्खसंदोहकयसोहं ॥ २६ ॥

यक्षिणी के आवासगृह के खम्भों की पंक्ति रत्नमयी थी और उनकी कान्ति से दीवालें प्रकाशित होती थी। मणिमय तोरण लगे हुए थे तथा उनकी उज्ज्वल किरणों की प्रभा सर्वत्र व्याप्त थी। मणिमय खंभों के ऊपर शालभंजिकाएँ स्वर्ण और रत्नमय निर्मित थीं। दीवालों के ऊपर नाना प्रकार के चित्र अंकित किये गये थे।

तथ्य के रूप में कई सूक्तियाँ लिखी गयी हैं, जिनसे काव्य में चारुता उत्पन्न हो गयी है—

तित्थयरा य गणहरा चक्कहरा सबलवासुदेवा य।
अइबलिणी वि न सक्का काउं आउस्स सन्धाणं ॥ ५१ ॥

तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, गणधर, शक्तिशाली वासुदेव और अतिबलवान् प्रतिनारायण आदि भी अपनी आयु को एक क्षण भी नही बढ़ा सकते हैं।

शैली और भाषा दोनों प्रौढ़ हैं। जहाँ तहाँ अपभ्रंश का प्रभाव है। बीच-बीच में संस्कृत पद्य भी आये है। अलंकारों का नियोजन भी स्वाभाविक रूप में हुआ है। चरितों की स्थापना सुन्दर हुई हैं।

अन्य चरितकाव्य

अन्य चरित-काव्यों में सोमप्रभ सूरि का ९००० गाथा-प्रमाण सुमतिनाहचरियं, वर्धमान सूरि के आदिनाह चरियं, और मनोमाचरियं, देवन्द्र सूरि का कण्हचरियं एवं जिनेश्वर सूरि का चंदप्पहणरियं (चन्द्रप्रभचरितम्) प्रसिद्ध और सरस चरित-काव्य है। चन्द्रप्पहचरियं ४० गाथाएँ और कण्हचरियं (कृष्णचरितं) में ११६३ गाथाएँ हैं। इन चरित काव्यों में नायकों के चरित का विकास दिखलाया है। काव्यतत्त्व भी प्रचुर

रूप में पाये जाते हैं। चन्दप्पहचरियं में चन्द्रप्रभ नाम की सार्थकता का चित्रण करते हुए लिखा है—

पइं गब्भत्थे जणणीइ चन्दपाणम्मि दोहलो जेण।
चन्दप्पहुत्ति नाम तुह जायन्तेण अभिरामं॥ १२॥

अर्थात् माता को गर्भकाल में चन्द्रपान का दोहल उत्पन्न हुआ, इस कारण इनका नाम चन्द्रप्रभ रखा गया।

कृष्ण चरित में पूर्वभव के वर्णनों के साथ जन्म, कंसवध, द्वारिका निर्माण, पाण्डवों की परम्परा, द्रौपदी के पूर्वभव, जरासन्ध और कृष्ण का युद्ध, राजीमति का जन्म, नेमिनाथ के साथ विवाह की तैयारी, नेमिनाथ की विरक्ति और दीक्षाग्रहण का मार्मिक चित्रण हुआ है। द्रौपदी का अपहरण और गजसुकुमाल वृत्तान्त, रथनेमि और राजीमति का संवाद, द्वीपायन का द्वारिका दहन रोचक प्रसङ्ग हैं।

हेमचन्द्राचार्य के गुरु देवचन्द्र सूरि ने संतिनाहचरियं, नेमिचन्द्र के शिष्य शांतिसूरि ने मुनिचन्द्र के अनुरोध से सन् ११०४ में पुहवीचन्द चरियं, मलधारी हेमचन्द्र ने नेमिनाहचरियं और उनके शिष्य श्रीचन्द्र ने सन् ११३५ ई० में मुणिसुव्वयसामिचरियं एवं देवेन्द्र सूरि के शिष्य श्रीचन्द्र सूरि ने सन् ११५४ ई० में सणंकुमारचरियं की रचना की है।

श्रीचन्द्र सूरि के शिष्य वाटगच्छीय हरिभद्र ने चौबीस तीर्थंकरों के जीवन चरित लिखे है। इनमें चन्दप्पहचरियं, मल्लिनाहचरियं और नेमिनाहचरियं उपलब्ध हैं। मुनिभद्र ने सन् १३५३ में संतिनाहचरियं की रचना की है। नेमिचन्द्र सूरि का अनन्तनाहचरियं भी उपलब्ध है। इसमें भक्ति और अर्चा का माहात्म्य वर्णित है।

गद्य-पद्य मिश्रित चरित-काव्य

प्राकृत भाषा में कुछ इस प्रकार के चरित काव्य हैं, जो गद्य-पद्य मिश्रित शैली में लिखे गये हैं। इनकी शैली चम्पूकाव्य से भिन्न हैं। यद्यपि चम्पूकाव्य के विकास में इन गद्य-पद्य मिश्रित चरितों का स्थान महत्वपूर्ण है और इनसे चम्पूकाव्यों के विकास की परम्परा जोड़ी जा सकती है, तो भी इन्हें चम्पूकाव्य नहीं माना जा सकता। यदि इनके विकास की क्रम परम्परा का निर्धारण किया जाय तो ऐतरेय ब्राह्मण की, जो गद्य-पद्य मिश्रित परम्परा संस्कृत साहित्य में आविर्भूत हुई, जिसमें हरिश्चन्द्रोपाख्यान जैसे चरित ग्रन्थ लिखे गये और उत्तरकाल में पञ्चतन्त्र-प्रणाली प्रादुर्भूत हुई, उसी परम्परा का किञ्चित् विकसित रूप ये प्राकृत के चरित-काव्य हैं। संस्कृत साहित्य में दशकुमार चरित और हर्षचरित गद्यात्मक चरित होते हुए भी आख्यायिका हैं, काव्य नहीं। इन ग्रन्थों की वर्णन शैली अपूर्व है। काव्य सौन्दर्य भी यथास्थान समाविष्ट होता गया है। पर चरित-काव्य के लक्षण प्रस्फुटित न होने से इन्हें चरितकाव्य नहीं कहा जा सकता। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि चरितकाव्य में पौराणिक तत्त्वों का समावेश भी अलंकृत शैली में होता है।

प्राकृत के गद्य-पद्य मिश्रित चरित-काव्यों में निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं।

१ जीवन चरित का काव्यात्मक शैली में गुम्फन रहता है।

२. चरित की परस्पर-सम्बद्ध कार्य शृंखला रहती है।

३. जीवन के विविध सम्बन्धों की उचित और न्यायपूर्ण व्याख्याएँ की गयी हैं।

४. नैतिक और आचारमूलक अवधारणाओं की स्थापनाएँ और व्याख्याएँ हैं।

५ नायक के चरित का महत्व बतलाने के हेतु पौराणिक मान्यताओं का काव्य के रूप में प्रस्तुतीकरण किया है।

६. व्यापक और स्थायी उद्देश्यों का क्रमशः विकास हुआ है।

७. मूलचरित का विकास और विस्तार प्रकट करने के लिए प्रासंगिक चरितों का विन्यास किया गया है।

८. लोकरंजन की अपेक्षा व्यक्ति-पक्ष अधिक मुखरित हुआ है।

९. काव्य-सौन्दर्य एवं शोभातिशायक अलंकारों का मणिकांचन संयोग होने पर भी चम्पू जैसी प्रौढ़ता नहीं है।

१० चरित का पौराणिक स्रोत होनेपर भी शब्दों का सुन्दर विन्यास, भावों का समुचित निर्वाह, कल्पना की ऊँची उड़ान एवं प्रकृति के सजीव चित्रण किये गये हैं।

११. गद्य भाग में सीधे-साधे वर्णन ही आते हैं, पर पद्य भाग में शब्द और अर्थ का मनोहर सामञ्जस्य हुआ है।

१२. काव्य, कथा और दर्शन इन तीनों का उचित रूप में मिश्रण है।

१३. चरित-काव्यों का उद्देश्य महान् है—निर्वाण आदि की प्राप्ति। नायक के आदर्श पर पाठकों को चलने की प्रेरणा दी गयी है।

१४. धर्मशास्त्र के तत्त्वों और सन्दर्भों को काव्यात्मक आवरण देकर प्रस्तुत किया है; अतः भावात्मक वर्णन पद्यों में और दृश्यात्मक वर्णन गद्य में न होने से चम्पूविधा की पुष्टि नहीं हो पायी है।

१५. मूलवृत्तियों का उदात्तीकरण किया है।

इस कोटि के प्रमुख चरित-काव्यों का परिशीलनात्मक परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

चउप्पन-महापुरिस-चरियं[1]

जैन साहित्य में महापुरुषों की मान्यता के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ उपलब्ध होती हैं—एक प्रतिवासुदेवों के साथ गणना कर ५४ शलाका पुरुष मानती है और दूसरी प्रतिवासुदेवों की गणना स्वतन्त्र रूप से मानकर ६३ शलाका पुरुष। प्रस्तुत चरित ग्रन्थ विशालकाय है। इसमें चरित शैली में ५४ शलाका पुरुषों के जीवन-सूत्र ग्रथित किये गये हैं। इस चरित ग्रन्थ के रचयिता श्री शीलंकाचार्य हैं। ये निर्वृतिकुलीन मानदेव सूरि के शिष्य थे। इनके दूसरे नाम शीलाचार्य और विमलमति भी उपलब्ध होते हैं। आचार्यपद प्राप्त करने के पूर्व एवं उसके पश्चात् ग्रन्थकार का नाम क्रमशः विमलमति और शीलाचार्य रहा होगा। ऐसा मालूम होता है कि शीलाङ्क ग्रन्थकार का उपनाम है। इस चरित-काव्य के अन्त में जो प्रशस्ति उपलब्ध है, उससे भी इनके समय पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। पर विद्वानों के अनेक प्रमाणों के आधार पर इसका रचनाकाल ई० सन् ८६८ निर्धारित किया है।

इस चरित-काव्य में ऋषभदेव, भरत चक्रवर्ती, शान्तिनाथ, मल्लिस्वामी और पार्श्वनाथ के चरित पर्याप्त विस्तारपूर्वक वर्णित हैं। मूल चरितों में नायकों के पूर्वभव एवं अवान्तर कथाओं का संयोजन कर इन्हें पर्याप्त सरस बनाया है। सुमतिनाथ, सगर चक्रवर्ती, सनत्कुमार चक्रवर्ती, सुभौमचक्रवर्ती, अरिष्टनेमि, कृष्ण, बलदेव, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और वर्धमान स्वामी के चरितों में विविध प्रसंगों के आख्यानों का मिश्रण कर रोचकता उत्पन्न की गयी है।

---

१. ई० सन् १९६१ में प्राकृत-ग्रन्थ-परिषद्, वाराणसी द्वारा प्रकाशित।

इस चरित-काव्य का उद्देश्य शुभाशुभकर्म बन्ध के परिणामों का दिग्दर्शन कराना है। इस उद्देश्य में यह काव्य सफल है। कवि ने जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों, निदान, विकारों के प्रमुख एवं संसार विषयक आसक्तियों के विश्लेषण चरितों द्वारा किये हैं। वरुण कथानक और मुनिचन्द्र के कथानक में संसार आकर्षण के केन्द्र नारी की निन्दा एवं उसके विश्वासघात का विवेचन किया गया है। वर्णन शैली और वस्तु निरूपण की परम्परा पर समराइच्चकहा का प्रभाव लक्षित होता है।

यों तो लेखक ने अपने इस चरित ग्रन्थ की रचना करने के लिए अपने से पूर्ववती साहित्य से स्रोत ग्रहण किये हैं, पर तो भी उसने चरितों में अनेक तथ्य अपनी ओर से जोड़े हैं। प्रसङ्गवश वर्णनों में सांस्कृतिक सामग्री भी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। युद्ध, विवाह, जन्म एवं उत्सवों के वर्णन प्रसङ्ग में अनेक बातें इस प्रकार की आयी हैं, जिनमें तत्कालीन प्रथाओं और रीति-रश्मों का पर्याप्त निर्देश वर्तमान है। चित्रकला, संगीत कला एवं पुष्पमाला के गुच्छों में हंस, मृग, मयूर, सारस एवं कोकिल आदि की आकृतियों का गुम्फन किये जाने का निर्देश है।[1]

चरितों में उदात्ततत्त्व उपलब्ध हैं। परिसंवादों में अनेक नैतिक तथ्यों का समावेश हुआ है। उदाहरणार्थ एक संवाद उद्धृत किया जाता है :—

धन सार्थवाह के एक प्रधान कर्मचारी से एक वणिक् ईर्ष्यावश पूछता है कि तुम्हारे सार्थवाह के पास कितना धन है? उसमें कौन-कौन गुण हैं? वह क्या दे सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में मणिभद्र अपने सेठ का परिचय देते हुए कहता है कि हमारे स्वामी में एक ही वस्तु है और वह है विवेक-भाव और जो एक वस्तु नहीं है, वह है अनाचार। अथवा दो वस्तुएँ हैं—परोपकारिता तथा धर्म की अभिलाषा, जो दो वस्तुएँ नहीं हैं, वे हैं अहंकार और कुसंगति। अथवा तीन वस्तुएँ उनमें हैं और तीन नहीं है। उनमें कुल, शील एवं रूप हैं, जब कि दूसरे को नीचा दिखाना, उद्धतता और परदार-गामित्व नहीं हैं। अथवा उनमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार वस्तुएँ हैं और फल की अभिलाषा, बड़प्पन की भावना, विषयान्धता एवं दुःखी को कष्ट पहुँचाना ये चार बातें नहीं हैं। अथवा उनमें ज्ञान, विज्ञान, कृतज्ञता और आश्रितों का पोषण ये पाँच बातें पायी जाती हैं एवं दुराग्रह, असंयम, दीनता, अनुचित व्यय और कर्कश भाषा प्रयोग ये पाँच बातें नहीं पायी जाती हैं।[2]

---

१. कुसुमकरंडयाओ हंस-मय-मयूर-सारस-कोइलकुलरूवयविण्णासपरियप्पियं सयल-कुसुमसामिद्धसमिद्धं ·····चउ० म० पृ० २११

२. भणिओ य तेणमणिभद्दो जहा—अहो भद्दमुह। किं तुम्ह सत्थवाहस्स अत्थजाय-मत्थि? केरिसा वा गुणा? किं पभूयं वित्तं, किं वा दाउं समत्थो त्ति।··········इह

इस प्रकार वार्त्तालापों द्वारा नैतिक तथ्यों पर तो प्रकाश डाला ही गया है, पर साथ ही काव्य में संवादों द्वारा सरसता समाविष्ट की गई है। प्रजापति राजा की रानी मृगावती के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए बताया है—

मणिकिरणकरंबियकुसुमदामसंवलियपम्हगब्भारो।
घणसण्हकिण्हणिद्धो णिज्जियसिहिकुन्नलकलावो ॥ २ ॥
सयलकलालयससिबिम्बविम्हयुग्गारकन्तिपडहत्थं।
वयणं मयणुम्मिल्लंतपंडुगंडयलराहिल्लं ॥ ३ ॥
अण्णोण्णपीडणुब्भडपरिणाहाहोअरुद्धवच्छयलं।
उवरिपहोलिरहारं अलद्धविवरं थणावीढं ॥ ४ ॥
णिज्जियसेसुवमाणं मणिमयकडयुच्छलन्तहलवोलं।
परिणाहपीवरावं दुराहयं बाहुजुयलं से ॥ ५ ॥—पृ० ९५

मणियों की किरणों से मिश्रित कमल पुष्प की मालाओं से युक्त घनी काली और स्निग्ध केशराशि सुशोभित होती थी। वह समस्त कलाओं का आलय थी और उसका पूर्ण मुख चन्द्रमा की कान्ति से युक्त था और कामदेव की आभा के मिलने से उसके गंडस्थल—कपोल पाण्डुवर्ण के हो रहे थे। उसके उन्नत वक्षःस्थल पर हारावलि सुशोभित थी, जो कि स्तनों पर लहरा रही थी। समस्त उपमानों को फीका कर देनेवाली उसकी उन्नत और स्थूल बाहुएँ थी, जिनमें मणिमय कंकण उछलते हुए आवाज कर रहे थे।

इस चरितकाव्य में प्रसंगवश विबुधानन्द नामक एकाङ्की नाटक निबद्ध हैं।

भाषा की दृष्टि से इस कृति में उद्वृतस्वरों के सन्धिलोप, श्रुतभेदादि प्रयोग, सम-संस्कृत प्रयोग, सिद्धसंस्कृत प्रयोग, विभक्तिव्यत्यय, विभक्तिलोप और वर्णव्यत्यय आदि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयोग उपलब्ध हैं। छन्द का मेल बैठाने के लिए जहाँ-तहाँ दीर्घ स्वर का ह्रस्व और ह्रस्व का दीर्घ स्वर भी मिलता है। "वेसाहियउं धइ सिय केणइ अलद्धमज्झ, जुवइचरिउ जइसिय अइकुडिलमग्ग"—। आदि में अपभ्रंश भाषा भी मिलती है। चर्चरीगीत, कालनिवेदकगीत और प्रहेलिका में प्रायः अपभ्रंश का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। साहित्य की दृष्टि से भी उक्त गीतों का मूल्य कम नहीं है। इस चरितकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

१. सूर्योदय, वसन्त, वन, सरोवर, नगर, राजसभा, युद्ध, विवाह, विरह, समुद्रतट, उद्यानक्रीड़ा एवं ग्रामों का सुन्दर काव्यात्मक वर्णन आया है।

२. महाकाव्य की गरिमामयी शैली में वस्तुवर्णन है।

अम्ह सामियस्य एक्कं चेव अत्थि विवेइत्तणं, एक्कं च णत्थि अणायारो।............ चउ० म० पृ० ११

३. जीवन के विराटरूप का सांसारिक संघर्ष के बीच प्रदर्शन किया है।

४. जीवन के व्यापक प्रभावों का पात्रों के जीवन में अंकन है।

५. अनेक रूपात्मक संवेदनाओं का एकत्र प्रदर्शन है।

६. एक ही कथाकेन्द्र की परिधि में विविध कथानकों की मार्मिक योजना वर्तमान है।

७. रागात्मक बुभुक्षा की परितृप्ति के लिए स्वतन्त्र कल्पना का प्रयोग किया है।

जंबुचरियं[1]

जंबुचरियं (जम्बूचरितम्) एक श्रेष्ठ चरित-काव्य है। इसके रचयिता गुणपाल मुनि हैं। ये नाइलगच्छीय वीरचद्रसूरि के प्रशिष्य थे। इनकी एक अन्य कृति 'रिसिदत्ता-चरियं' नाम की बतायी जाती है, जिसकी ताड़पत्रीय प्रति पूना में सुरक्षित है। गुणपाल ने अपने गुरु प्रद्युम्न सूरि को वीरभद्र का शिष्य बतलाया है। अतः अवगत होता है कि उद्योतन सूरि के सिद्धान्तगुरु वीरभद्राचार्य और गुणपाल मुनि के प्रगुरु वीरभद्रसूरि दोनों एक ही रहे होंगे। इस ग्रन्थ के रचनाकाल पर प्रकाश डालते हुए मुनि जिनविजय जी ने लिखा है—"प्रस्तुत 'चरियं' की रचना कब हुई इसका सूचक कोई उल्लेख इसमें नहीं किया गया है। पर ग्रन्थ की रचना-शैली आदि से अनुमान होता है कि विक्रम संवत् ११वीं शताब्दी में या उसके कुछ पूर्व में इसकी रचना हुई होगी। जेसलमेर में प्राप्त ताड़पत्र की प्रति देखने से ज्ञात होता है कि १४वीं शताब्दी के पूर्व की लिखी होनी चाहिए॥" हमारा अनुमान है कि इस ग्रन्थ की रचना ९वीं शती के आस-पास में हुई होगी।

कथावस्तु—इस चरितकाव्य की कथावस्तु १६ उद्देश्यों में विभक्त है। काव्य के नायक जम्बूस्वामी हैं। आरम्भ में चार उद्देश्यों में चरितकाव्य की उत्थापना वर्णित है। अनन्तर जम्बूस्वामी के प्रथम भव भवदेव का बड़ा ही रोमाण्टिक वर्णन किया है। भवदेव नागिला पर इतना आसक्त है कि तपस्वी हो जाने पर भी अपनी उस नवोढा का सर्वदा स्मरण करता रहता है। भवदेव का बड़ा भाई भवदत्त उसे अनेक प्रकार से समझाता है, धर्म में दृढ़ करता है, किन्तु भवदेव को एक भी उपदेश रुचता नहीं। भवदत्त के स्वर्गारोहण के अनन्तर भवदेव अपने गाँव में आता है और नागिला द्वारा उसे उपदेश मिलता है। अतः नारी द्वारा प्रताड़ित हो भवदेव तपश्चरण में संलग्न हो जाता

---

१. सन् १९५९ में सिंधी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई द्वारा प्रकाशित।

है और स्वर्गलाभ करता है। वहाँ से च्युत होकर वह विदेह में पद्मरथ राजा के यहाँ शिवकुमार नाम का पुत्र उत्पन्न होता है। शिवकुमार युवक होने पर कनकवती का दर्शन करता है और यहीं उसके हृदय में प्रेम का अंकुर उत्पन्न हो जाता है। दोनों का विवाह सम्पन्न होता है। एक दिन शिवकुमार भवदत्त के जीव सागरदत्ताचार्य का उपदेश सुनता है और अपनी पूर्वभवावलि उनसे जानकर विरक्त हो जाता है। तपश्चरण के अनन्तर स्वर्ग प्राप्त करता है और वहाँ से च्युत हो राजगृह के ऋषभदत्त सेठ के यहाँ जन्म-ग्रहण करता है। सुधर्म स्वामी का राजगृह में आगमन होता है और वहाँ उनकी धर्म-देशना सुनने के लिए राजगृह निवासी एकत्र होते हैं। जम्बूकुमार भी उपदेश सुनने जाता है और गृहस्थ धर्म के व्रतों के साथ आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत भी धारण कर लेता है। माता-पिता के सन्तोष के लिए जम्बूकुमार का आठ सुन्दरियों के साथ विवाह होता है। वह प्रत्येक सुन्दरी को संसार के कष्टों का परिज्ञान करने के लिए दृष्टान्त स्वरूप कथाएँ कहता है। ये कथाएँ मनोरंजक होने के साथ शिक्षाप्रद भी हैं। सभी पत्नियाँ विरक्त होकर प्रव्रजित हो जाती हैं। जम्बूस्वामी भी दीक्षित हो जाते हैं और घोर तपश्चरण करने लगते हैं। सुधर्म स्वामी को केवलज्ञान होने के पश्चात् श्रमणसंघ का सारा दायित्व जम्बूस्वामी का संभालना पड़ता है। अन्तिम केवली होते हैं और वीर नि० सं० ६४ में निर्वाण लाभ करते हैं।

समीक्षा—इस चरितकाव्य का स्रोत वसुदेवहिंडी है। लेखक ने पौराणिक चरित को पर्याप्त सरस बनाने का प्रयास किया है। भवदेव के चरित का कवि ने पूरा विकास दिखलाया है। जम्बूकुमार के चरित्र को विविध परिस्थितियों और प्रसंगों का आश्रय लेकर विकसित करने का प्रयास किया है। किन्तु इस चरित को आरम्भ से ही इतना अधिक आदर्श बनाने का प्रयास है जिससे उसमें उत्थान और पतन की विकास परम्परा निश्चित नहीं हो पायी है। काव्य का रचयिता चरित में विकास-परम्परा की योजना करता है, पर इस चरित में पूर्वभवों में उत्थान-पतन की परम्परा दिखलाकर मुख्य भव को इतना आदर्श चित्रित कर दिया है जिससे काव्य की सरसता में न्यूनता आ गयी है। जंबू के चरित में आदर्श की गरिमा और महत्ता इतनी अधिक विद्यमान है, जिससे पाठक उसे देखभर सकता है, पर उसका स्पर्श नहीं कर सकता। उनका चरित्र साधारण मानव का नहीं हो सकता है। अतः साधारणीकरण की स्थिति की सम्भावना ही नहीं आ पाती है।

नायक की आठ पत्नियाँ हैं, नायक उन्हें वैराग्यवर्धक कथानक सुनाकर उपदेश द्वारा तपस्विनी बना देता है। विषय-भोग की सामग्री के बीच रहते हुए भी नायक अपनी ली गयी प्रतिज्ञा का निर्वाह बड़ी दृढ़ता से करता है। संवाद तत्त्व भी कथावस्तु को रसमय बनाने में योगदान देते हैं।

धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए लिखे गये इस चरित काव्य में साहित्यिक गुणों की कमी नहीं है। गम्भीर तत्त्वों, दार्शनिक सिद्धान्तों और आचारगत नियमों का विश्लेषण चरित के माध्यम से किया गया है। अलंकृत प्रयोगों ने साधारण घटनाओं को भी प्रभावोत्पादक बनाने का प्रयास किया है। इस काव्य का प्रधान उद्देश्य जीवन की चिरन्तन समस्याओं पर प्रकाश डालना तथा सांसारिक, दुःख और सन्तापों से निवृत्ति प्राप्त करना है। उपदेशों को भी वक्रोक्तियों द्वारा सरस बनाने का पूर्ण प्रयास वर्तमान है। यथा—

उवयारसहस्सेहिं वि, वंकं को तरइ उज्जुयं काउं।
सीसेण वि वुब्भंतो, हरेण वंको चि मयंको ॥ १५।३४

हजारों उपकार करने पर भी टेढ़े व्यक्ति को सीधा नहीं किया जा सकता है। शंकर चन्द्रमा को अपने सिर पर धारण करते हैं, पर वह टेढ़े का टेढ़ा ही है, सीधा नहीं बन सकता है।

कवि ऋतुओं के चित्रण में बहुत प्रवीण हैं। शरत् का वर्णन करता हुआ कहता है—

वियसंतकमलसंडो संपत्तो तक्खणं सरओ ॥
उप्फुल्लकुवलयच्छी, वियसियसयवत्तपहसिरो सहइ।
दट्ठूण सरयदइयं, पुवइवहू गरुयराएण ॥
पुंडूरपओहराओ, वियसियसियकासकुसुमवत्थाओ।
घणसमयदइयविरहे, जासाओ दियाओ तणुयाओ ॥
सियकासकुसुमदसणुच्छलन्तकिरणाए सरयलच्छीए।
सरयागमे पहसियं, तह जह जायं नहं विमलं ॥ ५।१७–२० ॥

उसी समय कमल वन को विकसित करता हुआ शरत्काल प्रविष्ट हुआ। फूली हुई कुमुदिनी के समान नेत्रवाली विकसित शतपत्र कमलश्री पृथ्वी की वधू शरत् लक्ष्मी को अत्यन्त अनुरागपूर्वक देखकर सुशोभित होती है।

पाण्डुरंग के पयोधर—बादलों से युक्त विकसित श्वेत काँस-पुष्प रूपी वस्त्रों से सुशोभित दिशाएँ—बालाएँ घन समय—वर्षाऋतु—अधिक समय पर्यन्त पति से वियुक्त रहने के कारण दुर्बल—क्षीण हो गयी है।

शरद् लक्ष्मी के हँसते समय श्वेत काँसरूपी दाँतों की कान्ति से आकाश निर्मल हो गया है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में शरद् लक्ष्मी के वर्णन में कवि ने उत्प्रेक्षाओं की सुन्दर योजना की है।

विद्युतमाली का वर्णन करते हुए उपमाओं की झड़ी लगा दी है। यथा—

मयरद्धउ व्व रूपो इन्दो इव सयलसंपया कलिओ।
चंदाइरेयसोमो कंतिल्लो दिवसनाहो व्व ॥ ४।३ ॥

वह कामदेव के समान सुन्दर, इन्द्र के समान समस्त सम्पत्तियों से युक्त, चन्द्रमा के समान सौम्य और सूर्य के समान कान्ति वाला था।

नारी सौन्दर्य निरूपण में अनेक उपमानों का प्रयोग किया है। नख-शिख चित्रण में कवि किसी भी महाकवि से न्यून नहीं है। यथा—

मुहयंदकंतिपसरियपहसियसंपुन्नचंदसोहाओ।
पम्ह्"तारसमुज्जलल्लोलविरायंतनयणाओ ॥
पीणुन्नयकलपीवरथणकलसविरायमाणवलयाओ।
वेल्लहलभुयलयाओ ललणविरायंत मज्झाओ॥
पिहुलनियंबयडट्ठियरसणाकलघोसमुहलियदिसाओ।
करिकरसरिसोरगनेउरायंत चलणाओ त्ति॥
५।१४२-१४४

कनकवती के मुखचन्द्र की कान्ति से सम्पूर्ण चन्द्र प्रकाशित होता है। सुन्दर पक्ष्म-लोमों से चंचल नेत्र सुशोभित हो रहे हैं। वक्षःस्थल पर उन्नत और पीन-स्थूल स्तन-कलश सुशोभित है। उसकी भुजाएँ लता के समान और कटि कृश होती हुई सुशोभित हो रही है। पृथुल विकट नितम्बों के ऊपर शोभित करधनी में लगी हुई क्षुद्र घंटिकाएँ अनुरण कर रही हैं। हाथी के शुण्डादण्ड के समान पैरों में पहनी हुई पाजेब सर्प के तुल्य प्रतीत होती है।

इस प्रकार कवि ने वर्णनों और चित्रणों में रसमयता का पूरा समावेश किया है। उपदेश और दर्शन तत्त्व का विवेचन करते हुए कवि ने श्रावकाचार और श्रमणाचार के निरूपण के साथ रत्नत्रय का भी विवेचन किया है। श्रमणधर्म का निरूपण करते हुए कहा है—

खंती गुत्ती य मद्दवज्जव, मुत्ती तवसंजण तहा।
सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं च जइधम्मो॥
पंचासवाणि विरई, पंचिंदियानिग्गहो कसायजओ।
दंडतिगस्स य विरई, अह एसो संयमो भणिओ॥ ५।१८४-१८५॥

क्षमा, गुप्ति, मार्दव, आर्जव, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिंचन और ब्रह्मचर्य ये यतिधर्म हैं। पाँच प्रकार के आस्रवों से विरक्ति, पञ्च इन्द्रियों का निग्रह, कषाय जय, मन-वचन-काय की उदण्डता का त्याग संयम कहलाता है। श्रमण को इस संयम का और यतिधर्म का पालन करना आवश्यक है।

इस चरित काव्य में सूक्तियों का व्यवहार कवि ने किया है। प्रेम और विरक्ति के प्रसंग में कई सूक्तियाँ इस रूप में व्यवहृत हुई हैं कि विषय के स्पष्टीकरण के साथ काव्यात्मक चमत्कार उत्पन्न हो गया है। यथा—

दूरयरदेसपरिसंठियस्स पियसंगमं महंतस्स।
आसाबंधो च्चिय माणुसस्स परिक्खए जीयं॥ ४।२८॥

दूरतर देश में स्थित प्रिया के संगम की इच्छा करते हुए मनुष्य के जीवन की आशा का तन्तु ही रक्षा कर सकता है।

उपर्युक्त गाथा की तुलना मेघदूत के निम्न पद्यांश के साथ की जा सकती है—

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानाम्।
सद्यः पाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणाद्धि॥ पूर्वमेघ ९॥

गयकन्नतालसरिसं, विज्जुलयाचंचलं हवई जीयं।
सुविणसमा रिद्धीओ बंधवभोगा घनेभा य॥ ४।४२॥

जीव—वर्तमान शरीर में प्राणों का रहना बिजली के समान चचल है, धन-धान्यादि वैभव स्वप्न के समान हैं और बन्धु-बान्धव एवं भोग-ऐश्वर्य बादल की छाया के समान क्षणिक हैं।

जं कल्ले कायव्वं अज्जं चिय तं करेह तुरमाणा।
बहुविग्घो य मुहुत्तो मा अवरण्हं पडिक्खेह॥ ६।२०४॥

जो कल करना है, उसे आज ही जल्दी से कर डालो। प्रत्येक मुहूर्त्त विघ्नकारी है, अतएव अपराह्न की अपेक्षा मत करो।

इस चरित काव्य में प्रयुक्त गद्य में समस्यन्त पदावलि का व्यवहार किया गया है। कुमार जिन मन्दिर से निकल कर अपने वासगृह में प्रविष्ट हुआ। वासगृह का सुन्दर चित्रण किया है।

"कयपणामपूयोवयारो सहरिसपईयमाण-सयलसमागयलोयमग्गो नोहरिओ जिणभवणाओ। तेणेव य विहिणा संपत्तो नियमंदिरं ति। तत्थ वि सुरहिपइन्न-कुसुमदामविलंबियपवराहिरामं, कप्पूररेणुकुंकुमकेसरलवंगकत्थरियसुरहिगंधट्ठ-धूरपूरियं, विप्फुरमाणुब्भऽपोमरायसमुज्जोइयओवरं नाणावयारचोणंसुयमहास-मुल्लोयकयपवरवित्थरं चलमाणमत्तमहुयरझंकारमुहलियमुहरवं पविट्ठो कुमारो वासहरं ति।

रयणचूडरायचरियं[1]

काव्य के रचयिता चन्द्रकुल के बृहद्गच्छीय उद्योतन सूरि के प्रशिष्य और आम्रदेव के शिष्य नेमिचन्द्र सूरि हैं। आचार्य पद प्राप्त करने के पहले इनका नाम देवेन्द्रगणि था। ये मुनिचन्द्र सूरि के धर्म सहोदर थे। इस गच्छ में प्रद्युम्नसूरि, मानदेव सूरि, सुप्रसिद्ध देवसूरि, उद्योतन सूरि तथा अम्बदेव उपाध्याय हुए हैं। इन्होंने कई प्राकृत ग्रन्थों का प्रणयन किया है। वि० सं० ११२९ में उत्तराध्ययन की सुखबोध टीका तथा वि० सं० ११४० में महावीरचरियं की रचना की है। चरितकाव्य के रचनाकाल का पता नहीं लगता है। प्रशस्ति में रचना के आरम्भ और समाप्त करने का स्थान निर्दिष्ट है।

डिंडिलवद्दनिवेसे पारद्धा संठिएण सम्मत्ता।
चड्डावल्लिपुरीए एसा फग्गुणचउम्माये ॥ २२ ॥
पञ्जुन्नसूरिणो धम्मनत्तूएणं तु सुयणुसारेणं।
गणिणा जसदेवेणं उद्धरिया एत्थ पढमपई ॥ २३ ॥

प्रशस्ति में[2] दिये गये गद्यवाक्य से ही स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ की प्राचीन प्रति कुमारपाल के अधीनस्थ धारावर्ष के राज्य में चक्रेश्वर सूरि-परमानन्द सूरि के उपदेश से चड्डापल्लि के निवासी पुना श्रावक ने लिखवायी थी। अतः यह अनुमान लगाना सहज है कि यह रचना वि० सं० ११२९ और वि० सं० ११४० के बीच तैयार की गयी होगी।

कथावस्तु—इस चरित काव्य की कथावस्तु को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है (१) रत्नचूड का पूर्वभव (२) जन्म, हाथी को वश करने के लिए जाना, तिलकसुन्दरी के साथ विवाह और (३) रत्नचूड का सपरिवार मेरु गमन और देशव्रत स्वीकृति।

कथा के प्रथम खण्ड में बताया गया है कि कञ्चनपुर में वकुल नाम का माली रहता था। यह अपनी भार्या पद्मिनी सहित जिन जन्ममहोत्सव के पुष्प विक्रय के लिये ऋषभदेव के मन्दिर में गया और वहाँ लक्षमित पुष्पों से जिन सेवा करने की इच्छा उसके मन में जागृत हुई। उसने एक महीने में अपनी इच्छा पूर्ण की और जिन पूजन भक्ति के प्रसाद से वह गजपुर में कमल सेना रानी के गर्भ से रत्नचूड नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

---

१. पंन्यास मणिविजय गणिवर ग्रन्थमाला में सन् १९४२ मे अहमदाबाद से काव्य-रूप में प्रकाशित है।

२. रयणचूडरायचरियं पृष्ठ ६७।

रत्नचूड ने बचपन में विद्या और कला ग्रहण करने में खूब परिश्रम किया। पूर्वजन्म के शुभ संस्कारों के कारण उसने अश्वबन्धन, मोचन, वशीकरण एवं हस्ति-संचालन, हस्तिवशीकरण आदि कलाओं में पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त किया। एक दिन राजसभा में एक शबर ने एक अपूर्व हाथी के[1] वन में आने का समाचार सुनाया, इसे सुनकर रत्नचूड उस हाथी को वश में करने के लिए वन को चल पड़ा। रत्नचूड ने अपनी अद्भुत कला से उस हाथी को वश में कर लिया और वह उसके ऊपर सवार हो गया। हाथी रत्नचूड को लेकर भागा। राजा की सेना ने उसका पीछा किया, पर हाथी का उसे पता न लगा। हाथी अत्यन्त दूर घने अरण्य में पहुँचा और वहाँ एक सरोवर में कमल पर आरूढ़ एक तपस्वी के उसने दर्शन किये। तपस्वी के अनुरोध से कुमार रत्नचूड आश्रम में गया और वहाँ उसने एक सुन्दरी राजकन्या को देखा। तपस्वी के मुख से कन्या का परिचय सुनकर कुमार रत्नचूड बहुत प्रसन्न हुआ। गुरु प्रदत्त स्तम्भनी विद्या द्वारा विद्याधर से तिलक सुन्दरी को मुक्त किया। पश्चात् अद्भुत रूपलावण्यवाली तिलकसुन्दरी के साथ कुमार रत्नचूड का विवाह सम्पन्न हो गया। तिलकसुन्दरी का विद्याधर अपहरण कर लेता है। वह पति से वियुक्त होने के कारण नाना प्रकार से शोक करती है। रत्नचूड तिलकसुन्दरी की तलाश करता हुआ रिष्टपुर में आता है। उसे रिष्टपुर नगर का राजभवन शून्य मिलता है और वहाँ राजकुमारी सुरानन्दा की रक्षा करता हुआ यक्ष मिलता है। अनन्तर सुरानन्दा के साथ रत्नचूड का विवाह सम्पन्न हो जाता है। रत्नचूड अनेक विद्याधरों से मिलता है और उसके अन्य भी कई विवाह होते हैं। राज्यश्री के साथ विवाह कार्य हो जाने पर उसे महान् राज्य प्राप्त होता है। मदनकेशरी का पराजय कर रत्नचूड तिलकसुन्दरी का पुनः प्राप्त कर लेता है। तिलकसुन्दरी अपनी शील रक्षा का समस्त वृत्तान्त सुनाती है। समस्त सुन्दरियों के साथ कुमार रत्नचूड नन्दिपुर में तिलकसुन्दरी के माता-पिता तथा गजपुर में अपने माता-पिता से मिलता है।

कथावस्तु के तीसरे खण्ड में रत्नचूड सपरिवार मेरुपर्वत की यात्रा करता है और वहाँ सुरप्रभ मुनि के दर्शन कर उनका धर्मोपदेश सुनता है। मुनिराज दानधर्म की महत्ता बतलाते हैं तथा राजश्री के पूर्वभवों का वर्णन करते हैं, जिससे राजश्री को जातिस्मरण हो जाता है। शील का माहात्म्य बतलाने के लिए पद्मश्री के पूर्वभव, तपगुण का माहात्म्य बतलाने के लिए राजहंसी के पूर्वभव का तथा भावनाधर्म का महत्व बतलाने के लिए सुरानन्दा के पूर्वभव का वर्णन करते हैं। कुमार रत्नचूड तथा उसकी सभी रानियाँ अपने-अपने पूर्वभव का वृत्तान्त अवगत कर विरक्त हो जाती हैं। कुमार रत्नचूड देशव्रत

---

१. 'हाथी का आना और लेकर भाग जाना'—प्रतिज्ञायौगन्धरायण नाटक से साम्य है। उदयन को यहाँ पर भी कृत्रिम हाथी लेकर भाग जाता है। घटनाएँ बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

स्वीकार कर लेता है। धर्माराधना के फल से कुमार अच्युत स्वर्ग में देवपद प्राप्त करता है और वहाँ से च्युत हो महाविदेह से मोक्षलाभ करता है।

समीक्षा—इस चरित काव्य में नायक का सर्वाङ्गीण चरित वर्णित है। उसका चारित्रिक विकास किस प्रकार होता हैं तथा वह उत्तरोत्तर अपने गुणों का किस तरह अभ्युदय करता है, यह पूर्णतया दिखलाया गया है। कथावस्तु अत्यन्त सरस है, तिलकसुन्दरी का वियोग और उसका प्रेमपत्र तथा प्रेमपत्र के उत्तर में राजकुमार का प्रेमपत्र लिखना इस चरित काव्य के मर्मस्थल हैं। रत्नचूड का प्रेमपत्र आधुनिक प्रेमपत्र है। वह अपनी परिणीता प्रेमिका को किस प्रकार आश्वासन देता है, यह द्रष्टव्य है।

स्वस्ति वेयड्ढदाहिणसेढिसंट्ठियरहनेउरचक्कवालनयराओ रयणचूडरायातिलयसुन्दरी पियपिययमं ससिणेहं परिरंभऊण भणइ। देवीए नियकुसललेहसपेसणेण पावियं परमनेव्बुइं मे हियय उत्तारिओ दुव्वहो चिंताभारो। जओ—

नरयसमाणं रज्जं, विसवं विसया दुहंकरा लच्छी।
तुहविरहे मह सुंदरि, नयरमरणव्व पडिहाई॥ १॥
पुरओ य पिट्ठिओ य, पासेसु य दीसले तुमं सुयणु।
दहइ दिवसावलयमिणं, मन्ने तुह चित्तरिच्छोऽ्री॥ २॥
चित्ते य वट्टसि तुमं, गुणेसु नय खुट्टसे तुमं सुयणु।
सेज्जाए पलोट्टसि तुमं, बिवट्टसि दिसामुहे तंसि॥ ३॥
बोल्लंमि वट्टसि तुमं, कव्वपबंधे पयट्टसि तुमंति।
तुहविरहे मह सुंदरि, भुवणंपि हु तंमयं जायं॥ ४॥
अन्नं च न तए संतप्पियव्वं। जओ
कस्स न होइ कम्मवसगस्स विसमो दसाविभागो।

—रयणचूड० पत्र ४४ का पूर्व पृष्ठ

स्वस्ति वैताढ्य की दक्षिणश्रेणि में स्थित रथनूपुर चक्रवाल नामक नगर से राजा रत्नचूड प्रियप्रियतमा तिलकसुन्दरी को सस्नेह आलिङ्गन करता है, देवि! तुम्हारे कुशलपत्र को प्राप्त कर परम सन्तोष हुआ और चिन्ता का कठिन भार हलका हुआ।

तुम्हारे विरह में राज्य मुझे नरक समान प्रतीत हो रहा है, विषयभोग विष के समान मालूम होते हैं। यह सुन्दर नगर अरण्यवत् प्रतीत हो रहा है। हे सुतनु! आगे पीछे और आस-पास जहाँ तुम दिखलायी देती हो, वहाँ तक यह समस्त दिग्मण्डल जलता हुआ जान पड़ता है। तुम शय्या पर शयन करती हुई प्रतीत होती हो, तुम मेरे हृदय में सदा स्थित हो। मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि तुम जिस प्रकार करवट लेती थी, मेरा मन उस-उस दिशा में घूमता रहता है। प्राणप्यारी सुन्दरि! तुम

प्रत्येक शब्द में निवास करती हो, काव्य प्रबन्ध में बसती हो। तुम्हारे विरह के कारण यह सारा संसार तद्रूप दुःखी और विरहयुक्त दिखलायी पड़ रहा है।

तुम्हें अब अधिक सन्तप्त नहीं होना चाहिए। कर्म के वश से—भाग्यवश किसी की दशा विषमता को प्राप्त नहीं होती है। अब मेरा तुमसे शीघ्र ही मिलन होगा। प्यारी! धैर्य मत खोना और अपने प्राणों को धारण किये रहना।

यह प्रेमपत्र कितना मार्मिक है। प्रेमी हृदय की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करने की इसमें पूर्ण क्षमता है।

वस्तुवर्णनों में नदी, पर्वत, वन, सरोवर, चैत्यालय, सन्ध्या, उषा, युद्ध, आश्रम, आदि के काव्यात्मक वर्णन प्रशंसनीय हैं। मदनकेशरी और रत्नचूड के युद्ध का बहुत ही सजीव वर्णन है। आरम्भ में मदनकेशरी रत्नचूड के दूत को तिरस्कृत कर राजसभा से निकाल देता है और जब रत्नचूड की सेना चढ़कर आ जाती है तो रणभेरी बजाकर अपनी सेना तैयार करता है और युद्ध के लिए प्रस्थान कर देता है। रणभूमि में दोनों ओर के युद्धा भिड़ जाते हैं। तलवार, भाले, छुरिका आदि शस्त्रों के प्रहार होने लगते हैं। किसी योद्धा के पेट की आँतें अस्त्रघात से बाहर निकल आती है। रुंड-मुंड भूमि पर नृत्य करने लगते हैं। वीरों की मर्म-भेदी ललकारें रोमाञ्चित कर देती हैं। उनके रक्त खौलने लगते हैं और चारों ओर से वीरता का रोमांचक दृश्य उपस्थित हो जाता है। इस अवसर पर कवि ने अस्त्र-शस्त्रों की चमक-दमक का भी सजीव चित्रण किया है। यथा—

तओ निसियसरनियरेहिं अंधारमंबरं कुणंता कयंतकायकालेहिं करवालेहिं अङ्गाइं लुणंता चारुचामीयरविच्छुरियाहिं जमजीहासरिसच्छुरियाहिं उदराइं विहाडंता कयपाणविवाएहिं निट्ठुरमुट्ठिघाएहिं वच्छत्थलं ताडंता वज्जसारेहि पण्डिपहारेहिं पंसुहड्डाइं मोडंता रोसप्फुरंतेहिं तिक्खदंतजंतेहिं नासियाओ तोडंता कमेण पडिवक्खस्स पहरंति सुहडा। खुरूप्पच्छिन्ना पडंति उत्तुंगधयवडा। परोप्परावलियउद्दंडसुंडाइं चलणतलमलियनररूंडाइं तडत्ति तुट्टंतदंतखंडाइं जलंतरोसानलचंडाइं मोडियसुरकरिमट्टाइं भिडंति दप्पिट्ठदोघट्टथट्टाइं।—रयणचूड० ४५

युद्ध का इतना सजीव और आतंक पूर्ण चित्रण अन्यत्र कम ही उपलब्ध होगा। वर्णनों को सरस बनाने के लिए सुभाषितों का बहुत सुन्दर प्रयोग किया गया है। तिलकसुन्दरी के अपहरण के समय तापस भयविह्वल और अधीर तिलकसुन्दरी को धैर्य देता हुआ कहता है—

को एत्थ सया सुहिओ, जणस्स जीयं व सायसं कस्स।
कस्स न इत्थ विओगो, कस्सव लच्छी थिरा लोए ॥१॥ पत्र ९
जं विहिणा नम्मवियं, तं चिय उवणमइ एत्थ सुहमसुहं।
इय जाणिऊण धीरा, वसणेवि न कायरा होंति ॥२॥—पत्र ९

इस विश्व में कौन सदा सुखी है, कौन सर्वदा जीवित रहता है, इष्ट वियोग किसको नहीं होता और लक्ष्मी किसकी स्थिर है ?

विधाता ने जो कुछ निर्मित किया है, उसीका शुभाशुभ फल भोगना पड़ता है। इस प्रकार संसार के स्वरूप को अवगत कर धीर व्यक्ति विपत्ति आने पर भी कायर नहीं होते हैं।

उत्तमकुल में उत्पन्न गुणी व्यक्तियों को भी विपत्ति भोगनी पड़ती है। क्षीर समुद्र से उत्पन्न अमृतमय चन्द्रमा को भी राहुग्रह का कवल बनना पड़ता है। अतः संसार के उत्थान-पतन का विचार कर धैर्य धारण करना चाहिए।

अवान्तर कथानकों में धनपाल सेठ की भार्या ईश्वरी के स्वभाव का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है। कटुभाषिणी और कंजूस नारी अतिथियों का कितना अपमान करती है और घर की श्री को फीका बना देती है, यह उक्त चरित्र से स्पष्ट है।

नगरों के सौन्दर्य के वर्णन द्वारा भी कवि ने चरित्रों का विकास उपस्थित किया है। सौन्दर्य चित्रण द्वारा भावाभिव्यञ्जन में स्पष्टता आ गयी है, जिससे भावों के साथ चरित्रों की स्पष्ट रेखायें अङ्कित हो गयी हैं।

दिट्ठं च तत्थ बाहिं बहुपूापुन्नागनागनारंगजबुजंबीर विज्जऊरिसहयार-केलिनालियरितरूसमिद्धेण जाइसयवत्तिकुंदकणियारकणवीरपाडलाकुसुम-सोहियारोप्पएण आरामेण संगयं महुरवारिभरियं मणोहरवाविकलियं उत्तुङ्ग-मणहरनिम्माणं देवभवणं। काऊण चलणसोयणाइयं विस्सामनिमित्तं पविट्ठा तत्थ। निरूवियं च तं समंतओ। पवरसालभंजियारेहिरकरोड्यं बहुविहजंतुरूव-यविराइयदारूसाहुत्तरंगदेहलियं। दिट्ठा तत्थ वामपासे रइ व्व रूववई सद्द (पस) त्ति मंगमणोरमा थंभ सालभंजिया। तं च दट्ठूण चिंतियममरदत्तेण। अहो केसकलावो। अहो नयणनिक्खेवो। अहो संपुन्तमुहयंकया। अहो पयोहरकलससारया।—पत्र ५९ पूर्वार्द्ध

पाटलिपुत्र के बाहर सुपाड़ी, पुन्नाग, नागकेशर, नारङ्गी, जामुन, जंबीर, नीबू, खजूर, आम्र, नारियल आदि विविध वृक्षों से समृद्ध तथा चमेली कुन्द, कनेर, कणवीर, गुलाब, चम्पा आदि विभिन्न पुष्पों से सुशोभित वाटिका में मधुर और शीतल जल से परिपूर्ण मनोहर वापिका से युक्त उन्नत और विशाल देव-भवन देखा। वह देव-भवन सुन्दर शालिभञ्जिकाओं से शोभित था। उसके काष्ठनिर्मित कपाट और देहली अनेक

प्रकार के जन्तुरूपक—खचित जन्तु मूर्तियों से सुशोभित थे। वहाँ बाईं ओर रति के समान रमणीक एक स्तम्भ—शालभञ्जिका निर्मित थी, जिसके केशकलाप, नयननिक्षेप, मुखाकृति एवं अङ्ग-प्रत्यंग आकर्षक थे।

मनोभावनाओं का भी सुन्दर चित्रण किया गया है। प्रेमी-प्रेमिकाओं, वीरों, योद्धाओं, तपस्वियों, भिक्षुओं, गृहपतियों एवं दरिद्रों की विभिन्न अवसरों पर उत्पन्न होनेवाली विभिन्न भाव-वृत्तियों का सूक्ष्म चित्रण किया है। उदाहरणार्थ एक मनस्विनी नायिका की सपत्नी विद्वेष की भावना उपस्थित की जाती है। मनस्विनी अपनी सखी को लक्ष्य कर कहती है—"मर जाना अच्छा है, गर्भ में नष्ट हो जाना श्रेयस्कर है, बछियों के द्वारा घायल हो जाना उत्तम है, प्रज्वलित दावानल में भस्म हो जाना श्रेष्ठ है, हाथी के द्वारा कुचल कर मर जाना श्रेयस्कर है, दोनों नेत्रों का फूट जाना उत्तम है, पर अपने पति को अन्य नारियों के साथ रमण करते देखना अच्छा नहीं। जीवन भर दरिद्रता का उपभोग करना, अनाथ रहना, रोग से पीडित रहना, अनाड़ी बने रहना, कुरूप होना, निर्गुण रहना, लूला-लँगड़ा बने रहना, भिक्षा माँगकर खाना उत्तम है, किन्तु सपत्नियों को देखना उत्तम नहीं। वह स्त्री सर्वदा दुःखी है, जिसका पति कई पत्नियों से विवाह किये हुए है।" यथा—

वरिहं मुय वीर गलियगब्भ वरि सेल्लेहि सल्लिय।
वरि जालावलिपज्जलंति दावानलि घुल्लिय॥
वरि करि कवलिय नयणजुयलु वरि महु सहि फुट्टउ।
मं ढोल्लउ मण्हन्तु अन्न नारिहिं सहुदिट्ठउ॥ १॥
तहा वरि दारिद्दउ वरि अणाहु वरि वरु दुन्नालिउ।
वरि रोगाउरु वरि कुरुबु वरि निग्गुणु हालिउ॥

इस काव्य की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

१. कथानक का विकास अप्रत्याशित ढंग से हुआ है।

२. कार्य व्यापार की तीव्रता आद्योपान्त है।

३. एक ही चित्र द्वारा अनेक भावों का निरूपण किया गया है।

४. घटना, चरित्र, वातावरण, भाव और विचारों में अन्विति है।

५. उपदेश या सिद्धान्तों का निरूपण कथानकों द्वारा ही किया है।

६. संवाद अल्परूप में गठित किये हैं, पर उनमें कथानक को गतिशील बनाने की क्षमता वर्तमान है।

७. सुभाषितों द्वारा चरित्र-चित्रण करने का प्रयास किया है। इसी कारण सुभाषितों में कथानक तत्त्व का गुम्फन उपलब्ध होता है।

८. मोक्ष पुरुषार्थ को उद्देश्य बनाकर ही चरित्रों का विकास दिखलाया गया है।

९. पूर्वभव की घटनाएँ वर्तमान जीवन के चरित का स्फोटन करती है।

१०. अद्भुत शब्दजाल, प्राकृत के साथ अपभ्रंश का प्रयोग, लम्बे-लम्बे समास और वर्णनानुसार भाषा का प्रयोग काव्य को सरल बनाने में सहायक है।

सिरिपासनाहचरियं[1]

इस चरित काव्य के रचयिता देवभद्र या गुणचन्द्र गणि हैं। सूरिपद प्राप्त करने के पूर्व इनका नाम गुणचन्द्र था[2]। इनके द्वारा रचित चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं—महावीरचरियं पासनाहचरियं, आख्यानमणिकोस और कहारयण कोस। कथारत्न कोश की प्रशस्ति में बताया गया है कि चन्द्रकुल में वर्द्धमान सूरि हुए। इनके दो शिष्य थे—जिनेश्वर और बुद्धिसागर सूरि। जिनेश्वर सूरि के शिष्य अभयदेव सूरि और इनके शिष्य सर्वशास्त्र प्रवीण प्रसन्नचन्द्र हुए। प्रसन्नचन्द्र के शिष्य सुमति वाचक और इनके शिष्य देवभद्र सूरि हुए। इन्होंने गोवर्द्धन श्रेष्ठि के वंशज वीर श्रेष्ठि के पुत्र यज्ञदेव श्रेष्ठि की प्रेरणा से इस चरित ग्रन्थ की रचना वि० सं० ११६८ में की है।[3]

कथावस्तु—समस्त कथावस्तु पाँच प्रस्तावों में विभक्त है। आरम्भ के दो प्रस्तावों में पार्श्वनाथ की पूर्व भवावलि वर्णित है। पार्श्वनाथ के जीव मरुभूति के साथ कमठ के पूर्वजन्मों की शत्रुता तथा उसके द्वारा किये गये उपसर्गों का जीवन्त चित्रण है। मरुभूति कई जन्मों के पश्चात् वाराणसी नगरी के अश्वसेन राजा और वामादेवी रानी के पुत्ररूप में जन्म ग्रहण करते हैं। उनका नाम पार्श्वनाथ रखा जाता है। धूमधाम से पुत्र जन्मोत्सव सम्पन्न किया जाता है। पार्श्वकुमार के वयस्क होने पर कुशस्थल से प्रसेनजित राजा के मन्त्री का पुत्र आता है। पार्श्वकुमार उसके साथ कुशस्थल पहुँचते हैं। कलिंगादि राजा, जो पहले विरोध कर रहे थे, वे सभी पार्श्वकुमार के सेवक हो जाते हैं।

पार्श्वकुमार वाराणसी लौट आते हैं। एक दिन वे वन-विहार करते हुए एक तपस्वी के पास पहुँचते हैं वहाँ अधजले काष्ठ से सर्प निकलवाते हैं। पार्श्व इस सर्प युगल को पञ्चनमस्कार मन्त्र देते हैं, जिससे वे दोनों धरणेन्द्र और पद्मावती के रूप में जन्म-ग्रहण करते हैं।

वसन्त के समय पार्श्वकुमार लोगों के अनुरोध से वनविहार के लिए जाते हैं और और वहाँ भित्ति पर नेमि जिनका चित्र देखकर विरक्त हो जाते हैं। लौकान्तिक देव आकर उनके वैराग्य की पुष्टि करते हैं। पार्श्वकुमार माता-पिता से दीक्षा लेने की अनुमति माँगते हैं, पर पिता अनुमति नहीं देना चाहते। पुत्र के प्रस्ताव को सुनकर पिता शोका-

१. अहमदाबाद से सन् १९४४ में प्रकाशित।

२. कथा-र० को० प्र० पृ० ८।

३. वीरसुएण य जसदेवसेट्ठिणा''पासनाह च० पृ० ५०३।

भिभूत हो जाते हैं। पार्श्वकुमार उनको समझाते हैं। माता-पिता से स्वीकृति लेकर वे तीनसौ राजकुमारों के साथ दीक्षा धारण कर लेते हैं। पारणा के लिए धन श्रेष्ठि के घर गमन करते हैं। अनन्तर वे अंगदेश को विहार कर जाते हैं। कलि पर्वत पर पार्श्वप्रभु को देखकर हाथी को जातिस्मरण हो जाता है और वह सरोवर से कमल लेकर प्रभु की पूजा करता है, कमठ का जीव मेघमाली नाना प्रकार का उपसर्ग देता है। धरणेन्द्र और पद्मावती आकर उपसर्ग का निवारण करते हैं। प्रभु को केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। भगवान् के समवशरण में अश्वसेन राजा सपरिवार जाता है। महारानी प्रभावती भगवान् की धर्म-देशना सुनकर दीक्षित हो जाती है। भगवान् के दस गणधर नियत होते हैं। यहाँ इन सभी गणधरों के पूर्वजन्म के वृतान्त दिये गये हैं।

इसके पश्चात् पार्श्वप्रभु का समवशरण मथुरा नगरी में पहुँचता है। अनेक राजकुमार दीक्षा धारण करते हैं। मथुरा से भगवान् का समवशरण काशी आदि नगरियों में जाता है। सम्मेदशैल पर प्रभु निर्वाण प्राप्ति कर लेते हैं।

समीक्षा—यह एक श्रेष्ठ चरितकाव्य है इसमें, उत्कृष्ट भावों या मनोवृत्तियों का सुन्दर चित्रण किया गया है। अतः असाधारण वीर्य-विक्रम-सम्पन्न नायक का पुरुषार्थ स्वाभाविक रूप में विकसित हो जाता है। कमठ के जीव द्वारा नाना प्रकार के कष्ट दिये जाने पर भी मरुभूति का जीव अनेक भवों में भी अपनी दृढ़ता नहीं छोड़ता। उनके भाव, कर्म या वचन में गाम्भीर्य सदा ही लक्षित होता है। इस चरित-काव्य में प्रलोभनों और उत्तेजनाओं का इस प्रकार का समवाय घटित हुआ है, जिससे नायक पार्श्व अनेक भाव-भूमियों में भी जल में रहनेवाले कमलपत्र के समान अलिप्त रहते हैं। कमठ के जीव द्वारा नाना प्रकार के उपसर्ग और कष्ट दिये जाने पर भी उनके मन में प्रतिशोध की अग्नि प्रज्वलित नहीं होती। एकांगी शत्रुता का यह उदाहरण साहित्य में बेजोड़ है। शक्ति के रहने पर भी भौतिक बल को सारंग-टंकार न करना कुछ विचित्र-सा लगता है। क्योंकि चरित्र को पूर्ण विकसित दिखलाने के लिए यह आवश्यक है कि मानव में दैवी और मानवीय दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियों का समवाय दिखलाया जाय तथा अवसर आने पर नायक को प्रतिशोध न करने पर भी प्रतिरोध करना आवश्यक हो जाय। कवि ने नायक में आरम्भ से ही जाति और काल प्रवाह का लोकातिशय-विस्तार दिखलाया है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ को वर्तमान भव में तो तीर्थगुण विशिष्ट रहने के कारण लोकातिशय सम्पन्न होना ही चाहिए, किन्तु कई भव पहले उनके उस रूप की प्रतिष्ठा काव्यतत्त्व में मात्र पौराणिकता का ही चमत्कार उत्पन्न करती है, चरित-काव्य का नहीं।

यही कारण है कि कवि ने मूलचरित के विकास, विस्तार और आयाम वृद्धि के हेतु द्वीपजात पुरुष कथानक, विजयधर्म-धनधर्म नवभव कथानक, कृष्ण गृहपति कथानक, अंग-बंग नृप-कथानक, पाताल कन्या कथानक, सुदर्शना पूर्वभव कथानक, वसन्त-

सेना-देविल कथानक, हस्तिपूर्व-भव कथानक, अहिच्छत्र कथानक, ईश्वरनृप कथानक, जयमंगल-कथानक, द्रोणकथानक, मुनिपूर्वभव कथानक, ज्वलन द्विज कथानक, श्रीदत्त कथानक, विजयानन्द कथानक, विजयवेग कुमार कथानक, नरवाहन कथानक, शिवदत्त कथानक, देवल कथानक, विक्रमसेन कथानक, कपिल-नागदत्त-जक्षिणी-सोमिल-शंकरदेव-लक्ष्मीधर-विजयवलनृप-सुरेन्द्रदत्त-ब्रह्मदत्त-बाहु-सुबाहु-सोमिल कथानकों की योजना की है। इन कथानकों द्वारा मूलचरित में एक ऐसी शक्ति का विकास दिखलाया है, जिससे नायक पार्श्वनाथ के चरित से दिव्य, तरल और तेजोमय किरणों का प्रकाश फूटता हुआ दृष्टि-गोचर होता है। इस चरित-काव्य की उक्त विशेषता से प्रभावित होकर मणिविजय गणि-वर ग्रन्थमाला के कार्य सम्पादक श्री बालचन्द्र ने लिखा है—"अन्यच्चानेककेवल-सूरिवराणां भिन्न-भिन्नप्रतिपादकावैराग्यखानयोः धर्मदेशनाः प्राचीनाश्चाश्रुतपूर्वाः कथाः स्थले स्थले प्रदर्शितः तथैव चास्मिंश्चरित्रे महान् विषयोऽयं, यत् श्रीमद्भ-गवतां शुभदत्तादिदशगणधराणां पूर्वभववृत्तान्ताः वैराग्यजनकरीत्या भिन्न-भिन्नगुणनिरूपकाः कथितास्सन्ति, येऽन्यचरित्रेषु न दृश्यन्ते, यान् श्रुत्वा भव्य-जनानां चित्तप्रसन्नतावबोधवृद्धिश्च भवेत्। कथ्यते च चरित्रमिदं परं वास्तविक-रीत्याऽनेकपदार्थविज्ञानप्रतिपादकत्वात् ग्रामनगरनृपादिवर्णात्मकत्वाच्चायं ग्रन्थो-ऽनुमीयते"[1]।

अतएव स्पष्ट है कि अवान्तर कथाओं द्वारा विराट् चरित्र की स्थापना की गयी है। पार्श्वनाथ का जीव एक भव में वज्रनाभ जन्मधारण करता है। उस भव में इनका विवाह बंगाधिपति की कन्या विजया के साथ सम्पन्न होता है। इस कन्या का कुमारा-वस्था में एक विद्याधर अपहरण कर लेता है। राजा अपने गुरु भागुरायण के आदेशा-नुसार कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि को श्मशान में लाल कनेर के पुष्पों की माला धारण कर बेताल मन्त्र का जाप करता है। बंग नृपति चण्डसिंह की साधना से बेताल आकृष्ट होता है और प्रसन्न हो कुमारी का पता बतला देता है। चण्डसिंह विद्याधर से कुमारी को छुड़ाकर लाता है और ब्रजनाभ के साथ उसका विवाह हो जाता है।

केवलज्ञान प्राप्ति के अनन्तर जब महाराज अश्वसेन के प्रश्न के उत्तर में शुभदत्त, आर्यघोष आदि दस गणधरों की पूर्व भावावलि का पार्श्वनाथ निरूपण करते हैं तो कापालिक मत के समस्त सिद्धान्तों का भी स्पष्टीकरण कर देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वज्रयानी शाखा के सिद्धों के तन्त्र-सम्प्रदाय का प्रचार १२ वीं शती में अधिक था। तन्त्र-मत की साधना अनेक प्रकार की बतलायी गयी है। इसमें हस्ति-तापसों का भी उल्लेख है। ये लोग हाथी को मार कर बहुत दिनों तक उसका माँस

१. पार्श्वनाथचरित प्रस्तावना पृ० ४।

भक्षण करते थे। इसकी मान्यता थी कि अनेक जीवों का वध करने की अपेक्षा एक जीव का वध करना उत्तम है। थोड़ा सा दोष लगने पर यदि बहुत गुणों की प्राप्ति का लाभ हो तो उत्तम है। जिस प्रकार अँगुली में साँप के काट लेने पर शरीर की रक्षा के लिए अँगुली का काट लेना उत्तम माना जाता है, उसी प्रकार साधनादि गुणों की प्राप्ति के लिए थोड़ा पाप—मांस भक्षण रूप किया जा सकता है। प्रसंगवश इस चरित काव्य में मन्त्र-तन्त्र की विभिन्न साधनाएँ भी वर्णित की गयी हैं। रचयिता ने आख्यानों के माध्यम से इस कोटि की बीभत्स और पाप—आडम्बर पूर्व साधनाओं का खण्डन कर सम्यक् चरित्र की प्रतिष्ठा की है। रचयिता का अभिमत है कि मनुष्य का उत्थान आत्म-शुद्धि के द्वारा ही संभव है। अहिंसा की साधना तप और त्याग की भावना के साथ ही विकसित होती है। श्रमण को जीव जगत् के प्रति पूर्ण साम्य दृष्टि रखनी चाहिए। संसार में पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि जितने प्राणी हैं, सबकी आत्मा में समान शक्ति है। अतएव अहिंसक साधक व्यक्ति इन्द्रिय-निग्रह करता हुआ समदृष्टि होता है। विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति वह दयालु होता है। राग-द्वेष-मोह रूप त्रिदोष का त्याग कर देने से साधक उत्तरोत्तर निर्मलता को प्राप्त होता जाता है।

इस प्रकार इस चरित-काव्य में चरित्रों का विकास पूर्णतया दिखलाया गया है। चरित में काव्य तत्त्व उत्पन्न करने के हेतु संवादों की भी सरस योजना है। पञ्चम प्रस्ताव में शिव, सुन्दर, सोम और जय के संवाद, भागुरायण और चण्डसिंह का संवाद सुन्दर है।

इस चरित-काव्य में विवाहोत्सव का सजीव वर्णन है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, काव्यलिंग, दृष्टान्त, श्लेष, यथासंख्य प्रभृति अलंकारों का भी प्रयोग पाया जाता है। पद्य की भाषा की अपेक्षा गद्यांश की भाषा श्लिष्ट है। वीर-वीभत्स एवं शान्त रसों का सुन्दर निरूपण हुआ है।

संक्षेप में इस काव्य की निम्न लिखित विशेषताएँ हैं—

१. नायक के चरित में सहिष्णुता गुण की पराकाष्ठा है।

२. अनेक भवों—जन्मों के मध्य नायक के चरित का विकास होता है और पूर्णता प्राप्त होती है।

३. जीवटपना—भीतर की उष्मा—जब बीज के भीतर उष्मा प्रकट होती है तो अंकुर फूटता है और बीज फल-फूलवाला वृक्ष बनकर अपनी सार्थकता सिद्ध करता है। मानव चरित में भी इस उष्मा का रहना आवश्यक है। इस चरित में नायक की उष्मा जागृत है, जो काव्य के चारों ओर अपना भामण्डल बनाये हुए है।

४. सिन्धु, पर्वत, गगन, ऋतु, उद्यान, केश, कपाल, वसन्त, मधु-माधवी-रजनी प्रभृति के रसमय चित्र हैं, इन चित्रों के कारण ही इसमें काव्यत्व का सन्निवेश हुआ है।

५. जीवन की समग्रता के हेतु विकृत और अविकृत सभी प्रकार की साधनाओं का चित्रण है।

६. उक्ति वैचित्र्य के हेतु उपदेश और आचरतत्त्व की अभिव्यञ्जना भी अवान्तर कथाओं के जमघट के मध्य विकसित की है।

७. संकेत द्वारा भी नायक के चरित्र का विकास—अवान्तर घटनाओं के आधार पर नायक की मनोवृत्तियों का उद्‌घाटन किया है।

८. संघर्ष के अनन्तर घटित होनेवाली घटनाओं के परिणामों का प्रदर्शन उपलब्ध है।

९. रसमय भावों की अभिव्यंजना के हेतु वर्णन और घटनाओं की उचित योजना की गयी है।

महावीरचरियं[1] (गद्य-पद्य-मय)

मह महावीरचरियं गुणचन्द्र सूरि का है। इस चरितकाव्य के रचयिता गुणचन्द्र प्रसन्नचन्द्र सूरि के शिष्य थे। इन्हीं के उपदेश से और छत्रावली (छत्राल) निवासी सेठ शिष्ठ और वीर की प्रार्थना से वि० सं० ११३९ ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया सोमवार के दिन इस ग्रन्थ की रचना की है। शिष्ट और वीर का परिचय देते हुए बताया गया है कि इनके पूर्वज गोवर्धन कर्पट वाणिज्यपुर के रहनेवाले थे। गोवर्धन के चार पुत्र हुए। इन पुत्रों में से जज्जगण छत्रावलि में जाकर रहने लगा। इसकी पत्नी का नाम सुन्दरी था। इस दम्पति के शिष्ट और वीर ये दो पुत्र हुए थे।

आचार्य गुणचन्द्र ने सिद्धान्त निरूपण, तत्त्व निर्णय और दर्शन की गूढ़ समस्याओं को सुलझाने और अन्य अनेक गम्भीर विषयों को स्पष्ट करने के हेतु इस चरित-काव्य का प्रणयन किया है। इसका नायक अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर को बनाया है। आचार्य ने समाज और व्यक्ति के जीवन की निकृतियों पर मार्मिक चोट करने तथा आदर्श-चरित को प्रस्तुत करने के लिए ही इस चरित काव्य का प्रणयन किया है। नायक के सम्पूर्ण जीवन को सरस चरित-काव्योचित शैली में प्रस्तुत किया गया है। कथानक में पूर्वजन्मों की घटनाओं का सम्मिश्रण हो जाने से सर्वाङ्गीणता आ गयी है। कार्य व्यापारों में विशेष प्रकार का उतार-चढ़ाव वर्त्तमान है। नायक के चरित्र का उद्‌घाटन अनेक परिस्थितियों और वातावरणों के बीच दिखलाया गया है। संवादों की योजना अत्यन्त चुस्त है। सजीव, स्वाभाविक और सरस कथोपकथन चरित्रों के स्पष्टीकरण के

१. सन् १९२९ में देवचन्द्र लालाभाई ग्रन्थमाला से प्रकाशित।

नंदसिहिरुद्दसंखे वोक्कंते विक्कमाओ कालम्मि।
जेट्ठस्स सुद्धतइया तिहिम्मि सोमे समत्तमिमं॥

—म० च० पृ० ३४१ गा० ८३

साथ कथावस्तु को अग्रसर करने में पूर्ण सहायक हैं। इस कलात्मकता ने ही नाटकीयता का भी प्रभाव प्रचुर परिमाण में उत्पन्न कर दिया है।

इस चरितकाव्य में आठ प्रस्ताव हैं—सर्ग हैं। इसके आरम्भ के चार सर्गों में भगवान् महावीर के पूर्वभवों का वर्णन है और शेष चार में उनके वर्तमान भव का। इस पर कालिदास, भारवि और माघ के संस्कृत काव्यों का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। महाराष्ट्री प्राकृत के अतिरिक्त बीच-बीच में अपभ्रंश और संस्कृत के पद्य भी आये हैं। देशी शब्दों के स्थान पर तद्भव और तत्सम शब्दों के प्रयोग अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं।

कथावस्तु—आरम्भ में सम्यक्त्व प्राप्ति का निरूपण है। दूसरे प्रस्ताव में ऋषभ, भरत, बाहुबलि एवं मारीचि के भवों का प्रतिपादन किया है। तीसरे प्रस्ताव में विश्वभूति की वसन्त क्रीडा, रथयात्रा तथा संभूति आचार्य के उपदेश से विश्वभूति की दीक्षा का निरूपण किया गया है। इस प्रस्ताव में त्रिपृष्ठ का अजय ग्रीव के साथ युद्ध एवं प्रियमित्र चक्रवर्ती के दिग्विजय और उनकी प्रव्रज्या का वर्णन है। चौथे प्रस्ताव में प्रियमित्र का जीव नन्दन होता है। नन्दन पोट्टिल नाम के आचार्य से नरविक्रम का परिचय पूछता है और आचार्य उस चरित का कथन करते हैं। अतः चतुर्थ प्रस्ताव में नरविक्रम का चरित्र वर्णित है। नन्दन का जीव ही क्षत्रिय कुण्ड के महाराज सिद्धार्थ के यहाँ महावीर के रूप में जन्म-ग्रहण करता है। बालक का नाम वर्धमान रखा जाता है। वर्धमान का वार्धापन समारोह सम्पन्न किया जाता है। पराक्रमशील होने के कारण इनका नाम महावीर पड़ जाता है। २८ वें वर्ष में माता-पिता के स्वर्गवास के अनन्तर नन्दिवर्धन का राज्याभिषेक सम्पन्न होता है। महावीर अपने भाई से अनुमति प्राप्त कर प्रव्रज्या धारण कर लेते हैं। पाँचवें प्रस्ताव में शूलपाणि और चण्डकौशिक के प्रबोध का वृत्तान्त है। महावीर ने क्षत्रिय कुण्डग्राम से बाहर ज्ञातृखण्ड उद्यान में श्रमण दीक्षा ग्रहण की और कुम्मारग्राम में पहुँच कर ध्यानावस्थित हो गये। इस ग्राम में उन पर गोप ने उपसर्ग किया। भ्रमण करते हुए वर्धमान ग्राम पहुँचे, वहाँ शूलाणि ने उपसर्ग किया। महावीर उसे प्रबुद्ध बनाया। अनन्तर कनखल आश्रम में पहुँच कर चण्डकौशिक को प्रबुद्ध किया। छठवें प्रस्ताव में गोशाल की उद्दण्डता का वृत्तान्त है। राजगृह के पास नालन्दा नामक सन्निवेश में महावीर और गोपाल का मिलाप हुआ था। यह गोशाल मंखली नामक गृहपति का पुत्र था, अतः यह मंखलीपुत्र कहलाता था। सातवें प्रस्ताव में महावीर के परीषह सहन और केवलज्ञान प्राप्ति का कथन है। राजगृह के विपुलाचल पर सम्पन्न हुई धर्मसभा एवं अन्यत्र विहार का प्रतिपादन किया है। आठवें प्रस्ताव में महावीर के निर्वाणलाभ का कथन है। इस प्रस्ताव में चन्दनबाला की

दीक्षा, चतुर्विध संघ की स्थापना, रानी मृगावती की दीक्षा, श्रावस्ती में गोशालक का आगमन, उसका जिनत्व का अपलाप, तेजोलेश्या का प्रयोग आदि वर्णित हैं।

आलोचना—इस चरित काव्य में नायक महावीर के चरित का विकास अनेक भवों के मध्य में दिखलाया है। चरित-नायक महावीर सम्यक्त्व प्राप्ति के अनन्तर तीर्थंकर ऋषभदेव के मुँह से अपने निर्वाणलाभ को निश्चित जानकर अहङ्काराभिभूत हो जाते हैं। इसी कारण उन्हें अनेक भव धारण करने पड़ते हैं। महावीर के चरित को उदात्त और सरस बनाने के लिए हरिवर्मा, सत्यश्रेष्ठि, सुरेन्द्रदत्त, वासवदत्ता, जिनपालित. रविपाल, कोरंट, कामदेव, सागरदेव, सागरदत्त-जिनदास और साधुरक्षित के आख्यानों का सन्निवेश कर कपिलदोक्षा और मारीचि के कृत्यों का वर्णन प्रौढ़ शैली में किया है। वर्धमान की बालक्रीडाएँ, लेखशाला में प्रदर्शित बुद्धिकौशल एवं चरित को सरस बनाने के लिए गोशाल का आख्यान ऐसे तत्त्व हैं, जिनके मध्य से महावीर के चरित की धारा फूटती है। आद्योपान्त कवि का यही प्रयास रहा है कि महावीर के चरित को अनेक दृष्टियों से उपस्थित कर उसमें इस प्रकार के आवर्त-विवर्त उत्पन्न किये जायँ, जिनसे यह काव्य पूर्णतया सफल हो सके।

चरित को उज्ज्वल और निर्मल बनामे के लिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि महाव्रतों के आख्यानों का संयोजन किया है। धर्म के रूप और साधनाएँ भी अंकित हैं।

नगर, वन, अटवी, उत्सव, विवाह, विद्यासिद्धि, उद्यान, धर्मसभा, श्मशान भूमि, ग्राम, युद्ध आदि का वर्णन बहुत ही सरस हुआ है। आलंकारिक वर्णन इसे चम्पूकाव्य बनाते हैं, पर पौराणिक मान्यताएँ, धार्मिक सिद्धान्त एवं चरित का विश्लेषणात्मक रूप इसे चरित-काव्य की सीमा में आबद्ध कर देते हैं। चम्पकमाला के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि ने बताया है कि वह अपने सौन्दर्य से देवाङ्गनाओं को भी परास्त करती थी। सैकड़ों जिह्वाओं से भी उसके सौन्दर्य का वर्णन करना शक्य नहीं है—

नियरूवविजियसुरवहुजोव्वणगव्वाए कुवलयच्छीए।
उब्भडसिंगारमहासमुद्दुद्धरिसवेलाए ॥ १ ॥
को तीए भणिय विब्भम नेवत्यच्छेययागुणसमूहं।
वण्णेउ तरइ तूरंतओऽवि जीहासएणंपि ॥ २ ॥

चतुर्थ प्रस्ताव

वर्णन क्षमता कवि की अपूर्व है। घोराशिव नाम का योगी श्मशान भूमि में साधना करता है। कवि ने श्मशान भूमि के भयंकर और बीभत्स दृश्य का ऐसा सुन्दर चित्रण किया है, जिससे उसका दृश्य पाठकों के सामने उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार के सजीव वर्णन बहुत कम काव्यों में पाये जाते हैं—

निलीणविज्जसाहगं, पवूढपूयवाहगं।
करोडिकोडिसंकडं रडन्तधूयकक्कडं॥
सिवासहस्सयंकुलं, मिलन्तजोगिणीकुलं।
पभूयभूयभीसणं, कुसत्तसत्तनासणं॥
पघुट्ठदुट्ठसावयं, जलन्ततिव्वपावयं।
भमन्त डाइणीगणं, पवित्तमंसमग्गणं॥ १॥

कहकहकहट्टहासो वलक्खतुरुक्ख लक्खदुपेच्छं।
अइरुक्खरुक्खसम्बद्धगिद्धपारद्धघोरवं ॥ २॥
उत्तालतालसबुम्मिलंतवेयालविहियहलबोलं ।
कीलावणं व विहिणा विणिम्मियं जमनरिन्दस्स॥ ३॥

युद्ध का वर्णन भी कवि ने रोमाञ्चक किया है। योद्धा परस्पर में किस प्रकार अस्त्रों का प्रहार करते हुए युद्ध करते हैं और एक दूसरे को ललकारते हैं तथा उत्तेजित करने के लिए किस प्रकार गाली-गलौज करते हैं, इसका आँखों देखा जैसा वर्णन किया गया है—

सियभल्लय सव्वलिसिल्लसूल, अवरोप्परु मेल्लहिं भिंडिमाल।
वज्जावहि तक्खणि तद्धरक्ख पुण, परइ जय जस सव्वपक्ख॥ १॥

पञ्चमोऽध्यायः

प्राकृत-चम्पूकाव्य

प्राकृत-भाषा में यथार्थतः चम्पूकाव्य प्रायः नहीं हैं। पूर्व में जिन गद्य-पद्य मिश्रित चरितकाव्यों का इतिवृत्त उपस्थित किया गया है, वे भी इस कोटि में परिगणित नहीं किये जा सकते हैं। केवल गद्य-पद्य के मिश्रणमात्र से किसी भी काव्य को चम्पू नहीं कहा जा सकता है। चम्पू की शास्त्रीय परिभाषा यह है कि जिस काव्य में वस्तु और दृश्यों का रूप चित्रण गद्य में किया गया हो और उसकी पुष्टि के हेतु भावों या विभवादि का पद्य में निरूपण हो, वह चम्पू काव्य है। कथावस्तु का गुम्फन भी महाकाव्यों एवं चरित या पुराण-काव्यों की अपेक्षा भिन्न शैली में किया जाता है तथा गद्य और पद्य दोनों का परस्पर ऐसा सम्बन्ध रहता है जिससे किसी एक के एकाध अंश के निकाल देने पर अधूरापन प्रतीत होने लगता है। संस्कृत में भी उत्तम कोटि के कम ही चम्पूकाव्य हैं, जिनमें चम्पू की पूर्णतया शास्त्रीय परिभाषा घटित हो।

प्राकृत में समराइच्चकहा, महावीरचरियं प्रभृति चम्पूकाव्य के उदाहरण नहीं हैं। यदि विकास परम्परा पर दृष्टिपात किया जाय तो कुवलयमाला काव्य अवश्य चम्पूकाव्य की श्रेणी में स्थान प्राप्त कर सकता है। इस काव्य में निम्नलिखित चम्पू के लक्षण घटित होते हैं :—

१. दृश्यों और वस्तुओं के चित्रण में प्रायः गद्य का प्रयोग किया गया है।

२. विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का चित्रण प्रायः पद्यों में ही किया है।

३. गद्य और पद्य कथानक के सुश्लिष्ट अवयव हैं। दोनों में से किसी एक के एकाध अंश के निकाल देने पर कथानक में विश्रृंखलता आ जाती है। अतः इसमें संश्लिष्ट रूप में गद्य-पद्य का सद्भाव पाया जाता है।

४. शैली की दृष्टि से कवि ने चम्पूविधा का अनुकरण किया है। यहाँ शैली से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है, जिसके द्वारा कवि ने रूपचित्रों को विभावादि द्वारा रसमय बनाया है। महाकाव्यों में पद्य-बद्धता के कारण दृश्य और भावों के चित्रण में शैली भेद परिलक्षित नहीं होता। कथा या आख्यायिकाओं में गद्यांश की प्रमुखता रहने से भावों का निरूपण भी गद्य में रहता है, जिससे दृश्य और भावों की अभिव्यञ्जना में शैलीगत भेद दिखलायी नहीं पड़ता। परन्तु चम्पूकाव्यों में दृश्य और भावों के चित्रण में शैलीगत भिन्नता की सीमा रेखा निर्धारित की जा सकती है। इस प्रकार का शैली भेद कुवलयमाला में है।

५. वस्तुविन्यास में प्रबन्धात्मकता आद्योपान्त व्याप्त है। काव्य के परिवेश में ही घटनावलि को प्रस्तुत किया है।

६. धर्मतत्त्व के रहने पर भी काव्य की आत्मा दबी नहीं है, कवि ने काव्यत्व का पूरा निर्वाह किया है।

७. चरित, आख्यान, पात्रों की चेष्टाएँ, नायक या नायिका के क्रियाकलाप आलंकारिक रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

८. अन्योक्तियों द्वारा चरित्रों की व्यंजना की है।

कुवलयमाला

कुवलयमाला प्राकृत चम्पूकाव्य का अनुपम रत्न है। इसके रचयिता दाक्षिण्य चिह्न उद्योतन सूरि हैं। ये आचार्य हरिभद्र सूरि के शिष्य थे। इनसे इन्होंने प्रमाण, न्याय और धर्मादि विषयों की शिक्षा प्राप्त की थी। इस कृति की रचना इन्होंने राजस्थान के सुप्रसिद्ध नगर जाबालिपुर (वर्तमान जालोर) में रहते हुए वीरभद्र सूरि के बनवाये ऋषभदेव के चैत्यालय में बैठकर की है। इस चम्पू ग्रन्थ का रचनाकाल शक संवत् ७०० में एक दिन कम बताया गया है।[1]

कथावस्तु—मध्य देश में विनीता नाम की नगरी थी। इस नगरी में दृढवर्मा नाम का राजा राज्य करता था। इसकी पटरानी का नाम प्रियंगुश्यामा था। एक दिन राजा आस्थान-मंडप में बैठा हुआ था कि प्रतिहारी ने आकर निवेदन किया—'देव ! शवर सेनापति का पुत्र सुषेण उपस्थित है, आपके आदेशानुसार मालव की विजय कर लौटा है।' राजा ने उसे भीतर भेजने का आदेश दिया। सुषेण ने आकर राजा को अभिवादन किया। राजा ने उसे आसन दिया और बैठ जाने पर पूछा—'कुमार ! कुशल है।'

कुमार—'महाराज ! आपके चरण-युगल प्रसाद से इस समय कुशल है।'

राजा—'मालव-युद्ध तो समाप्त हो गया' ?

सुषेण—'देव की कृपा से हमारी सेना ने मालव की सेना को जीत लिया। हमारे सैनिकों ने लूट में शत्रुओं की अनेक वस्तुओं के साथ एक पाँच वर्ष का बालक भी प्राप्त किया है।'

राजा ने उस बालक को आस्थान-मण्डप में बुलवाया। बालक के अपूर्व सौन्दर्य को देखकर राजा मुग्ध हो गया और बालक का आलिङ्गन कर कहने लगा—'वह माता धन्य है, जिसने इस प्रकार के सुन्दर और गुणवान् पुत्र को जन्म दिया है।'

बालक अपने को निराश्रय जानकर रोने लगा। उसे रोते देखकर राजा के हृदय में ममता जाग्रत हुई, उसने अपने चादर के छोर से उसके आँसू पोंछे तथा परिजनों द्वारा

---

१. जावालिउरं अट्टावयं...एग दिणेणूर्णेहि रइया अवरण्हवेलाए। कुव० पृ० २८२ अनु० ४३०

जल मँगवाकर उसका मुँह धोया। राजा ने मन्त्रियों से पूछा—'मेरी गोद में आने पर यह बालक क्यों रोया ? मंत्रियों ने उत्तर दिया—स्वामि ! यह अल्पवयस्क बालक माता-पिता विहीन है, अतः निराश्रय हो जाने के कारण रुदन कर रहा है। राजा ने बड़े प्रेम भाव से पूछा—'कुमार महेन्द्र बताओ क्यों रो रहे हो ?'

महेन्द्र—'आपकी गोद में आने पर मैंने सोचा—इन्द्र और विष्णु के समान पराक्रमशाली राजा का पुत्र होने पर भी मुझे शत्रु की गोद में जाना पड़ रहा है। इस बात की चिन्ता के कारण मेरी आँखों से आँसू निकल पड़े हैं।'

राजा दृढ़वर्मा ने कहा—कुमार महेन्द्र बड़ा बुद्धिमान प्रतीत होता है। इस छोटी सी आयु में इतनी अधिक चतुराई है।

मन्त्रियों ने कहा—प्रभो ! जिस प्रकार घूंघची के समान एक छोटा-सा अग्निकण भी बड़े-बड़े नगर और गाँवों को जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार तेजस्वियों के पुत्र लघु वयस्क होनेपर भी तेजस्वी ही होते हैं। क्या सर्प का छोटा सा बच्चा विषैला नहीं होता।

राजा ने कुमार महेन्द्र को सान्त्वना देते हुए कहा—कुमार ! मैं तुम्हें अपना पुत्र मानता हूँ। तुम निर्भय होकर रहो। यह राज्य अब तुम्हारा है। यह कहकर अपने गले का रत्नहार उसे पहना दिया।

इसी समय अन्तःपुर से महत्तरिका आई और राजा के कान में कुछ कहा। राजा कुछ समय के उपरान्त प्रियंगुश्यामा के वासभवन में गया। पुत्र न होने से रानी को उदास पाकर उसने उसे अनेक प्रकार से समझाया। मन्त्रियों के परामर्शानुसार उसने राज्यश्री भगवती की उपासना की और देवी ने उसे पुत्रप्राप्ति का वरदान दिया।

प्रियंगुश्यामा ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वप्न में ज्योत्स्ना परिपूर्ण निष्कलंक पूर्णचन्द्र को कुवलयमाला से आच्छादित देखा। प्रातःकाल होनेपर राजा ने दैवज्ञ को बुलाकर इस स्वप्न का फल पूछा। दैवज्ञ ने स्वप्नशास्त्र के आधार पर कहा—चन्द्रमा के दर्शन से रानी को अत्यन्त सुन्दर पुत्र उत्पन्न होगा। कुवलयकाला से आच्छादित रहने के कारण उसकी प्रियतमा कुवलयमाला होगी।

समय पाकर रानी ने पुत्र-प्रसव किया और पुत्र का नाम कुवलयचन्द्र रक्खा गया। श्रीदेवी के आशीर्वाद से उत्पन्न होने के कारण इस कुमार का दूसरा नाम श्रीदत्त भी था। कुमार कुवलयचन्द्र का विद्यारम्भ संस्कार कराया गया। थोड़े ही समय में इसने सभी विद्याओं और कलाओं में प्रवीणता प्राप्त कर ली। एक दिन समुद्र कल्लोल नाम का अश्वकुमार कुवलयचन्द्र को भगाकर जंगल की ओर ले चला, मार्ग में अचानक ही किसी ने अदृश्यरूप में घोड़े पर छुरिका का प्रहार किया। घोड़ा भूमि पर ढेर हो गया। कुमार कुवलयचन्द्र सोचने लगा—घोड़ा मुझे क्यों भगाकर लाया और किसने इस पर

प्रहार किया है ? इसी समय आकाशवाणी हुई कि दक्षिण की ओर जाइये, वहाँ आपको अपूर्व वस्तु दिखलाई पड़ेगी।

आकाशवाणी के अनुसार आश्चर्यचकित कुमार दक्षिण दिशा की ओर चला तो उसे घोर विन्ध्याटवी मिली। थोड़ी दूर और चलने के बाद इस अटवी में उसे एक विशाल वटवृक्ष दिखलायी पड़ा। इस वृक्ष के नीचे एक साधु ध्यान मग्न था और साधु के दाहिनी ओर एक सिंह बैठा हुआ था, जो अत्यन्त शान्त और गम्भीर था। मुनि ने गम्भीर शब्दों में कुमार का स्वागत किया। कुमार ने अश्वापहरण और आकाशवाणी का रहस्य मुनि से पूछा। मुनिराज कहने लगे—

वत्सनाम के देश में कौशाम्बी नाम की सुन्दर नगरी है। इसमें पुरन्दरदत्त नाम का राजा शासन करता था। इसका वासव नाम का प्रधानमन्त्री था। एक दिन उद्यानपाल हाथ में आम्रमंजरी लेकर आया और उसने वासव मन्त्री को सूचित किया कि वसन्त का आगमन हो गया है। उद्यान में एक आचार्य भी अपने शिष्यों सहित पधारे हैं। मन्त्री ने उद्यानपाल को पचास हजार स्वर्णमुद्राएँ देकर कहा—तुम अभी आचार्य के पधारने की बात को गुप्त रक्खो, जिससे वसन्तोत्सव सम्पन्न हो सके।

राजा ने उद्यान में जाकर धर्मानन्द आचार्य का शिष्यों सहित दर्शन किया। राजा ने मुनिराज से उनकी विरक्ति का कारण पूछा। मुनिराज ने संसार के दुःखों का वर्णन करते हुए क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह के कारण संसार परिभ्रमण करने वाले चण्डसोम, मानभट, मायादित्य, लोभदेव और मोहदत्त के जन्म-जन्मान्तरों के आख्यान निरूपित किये। मुनिराज ने बताया कि प्रव्रज्या ग्रहण कर इन्होंने संयम का पालन किया। वहाँ से मरण कर ये सौधर्म कल्प में उत्पन्न हुए। इन्होंने वहाँ पर आपस में एक दूसरे को सम्बोधित करने की प्रतिज्ञा की थी। इस समय इन पाँचों में से एक वणिक् पुत्र, दूसरा राजपुत्र, तीसरा सिंह, चौथा कुवलयमाला और पाँचवाँ कुवलय-चन्द के रूप में उत्पन्न हुआ है।

कुवलयमाला का नाम सुनते ही कुमार ने मुनिराज से पूछा—प्रभो ! यह कौन है ? और उसे किस प्रकार सम्बोधित किया जायगा।

मुनिराज ने बताया—दक्षिणापथ में विजया नाम की नगरी है। इसमें विजयसेन नाम का राजा राज्य करता है। इसकी भार्या का नाम भानुमती है। बहुत दिनों के उपरान्त उसको कुवलयमाला नाम की पुत्री उत्पन्न हुई है। यह कन्या समस्त पुरुषों से विद्वेष करती है, किसी पुरुष का मुँह भी नहीं देखना चाहती है। इसके वयस्क होने पर राजा ने एक मुनिराज से इसके विवाह के सम्बन्ध में पूछा—मुनिराज ने बताया कि इसका विवाह विनीता—अयोध्या नगरी के राजा दृढ़वर्मा के पुत्र कुवलयचन्द के साथ होगा। वह स्वयं ही यहाँ आयेगा और समस्या पूर्ति द्वारा कुमारी का अनुरञ्जन करेगा।

मुनिराज ने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा तुम्हारे घोड़े को भी यहाँ तुम्हें सम्बोधित करने के लिए लाया गया है और मायावी ढंग से उसे मृत दिखलाया गया है। तुम यहाँ से दक्षिण की ओर विजया नगरी को चले जाओ। कुमार कुवलयचन्द वहाँ पहुँचा और समस्यापूर्ति द्वारा कुमारी को अनुरक्त किया। इधर कुमार महेन्द्र भी कुवलयचन्द की तलाश करता हुआ वहाँ पहुँचा और उसने कुवलयचन्द का परिचय राजा को दिया। विवाह होने के उपरान्त पति-पत्नी बहुत समय तक आनन्दपूर्वक मनोविनोद करते रहे। अन्य में वे आत्मकल्याण में प्रवृत्त हुए।

आलोचना—इस चम्पूकाव्य में धर्म, कथा, काव्य और दर्शन का एक साथ समन्वित रूप वर्तमान हैं। इसमें प्रधान रूप से क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह इन पाँचों विकारों का परिणाम प्रदर्शित करने के लिए अनेक अवान्तर कथानकों का गुम्फन किया गया है। पत्ते के भीतर पत्तेवाले कदलीस्तम्भ के समान कथाजाल का संघटन काव्यगुणों से युक्त है। कथानक का जितना विस्तार है, उससे कहीं अधिक वर्णनों का बाहुल्य है, पर कथावस्तु का विभाजन आश्वासों में नहीं किया गया है। अन्धविश्वास, मिथ्यात्व, वितण्डावाद एवं क्रोधादि विकारों का विश्लेषण तर्कपूर्ण दार्शनिक शैली में किया है।

इस चम्पूकाव्य में चरित्र वर्गविशेष का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, संस्कृत काव्यों के समान चरित्रों में व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा नहीं हो पायी है। अभिजात्यवर्ग के चरित्रों में पूरा उदात्तीकरण उपलब्ध है।

इसमें सन्देह नहीं कि इस चम्पूकाव्य में हरिभद्र की अपेक्षा काव्यात्मकता अधिक है। कथात्मक संकेत आरम्भ से ही उपलब्ध होने लगते हैं। लूट में कुमार महेन्द्र का प्राप्त होना राजा दृढ़वर्मा को पुत्र प्राप्ति का संकेत करता है। इतना होने पर भी मूल कथा में अवान्तर कथाओं की संघटना, उनके पारस्परिक सम्बन्ध एवं चरित्रों के विश्लेषण क्रम के लिए उद्योतन सूरि अपने पूर्ववर्ती प्राकृत काव्यों के आभारी हैं। कथानकगठन की दृष्टि से इस कृति में निम्न प्रमुख विशेषताएँ पायी जाती हैं।

१. कथावस्तु के विकास में कथानकों का चमत्कार पूर्ण योग है।

२. मनोरंजन के साथ उपदेश तत्त्व की योजना और लक्ष्य की दृष्टि से आद्यन्त एकरूपता है।

३. मूल वृत्तियाँ—क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह के शोधन, मार्जन और विलयन के अनेक रूप वर्णित हैं।

४. कथानक का आधार आश्चर्यजनक घटना, कथावस्तु के विकास में जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों का एक सघन जाल, कथानक रूढ़ियों का प्रयोग एवं पात्र वैविध्य प्रदर्शित है।

५. संवादों में काव्योचित प्रभावोत्पादकता पायी जाती है।

६. चम्पूविधा के योग्य कथा संकेतों का सुन्दर सन्निवेश किया गया है।

७. कथा को गतिशील और चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए स्वप्न दर्शन, अश्वापहरण एवं पूर्वजन्म के वृत्तान्त को सुनकर प्रणयोद्बोध प्रभृति कथानक रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है, पर इनसे काव्यतत्त्व बाधित नहीं है।

८. हूणराज तोरमान की लूटपाट जैसे ऐतिहासिक तथ्यों की योजना भी है।

९. वाग्वैदग्ध्य और व्यंग्यापकर्षक काव्य की छटा अनेक स्थानों पर उपलब्ध है।

१०. समासान्त पदावली, नये-नये शब्दों का प्रयोग, पदविन्यास की लय, संगीतात्मक गति, भावतरलता एवं प्रवाहमय भाषा का समावेश वर्तमान है।

११. चण्डसोम, मानभट, मायादित्य प्रभृति नामकरणों में संज्ञाओं के साथ प्रतीक-तत्त्व भी अन्तर्हित हैं। चण्डसोम शब्द परिस्थिति और वातावरण का विशदीकरण ही नहीं करता, अपितु क्रोध का प्रतीक है। इस प्रतीक द्वारा कृतिकार ने क्रोध की भीषणता को कहा नहीं है, बल्कि व्यंग्यरूप में उपस्थित कर दिया है।

१२. जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों का जाल पूर्व के ग्रन्थकारों के समान ही अपनाया है, पर संयोग का चान्सतत्त्व में कुतूहल का मिश्रण कर वस्तु-विन्यास में सरसता उत्पन्न की है।

१३. विषय और कथा विस्तार की दृष्टि से यह कृति समृद्ध है। कथानकों का संघटन कुशलतापूर्वक किया गया है।

१४. जो जाणइ देसीओ भासाओ लक्खणाइं धाऊ य।
वय-णय-गाहा छेयं कुवलयमालं वि सो पढउ[1] ॥

१५. आश्वासों में कथावस्तु का विभाजन न होने से सर्गबद्धता का अभाव है, जिससे चम्पू विधा का चूडान्त निदर्शन आख्यान के गठन में प्रस्फुटित नहीं हो पाया है। कथाविराम—आश्वास चम्पू में ऐसे आराम स्थल उत्पन्न करते हैं, जिनसे पाठक विश्राम ग्रहण करता हुआ वर्णन चमत्कारों के द्वारा रसोद्बोध की प्रवृत्ति का परिष्कार करता है। यह गुण इस कथावस्तु में नहीं है।

कुवलयमाला में प्रौढ़ समस्यन्त गद्य का प्रयोग किया गया है। यहाँ उदाहरणार्थ उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं। इन उद्धरणों में कवि ने दृश्यों का साकार चित्रण किया है। यह गद्य का प्रौढ़रूप किसी भी चम्पूकाव्य के गद्य से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है यथा—

"इओ देव-समाएसेणं तहिं चेय दिवसे परिय-महा-करि-तुरय-रह-णर-सय सहस्सुच्छलंत-कलयलाराव-संघट्ट-घुट्ठमाण-णहयलं गुरुभर-दलंत-महियलं जण-

१. कुव० पृ० २८१ अनु० ४२९

सय-संवाह-रुंभमाण-दिसावहं उद्दण्ड-पोंडरीय-संकुलं संपत्तं देवस्स संतियं बलं। जुज्झं च समाढत्तं। तओ देव, सर-सय-णिरंतरं खग्गग्ग-खणखणा-सद्द-बहिरिय-दिसिवहं-दलमाण-संणाह-च्छणच्छणा-संघट्टुट्ठेंत-जलण-जाला-कराल-भीसणं संपलग्गं महाजुद्धं'।

इस गद्य खण्ड में कवि ने सुषेण द्वारा मालवनरेन्द्र के साथ दृढ़वर्मा की सेना के साथ किये गये युद्ध का वर्णन किया है। कवि ने तलवारों की सरसराहट और खनखनाहट का अनुरणनात्मक ध्वनियों द्वारा सजीव चित्रण किया है। तलवारों की परस्पर टकराहट से उत्पन्न होनेवाली अग्नि चिनगारियों का जाज्वल्यमान रूप उपस्थित किया है। इसी सन्दर्भ में शवर सेनापति सुषेण अपनी सेना के पराक्रम का चित्रण करता हुआ युद्ध की भीषणता का दृश्य उपस्थित करता है—

—कुवलयमाला पृ० १०, अनु० २२

"ताव य देव, तम्ह-बलेणं विवडेंत-छत्तयं णिवडंत-चिंधयं पडंत-कुञ्जरं रडंत-जोहयं खलंत-आसयं फुरंत-कोंतयं सरंत-सर-वरं दलंत-रह-वरं भग्गं रिउ-बलं ति"।

—कुव० पृ० १०, अनु० २२

कवि रूप चित्रण में कितना पटु है, यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट है—

वयण-मियंकोहामिय-कमलं कमल-सरिच्छ-सुपिंजर-थणयं।
थणय-भरेण सुणामिय-मज्झं-मज्झ-सुराय-सुपिहुल णियंबं॥
पिहुल-णियंब-समंथर-ऊरं-ऊर भरेण सुसोहिय-गमणं।
गमण-विराविय-णेउर-कडयं णेउर-कडय-सुसोहिय-चलणं॥

—वही, पृ० १४, अनु० ३५

कवि ने रानी प्रियंगुश्यामा के मुख, स्तन, कटि, नितम्ब, ऊरु और चरण आदि अंगों का बहुत ही सजीव चित्रण किया है। रूपक अलंकार की योजना भी उक्त पद्य में दृष्टव्य है।

प्रकृति चित्रण में कवि ने अपूर्व कौशल प्रदर्शित किया है। सन्ध्या और निस्सन्तान रानी का एक साथ चित्रण करता हुआ कहता है—

कुंकुम-रसारुणंगो अह कत्थ वि पत्थिओ त्ति णाउं जे।
संझा-दूई राईएँ पेसिया सूर-मग्गेणं॥
णिच्चं पसारिय-करो सूरो अणुराय-णिब्भरा सझा।
इय चिंतिऊणराई अणुमग्गेणेव संपत्ता॥
संझाएं समासत्तं रत्तं दट्ठूण कमल-वण-णाहं।
वहइ गुरु-मच्छरेण व सामायंतं महं रयणी॥

पच्चक्ख विलय-दंसण-गुरु-कोवायाव-जाय संतावे।
दीसंति सेय-विंदु व्व तारया रयणि देहम्मि ॥
उत्तार-तारयाए विलुलिय तम-णियर कसिण-केसीए।
चन्द-कर-धवल-दसणं राइएँ समच्छरं हसियं ॥
पुव्व-दिसाएँ सहीय व दिण्णा-णव-चंद-चंदण-णिडाली।
रवि-विरह-जलणं-संतावियम्मि वयणम्मि रमणीए ॥
ससियर-पंडर देहा कोसिय-हुंकार-राव णित्थामा।
अह झिज्जिउँ पयत्ता रएण राई विणा रविणा ॥
अरुणारुण-पीउट्ठि आयम्बिर-तारयं सुरय-झीणं।
दट्ठूण पुव्व-संझं राई रोसेण व विलीणा ॥
इय-राई-रवि-संझा तिण्हं पिहु पिच्छेउं इमं चरियं।
पल्हत्थ-दुद्ध-धवलं अह हसियं दियह-लच्छीए ॥

वही पृ० १५-१६, अनु० ३८

उपर्युक्त गाथाओं में कवि ने रूपक अलंकार द्वारा सन्ध्या में दूती का आरोप किया है। सन्ध्या के समय सूर्य को अरुण देखकर मात्सर्य के कारण ही सन्ध्या कालिमा युक्त दिखलायी पड़ती है। कवि सन्ध्योपरान्त तारागणों के उदय पर उत्प्रेक्षा करता हुआ कहता है कि क्रोध के कारण रात्रिरूपी नायिका के मुख पर श्वेत पसेव विन्दु ही हैं। चाँदनी को रात्रि का हास्य और अन्धकार को काले केश कहा गया है। चन्द्रमा के उदय को रात्रिरूपी नायिका का पाण्डुशरीर कहा है, क्योंकि वह सूर्य के विरह के कारण संतप्त रहने से पीली पड़ गयी है और अब पति के बिना क्षीण होने लगी है। अतएव ब्राह्ममुहूर्त्त के समय अंबर की लालिमा से तारागण विलीन होने लगे हैं।

यहाँ कवि ने एक साथ रानी-प्रियंगुश्यामा, सूर्य और सन्ध्या इन तीनों के चरित्र की व्यजना की है।

गर्भवती होने पर रानी किस प्रकार शोभित होती है, इसका चित्रण कवि ने उपमा द्वारा किया है—

"अह देवी तं चेय दियहं घेत्तूण लायण्ण-जल-प्पवड्ढिया इव कमलिणी अहिययरं रेहिउं पयत्ता। अणुदिह-पवड्ढमाण-कला-कलाव-कलंक-परिहीणा विय चंदिमा-णाह-रेहा सव्व-जण-मणोहरा जाया"।

वही, पृ० १७ अनु० ४२

इस प्रकार इस चम्पू काव्य में अलंकार, रस एवं भावादि की अभिव्यञ्जना सम्यक् प्रकार सम्पन्न हुई है। इसमें सूक्तियों की भी बहुलता है, कवि ने सूक्तियों द्वारा भावों को चमत्कारपूर्ण किया है। कवि अग्नि स्वभाव और शत्रुता का चित्रण करता है—

"जहा गुन्जाहल-फल-प्पमाणो वि जलणो दहणसहावो, सिद्धत्थपमाणो वि वइर-विसेसो गुरुसहावो"....... ।

वही, पृ० ११, अनु० २५

अर्थात्—जिस प्रकार घुंघची के समान अग्नि-कण ज्वलन स्वभाव का होता है, उसी प्रकार सरसों के समान छोटा सा वैर भी महान् फलवाला होता है। क्रोध का चित्रण करते हुए कहा है—

"आबद्ध-तिवलि-तरंग-विरइय भिउडो-णिडालवट्ठेणं रोस-फुरफुरायमाणा-हरेणं अमरिस वस विलसमाण-भुवया-लएणं......" ।

वही, पृ० ४७, अनु० ९७

स्पष्ट है कि क्रोध के कारण उत्पन्न हुई विकृति का स्वच्छ रूपांकन है।

भाषा की दृष्टि से भी यह काव्य महत्त्वपूर्ण है। पैशाची का उदाहरण इसमें आया है।

षष्ठोऽध्यायः

प्राकृत-मुक्तककाव्य

'पूर्वापर निरपेक्ष स्वतः' पर्यवसित काव्य को मुक्तक काव्य कहते हैं। केशवकृत शब्द कल्पद्रुम में बताया है—

विनाकृतं विरहितं व्यवच्छिन्नं विशेषितम्।
भिन्नं स्यादथ निर्व्यूहे मुक्तं यो वाति शोभनः॥

इस पद्य में आये हुए विनाकृत, विरहित, व्यवच्छिन्न, विशेषित और भिन्न अर्थ लगभग एक ही है। इन अर्थों से सिद्ध है कि जो काव्य अर्थ-पर्यवसान के लिए परापेक्षी न हो, वह मुक्तक कहलाता है। प्रबन्ध काव्य में अर्थ का पर्यवसान प्रबन्ध-गत होता है, पर मुक्तक में निर्व्यूह अर्थात् स्वतः पर्यवसायी रहता है। तात्पर्य यह है कि मुक्तक काव्य में रस की तमस्त विशेषताएँ और चमत्कृति के सारे उपकरण एक ही पद्य में अपेक्षित होते हैं।

संक्षेप में मुक्तक काव्य वह है जिसके पद्य परतः निरपेक्ष रहते हुए, पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ हों, काव्य के लिए अपेक्षित चमत्कृति आदि विशेषताओं से युक्त हों, अपनी काव्यगत विशेषताओं के कारण जो आनन्द देने में समर्थ हों, जिनका गुम्फन अत्यन्त रमणीय हो और जिनका परिशीलन ब्रह्मानन्द-सहोदर रसचर्वणा के प्रभाव से हृदय की मुक्तावस्था को प्रदान करनेवाला हो। मनीषियों ने मुक्तक काव्य में प्रबन्ध के समान रसधारा को नहीं माना है, प्रबन्ध काव्य में कथा-प्रसंग के कारण पाठक अपने को भूला रहता है, पर मुक्तक में रस के ऐसे छींटे रहते हैं, जिनके कारण उसकी हृदय कलिका विकसित हो जाती है। अतः प्रबन्धकाव्य को वनस्थली कहा है तो मुक्तक को गुलदस्ता। मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का प्रबन्ध के आश्रय बिना ही वर्णन करना पड़ता है, जिससे कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समास शक्ति भी अपेक्षित रहती है।

प्राकृत भाषा में मुक्तकों का विकास छान्दस् की मुक्तक शैली के आधार पर हुआ है। सभ्यता के अरुणोदयकाल में हमें दो महान् मुक्तक-सग्रह उपलब्ध होते हैं—एक ऋग्वेद दूसरा अथर्ववेद। विषय की दृष्टि से इनमें दो प्रकार की प्रमुख विचारधाराएँ उपलब्ध होती हैं—लौकिक या ऐहिकतापरक और दूसरी परलौकिक या आमुष्मिकता परक। ये दोनों प्रकार की विचारधाराएँ अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रवाहित होती चली आ रही हैं।

ऐतिहासिक मुक्तकों के अन्यान्य प्रकारों में नीति एवं उपदेशात्मक मुक्तकों की रचना सर्वप्रथम ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत आये हुए उन कथानकों के बीच हुई है, जो गद्य में ही लिखे गये हैं। शुनःशेफ कथानक के बीच उपदेशात्मक पद्य गुम्फित हुए हैं, जिनका रूप मुक्तकों का है। यथा—

चरन् वै मधु विन्दति चरन्मास्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेयाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति।

ऐत. ब्रा. प्र. ३३ अ. पृ. ८४५

इस पद्य में मधु शब्द में श्रेय और प्रेय का समन्वयपूर्ण भाव है और भौतिक सुख का प्रतीक है उदुम्बर। सूर्य कर्म और उद्योग का प्रतीक है। इस प्रकार प्रतीकों की योजना कर सुन्दर उपदेश दिया गया है।

पुत्र की प्रशंसा करते हुए इसी ग्रन्थ में बताया गया है—

शाश्वत्पुत्रेण पितरोऽत्यायन्बहुलं तमः आत्मा।
हि जज्ञ आत्मनः स इरावत्य तितारिणी।

ऐतरेय ब्रा० प्रथम खंड ३३वाँ अ० ३-४

ऐतरेय ब्राह्मण की इस शैली से ज्ञात होता है कि आरम्भ में मुक्तक पद्य ऐसे कथा ग्रन्थों में प्रयुक्त हुए हैं, जो उपदेश या प्रवचन के लिए लिखे गये हैं।

आगे चलकर मुक्तक स्वतन्त्र मुक्तक छन्दों के रूप में गृहीत किये जाने लगे। प्राकृत और संस्कृत में गाथाओं और आर्याओं का मुक्तक रूप में जो विकास दीख पड़ता है, वह परम्परा अनुसार कथाओं और कल्पनाओं से सदा सम्बद्ध रहा है। मुक्तक का बाह्य रूप अवश्य आत्मपर्यवसित है, पर उसका वास्तविक रहस्य अवगत करने के लिए किसी जीवन प्रबन्ध की कल्पना करनी पड़ती है। अतएव मुक्तक प्राचीन कथातत्त्व के ही कलात्मक, विकसित एवं संक्षिप्त रूप हैं। यही कारण है कि एक-एक मुक्तक अनेक कथाओं के बराबर रस प्रदान करने की क्षमता रखते हैं।

प्राकृत भाषा में मुक्तक काव्य का विकास वस्तुतः आगम-साहित्य की उस प्रवचन पद्धति से हुआ है, जिसमें उपदेश की बात को सरस पद्य में कह दिया जाता था। वैराग्य भाव या सिद्धान्त के अतिरिक्त प्रकृति के चित्र भी इस काव्य में पाये जाते हैं। रामायण और महाभारत में नीति और उपदेशात्मक पद्यों का गुम्फन मुक्तक काव्य का स्वरूप स्पष्ट करता है। आनन्दवर्द्धन ने मुक्तक काव्य की जो परिभाषा और व्याख्या प्रस्तुत की है, उसके अनुसार मुक्तक काव्य की रचना का श्रेय संस्कृत को न मिलकर प्राकृत भाषा को ही मिलता है। लोक भाषा के रूप में जब प्राकृत भाषा समृद्ध हो गयी, तब प्राकृत में रसमय रचनाएँ होने लगीं, जिन रचनाओं से संस्कृत साहित्य भी प्रभावित

हुआ। इसमें सन्देह नहीं प्राकृत साहित्य ने यदि संस्कृत से कुछ ग्रहण किया है, तो उसने संस्कृत को कुछ दिया भी है।

मुक्तक काव्य की बिल्कुल नवीन परम्परा का आरम्भ गाथासप्तशती से होता है। इस मुक्तक की प्रौढ़ परम्परा इस बात की ओर भी इंगित करती है कि प्राकृत में इस काव्य ग्रन्थ के पूर्व भी इस कोटि की रचनाएँ अवश्य रही होंगी। गोवर्द्धनाचार्य, अमरुक और भर्तृहरि जैसे कवियों ने अपने मुक्तक काव्यों की रचना में प्राकृत-मुक्तकों को अवश्य आधार बनाया है।

प्राकृत के मुक्तक स्तुति, स्तवन या स्तोत्र रूप में आविर्भूत होकर भी ऐहिकतापरक पाये जाते हैं। धार्मिक पृष्ठभूमि के साथ जीवन की अन्य प्रवृत्तियों को भी अपनाये रहने के कारण प्राकृत मुक्तकों में जीवन के विभिन्न चित्र सहज रूप में अंकित हो सके हैं।

कुछ विद्वान् 'गाथासप्तशती' के शृंगारिक मुक्तकों पर आभीर जाति के लोगों का संसर्ग मानते हैं। यह सत्य है कि आभीरों का संसर्ग भारतीयों से इसी प्राकृत काल में आरम्भ होने लगा था। इसकी भाषा ने प्राकृत भाषा को भी प्रभावित किया। आभीरों की अपनी उपासना पद्धति थी, जिसके साथ मिलकर भागवत-धर्म एक दूसरी ओर ही मुड़ गया है। गोप-गोपिकाओं की शृंगारिक भावनाओं का प्रचार भी आभीरों के सम्पर्क से हुआ है। अतएव प्राकृत के मुक्तकों की इस नवीन धारा में बहती हुई ऐहिकतापरक प्रवृत्ति को मनीषियों ने आभीरों की देन माना है। गाथासप्तशती में शृंगारिक भावनाओं और चेष्टाओं का बहुत ही सुन्दर विश्लेषण हुआ है।

प्राकृत मुक्तक आमुष्मिकता के आधार पर निर्मित हुए थे, पर गाथासप्तशती के काल में भाव एवं विधान इन दोनों ही दृष्टियों से उनमें परिष्कार हुआ। संस्कृत में कालिदास ने शृंगारिक मुक्तकों की रचना की, पर भर्तृहरि ने इस क्षेत्र में आकर वैराग्य और नीति के भी मुक्तक रचे। शृंगार शतक का नारी सौन्दर्य वर्णन से और वैराग्य का सांसारिक अस्थिरता से आरम्भ हुआ है। अमरुक ने अपने अमरुक शतक में शृंगार की जितनी अवस्थाएँ सम्भव्य हैं, उन सभी का सुन्दर चित्रण किया है। गोवर्द्धनाचार्य ने आर्यासप्तशती में ग्रामीण एवं गार्हस्थिक वातावरण का सुन्दर विश्लेषण किया है। नीति एवं उपदेशात्मक मुक्तकों के अन्तर्गत चाणक्य नीति तथा बाण, मयूर आदि कवियों के स्तोत्र संग्रह भी आते हैं।

आभीर और हूणों के संसर्ग से प्राकृत भाषा के उच्चारण और वाक्यविन्यास में धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा था। फलतः लोक भाषा ने अपभ्रंश का रूप धारण किया। अन्य काव्य-विधाओं के समान अपभ्रंश में भी मुक्तक रचनाएँ लिखी जाने लगीं। प्राकृत का गाथा छन्द अवभ्रंश में दोहा या दूहा बनकर आ गया। कुन्दकुन्द, स्वामिकार्त्तिकेय, वट्टकेर, नेमिचन्द्र, हरिभद्र प्रभृति प्राकृत लेखकों के आमुष्मिकतापरक सैद्धान्तिक मुक्तक-

काव्यों की शैली पर जोगीन्दु का योगासार और परमात्म प्रकाश, रामसिंह मुनि का 'पाहुड दोहा' देवसेन का 'सावय धम्म दोहा' आदि रचनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। आचार्य हेमचन्द्र के शृंगार, वीर और करुण रस सम्बन्धी मुक्तक पद्य प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार प्राकृत भाषा में मुक्तक-काव्यों की परम्परा धर्म और सिद्धान्त के आधार पर आरम्भ हुई और ऐहिकता का समावेश हो जाने पर शृंगार का विभिन्न रूपों में विकास हुआ है। अतः प्राकृत में मुक्तक काव्यों की परम्परा बहुत ही व्यवस्थित और वैविध्य पूर्ण है। इसमें एक ओर धर्मतत्त्व है, तो दूसरी ओर शृंगारतत्त्व। कतिपय मुक्तक काव्यों का विवेचन प्रस्तुत किया जायगा।

गाहासत्तसई[1] (गाथासप्तशती)

गाथासप्तशती इस प्रकार का रसमुक्तक काव्य है, जो सहृदयों में चमत्कार का संचार करने में पूर्ण समर्थ है। इसमें रमणीय दृश्यों एवं परिस्थितियों का चित्रात्मक और भावपूर्ण वर्णन विद्यमान है। नायक और नायिका के विभिन्न मनोभावों का कवि ने एक चित्रकार की भाँति साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया है। विलास की अगणित ललित क्रीड़ाओं का सजीव वर्णन इस मुक्तक में आद्योपान्त वर्तमान है। ऐन्द्रिय या बौद्धिक अनुभूतियों के माध्यम से आध्यात्मिक अनुभूति का सूक्ष्मरूप उपस्थित किया गया है।

इस मुक्तक में संयोग पक्ष के अन्तर्गत आलम्बन-रूप-नायक-नायिका, सखी, दूती, षट्ऋतु और अनुभाव, सात्त्विकभाव, नायिकाओं के स्वभावज अलंकार आदि का मनोहर वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। वियोग पक्ष में पूर्व राग, मान, प्रवास के साधन, गुणश्रवण, चित्रदर्शन, प्रत्यक्षदर्शन, मान-मोचन के अनेक उपाय और वियोगजन्य काम दशाएँ वर्णित हैं। नख-शिख वर्णनों के साथ वयःसन्धि के वर्णनों में केवल परम्परा भुक्त उपमानों का ही प्रयोग नहीं हुआ है, बल्कि उसमें निरूपण के द्वारा रस-लिप्सु चेतना का ऐसा असन्दिग्ध निरूपण किया गया है, जिससे प्रेम विह्वलता, लालसा, अतृप्ति, सम्मिलन-सुख की आत्म-विस्मृति के मर्मस्पर्शी चित्र अंकित हो गये हैं।

इस काव्य में नायिकाओं के प्राणों के भीतर की सिहरन, प्रेमिल हृदय की अगणित वृत्तियों का अंकन, भावों में स्वाभाविकता के साथ सरलता का मंजुल मिश्रण, अनुराग लीलाओं की अलौकिकता का निर्देश एवं हावों और भावो की रमणीय योजना उपस्थित की गयी है। यही कारण है कि गोवर्द्धन की आर्यासप्तशती इसी का अनुकरण मात्र है।

प्रेम की पीर की अभिव्यञ्जना अत्यन्त गम्भीर है। पार्थिव प्रेम की सम्पूर्ण श्यामलता एवं उज्ज्वलता, विलासिता एवं नैसर्गिकता, कुरूपता एवं कमनीयता एक साथ प्रतिफलित हुई हैं। प्रेम एवं सौन्दर्य के चित्रण उत्तरोत्तर-सूक्ष्म एवं अभौतिक होते गये

१. चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १, सन् १९६१

हैं। श्रृङ्गार में होनेवाले स्तम्भ, रोमाञ्च, स्वरभंग, कम्प तथा निर्बलता का हेतु भय या त्रास भी पूर्णरूपेण वर्णित है।

इस मुक्तक में श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति किन्हीं विशेष प्रकार के नायक-नायिकाओं को लक्ष्य करके नहीं की गयी है, उपितु, कवि ने सामान्यतः नायक-नायिकाओं की उन मानसिक दशाओं का चित्रण किया है, जो किसी के भी विषय में सम्भव हैं।

इस मुक्तक काव्य में सर्वश्रेष्ठ कवि और कवियित्रियों की चुनी हुई लगभग सात सौ गाथाओं का संकलन है। पहले इसे गाहाकोस (गाथाकोश) कहा जाता था। महाकवि बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में इसे इसी नाम से उल्लिखित किया है। इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक करोड़ प्राकृत गाथाओं में से रमणीयार्थ प्रतिपादक केवल सात सौ गाथाएँ ही इसमें संग्रहीत की गयी हैं। इन गाथाओं की रसमयता की प्रशंसा बाण, रुद्रट, मम्मट, वाग्भट्ट, विश्वनाथ और गोवर्धन आदि आचार्यों ने मुक्तकण्ठ से की है। बाण ने लिखा है—

> अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः।
> विशुद्धजातिभिः कोषं रत्नैरिव सुभाषितैः॥—हर्षचरित श्लो० १३

इस काव्य का प्रत्येक पद्य अपने आप में स्वतन्त्र और आमुष्मिकता की चिन्ता से बिलकुल मुक्त है। इस काव्य में लोकजीवन के विविध पटलों को सजीव अभिव्यक्ति हुई है। गाथाओं के दृश्य अधिकतर सरल ग्राम्य जीवन से लिये गये हैं। वहाँ के लोग नगर की विलास सामग्रियों से भले ही वंचित हों, पर प्रेम, दया, सहृदयता, एकनिष्ठता जैसे भावों के धनी हैं। गाथाओं में तत्कालीन सामाजिक प्रथाओं का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। श्रृंगार के अतिरिक्त इसमें प्रकृति-चित्रण एवं नीति विषयिक सूक्तियाँ भी पायी जाती हैं। गाथाओं में तत्कालीन सामाजिक अवस्थाओं के सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किये गये हैं। प्रत्येक गाथा में किसी न किसी प्रकार का चमत्कार माधुर्य या सौष्ठव तो है ही, साथ ही व्यंग्यार्थ की सुन्दर छटा सर्वत्र दर्शनीय है। अलंकारों की योजना द्वारा कवि ने भावों को उदात्त बनाया है। निम्न पद्य में उत्प्रेक्षा का चमत्कार दर्शनीय है—

> रेहंति कुमुअदलणिच्चलट्ठिआ मत्तमहुअरणिहाआ।
> ससिअरणीसेसपणासिअस्स गण्ठि व्व तिमिरस्स॥ ५६१॥

मरकत की सुई से बिंधे मोती के समान, तृण की नोंक पर चमकते जल-बिन्दु को मृग चाट रहे हैं, कहीं काले मेघों के प्राणों की भाँति बिजली धुक्-धुक् काँप रही है।

कहीं कुमुददलों पर निश्चल भाव से बैठे काले भौंरे अन्धकार की ग्रन्थियों के सदृश प्रतीत हो रहे हैं।

चमत्कारपूर्ण सूक्तियों की बहुलता है। बताया है कि संसार में बहरों और अंधों का ही समय सुख से बीतता है; क्योंकि बहरे कटु शब्द सुन नहीं सकते और अंधे दुष्टों की समृद्धि नहीं देख पाते। कृपण के लिए उसका फल उसी प्रकार निष्फल है, जिस प्रकार ग्रीष्म की कड़ी धूप में व्याकुल पथिक के लिए उसकी अपनी छाया।

वक्र—टेढ़े स्वभाव और अवक्र—सीधे स्वभाव वालों का साथ कभी नहीं निभ सकता? तभी तो सीधे बाण को टेढ़ा धनुष दूर फेंक देता है। कवि ने इस तथ्य का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है—

चावो सहावसरलं विच्छिवइ सरं गुणम्मि वि पडंतं।
वंकस्स उज्जुअस्स अ संबंधो किं चिरं होई॥ ४२४॥

ग्रामीण जीवन के चित्र भी कवि ने अनूठे खींचे हैं। किसान की मुग्धा पुत्रबधू को एक नयी रंगीन साड़ी मिली है, उसका उल्लास इतना असीम हो रहा है कि गाँव के चौड़े रास्ते में भी वह तन्वी नहीं समा रही है। गाँवों की दरिद्रता के करुण दृश्य भी बड़े हृदयस्पर्शी हैं। कृषक पति अपनी गर्भवती पत्नी से उसकी दोहद-अभिलाषा पूछता है। पति को आर्थिक कष्ट न हो, अतएव वह केवल अपनी जल की इच्छा ही प्रकट करती है। मूसलाधार पानी बरस रहा है, झोपड़ी में टप-टप पानी चू रहा है, कृषक पत्नी अपने प्यारे बच्चे को बचाने के लिए उस पर झुककर पानी की बूंदें अपने सिर पर ले रही है, पर कवि कहता है कि उसे यह नहीं पता कि इस प्रकार वह अपने नयनों से झरते जल से उसे भिगो रही है।

गाथासप्तशती में प्रेम और करुण भाव के साथ प्रेमियों की रसमयी क्रीड़ाओं का सजीव चित्रण हुआ है। अहीर-अहीरिनों की प्रेम गाथाएँ, ग्रामबधुओं की शृंगार चेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई युवतियों की विभिन्न भावावलियाँ, पौधों को सींचती हुई सुन्दरियों के मोहक चित्र, युवक-युवतियों की विभिन्न क्रीड़ाएँ, सास-ननद और युवतियों के व्यंग्याभिभाषण एवं ऋतुओं के मोहक चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। ग्रीष्म ऋतु ने अपनी उष्णता के कारण चारों ओर एक विचित्र भाव उत्पन्न कर दिया। एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

गिरिसोत्तो त्ति भुअंगं महिसो जीहइ लिहइ संतत्तो।
महिसस्स कल्लवत्थरझरो त्ति सप्पो पिअइ लालं॥ ५५१॥

ग्रीष्म सन्ताप से सन्तप्त महिष—भैंसा गिरि-स्रोत समझ कर सर्प को अपनी जिह्वा से चाट रहा है और सर्प भी काले पत्थर का झरना समझ कर उसका लार पी रहा है।

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए।
पडम व्विअ दिअहद्धे कुड्ढो रेहाहिं चित्तलिओ॥ २०८॥

मेरा पति आज गया है, आज गया है, इस प्रकार एक दिन में एक लकीर खींचकर दिन गिननेवाली नायिका ने दिन के प्रथमार्ध में ही दीवाल रेखाओं से चित्रित कर डाली।

उपर्युक्त गाथा में कवि ने एक नायिका के वियोग शृङ्गार का बहुत ही सूक्ष्म एवं सुरुचिपूर्ण चित्रण उपस्थित किया है। वियोग से आक्रान्त नायिका में इतना सामर्थ्य नहीं कि वह एक क्षण के लिए भी अपने प्रिय से अलग रह सके।

कवि ने विरहाग्नि का बहुत सुन्दर गम्भीर चित्रण किया है। कवि कहता है कि नायिका के हृदय में वियोगाग्नि धधक रही है और उसे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि यह अग्नि उसे भस्मसात् किये बिना नहीं रहेगी। कोई नायिका इस प्रकार आँखों में आँसू भर कर अपने प्रियतम को रोकने की चेष्टा करती है।

एको वि सह्लसारो ण देइ गन्तुं पआहिणवलंतो।
किं उण वाहाउलिअं लोअणजुअलं पिअअमाए ॥ १२५ ॥

कृष्णसागर मृग का यात्रा के समय बाईं ओर से दाहिनी ओर आना अपशकुन समझा जाता है। फिर, भला प्रियतमा के आँसुओं से भरे हुए दो नेत्र रूपी काले मृगों के सामने आ जाने पर यात्रा किस प्रकार हो सकती है।

अपने प्रियतम के प्रातःकाल विदेश जाने का निश्चय अवगत कर नायिका सोचती है। कवि ने उसकी विचारधारा का बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया है।

कल्लं किल खरहिअओ पवसिइहि पिओत्ति सुण्णइ जणम्भि।
तह बड्ढ भअवइ णिसे जह से कल्लं विअ ण होइ ॥ १४५ ॥

ऐसा सुना जाता है कि मेरा क्रूर हृदय प्रियतम प्रातः प्रवासार्थ जायेगा, हे निशा-देवि, तुम इस प्रकार बढ़ जाओ कि प्रातः ही न हो।

प्रवासगमनेच्छु व्यक्ति की भार्या घर-घर घूमकर विदाई के समय प्राणधारण करने का रहस्य उन महिलाओं से पूछती फिर रही है, जिन्होंने प्रिय का विरह सहन किया है।

भावना की पराकाष्ठा वहाँ पर हो जाती है, जहाँ प्रियतम के लौटने पर भी नायिका इसलिए वस्त्राभरण नहीं धारण करती कि अभी उसका पड़ोसी नहीं लौटा है, और उसके शृङ्गार करने से उसकी पड़ोसिन को कष्ट होगा।

भोजन बनाने में संलग्न नायिका का काला हाथ उसके मुँह से लग जाता है। नायक गृहिणी के मुख पर लगी कालिमा को देखकर हँसता हुआ कहता है कि वाह! तुम्हारे मुख और चन्द्रमा में तनिक भी अन्तर नहीं है।

घरिणीए महाणसकम्मलग्गमसिमलिएण हत्थेण।
छित्तं मुहं हसिज्जइ चन्दावत्थं गअं पइणा ॥ १३ ॥

रसोई बनाते समय कहीं पत्नी के कालिख लगे हाथ से मुँह पर काला धब्बा लग गया, उसे देखकर मुस्कुराता हुआ पति कहने लगा—अब तो तुम्हारा मुख चन्द्रमा ही बन गया है। कलंक की जो कमी थी, वह भी पूरी हो गयी है।

गाथासप्तशती की प्रत्येक गाथा में किसी न किसी भाव या रस की अभिव्यक्ति अवश्य हुई है। नायिका के मुख की समता चन्द्रमा नहीं कर सकता, इस तथ्य का निरूपण कवि ने अन्योक्ति अलंकार द्वारा कितना सुन्दर किया है।

तुह मुहसारिच्छं ण लहइ ति संपुण्णमंडलो विहिणा।
अण्णमअं व्व घडइउं पुणो वि खंडिज्जइ मिअंको ॥ २०७ ॥

जब ब्रह्मा ने देखा कि पूर्णचन्द्र बनाने पर भी वह नायिका के मुख की समता नहीं कर सका, तब वह उसे पुनः बनाने के लिए खण्ड-खण्ड कर डालता है। एक अन्य सुकुमार अन्योक्ति भी दर्शनीय है—

जाव ण कोसविकासं पावइ ईसीस मालई कलिआ।
मअरन्दपाणलोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि ॥ १४४ ॥

जब तक मालतीकलिका—कोष कुछ बढ़ नहीं जाता, तब तक रसपानलोलुप भ्रमर, तुम कालिका के मर्दनमात्र से ही सन्तोष प्राप्त कर रहे हो।

संक्षेप में गाथासप्तशती की गाथाओं को वर्ण्य विषय की दृष्टि से निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

१. नायक-नायिकाओं की विशेष दशाओं का चित्रण।
२. सामान्य कोटि और निम्न श्रेणी की नायिकाओं की भावदशाओं का चित्रण।
३. प्रेम-प्रसङ्ग के वर्णन में सामयिक रीति-नीति, आचार-व्यवहार का चित्रण।
४. कृषक एवं उनकी युवतियों की विभिन्न दशाएँ।
५. ग्रामीण सौन्दर्य और ग्राम्य चित्रों का प्रस्तुतीकरण।
६. ऋतुओं के मार्मिक चित्रण।
७. सामाजिक रीति-नीति के साथ देश और काल की परिस्थिति पर प्रकाश।
८. काम की विभिन्न दशाओं का चित्रण।
९. नारी सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना।
१०. केलि-क्रीड़ाओं के विभिन्न चित्र।
११. दाम्पत्य जीवन की अनेक रोचक कथाएँ।

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. कीथ ने लिखा है कि गाथासप्तशती की इन गाथाओं में केवल ४३० गाथाएँ ऐसी हैं, जो कि अब तक उपलब्ध होनेवाली समस्त प्रतियों में मिलती हैं। इससे ज्ञात होता है कि इस पुस्तक में परिवर्तन एवं परिवर्धन पर्याप्त मात्रा में हुआ है। आज जिस रूप में यह कृति उपलब्ध है, वह शृङ्गाररस का

प्रशान्त समुद्र है। इसने स्वयं को ही नहीं, प्राकृत भाषा को भी अमर बना दिया है। काव्य-जगत् में इसकी समकक्षता करने वाला कोई भी ग्रन्थ नहीं है। व्यञ्जना का सुन्दर और सुमधुर समावेश इसमें हुआ है। यह वैदर्भी शैली में लिखा गया काव्य है। अलंकारों का स्थान-स्थान पर सुन्दर और उचित प्रयोग हुआ है। व्यंग्य का तो ऐसा साम्राज्य है कि एक भी पद्य इससे वंचित नहीं है। व्यंग्यार्थ अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त है।

लक्षण शास्त्र की दृष्टि से यह जितना महत्त्वपूर्ण है, वर्ण्य-विषय की दृष्टि से भी उतना ही। समाज के प्रत्येक वर्ग का इसमें प्रतिनिधित्व किया गया है। एक ओर नागरिक जीवन के प्रौढ़ चित्र हैं, तो दूसरी ओर ग्रामीण जीवन के भोले और मधुर चित्रों की कमी नहीं है।

इस काव्य का रचयिता शैव-धर्मावलम्बी प्रतीत होता है। यों हाल को जैनधर्मावलम्बी और जैनतीर्थों का उद्धारक कहा जाता है। संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य में ऐसे सन्दर्भ आते हैं, जिनसे सातवाहन दानी, धर्मात्मा, पराक्रमी, लोकहितैषी एवं विद्यानुरागी सिद्ध होता है। हेमचन्द्र और मेरुतुङ्ग ने उसे नागार्जुन का शिष्य बतलाया है। हाल कवि विलासी रुचि और शृङ्गार प्रेमी प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ का रचना काल साधारणतः ई० प्रथम शती माना जाता है। कुछ विद्वान् इसका समय ४–५ ई० शती मानते हैं।

यह एक संकलन ग्रन्थ है। इसका प्राचीन नाम गाथाकोष आया है और दशवीं शताब्दी तक यह ग्रन्थ इसी नाम से प्रसिद्ध भी रहा है। इसमें प्रवरसेन, सर्वसेन, मान, देवराज, वाक्पतिराज, कर्णराज, अवन्तिवर्मन, ईशान, दामोदर, मयूर, बप्पस्वामी, बल्लभ, नरसिंह, अरिकेसरी, वत्सराज, वराह, माउरदेव, विअड्ढ, धनञ्जय, कविराज, माधवसेन एवं नरवाहन आदि का नामोल्लेख पाया जाता है। इस कारण कुछ विद्वान् इसका संकलन काल दसवीं शताब्दी तक ले जाते हैं।

वज्जालग्गं[1]

हाल की गाथासप्तशती के समान वज्जालग्ग भी एक सुन्दर मुक्तककाव्य संग्रह है। इसमें भी अनेक प्राकृत कवियों की सुभाषित गाथाएँ संग्रहीत हैं। श्वेताम्बर मुनि जयवल्लभ ने इस ग्रन्थ का संकलन किया है। हाल की सप्तशती के समान इसमें ७९५ गाथाओं का संग्रह है।

वज्जा शब्द देशी है, इसका अर्थ अधिकार या प्रस्ताव है। एक विषय से सम्बन्धित

१. प्रोफेसर जुलियस लेवर द्वारा संपादित होकर कलकत्ता से सन् १९४४ में रॉयल एसियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल द्वारा प्रकाशित

गाथाएँ एक वज्जा के अन्तर्गत आती हैं। जिस प्रकार भर्तृहरि के नीतिशतक में पद्धतियाँ हैं और एक पद्धत्ति में एक विषय के पद्य संग्रहीत हैं, उसी प्रकार एक वज्जा में एक विषय से सम्बद्ध गाथाएँ संकलित हैं। जयवल्लभ ने मंगलाचरण के अनन्तर बताया है—

विविहकइविरइयाणं गाहाणं वरकुलाणि घेत्तूण।
रइयं वज्जालग्गं विहिणा जयवल्लहं नाम ॥ ३ ॥
एक्कत्थे पत्थावे जत्थ पढिज्जन्ति पउरगाहाओ।
तं खलु वज्जालग्गं वज्ज त्ति य पद्धई भणिया ॥ ४ ॥

नाना कवियों द्वारा विरचित श्रेष्ठ गाथाओं को ग्रहण कर इस वज्जलग्गं काव्य की रचना की जा रही है।

एक प्रस्ताव या अधिकार में उन गाथाओं का संकलन किया गया है, जो उस प्रस्ताव के विषय से सम्बद्ध हैं। अतः वज्जा शब्द पद्धति का भी पर्यायवाची है। इस काव्य में अनेक विषयों या प्रस्तावों से सम्बन्धित गाथाएँ संग्रहीत की जा रही हैं।

इस ग्रन्थ में श्रोतृ, गाथा, काव्य, सज्जन, दुर्जन, मित्र, स्नेह, नीति, धीर, साहस, दैव, विधि, दीन, दारिद्रय, प्रभु, सेवक, सुभट, धवल, विन्ध्य, गज, सिंह, हरिण, करभ, मालती, भ्रमर, सुरतरु, हंस, चन्द्र, विदग्धन, पञ्चम, नयन, स्तन, लावण्य, सुरत, प्रेम, मान, प्रवसित, विरह, अनंग, पुरुषोल्लास, प्रियानुराग, दूती, विरहपीडिता, प्रवासित, धन्य, हृदयसंवरणा, सुगृहिणी, सती, असती, ज्योतिषिक, लेखक, धार्मिक, मान्त्रिक, मूसल, बालासंवरण, कुट्टिणी शिक्षा, वेश्या, कृपण, खनक, कृष्ण, रुद्र, प्रहेलिका, शशक, वसन्त, ग्रीष्म, प्रावृट्, शरत्, हेमन्त, शिशिर, जरा, महिला, पूर्वकृतकर्म, स्थान, गुण, गुणनिन्दा, गुणश्लाघा, पुरुषनिन्दा, कमल, कमलनिन्दा, हंसमान, चक्रवाक, चन्दन, वट, ताल, पलाश, वडवानल, रत्नाकर, समुद्रनिन्दा, सुवर्ण, आदित्य, दीपक, प्रियोल्लास एवं वस्त्रव्यवसायी विषय वर्णित हैं।

इस काव्य पर रत्नदेव गणि ने संवत् १३९३ में संस्कृत टीका लिखी है। इसमें हेमचन्द्र और संदेशरासक के लेखक अब्दुल रहमान की गाथाएँ भी संकलित हैं। इसका रचनाकाल चौथी शती होना चाहिए। अतः स्पष्ट है कि हेमचन्द्र और अब्दुल रहमान की गाथाएँ जयवल्लभ द्वारा संग्रहीत नहीं हैं। हमारा अनुमान है कि टीकाकार ने इन गाथाओं को पीछे से जोड़ दिया है। ग्रन्थ की विषय सामग्री का आन्तरिक परीक्षण करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस काव्य का संकलन जयवल्लभ के पीछे भी होता रहा है। टीकाकार रत्नदेव गणि ने भी इसके कलेवर की वृद्धि में सहयोग दिया है।

वज्जालग्ग में जीवन के जितने क्षेत्रों की अनुभूतियाँ समाविष्ट हैं, गाथासप्तशती में नहीं। इस काव्य की गाथाएँ पाठकों को केवल श्रृङ्गार के घेरे में न रखकर सच्ची मानवता के प्रसार का सन्देश देती है। मानव जीवन में श्रृङ्गार का महत्व तो सर्वमान्य ही है,

पर उसके साथ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि शृङ्गार मनुष्य को 'स्व' तक ही सीमित कर देता है और वह लोक जीवन से हटाकर व्यक्ति को एकान्त कक्ष की ओर जाने को बाध्य करता है। जो कविता व्यक्ति की ऐकान्तिकता को दूर कर उसे लोकजीवन के बीच जाने की मंगलमयी प्रेरणा देती है, वही ऊँची कविता है। उसी का जीवन से गहरा सम्बन्ध है। व्यक्तिहित वा वैयक्तिक सुख से सामाजिक या सामूहिक सुख उत्तम है। जो काव्य मानव को लोक-मंगल की ओर प्रेरित करे श्रेष्ठ काव्य कहलाने का अधिकारी है। भारतीय संस्कृति समूह के हित का विधान करती है, केवल व्यक्ति के हित का नहीं, अतएव इस काव्य में लोकसंग्रह की भावना अन्तर्निहित है। इस दृष्टि से यह गाथासप्तशती की अपेक्षा श्रेष्ठ है। लोकमंगल का आधान इसके द्वारा होता है। यहाँ एक दो वज्जा का सारांश देकर उत्तम काव्य के महत्त्व को सिद्ध करने की चेष्टा की जायगी।

सज्जणवज्जा के आरम्भ में कवि आश्चर्य प्रकट करता है कि समुद्र-मन्थन से चन्द्रमा, कल्पवृक्ष और लक्ष्मी की उत्पत्ति हुई है; पर इनसे भी बढ़कर सुन्दर एवं सुखद इस सज्जन की उत्पत्ति कहाँ से हुई है, यह नहीं कहा जा सकता। सज्जन व्यक्ति का स्वभाव शुद्ध होता है। दुर्जन व्यक्ति यदि सज्जन को मलिन भी करना चाहे तो वह मलिन नहीं होता, बल्कि क्षार या राख से मले दर्पण के समान और अधिक चमकने लगता है। सज्जन कभी क्रोधित नहीं होता और यदि क्रोधित भी हुआ तो पाप करने की बात नहीं सोचता है। यदि कदाचित् सोच भी लेता है तो उसे कहता नहीं और कह भी देता है तो लज्जित हो जाता है। क्रोध करने पर भी व्यक्ति अपने मुख से कटु भाषण नहीं करता। जिस प्रकार चन्द्रमा राहु के मुख में जाने पर भी अमृत की वर्षा करता है, उसी प्रकार पीड़ा दिये जाने पर भी सज्जन व्यक्ति अन्य लोगों को सुख पहुँचाता है। सज्जन व्यक्ति देखते ही दूसरों के दुःख को दूर करता है और उसके वचनमात्र से भी सभी प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं। विधाता ने इस संसार में समस्त सुखों के सारभूत सज्जन का निर्माण किया है। सज्जन न तो किसी की हँसी उड़ाता है और न अपनी आत्मश्लाघा करता है, यह तो सज्जन का स्वभाव है। संसार में उपकार करने या न करने पर उपकार करने वाले दिखलायी पड़ते हैं किन्तु बुराई करने पर जो हित साधन करें, ऐसे सज्जन व्यक्ति इस संसार में दुर्लभ हैं।

सामान्यतः मनुष्य का स्वभाव है कि प्रिय उपकार करने वाले व्यक्ति का वह प्रिय-उपकार करता है, पर सज्जन का यह स्वभाव है कि अप्रिय करने वाले का भी प्रिय साधन करता है। सज्जन कठोर नहीं बोलता, अतः कवि कहता है कि पता नहीं सज्जन का स्वभाव किसके समान है। सज्जन किसी का अपकार करना नहीं चाहता

है, वह नित्य उपकार करने की इच्छा करता है। दूसरों के द्वारा अपराध किये जाने पर भी वह क्रोधित नहीं होता। सज्जन व्यक्ति के अधिक गुणों की क्या प्रशंसा की जाय, उसके दो गुणों का उल्लेख करना ही पर्याप्त है। उसका क्रोध बिजली की चमक के समान अस्थिर और मित्रता पत्थर रेखा के समान स्थायी होती है। अब कलियुगरूपी मदोन्मत्त गजराज को गर्जना करने का समय नहीं है, क्योंकि इस समय सज्जन पुरुष-रूपी सिंह शावक के चरणों से भूमि अंकित हो गयी है। दोनों का उद्धार करना, शरणागत की रक्षा करना और अपराधी के अपराध को क्षमा करना केवल सज्जन ही जानते हैं। दो व्यक्ति ही इस पृथ्वी को धारण किये हुए हैं अथवा वे ही दो इस पृथ्वी को धारण करने में समर्थ हैं। प्रथम वह व्यक्ति है, जिसकी बुद्धि उपकार करने में प्रवृत्त है और दूसरा वह व्यक्ति है जो दूसरे व्यक्ति के किये हुए उपकार का स्मरण रखता है। दुःख या विपत्ति के आने पर भी सज्जन व्यक्ति बदलता नहीं, वह पाषण रेखा के समान सदा अटल रहता है। प्रलयकाल में पर्वत विचलित हो जाते हैं, समुद्र भी अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर देता है, पर सज्जन व्यक्ति उस समय भी स्वीकार की गयी प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ता। चन्दन वृक्ष के समान फल रहित होने पर भी सज्जन व्यक्ति अपने शरीर द्वारा परोपकार करते हैं।

संस्कृत साहित्य में भी सज्जनों के स्वभाव एवं गुणों की प्रशंसा की गयी है। पर इतना उत्कृष्ट और स्वच्छ निरूपण भर्तृहरि या अन्य किसी कवि ने नहीं किया है।

इसी प्रकार कवि ने आदर्श गृहिणी का बहुत ही हृदयस्पर्शी चित्रण प्रस्तुत किया है। कवि कहता है—

भुज्जइ भुज्जियसेसं सुप्पइ सुप्पम्मि परियणे सयले।
पढमं चेय बिबुज्झइ घरस्स लच्छी न सा घरणि ॥ ४५५ ॥
दुग्गय घरम्मि घरिणी रक्खन्ती आउलत्तणं पइणो।
पुच्छिमदोहलसद्धा उदययं चिय दोहलं कहइ ॥ ४५७ ॥
पत्ते पियपाहुणए मंगलवलयाइ विक्किणन्तीए।
दुग्गयघरिणी कुलवालियाए रोवाविओ गामो ॥ ४५८ ॥
बंधवमरणे विहहा दुग्गयघरिणीए वि न तहा रुणं।
अप्पत्त बलिविलक्खे वल्लहकाए समूड्डीणे ॥ ४५९ ॥

सुघरिणीवज्जा

पूरे परिवार के भोजन कर लेने पर जो कुछ बच जाता है, उसे ही खाकर सन्तुष्ट रहती है, समस्त कुटुम्बियों के सो जाने के अनन्तर सोती है और प्रातःकाल सबसे पहले जाग जाती है, ऐसी स्त्री गृहिणी नहीं, गृहलक्ष्मी होती हैं।

गरीब के घर की गृहिणी अपने पति की चिन्ता से रक्षा करती हैं, गर्भ की दशा

में जब पति उसकी इच्छा को जानना चाहता है कि उसे किस वस्तु के खाने का दोहद है तो वह केवल पानी की इच्छा प्रकट करती है।

गरीब घर की गृहिणी के यहाँ कोई अत्यन्त प्रिय अतिथि आ गया, घर में उसको भोजन करने योग्य अन्न नहीं है, इस स्थिति में वह अपने घर की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए अपना मंगलकंकण—विवाह के समय सौभाग्य-चिह्न के रूप में प्राप्त कंकण को भी बेचकर भोजन सामग्री का प्रबन्ध करती है। उसकी यह विवशता सारे गाँव को रुला देती है।

प्रोषितपतिका के घर की छत पर एक कौवा आ बैठा। पर उस गरीब के घर एक रोटी का टुकड़ा नहीं था, जिसे शकुन बताने वाले कौवे को वह दे। इस बेचैनी या विह्वलता की स्थिति के कारण वह इतना रोई, जितना वह बान्धव के मरने पर भी नहीं रोई थी।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त गाथाओं में नारी के उस उज्ज्वल चरित्र का अंकन किया गया है, जो भारतीय नारी का सनातन आदर्श है। भारतीय नारी देवी के समान पूजनीया मानी गयी है; इन गाथाओं में उसके सच्चे रूप का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत किया गया है। देश निर्माण के लिए इस प्रकार की कविताएँ, जिनमें त्याग, सेवा एवं परोपकार की वृत्ति अन्तर्हित है, बड़ी उपयोगी है। धनहीन परिवार का निम्न चित्र द्रष्टव्य है।

संकुयइ संकुयंते वियसइ वियसन्तयम्मि सूरम्मि।
सिसिरे रोरकुडुम्ब पंकयलीलं समुव्वहइ ॥ १४६ ॥

दरिद्दवज्जा

उपर्युक्त पद्य में कवि ने एक दरिद्र परिवार की दयनीय स्थिति का सुन्दर और सहानुभूतिपूर्ण चित्रण किया है। कवि कहता है कि सूर्य के संकुचित होने पर संकुचित हो जाता है और उसके विकसित होने पर—उदित होने पर विकसित हो जाता है, शिशिर ऋतु में दरिद्र परिवार कमल का आचरण ग्रहण कर लेता है। आशय यह है कि सूर्य के डूबने पर सारा परिवार ठिठुर कर सिकुड़ा रहता है और उसके निकलते ही धूप में लोग बैठकर ठंडक मिटाते हैं।

दरिद्रता का वर्णन करते हुए कवि ने निम्न गाथा में बहुत ही सुन्दर हृदयग्राह्य तथ्य की ओर संकेत किया है।

दारिद्दय तुज्झ नमो जस्स पसाएण एरिसी रिद्धी।
पेच्छामि सयललोए ते मह लोया न पेच्छन्ति ॥ १३९ ॥

दरिद्दवज्जा

हे दरिद्रता तुझे नमस्कार करता हूँ, क्योंकि तुम्हारी कृपा से मुझे ऐसी ऋद्धि प्राप्त हो गयी है कि मैं तो सब लोगों को देख लेता हूँ, किन्तु मुझे कोई भी नहीं देखता।

कवि ने उक्त गाथा में मर्मभेदी तथ्य को गिने-चुने शब्दों में रख दिया है। इस प्रकार वज्जालग्गं का विषय केवल शृंगार नहीं है। उसमें जीवन के सभी मार्मिक पक्षों का उद्घाटन किया है।

वज्जालग्गं का परवर्ती काव्यों पर प्रभाव—जिस प्रकार गाथासप्तशती का प्रभाव हिन्दी के महाकवि बिहारी, संस्कृत के गोवर्धनाचार्य, अमरुक प्रभृति पर पड़ा, उसी प्रकार वज्जलग्गं का प्रभाव आचार्य भामह, भर्तृहरि तथा हिन्दी के महाकवि तुलसीदास, रहीम, बिहारी प्रभृति कवियों पर पड़ा है। यहाँ तुलना के लिए कुछ पद्य प्रस्तुत किये जाते हैं—

छप्पय गमेसु कालं आसवकुसुमाइ ताव मा मुयसु।
यन्न जियन्तो पेच्छति पउरा रिद्धी वसंतस्स ॥ २४४ ॥

इन्दिन्दिरवज्जा

पण्डितराज जगन्नाथ ने यही उपदेश कोकिल को देते हुए लिखा है—

तावत्कोकिल विरसान् यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन्।
यावन्मिलदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति ॥ ७ ॥

भामिनीविलास

हे कोकिल! तब तक इस नीरस दिनों को वन के भीतर छिपकर चुपचाप काट ले, जब तक भौरों से घिरा हुआ कोई आम का वृक्ष खिल न जाय।

वज्जालग्गं का कवि जो बात भौंरे से कहता है, वही बात पण्डितराज कोयल से कहते हैं।

दूरयरदेस परिस-ठियस्स पियसंगमं महंतस्स।
आशाबंधो च्चिय मा-णसस्स अवलम्बए जीवं ॥ ७८६ ॥

पियोल्लासवज्जा

प्रियतम के दूर देश चले जाने पर वियोग के कठिन समय में मनुष्य के प्राणों की रक्षा आशा का बन्धन ही करता है।

कविकुल गुरु कालिदास ने भी मेघदूत में इस तथ्य को निम्न प्रकार अभिव्यक्त किया है—

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां।
सद्यःपाति प्रणयि-हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥ ९ ॥

पूर्वमेघ श्लो० ९

प्रायः स्त्रियों के कुसुम के समान शीघ्र ही मुरझा जानेवाले प्रेमी हृदय को वियोग में आशाबन्ध ही सुरक्षित रख पाता है।

इस संग्रह की गाथाएँ पुरातन हैं, अतः सम्भव है कि महाकवि कालिदास ने उस प्राकृत गाथा से भावचयन किया हो।

सद्दावसद्दभीरू पए पए किंपि चिंतंतो।
दुक्खेहि कहवि पावइ चोरो अत्थं कई कव्वं ॥ २३ ॥

कव्वज्जा

शब्द और और अपशब्द से डरने वाला, पद-पद पर कुछ कुछ सोचता हुआ बड़े दुःख से चोर धन को और कवि काव्य को पाता है। उक्त अर्थ की समता करनेवाला हिन्दी का निम्न दोहा प्रसिद्ध है—

चरन धरत चिन्ता करत, चहत न नेकहु सोर।
सुवरन को खोजत फिरत, कवि व्यभिचारी चोर ॥

अन्य गाथा की तुलना कबीर के साथ की जा सकती है—

छायारहियस्स निरा-सयस्स दूरवरदावियफलस्स।
सोसेहि समा जा का वि तुंगिया तुज्झरे ताल ॥ ७३७ ॥

तालवज्जा

हे ताड़ के पेड़! छाया-हीनता, आश्रयत्वहीनता और बहुत ऊँचांई पर दृष्टि आनेवाली फलवत्ता, इतने दुर्गुणों के साथ रहकर तेरी ऊँचाई भला किस काम की है।

कबीर की साखी से तुलना—

बड़ा भया तो क्या भया, जैसे पेड़ खजूर।
पक्षी को छाया नहीं फल लागै अति दूर ॥

तुलसीदास पर भी वज्जालग्गं का प्रभाव वर्तमान है। यहाँ उदाहरणार्थ केवल एक पद्य उद्धृत किया जाता है—

चिन्ता-मन्दर-मन्थाण मन्थिए वित्थरम्मि अत्थाहे।
उप्पज्जन्ति कई-हियय-सायरे कव्व रयणाइं ॥ १९ ॥

कव्ववज्जा—

चिन्ता के मन्दराचल की मथानी से मथने पर विस्तृत एवं अथाह कवि हृदयरूपी सिन्धु से काव्य-रत्न निकलते हैं।

पेमु अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गंभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिन्धु रघुवीर ॥

रा० च० मा० अयो० का० दो० २३८

विषमबाणलीला

विषम बाणलीला का उल्लेख आनन्दवर्धन ने किया है। उन्होंने अपने ध्वन्यालोक में इस कृति का उल्लेख करते हुए इसकी एक प्राकृत गाथा उद्धृत की है। आचार्य हेमचन्द्र ने कायानुशासन की अलंकार चूड़ामणि (१–२४ पृ० ८१) में मधुमय विजय के साथ

विषमवाणलीला का भी उल्लेख किया है। यह प्रकृति भी एक मुक्तक काव्य प्रतीत होती है। कविता की शैली निम्न प्रकार है—

तं ताण सिरिसहोअररयणा हरणम्मि हिअयमिक्करसं।
बिंबाहरे पिआणं निवेसियं कुसुमबाणेण॥

प्राकृत पुष्करिणी[1]

श्री डा० जगदीशचन्द्र जैन ने अलंकार ग्रन्थों में उदाहरणों के रूप में प्रयुक्त गाथाओं का संकलन प्राकृत पुष्करिणी के नाम से किया है। अलंकार ग्रन्थों में जितने उदाहरण आये हैं, वे सभी एक से एक सुन्दर और सरस हैं। प्रत्येक पद्य अपने पीछे प्रबन्ध की परम्परा लिए हुए हैं। अतः इन मुक्तक पद्यों का अपूर्व सौन्दर्य है। प्रायः ये सभी पद्य शृङ्गार रस के हैं। यहाँ एकाध उदाहरण उपस्थित किया जाता है—

अइपिहुलं जलकुम्भं घेत्तुण समागदम्हि सहि ! तुरिअम्।
समसेअसलिलणीसासणींसहा वीसमामि खणम्॥

—काव्य० प्र० ३, १३

हे सखि ! मैं बहुत बड़ा जल का घड़ा लेकर जल्दी-जल्दी आई हूँ, इससे श्रम के कारण पसीना बहने लगा है और मेरी साँस चलने लगी है, जिसे मैं सहन नहीं कर सकती, अतएव क्षणभर के लिए मैं विश्राम कर रही हूँ। प्रस्तुत पद्य में चोरी-चोरी की गयी रति की ध्वनि व्यक्त की गया है।

अज्ज सुरअंमि पिअसहि ! तस्स त्रिलक्खत्तणं हरंतीए।
अकअत्थाए कअत्थो पिओ मए उणिअ मवऊढो॥

—शृङ्गार ४७, २२९

हे प्रिय सखि ! आज सुरत के समय उसकी लज्जा अपहरण करते हुए मुझ अकृतार्थ द्वारा कृतार्थ किया हुआ प्रियतम पुनः पुनः मेरे द्वारा आलिंगन किया गया।

अवसर राउं चिअ णिम्मिआइं मा पुससु मे हअच्छोई।
दंसणमेत्तुम्मत्तेहिं जेहिं हिअअं तुह ण णाअम्॥

—ध्वन्या० उ० ३, पृ० ३३१

हे शठ नायक ! यहाँ से दूर हो, मेरी अभागी आँखें विधाता ने रोने के लिए ही बनायी हैं, इन्हें मत पोंछ, तेरे दर्शनमात्र से उन्मत्त हुई ये आँखें तेरे हृदय को न पहचान सकी।

इस संग्रह की अधिकांश गाथाएँ गाथा सप्तशती की हैं। कुछ गाथाएँ नयी हैं। शृङ्गार रस के मर्म को समझने के लिए ये गाथाएँ उपयोगी हैं।

---

१. चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १ द्वारा प्रकाशित।

प्राकृत के रसेतर मुक्तक

रसेतर मुक्तक काव्य दो रूपों में मिलते हैं—नैतिक और आचार मूलक काव्य तथा स्तोत्र काव्य। नैतिक और आचार मूलक मुक्तक काव्यों में गौरवमय जीवन व्यतीत करने के हेतु शरीर की क्षणभंगुरता, सत्यभाषण, शम, दम, विवेक, विद्वत्ता, विद्या का महत्त्व, मनस्विता, तेजस्विता, धर्म, भक्ति, विनय, क्षमा, दया, उदारता, शील, सन्तोष प्रभृति गुणों की उपादेयता पर प्रकाश डालने के साथ-साथ आत्मोत्थान के निमित्त गुणस्थान जैसे जीवनमार्गों का भी विवेचन किया गया है। इन काव्यों में काम, क्रोध, लोभ, मोह, छल-कपट, अहंकार, मात्सर्य, कार्पण्य की भर्त्सना और उनके दोषों का कथन भी वर्तमान हैं। प्राकृत-भाषा के कवियों ने मानव को आदर्श की ओर प्रवृत्त करने के लिए गर्भवास, विभिन्न गतियों के दुःख, सांसारिक आताप, मृत्यु की अनिवार्यता का उल्लेख किया है। यौवन सुलभ दोषों को दिखलाते हुए तारुण्य तथा निर्बलता का अनादर व्यक्त किया है। संक्षेप में प्राकृत-साहित्य में निबद्ध-रसेतर मुक्तक काव्यों के विषय को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

१. प्रशस्य—तप, त्याग, वैराग्य, अहिंसा, मोहनिवृत्ति, धर्म, आत्मानुभूति, विवेक, सम्यग्ज्ञान, गुणस्थानारोह आदि।

२. निन्द्य—पाप, दुराचार, तारुण्य, कषाय, विकार, संसार-शरीरभोग, वासना, विषयासक्ति आदि।

३. मिश्रित—मार्गणा, अनुप्रेक्षा—चिन्तन प्रक्रिया, संसार सम्बन्ध, प्रभृति।

यों नीतिकाव्यों में शारीरिक, आत्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यवस्थाओं का काव्य के परिप्रेक्ष्य में निरूपण रहता है। यदि ये व्यवस्थाएँ केवल व्यवस्था का रूप ग्रहण कर लें तो निश्चयतः शास्त्रकोटि में आ जाती हैं। यद्यपि कुछ इतिहासकार शास्त्र-काव्य को भी काव्य-श्रेणी में परिगणित कर इतिहास का लेखन करते हैं, पर वस्तुतः कोरा शास्त्र काव्यत्व को प्राप्त नहीं हो सकता है। जहाँ अन्योक्तिजन्य या वर्णनसम्बन्धी कोई चमत्कार है, वहीं काव्यत्व माना जा सकता है। प्राकृत भाषा के अधिकांश रसेतर काव्य मुक्तक हैं, शास्त्र नहीं। अतएव प्रस्तुत इतिहास में उनका सामान्य निर्देश आगम साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत कर दिया गया है। प्राकृत कवियों ने उक्त नीतियों का स्फोटन निम्न प्रकार किया है—

शारीरिक नीति—शरीर की क्षणभंगुरता दिखलाने के लिए उसका चित्रण जल-बुलबुलों और प्रभात नक्षत्रों के समान किया गया है। सामान्यतः मनुष्य अपने यौवन, सौन्दर्य, शक्ति आदि के कारण दृप्त होकर अनैतिक मार्ग का अनुसरण करता है। अतएव

उसे सचेत या सावधान करने के लिए शरीर की क्षणभंगुरता और मृत्यु की अनिवार्यता का निरूपण किया गया है। विषयी जीवन में निःश्रेयस की प्राप्ति संभव नहीं है। त्याग और तप के अभाव में कल्याण का मार्ग व्यक्ति को प्राप्त नहीं हो सकता है। अतः सत्कृत्य करने के लिए प्रेरित किया है।

वाचिक नीति—हित-मित-प्रिय वाणी ही सम्बन्धों को मधुर बना सकती है। व्यक्ति और समाज का कार्य सत्यवचनों से ही चलता है। धोखा या मिथ्याभाषण करने से आत्मवञ्चना के साथ परवञ्चना भी होती है। अतएव वचन-सम्बन्धी नीतियों का विवेचन प्राकृत काव्य में पर्याप्त विस्तार के साथ पाया जाता है।

मानसिक नीति—मन का सन्तुलन जीवनोत्थान के लिए आवश्यक है। विवेक द्वारा मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। मन की अशांति शरीर और वचन को भी अशान्त बना देती है।

आत्मिक नीति—इन्द्रिय और मन का निग्रह तभी सम्भव है, जब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, मात्सर्य का त्याग किया जाय; अतः आत्मिक नीति में उक्त उपायों पर प्रकाश डाला जाता है।

सामाजिक नीति—समाज-सुधार, वर्णाश्रम-संस्कार, सामाजिक सम्बन्ध, धन-सम्पत्ति की अस्थिरता, नारीनिन्दा—वासना की निन्दा, बाह्य आडम्बरों की निस्सारता प्रभृति का विवेचन इस श्रेणी की नीतियों में किया जाता है।

प्राकृत भाषा के कवियों ने उपनिषद्, चाणक्य, भर्तृहरि प्रभृति संस्कृत के नीति-काव्यों की परम्परा का अनुसरण किया है। भारतीय वाङ्मय में नीति या सूक्तियों का प्रयोग अथर्ववेद से आरम्भ होता है। उपनिषद् काव्य में आत्मिक और मानसिक नीतियों एवं सांसारिक प्रपञ्चों की निस्सारता का निरूपण दीप्तस्वर में हुआ है। इस परम्परा का अनुसरण चाणक्य, भर्तृहरि एवं सूक्तिनिर्माता अन्य कवियों ने भी किया है। शरीर की क्षणभंगुरता और आत्मा की अमरता का स्वर उपनिषदों में उठाया गया, पर इस स्वर को व्यावहारिक रूप प्रदान करने का श्रेय नीतिकाव्य निर्माताओं को है। यहाँ धर्मशास्त्र के उपदेश को जन-जीवन में पहुँचाने का कार्य कवियों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। काव्य के मूल्य जीवन को मधुमय बनाते हैं। जीवन की गुत्थियों को सुलझाते हैं और रस के आकर्षण में वे पाठकों को तथ्य और सत्य भी उपस्थित कर देते हैं।

प्राकृत काव्यों में नीति का प्रारम्भ आगम ग्रन्थों में आयी हुई आत्मिक, मानसिक और वाचिक अभ्युत्थानों से होता है। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, मूलाचार, स्वामि-कात्तिकेयानुप्रेक्षा प्रभृति ग्रन्थ एक प्रकार से नीतिकाव्य हैं। इन काव्यों में आयी हुई नीति की बातों को यदि पृथक् कर दिया जाय तो स्वतन्त्र रूप से नीतिकाव्यों के कई संकलन प्रस्तुत किये जा सकते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के प्राभृत, पद्मनन्दि का धर्मरसायन,

अजितब्रह्मकृता कल्याणालोचना, जिनचन्द्र का सिद्धान्तसागर, वैराग्यशतक (अज्ञात कवि) और लक्ष्मीलाभ का वैराग्य रसायन प्रकरण इस श्रेणी के काव्य हैं। प्राकृत भाषा में नीति काव्यों की रचना और भी अनेक कवियों ने की है।

प्राकृत भाषा में निबद्ध नीतिकाव्यों में निम्नलिखित शैलियाँ परिलक्षित होती हैं। यद्यपि इन शैलियों का प्रयोग संस्कृत नीतिकाव्यों में भी पाया जाता है पर क्रान्तिमूलक प्राकृत काव्य ने इन शैलियों का सम्भवतः सर्वप्रथम प्रयोग किया होगा। धर्म की आचार पद्धति और आध्यात्मिक मान्यताओं का निरूपण उपनिषदों के समानान्तर प्राकृत के कवि करते आ रहे हैं। यतः विवेकहीन आचार जीवन के लिए कभी भी अभिप्रेत नहीं रहा है। गम्भीर भावों को सरल एवं जनग्राह्य बनाने के लिए प्राकृत कवियों ने अनेकान्त विचारधारा का प्रवर्तन किया और जीवनसत्यों को मधुमय काव्यवाणी में उपस्थित कर ऐहिक मनोवासनाओं को दमित करने का संकेत किया। जो प्राणी जिस स्तर का है, उसके लिए उसी स्तर के जीवन-मूल्यों का अंकन अधिक फलप्रद होता हैं। शारीरिक आवश्यकताओं की कोटि से ऊपर उठने पर ही आध्यात्मिक आवश्यकताओं की अनुभूति व्यक्ति को हो पाती है। अतः कविवर्ग जनजीवन में उतर कर आचार के नियमों का प्रणयन करता है। ये नियम ही काव्यशैली में निबद्ध रहने के कारण नीतिकाव्य की संज्ञा प्राप्त करते हैं।

(१) तथ्यनिरूपक शैली
(२) उपदेशक शैली
(३) आत्माभिव्यञ्जक शैली
(४) प्रश्नोत्तर शैली
(५) कथात्मक शैली
(६) व्याख्यात्मक शैली
(७) अन्यापदेशात्मक शैली
(८) नैतिक उपमानों की शैली

वैराग्य शतक

इस नीतिकाव्य के रचयिता का नाम एवं परिचय अज्ञात है। आद्योपान्त पढ़ जाने के अनन्तर भी रचयिता का परिचय उपलब्ध न हो सका। इस काव्य पर गुणविनय ने वि० सं० १६४७ में संस्कृत वृत्ति लिखी है। जिस प्रति के आधार पर इसका मुद्रण किया गया हैं वह कार्तिक वदी षष्ठी वि० सं० १६६३ की है।

इस शतक का नामकरण भर्तृहरि के वैराग्य शतक के आधार पर किया गया है। शृङ्गार, नीति और वैराग्य ये तीन संज्ञाएँ प्रमुख भावनाओं के आधार पर ही घटित

की गयी हैं। इन शतक में १०५ गाथाएँ हैं और वैराग्य उत्पन्न करने के हेतु शरीर यौवन और धन की अस्थिरता का चित्रण किया गया है। बताया है—

रूवमसासयमेयं विज्जुलयाचंचलं जए जीयं।
संझाणुरागसरिसं खणरमणीयं च तारुण्णं ॥ वै० श० ३६ ॥

शारीरिक सौन्दर्य रोगादि के द्वारा विकृत होने के कारण अनित्य है, जीवन विद्युत् लता के समान क्षणविध्वंसी है और यौवनसंध्याकालीन अरुणिमा के समान क्षणपर्यन्त सुन्दर प्रतीत होता है। अतएव सावधान होकर संकल्प करना चाहिए—

जं कल्ले कायव्वं तं अज्जं चिय करेह तुरमाणा।
बहुविग्घो हु मुहुत्तो मा अवरण्हं पडिक्खेह ॥ ३ ॥
ही !! संसारसहावं, चरियं नेहाणुरागरत्ता वि।
जे पुव्वण्हे दिट्ठा, ते अवरण्हे न दीसन्ति ॥ वै० श० ४

जिस काम को कल करना है, उसे आज ही कर लेना चाहिए। प्रत्येक समय में अनेक विघ्न उत्पन्न होते हैं अतः समय की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए।

इस संसार के स्वभाव और चरित को देखकर कष्ट होता है क्योंकि जो स्नेह सम्बन्धी पूर्वाह्न में दिखलाई पड़ते हैं वे ही संध्या के समय दिखलाई नहीं पड़ते हैं। अतः संसार की क्षणभङ्गुरता को जानकर आत्मोत्थान के कार्यों में विलम्ब नहीं करना चाहिए। तथा—

विहवो सज्जणसंगो, विसयसुहाइं विलासललियाइं।
नलिणीदलऽग्गघोलिर-जललवपरिचंचलं सव्वं ॥ वै० श० १४ ॥

वैभव, सज्जनसंगति, विषयसुख और सुन्दर विलास सामग्री कमलपत्ते पर संलग्न जलबिन्दु के समान क्षणस्थायी है। वायु के चलते ही जिस प्रकार कमल-पत्र के जलकण नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार धन-वैभव, माता पिता आदि स्वजनों का साथ भी बिछुड़ जाता है।

इस पद्य में प्रयुक्त कमलपत्र पर स्थित जलविन्दु की चंचलता द्वारा कवि ने धन-वैभव, कुटुम्ब, परिवार की अस्थिरता का निर्देश किया है। 'सज्जणसंगो', में भी लक्षणा से माता-पिता और परिवार का संसर्ग ग्रहण किया गया हैं।

कवि आत्मोत्थान के लिए प्रमादी व्यक्ति को सावधान करते हुए कहता है कि जो एक क्षण को भी धर्म से रहित होकर व्यतीत करता है वह बहुत बड़ी भूल कर रहा है। वह उस व्यक्ति के समान है जो घर में आग लग जाने पर भी निश्चित हो शयन करता है। यथा—

निसाविरामे परिभावयामि गेहे पलित्ते किमहं सुयामि।
डज्झंतमप्पाणमुविक्खयामि जं धम्मरहिओ दिअहे गमामि ॥ वही ३९।

इस गद्य से व्यञ्जना द्वारा यह ध्वनित हो रहा है कि कर्माग्नि से जलते हुए—कर्मोदय से नाना प्रकार के कष्टों को उठाते हुए आत्मकल्याण की अपेक्षा करना अत्यन्त अनुचित है।

माता-पिता भाई बन्धु आदि कोई भी कुटुम्बी मृत्यु से प्राणी की उस प्रकार रक्षा नहीं कर सकता है, जिस प्रकार सिंह के द्वारा पकड़े जाने पर मृग को कोई नहीं बचा पाता है—

जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं णेइ हु अंतकाले।
ण तस्स माया व पिया न भाया कालंमि तंमिऽसहरा भवंति ॥ वही ४३ ॥

मनुष्य जिन मता, पिता, स्त्री, पुरुष, पुत्र बन्धु आदि कुटुम्बियों के भरण-पोषण के हेतु धनार्जनार्थ जो पाप कर्म करता है उसके फल नरक और तिर्यञ्च योनियों में अकेले ही उसे भोगने पड़ते हैं, कोई भी व्यक्ति उसकी रक्षा करने में असमर्थ है। इस तथ्य की अभिव्यञ्जना कवि ने बहुत सुन्दर की है—

पियपुत्तमित्तघरघरणिजाय, इहलोइअ सवि नियसुहसहाय।
नवि अत्थि कोइ तुह सरणि मुक्ख! इक्कल्लु सहसि तिरिनरयदुक्ख ॥ वही ७१ ॥

इस प्रकार इस नीतिकाव्य में कवि ने वैराग्य की पुष्टि के लिए सांसारिक वस्तुओं की अस्थिरता का चित्रण किया है। काव्यकला की दृष्टि से यह ग्रन्थ अच्छा है।

वैराग्य-रसायन-प्रकरण

इस नीतिकाव्य के रचयिता लक्ष्मीलाभगणि हैं। कवि के समय, जीवन परिचय आदि के विषय में जानकारी उपलब्ध नहीं है। ग्रन्थ के अन्त में 'रइयं पगरणमयं' लच्छी लाहेण वरमुणिणा (१०२ गा०) अंकित उपलब्ध होता है। इस वैराग्यरसायन में १०२ गाथाएँ हैं। कषाय और विकारों को दूर करने के लिए उपदेश दिया गया है। कवि ने बताया है कि वैराग्य उसी व्यक्ति को प्राप्त होता है जो भवभीरु है। भवभीरुता के अभाव में वैराग्य के वचन भी विष के समान प्रतीत होते हैं। जिस साधक को अपनी आत्मा का उद्धार करना अभीष्ट है वह संसार से अनासक्त रहता है। यथा—

वेरग्ग इह हवई तस्स य जीवस्स जोहु भवभीरू।
इयरस्स पुणो वेरग्ग-रंगवयणं पि विससरिसं ॥ वैरा० १ ॥

कवि रूपक अलंकार की योजना करता हुआ कहता है कि मानव शरीर रूपी कमल के रस का पान मृत्युरूपी भ्रमर नित्य करता रहता है। अतः जिस प्रज्वलित क्रोधाग्नि में शरीर रूपी तृणकुटीर जल रहा है, उसकी शांति संवेगरूपी शीतल क्षमा जल से करनी चाहिए। शरीर रूपी गहनवन में उत्पन्न मानरूपी उन्मत्त गजेन्द्र को मृदुभावरूपी अंकुश के द्वारा वश में करना चाहिए। अत्यन्त कुटिल और आत्मपुरुषार्थ को विषाक्त बनाने

वाली माया-सर्पिणी को आर्जवरूपी महासर्प से वश करना एवं जीवन नृपति के देहश्रीरूपी घर से गुणसमूह को चुराने वाले भयंकर तृष्णाचोर को वश करना चाहिए। इस सन्दर्भ में कवि ने रूपक अलंकार का बहुत सुन्दर और उचित प्रयोग किया है। मानवीय विकारों को उनके स्वरूप और गुणों के अनुसार उपमान प्रदान किये हैं। कवि की यह उपमान योजना प्रत्येक काव्यरसिक को आकृष्ट कर लेती है। यथा—

नरखित्तदीहकमले दिसादलड्ढेवि नागनालिल्ले।
निच्चं पि कालभमरो, जणमयरदं पियइ बहुहा ॥ वही ११ ॥
कोहानलं जलंतं पज्जालंतं शरीरतिणकुडीरं।
संवेगसीयसीयल खमाजलेणं च विज्झवह ॥ वही १२ ॥
तदुगहणवणुप्पन्नं उम्मुणंतविवेयतरुमणहं।
मिउभावअंकुसेणं माणागयंदं वसीकुणह ॥ वही १३ ॥
जा अइकुडिला डसइ अप्पापुरिसं च विस्सदोहयरा।
अज्जवमहोरगेणं तं मायासप्पिणिं जिणह ॥ वही १४ ॥
सुहं देहसिरिघराओ जीवनिवइणो य गुणगणनिहाणं।
गिण्हन्तं हो! साहह, तण्हाचोरं महाघोरं ॥ वही १५ ॥

कवि रूपक अलंकार का परम धनी है। उसने चार कषायों को वृक्ष का रूपक दिया है। इस वृक्ष की हिंसा जड़ है, विषय वासना शाखाएँ हैं और जन्मजरा तथा मरणरूपी फल है। अतः जो इस वृक्ष के कटु फलों को छोड़ना चाहता है उसे इसको जड़ से उखाड़ कर फेंक देना चाहिए। यथा—

चउव्विहकसायरुक्खो हिंसादढमूलविसयबहुसाहो।
जम्मजरामरणफलो उन्मूलेयव्वो य मूलाओ ॥ वही १८ ॥

कवि वैराग्य को पद्म सरोवर का रूपक देकर कहता है कि इसमें आगमरूपी जल-भरा है, इसमें करुणारूपी कमलकर्णिका है और इस सरोवर में क्रीड़ा करनेवाले बारह भावनारूपी हंस हैं। इस वैराग्य सरोवर में साधक को स्नान कर अपने को पवित्र बनाना चाहिए। यथा—

करुणाकमलाइन्ने आगमउज्जलजलेण पडिपुन्ने।
बारस भवणहंसे, झीलह वेरग्गपउमदहे ॥ वही २० ॥

इस गाथा में 'झीलह' क्रियापद भाषा की दृष्टि से विचारणीय है। यह देशी रूप है। 'झील' एक बड़े सरोवर का वाचक है, इसका व्यवहार देशी भाषाओं में होता है। अज्ञा अर्थ में 'स्नान करो', भाव को व्यक्त करने के लिए 'झीलह' क्रियापद का व्यवहार किया गया है। झील धातुरूप में व्यवहृत होने पर स्नान के अर्थ में आता है। अतः

कवि ने इस क्रिया के प्रयोग द्वारा सरोवर की विशालता, गहनता, रम्यता एवं सरसता इन चारों गुणों की अभिव्यञ्जना एक साथ कर दी है।

कवि उपमा अलंकार की योजना द्वारा बतलाया है कि यह प्राणी भोगों की आसक्ति में ही अपने समय को व्यतीत कर देता है, पर उनको छोड़ता नहीं। पर वे भोग पुरुष को उस प्रकार छोड़कर चले जाते हैं जिस प्रकार फल नष्ट हो जाने पर पक्षी वृक्ष का त्याग कर देते हैं। साधारणतः देखा जाता है कि जब तक वृक्ष पर पक्व मधुर फल रहते हैं जब तक पक्षी उस पर निवास करते हैं। पर जैसे ही ऋतु की समाप्ति होते ही फल नष्ट हो जाते हैं, पक्षी उसे छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं। इसी प्रकार संसार के ये भोग भी यौवन अवस्था रहने पर भोगे जाते हैं। शक्ति या पुरुषार्थ के क्षीण होते ही भोग-विलास व्यक्ति का त्याग कर देते हैं। कवि ने इस तथ्य को बहुत ही सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। यथा—

अच्चेइ कालो य तरंति राइओ, नयावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयंति, दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥ वही ६२ ॥

कवि समाधि इच्छुक विरक्त श्रमण की भावना का विश्लेषण करता हुआ कहता है कि शुद्ध और सात्विक भोजन की इच्छा करे अर्थात् आहार इस प्रकार का हो जो किसी भी प्रकार की विकार-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन न दे तथा जिसके सेवन से आत्मध्यान और इन्द्रियसंयम के पुरुषार्थ में बाधा उत्पन्न न हो। संगति या सहायता इस प्रकार की प्राप्त होनी चाहिए जिससे विवेक जागृत हो। घर इस प्रकार के स्थान और वातावरण से युक्त हो जिससे विवेक बराबर बना रहे और अविषयों में प्रवृति न हो। यथा—

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं, साहायमिच्छे निउणट्ठबुद्धि।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजुग्गं समाहिकामो समणो विरत्तो ॥ वही ७५ ॥

कवि जीवन को सुखी बनाने का नुस्खा आकिंचन को ही मानता है। अतः वह कहता है कि दुःख के नष्ट होने से मोह नष्ट हो जाता है, मोह के नष्ट होने से तृष्णा, तृष्णा के नष्ट होने से लोभ और लोभ के नष्ट होने से सभी प्रकार के भय-विवाद नष्ट हो जाते हैं। यथा—

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइ ॥ वही ७९ ॥

जिस प्रकार वन में दावाग्नि के लगने पर प्रचुर परिमाण में सूखे ईंधन के मिलने से शान्त नहीं होती। उसी प्रकार सरस और स्वादिष्ट भोजन करने से पञ्चेन्द्रिय की अग्नि के वृद्धिगत होने से अब्रह्म की भावना अन्त नहीं होती। यथा—

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ।
पंचिंदियग्गीवि पगामभोइणो, न बंभयारिस्स हिआय कस्सइ ॥ वही ८१ ॥

पञ्चेन्द्रियों के विषय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द की आसक्ति के सम्बन्ध में कवि आसक्ति के त्याग का निरूपण करता है। यथा—

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ सो विणासं।
रागाउरो सो जहवा पयंगो, अलोयलोलो समुवेइ मच्चुं ॥ ८६ ॥

सद्देसु जो गिद्धीमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ सो विणासं।
रागाउरो सो हरिणुव्व गिद्धो सद्दे अतित्तो समुवेइ मच्चुं ॥ वही ८७ ॥

इस प्रकार कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा रूपक, यथा-संख्य आदि अलंकारों का प्रयोग कर इस धर्ममूलक काव्य को उच्चता प्रदान की है। उपदेशक और तथ्यनिरूपक शैली के प्रयोग के साथ नैतिक उपमानों की कवि ने झड़ी लगा दी है। तथ्य—प्रतिपादन के साथ अन्यापदेशिक शैली का भी व्यवहार किया है। यह नीतिकाव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। अनेक स्थानों पर संकेत रूप में विषय सेवन के त्याग का निरूपण किया है। भाव, भाषा, अलंकार, गुण आदि की दृष्टि से भी यह अच्छा काव्य है।

धम्मरसायण

प्रस्तुत धम्मरसायण—धर्म रसायन ग्रन्थ के रचयिता पद्मनन्दि मुनि हैं। ग्रन्थ के अन्त में कवि का नाम आया है।[1] प्राकृत और संस्कृत कवियों में इस नाम के कई कवि और आचार्य हुए हैं, अतः यह कह सकना सम्भव नहीं कि इस ग्रन्थ के रचयिता कौन पद्मनन्दि हैं? जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के कर्ता और पद्मनन्दी पञ्चविंशतिका के कर्त्ता पद्मनन्दि से ये भिन्न हैं अथवा उन्हीं में से हैं। पद्मप्रभदेव के पार्श्वनाथ स्तोत्र में भी एक पद्मनन्दि का नाम आया है, ये[2] यहाँ पर तर्क, व्याकरण, नाटक, काव्य आदि में प्रसिद्ध बतलाये गये हैं। निश्चित प्रमाणों के अभाव में रचयिता के विषय में यथार्थ प्रकाश डालना कठिन है।

इस काव्य ग्रन्थ में १९३ गाथाएँ हैं। धर्मरसायन नाम के मुक्तक काव्य प्राकृत भाषा के कवियों ने एकाध और भी लिखे हैं। इस नाम का आशय यही रहा है कि जिन मुक्तकों में

---

१. भवियाण बोहणत्थं इय धम्मरसायणं समासेण।
वरपउमणंदिमुणिया रइयं जमणियमजुत्तेण ॥

धम्मरसायण—

सिद्धान्तसारादि के अन्तर्गत मा० दि० जैन ग्र० बम्बई सं० १९०९ गाथा १९३

२. तर्के व्याकरणे च नाटकचये काव्याकुले कौशले।
विख्यातो भुवि पद्मनन्दिमुनिपस्तत्त्वस्थकोषंनिधिः ॥

—पार्श्वनाथ स्तोत्र, सिद्धान्त० पृ० १६२, पद्य ९

संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होने के साथ आचार और नैतिक नियमों को चर्चित किया जाता है, इस प्रकार की रचनाएँ धर्मरसायन के अन्तर्गत आती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ का भी मूल वर्ण्य-विषय यही है। यद्यपि इस ग्रन्थ में काव्यतत्त्व की अपेक्षा धर्मतत्त्व ही मुखरित हो रहा है तो भी जीवन के शाश्वतिक नियमों की दृष्टि से इसका पर्याप्त मूल्य है। नैतिक काव्य के प्रायः सभी गुण इसमें वर्तमान हैं। कवि धर्म को त्रिलोक का बन्धु बतलाता हुआ कहता है कि इसकी सत्ता से ही व्यक्ति पूजनीय त्रिभुवन प्रसिद्ध एवं मान्य होता है।—

धम्मो तिलोयबंधू धम्मो सरणं हवे तिहुयजस्स।
धम्मेण पूयणीओ होइ णरो सव्वलोयस्स ॥ धम्म० ३ ॥

आगे धर्म के प्रभाव से सुकुल, धन-वैभव, दिव्यरूप, आरोग्य, जय, कीर्ति, श्रेष्ठ भवन, वाहन, शय्या, आसन, भोजन, सुन्दरी पत्नी, वस्त्राभूषण आदि समस्त लौकिक सुख साधनों की प्राप्ति का कथन करता हुआ कहता है—

धम्मेण कुलं विउलं धम्मेण य दिव्वरूवमारोग्गं।
धम्मेण जए कित्ती धम्मेण होइ सोहग्गं ॥ ४ ॥
परभवणजाणवाहणसयणासणयाणभोयणाणं च।
परजुवइवत्थुभूसण संपत्ती होइ धम्मेण ॥ वही ५ ॥

कवि इस धर्मरसायन को सामान्यतया वर्णित करता हुआ रसभेद से उसकी भिन्नता उपमा द्वारा सिद्ध करता है। यथा—

खीराइं जहा लोए सरिसाइं हवंति वण्णणामेण।
रसभेएण य ताइं पि णाणागुणदोसजुत्ताइं ॥ वही ९ ॥
काइं वि खीराइं जए हवंति दुक्खावहाणि जीवाणं।
काइं वि तुट्ठि पुट्ठि करंति वरवण्णमारोग्गं ॥ वही १० ॥

जिस प्रकार वर्णमात्र से सभी दूध समान होते हैं पर स्वाद और गुण की दृष्टि से भिन्नता होती है, उसी प्रकार सभी धर्म समान होते हैं पर उनके फल भिन्न-भिन्न होते हैं। आक-मदार या अन्य प्रकार के दूध के सेवन से व्याधि उत्पन्न हो जाती है पर गो-दुग्ध के सेवन से आरोग्य और पुष्टिलाभ होता है। इसी प्रकार अहिंसा धर्म के आचरण से शान्तिलाभ होता है पर हिंसा के व्यवहार से अशान्ति और कष्ट प्राप्त होता है।

कवि ने चारों गतियों के प्राणियों को प्राप्त होनेवाले दुःखों का मार्मिक विवेचन किया है। मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी और देव इनको अपनी-अपनी योनियों में पर्याप्त कष्ट होता है। जिसे इन कष्टों से मुक्ति प्राप्त करने की आवश्यकता है वह धर्म रसायन का सेवन करे। कवि ने इसमें वीतरागी और सरागी देवों की भी परीक्षा की है तथा बतलाया है कि जिसे अपने हृदय को रागद्वेष से मुक्त करना है उसे वीतरागता का आचरण

करना चाहिए। कवि बतलाता है कि जो विषयवासना के अधीन हो जाता है और कामाग्नि से पीड़ित हो हमारे ही समान नाना प्रकार के दुराचार करता है; उसे परमात्मा नहीं कहा जा सकता। यथा—

कामाग्गितत्तचित्तो इच्छयमाणो तिलोयमारूवं।
जो रिच्छी भत्तारो जादो सो किं होइ परमप्पो॥ वही १०४॥

सम्यक्त्व में सलिल का आरोप कर रूपकालंकार द्वारा कर्म बालुका के बन्धाभाव का निर्देश करते हुए कहा है—

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हिययम्मि पवट्टए जस्स।
कम्मं वालुयवरणं तस्स बंधो च्चिय ण एइ॥ वही १४०॥

कवि ने कर्म में वन का और तप में अग्नि का आरोप कर प्राप्त होने वाले सिद्धसुख का वर्णन किया है। यथा—

डहिऊण य कम्मवणं उग्गेण तवाणलेण णिस्सेसं।
आपुण्णभवं अणंतं सिद्धिसुहं पावए जीओ॥ वही १८१॥

इस प्रकार कवि की इस रचना में जहाँ तहाँ काव्य चमत्कार भी पाया जाता है।

धार्मिक स्तोत्र

धार्मिक मुक्तक परम्परा का मूलस्रोत ऋग्वेद में समुपलब्ध होता है। ऋग्वेद में दोनों प्रकार के मुक्तक वर्तमान हैं—स्तोत्ररूप में और सिद्धान्त प्रतिपादन रूप में। धार्मिक जगत् में यह परम्परा सदा से अपना अधिकार बनाये चली आ रही है।

प्राकृत साहित्य में भी तीर्थंकरों, मुनियों, गुरुओं और वाङ्मय की भक्ति में स्तोत्रों की रचना हुई है। इन स्तोत्रों में आराध्यों की प्रशंसा के साथ दार्शनिक विचारों की महत्ता भी प्रदर्शित की गयी है। अधिकांश प्राकृत स्तोत्र सांसारिक सुखभोगों की कामना से नहीं लिखे गये हैं। प्राकृत के कवियों ने आध्यात्मिक तत्त्व की प्राप्ति हेतु स्तोत्रों का प्रणयन किया है। इसमें सन्देह नहीं कि प्राकृत स्तोत्रों में कुछ ही ऐसे स्तोत्र हैं, जो सांसारिक कामना से लिखे गये हैं। भक्ति-विभोर होकर आत्म-समर्पण की प्रवृत्ति भारतीय साहित्य में प्राचीनकाल से ही चली आ रही है। प्राकृत के कवियों को ऋग्वेद की स्तोत्र साहित्य सम्बन्धी भावभूमि के साथ जैनागम में वर्णित तीर्थङ्करों के शुद्ध आध्यात्मिक रूप, उनकी वीतरागता, विशेष चमत्कार एवं अलौकिक शक्तियों के चमत्कार विरासत के रूप में उपलब्ध हुए थे, फलतः प्राकृत कवियों ने अपने हृदय की मधुर रागात्मक वृत्तियों को स्तोत्रों के रूप में प्रकट किया। प्राकृत स्तोत्रों में निम्नलिखित काव्य के तत्त्व पाये जाते हैं—

१. रागतत्त्व—कवियों ने आराध्य की विभिन्न शक्तियों का निरूपण करने के हेतु हृदय के राग-भाव की पूर्ण अभिव्यञ्जना की हैं।

२. आराध्य के शुद्ध स्वरूप—आत्मारूप की अभिव्यक्ति की गयी है।

३. कल्पनातत्त्व—आराध्य के स्वरूप का सर्वाङ्गीण विवेचन करने के लिए बुद्धितत्त्व का उपयोग किया है। जो सिद्धान्त बड़े-बड़े ग्रन्थों में वर्णित किये गये हैं, उन सिद्धान्तों को एकाध पद्य में ही निरूपित करने की समास शैली का आयोजन किया है।

कुछ स्तोत्रों का इतिवृत्त प्रस्तुत किया जाता है।

ऋषभ पञ्चासिका[1]

शोभन कवि के भाई धनपाल द्वारा रचित ५० पद्यों की प्राकृत स्तुति है। कवि का समय लगभग दशवीं शताब्दी है। इस स्तोत्र के प्रारम्भ में ऋषभदेव की जीवन घटनाओं पर प्रकाश डाला गया है और अन्तिम भाग में उनकी प्रशंसा की गयी है। बताया गया है कि "आप चिन्ता द्वारा भी प्राप्त न किये जा सकने वाले मोक्षफल को देनेवाले अपूर्व कल्पवृक्ष हैं। जब आपका जन्म हो गया, तब मानो लज्जित होकर कल्पवृक्ष मृत्युलोक को छोड़कर कहीं जा छिपा।" इसी प्रकार जहाँ ऋषभदेव का जन्माभिषेक हुआ तथा जहाँ उन्होंने शिव निर्माण सम्पत्ति प्राप्त की, वे दोनों पर्वतकुलों में मूर्धन्य हैं। जो लोग ऋषभदेव के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध नहीं होते, वे या तो केवली है या हृदयहीन। यथा—

तुह रूवं पेच्छन्ता न हुन्ति जे नाह हरिसपडिहत्था।
समणावि गयमणच्चिअ ते केवलिणो जइ न हुन्ति॥ २१॥

आगे कवि कहता है कि हे प्रभो! आप जैसे वीतरागी की निन्दा वचनप्रवीण चतुर व्यक्ति भी करे, तो वह भी मूर्ख बन जाता है। आपके श्रेष्ठ वीतरागी गुण सभी सरागियों को वीतरागी बनाने का सामर्थ्य रखते हैं। यथा—

दोसरहिअस्स तुह जिण निन्दावसरम्मि भग्गपसराए।
वायाइ वयणकुसला वि बालिसा हुन्ति मच्छरिणो॥ २३॥

कवि ने भगवान् ऋषभदेव के विभिन्न गुणों का विवेचन करते हुए बताया है कि प्रभो! आपके वचन कर्णकुहरों में प्रविष्ट होकर मिथ्यात्व, विषय और कषाय का नाश मन्त्र की शक्ति के समान कर देते हैं। जिस प्रकार कोई साधक मन्त्र का जाप कर अपनी कामनाओं की पूर्ति करता है, उसी प्रकार आपका वचन समस्त दोषों का विनाश कर मोक्ष प्राप्ति में सहायक होता है।

मित्थत्तविसयसुत्ता सचेयणा जिण न हुन्ति किं जीवा।
कन्नम्मि कमइ जइ कित्तिअं पि तुह वयणमन्तस्स॥ ३८॥

१. काव्यमाला के सप्तम गुच्छक में प्रकाशित—सन् १९२६

अन्त में कवि भव-भ्रमण के भय को दूर करने की प्रार्थना करता हुआ कहता है—

भमिओ कालमणंतं भवम्मि भीओ न नाह दुक्खाणम् ।
दिट्ठे तुमम्मि संपइ जायं च भयं पलायं च ॥ ४८ ॥

इस प्रकार विभिन्न पहलुओं द्वारा कवि धनपाल ने भगवान् ऋषभदेव की स्तुति की है ।

उवसग्गहर स्तोत्र[1]

उपसर्गहर स्तोत्र महत्वपूर्ण माना जाता है । इस स्तोत्र में २० गाथाएँ हैं । इनके रचयिता भद्रबाहु स्वामी माने गये हैं । यह स्तोत्र इतना लोकप्रिय रहा है, जिससे इसकी समस्यापूर्ति कर तेजसागर ने पृथक् पार्श्वनाथ स्तोत्र की रचना की है । इस स्तोत्र के सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि है कि जो व्यक्ति इसकी आराधना करता है, उसके समस्त दुःख-दोष नष्ट हो जाते हैं और सभी सुखों को प्राप्त होता है । फल प्राप्त करने वाले प्रियङ्कर नृप की कथा भी प्रचलित है । इस स्तोत्र पर बृहद् और लघु कृतियाँ भी उपलब्ध हैं ।

इसमें पार्श्वनाथ की स्तुति की गयी है और आरम्भ में ही उन्हें सर्प आदि के विष का विनाशक तथा समस्त कल्याणों का साधक कहा है । मन्त्र सहित जो इस स्तोत्र का पाठ करता है, उसके ग्रह, रोग, दुष्टज्वर तथा अन्य सभी प्रकार की आधि-व्याधियाँ दूर हो जाती हैं । कवि ने विभिन्न दृष्टिकोणों से पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए मन्त्रगर्भित इस स्तोत्र की रचना की है । कहा है—

उवसग्गहरं पासं, पासं वंदामि कम्मघणमुक्कं ।
विसहरविसनिन्नासं, मंगलकल्लाणआवासं ॥ १ ॥

विसहरफुलिङ्गमंतं, कंठे धारेइ जो सया मणुओ ।
तस्स गह-रोग-मारी-दुट्ठजरा जंति उवसामं ॥ २ ॥

ऊँ अमरतरु-कामधेणु-चिन्तामणिकाकुंभमाइया ।
सिरिपासनाहसेवाग्गहाण सव्वे वि दासत्तं ॥ ३ ॥

इस प्रकार स्तोत्र को कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न, कामधेनु प्रभृति विशेषणों से अलंकृत किया गया है । काव्य की दृष्टि से भी यह स्तोत्र सरस है ।

अजिय संतिथय[2]

नन्दिषेण द्वारा रचित यह अजितनाथ तीर्थङ्कर और शान्तिनाथ तीर्थङ्कर का सम्मिलित स्तोत्र है । सम्मिलित स्तोत्र लिखने का कारण यह बतलाया जाता है कि

दोनों तीर्थङ्करों ने अपने वर्षावास शत्रुञ्जयपर्वत पर ही व्यतीत किये थे। इस स्तोत्र की रचना कवि ने उस पर्वत की तीर्थयात्रा करते समय की है। नन्दिषेण का समय ९वीं शताब्दी के पहले है। इस स्तोत्र का अनुकरण परवर्ती कई कवियों ने किया है। १२वीं शताब्दी में जयवल्लभ ने अजित-शान्ति स्तोत्र लिखा है। वीरगन्दी का 'अजिय-संतिथय' स्तुति भी प्रसिद्ध है।

शाश्वतचैत्यास्तव[3]

देनेन्द्र सूरि ने प्राकृत भाषा में आदिनाथ और शाश्वत-चैत्यालय स्तोत्रों की रचना की है। ये जगच्चन्द्र सूरि के शिष्य थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनका समय तेरहवीं शताब्दी माना जाता है। प्रस्तुत स्तोत्र में २४ गाथाएँ हैं। आरम्भ में ऋषभदेव, वर्द्धमान, चन्द्रानन और वारिषेण नामक शाश्वत चार जिनेन्द्रों को नमस्कार कर त्रिकालवर्ती अकृत्रिम जिनचैत्यालयों की संख्या का वर्णन किया गया है। बताया गया है कि नन्दीश्वर द्वीप में ५२ चैत्यालय हैं। कुण्डल नामक द्वादश द्वीप में चार और रुचक नामक अठारहवें द्वीप में चार इस प्रकार कुल ६० शाश्वत् जिनालय हैं, जिनमें से प्रत्येक में १२४ जिन प्रतिमाएँ हैं। इस प्रकार इस स्तोत्र में नन्दीश्वर द्वीप, कुण्डल द्वीप, रुचक द्वीप आदि द्वीपों की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाइ आदि का भी निरूपण किया गया है।

इस स्तोत्र में अनुत्तरविमान, ग्रैवेयक, वैमानिक, व्यन्तर, भवन वासी, ज्योतिषी, देव, काञ्चनगिरि, वैताढ्य पर्वत, गजदन्त, मेरु, वक्षार पर्वत, कुलगिरि, रुचक द्वीप, कुण्डल, आदि ३७ स्थानों में प्रासादसंख्या, प्रतिमासंख्या, बिम्बसंख्या, बिम्बमान, आयाम, विष्कम्भ एवं उद्यानों का निरूपण किया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य भूगोल का परिज्ञान भी इस स्तोत्र से प्राप्त होता है। प्रतिमा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

कणगमयजाणु जंघा तणुजट्ठा नाससवणभालोरू।
पलिअंकनिसण्णायं उय पडिमाणं भवे वण्णो ॥ १० ॥

पर्याङ्कासन स्थित प्रतिमाओं का वर्ण स्वर्णमय होता है। जंघा आदि अंग भी स्वर्ण-मय होते हैं।

भवस्तोत्राणि

धर्मघोष सूरि ने आदिनाथ के तेरह भवों का वर्णन आदिनाथ भवस्तोत्र में, चन्द्रप्रभ के सात भवों का वर्णन चन्द्रप्रभ भवस्तोत्र में, शान्तिनाथ के बारह भवों का वर्णन

१.–३. प्राचीन साहित्य और ग्रन्थावलि में संग्रहीत—सन् १९३२ में साराभाई मणिलाल नबाव द्वारा प्रकाशित

शान्तिनाथ भवस्तोत्र में, मुनिसुव्रत के नौ भवों का वर्णन मुनिसुव्रतनाथ भवस्तोत्र में, नेमिनाथ के नौ भवों का वर्णन नेमिनाथ भवस्तोत्र में, पार्श्वनाथ के दस भवों का वर्णन पार्श्वनाथ भवस्तोत्र में और महावीर स्वामी के सत्ताइस भवों का वर्णन वीरभवस्तोत्र में किया है। ये आचार्य तपागच्छीय थे। इनका समय विक्रम की चौदहवीं शती माना जाता है। चन्द्रप्रभ स्तोत्र के प्रारम्भ में कहा है—

महसेणलक्खणसुअं चंदपहं चंदचिन्हमिन्दुनिहं।
सत्तभवकित्तणेणं थुणामि सड्ढसयधणुम्माणं ॥ १ ॥

महासेन नृप के पुत्र चन्द्रमा के समान कान्तिधारी डेढ़ सौ धनुष-प्रमाण उन्नत शरीरवाले चन्द्रप्रभ स्वामी के सात भवों का वर्णन करता हूँ। इन भवों में प्रायः संक्षिप्त रूप में तीर्थङ्करों की जीवन गाथाएँ भी उपलब्ध हो जाती हैं।

कवि ने प्रायः सभी तीर्थङ्करों के वंश परिचय, शरीर की कान्ति और ऊँचाई का प्रतिपादन प्रत्येक स्तोत्र में किया है। नेमिनाथ स्तोत्र के आरम्भ में बताया है—

नेमिरायमइजुअं थोसामि सिवासमुछविजयसुअं।
दसधणुहतणुं माणेणं नवभवकहणेण संखंकं ॥ १ ॥

× × ×

नवहत्थं नीलाहं मामंगजमाससेणयं पासं।
भवदहगसंथवेणं थोसामि दुहावराहिगयं ॥ १ ॥

पार्श्वनाथ स्तोत्र

× × ×

तिसलासिद्धत्थसुअं सीहं कं सत्तहत्थ कणयनिहं।
भवसत्तावीसकहणेणं वद्धमाणं तुणामि जिणं ॥

वीरस्तोत्र

निर्वाणकाण्ड

प्राकृत का प्राचीन स्तोत्र निर्वाणकाण्ड है। इसमें चौबीस तीर्थंकर एवं अन्य ऋषि-मुनियों के निर्वाण स्थानों का निर्देश किया गया है इस स्तोत्र में तीर्थों का उल्लेखकर वहाँ से मुक्ति पानेवालों को नमस्कार किया है। इस स्तोत्र में अष्टापद, चम्पा, ऊर्जयन्त (गिरनार), सम्मेदशिखर, तारउर, पावागिरि, गजपन्था, तुंगीगिरि, सुवर्णगिरि, रेवा-नदी, बड़वानी, चेलना नदी, चूलगिरि, द्रोणगिरि, मेढगिरि, कुन्थुगिरि, कोटिशिला, रेसिन्दीगिरि स्थानों से निर्वाण लाभ करने वाले महापुरुषों को नमस्कार किया है। काण्ड में कुल २१ गाथाएँ हैं। आरम्भ में बताया गया है—

अट्ठावयम्मि उसहो चंपाए वसुपुज्ज-जिणणाहो।
उज्जंते णेमि-जिणो पावाए णिव्भुद्धो महावीरो ॥ १ ॥

वीसं तु जिण-वरिंदा अमरासुर-वंदिदा धुद-किलेसा ।
सम्मेदे गिरि-सिहरे णिव्वाण-गया णमो तेसिं ॥ २ ॥

ऋषभदेव तीर्थंकर अष्टपद—कैलास पर्वत से, वासुपूज्य स्वामी ने चम्पापुर से, नेमिनाथस्वामी ने ऊर्जयन्त—गिरिनार से और महावीर स्वामी ने पावापुर से निर्वाण प्राप्त किया। देव-असुरों द्वारा वन्दित और समस्त कर्मकलङ्क को नष्ट करनेवाले शेष बीस तीर्थंकरों ने सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया। मैं उन समस्त तीर्थंकरों को नमस्कार करता हूँ।

यह निर्वाणकाण्ड स्तोत्र दिगम्बर सम्प्रदाय में अत्यन्त प्रमाणिक स्तोत्र माना जाता है। तीर्थस्थानों का इतिहास इस स्तोत्र में निहित है। चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण एवं अन्य महान् तपस्वी, जिन्होंने घोर तपश्चरण कर निर्वाण प्राप्त किया है, इस स्तोत्र में उल्लिखित है।

प्राकृत भाषा में धर्मवर्धन का पासजिनथव, जिनपद्म का संतिनाहथव, जिनप्रभसूरि का पासनालघुथव, मानतुंग का भयहर, अभयदेव सूरि का जयतिहुयण, धर्मघोषसूरि का इसीमंडल थोत्त, नन्नसूरि का सत्तरिसयथोत्त, महावीरथव आदि प्रसिद्ध स्तोत्र हैं। इनके सिवाय जिनचन्द्र सूरि का नमुक्कार फलपगरण, देवेन्द्रसूरि का चत्तारि-अदसथव, पुंडरीकस्तव, जिनराजस्तव आदि स्तोत्र भी महत्वपूर्ण हैं।

लध्वजित-शान्तिस्तवनम्[1]

यह पहले ही बताया गया है कि अजित और शान्तिनाथ की स्तुति में छोटे बड़े सभी प्रकार के कई स्तोत्र लिखे गये हैं। नवाङ्गवृत्ति के रचयिता अभयदेवसूरि के शिष्य जिन-वल्लभ[2]सूरि ने १७ पद्यों में स्तोत्र का प्रणयन किया है। यह स्तोत्र काव्यकला की दृष्टि से अच्छा है। पद्य मनोहर हैं, कवि ने सरस शैली में अपने आराध्यों का महत्त्व प्रकट

---

१. यह स्तोत्र वैराग्यशतकादिग्रन्थपञ्चकम् में पृ० ५० पर देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धारफण्ड, सूरत से सन् १९४१ में प्रकाशित है।

२. तस्याभयगुरोः पार्श्वादुपसम्पत्ततोऽभवत्। जिनवल्लभशिष्योऽथ सर्वसिद्धन्तपारगः।
क्रमशोऽभयसूरीणां पट्टकन्दरकेसरी जिनवल्लभसुरीन्द्रो, द्रव्यलिङ्गगजार्दनः॥
खरगतरच्छसुविहितसूरिपरम्पराप्रशस्ति, पद्य ४३-४४

सुगुरुजिनेसरसूरि नियमि जिणचंदु सुसंजमि,
अभयदेउ सव्वंगु नाणि जिणवल्लहु आगमि।
जिणदत्तसूरि ठिउ पट्टि तहि जिण उज्जोइउ जिणवयणु,
सावइहिं परिक्खिवि परिवरिउ मुल्लि जीव रयणु॥
वि० सं० ११७० में धारा नगरी में कविपालहकृत पट्टावली, गा० ४

किया है। धर्मतिलक मुनि ने इस स्तोत्र पर वि० सं० १३२२ में वृत्ति लिखी है। स्तोत्र का रचनाकाल विक्रम संवत् की बारहवीं शताब्दी[१] है।

प्रस्तुत स्तोत्र में कुल १७ पद्य हैं। कवि ने मालिनी और शार्दूलविक्रीडित छन्दों में इसकी रचना की है। स्तोत्रकव्य होने पर भी इसमें मुक्तकाव्य का समग्र रस वर्तमान है। कवि उत्प्रेक्षा द्वारा प्रतिज्ञा करता हुआ कहता है—

उल्लासिक्कमक्खनिग्गयपहादंडच्छलेणं अगिणं,
वंदारूण दिसंत इव्व पयडं निव्वाणमग्गावलिं।
कुंदिंदुज्जलदंतकंतमिसओ नीहंतनाणंऽकुरु—
क्केरे दोवि दुइज्जसोलसजिणे थोमासि खेमंकरे ॥ १ ॥

अजितनाथ और शान्तिनाथ स्तुति करनेवाले प्राणियों के लिए अपने नखों की कान्ति के बहाने मोक्षमार्ग को प्रकट करते हैं तथा कुन्दपुष्प और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल कन्ति से प्राणियों के आज्ञानान्धकार को नष्ट कर देते हैं। उन कल्याण करनेवालों की मैं स्तुति करता हूँ।

कवि स्तुति के सम्बन्ध में अपनी असमर्थता व्यक्त करता हुआ कहता है।

चरमजहिनिरं जो मिणिज्जंऽजलीहिं,
खयसमयसमीरं जे जिणिज्जा गईए।
सयलनहयलं वा लंघए जे पएहिं,
अजियमहव संतिं सो समत्थो थुणेउं ॥ १ ॥

जो स्वयम्भूरमण समुद्र के जल को अंजुलि के द्वारा नापने में समर्थ हैं, तूफान को अपने पैरों की गति के द्वारा जीतने में समर्थ हैं और समस्त आकाश को अपने पैरों से लांघने में समर्थ हैं वे ही उक्त दोनों तीर्थंकरों की स्तुति करने में समर्थ हो सकते हैं। यहाँ अन्योक्ति द्वारा भगवान् के अनन्तगुणों के वर्णन करने की असमर्थता प्रकट की गयी है।

कवि भगवान् के चरणारविन्द में की गई भक्ति का प्रभाव दिखलाता हुआ कहता है—

पसरइ वरकित्ती वड्ढए देहदित्ति,
विलसइ भुवि मित्ती जायए सुप्पवित्ती।

१. श्रीजिनवल्लभसूरीणां सत्तासमयः प्रतीत एवेतिहासविदां पट्टावल्यादिना द्वादशशताब्द्या मध्यकालीनो वैक्रमीयः।

सटीक वैराग्यशतकादिग्रन्थपञ्चकम्—देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धारफण्ड, सूरत, सन् १९४१, प्रस्तावना पृ० ४.

फुरइ परमतित्ती होइ संसारछित्ती,
जिणजुयपयभत्ती ही अचिंतोरूसत्ती ।। ५ ।।

भगवान् की चरण भक्ति करने से श्रेष्ठ कीर्ति वृद्धिगत होती है, मैत्रीभाव बढ़ता है, सुप्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, परम सन्तोष प्राप्त होता है और संसार-संसरण—जन्म-जरा-मरण के दुःखों से छुटकारा प्राप्त होता है।

उपर्युक्त पद्य में 'त्तो' की अनुवृत्ति अनुप्रासजन्य रमणीयता के साथ संगीत का भी मधुर सृजन करती है। संगीत और ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से यह पद्य मनोहर है।

भगवान् के गुण-वर्णन का प्रभाव दिखलाता हुआ कवि कहता है—

अरिकरिहरितिण्हुण्हंबुचोराहिवाही,
समरडमरमारीरुद्दखुद्दोवसग्गा।
पलयमजियसंतीकित्तणे झत्ति जंती,
निबिडतरतमोहाभक्खरालुंखियव्व ।। १० ।।

अजित-शान्तिनाथ के गुणों का वर्णन करने से शत्रु, दुष्ट, हाथी, सिंह, घास, आतप, जल, चोर, आधि—मानसिकव्यथा, व्याधियाँ-ज्वर, भगंदर, संग्राम, डामर-राजकृत उपद्रव, मारी भूतपिशाचादिकृत प्राणिक्षय, क्रूर और भयानक कष्ट उस प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्य का उदय होने से सघन अन्धकार नष्ट हो जाता है।

भगवान् की भक्ति देवाङ्गनाएँ भी करती हैं, उनके द्वारा वन्दनीय प्रभुचरण समस्त प्राणियों के लिए शरणप्रद होते हैं। कवि इसी तथ्य का वर्णन करता हुआ कहता है—

छणससिवयणाहिं फुल्लनीलुप्पलाहिं,
थणभरनमिरीहिं मुट्ठिगिज्झोदरीहिं।
ललियभुयलयाहिं पीणसोणित्थलीहिं,
सय सुररमणीहिं वंदिया जेसि पाया ।। १४ ।।

जिसके चरणकमल पूर्ण चन्द्रमा के समान मुखवाली, विकसित नीलकमल के समान नेत्रवाली, कुचभार के कारण नताङ्गी, कृशोदरी सुन्दर भुजलतावली और उपचित स्थूल कटितटवाली देवाङ्गनाओं के द्वारा पूज्य हैं, वे भगवान् मेरे ऊपर कृपा करें।

प्रस्तुत पद्य में शृंगार के द्वारा भक्तिभाव की स्थापना की गयी है। काव्यकला की दृष्टि से भी सुन्दर हैं।

कवि भगवान् से समस्त रोगों को दूर करने के लिए प्रार्थना करता है। भक्त की दृष्टि से उसे विश्वास है कि प्रभुकृपा से समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं, रोग-शोक, भय-आदि नष्ट हो जाते हैं। वह कहता है—

अरिसकिडिभकुट्ठगंठिकासाइसार-
क्खयजरवणलूआसाससोसोदराणि।

नहमुहदसणच्छीकुच्छिकन्नाइरोगे,
महु जिणजुयपाया सप्पसाया हरंतु ॥ १५ ॥

भगवान् के चरण प्रसाद से अर्श—बवासीर, कुष्ठ, गठिया, अतिसार ज्वर, व्रण, लूता, श्वास, शोष, उदररोग, खाँसी, अतिसार, मकड़ी का कष्ट, नाक, मुख, दाँत, नेत्र सम्बन्धी रोगों का शमन होता है।

कवि ने स्तुति के प्रसंग में नयवाद का स्वरूप मार्मिक रूप में अभिव्यक्त किया है। लिखा है—

बहुविहनयभंगं वत्थु णिच्चं अणिच्चं,
सदसदणभिलप्पालप्पमेगं अणेगं।
इय कुनयविरुद्धं सुप्पसिद्धं च जेसिं,
वयणमवयणिज्जं ते जिणे संभरामि ॥

नित्य-अनित्य, सत्-असत्, अभिलाप्य-अनभिलाप्य, एक-अनेक, कुनय-विपरीत एवं सुप्रसिद्ध सप्तनय ग्राह्य वस्तु का विवेचन जिन्होंने किया है, उन अजित और शान्ति की स्तुति करता हूँ।

इस पद्य में कवि ने सप्तभंगी और नयवाद का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। इस प्रकार यह स्तोत्र काव्य गुणमंडित है। यथास्थान अलंकारों की योजना की गयी है।

निजात्माष्टकम्[1]

इस अष्टक के रचयिता आचार्य योगेन्द्रदेव हैं। इनकी योगासार और परमात्म-प्रकाश नामक अपभ्रंश भाषा की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। संस्कृत भाषा में अमृताशीति नामक रचा गया मुक्तक काव्य भी उपलब्ध है। योगेन्द्रदेव के समय के सम्बन्ध में डा० ए० एन० उपाध्ये ने परमात्म प्रकाश[2] की भूमिका में पर्याप्त विचार किया है। इनका समय हमारे विचार से छठीं शताब्दी है।

प्रस्तुत स्तोत्र में आठ स्रग्धरा पद्य हैं। कवि ने निजात्म की स्तुति की है और प्रत्येक पद्य के अन्त में "सोहं झायेमि णिच्चं परमपयगओ णिव्वियप्पो णियप्पो" चरण को समाहित किया है। कवि ने आरम्भ में ही बताया है कि अर्हन्त, सिद्ध, गणधर, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं ने शुद्ध परमात्मस्वरूप निजात्मा का अनुसरण कर मोक्ष

---

१. यह स्तोत्र सिद्धान्तसारादि संग्रह में पृ० १०० पर मा० दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई से वि० सं० १९०९ में प्रकाशित है।

२. देखें डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित परमात्मप्रकाश की अंग्रेजी प्रस्तावना, परमश्रुतप्रभावक मण्डल, बम्बई, १९३७ ई० पृ० ५७–६८।

को प्राप्त किया है क्योंकि परमपद को प्राप्त निर्विकल्प निजात्मा मैं हूँ, इस ध्यान से निर्वाण पद की प्राप्ति सदा सम्भव है। यथा—

णिच्चं तेलोक्कचक्काहिवसयणमिया जे जिणिंदा य सिद्धा,
अण्णे गंथत्थसत्था गमगमियमणा उवज्झायसूरिसाहु।
सव्वे सुद्धण्णियादं अणुसरणगुणा मोक्खसंपंतितम्मा,
सोहं झायेमि णिच्चं परमपयगओ णिव्वियप्पो णियप्पो॥ १॥

निजात्मा निरूपम, निष्कलंक, अव्याबाध, अनन्त, अगुरुलघुगुण से युक्त, स्वयम्भू, निर्मल और शाश्वत है। ध्यान करने से इस आत्मा की प्राप्ति सम्भव है। यथा—

णिस्सो णिव्वाणमंगो णिरुविमो णिक्कलो णिक्कलंको,
अव्वाबाहो अणंतो अगुरुगलघुगो णायिमज्झावसाणो।
सम्भावत्यो सयंभू गयपयडिमलो सासओ सव्वकालं,
सोहं झायेमि णिच्चं परमपयनओ णिव्वियप्पो णियप्पो॥ २॥

इस दार्शनिक स्तोत्र में कवि ने आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उसे स्त्रीलिङ्ग, पुंलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग से रहित मन-वचन-काय के सम्बन्धों से रहित, लोकालोक को प्रकाशित करने वाला, ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला, अलिप्त एवं समस्त पर सम्बन्धों से रहित बतलाया है। कवि का अभिमत है कि यह आत्मा रूप, रस, गन्ध से रहित, निर्विकार, निर्मल, इष्टानिष्ट शुभाशुभ विकल्पों से मुक्त है। यथा—

सव्ववण्णवण्णगंधाइयरविरहियो णिम्ममो णिव्विआरो,
रूवातीदस्सरूओ सयलविमलसद्दस्सणण्णाणबीओ।
इट्ठाणिट्ठप्पयोया सुहअसुहवियप्पा सया भावभूओ,
सोहं झायेमि णिच्चं परमपयगओ णिव्वियप्पो णियप्पो॥ ७॥

स्तोत्र का प्रधान वर्ण्यविषय आत्मतत्व है। भाषा प्रौढ़ और प्रवाहगुण युक्त है।

अरहंतस्तवनम्[1]

इस स्तोत्र के रचयिता समन्तभद्र माने गये हैं। पर निश्चयरूप से प्रमाणों के अभाव में यह नहीं कहा जा सकता कि इसके रचयिता कौन से समन्तभद्र हैं? प्रसिद्ध आचार्य समन्तभद्र के अतिरिक्त इस नाम के भट्टारक भी हुए हैं। स्तोत्र भाषा और शैली की दृष्टि से मध्यकालीन प्रतीत होता है। इसमें अरहन्त के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। रूपक और उपमा अलंकार के नियोजन के कारण इसमें पर्याप्त सरसता है। कवि ने बताया है—"जिन्होंने मोहरूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विस्तीर्ण अज्ञानरूपी समुद्र से उत्तीर्ण हो गये हैं, जिन्होंने अपने विघ्नों के समूह को नष्ट

१. यह स्तोत्र अनेकान्त वर्ष १८ किरण ३ में प्रकाशित है।

कर दिया है। जो अनेक प्रकार की बाधाओं से रहित हैं, अचल हैं, कामदेव के प्रताप को नष्ट करने वाले हैं और जिन्होंने तीनों कालों को विषय करने रूप तीन नेत्रों से सकल पदार्थों के सार को देख लिया है, ऐसे अर्हन्त को नमस्कार करना चाहिए। ये अर्हन्त त्रिपुर—राग, द्वेष और मोह को भस्म करने वाले हैं और इन्होंने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र रूप त्रिशूल को धारण करके मोह रूपी अन्धकासुर के कबन्धवृन्द का हरण कर लिया है। यथा—

दलिय-मयण-प्पयावा तिकाल-विसएहि तीहि णायणेहि।
दिट्ठ-सयलट्ठ-सारा सदद्ध-तिउरा मुणि-व्वइणो ॥ २ ॥
तिरयण-तिसूलधारिय मोहंधासुर कबंध-विद-हरा।
सिद्ध-सयलप्प-रूवा अरहंता दुण्णय-कयंता ॥ ३ ॥

यह छोटा सा स्तोत्र काव्यगुणों की दृष्टि से अच्छा है। दार्शनिक स्तोत्र होने पर भी कवि ने रूपक अलंकार की योजना कर भावाभिव्यक्ति को सशक्त बनाया है।

———

सप्तमोऽध्यायः

प्राकृत के नाटक और सट्टक

लोक साहित्य के प्रायः दो ही अङ्ग माने जाते हैं—(१) काव्य और (२) कथा। प्राकृतभाषा में सैकड़ों वर्षों तक काव्य और कथा साहित्य का प्रणयन होता रहा है। नाट्याचार्यों ने दस प्रकार के रूपक और अठारह प्रकार के उपरूपक गिनाये हैं। इन भेदों में भाण, डिम, वियी, त्रोटक, सट्टक, गोष्ठी, प्रेंखण, रासक-हल्लीशक और भणिका लोक नाट्य के प्रकार होने के कारण मूलतः प्राकृत में ही रहे होंगे। प्रकरण और प्रहसन भी प्राकृत की ही रचनाएँ रही होंगी। रूपक-उपरूपक के उक्त भेदों में प्रायः वे ही पात्र आते हैं, जिनसे नाटककार प्राकृत बुलवाते हैं। भाण में धूर्त्त अथवा विट; प्रहसन में पाखण्डी, चेट, चेटी, विट, नीच पात्र और नपुंसक; डिम में गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि और भाणिका में मूर्ख पात्र होते हैं तथा ये सभी पात्र प्राकृत का व्यवहार करते हैं। त्रोटक में विदूषक का व्यापार अधिक होता है। सट्टक की सम्पूर्ण रचना ही प्राकृत में होती है। प्रेंखण का नायक भी हीन पुरुष होता है। हल्लीश में एक ही पुरुष होता है, स्त्रियाँ आठ-दस होती हैं। रासक या रासो की लोक परम्परा बहुत पुरानी है। परन्तु इन सबके उदाहरण संस्कृत में ही प्राप्य हैं, प्राकृत में एक-दो रूपकों की कृतियाँ ही समुपलब्ध हैं।

संस्कृत में रूपकों के उदाहरण मिलने के कई कारण हो सकते हैं। राजाश्रय प्राप्त होने के कारण प्राकृत नाटकों के कुछ अंश संस्कृत में रूपान्तरित हो गये होंगे। मृच्छकटिक, त्रिपुरदाह, रेवत-मदनिका, विलासवती, मेनकाहित और बिन्दुमती पहले प्राकृत में ही रहे हों और फिर धीरे-धीरे संस्कृत छाया के व्यवहार की वृद्धि के साथ-साथ मिश्रित भाषा में कर दिये गये हों।

नाटक-शास्त्र के इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में रूपकों का विकास बहुत पहले हो चुका था। अश्वघोष के आंशिक रूप में उपलब्ध नाटक बहुत ही प्रौढ़ हैं, उनसे यह अनुमान सहज में लगाया जा सकता है कि भारतवर्ष में भास, कालिदास और शूद्रक के पूर्व भी नाटकों की व्यवस्थित परम्परा वर्तमान थी। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के नियमों का प्रतिपादन अवश्य नाटकों के अध्ययन के उपरान्त ही किया है।

भारतीय परम्परा नाटक की उत्पत्ति अलौकिक सिद्धान्त के आधार पर मानती है।

भरतमुनि[1] ने अपने नाट्यशास्त्र में बताया है कि ब्रह्माजी ने ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद) सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस के तत्त्वों को लेकर नाट्य-वेद का निर्माण किया। आधुनिक विद्वानों[2] ने वैज्ञानिक अनुसन्धानों के आधार पर नाटक की उत्पत्ति के विषय में कई विचारधाराएँ उपस्थित की हैं। नाटक के प्रधान तत्त्व संवाद, संगीत नृत्य और अभिनय हैं। अधिकांश विद्वान् इन चारों तत्त्वों को वेद में उपलब्ध होने नाटक की उत्पत्ति वैदिक सूक्तों से मानते हैं तथा नाटकों का विकास वैदिक साहित्य से।

रामायण और महाभारतकाल में आकर नाटक का कुछ और स्पष्ट उल्लेख मिलता है। विराट पर्व में रंगशाला का उल्लेख पाया जाता है। हरिवंश में रामायण की कथा पर आश्रित एक नाटक के खेले जाने का उल्लेख है। रामायण में भी नट, नर्तक, नाटक और रंग-मंच का कई स्थलों पर वर्णन मिलता है। पाणिनि ने (४।३।११०) नटसूत्र और नाट्यशास्त्र का उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि पणिनि के समय में या उनके पूर्व ही अनेक नाटक रचे जा चुके होंगे, जिनके आधर पर इन नट सूत्रों का निर्माण हुआ, यतः लक्षण ग्रन्थों की रचना लक्ष्य ग्रन्थों के उपरान्त ही होती है। पतंजलि के महाभाष्य (३।२।१११) में कंसवध और बालिबन्धन नामक दो नाटकों का स्पष्ट उल्लेख है। अतएव सिद्ध है कि नाटक लिखने की परम्परा भारतवर्ष में बहुत पहले आरम्भ हो चुकी थी। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन नाटक धार्मिक हैं और उसका प्रदर्शन राजप्रासादों में शिक्षित समुदाय के मनोरंजन के लिए होता था।

नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पहले निर्देश किया गया कि नाटक वैदिक साहित्य से उत्पन्न हुए हैं। पर एक विचारधारा नाटक की उत्पत्ति लोक प्रचलित नृत्य और संगीत के उपकरणों से मानती है। महिम भट्ट के निम्नलिखित सिद्धान्त से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है कि नाटक का अविर्भाव देशी उपकरणों से हुआ है।

अनुभावविभावानां वर्णनं काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यगीतादिरंजितम्॥
व्य० वि० अ० १, पृ० २०

अनुभाव-विभावादि के वर्णन से जब आनन्दोपलब्धि होती है, तो रचना काव्य कहलाती है और जब गीतादि से रंजित, नटों द्वारा उसका प्रयोग दिखाया जाता है तब वह नटक बन जाती है।

---

१. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥ १ । १७॥

२. Keith : San krit Drama pp. 12-77

पाणिनि ने नाट्य की उत्पत्ति नट् धातु से मानी है (४।३।१२९) और रामचन्द्र गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में इसका उद्भव नाट् धातु से माना है (पृ० २८); वेबर और मोनियर विलियम्स का मत है कि नट् धातु नृत् धातु का प्राकृत रूप है। सिद्धान्त कौमुदी के तिङन्त प्रकरण में नाट्य की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतायी ?—'नट्' नृत्तौ। इत्थमेव पूर्वमपि पठितम्। तत्रायं विवेकः। पूर्वपठितस्य नाट्यमर्थः। यत्कारिषु नटव्यपदेशः। वाक्यार्थाभिनयो नाट्यम्।····पदार्थाभिनयो नृत्यम्। गात्रविक्षेपमात्रं नृत्तम्।—(भ्वादि-नट-नृत्तौ।) इससे स्पष्ट है कि नट् धातु का अर्थ गात्र विक्षेपण एवं अभिनय दोनों ही था। किन्तु कालान्तर में नृत् धातु का प्रयोग गात्रविक्षेपण के अर्थ में होने लगा और नट् का प्रयोग अभिनय के अर्थ में। दशरूपक में नृत, नृत्य और नाट्य का अनन्तर स्पष्ट किया है। नृत्त ताललय के आश्रित होता है, नृत्य भावाश्रित होता है, किन्तु नाट्य रसाश्रित[1] होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है कि नाटक की उत्पत्ति लोक प्रचलित नृत्य और संगीत से हुई है। यही कारण है कि नाट्यशास्त्र के लक्षण ग्रंथों में विशेष-विशेष प्रणाली के नाट्यों को विशेष-विशेष नामों से अभिहित किया गया है। नाचना, हाव-भाव सहित नाचना और संगीत की मधुर झंकार के साथ अभिनय प्रदर्शित करना लोकरंजन के अंग हैं। अतएव नृत्य, हाव-भाव प्रदर्शन एवं संगीत इन तीन तत्त्वों के मूलरूप से नाटकों की उत्पत्ति हुई। आरम्भ में नाटक को रूपक ही कहा जाता था, पर रूपक और नाटक इन दोनों में सूक्ष्म अन्तर है—नाटक में अवस्थाओं की अनुकृति को प्रधानता दी जाती है, किन्तु रूपक में अवस्थाओं की अनुकृति के साथ-साथ रूप का आरोप भी आवश्यक होता है अर्थात् अवस्थानुकृति और रूपानुकृति का मिश्रित रूप रूपक कहलाने का अधिकारी बनता है।

संस्कृत साहित्य में नाटक को भी प्रायः काव्य ही माना गया है। महिमभट्ट ने लिखा है—'सामान्येन उभयमपि च तत् शास्त्रवद् विधि-निषेध-विषयव्युत्पत्तिफलम् केवलं व्युत्पाद्यजनजाड्याजाड्यतरमपेक्षया काव्यनाट्यशास्त्ररूपोऽयम्, उपायमात्रभेदः, न फलभेदः (व्य० वि० अ० १, पृ० २०) अर्थात् दोनों का मुख्य उद्देश्य आनन्द प्राप्ति है। दोनों का गौण उद्देश्य उपदेश एवं व्युत्पत्ति भी विधि-निषेध के रूप में समान रीति से उपलब्ध है। केवल उद्देश्य प्राप्ति के साधन में भेद है। अतएव नाटक की उत्पत्ति मूलतः लोक जीवन से हुई है, किन्तु विकसित होने पर नाटक काव्य बन गया है। आरम्भ में रूपक शब्द ही नाटक के लिए व्यवहृत होता होगा।

---

१. अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम्, नृत्तं ताललयाश्रयम्। अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्, दशधैव रसाश्रयम्।—दशरूपक प्रथम प्रकाश श्लो० ७।९।

सट्टक की उत्पत्ति और विकास

यह सर्वमान्य सत्य है कि जनता अपने वातावरण तथा रुचि के अनुकूल विनोद का साधन स्वभावतः निकाल लेती है। पठित समाज के सदृश अपठित तथा अर्द्धपठित समाज में भी प्रतिभाशाली व्यक्ति होते रहते हैं, जो अपने समुदाय के अनुरूप जनकाव्य और जन-नाटक का सृजन करते रहते हैं। उनकी रचना द्वारा लक्ष-लक्ष ग्रामीण जनता दृश्य तथा श्रव्यकाव्य का रसास्वादन करती रहती है। अतएव काव्य की समस्त विधाओं का मूलस्रोत साधारण जनसमुदाय ही होता है। भले ही परिष्कृत रूप के प्रणेता मनीषी कवि या लेखक माने जायँ। रूपक का विकास भी जनसमुदाय के बीच हुआ है। अलंकारशास्त्रियों ने रूपक और उपरूपक के भेदों का विवेचन करते हुए रूपक के मुख्य दस भेद और पवरूपक के अठारह भेद बताये हैं। धनञ्जय ने दशरूपक में नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथि और प्रहसन ये दस भेद रूपक के गिनाये हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने पाठ्यकाव्य के बारह भेद बताये हैं। उन्होंने रूपक के उक्त दश भेदों में नाटिका और सट्टक को भी जोड़ दिया है। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने नाट्य-दर्पण में अभिनय काव्य के नाटिका और प्रकरणी को मिलाकर बारह भेद बताये है।

रूपकों के समान उपरूपकों की संख्या के सम्बन्ध में भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। नृत्य पर आधारित होने के कारण रूपकों की अपेक्षा उपरूपकों में अधिक विकास होता गया है। धनञ्जय ने दशरूपक में उपरूपकों का प्रसङ्ग नहीं उठाया है। भावप्रकाश और साहित्य दर्पण में उपरूपकों पर विचार उपलब्ध होता है, इससे यह अनुमान सहज में लगाया जा सकता है कि नृत्य पर आश्रित दृश्यकाव्य को साहित्य की कोटि में पीछे परिगणित किया गया है। बहुत दिनों तक इस प्रकार के दृश्य जनता के बीच ही वर्तमान रहे। अग्नि पुराण में १७ उपरूपकों के नाम उपलब्ध होते हैं, किन्तु न तो उन्हें उपरूपक की संज्ञा दी गयी और न उनके लक्षण या उदाहरण ही दिये गये हैं। इसी प्रकार मध्य-कालीन लेखकों ने "डोम्बी श्रीगदितं भाणो, भाणी प्रस्थानरासकाः"। इत्यादि निर्देश तो किया है, पर लक्षण आदि नहीं लिखे हैं। अभिनवगुप्त ने डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, भाणिका, प्रेक्षणक, रामाक्रीड़, हल्लीशक, रासक नामक उपरूपकों का निर्देश किया है, पर लक्षणों का निर्धारण नहीं किया। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में श्रीगदित और गोष्ठी को भी संयुक्त कर दिया है।

शारदातनय ने तोटक, नाटिका, गोष्ठी, संलाप, शिल्पक, डोम्बी, श्रगदित, भाणी, प्रस्थान, काव्य, प्रेक्षणक, सट्टक, नाट्यरासक, लासक, उल्लोप्यक, हल्ली-श, दुर्मल्लिका, मल्लिका, कल्पवल्ली और पारिजातक उपरूपकों की व्याख्या की है। इन बीस उपरूपकों में अग्निपुराण का कर्ण, नाट्यपर्यण का नर्त्तनक, साहित्यदर्पण का विलासिका और अभिनव गुप्त द्वारा संकेतित तीन उपरूपक और जोड़ दिये जायँ तो

उपरूपकों की संख्या २६ हो जाती हैं। शारदातनय के पूर्व रामचन्द्र ने नाट्यदर्पण में[1] सट्टक, श्रीगदित, दुर्मीलिता, प्रस्थान, गोष्ठी, हल्लीशक, नर्त्तनक, प्रेक्षणक, रासक, नाट्यरासक, काव्य, भाण और भाणिका का परिभाषा सहित निर्देश किया है। उपरूपकों को व्यवस्थितरूप देने का श्रेय साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ को है। विश्वनाथ ने लिखा हैं—"अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः" अर्थात् विश्वनाथ के समय तक १८ उपरूपक मान्य बन गये थे। इसी कारण इन उपरूपकों की पूरी व्याख्या और उनके उदाहरण देने की उन्हें आवश्यकता प्रतीत हुई। भरत मुनि की दृष्टि में उपरूपकों का न आना इस बात का प्रमाण है कि उनके समय तक नृत्य रूपकों को साहित्यिक रूप प्राप्त नहीं हुआ था। भरत ने जिन नृत्य प्रकारों का वर्णन किया है, उनमें से कतिपय कोहल तक उपरूपक की स्थिति को प्राप्त हो चुके थे। अतः कोहल तथा अन्य व्याख्याकारों ने उपरूपकों की साहित्य विधा में गणना की। हर्ष का तोटक नामक उपरूपक की व्याख्या, जिसका उल्लेख शारदातनय ने बारहवीं शताब्दी में किया हैं, इस बात का प्रमाण है कि हर्ष के समय में भी उपरूपकों को साहित्यिक मान्यता प्राप्त होने लगी थी। यह सत्य है कि उपरूपकों को साहित्यिक महत्त्व रूपकों के बाद प्राप्त हुआ होगा। रूपक शब्द भी प्राचीन होते हुए, जिस अर्थ में लक्षण ग्रन्थों में व्यवहृत है, वह रूप धनञ्जय के द्वारा प्रदान किया गया है। धनञ्जय ने ही रूपक के दस भेदों को रूपक नाम से अभिहित किया है। इसी प्रकार विश्वनाथ ने नृत्य पर आधृत प्रबन्धों को उपरूपक नाम दिया हैं। रामचन्द्र ने "अन्यानि च रूपकाणि" कहकर सट्टकादि उपरूपकों का निर्देश किया है। अभिनवगुप्त ने एक स्थान पर लिखा है—"एते प्रबन्धा नृत्तात्मकाः न नाट्यात्मका नाटकादिविलक्षणः" अतएव स्पष्ट है कि नृत्त पर अवलम्बित प्रबन्धों को उपरूपकों या रूपकों की श्रेणी में पीछे स्थान प्राप्त हुआ था। रूपक प्रेक्षकों के अन्तःकरण में स्थित स्थायी भाव को रसस्थिति तक पहुँचाते हैं, तो उपरूपक उपयुक्त भावभंगिमा के द्वारा प्रेक्षकों के सम्मुख किसी भाव विशेष को प्रदर्शित करते हैं। इनका प्रचार प्राचीन समय से ही चला आ रहा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सट्टक की गणना नाटिका और त्रोटक के समान कुछ विद्वानों ने रूपकों में और कुछ ने उपरूपकों में की है। जिस प्रकार नाटक और प्रकरण सजातीय हैं, उसी प्रकार नाटिका और सट्टक भी। नाट्यशास्त्रों में नाटक और प्रकरण के मिश्रण से नाटिका की उत्पत्ति मानी गयी है। धनञ्जय इसका समावेश नाटक के

---

१. अन्यान्यपि च रूपकाणि दृश्यन्ते। यदाहु—
विष्कम्भक-प्रवेशक-रहिता यस्त्वेकभाषया भवति—
अप्राकृत-संस्कृतया स सट्टको नाटिकाप्रतिमः॥ नाट्यदर्पण पृ० १९०-१९१-१९२

अन्तर्गत्त करते हैं तो हेमचन्द्र और रामचन्द्र इसे रूपक के समकक्ष ही मानते हैं। साहित्य-दर्पण में सट्टक को उपरूपक कहा गया है।

रूपक और उपरूपक के भेदों का विकास किस क्रम से हुआ और इनके विकास का ऐतिहासिक क्रम क्या है, इस पर आज तक नहीं विचार किया गया है। हाँ, तत्त्वों के आधार पर इनके विकास की एक आनुमानिक परम्परा स्थापित की जा सकती है। यह सत्य है कि नाटक जैसी समृद्ध रसभावशवलित विधा एकाएक समाज में विकसित नहीं हुई होगी। इसे कई स्थितियों और विरामों को पार करना पड़ा होगा। रूपक और उपरूपकों में आये हुए कुछ शब्द इस बात का द्योतन करते हैं कि इन भेद-प्रभेदों में कुछ ऐसे शब्द भी हैं, जिनका संस्कृत रूप नहीं दिया जा सकता है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि ये शब्द संस्कृत भाषा के नहीं हैं। देशी भाषा के हैं, समाज में इनका व्यवहार नृत्य, गान और अभिनय के शवलित रूप में होता था, अतः ये शब्द अपने अर्थविशेष के कारण संस्कृत के पारिभाषिक शब्द बन गये। इस प्रकार की शब्दावलि में डोम्बी, हल्लीशक, सट्टक और रासक शब्द आते हैं। डोम्बी का अर्थ डोम जाति की स्त्री विशेष है। डोम्बी उपरूपक वह था, जिसमें उस डोम्बी का नृत्य विशेषरूप से होता था। मेरा अनुमान है कि डोम्बी उपरूपक स्वांग से विकसित हुआ है अथवा स्वांग और डोम्बी एक ही है। विक्रम की नवीं शती के विद्वान् सिद्धकह्लप्पा ने डोमिनी के आह्वान-गीत में स्वांग का निर्देश किया है—

नगर लाहिरे डोंबी तोहारि कुड़िया छइ छोइ जाइ सो ब्रह्म नाड़िया।
आलो डोंबि! तोए सम करबि य साँग निघिण कणइ कपाली जोइलाग॥
एक सो पदमा चौसट्ठि पाखुड़ि तोहि चढ़ नाचअ डोंबी वापुड़ी॥

यद्यपि यह उद्धरण वज्रयानियों की योगतन्त्र साधना से सम्बन्ध रखता है, तो भी इतना स्पष्ट है कि डोमनियाँ पुरुष वेश में पुरुष पात्र का स्त्रियों के बीच अभिनय करती थीं। इसी अभिनय का नाम डोंबी था।

इसी प्रकार हल्लीशक भी एक प्रकार का लोकनृत्य था, जिसमें आठ-दस स्त्रियाँ मण्डलाकार रूप में नृत्य करती थीं। संगीत, ताल और लय के साथ नृत्यपूर्वक अभिनय का जब प्रदर्शन होने लगा तो हल्लीश नृत्य ही हल्लीशक उपरूपक बन गया।

सट्टक भी इसी प्रकार नृत्य, नाच या हाव-भाव पूर्वक नृत्य से निकला है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने[1] चन्दलेहा सट्टक की प्रस्तावना में लिखा है—"सम्भवतः यह द्राविड भाषा का शब्द है। क प्रत्यय को हटा देने पर इसमें दो शब्द रह जाते हैं—स और अट्ट या आट्ट। सम्भवतः पहले यह किसी लुप्त विशेषण का विशेष्य था। द्राविड शब्द

१. चन्दलेहा— अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ० २९।

आट्ट या आट्टम का अर्थ नृत्य या अभिनय होता है, जो मूल धातु अडु या आडु से बना है जिसका अर्थ नाचना या हाव-भाव दिखलाना होता है यदि मूल अर्थं नाचना होगा तब लुप्त शब्द रूपक होगा। अतएव नृत्य युक्त नाटकीय प्रदर्शन को सट्टक कहा जायगा।" सट्टक में नृत्य का बाहुल्य रहता है। शारदातनय ने भी नृत्यभेदात्मक सट्टक को कहा है।

वर्तमान में जो सट्टक साहित्य उपलब्ध है तथा सट्टक के सम्बन्ध में लक्षणग्रन्थों में जो चर्चाएँ आयी हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि सट्टक एक ऐसा रूपक या उपरूपक है जिसका विषय प्रेम प्रधान होता है। कैशिकी और भारती वृत्तियाँ रहती हैं तथा नृत्य प्रधान रहने के कारण यह एक प्राचीन नाटक विधा है। आचार्य हेमचन्द्र ने कर्पूरमंजरी को देखकर सट्टक को रूपको में ही स्थान दिया है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि सट्टक इनके पहले था ही नहीं। सट्टक का प्रचार ग्यारहवीं शती के पूर्व ही हो चुका था और यह विधा भी लोक रूपों में विकसित होकर साहित्यरूप धारण करने लगी थी।

भरत मुनि द्वारा सट्टक का निर्देश न होने से इसकी प्राचीनता में किसी भी प्रकार की कमी नहीं आ सकती है। क्योंकि रूपकों का विकास नृत्यों से होता है। सट्टक में नृत्य का प्राण प्रतिष्ठान रहता है, अतः सट्टक सामान्यजन के बीच बहुत पहले से वर्तमान था। हाँ इसको परिष्कृत रूप अवश्य पीछे ही प्राप्त हुआ है। प्राकृत भाषा में सट्टक का लिखा जाना भी उसकी प्राचीनता का सबल प्रमाण है। ई० पू० २०० के भरहुत के शिलालेख में प्रयुक्त सादिक या सट्टिक शब्द भी सट्टक का पूर्वरूप ज्ञात होता। ऐसा मालूम होता है कि जनता के बीच सट्टक का प्रचार ई० सन् के पूर्व ही था और यह इतना अधिक जन-मानस में समाहित हो गया था कि लक्षणकारों का ध्यान इस लोक नृत्य-अभिनय की ओर बहुत काल तक न जा सका।

एक तथ्य और विचारणीय है कि संस्कृत को राजाश्रय प्राप्त था। राजसभाओं में ऐसे ही नाटक खेले जाते थे, जिनमें संस्कृत भाषा का व्यवहार होता था। फलतः सामान्य युग में साहित्यिक क्षेत्र में प्राकृत प्रधान सट्टक को विद्वानों में प्रविष्ट होने से रोका हो। यही कारण है कि भरत मुनि सट्टक के सम्बन्ध में मौन हैं। अन्यथा जन-मानस ने जिस विद्या में सर्व प्रथम नृत्य के साथ अभिनय का समन्वय किया, उसे लक्षण ग्रन्थों में क्यों स्थान नहीं मिला? राजशेखर ने भी अपने को सट्टक का प्रथम प्रणेता नहीं लिखा है। उनकी परिभाषा से यह ज्ञात होता है कि राजसभा में सट्टक का प्रवेश बहुत समय के बाद हुआ। इसी कारण लक्षणग्रन्थों में इसे बाद में स्थान मिला।

कुछ विचारक नाटिका को शास्त्रीय मान्यता प्रदान कर सट्टक को उसके बाद का विकास मानते हैं, पर बात उलटी ही है। नृत्य बहुल, अभिनय से परिपूर्ण कथानक, और अद्भुत भावों से युक्त प्राकृत भाषा में निबद्ध सट्टक अवश्य ही रोचक और

आकर्षक रहा है। यह स्पष्ट कर देना उचित है कि यहाँ भाव का अर्थ वासना (Passion) है, इसमें रस के संचारियों के मानसिक उच्च धरातल का भ्रम न करना चाहिए। इस प्रसंग में संगीत और नृत्य को भी उनके प्राथमिक स्वतन्त्र क्रीड़ा रूप (Freeplay) में मानना उचित होगा। सट्टक का मूल हमारी भावातिरेक (Passionate) और क्रीड़ात्मक (Playful) प्रवृत्तियों में हो सकता है। नृत्य और संगीत के साथ उसमें अभिनयात्मक कथानक भी जुटा हुआ है। अतः नाटिका को सट्टक का शास्त्रीय संस्करण मानना तर्कसंगत है। स्पष्ट है कि राजसभाओं में राजाओं और पुरोहितों का वार्तालाप संस्कृत में होना चाहिए, अतएव प्राकृत में लिखे गये सट्टक के कुछ अंश को संस्कृत में रूपान्तरित कर प्रेम प्रधान नाटिका का रूप गठित किया गया है।

सभी कलाओं के क्षेत्र में यह देखा जाता है कि आरम्भ में कला का कोई विशिष्ट उद्देश्य नहीं होता; किन्तु जैसे-जैसे समय व्यतीत होता जाता है, रूप परिष्कार के साथ उद्देश्य में भी दृढ़ता और विशिष्टता आती जाती है। साधारण, सीधा-सादा सट्टक भी राजा एवं सम्भ्रान्त व्यक्तियों की रुचि की तृप्ति के हेतु नाटिका का रूप धारण कर गया, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

सट्टक का स्वरूप और उसकी विशेषताएँ

सट्टक प्राकृत भाषा में रचित होता है। इसमें प्रवेशक, विष्कम्भक का अभाव और अद्भुत रस का प्राधान्य रहता है। इसके अंकों को जवनिका कहते हैं। इसमें अन्य बातें नाटिका के समान होती है। कर्पूरमंजरी में राजशेखर ने स्वयं कहा है—

> सो सट्टओ त्ति भणइ दूरं जो णाडिआइं अणुहरइ[1]।
> किं उण एत्थ पवेसअ-बिक्कंभाइं ण केवलं होंति ॥ १ । ६

नाटिका के समान इसकी भी कथावस्तु काल्पनिक होती है। नायक प्रख्यात धीर ललित राजा होता है। शृङ्गाररस प्रधान होता है। ज्येष्ठ, प्रगल्भ, राजकुलोत्पन्न, गंभीर और मानिनी महारानी होती है और इसी के कारण नायक का नूतननायिका से समागम होता है। प्राप्य नायिका मुग्धा, दिव्या एवं राजकुलोत्पन्ना कोई सुन्दरी होती है। अन्तःपुर इत्यादि के सम्बन्ध से देखने तथा सुनने से नायक का उसमें उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ता जाता है। नायक महिषी के भय से भीतर ही भीतर आतंकित रहता हुआ

---

१. सो सट्टओ सहअरो किल णाडिआए, ताए चउज्जवणिअंतर-बंधु रंगो।
चित्तत्थ-सुत्तिअ-रसो परमेक्क-भासो, विक्खंभ आदि-रहिओ कहिओ बुहेहि ॥
—चंदलेहा १।५

भी नवीन नायिका की ओर प्रवृत्त होता है। स्त्रीराज्य दिखलायी पड़ता है, शृङ्गार का वर्णन प्रचुर परिमाण में रहता है। महिषी के शासन में राजा रहता है।

नायक अपने राज्यभार को मन्त्रियों पर सौंप कर विलास एवं वैभव के भोग में अपने को लगा देता है, उसके जीवन का उद्देश्य ऐहिक आनन्द लेना ही होता है। विदूषक उसके प्रणय-व्यापार में बहुत सहायता देता है। संक्षेप में सट्टक की निम्न विशेषताएँ हैं—

१. चार जवनिकाएँ होती हैं।

२. कथावस्तु कल्पित होती है और सट्टक का नामकरण नायिका के नाम पर होता है।

३. प्रवेशक और विष्कम्भका का अभाव रहता है।

४. अद्भुत रस का प्राधान्य रहता है।

५. नायक धीरललित होता है।

६. पटरानी गम्भीरा और मानिनी होती है। इसका नायक के ऊपर पूर्ण शासन रहता है।

७. नायक अन्य नायिका से प्रेम करता है, पर महिषी उस प्रेम में बाधक बनती है। अन्त में उसी की सहमति से दोनों में प्रणय-व्यापार सम्पन्न होता है।

८. स्त्री-पात्रों की बहुलता होती है।

९. प्राकृत भाषा का आद्योपान्त प्रयोग किया जाता है।

१०. कैशिकी वृत्ति के चारों अंगों द्वारा चार जवनिकाओं का गठन किया जाता है।

११. नृत्य की प्रधानता रहती है।

१२. शृङ्गार का खुलकर वर्णन किया जाता है।

१३. अन्त में आश्चर्यजनक दृश्यों की योजना अवश्य की जाती है।

कर्पूरमञ्जरी

यह प्राकृत में चार अङ्कों का एक सट्टक है। इसका कथानक रत्नावली के समान है। इसमें राजा चण्डपाल और कुन्तल राजकुमारी कर्पूरमञ्जरी की प्रणय-कथा वर्णित है। यद्यपि इसका कथानक लघु है और चरित्र-चित्रण भी विशद नहीं हुआ है, तो भी इस सट्टक में कई विशेषताएँ हैं।

रचयिता—इसका रचयिता यायावर वंशीय राजशेखर है। तिलकमञ्जरी और उदय सुन्दरी में उसको 'यायावर' या 'यायावर कवि' कहा गया है। कवि के पिता का नाम दुर्दुक और माता का नाम शीलवती था। उनके पितामह 'महाराष्ट्र चूड़ामणि'

अकाल जलद थे। उनके वंश में सुरानन्द, तरल और कविराज जैसे यशस्वी कवि हुए थे। उनका विवाह चाहमान (चौहान) जाति की अवन्तिसुन्दरी नामक एक सुशिक्षित महिला के साथ हुआ था। अतः कुछ विद्वान् इन्हें क्षत्रिय मानते हैं तथा कुछ लोगों का मत है कि राजशेखर ब्राह्मण जाति के थे और इन्होंने अवन्तिसुन्दरी से अनुलोम विवाह किया था।

राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी में अपने सम्बन्ध में 'बालकवि', कविराज एवं सर्वभाषा-चतुर' आदि विशेषणों का उपयोग किया है। कवि ने अपने को निर्भयराज (महेन्द्रपाल) का गुरु बतलाया है। राजा महेन्द्रपाल के पुत्र और उत्तराधिकारी राजा महीपाल ने भी इनको अपना संरक्षक बनाया था। कवि धनार्जन की इच्छा से कन्नौज गया था। कान्यकुब्जनरेश महेन्द्रपाल ही इनका शिष्य था। बालरामायण में कवि ने अपने सम्बन्ध में लिखा है—

> बभूव बल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुविभर्तृमेण्ठताम्।
> स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥ १।१६॥

इस पद्य में उन्होंने अपने को बाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ तथा भवभूति का अवतार कहा है।

सियदोनी के शिलालेख में महेन्द्रपाल की ९०३–४ ई० और ई० सन् ९०७–८ ई० तिथियाँ निर्दिष्ट की गयी हैं। अतः राजशेखर का स्थितिकाल ९०० ई० के लगभग है। राजशेखर ने उद्भट (ई० ८००) तथा आनन्दवर्धन (ई० ८५०) उल्लेख किया है। दूसरी ओर यशस्तिलक (ई० ९५९), तिलकमञ्जरी (ई० १०००) और व्यक्ति विवेक (ई० ११५०) में राजशेखर का उल्लेख किया गया है। अतः इनका समय दशवीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित है।

राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी, विद्धशालभंजिका, बालरामायण और बालभारत ये चार नाटक लिखे हैं। काव्यमीमांसा नामक एक अलङ्कार ग्रन्थ भी है। हेमचन्द्र ने इनके हर-विलास नामक महाकाव्य का भी उल्लेख किया है। काव्यमीमांसा में भुवनकोश नामक एक भौगोलिक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है।

कथावस्तु—प्रस्तावना के अनन्तर राजा चन्द्रपाल, रानी विभ्रमलेखा, विदूषक और अन्य सेवक रंगमंच पर आते हैं। राजा और रानी परस्पर वसन्तोत्सव और मलयानिल का वर्णन करते हैं। इस अवसर पर विदूषक और विचक्षणा में वसन्त वर्णन की क्षमता पर झगड़ा हो जाता है। विदूषक रूठकर चला जाता है और भैरवानन्द नामक अद्भुत सिद्ध-योगी को साथ लेकर आता है। राजा योगी से कोई आश्चर्य दिखाने का अनुरोध करता है। विदूषक की सलाह से विदर्भ नगर की राजकुमारी को भैरवानन्द अपनी योगशक्ति से सबके सामने ला दिखाता है। राजा उसके अनुपम सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है और

उससे प्रेम करने लगता है। यह राजकुमारी कर्पूरमञ्जरी रानी विभ्रमलेखा की मौसी शशिप्रभा की पुत्री थी। अतः रानी भैरवानन्द से अनुरोध करती है कि कर्पूरमञ्जरी को कुछ दिनों के लिए मेरे पास ही छोड़ दिया जाय।

राजा कर्पूरमञ्जरी की याद में विह्वल रहने लगता है। विचक्षणा राजा को कर्पूर-मञ्जरी द्वारा लिखा हुआ एक केतकी-पत्रलेख देती है तथा स्वयं मुख से राजा के वियोग में उसकी दीनदशा का वर्णन करती है। विदूषक भी विचक्षणा के समक्ष राजा की दीनावस्था का वर्णन करता है। अनन्तर राजा और विदूषक आपस में कर्पूरमञ्जरी की शोभा का वर्णन करते हैं। विदूषक द्वारा यह सूचित किये जाने पर कि हिन्दोलन चतुर्थी के अवसर पर महारानी गौरी पूजा के बाद कर्पूरमञ्जरी को झूले पर झुलायेंगी और मरकतकुञ्ज में बैठ कर महाराज कर्पूरमञ्जरी को झूलती हुई देख सकेंगे। राजा और विदूषक दोनों कदलीगृह में चले जाते हैं और कर्पूरमञ्जरी को झूलती हुई देखते हैं। एकाएक कर्पूरमञ्जरी झूले पर से उतर पड़ती है। राजा उसके सौन्दर्य का स्मरण करता रह जाता है। दोनों मरकत कुञ्ज में बैठे रहते हैं। इसी अवसर पर विचक्षणा आकर कहती है कि महारानी ने कुरवक, तिलक और अशोक वृक्ष लगाये हैं और कर्पूरमञ्जरी को उनका दोहद करने को कहा है। विचक्षणा के परामर्शानुसार राजा तमालवृक्ष की ओट से कर्पूरमञ्जरी का दर्शन करता है। सन्ध्याकाल हो जाने पर सभी चले जाते हैं।

राजा कर्पूरमञ्जरी के ध्यान में मग्न है। राजा और विदूषक अपने-अपने स्वप्न सुनाते हैं। उन दोनों में प्रेम, यौवन और सौन्दर्य पर बात-चीत आरम्भ होती है। इस अवसर पर नैपथ्य में कर्पूरमञ्जरी और कुरंजिका की बात-चीत द्वारा पता चलता है कि कर्पूर-मञ्जरी राजा के वियोग में व्याकुल है। इधर से राजा और विदूषक आगे बढ़ते हैं और उधर कर्पूरमञ्जरी और कुरंजिका आती हैं। कर्पूरमञ्जरी और राजा एक दूसरे को देखकर स्तब्ध रह जाते हैं। राजा कर्पूरमञ्जरी का हस्तस्पर्श करता है। संयोग से दीपक बुझ जाता है और सभी लोग सुरंग के रास्ते प्रमदोद्यान में चले आते हैं। इधर रानी को कर्पूरमञ्जरी के राजा से मिलने का वृत्तान्त ज्ञात हो जाता है। अतः वह घबड़ाकर सुरंग के रास्ते रक्षागृह में चली जाती है।

रानी ने कर्पूरमञ्जरी पर कठोर नियन्त्रण लगा दिया है। वह राजा से मिल नहीं पाती। इधर सारंगिका महाराज को केलिविमान प्रासाद पर चढ़कर वटसावित्री महोत्सव देखने का निमन्त्रण दे आती है। राजा और विदूषक वहाँ जाते हैं। वहाँ पर सारंगिका रानी की ओर से राजा के पास सन्देश लाती है कि आज सायंकाल राजा का विवाह होगा। राजा के द्वारा पूछे जाने पर वह कहती है कि रानी ने गौरी की प्रतिमा बनवा कर भैरवानन्दन से जब गुरुदक्षिणा के लिए बड़ा आग्रह किया तो उन्होंने कहा कि यह

दक्षिणा महाराज को दो। लाट देश के राजा चण्डसेन की पुत्री घनसारमञ्जरी का राजा से विवाह करा दो। ज्योतिषियों ने उसको चक्रवर्ती राजा की रानी होना लिखा हैं। इस प्रकार राजा भी चक्रवर्ती हो जायँगे और मुझे भी दक्षिणा मिल जायगी।

रानी घनसारमञ्जरी को कर्पूरमञ्जरी से भिन्न समझती थी। राजा का विवाह घनसारमञ्जरी से सम्पन्न होता है और अन्त में भेद खुल जाता है।

समीक्षा—सट्टक का नायक चन्द्रपाल है। यह धीर ललित, निश्चिन्त, सुखी और मृदुस्वभाव वाला हैं। कर्पूरमञ्जरी को देखते ही वह उस पर मुग्ध हो जाता है, उनके लेशमात्र वियोग को भी सहन करने में असमर्थ है। रानी विभ्रमलेखा चन्द्रपाल को चक्रवर्तीपद प्राप्त कराने की अभिलाषा से घनसारमञ्जरी के साथ उनका विवाह सम्पन्न हो जाने देती है।

इस सट्टक में आरम्भ से अन्त तक शृंगार और प्रेम का वातावरण पाया जाता है। विदूषक राजा से पूछता है कि यह प्रेम क्या है? राजा उत्तर देता है कि एक दूसरे से मिले हुए स्त्री-पुरुषों का कामदेव की आज्ञा से उत्पन्न हुआ भाव प्रेम कहलाता है।[1] कवि कहता है—

जस्सि विअप्पघडणाइकलंकमुक्को
अत्ताणअस्स सरलत्तणमेइ भावो।
एक्केक्कअस्स पसरन्तरसप्पवाहो,
सिंगारवड्ढिअमणोहववदिण्ण सारो ॥३।१०॥

जिस भाव के उत्पन्न होने पर एक दूसरे के चित्त के विचार संशय आदि भावों से रहित हो जाते हैं, जिसमें आनन्द का स्रोत-सा बहता है और शृङ्गार से प्रवृद्ध कामदेव के द्वारा जिसमें उत्कर्ष आ जाता है तथा सरलता आ जाती है, वह भाव प्रेम कहलाता है।

इस सट्टक में चर्चरी नामक नृत्य का भी प्रयोग किया है, जिसमें हाव-भाव का प्रधान स्थान है।

पदलालित्य तो अनुपम है। गीति-सौन्दर्य एवं अनुप्रास माधुर्य का एकत्र समवाय पाया जाता है। यथा—

रणंतमणिणेउरं झणझणन्तहारच्छडं।
कलकणिदकिङ्किणीमुहरमेहलाडम्बरं॥

१. अण्णोण्णमिलिदस्स मिहुणस्स मअरद्धअसासणे प्परूढं प्पणअग्गंठि पेम्मेति छइल्ला भणंति।

३।१० के पहले वाला गद्यांश—

बिलोलबलआवलीजणिदमञ्जुसिजारवं
ण कस्स मणमोहणं ससिमुहीअ हिन्दोलणं ॥ २।३२ ॥

झूले पर झूलती हुई सुन्दरी का रमणीय शब्द चित्र है। कवि कहता है कि मणि-नूपुरों की झंकार से युक्त, हारावली के झन्-झन् शब्द से पूर्ण, करधनी की छोटी-छोटी घंटियों के मधुर शब्द से भरा हुआ तथा चंचल कंकणों से उत्पन्न मधुर शब्द वाला यह चन्द्रमुखी कर्पूरमञ्जरी का झूलना किसके मन को अच्छा नहीं लगता ?

कर्पूरमञ्जरी में हास्य रस का भो बड़ा अनूठा चित्रण हुआ है। तृतीय जवानिकान्तर में विदूषक का स्वप्न वर्णन बड़ा ही सरस और विनोदपूर्ण है। राजा की स्मरपीडा और विदूषक की विनोदप्रियता का एक साथ चित्रण किया गया है, जो रोचक और परिहास-पूर्ण है। विदूषक की अनूठी उक्तियाँ नाटक के संवादों को सजीव बना देती हैं।

इस सट्टक में सभी शास्त्रीय लक्षण पाये जाते हैं। कविता की दृष्टि से इसके प्रायः सभी पद्य बहुत ही सुन्दर हैं। इसमें कुल १४४ पद्य हैं; जिनमें शार्दूलविक्रीडित, वसन्त तिलका, स्रग्धरा आदि १७ प्रकार के छन्द प्रयुक्त हैं।

प्रसंगवश कवि के कौलधर्म का व्याख्यान भी उपस्थित किया है। वसन्त वर्णन सन्ध्यावर्णन और चन्द्रिकावर्णन बहुत ही प्रभावोत्पादक हैं। झूले के दृश्य का वर्णन, दर्शनीय है—

विच्छाअन्तो णअररमणीमंडलस्साणणाइं
विच्छालेन्तो गअणकुहरं कन्तिजोण्हाजलेण।
पेच्छन्तीणं हिअणिहिदं णिद्दलन्तो-अ दप्पं
दोलालीलासरलतरलो दोसदे से मुहेन्दू ॥ २।३० ॥

प्रत्येक रमणी के मुखारविन्द को फीका करता हुआ, अपने रूपलावण्य की द्रवीभूत चन्द्रिका से गगनमण्डल को तरंगित करता हुआ, अन्य युवतियों के अभिमान को दलित करता हुआ चन्द्रमा के समान उसका मुखमण्डल दिखाई देता है, जब कि वह झूलती हुई सीधे आगे-पीछे झोंके लेती है।

नारी सौन्दर्य के चित्रण में कवि बहुत कुशल है। निम्न उदाहरण दर्शनीय है—

अंगं लावण्णपुण्णं सवणपरिसरे लोअणे फारतारे
वच्छं थोरत्थणिल्लं तिबलिवलइअं मुट्ठिगेज्झं च मज्झं।
चक्काआरो निअम्बो तरुणिमसमए किं णु अण्णेण कज्जं
पञ्चेहिं चेअ बाला मअणजअमहावेजअन्तीअ होन्ति ॥ ३।१९ ॥

युवावस्था में सुन्दरियों का शरीर लावण्य से भरपूर हो जाता है, आँखें भी आकर्षक और बड़ी लगने लगती हैं, वक्षःस्थल पर स्तन खूब उभर आते हैं, कमर पतली हो

जाती है तथा उस पर त्रिवलियाँ पड़ जाती हैं। नितम्ब भाग खूब सुडौल और गोल हो जाता है। इन पाँच अंगों से ही बालाएँ कामदेव की विजय में पताका का काम करती हैं—सबसे आगे रहती हैं, किसी और की आवश्यकता ही क्या है।

चंदलेहा

रस-भाव-शवलित इस सट्टक की रचना पारशव वंश के कवि रुद्रदास ने की है। पारशव के सम्बन्ध में मनुस्मृति में बताया गया है कि ब्राह्मण पिता द्वारा शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान पारशव कहलाती है। केरल में पारशव वह जाति मानी जाती है, जो मन्दिरों की सेवा करती है, जिसका काम देव-मन्दिरों में सफाई करना तथा अन्य सभी प्रकार से देव मन्दिरों की सेवा करना है। यह जाति एक प्रकार से क्षत्रिय होती है। हमारा कवि इस जाति में उत्पन्न हुआ है। इस पारशव जाति की यह प्रमुख विशेषता है कि इसमें संस्कृत भाषा और साहित्य का प्रचार अत्यधिक है। इस जाति के प्रायः सभी लोग संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् होते हैं।

कवि ने रुद्र और श्रीकण्ठ को अपना गुरु माना है। ये दोनों महानुभाव कालिकट के रहनेवाले थे। कवि केरल निवासी है और संस्कृत, प्राकृत भाषाओं का पूर्ण पण्डित प्रतीत होता है।

कवि ने इस चन्दलेहा (चन्द्रलेखा) सट्टक की रचना सन् १६६० के आस-पास की है। सट्टक का नायक मानवेद कवि का समकालीन प्रतीत होता है।

कथावस्तु—इस सट्टक में चार जवनिकान्तर हैं और इसमें मानवेद तथा चन्द्रलेखा के विवाह का वर्णन है। कथावस्तु का गठन कर्पूरमञ्जरी के समान ही है; कवि ने सट्टक के समस्त लक्षणों का निर्वाह इसमें किया है।

नान्दी और आशीर्वचन के अनन्तर सूत्रधार का प्रवेश होता है। यह शिव और पार्वती की स्तुति करता है। तदनन्तर परिपार्श्विक आता है और दोनों सट्टक पर अपना विचार व्यक्त करते हैं। प्राकृत भाषा की सरसता स्वीकार राजा मानवेद के विचक्षण सभासदों को प्रेरणा का निर्देश किया गया है।

वसन्त का आगमन हो गया है। राजा मानवेद चक्रवर्ती होने की चिन्ता में मग्न है। वह अपनी महिषी को ऋतुराज वसन्त के आगमन पर नगर का सौन्दर्य उपभोग करने की प्रार्थना करता है। इसमें चन्द्रिका और विदूषक भी सहयोग देते हैं। सभी मरकत आश्रम में जाते हैं। मञ्जुकण्ठ और मधुरकण्ठ नामक दो बन्दीजन राजा का स्वागत करते हैं। वे राजा के गुणों की श्लाघा करते हुए उपवन का सौन्दर्य अवलोकन करने के लिए प्रेरित करते हैं। इसी समय राजा सिन्धुनाथ का मन्त्री सुमति, सुश्रुत के साथ आता है। वह समस्त कामनाओं की पूर्त्ति

करने वाला चिन्तामणि रत्न राजा मानवेद को प्रदान करता है। राजा उस चिन्तामणि रत्न को प्राप्त कर प्रसन्न होता है और राजा के परामर्शानुसार विदूषक उक्त रत्न के अधिष्ठाता देव से विश्व की परम सुन्दरी नारी को लाने की प्रार्थना करता है। मणि के प्रभाव से शीघ्र ही एक परम सुन्दरी रमणी आ उपस्थित होती है। राजा उसके रूप को देखकर मोहित हो जाता है और वह भी राजा पर आसक्त हो जाती है। रानी उस सुन्दरी को अन्तःपुर में ले जाती है। राजा उसके वियोग से व्याकुल हो जाता है।

राजा मानवेद एक चमरवाहिका के साथ आता है। राजा नायिका के अंगों का स्मरण कर विह्वल हो जाता है। चमरवाहिका किसी प्रकार वसन्त वर्णन कर उसका ध्यान अन्यत्र हटाना चाहती है। विदूषक राजा की काम विह्वलता देखने के लिए आता है। राजा विदूषक से नायिका के प्रति अपनी आसक्ति का कथन करता है। विदूषक राजा को चन्द्रलेखा के हाथ से लिखित पत्र देता है। राजा रोमांचित होकर पत्र पढ़ता है और साथ ही चन्दनिका और चन्द्रिका के छन्दों को भी पढ़ता है। विदूषक बतलाता है कि चन्द्रिका से विदित हुआ है कि रानी नायिका की संगीत निपुणता को जानती है और उसने पद्मरागाराम में उसके संगीत का आयोजन किया है। राजा छिपकर चन्द्रलेखा के संगीत को सुनता है। उसका मदनज्वर और बढ़ जाता है। लौटते समय राजा और विदूषक नक्तमालिका और तमालिका के परस्पर संवाद को सुनते हैं। उनके सम्भाषण से विदित होता है कि रानी को राजा और नायिका के प्रेम की शंका हो गयी है। कश्मीर की रानी शारदा ने उसे एक विलक्षण स्मृतिवाली सारिका दी थी। रानी ने राजा की बातों का पता लगाने के लिए उसे एक मूर्ति के कंठ में बैठाकर राजसभा में रखवा दिया था। उसी को तमालिका अब ले जा रही है। इस संवाद को सुनकर राजा उदास हो गया।

नायिका के प्रेम से विह्वल राजा को विदूषक समझाते हुए कहता है कि उसे चन्दनिका से ज्ञात हुआ है कि राजकुमारी भी काम पीड़ित है। उपचार के हेतु सरोवर तट पर कदलीगृह में लायी गयी है। पर्याप्त शीतलोपचार के अनन्तर भी उसका कामज्वर कम नहीं होता। राजा इस समाचार को सुनकर बहुत व्यग्र हो जाता है। वह उसकी रक्षा के हेतु पर्णशय्या पर लेटी हुई चन्द्रलेखा के पास आता है। चन्दनिका और चन्द्रिका उसकी शुश्रूषा कर रही है। राजा के स्वागत के लिए नायिका उठने का प्रयत्न करती है, किन्तु राजा उसका हाथ पकड़ कर बैठा देता है। राजा का स्पर्श होते ही नायिका में अचानक परिवर्तन आ जाता है। उसे मालूम हुआ कि अग्नि की लपटों में से निकाल कर अमृत समुद्र में निमग्न कर दिया गया है। रानी का आगमन सुनकर राजा छिप जाता है।

राजा नायिका के विरह में उदास है। विदूषक आकर राजा से कहता है कि उस कदलीगृह से नायिका और राजा के मिलन की बात ज्ञात कर रानी बहुत क्रुद्ध हुई, किन्तु एक घटना के कारण उसका क्रोध शीघ्र शान्त हो गया। उसका मौसेरा भाई चन्द्रकेतु आता है और अपनी बहन चन्द्रलेखा के अचानक चम्पावन से गायब हो जाने की सूचना देता है। रानी यह सुनकर बहुत दुःखी होती है। अन्त में राजा की प्रार्थना से चिन्तामणि रत्न का अधिष्ठाता देव चन्द्रलेखा को उपस्थित कर देता है। इस पर सभी आश्चर्य में पड़ जाते हैं। रानी सहर्ष अपनी बहन से मिलती है। अधिष्ठाता देव घोषणा करता है कि चन्द्रलेखा से विवाह करनेवाला व्यक्ति चक्रवर्ती सम्राट् होगा। अतएव रानी को उन दोनों के विवाह सम्बन्ध की स्वीकृति देनी पड़ती है। राजा का चन्द्रलेखा के साथ विवाह हो जाता है।

समीक्षा—इस सट्टक का नायक मानवेद कर्पूरमञ्जरी के नायक चन्द्रपाल के समान ही गुणों से समन्वित है। इसमें चक्रवर्ती बनने की महत्वाकांक्षा आरम्भ से ही पायी जाती है। फलतः सट्टक के आरम्भ में ही वह उक्त पद की प्राप्ति के लिए चिन्तित दिखलायी पड़ता है। कवि ने रचना-नैपुण्य और कल्पना वैभव का परिपाक पूर्णतया प्रदर्शित किया है। वस्तुतः रचना इतनी सरस है कि पाठक कथावस्तु से परिचित होता हुआ आगे बढ़ता जाता है। अनेक रोचक घटनाओं एवं अवस्थाओं की सृष्टि सट्टक को आद्योपान्त सरल एवं रोचक बनाये रखती हैं। चन्द्रलेखा सुन्दरी तो है ही, उसका रूपलावण्य विधाता ने संसार की समस्त रूपवती वस्तुओं का सार लेकर प्रस्तुत किया है तथा अंगाधिराज चन्द्रवर्मन की पुत्री चन्द्रलेखा नायिका के समस्त गुणों से परिपूर्ण हैं। वह प्रेम करना जानती है। कवि ने पद्मराग आराम में संगीत गोष्ठी की योजना कर नायक और नायिका का साक्षात्कार बहुत ही नाटकीय ढंग से उपस्थित किया है।

कथानक में कौतूहल तत्त्व का पूर्ण समावेश है। घटनाएँ नाटकीय ढंग से घटित होती जाती हैं। मदनातुर चन्द्रलेखा से मानवेद का कदलीगृह में मिलने का दृश्य बड़ा ही रोचक है। काव्य सौन्दर्य के साथ इसमें सट्टक के अन्य समस्त गुण भी समाविष्ट हैं। यद्यपि पात्रों का चरित्र पूर्णतया सामने नहीं आ पाया है, पर यह दोष कवि का नहीं, सट्टक शैली का है। सट्टकों में संगीत और नृत्य की प्रमुखता रहने से चरित्र चित्रण में कमी रह जाती है।

इस सट्टक में विलासमय प्रणय का रंगीन चित्रण किया गया है। पर एक बात यह भी पायी जाती है कि भारतीय मर्यादा की रक्षा इसमें की गयी है। संवादों में नाटकीयता वर्तमान है। विदूषक और राजा का संवाद, नक्कमालिका और तमालिका का संवाद, चन्दनिका और चन्द्रिका के संवादों में प्रवाह और सहज स्वाभाविकता के दर्शन होते हैं। इसमें नाटकीयता पूर्णतया समाविष्ट है। आरम्भ से अन्त तक प्रणय का विकास इस सट्टक में पाया जाता है।

शैली सरल है, पर भाषा में कृत्रिमता अवश्य आ गयी है। काव्य की दृष्टि से इस कृति का महत्त्व अधिक है। वसन्त के समय नगर की शोभा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

तारुण्णएण रमणि व्व सुरूव-रम्मा
जोण्हा-रसेण रअणि व्व फुरंत-चंदा।
फुल्लुग्गमेण लदिअ व्व पवाल-पुण्णा
रेहेइ हंत णअरोमहु-संगमेणं ॥ १।१६ ॥

—युवावस्था से जिस प्रकार रमणी सुशोभित होती है, ज्योत्स्ना से जिस प्रकार रजनी सुशोभित होती है और विकसित पुष्प तथा दलावलि से युक्त जिस प्रकार लता सुशोभित होती है, उसी प्रकार वसन्त आगमन से यह नगरी सुशोभित हो रही है।

चामरग्राहिणी वसन्त का वर्णन करती हुई कहती है—

सूणाहिंतो पिबंतो भमइ महुअरो मंदमंदं मरंदं।
चूआहिंतो पडंतो महमहइ स-भंगाणु बंध्ये सुअंधो॥
मूलाहिंतो हसंतो विलसइ पहिउक्केर-सोओ असोओ।
सिंगाहिंतो बलंतो मलऊ-सिहरिणो वाइ सीओ अ वाओ॥

—२।२

मन्द-मन्द रूप में मकरन्द का पान करती हुई भ्रमरावलि भ्रमण कर रही है। आम्रमञ्जरी के ऊपर भ्रमर-पंक्ति के गिरने से मञ्जरी टूट जाती है, जिससे सर्वत्र सुगन्ध व्याप्त है। अशोक वृक्ष पथिकों के शोक को दूर करता हुआ सुशोभित हो रहा है और वह मूल से हँसता हुआ सा प्रतीत हो रहा है। मलयानिल मलय पर्वत के शिखर का स्पर्श करता हुआ शीतल रूप में प्रवाहित हो रहा है।

नारी सौन्दर्य का चित्रण भी कवि ने बहुत ही सुन्दर किया है। वसन्त रूपश्री का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

णेत्तं कंदोट्ट-मित्तं अहर-मणि-सिरि बंधुजीए-क्कबंधू
वाणी पीऊस-वेणी णव-पुलिण-अल-त्थोर-बिंबो णिअंबो।
गत्तं लाअण्ण-सोत्तं घण-सहिण-भरच्चंत-दुज्झंत-मज्झं
उत्तेहिं किं बहूहिं जिणइ मह चिरा जम्म-फुल्लं फलिल्लं॥

—२।३

उसके नीलकमल के समान नेत्र हैं, बन्धुक पुष्प के समान अधर-मणि हैं, पीयूषवेणी के समान वाणी है, नवपुलिनतल के समान स्थूल नितम्ब हैं। वक्षःस्थल पर उभरे हुए कुचद्वय हैं, कमर क्षीण है। अधिक क्या कहा जाय, उसका जन्म मेरे लिए उसी तरह है, जिस प्रकार पुष्प से फल की उत्पत्ति होती है।

चंदण-चच्चिअ-सव्व-दिसंतो
चारु-चओर-सुहाइ कुणंतो।
दीह-पसारिअ-दीहिइ-बुंदो
दीसइ दिण्ण-रसो णव-चंदो ॥
—३।२१

समस्त दिशाओं को चन्दन से चर्चित करता हुआ, सुन्दर चकोर पक्षियों को सुख प्रदान करता हुआ, अपनी किरणों के समूह को दूर तक प्रसारित करता हुआ सरस नूतन चन्द्रमा दिखलाई दे रहा है।

इस सट्टक में गद्य के प्रयोग बहुत ही प्रौढ़ और समस्यन्त हैं। गद्य की तुलना भवभूति के उत्तररामचरित से की जा सकती है। पद्य की अपेक्षा गद्य में अधिक कृत्रिमता है। भाषा वररुचि के प्राकृतप्रकाशसम्मत महाराष्ट्री है। इसकी शैली कर्पूरमञ्जरी से बहुत मिलती-जुलती है। कथोपकथनों में लम्बे-लम्बे समासों के कारण कृत्रिमता दृष्टिगोचर होती है।

इसमें गीति, पृथ्वी, वसन्ततिलका, स्रग्धरा आदि १५ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है।

आनन्दसुन्दरी[1]

आनन्दसुन्दरी प्राकृत का वह सट्टक है, जिसकी कथावस्तु का गठन कर्पूरमञ्जरी की शैली पर नहीं हुआ है। यह एक मौलिक सट्टक है। कई स्थानों पर हास्य का पुट दिया गया है। इस सट्टक का रचयिता महाराष्ट्रचूडामणि कवि घनश्याम है।

रचयिता—कवि घनश्याम संस्कृत, प्राकृत और देशी इन तीनों भाषाओं में समान रूप से कविता करते थे। कवि ने अपना परिचय देते हुए स्वयं लिखा है—

ईसो जस्स खु पुव्वओ उण महादिव्वो पिदा अज्जुआ
कासी जस्स अ सुन्दरी पिअअमा साअंभरी अस्ससा।
सत्तट्ठोत्ति-लिवि-प्पहू गुण-खणी चोंडाजि बालाजिणो
पोत्तो बाविस-हाअणो चउरही जो सव्वभासा-कई ॥ २।५ ॥
पडु छब्भासा-कव्वं णाडअ-भाणा रसुम्मिलो चंपू।
अण्णाव्वदेस-सदअं लीलाए विरइदं जेण ॥ २।६ ॥

इससे स्पष्ट है कि कवि के पिता का नाम महादेव, माता का नाम काशी, दादा का चोंडाजि-बालाजि, बड़े भाई का नाम ईसा और बहन का नाम शाकम्भरी था। कवि की

---

१. सन् १९५५ में डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित होकर मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित।

दो पत्नियाँ थीं, जिनके नाम सुन्दर और कमला थे। गोवर्द्धन और चन्द्रशेखर नाम के इनके दो पुत्र थे। इनका जन्म ई० सन् १७०० के लगभग हुआ था और ई० सन् १७५० तक जीवित रहे। २९ वर्ष की अवस्था में ये तन्जोर के तुक्कोजि प्रथम के मन्त्री नियुक्त हुए। इनका परिवार धार्मिक और साहित्यिक प्रवृत्ति का था। इनकी पत्नियाँ संस्कृत-काव्य-रचना के समय इनकी सहायता करती थीं। घनश्याम को सार्वजनिक कवि, कवि कंठीरव एवं चौडाजि कवि आदि-आदि नामों से अभिहित किया जाता था। कवि सरस्वती का बड़ा भारी भक्त था, अतः अपने को सरस्वती का अवतार मानता था। इसने अपने को सात-आठ भाषाओं और लिपियों में निष्णात लिखा है। घनश्याम ने ६४ संस्कृत में; २० प्राकृत में और २५ रचनाएँ देशी भाषा में लिखी हैं। ये ग्रन्थ नाटक, काव्य, चम्पू, व्याकरण, अलंकार, दर्शन आदि विषयों पर लिखे गये हैं। इनमें तीन सट्टक हैं—(१) वैकुण्ठचरित, (२) आनन्दसुन्दरी और (३) एक अन्य। इन तीनों सट्टकों में एक मात्र आनन्दसुन्दरी ही उपलब्ध है। इसको कवि ने २२ वर्ष की आयु में लिखा है।

घनश्याम ने अपने को सर्वभाषाकवि घोषित किया है। उनका अभिमत है कि जो एक भाषा में कविता करता है, वह एक देश कवि है जो अनेक भाषाओं में कविता करता है, वही सर्वभाषा कवि कहलाता है। प्रकृत्या कवि दम्भी प्रतीत होता है और यही कारण है कि अपने समय के कवियों में वह यश प्राप्त नहीं कर सका। यह महाराष्ट्र का निवासी था।

कथावस्तु—राजा शिखण्डचन्द्र गुणी और प्रतापी है, वह सिन्धुदुर्ग के शासक को अपने अधीन करने के लिए अमात्य डिण्डीरक को भेजता है। पुत्र न होने के कारण राजा चिन्तित रहता है। अंगराज की कन्या आनन्दसुन्दरी सम्राट् शिखण्डचन्द्र के गुणों से आकृष्ट होकर अपने पिता से आज्ञा ले उससे मिलने के लिए चल पड़ती है। वह पुरुष के वेश में आती है और अपना नाम पिंगलक रख लेती है। राजा शिखण्डचन्द्र ने राज्य का प्रबन्धक मन्दारक को नियत कर दिया है। ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की है कि उसे एक सुन्दर पुत्र-रत्न प्राप्त होगा। वन्दीजन प्रातःकाल के अर्चन-वन्दन द्वारा राजा का अभिनन्दन करते हैं। राजा नाटक देखने की इच्छा व्यक्त करता है। गर्भ नाटक का आयोजन किया जाता है। पिंगलक और मन्दारक भी नाटक देखने के लिए आमन्त्रित किये जाते हैं। गर्भनाटक में दर्शकों के चरित्र प्रतिबिम्बित होने के कारण विदूषक सबकी हँसी उड़ाता है। इसी नाटक में राजा आनन्दसुन्दरी के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है। दोपहर के भोजन की घोषणा होती है और सभी उठकर स्नान के लिए चले जाते हैं।

विदूषक महाराज को सूचना देता है कि हेमवती ने महारानी के समक्ष रहस्योद्घाटन कर दिया है। फलस्वरूप मन्दारक को बन्दी बना दिया जाता है और आनन्दसुन्दरी को आभूषण के बक्से में बन्दकर दिया जाता है और उसकी रखवाली के लिए पचास दासियाँ

नियत कर दी जाती है। राजा इस समाचार से मर्माहत हो जाता है। वह उसकी दयनीय स्थिति पर चिन्ता प्रकट करता है। विदूषक राजा को सौभाग्य-वृद्धि का आशीर्वाद देता है। चिन्तित राजा का ध्यान परिवर्तित करने के लिए कवि परिजात—कान्तिरव अपनी काव्यात्मक क्षमताओं का वर्णन करते हुए प्रवेश करता है। अलंकृत शैली, परिमार्जित भाषा और पौराणिक सन्दर्भों के माध्यम से वह राजा के गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। राजा कवि को पुरस्कार देना चाहता है, पर कवि लेने से इंकार कर देता है। राजा अपना ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करने के लिए विदूषक को प्रस्तावित करता है कि वह नायिका आनन्दसुन्दरी के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन करे। राजा तीव्र मदन ज्वर से सन्तप्त है। वह अनुभव करता है कि रानी को प्रसन्न किये बिना आनन्दसुन्दरी की प्राप्ति संभव नहीं।

राजा प्रसन्नमुद्रा में दिखलायी पड़ता है; क्योंकि उसने महारानी का समर्थन प्राप्त कर लिया है। विदूषक महाराज से रानी की प्रसन्नता प्राप्त करने का कारण पूछता है। राजा बतलाता है कि वह रानी से किस प्रकार शयनकक्ष में मिला, कितनी प्रार्थनाओं के अनन्तर महारानी प्रसन्न हुई और आनन्दसुन्दरी के साथ विवाह करने की अनुमति प्रदान की। विवाहोत्सव की तैयारी होने लगती है। आनन्दसुन्दरी विवाह के वस्त्रों से आच्छादित हो सेविकाओं के साथ प्रवेश करती है। विवाहोत्सव धूम-धाम से सम्पन्न किया जाता है। दम्पति को सभी लोग आशीर्वाद देते हैं और उनका अभिनन्दन करते हैं।

राजा विवाहोत्सव सम्पन्न होने के अनन्तर शृंगारवन में चले जाते हैं। नायिका को विभिन्न वृक्षों से परिचित कराया जाता है। बन्दीजन उदित होते हुए चन्द्रमा का वर्णन करते हैं। नायिका शयन-कक्ष में चली जाती है समयानुसार आनन्दसुन्दरी को गर्भधान होता है। राजा उसकी समस्त इच्छाओं को पूर्ण करता है।

गर्भांक नाटक की योजना की जाती है और इसमें मन्त्री की विजय दिखलायी जाती है और बतलाया जाता है कि डिण्डीरक किस प्रकार शत्रु को वश में करता है। राजा प्रसन्न होकर बहादुर मन्त्री को समस्त राज्य देने को प्रस्तुत है। इस समय राजकुमार के जन्म की सूचना प्राप्त होती है। राजा बच्चे को गोद में उठा लेता है। भाट मंगल-प्रशस्ति का गायन करते हैं।

समीक्षा—इस सट्टक पर कर्पूरमञ्जरी का प्रभाव नहीं है। कवि घनश्याम ने इसमें मौलिकता का पूर्ण समावेश किया है। हास्य और व्यंग्य का पुट भी पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। नायक और नायिका के चरित्रों का विकास इसमें पूर्णतया नहीं हो पाया। नायक धीरललित है, उसमें उदारता भी पूर्णतया वर्तमान है। वह कवि और मन्त्री को अपना समस्त राज्य देने में भी हिचकता नहीं है। पुत्र प्राप्ति की लालसा उसे सदैव चिन्तित बनाये रखती है। आनन्दसुन्दरी के सौन्दर्य से मुग्ध होकर वह पुत्र-प्राप्ति के हेतु

उससे विवाह करना चाहता है। महारानी उसके प्रणय-व्यापार में बाधक है, फिर भी वह निराश नहीं। महारानी को प्रसन्न करने के लिए सभी प्रकार के प्रयत्न करता है। अन्त में सफलता मिल जाती है और उसका विवाह आनन्दसुन्दरी के साथ हो जाता है।

कवि ने इसमें दो गर्भनाटकों की योजना कर कथानक को गतिशील बनाया है। ये दोनों गर्भाङ्क नाटक के उद्देश्य की सिद्धि में सहायक है। कवि का यह अभिमत है कि गर्भनाटक की योजना के बिना सट्टक अधूरा रहता है। प्रथम गर्भनाटक द्वारा आनन्द-सुन्दरी को पिंगलक नामक पुरुष के वेश में उपस्थित किया गया है। कवि ने निकट से नायिका के सौन्दर्य अवलोकन का अवसर राजा को प्रदान किया है। राजा के हृदय में अंकुरित प्रेम को विदूषक अपने हास्य द्वारा उभारता है। दूसरे गर्भनाटक में जहाजी बेड़े के संघर्ष का दृश्य है, जिसमें डिण्डीरक बहुत ही चालाकी से सिन्धुदुर्ग पर चढ़ाई करता है और दर्पण प्रतिबिम्ब के माध्यम से राक्षकों की एक छोटी टुकड़ी उपस्थित कर शत्रुओं को साफ कर देता है।

इस सट्टक की कथावस्तु को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने इसका प्लॉट संस्कृत में सोचा था और प्राकृत में उसे अनूदित कर दिया है। इसी कारण इसमें स्वाभाविकता नहीं है, कृत्रिमता का समावेश हो गया है। वररुचि के प्राकृतप्रकाश के आधार पर भाषा का रूप गढ़ा है। प्राकृत में जिस प्रकार की नैसर्गिक अभिव्यक्ति राज-शेखर की पायी जाती है, वैसी घनश्याम की नहीं। यद्यपि घनश्याम ने इस सट्टक में पाठकों की उत्सुकता को बनाये रखने के लिए विदूषक द्वारा हास्य और व्यंग्य का भी समावेश किया है, तो भी पूर्णतया नाटकीयता की रक्षा नहीं हो सकी है। विदूषक के अश्लील हास्य चित्र हल्के प्रतीत होते हैं। गम्भीर परिस्थितियों का चित्रण करने की क्षमता उन हास्य चित्रों में नहीं है।

नाटक में कथोपकथन का स्थान बहुत ऊँचा रहता है। नाटककार श्रेष्ठ दृश्यों की योजना इन्हीं के द्वारा करता है। अतः नाट्यकला को व्याख्यात्मक शिल्प के स्थान पर सर्जनात्मक कला के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए उनके कार्य, दृश्य तथा संवादों में गत्यात्मक सामंजस्य आवश्यक है। कवि घनश्याम ने इस नाटक में स्पष्ट और सारगर्भित संवादों की योजना की है।

इस सट्टक की चारों जवनिकाएँ प्राकृत में हैं, पर प्रथम जवनिका में दो बार और चतुर्थ जवनिका में एक बार संस्कृत का प्रयोग आया है। कविता की दृष्टि से यह सट्टक उत्तम कोटि का है। आनन्दसुन्दरी को समर्पित करते हुए धात्री कहती है—

> जम्मणो पहुदि वड्ढिदा मए
> लालणेहि विविहेहि कण्णआ।

संपदं तुह करे समप्पिआ
से पिओ गुरुअणो सही तुमं ॥ १।२९ ॥

जन्म से विविध प्रकार के लालन-पालन के द्वारा जिस कन्या को मैंने बड़ा किया, उसे अब मैं तुम्हारे हाथ सौंप रही हूं। अब तुम इसके लिए प्रिय, गुरुजन और सखी सभी कुछ हो।

स्पर्श सुख की शीतलता और मनोहारिता का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

ससिअर-पज्झरंत-चंदकंतो,
चणअ-हिमंबु विहिट्ठ चंदणं वा।
सुरउल-पडिदो सुहारसो कि
पिअ-जण-फंस-वसा ण होइ एव्वं ॥ १।२६ ॥

यह हस्तस्पर्श ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे चन्द्रमा की किरणों से चन्द्रकान्त-मणि द्रवित हो रहा हो, चने के पौधों में शीतल ओसविन्दु ही वर्तमान हों अथवा चन्दन का लेप किया गया हो। क्या यह स्वर्ग से च्युत हुई अमृत की धारा तो नहीं है। अर्थात् हस्तस्पर्श की शीतलता संसार की समस्त वस्तुओं की शीतलता की अपेक्षा उत्कृष्ट है।

राजा के वियोग का मार्मिक वर्णन करते हुए कवि कहता है—

अच्चुण्हा मे पिहुल-पिहुला होंति णोसासादण्डा
जीहा सुक्खा सलिल-कलिलं लोअणं तत्तमंगं।
कप्पाआमं वजइ णिमिसो कण्ठ-णालो सिढिल्लो
दोहा मोहा ण रुचइ जगो हंत तीए विओए ॥ २।१३ ॥

राजा विरहवेदना पीड़ित होकर विदूषक से कहता है—मदन ज्वर का तीव्र संताप बढ़ जाने से महती वेदना हो रही है, गर्म-गर्म लम्बी-लम्बी सासें आ रही हैं, जिह्वा सूख रही हैं, आँखों में आंसू भरे हुए हैं और शरीर तप रहा है। एक-एक क्षण कल्पकाल के समान व्यतीत हो रहा है। उसके वियोग में मूर्च्छा बढ़ रही है और कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। इस प्रकार काव्यकला की दृष्टि से यह सट्टक उत्तम है।

रंभामञ्जरी[1]

यह सट्टक कर्पूरमञ्जरी से प्रेरणा लेकर लिखा गया है। कवि ने इसे कर्पूरमञ्जरी की अपेक्षा श्रेष्ठ माना है। बताया है—

कप्पूरमंजरी जह पुव्वं कविरायसेहरेण कया।
नयचंदकई विरयइ इन्हि तह रंभमंजरिं एयम् ॥ १।१३ ॥

---

१. रामचन्द्र दीनानाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा निर्णयसागर प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित।

कप्पूरमंजरीए कह रंभामंजरी न अहिययरा।
कप्पूराउ न रंभा रंभाओ जेण कप्पूरो ॥१।१४॥

जिस प्रकार राजशेखर कवि ने कर्पूरमञ्जरी नामक सट्टक की रचना की है, उसी प्रकार नयचन्द कवि रंभामंजरी की इस समय रचना कर रहा है। कर्पूर से रम्भामंजरी अधिक सुन्दर सट्टक अवश्य है। क्योंकि कर्पूर से रम्भा की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु रम्भा से ही कर्पूर की उत्पत्ति होती है।

रचयिता—इस सट्टक का रचयिता नयचन्द्र नामक जैन मुनि है। इनके गुरु का नाम प्रसन्नचन्द्र था। कवि ब्राह्मण है, यह पहले विष्णु का उपासक था और पीछे जैन धर्म में दीक्षित हो गया। कवि को छः भाषाओं में काव्य रचने का सामर्थ्य है और राजाओं का मनोरंजन करने में भी वह पूर्ण कुशल है। नयचन्द्र ने इस सट्टक में अपने आपको श्रीहर्ष और अमरचन्द्र कवि के समान प्रतिभाशाली बताया है। कवि ने लिखा है कि इसमें कवि अमरचन्द्र का पद-लालित्य और श्रीहर्ष की व्यंग्योक्ति वर्तमान है।

इस कवि ने हम्मीर महाकाव्य की भी रचना की है। स्तोत्रादि अन्य ग्रन्थ भी पाये जाते हैं। कवि का समय चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। कवि के पाण्डित्य का परिचय स्वयं इस ग्रन्थ में निम्न प्रकार उपलब्ध होता है—

नयचन्द्रकवेः काव्यं रसायनमिहाद्भुतम्।
सन्तः सुदन्ति जीवन्ति श्रीहर्षाद्याः कवीश्वराः ॥१।१७॥
लालित्यमयरस्येह श्रीहर्षस्येव वक्रिमा।
नयचन्द्रकवेः काव्ये दृष्टं लोकोत्तरं द्वयम् ॥१।१८॥

कथावस्तु—इस सट्टक में तीन जवनिकाएँ हैं। इसमें वाराणसी के राजा जैत्रचन्द्र और लाटनरेश देवराज की दो पौत्री रम्भा के प्रणय-व्यापार का वर्णन है। इन दोनों का परस्पर में विवाह सम्बन्ध हो जाता है।

कवि ने आरम्भ में वराह को नमस्कार किया है। सूत्रधार और नटी के वार्तालाप के अनन्तर मल्लदेव और चन्द्रलेखा के पुत्र जैत्रचन्द्र का वर्णन आया है। यह राजा वाराणसी का रहनेवाला था। इस जैत्रचन्द्र राजा की सात स्त्रियाँ थीं और आठवीं रम्भा सुन्दरी से वह विवाह करना चाहता है। राजा की प्रधान महिषी वसन्तसेना है और इसकी सखी कर्पूरिका है। विदूषक और कर्पूरिका वसन्त का वर्णन करते हैं। राजा मदनज्वर से पीड़ित होकर लाटदेश के राजा देवराज की पुत्री रम्भा का समाचार लाने के लिए नारायणदास को भेजता है। नारायणदास देवी रम्भा को साथ लेकर लौट आता है। राजा जैत्रचन्द्र के जन्म दिवस के अवसर पर सभी लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। बतलाया जाता है कि किर्मीर वंश में उत्पन्न हुए मदनवर्मा राजा की पुत्री और

देवराज की पौत्री हंसराजा के लिए दिये जाने पर भी मामा शिव के द्वारा अपहृत्य कर लायी गयी है। राजा का रम्भा के साथ विवाह सम्पन्न हो जाता है।

सन्ध्या और चन्द्रवर्णन के अनन्तर प्रतिहारी सहित राजा वाटिका में भ्रमण करते हुए रम्भा का स्मरण करता है। राजा रम्भा के वियोग के कारण अत्यधिक स्मर ज्वर से पीड़ित है। इसी समय रोहक और कर्पूरिका का प्रवेश होता है। राजा कर्पूरिका से रम्भा का समाचार पूछता है। वह रम्भा का सन्देश देती हुई कहती है कि उनका कहना है कि एक स्थान पर रहते हुए भी किस पाप के उदय से स्वामी का मुख भी देखने में असमर्थ है। यदि महाराज आकर दर्शन दे सकें तो बड़ी कृपा हो। राजा कहता है—यदि इतना प्रगाढ़ प्रेम है तो उसने प्रेमपत्र क्यों नहीं लिखा ? कर्पूरिका उत्तर देती है—उन्होंने प्रेमपत्र लिखना आरम्भ किया था, पर मूर्च्छित हो जाने से रात्रि समाप्त हो गयी और 'स्वस्ति' पद के आगे कुछ न लिखा जा सका। राजा रम्भा से मिलने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हो जाता है। रोहक अपने स्वप्न की घटना सुनाता है।

राजा को रम्भा का अल्पकालीन वियोग भी चिरकाल के समान प्रतीत होता है। राजा अधिक स्त्रियों के कारण तथा महारानी वसन्तसेना के कठोर नियन्त्रण के कारण तत्काल रम्भा के साथ संयोग करने में असमर्थ है। रोहक राजा की ओर देखकर कर्पूरिका से कहता है—"तुम अशोक वृक्ष की शाखा का अवलम्बन लेकर खिड़की के द्वार से प्रविष्ट हो चन्द्रमा की चाँदनी के समान उसे नीचे उतार कर ले आओ।" वह रम्भा को नीचे ले आती है और राजा नव किसलय की शय्या पर रम्भा को सुला देता है। पुनः महादेवी के आगमन-भय से उसे यथास्थान पहुँचा देता है।

अनन्तर महादेवी कर्पूरिका के साथ आती है। राजा रानी को वामाङ्ग में स्थापित कर लेता है। दोनों काम क्रीड़ाएँ करते हैं। तृप्ति के अनन्तर रानी राजा से कहती है कि मैं अब निद्रा सुख का अनुभव करना चाहती हूँ और आप रम्भा सुख का अनुभव करें। अनन्तर कर्पूरिका के साथ रम्भा का प्रवेश होता है। राजा रम्भा की गोद में बैठकर मनोविनोद करता है। बहुत समय तक संयोग जन्य आनन्द लेते रहने पर भी वह समय क्षणार्ध के समान व्यतीत हो जाता है।

समीक्षा—यह सट्टक अधूरा प्रतीत होता है, इसमें चार जवनिकाओं के स्थान में तीन ही जवनिकाएँ पायी जाती हैं। कवि ने कर्पूरमञ्जरी से श्रेष्ठ बनाने की प्रतिज्ञा की है, पर यह कर्पूरमंजरी से अच्छा बन नहीं सका है। इस सट्टक का उद्देश्य क्या है, यह अन्त तक अवगत नहीं हो पाता है और न फल की ही प्राप्ति हो पाती। कथा का अन्त किस प्रकार हुआ, यह जिज्ञासा अन्त तक बनी रहती है। अतः अवश्य ही यह त्रुटित सट्टक है। नायक का चरित्र स्पष्ट नहीं हो पाया है तथा यह सामन्तवादी

नायक है और इसके जीवन में किसी भी प्रकार की मर्य्यादा नहीं है। सात रानियों के रहने पर भी रम्भा के साथ विवाह करता है, और वह भी उस स्थिति में जबकि रम्भा का विवाह अन्य किसी व्यक्ति के साथ हो गया है। रम्भा का अपहरण करा लेना और उसके साथ विवाह कर लेना, अभिजात्य संस्कार नहीं है। अतएव इस सट्टक का उद्देश्य कुछ दिखलायी नहीं पड़ता। कथावस्तु में मौलिकता तो अवश्य है, पर रोचकता नहीं। कविता अच्छी है, वर्णन-प्रसंग रस-भाव से युक्त हैं। कवि ने वसन्तागमन के अवसर पर विरहिणी की दशा का चित्रण करते हुए लिखा है—

मयंको संघको मलयपवणा देहतवणा
कहू सद्दो रुद्दो सुमसरसरा जीविदहरा।
वराइयं राई उवजणइ णिद्दंपि ण खणं
कहं हा जीविस्से इह विरहिया दूर पहिया ॥ १।४० ॥

वसन्तागमन के समय जिसका पति विदेश गया हुआ है, वह विरहिणी कैसे जीवित रहेगी? उसे मृगांक—चन्द्र शर्पाङ्क के समान प्रतीत होता है, शीतल मलयानिल देह को सन्तप्त करता है। कोकिल की कूक रौद्र मालूम होती है कामदेव के वाण जीवन को अपहरण करने वाले जान पड़ते हैं। बेचारी विरहिणी को रात्रि में एक क्षण के लिए भी नींद नहीं आती।

चन्द्रोदय का वर्णन भी दर्शनीय है—

तमभरप्पसराण णिरोहगो
विरहिणीविरहग्गिविबोहगो।
ससहरो गयणम्मि समुट्ठिदो
सहि णकस्स मणस्स विणोयगो ॥१॥४१॥

रानी चन्द्रमा को उदित देखकर सखी से कहती है कि हे सखी! आकाश में चन्द्रमा उदित हो गया है। यह किस प्राणी के मन को अनुरंजित नहीं करता है। यह अन्धकार को दूर करने वाला और विरहिणी नयिकाओं की विरहाग्नि को प्रज्वलित करने वाला है।

कवि नायिका के अंगों में सौन्दर्य जन्य विषमता को देखकर कल्पना करता है कि इस नायिका का निर्माण एक विधाता ने नहीं किया है, बल्कि अनेक विधाताओं ने किया है। यदि एक विधाता निर्माण करता तो यह अनेकरूपता या विषमता किस प्रकार उत्पन्न होती? अतः इस विषमता का कारण अनेक विधाता ही हैं। यथा—

बाहू जेण मिणालकोमलयरे तेणं न घट्टा थणा।
दिट्ठी जेण तरंगभंगतरला तेण न मंदा गई॥
मज्झं जेण कियं न तेण घडियं थोरं नियंबत्थलं।
एयाए विहिणा वि तन्न घडिदा एगेण मन्ने तणू ॥१।५६॥

जिस विधाता ने इसकी मृणाल के समान कोमल बाहुओं को बनाया है, वह इसके कठोर स्तनों को नहीं बना सकता। अतः बाहुओं का निर्माता पृथक् विधाता है और कठोर स्तनों का निर्माता पृथक् विधाता। जिसने इसकी चंचल दृष्टि बनायी है, वह मंद गति इसे नहीं बना सकता। जिस विधाता ने इसकी कमर को क्षीण बनाया है, वह इसके नितम्बों को स्थूल नहीं बना सकता। अतः इसका निर्माण एक विधाता ने नहीं किया, बल्कि अनेक विधाताओं ने इसका निर्माण किया होगा।

इस सट्टक में संस्कृत का प्रयोग हुआ है। गद्य और पद्य दोनों रूपों में प्राकृत के साथ संस्कृत व्यवहृत है। वर्णन सौन्दर्य एवं काव्यकला की दृष्टि से यह सट्टक अच्छा है।

शृङ्गारमंजरी[1]

इस सट्टक का रचयिता कवि विश्वेश्वर हैं। कवि अलमोड़ा का निवासी था। इनके गुरु अथवा पिता का नाम लक्ष्मीधर था। ये १८ वीं शती के पूर्वार्ध में हुए हैं। दस वर्ष की अवस्था से ही कवि ने लिखना आरम्भ कर दिया था। कहा जाता है कि इनकी कुल अवस्था ४० वर्ष की थी और २० से अधिक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। इन रचनाओं में नवमालिका नाम की नाटिका और शृंगारमंजरी नामक सट्टक मुख्य हैं।

कथावस्तु—इस सट्टक की कथावस्तु बहुत ही रोचक है। राजा राजशेखर स्वप्न में एक सुन्दरी को देखने के बाद विरह से व्याकुल हो जाता है। देवी रूपरेखा की दासी वसन्ततिलका उसे चित्र बनाने को कहती है। चित्र को वह पहचान लेती है और राजा को बताती है कि यह सुन्दरी मेरी सखी है और वह आपके लिए विह्वल है। देवी राजा को मदनपूजा पर बुलाती है। इधर उद्यान में वसन्ततिलका और शृङ्गार-मंजरी झगड़ पड़ती हैं। देवी राजा को इनका झगड़ा निपटा देने के लिए कहती है इस अवसर पर राजा अपनी नायिका को देख लेता है। इसके अनन्तर रात्रि में वसन्त-तिलका आकर सूचित करती है कि शृङ्गारमंजरी विरह व्यथा से तंग आकर आत्म-हत्या करने जा रही है। राजा उसे बचाने के लिए निकल पड़ता है। वे दोनों कुञ्ज में मिलते हैं और प्रेमालाप करते हैं।

महारानी राजा के इस प्रेम-व्यापार को जान लेती है और सपत्नी-ईर्ष्या से अभि-भूत होकर विदूषक, वसन्ततिलका और शृङ्गारमंजरी को बन्दी बना देती है। पार्वती-मन्दिर में पूजा करते हुए महारानी को दिव्य वाणी सुनाई देती है कि तुम राजा के प्रति कर्त्तव्य का पालन करो। इस संकेत को पाकर देवी उन सभी को मुक्त कर देती है। शृङ्गारमंजरी का विवाह राजा से हो जाता। अन्त में यह भेद भी खुल जाता है कि शृङ्गारमंजरी अवन्तिराज जटाकेतु की पुत्री है।

१. काव्यमाला सीरिज भाग ८ बम्बई से प्रकाशित।

समीक्षा—राजशेखर को कर्पूरमञ्जरी और इस कवि की शृङ्गारमञ्जरी में अनेक समानताएँ पायी जाती हैं। इस सट्टक पर भास की वासवदत्ता और श्रीहर्ष की रत्नावलि का पूरा प्रभाव है। कथावस्तु के गठन में कवि ने उक्त नाटकों से प्रेरणा ही नहीं, प्रभाव भी ग्रहण किया है। पद्यों में कालिदास के मालविकाग्निमित्र की छाया स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। इस सट्टक का शिल्प पुरातन रहने पर भी कथा गठन एवं वर्णनों में मौलिकता के दर्शन होते हैं। भाषाशैली प्रसादगुण सम्पन्न है। वसन्त, सन्ध्या, कुंज, रात्रि, चन्द्रोदय आदि के वर्णन बड़े ही विशद और कवित्वपूर्ण हैं। कविता भी उच्चकोटि की है। प्रतीयमान अर्थ को स्पष्ट करने के हेतु व्यंग्य अर्थ का अभिधान कई स्थलों में सुन्दर हुआ है। पदशय्या इतनी मसृण एवं उदार है कि भाषा में अपूर्व रमणीयता आ गयी है।

चरित्र-चित्रण और संवाद की दृष्टि से भी यह सट्टक समीचीन है। राजा का चरित सट्टकों में जिस प्रकार का स्त्रैण्य चित्रित किया जाता है, वैसा ही इसमें किया गया है। उदारता गुण की नायक में कमी नहीं है। नायिका भी प्रणय करने में अग्रगण्य है। नायक से जब मिलन की सम्भावना कम हो जाती है और विरहवेदना बढ़ जाती है, तो वह आत्महत्या करने को प्रस्तुत हो जाती है। राजा उसे बचाने को निकल पड़ता है और रत्नावली नाटिका के नायक उदयन के समान ही महारानी द्वारा पकड़ा जाता है। इसी कारण देवी विदूषक, वसन्ततिलका और नायिका को बन्दी बना देती है। सट्टककार ने पार्वतीमन्दिर में दिव्यबाणी सुनवाकर देवी को राजा के अनुकूल बनाया है। देवी इसी दिव्यवाणी से प्रभावित होकर शृङ्गारमञ्जरी का विवाह राजा के साथ हो जाने को सहमत होती है। संवादों में वसन्ततिलका और शृंगारमंजरी विदूषक और राजा, राजा एवं महादेवी के संवाद उल्लेख है। इनमें दृश्यकाव्य के सभी गुण पाये जाते हैं।

अन्य सट्टक

साहित्यदर्पण से विलासवती का नाम निर्देश पाया जाता है। प्राकृत सर्वस्व के रचयिता मार्कण्डेय की यह रचना है। इसका रचनाकाल १७ वीं शताब्दी है। यह कृति अनुपलब्ध है। प्राकृतसर्वस्व में निम्नलिखित गाथा निर्दिष्ट मिलती है—

पाणाअ गओ भमरो लब्भइ दुक्खं गइंदेसु।
सुहाअ रज्ज किर होइ रण्णो॥

—प्राकृत स० (५।१३१)

इस प्रकार प्राकृत भाषा में सट्टकों का प्रणयन होता रहा। इन सभी सट्टकों में नायक-नायिकाओं का व्यक्तित्व प्रायः एक समान है। ढाँचा एवं रूप-विन्यास में भी कोई अन्तर नहीं आ पाया है। हाँ, रस की दृष्टि से ये सट्टक विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

नाटक-साहित्य में प्राकृत

जिस प्रकार प्राकृत में सट्टकों का सृजन हुआ, उसी प्रकार संस्कृत नाटकों में भी प्राकृत भाषा का प्रयोग पाया जाता है। यद्यपि सट्टकों से पहले संस्कृत नाटक ही लिखे गये थे, और उनमें प्राकृत भाषा का प्रयोग हुआ था, पर यहाँ पर हमने शुद्ध प्राकृत में रचे जाने के कारण सट्टकों का निर्देश पहले किया है। संस्कृत नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार राजा, राजपत्नी, उच्चवर्ग के पुरुष और महिलाएँ, भिक्षुणी, मन्त्री, मन्त्रियों की पुत्रियाँ एवं कलाकार महिलाएँ संस्कृत में भाषण करती हैं तो श्रमण, तपस्वी, विदूषक, उन्मत्त, बाल, निम्नवर्ग की स्त्री-पुरुष, अनार्य, अप्सराएँ एवं स्त्रीपात्र प्राकृत में। इसी कारण संस्कृत नाटकों का प्रायः अर्धभाग प्राकृत में रहता है और अर्धभाग संस्कृत में।

कहीं-कहीं रानी का वार्तालाप भी प्राकृत में रहता है। मृच्छकटिक में विदूषक कहता है कि दो वस्तुएँ हास्य की सृष्टि करती हैं—स्त्री के द्वारा संस्कृत भाषा का प्रयोग और पुरुष के द्वारा धीमे स्वर में गाना। सूत्रधार संस्कृत में बात करता पाया जाता है, पर ज्यों ही वह स्त्रियों को सम्बोधित करता है तो प्राकृत का व्यवहार करने लगता है। नाटक को जीवन की वास्तविक अनुकृति कहा गया है, अतः विचारों और भावों के माध्यम की अनुकृति भी तो आवश्यक है। १२ वीं शती तक लिखे गये नाटकों में जन-साधारण के लिए प्राकृत का व्यवहार स्वभाविक ही था। यतः प्राकृत का प्रयोग उस समय तक जनबोली के रूप में होता था। अतः शिष्टवर्ग को छोड़ शेष जनसामान्यवर्ग प्राकृत का प्रयोग करता था। इस कारण यह अनुमान भी कोरा अनुमान नहीं कहा जायगा कि सट्टको के समान अन्य नाटक भी आद्योपान्त प्राकृत में लिखे गये हों तो आश्चर्य क्या है? जनसामान्य की बोली में नाटक एवं कथाओं का सृजन होता ही है। अतएव कथाओं के समान नाटक भी प्राकृत में अवश्य ग्रथित किये गये होंगे।

प्राकृत का सर्वप्रथम नाटकीय प्रयोग अश्वघोष—(ई० १०० के आस-पास) की कृतियों में पाया जाता है। इन नाटकों में मागधी, अर्धमागधी और शौरसेनी के प्राचीनरूप उपलब्ध हैं। शारिपुत्र प्रकरण नौ अंकों का प्रकरण है। इसमें मौद्गलायन और शारिपुत्र को गौतम बुद्ध द्वारा अपने धर्म में दीक्षित किये जाने का वर्णन किया है। इन नाटकों की प्राकृत भाषाएँ अशोक के शिलालेखों की प्राकृतों से मिलती-जुलती हैं।

अश्वघोष के अनन्तर भास के १३ नाटक—आते हैं। भास का समय सन् २०० के लगभग माना जाता है। इन नाटकों में अविमारक और चारुदत्त में प्राकृत प्राधान्य है। इन्हें प्राकृत नाटक कहना अधिक उपयुक्त होगा। अविमारक छः अंकों का

नाटक है। इसमें राजा कुन्तिभोज की रूपवती कन्या कुरंगी के साथ सम्पन्न हुए अविमारक नामक राजकुमार के प्रच्छन्न विवाह की कथा वर्णित है। चारुदत्त के द्वितीय अंक में संस्कृत का प्रयोग नहीं पाया जाता है। चतुर्थ अंक में केवल एक पात्र संस्कृत बोलता है। अन्य दो अंकों में प्राकृत भाषा का अधिक प्रयोग हुआ है और संस्कृत का कम। इस नाटक में सदाशय ब्राह्मण चारुदत्त और गुणग्राहिणी वेश्या वसन्तसेना का सच्चा स्नेह मार्मिक ढंग से वर्णित है। मृच्छकटिक प्रकरण इसी नाटक के आधार पर लिखा गया है। स्वप्नवासवदत्ता सात अंकों का नाटक है। इसमें मन्त्री यौगन्धरायण की दूरदर्शिता से वासवदत्ता का अग्नि में जलकर भस्म हो जाने का प्रवाद प्रचारित कर उदयन का विवाह मगध राजकुमारी पद्मावती के साथ सम्पन्न होता है। यह भास की नाट्यकला-कुशलता का चूडान्त निदर्शन है। इसके सभी अंकों में प्राकृत का प्रयोग हुआ है। प्रतिमा नाटक में भी सात अंक हैं। इसमें रामवनवास से लेकर रावणवध तक की घटनाओं का वर्णन है। महाराज दशरथ की मृत्यु के बाद भरत ननिहाल से लौटते हुए मार्ग में अयोध्या के समीप प्रतिमामंदिर में जब अपने दिवंगत पूर्वजों के साथ दशरथ की भी प्रतिमा देखते हैं, तब उन्हें दशरथ की मृत्यु का पता चल जाता है। इस घटना के आधार पर इस नाटक का नाम प्रतिमा रखा गया है। इसकी प्राकृत भाषा प्राचीन प्रतीत होती है। भास ने शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया है। इनकी भाषा का निम्नलिखित उदाहरण दर्शनीय है—

अत्थं असादिदो भअवं सुय्यो दीसइ दहिपिंडपंडरेसु पासादेसु अ अग्गापणलिन्देसु पसारिअगुलमदुरसंगदो विअ। गणिआजणो णाअरिजणोअ अण्णोण्णविसेदमंडिदा अत्ताणं दंसइदुकामा तेसु तेसु पासादेसु सविब्भमं संचरंति। अहृ तु तादिसाणि पेक्खिअ उम्मादिअमाणस्स तत्तहोदो रत्तिसहाओ होमि त्ति णअरादो णिग्गदो म्हि।

—अविमारक अंक २।

विदूषक कहता है कि भगवान् सूर्य अस्ताचल को पहुँच गये हैं, जिससे दधिपिण्ड के समान श्वेत वर्ण के प्रासाद और अग्रभाग की दूकानों के अलिन्दों—कोठों में मानों मधुर गुड़ प्रसारित हो गया है। गणिकाएँ तथा नगरवासी विशेषरूप से सज्जित हो अपने आपको प्रदर्शित करने की इच्छा से उन प्रासादों में विभ्रमपूर्वक संचार कर रहे हैं। मैं इन लोगों को इस अवस्था में देखकर उन्मादयुक्त हो रात्रि के समय आपका सहायक बनूंगा, यह सोचकर नगर से बाहर भाग आया हूँ।

कविकुलगुरु कालिदास प्रसिद्ध नाटककार हैं। मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञानशाकुन्तल ये तीन इनके नाटक प्रसिद्ध हैं। शाकुन्तल में दुष्यन्त और शकुन्तला की प्रणय-कथा का निरूपण है। इस नाटक में तत्कालीन सामाजिक,

राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन का सच्चा चित्र उपस्थित किया है। वर्णाश्रम धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा की गयी है। इसमें प्रेम एवं सौन्दर्य के अपूर्व चित्र प्रस्तुत किये गये हैं।

शाकुन्तल में मछुए, पुलिस-कर्मचारी और सर्वदमन मागधी का, महिलाएँ और शिशु महाराष्ट्री का एवं ज्योतिषी, नपुंसक—कांचुकी और विक्षिप्त शौरसेनी का प्रयोग करते हैं। प्राकृत के सुकुमार शब्द-विन्यास के कारण एवं चुस्त मुहावरों और लोकोक्तियों के कारण नाटक में अपूर्व रमणीयता आ गयी है। मालविकाग्निमित्र का कथानक प्राकृत सट्टकों की परम्परा में आता है। इसमें राजमहिषी की परिचारिका मालविका और राजा अग्निमित्र की प्रणयकथा है। रानी की कैद में पड़ी मालविका से मिलने के लिए अग्निमित्र अनेक प्रयत्न करता है। अन्त में यह प्रकट हो जाता है कि मालविका जन्म से राजकुमारी है और उसका विवाह अग्निमित्र के साथ सम्पन्न हो जाता है। नाटक में अधिकतर स्त्री-पात्र हैं और उनकी भाषा प्राकृत है। प्राकृत के संवाद बड़े सरस और सजीव हैं। विक्रमोर्वशीय तो एक प्रकार से प्राकृत नाटक है। इसमें राजा पुरुरवा और अप्सरा उर्वशी की प्रेम-कथा वर्णित है। मेनका, रम्भा, सहजन्या, चित्रलेखा, उर्वशी आदि अप्सराएँ; विदूषक, राजमहिषी, चेटी, किराती, यवनी और तापसी आदि पात्र प्राकृत बोलते हैं। इस प्रकार कालिदास के नाटकों में प्राकृत का प्रयोग प्रचुर परिमाण में हुआ है। शाकुन्तल में प्रयुक्त शौरसेनी का स्वरूप निम्न प्रकार है—

महन्ते ज्जेव पच्चूसे दासीए पुत्तेहिं साउणिह-लुद्धेहिं किण्णोवघादिणा वणगमण-कोलाहलेण पबोधीआमि। एत्तिकेणावि दाव पीडा ण बुत्ता जदो गण्डस्स उवरि विप्फोडओ संबुत्तो। जेण किल अम्हेसुं अवहीणेसुं तत्थभवदा मआणु सरिणा अस्समपदं पविट्ठेण मम अधण्णदाए स उप्तलाणाम कोवि ताव-सकण्णा दिट्ठा। तं पेक्खिअ सम्पदं णअर-गमणस्स कन्धं वि ण करेदि। एदं ज्जेव चिन्तअन्तस्स मम पहादा अच्छीसुं रअणी।

—शाकुन्तल अंक २।

बहुत सवेरे-सवेरे दासीपुत्र शाकुनिक बहेलिए मुझे वनगमन के कर्णभेदी कोलाहल से जगा देते हैं। इतना होते हुए भी मेरा क्लेश समाप्त नहीं होता; क्योंकि फोड़े के ऊपर फुड़िया निकल आयी है। यतः कल हमें पीछे छोड़ जाने के बाद महाराज मृग का पीछा करते-करते कण्व ऋषि के आश्रम में प्रविष्ट हुए और मेरी अधन्यता से उन्हें शकुन्तला नाम की कोई तापस-कन्या दिखलायी पड़ी। उसे देखकर अब वे नगर जाने की बात तक नहीं करते। यही सोचते-सोचते मेरी आँखों में ही रात कट गयी।

शकुन्तला की विदाई के कारण पशु-पक्षियों और वनस्पति के दुःख का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

उल्ललिअ-दब्भकवला मई परिच्चत्तणच्चणा मोरा।
ओसरिअ-पंडु-वत्ता मुअन्ति अंसूइं व लआओ॥
—चतुर्थ अङ्क।

मृगी ने दुःखी होकर दर्भ के कौर को उगल दिया है, मयूर ने नृत्य करना छोड़ दिया है और लताएँ आँसुओं के बहाने पीले-पीले पत्तों को गिरा रही है।

शूद्रक का मृच्छकटिक प्राकृत-भाषा की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकरण में दस अंक हैं। इसमें नाटककार ने प्रेम के कथानक को राजनीतिक घटनाओं के साथ सम्बद्ध किया है। यह एकमात्र चरित्र-चित्रण प्रधान नाटक है। कवि शूद्रक ने अपनी इस कृति में सभी प्रकार के पात्रों की सृष्टि कर तत्कालीन समाज का बड़ा ही सजीव एवं यथार्थ चित्रण किया है। इसमें सूत्रधार, नटी, नायिका आदि ११ पात्र शौरसेनी में, विदूषक प्राच्या शौरसेनी में, वीरक आवन्ती में, चन्दनक दाक्षिणात्य महाराष्ट्री में, चाण्डाल चाण्डाली में, जुआरी ढक्की में, शकार, स्थावरक और कुम्भीलक मागधी में बातचीत करते हैं। इस नाटक प्रयुक्त प्राकृत भाषाएँ भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार व्यवहृत हुई हैं।

राजा का साला शकार मागधी में वसन्तसेना वेश्या का चित्रण करता है।

एशा णाणकमूशिकामकशिका मच्छाशिका लाशिका,
णिण्णाशा कुलणाशिका अवशिका कामस्स मंजूशिका।
एशा वेशवहू शुवेशणिलिआ वेशंगणा वेशिआ,
एशे शे दशमाणके मयि कले अज्जावि मं णेच्छदि ॥१।२३॥

यह धन की चोर, काम की कशा (कोड़ा), मत्स्यभक्षी, नर्तिका, नकटी, कुल की नाशक, स्वछंद, काम की मंजूषा, वेशवधू, सुवेशयुक्त और वेश्यांगना इन दस नामों से युक्त अर्थात् मेरे द्वारा इसके दस नाम रखे गये हैं, फिर भी यह मुझे नहीं चाहती।

महाराष्ट्री का उद्धरण—

विचलइ णेउर-जुअलं, छिज्जन्ति अ मेहला मणि-क्खइआ।
वलआ अ सुन्दरअरा रअणंकुर-जाल-पडिबद्धा॥ २।१९॥

नूपुर-युगल विचलित हो रहा है, मणि-खचित मेखला टूट गयी है। साथ ही सुन्दर बाजूबन्द (वलय) रत्नांकुरजाल से प्रतिबद्ध हैं।

शौरसेनी—

चिरआदि मदणिआ। ता कहिं णु हु सा (गवाक्षेण दृष्ट्वा) कधम् एसा केनावि पुरिसकेण सह मंतअंती चिट्ठदि। जधा अदिसिणिद्धाए णिच्चलदिट्ठीए आपिवती विअ एदं णिज्झाअदि, तधा तक्केमि एसो सो जणो एवं इच्छदि अभु-

जिस्सं कादुं। ता रमदु रमदु, मा कस्सावि पीदिच्छेदो भोदु। ण हु सद्दाविस्सम्।

—चतुर्थ अंक।

× × ×

वसंत०—तदो मए पढमं संतप्पिदव्वं। (सानुनयम्) हञ्जे, गेण्ह एदं रअणावलिं। मम बहिणिआए अज्जा-धूधाए गदुअ समप्पेहि। भणिदव्वं च 'अहं सिरिचारुदत्तस्स गुणणिज्जिदा दासी, तदा तुम्हाणं पि। ता एसा तुह ज्जेव कण्ठाहरणं होदु रअणावली।

—छठवाँ अंक।

मदनिका को बहुत देर हो गयी। वह कहाँ चली गयी? (झरोखे में से देखकर) अरे! वह तो किसी पुरुष से बातचीत कर रही है। मालूम होता है अत्यन्त स्निग्ध निश्चल दृष्टि से उसका पान करती हुई उसके ध्यान में वह रत है। मालूम होता है कि यह पुरुष उसका उपभोग करना चाहता है। अस्तु, कोई बात नहीं, वह आनन्द से रमण करे। किसी की प्रीति भंग न हो। मैं उसे न बुलाऊँगी।

× × ×

वसंत—तब तो पहले मुझको ही खलेगा (अनुनय के साथ) अरी, ले यह रत्न-माला। मेरी बहन बाई धूता के पास जाकर दे आ। उससे कहना कि मैं श्री चारुदत्त के गुणों से निर्जित दासी हूँ, वैसी ही तुम्हारी भी, तो यह रत्नमाला तुम्हारे ही गले का आभूषण बने।

श्रीहर्ष के प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द में प्राकृत का प्रचुर प्रयोग हुआ है। नाटिकाओं में प्राकृत से संस्कृत कम हैं। इनमें पुरुष पात्र थोड़े हैं। स्त्रियाँ, नौकर और विदूषक आदि की भाषा प्राकृत है। नागानन्द में संस्कृत का प्राधान्य है। इसमें भी नटी, विदूषक, चेटी, नायिका, मलयवती, विट, किंकर, वृद्धा, प्रतिहारी आदि लगभग आधी संख्या में पात्र प्राकृत बोलते हैं। प्रियदर्शिका और रत्नावली के पद्यों में महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग हुआ है और पद्य में शौरसेनी का अरिण्यका का गीत दृष्टव्य है—

घणबंधणसंरुद्धं गअणं दट्ठूण माणसं एदुं।
अहिलसइ राअहंसो दइअं घेऊण अप्पणो वसइं॥

—बादलों के बन्धन से संरुद्ध आकाश को देखकर राजहंस अपनी प्रिया को लेकर मानसरोवर में जाने की अभिलाषा करता है।

रत्नावली में मदनिका गाते हुए कहती है—

कुसुमाउह-पिअ दूअओ मउलाइअ-बहु-चूअओ।
सिढिलिअ-माण-ग्गहणओ वाअइ दाहिण-पवणओ॥

विरह-विबड्ढिअ-सोअओ कंखिअ-पिअ-अण-मेलओ।
पडिबालणासमत्थओ तम्मइ जुवई-सत्थओ॥
इह पढमं महुमासो जणस्स हिअआइं कुणइ मउआइ।
पच्छा विज्झइ कामो लद्ध-प्पसेरहिं कुसुम-बाणेहिं॥

कुसुमायुध—कामदेव का प्रिय दूत, आमों को मुकुलायित करनेवाला (स्त्रियों के) मान-ग्रहण को शिथिल करनेवाला दक्षिण पवन बह रहा है।

विरह-विवर्द्धित शोकयुक्त प्रियजन के मिलने को उत्कंठित तथा अपने प्रतिपालन में असमर्थ युवतिदल कुम्हला रहा है।

यहाँ मधुमास पहले लोगों के हृदयों को मृदुल बनाता है, पीछे कामदेव अवसर लाभ करके—बे-रोक-टोक कुसुम-बाणों से उन्हें बींधता है।

भवभूति के महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित नाटकों में संस्कृत का ही प्राधान्य है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस में अनेक दृश्य प्राकृत के हैं, पर इस नाटक की रुझान भी संस्कृत की ओर अधिक है। चन्दनदास, सिद्धार्थक, क्षपणक, चाण्डाल और नौकर-चाकर प्राकृत का व्यवहार करते हैं। किन्तु प्रधान पात्रों—चाणक्य, चन्द्रगुप्त, राक्षस, भागुरायण, विराधगुप्त आदि की भाषा संस्कृत है। अधिक क्या पहाड़ी राजा मलयकेतु भी संस्कृत बोलता है।

भट्टनारायण के वेणीसंहार में शौरसेनी की ही प्रधानता है। तीसरे अंक के आरम्भ में राक्षस और उसकी पत्नी मागधी में वार्तालाप करते हैं।

सोमदेव के ललितविग्रहराज नाटक में महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी का व्यवहार पाया जाता है।

महादेव के अद्भुतदर्पण में सीता, सरमा और त्रिजटा आदि स्त्रीपात्र तथा विदूषक और महोदर आदि प्राकृत में बात-चीत करते हैं।

इस प्रकार संस्कृत नाटकों में प्राकृत का व्यवहार पाया जाता है।

शीलाङ्काचार्य ने चउप्पन्नमहापुरिसचरियं में एक 'विबुधानन्द' नाम का एक अंक का नाटक भी लिखा है। यह नाटक रंगमंच के योग्य है। इसमें सूत्रधार का वार्तालाप संस्कृत में है और विदूषक तथा चेटी प्राकृत में बात-चीत करते हैं। कञ्चुकी और राजकुमार भी संस्कृत में बात-चीत करते हैं। अतएव स्पष्ट है कि प्राकृत के रचनाकार होकर भी शीलाङ्क ने नाटक को संस्कृत और प्राकृत इन दोनों ही भाषाओं में लिखा है।

अष्टमोऽध्यायः

प्राकृत कथा-साहित्य

कथा-साहित्य उतना ही पुरातन है, जितना मानव। मनोविनोद और ज्ञानवर्धन का जितना सुगम और उपयुक्त साधन कथा है, उतना साहित्य की अन्य विधा नहीं। कथाओं में मित्र-सम्मत अथवा कान्ता-सम्मत उपदेश प्राप्त होता है, जो सुनने में बड़ा मधुर और आचरण से सुगम जान पड़ता है। यही कारण है कि मानव नेत्रोन्मीलन से लेकर अन्तिम श्वांस तक कथा-कहानी कहता और सुनता है। इसमें जिज्ञासा और कुतूहल की ऐसी अद्‌भुत शक्ति समाहित है, जिससे यह आबाल-वृद्ध सभी के लिए आस्वाद्य है।

भारतीय साहित्य में अर्थवाद के रूप में कथा का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद के यम-यमी, पुरूरवा-उर्वशी, सरमा और पणिगण जैसे लाक्षणिक संवादों, ब्राह्मणी के सौपर्णी-काद्रव जैसे रूपात्मक आख्यानों, उपनिषदों के सनत्कुमार-नारद जैसे ब्रह्मर्षियों की भाव-मूलक आध्यात्मिक व्याख्याओं एवं महाभारत के गंगावतरण, शृङ्ग, नहुष, ययाति, शकुन्तला, नल आदि जैसे उपाख्यानों में उपलब्ध होता है। पालिजातक ग्रन्थ तो सरस और उपदेश-प्रद कथाओं के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। जातकों की कथाओं में आगम और दर्शन की अनेक महत्त्वपूर्ण बातें निबद्ध की गयी हैं।

अर्धमागधी आगम-ग्रन्थों में छोटी-बड़ी सभी प्रकार की सहस्रों कथाएँ प्राप्त हैं। प्राकृत-आगम-साहित्य में धार्मिक आचार, आध्यात्मिक तत्त्व-चिन्तन तथा नीति और कर्त्तव्य का प्रणयन कथाओं के माध्यम से किया गया है। सिद्धान्त-निरूपण, तत्त्व-चिन्तन तथा नीति और कर्त्तव्य का प्रणयन कथाओं के माध्यम से किया गया है। सिद्धान्त-निरूपण, तत्त्वनिर्णय, दर्शन की गूढ़ समस्याओं को सुलझाने और अनेक गम्भीर विषयों को स्पष्ट करने के लिए आगम-ग्रन्थों में कथाओं का अवलम्बन ग्रहण किया गया है। गूढ़ से गूढ़ विचारों और गहन से गहन अनुभूतियों को सरलतमरूप में जन-मत तक पहुँचाने के लिए तीर्थंकर, गणधरों एवं अन्यान्य आचार्यों ने कथाओं का आधार ग्रहण किया है। कथा साहित्य की इसी सार्वजनिक लोकप्रियता के कारण आलोचकों ने कहा है[1]—"साहित्य के माध्यम से डाले जाने वाले जितने प्रभाव हो सकते हैं, वे रचना के

---

१. डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा—'कहानी का रचनाविधान' हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, सन् १९५६, पृ० ४-५।

इस प्रकार में अच्छी तरह से उपस्थित किये जा सकते हैं। चाहे सिद्धान्त प्रतिपादन अभिप्रेत हो, चाहे चरित्र चित्रण की सुन्दरता इष्ट हो, किसी घटना का महत्व निरूपण करना हो अथवा किसी वातावरण की सजीवता का उद्घाटन ही लक्ष्य बनाया जाय, क्रिया का वेग अंकित करना हो या मानसिक स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण करना इष्ट हो—सभी कुछ इसके द्वारा सम्भव है।" अतएव स्पष्ट है कि प्राकृत कथाओं का आविर्भाव आगम-साहित्य से हुआ है। तिलोयपण्णत्ति में तीर्थंकरों के माता-पिताओं के नाम, जन्म स्थान, आयु, तपस्थान आदि का निरूपण है। चरित-ग्रन्थों के लिए इस प्रकार के सूत्ररूप उल्लेख हो आधार बनते हैं। ज्ञाताधर्मकथा, उवासगदसा, आचारांग प्रभृति ग्रन्थों में रूपक और उपमानों के साथ घटनात्मक कथाएँ भी आयी हैं, जिनके महत्वपूर्ण उपकरणों से कथाओं का निर्माण विस्तृत रूप में हुआ है।

काव्य और कथा इन दोनों की उत्पत्ति उपमान, रूपक और प्रतीकों की त्रयी से होती है। आरम्भ में सिद्धान्त और तत्त्वों को उक्त तीनों के माध्यम से व्यक्त किया जाता था। आचार्य या ऋषि अपने कठोर सिद्धान्तों को तर्क द्वारा तो उपस्थित करते ही पर साथ ही कोई उदाहरण या रूपक उपस्थित कर उसका स्वारस्य भी प्रतिपादित करते थे। अतएव कथा-साहित्य का विकास प्राकृत में अर्धमागधी और शौरसेनी आगम-ग्रन्थों से ही मानना युक्तिसंगत है।

"प्रबन्धकल्पना कथा[1]" प्रबन्ध कल्पना को कथा कहा गया है। संस्कृत लक्षणग्रन्थों के आचार्यों ने कथा में निम्नलिखित तत्त्वों को समाविष्ट किया है।

१. कवि कल्पित कथा—कल्पना तत्त्व; कथा का कथानक कवि द्वारा कल्पित होता है। कवि ऐतिहासिक या पौराणिक आख्यानों में अपनी कल्पना द्वारा कुछ हेर-फेर कर कुछ रोचकता गुण उत्पन्न करता है।

२. वक्ता स्वयं नायक अथवा अन्य कोई व्यक्ति होता है।

३. कथानक का विभाजन परिच्छेदों में या अध्यायों में होता है; यद्यपि परिच्छेदों में कथाविभाजन का क्रम कुछ विद्वान् आख्यायिका में ही स्वीकार करते हैं, कथा में नहीं; पर संस्कृत में कथा और आख्यायिकाएँ इतनी मिली-जुली हैं, जिससे सीमा-विभाजक रेखा खींचना अनुचित-सा है।

४. कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि वस्तु वर्णनों का समावेश भी कथा में पाया जाता है।

५. कथा में अभिप्रायविशेष से प्रयुक्त होनेवाले शब्दों (Catchwords) का समावेश रहता है।

---

१. अमरकोष १।५।६।

आधुनिक विद्वान् कथा में मानव की व्यक्तिगत बाह्य और आन्तरिक तथा सामाजिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं की अनन्त संभावनाएँ मानते हैं। अतएव निम्नलिखित तत्त्व कथा के अंग माने जाते हैं—

१. वस्तु—कथावस्तु—कथासूत्र (थीम), मुख्य कथानक (प्लॉट) और अवान्तर कथाएँ (एपीसोड)

२. पात्र—वे व्यक्ति जिनके द्वारा घटनाएँ घटित होती हैं अथवा जो उन घटनाओं से प्रभावित होते हैं। इन्हीं व्यक्तियों के क्रिया-कलापों से कथानक और कथावस्तु का निर्माण होता है। पात्रों का प्रयोग चरित्र-चित्रण के लिए किया जाता है। यतः कथा-साहित्य का मूलाधार चरित्र-चित्रण ही है, अन्य कुछ नहीं।

३. संवाद या कथोपकथन—संवाद पात्रों को सजीव तो बनाते ही हैं, साथ ही कथावस्तु के विकास और पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी यथोचित सहयोग प्रदान करते हैं।

४. देशकाल – पात्रों के समान देशकाल का भी अपना व्यक्तित्व होता है। स्थानीय रंग या प्रादेशिक विवरण के साथ युगविशेष की सभ्यता संस्कृति का निरूपण भी आवश्यक होता है।

५. शैली—कथा साहित्य में समग्र जीवन का एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया जाता है, अतः शैली द्वारा लेखक विभिन्न तत्त्वों का नियोजन करता है। संकेत—प्रतीक रूपकों का अवलम्बन लेकर कथावस्तु के माध्यम से जीवन को अभिव्यञ्जना प्रस्तुत की जाती है।

६. उद्देश्य—कथा का कोई न कोई परिणाम होता है। कथानक की परिस्थितियों या चारित्रिक विशेषताओं में किसी-न-किसी विशिष्ट जीवन दृष्टि का समावेश रहता है। कथासूत्र के साथ लेखक की जीवन-दृष्टि का भी समावेश रहता है। कथासूत्र के साथ लेखक जीवन-दृष्टि को मूर्तरूप देने लगता है। अतः जीवन दर्शन के किसी विशेष पहलू पर प्रकाश डालना कथा का उद्देश्य है।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि प्राकृत कथा-साहित्य का आविर्भाव आगमकाल में ही हो चुका था। उदाहरण, दृष्टान्त, उपमा, रूपक, संवाद और लोककथाओं द्वारा संयम, तप और त्याग का विवेचन किया गया है। धन्य सार्थवाह और उसकी चार पतोहुओं की कथा एक सुन्दर उपदेश-कथा है, इसमें लोककथा के सभी तत्त्व वर्त्तमान हैं। जिनपालित और जिनरक्षित का कथानक मनोरंजक होने के साथ-साथ प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करने के लिए एक सुन्दर आख्यान है। सरोवर में रहनेवाले मेढक और समुद्र में रहनेवाले मेढक का संवाद अपने साथ आख्यान की समस्त सामग्री समेटे हुए हैं। सूत्रकृताङ्ग के द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्ययन में आया हुआ पुण्डरीक का दृष्टान्त

तो कथा-साहित्य के विकास का अद्वितीय नमूना है एक सरोवर जल और कीचड़ से भरा हुआ है। उसमें अनेक श्वेतकमल विकसित हैं। सबके बीच में खिला हुआ श्वेतकमल बहुत ही मनोहर दिख रहा है। पूर्व दिशा से एक पुरुष आता है और इस श्वेतकमल पर मोहित हो उसे लेने लगता है, परन्तु कमल तक न पहुँच कर बीच में ही रह जाता है। अन्य तीन दिशाओं से आये हुए पुरुषों की भी यही दुर्गति होती है। अन्त में एक वीतरागी और तरण कला का विशेषज्ञ भिक्षु वहाँ आता है। वह कमल और इन फँसे हुए व्यक्तियों को देखकर सम्पूर्ण रहस्य हृदयंगम कर लेता है। अतएव सरोवर के किनारे खड़े होकर युक्ति से उस कमल को प्राप्त कर लेता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति—भगवतीसूत्र में पार्श्वनाथ और महावीर की जीवन-घटनाओं का अंकन। २।१ सूत्र में आयी हुई कात्यायन गोत्री स्कन्द की कथा सुन्दर है। उसकी घटनाओं में रसमत्ता है और घटनाएँ कथातत्त्व का सृजन करने में पूर्ण सक्षम हैं। नायाधम्मकहाओ तो कथाओं का श्रेष्ठ संग्रह है। इस ग्रन्थ की कथाओं के अध्ययन से कथा-साहित्य के विकास की एक सुन्दर और व्यवस्थित शृंखला जोड़ी जा सकती है। इसमें उपदेशकथाओं के साथ जन्तुकथाएँ भी वर्णित हैं। उवासगदसाओ की दिव्य जीवन गाथाएँ चरित्रवाद या व्यक्तिवाद की स्थापना करने में सक्षम हैं। इनसे दस आख्यानों में प्रतिपादित चरित्र पारिवारिक जीवन की भित्ति पर आधारित हैं जो सामाजिक और धार्मिक जीवन की प्रयोगशाला के रूप में स्वीकार्य हैं। इन कथाओं में वर्णित परिणामों की चर्चा एवं व्यक्तित्व के अतिवादी पहलुओं के नियमन के लिए अतिचारों की व्यवस्था आदि चरित्र गठन और व्यक्तित्व गठन के आवश्यक तत्त्वों के रूप में ग्राह्य हैं। अन्तःकृदशा में उनका तपस्वी स्त्री-पुरुषों की कथाएँ हैं जिन्होंने अपने कर्मों का अनाकर निर्वाण लाभ प्राप्त किया है। कथा-साहित्य की दृष्टि से विपाकसूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्राणियों द्वारा किये गये अच्छे या बुरे कर्मों का फल बतलाने के लिए बीस कथाएँ आयी हैं। इनमें मृगापुत्र कथा सुन्दर है। इसमें घटनाओं की क्रमबद्धता के साथ घटनाओं में उतार-चढ़ाव भी है। प्रश्नोत्तर शैली का आश्रय लेकर कथोपकथनों को प्रभावोत्पादक बनाया है। उत्तराध्ययन सूत्र में कपिल कथानक, हरिदेशी कथा, चित्तसंभूति आख्यान, रथनेमि और राजीमति संवाद कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

टीका, निर्युक्ति और भाष्य ग्रन्थों में कथासाहित्य का विकास बहुत कुछ आगे बढ़ा हुआ दिखलाई पड़ता है। सबसे पहली चीज, जो टीकायुगीन कथाओं को अपने पूर्ववर्ती कथासाहित्य से अलग करती है—वह है शैली गत विशेषता। आगम साहित्य की कथाएँ 'वण्णाओ' द्वारा बोझिल थी। चम्पा या अन्य किसी नगरी के वर्णन द्वारा ही समस्त वर्णनों को अवगत कर लेने की ओर संकेत कर दिया जाता था। पर टीका-ग्रन्थों में आई हुई कथाओं में वर्णनों की छटा सरस है तथा विषयों के चुनाव, निरूपण और

सम्पादन हेतुओं में विविधता का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। नवीनता की दृष्टि से पात्र, विषय, प्रवृत्ति, वातावरण, उद्देश्य, रूपगठन एवं नीतिसंश्लेष आदि सभी में नवीनता का आधान ग्रहण किया गया है। इस युग की कथाओं में संभावित लघुता का समावेश और उद्देश्य के प्रति सजगता अपनी विशेषता है।

निर्युक्तियों और चूर्णियों में ऐतिहासिक, अर्धऐतिहासिक, धार्मिक और लौकिक आदि कई प्रकार की कथाएँ उपलब्ध हैं। लालच बुरी बलाय में एक गीदड़ की लोभ-प्रवृत्ति का फल दिखलाया गया है; जिसने मृत हाथी, शिकारी और सर्प के रहने पर भी धनुष की डोरी को खाने की चेष्टा की और फलस्वरूप वह डोरी टूटकर तालू में लग जाने से वहीं ढेर हो गया। पंडित कौन है ? में एक तोते को सुन्दर कथा है। दशवैकालिक चूर्णि में ईर्ष्या मत करो, अपना-अपना पुरुषार्थ और गीदड़ की राजनीति अच्छी लोककथाएँ हैं। ईर्ष्या मत करो में एक ईर्ष्यालु वृद्धा का चित्रण है, जो पड़ोसी के सर्वनाश के लिये अपना भी सर्वनाश करती है। अपने-अपने पुरुषार्थ में चार मित्रों की कथा वर्णित है, जो परदेश में जाकर अपने-अपने भाग्य और पुरुषार्थ से सम्मान तथा धन प्राप्त करते हैं। इस कथा में संयोग-तत्त्व की अभिव्यञ्जना भी सुन्दर हुई है। निशीथचूर्णि में अन्याय के प्रतीकार के लिये कालकाचार्य की कथा आयी है। सूत्रकृताङ्ग चूर्णि में आर्द्रक कुमार कथा, हस्तितापस निराकरण कथा, अर्थलोभी वणिक् की कथा आदि कई सुन्दर प्राकृत कथाएँ अंकित हैं।

व्यवहारभाष्य और बृहत्कल्पभाष्य में प्राकृत कथाएँ बहुलता में उपलब्ध हैं। इन भाष्यों की अधिकांश कथाएँ लोककथा और उपदेशप्रद नीति कथाएँ हैं। व्यवहारभाष्य में भिखारी का सपना, छोटे-बड़े काम कैसे कर सकते हैं, कार्य ही सच्ची उपासना है प्रभृति तथा बृहत्कल्पभाष्य में अक्ल बड़ी या भैंस, बिना विचारे काम, मूर्ख बड़ा या विद्वान्, वैद्यराज या यमराज, शंब, सच्चा भक्त, जमाई परीक्षा, बहरों का संवाद, रानी चेलना आदि कथाएँ वर्णित हैं। ये सभी कथाएँ मनोरंजक और उपदेशप्रद हैं। भिखारी का सपना शेखचिल्ली के सपने के नाम से भारत के कोने-कोने में व्याप्त है।

उत्तराध्ययन की सुखबोध टीका में छोटी-बड़ी सभी मिलाकर लगभग एक सौ पच्चीस कथाएँ वर्णित हैं। इस टीका के रचयिता बृहद् गच्छीय आचार्य नेमिचन्द्र हैं। इनका दूसरा नाम देवेन्द्रमणि भी है। इन कथाओं में रोमान्स, परम्परा प्रचलित मनोरंजक वृत्तान्त, जीव-जन्तु कथाएँ, जैन साधुओं के आचार का महत्त्व प्रतिपादन करने वाली कथाएँ, नीति-उपदेशात्मक कथाएँ एवं ऐसी कथाएँ भी गुम्फित हैं, जिनमें किसी राजकुमारी का वानरी बन जाना, किसी राजकुमार का हाथी द्वारा जंगल में भगाकर ले जाना, पंचाधिवासितों द्वारा राजा का निर्वाचन करना वर्णित है। कल्पना के पंखों का सहारा लेकर कथा लेखक ने बुद्धि और राग को प्रसारित करने की पूरी चेष्टा की

है और अपने कथानकों को पूर्णतया चमत्कारी बनाया है। हास्य और व्यंग्य की भी कमी नहीं हैं।

इसमें सन्देह नहीं टीका साहित्य कथा और आख्यानों का अक्षय भंडार है। प्राकृत भाषा के साथ संस्कृत में भी कथाएँ निबद्ध हैं।

प्राकृत कथाओं में ऋतुओं, वन, पर्वत, अटवी, उद्यान, जलक्रीड़ा, सूर्योदय, चन्द्रोदय, सूर्यास्त, नगर, राजा, सैनिकों का युद्ध, भीलों का आक्रमण, मदन महोत्सव, पुत्रजन्मोत्सव, विवाहोत्सव, स्वयंवर, स्त्रीहरण, जैन साधुओं का उपदेश वर्णन, युद्ध, गीत-नृत्य-वादित्र एवं विभिन्न संस्थाओं के वर्णनों का समावेश है। सामान्य जीवन के भी अनेक चित्र आये हैं। कथाओं के नाटक राजा, मन्त्री, सेठ, सार्थवाह और सेनापति आदि ही नहीं हैं, बल्कि सामान्य व्यक्ति भी नायक हैं। लेखकों ने समाज और परिवार के ऐसे सजीव चित्रण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें उस युग के समाज का स्पष्टरूप दिखलायी पड़ता है। कलहकारिणी सासुओं, दिनरात प्राणपण से घर की सेवा करनेवाली बहुओं, कठोर और क्रूर स्वभाव की गृहिणियों, अतिथि सेवा के लिये सर्वस्व समर्पण करनेवाली नारियों, अहर्निश कठोर श्रम करने पर भी कठिनाई से भोजन-छादन का प्रबन्ध करने वाले गृहपतियों के जीवन चित्र किस व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट नहीं करते। मन्त्र चमत्कार और जादू-टोनों की भी कमी नहीं है। मुहूर्त्त, शकुन, ज्योतिष, निमित्त आदि का भी प्रभाव वर्णित है। जनता में अन्धविश्वास और लोकपरम्पराएँ किस प्रकार प्रविष्ट थीं, यह भी प्राकृत कथाओं से स्पष्ट हैं। अभिजात्यवर्ग के व्यक्ति निम्नवर्ग के व्यक्तियों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करते थे और निम्नवर्ग के लोगों को कितना सताया जाता था, उन्हें सामाजिक अधिकारों से कितना वंचित किया गया था, आदि सब कुछ इन प्राकृत कथाओं में चित्रित है।

प्राकृत कथाओं के प्रकार

प्राकृत कथाओं के विकास की एक लम्बी कहानी है। इस लम्बे समय में परिस्थितियों और वातावरण की भिन्नता के कारण कथाओं के शिल्प में भी यथेष्ट विकास होता चला आ रहा है। प्राकृत कथाओं के भेद-प्रभेदों का विवेचन कथाग्रन्थों में विवेचित सामग्री के आधार पर ही किया जायगा।

दशवैकालिक में कथा के तीन भेद बतलाये हैं—अकथा, कथा और विकथा मिथ्यात्व के उदय से अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जिस कथा का निरूपण करता है, वह संसार परिभ्रमण का कारण होने से कथा कहलाती है। तप, संयम, दान, शील आदि से पवित्र व्यक्ति लोककल्याण के हेतु अथवा विचारशोधन के हेतु जिस कथा का निरूपण करता है, वह कथा कहलाती है। इस कथा को ही मनीषियों ने सत्कथा कहा है।

प्रमाद, कषाय, राग, द्वेष, स्त्री, भोजन, राष्ट्र, चोर एवं समाज को विकृत करनेवाली कथा विकथा कहलाती है। तथ्य यह है कि हमारे मन में सहस्रों प्रकार की वासनाएँ संचित रहती हैं। इनमें कुछ ऐसी अवांछनीय वासनाएँ भी हैं, जो अप्रकाशित रूप में ही दबी रह जाती हैं। अतः अज्ञातमन में अपनी दबी-दबाई और कुंठित इच्छाओं को विस्थापन या संक्षिप्तीकरण के कारण व्यक्ति उद्‌बुद्ध करता है। इस प्रक्रिया द्वारा हमारी संवेदनाओं और आवेगों का शुद्धीकरण होता रहता है। नैतिक मन—सुपर इगो नैतिकता के आधार पर हमारी क्रियाओं की आलोचना व्यक्त रूप से करता है। कथाएँ ऐसा सरस और गम्भीर संस्कारोत्पादक निमित्त हैं, जिससे व्यक्ति की वासनाएँ या कुण्ठाएँ उद्‌बुद्ध अथवा शुद्ध होती हैं। अतः विकथा और अकथा के द्वारा जीवन में नैतिकता नहीं आ सकती। कथाकार का उद्देश्य कुण्ठा का परिष्कार कर नैतिकजीवन का निर्माण करना है और नैतिक मन की क्रियाओं को गतिशील बनाना है। अतएव मानवसमाज को सुखी बनाने के लिए सत्कथा ही श्रेयस्कर है।

प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है और सुख का मूल है शान्ति तथा शान्ति का मूल है भौतिक आकर्षण से बचना। भौतिकता के प्रति जितना अधिक आकर्षण होता है, उतना ही मनुष्य का नैतिक पतन सम्भव है। पदार्थ, सत्ता, अधिकार और अहंभाव ये चारों ही भौतिकता के मूल हैं। विकथा और अकथा भौतिकता का आकर्षण उत्पन्न करती हैं; किन्तु कथा या सत्कथा जीवन में शान्ति और सुख उत्पन्न करती है अतएव सत्कथा ही उपादेय है।

प्राकृत कथाओं के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण विषय, पात्र, शैली और भाषा इन चार दृष्टियों से उपलब्ध होता है। विषय की दृष्टि से दशवैकालिक में कथाओं के चार भेद उपलब्ध होते हैं—

(१) अर्थकथा, (२) कामकथा, (३) धर्मकथा और (४) मिश्रित-कथा, इन चारों प्रकार की कथाओं में से प्रत्येक प्रकार की कथा के अनेक भेद हैं।[1]

धर्म-अर्थादि पुरुषार्थों के लिए उपयोगी होने से धर्म, अर्थ और काम का कथन करना कथा है। जिसमें धर्म का विशेष निरूपण रहता है, वह आत्मकल्याणकारी और संसार

---

१. अत्थकहा कामकहा धम्मकहा चेव मीसिया य कहा।—दश० गा० १८८ पृ० २१२; एत्थ सामन्नओ चत्तारि कथाओ हवंति। तं जहा—अत्थकहा, कामकहा, धम्मकहा संकिण्णकहा य—समराइच्चकहा पृ० २। तत्थ य सामन्नेणं कहाउ मन्नंति ताव चत्तारि। अत्थकहा कामकहा धम्मकहा तह य संकिन्ना॥ जंबु० प० उ० गा० २२।

पुरुषार्थोपयोगित्वात्त्रिवर्गकथनं कथा। तत्रादिसत्कथां धर्म्यामामनन्ति मनीषिणः॥
तत्फलाभ्युदयांगत्वादर्थकामकथा कथा। अन्यथा विकथैवासावपुण्यास्रवकारणम्॥
—जिनसेन महापुराण प्र० प० श्लो० ११८, ११९।

के शोषण तथा उत्पीड़न से दूर कर शाश्वत सुख को प्रदान करनेवाली सत्कथा, धर्म कथा है। धर्म के फलस्वरूप जिन अभ्युदयों की प्राप्ति होती है, उनमें अर्थ और काम भी मुख्य है। अतः धर्म का फल दिखलाने के लिए अर्थ और काम का वर्णन करना भी कथा के अन्तर्गत है। यदि अर्थ और काम की कथा धर्मकथा से रहित हो तो वह विकथा कहलायेगी। लौकिक जीवन में अर्थ का प्राधान्य है। अर्थ के बिना एक भी सांसारिक कार्य नहीं हो सकता है सभी सुखों का मूलकेन्द्र अर्थ है। अतः मानव की आर्थिक समस्याओं और उसके विभिन्न प्रकारों के समाधानों को कथाओं, आख्यानों और दृष्टान्तों के द्वारा व्यंग्य या अनुमित करना अर्थकथा है। अर्थ कथाओं को सबसे पहले इसीलिए रखा गया है कि अन्य प्रकार की कथाओं में भी इसकी अन्वीति है।

दशवैकालिक में[1] विद्या शिल्प, उपाय—प्रयास अर्थार्जन के लिए किया गया प्रयास, निर्वेद—संचय, साम, दण्ड और भेद का जिसमें वर्णन हो या ये विषय जिसमें अनुमित या व्यंग्य हों, वह अर्थकथा है। अर्थ प्रधान होने से अथवा आजीविका के साधनों—असि, मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य अथवा धातुवाद आदि अर्थ प्राप्ति के विविध साधनों का जिसमें निरूपण हो, वह अर्थकथा है। तात्पर्य यह है कि जिसकी कथावस्तु का सम्बन्ध अर्थ से हो, वह आर्थकथा कहलाती है। इस विभाग में राजनैतिक कथाओं का भी समावेश हो जाता है। प्राकृत कथाओं में संचय के प्रति विगर्हणा तथा परिग्रह परिमाण के प्रति आसक्ति का विवेचन कर समाजवादी, साम्यवादी एवं पूंजीवादी समस्याओं और विचारधाराओं का विवेचन किया है। देखने में प्राकृत कथाएँ पुराण जैसी ही प्रतीत होती हैं, पर कथा के जो तत्त्व और लक्षण हैं, उनका समावेश प्रचुर परिमाण में पाया जाता है।

सौन्दर्य, अवस्था—युवावस्था, वेश, दाक्षिण्य आदि विषयों की तथा कला की शिक्षा का दृष्ट,श्रुत, अनुभूत और संथव—परिचय प्रकट करना कामकथा है। सैक्स—यौन सम्बन्ध को लेकर कथाओं के लिखे जाने की परम्परा प्राकृत में पुरानी है। कामकथाओं में रूप-सौन्दर्य के अलावा सैक्स समस्या पर कलात्मक ढंग से विचार किया जाता है। इस प्रकार की कथाओं में समाज का भी सुन्दर विश्लेषण अंकित रहता है। प्रेम एक सहज मानवीय प्रवृत्ति है और यह मानव समाज की आदिम अवस्था से ही काम करती आ रही है। प्रेम मानव के हृदय में स्वभावतः जाग्रत होता है और एक विचित्र प्रकार की आत्मीयता का आश्रय ग्रहण कर विकसित होता है। कामकथाओं में प्रेम कथाओं का भी अन्तर्भाव रहता है। प्रेमी और प्रेमिका के उत्कृष्ट प्रेम उनके मिलन मार्ग की बाधाएँ, मिलने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न तथा अन्त में उनके मिलन के

---

१. दशवैकालिग गा० १८९ पृ० २१२ और समरा क० पृ० ३।

वर्णन बड़े रोचक ढंग से रहता है। रोमान्स का प्रयोग भी काम कथाओं में पाया जाता है। हरिभद्र की वृत्ति में प्रेम के वृद्धिगत होंने के निम्न पाँच कारण बतलाये हैं—

सइ दंसणाउ पेम्मं पेमाउ रई रईय विस्संभो।
विस्संभाओ पणओ पंचविहं वड्ढए पेम्मं॥

—दश० हारि पृ० २१९

सदा दर्शन, प्रेम, रति, विश्वास और प्रणय इन पाँच कारणों से प्रेम की वृद्धि होती है। पूर्ण सौन्दर्य वर्णन में शरीर के अंग-प्रत्यंग, केश, मुख, भाल, कान, भौंह, आँख, चितवन, अधर, कपोल, वक्षस्थल, नाभि, जघन, नितम्ब आदि अंगों के सौन्दर्य निरूपण को परिगणित किया जाता है। सौन्दर्य के साथ वस्त्र, सज्जा और अलंकारों का घनिष्ठ सम्बन्ध भी वर्णित रहता है।

धर्मकथा में क्षमा, मार्दव, आर्जव, तप, संयम, सत्य, शौच और किसी साधना या अनुष्ठान विशेष का प्रतिपादन किया जाता हैं। इस धर्मकथा के द्रव्य, क्षेत्र, तीर्थ, काल, भाव, महाफल और प्राकृत के सात अंग हैं। उद्योतन सूरि ने नाना जीवों के नाना प्रकार के भाव-विभाव का निरूपण करनेवाली कथा धर्मकथा बतलायी है। इसमें जीवों के कर्मविपाक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भावों की उत्पति के साधन तथा जीवन को सभी प्रकार से सुखी बनानेवाले नियम आदि की अभिव्यंजना होती है। धर्मकथाओं में शील, संयम, तप, पुण्य और पाप के रहस्य के सूक्ष्म विवेचन के साथ मानव जीवन और प्रकृति की सम्पूर्ण विभूति के उज्ज्वल चित्र बड़े सुन्दर पाये जाते हैं। जिन धर्मकथाओं में शाश्वत सत्य का निरूपण रहता है, वे अधिक लोकप्रिय रहती हैं। इनका वातावरण भी एक विशेष प्रकार का होता है। धर्मकथाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पहले कथा मिलती है, पश्चात् धार्मिक या नैतिक ज्ञान। जैसे अंगूर खानेवाले को प्रथम रस और स्वाद मिलता है पश्चात् बल-वीर्य। जिस धर्मकथा का स्थापत्य शिथिल होता है, इसमें अवश्य ही कथाकार उपदेशक बन जाता है। धर्म-कथाओं में जीवन निरीक्षण, मानव की प्रवृत्ति और मनोवेगों की सूक्ष्म परख, अनुभूत-सत्यों और समस्याओं का सुन्दर समाहार भी कम नहीं पाया जाता है।

धवलाटीकाकार वीरसेनाचार्य ने धर्मकथा के भेदों का निम्न प्रकार निरूपण किया है।

अक्खेवणी णिक्खेवणी, संवेयणी णिव्वेयणी चेदि चउव्विहाओ कहाओ वण्णेदि। तत्थ अक्खेवणी णाम छद्दव्वणवपयत्थाणं सरूवं दिगंतरसमयांतर-णिराकरणं सुद्धि करति परूवेदि। णिक्खेवणी णाम पर-समएण स-समयं दूसंती पच्छा दिगंतर-सुद्धि करेती। स-समयं थावंती छद्दव्व-णवपयत्थे परूवेदि। संवे-यणी णाम पुण्णफल-संकहा····। संसार-सरीर,भोगेसु वेरग्गुप्पाइणी णिव्वेयणी णाम।····धवलाटीका पुस्तक १, पृ० १०४।

अर्थात् धर्मकथा के आक्षेपिणी, विक्षेपणी, संवेदनी एवं निर्वेदनी ये चार भेद हैं। आक्षेपिणी कथा में छह द्रव्य और नव पदार्थों का स्वरूप, काल और स्थान की शुद्धि पूर्वक निरूपण किया जाता है अर्थात् स्वागतानुसार छह द्रव्य और नव पदार्थों का स्वरूप कथन करने के अनन्तर दूसरों की मान्यता में दोषोद्भावन करना आक्षेपिणी है। निक्षेपिणी कथा में प्रथम दूसरों की मान्यताओं का निराकरण किया जाता है, तदन्तर स्वमत का प्रतिपादन। संवेदनी में पुण्य-पाप के फलों का विवेचन कर विरक्ति की ओर ले जाया जाता है! निर्वेदनी में संसार, शरीर और भोगों में विरक्ति उत्पन्न की जाती है।

दशबैकालिक में उक्त कथाओं में अनेक भेदप्रभेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

मिश्र या संकीर्ण कथा की प्रशंसा सभी प्राकृत-कथाकारों ने की है। अर्थकथा, कामकथा और धर्मकथा इन तीनों का मिश्रण इस विधा में पाया जाता है। इसमें कथासूत्र, थीम, कथानक, पात्र और देशकाल या परिस्थिति आदि प्रमुख तत्त्व वर्तमान रहते हैं। मनोरंजन और कुतूहल के साथ जन्म-जन्मान्तरों से कथानकों की जटिलता सुन्दर ढंग से वर्तमान रहती है, संकीर्ण कथाओं के प्रधान विषय राजाओं या वीरों के शौर्य, प्रेम, ज्ञान, दान, शील और वैराग्य; समुद्री यात्राओं के साहस; अगम्य स्थानों के अस्तित्वों एवं स्वर्ग नरकादि के कष्टों का विवेचन है।

पात्रों के प्रकारों के आधार पर प्राकृत साहित्य में कथाओं के भेद दिव्य, मानुष और दिव्य-मानुष ये तीन भेद किये गये है।[1] जिन कथाओं में दिव्य लोक के व्यक्ति पात्र हों और उन्हीं के द्वारा घटनाएँ घटित होती हों, वे दिव्य कथाएँ कहलाती हैं। मनुष्य पात्र रहने पर मानुष तथा देव और मनुष्य दोनों वर्ग के पात्रों अस्तित्व रहने पर दिव्य-मानुष कथा कही जाती है। भारतीय आख्यान साहित्य में जिस प्रकार पशु-पक्षियों की कथाएँ वर्णित हैं, उसी प्रकार देवों की कथाएँ भी। आलोचकों ने परी कथा—फेयरीटेल्स इसी प्रकार की कथाओं को कहा है। इस श्रेणी की कथाओं में घटनाओं की बहुल्यता तो रहती ही है, साथ ही मनोरंजक गुण भी। कुतूहल की सघनता काव्यादि के शृङ्गार रसों की निबद्धता एवं शैली की स्वच्छता दिव्य कथाओं के प्रमुख गुण हैं। इन कथाओ का सबसे बड़ा दोष यह है कि दिव्य लोक के पात्र इतनी ऊँचाई पर स्थित रहते हैं, जिससे पाठक उन तक पहुँच नहीं पाता और न उनके चरित्र से आलोक ही ग्रहण कर पाता है। वे मात्र श्रद्धेय होते हैं, उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न की

---

१. दिव्वं, दिव्वमाणुसं, माणुसं च। तत्थ दिव्वं नाम जत्थ केवलमेव देवचरिअं वण्णिज्जइ। सम० पृ० २।

तं जह दिव्वा तह दिव्वमाणुसीं माणुसी तहच्चेय—लीला० गा० ३५।

जा सकती है, उनके भयंकर कार्यों से भयभीत हुआ जा सकता है, पर उनके साथ घुल-मिलकर रहा नहीं जा सकता।

मानुष कथा में पात्र मनुष्य लोक के रहते हैं। उनके चरित्र में पूर्ण मानवता रहती है। चरित्र की कमियाँ, उनके आदर्श एवं उत्थान-पतन की विभिन्न स्थितियाँ, मनोविकारों की बारीकियाँ और मानव की विभिन्न समस्याएँ इस कोटि की कथाओं में विशेषरूप से पायी जाती है।

दिव्य मानुषी कथा बहुत सुन्दर मानी गई है। इसमें मनुष्य और देव दोनों प्रकार के पात्र रहते हैं। इस कोटि की कथा का कथाजाल बहुत ही सघन और कलात्मक होता है। कौतूहल कवि ने 'लीलाबाई' में बताया है—

एमेय मुद्ध-जुयइ-मणोहरं पाययाए भासाए।
पविरल-देसि-हुलक्खं कहसु कहं दिव्वमाणुसियं ॥ ४१ ॥
तं तह सोऊण पुणो भणियं उब्बिब-बाल-हरिणच्छि।
जइ एवं ता सुव्वउ सुसंधि-बंधं कहा-वत्थुं ॥ ४२ ॥

अर्थात् दिव्य मानुषी कथा युवतियों के लिए अत्यन्त मनोहर होती है। इसमें देशी शब्द तथा ललित पदावलि रहती है। देवी तथा मानुषी घटनाओं का चमत्कार रहने से इस प्रकार की कथा सभी को अपनी ओर आकृष्ट करती है। दिव्य मानुषी कथा में व्यंजक घटनाएँ और वार्तालाप गम्भीर मनोभावों का सृजन करते हैं। परिस्थितियों के विशद और मार्मिक चित्रणों में नाना प्रकार के घात-प्रतिघात लक्षित होते हैं। विभिन्न वर्गों के संस्कार जिनका सम्बन्ध देव और मनुष्यों से है, स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। प्रेम का पुट और संयोग तत्त्व (चाँस) इन कथाओं में अवश्य रहता है।

प्राकृत साहित्य में कथाओं का तीसरा वर्गीकरण भाषा के आधार पर भी उपलब्ध है। स्थूल रूप से संस्कृत, प्राकृत और मिश्र ये तीन भेद बताये हैं।

अण्णं सक्कय पायय-संकिण्ण-विहा सुवण्ण-रइयाओ।
सुव्वंति महा-कइ पुंगवेहि विविहाउ सुकहाओ ॥ ३६ ॥ लीलावई

उद्योतन सूरि ने स्थापत्य के आधार पर कथाओं के पाँच भेद किये हैं।

तओ पुण पंच कहाओ। तं जहा—सयलकहा, खंडकहा, उल्लावकहा, परिहासकहा। तहावरा कहिवत्ति—संकिण्ण कहत्ति।—कुवलयमाला पृ० ४, अनुच्छेद ७।

अर्थात्—सकल कथा, खण्ड कथा, उल्लाप कथा, परिहास कथा और संकीर्ण कथा।

जिसके अन्त में समस्त फलों—अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाय, ऐसी घटना का वर्णन सकल कथा में होता है। सकल कथा की शैली महाकाव्य की होती है। शृङ्गार, वीर और शान्त रसों में से किसी एक रस का प्राधान्य रहता है। यद्यपि अंग

रूप में सभी रस निरूपित रहते हैं। नायक कोई अत्यन्त पुण्यात्मा, सहनशील और आदर्श चरित्त वाला व्यक्ति ही होता है। इसमें नायक के साथ प्रतिनायक का भी नियोजन रहता है तथा प्रतिनायक अपने क्रिया-कलापों से सर्वदा नायक को कष्ट देता है। जन्म-जन्मान्तर के संस्कार अत्यन्त सशक्त होते हैं।

जिसका मुख्य इतिवृत्त रचना के मध्य में या अन्त के समीप में लिखा जाय, उसे खण्ड कथा कहते हैं। खण्ड कथा की कथावस्तु छोटी होती है, जीवन का लघु चित्र ही उपस्थित किया जाता है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि यह प्राकृत कथा साहित्य की वह विधा है, जिसके मध्य स्थान में मार्मिकता रहती है। मध्य में निहित उपदेश जल पर छोड़े गये तैलबिन्दु के समान प्रसरित होते रहते हैं।

उल्लाव कथा एक प्रकार की साहसिक कथाएँ हैं, जिनमें समुद्र यात्रा या साहसपूर्वक किये गये कार्यों का निरूपण रहता है। इनमें असंभव और दुर्घट कार्यों की व्याख्या भी प्रस्तुत की जाती है। उल्लाव कथा का उद्देश्य नायक के महत्वपूर्ण कार्यों को उपस्थित कर पाठक को नायक के चरित्र की ओर ले जाता है। इसकी शैली वैदर्भी रहती है। छोटी-छोटी ललित पदावलि में कथा लिखी जाती है।

परिहास कथा हास्य-व्यंग्यात्मकता का सृजन करने में सहायक होती है।

मिश्र कथाओं की शैली वैदर्भी होती है तथा इनमें अनेक तत्त्वों का मिश्रण होने से जनमानस को अनुरंजित करने की अधिक क्षमता होती है। रोमाण्टिक धर्मकथाएँ तथा प्रबन्धात्मक चरित इसी श्रेणी में आते हैं। मिश्र कथा गद्य-पद्य मिश्रित शैली में ही लिखी जाती है। यही कारण है कि प्राकृत साहित्य में कथाएँ गद्य-पद्य मिश्रित शैली में लिखी गयी हैं। उपदेश को मध्य में इस प्रकार निहित किया जाता है, जिससे पाठक के मन में जिज्ञासा वृत्ति उत्तरोत्तर विकसित होती जाती है।

इस प्रकार प्राकृत कथा-साहित्य विभिन्न वर्गों में विभक्त है। कुछ विद्वानों ने चरितकाव्यों को भी कथा-साहित्य के अन्तर्गत ही रखा है। क्योंकि प्राकृत चरित काव्यों में काव्य के जितने तत्त्व प्राप्त हैं उनमें अधिक कथा के तत्त्व हैं। अतः प्रबन्धात्मक चरितों का अन्तर्भाव भी कथाओं में किया जा सकता है।

इस विचारधारा का यथार्थ विश्लेषण करने पर यह प्रतीत होता है कि चरित काव्यों का रागतत्व और चरित-निरूपण का प्रकार कथाओं की अपेक्षा अत्यन्त भिन्न है। अतः चरित-ग्रन्थों को पृथक् स्थान देना और उनका पृथक् रूप से विचार करना भी आवश्यक है। यही कारण है कि प्रस्तुत रचना में चरित-ग्रन्थों का चरित-काव्य विधा में प्रतिपादन किया गया है। कथानक और पात्रों का अस्तित्वमात्र ही कथा का कारण नहीं होता।

प्राकृत के महत्वपूर्ण कथाग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत करना नितान्त आवश्यक है।

तरंगवती

तरंगवई एक प्राचीन कथा कृति है। यद्यपि आज यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, पर यत्र-तत्र उसके उल्लेख अथवा तरंग लोला का जो संक्षिप्त रूप उपलब्ध है। उससे ज्ञात होता है कि यह एक धार्मिक उपन्यास था, इसकी ख्याति लोकोत्तर कथा के रूप में अधिक थी। निशीथचूर्णि में निम्नलिखित उदाहरण उपलब्ध होता है।

अणेगित्थीहि[1] जा कामकहा। तत्थ लोइया णरवाहणदत्तकहा, लोउत्तरिया तरंगवईमगधसेणादीणि।

विशेषावश्यक भाष्य[2] में इस ग्रन्थ का बड़े गौरव के साथ उल्लेख किया गया है। यथा—

जहवा निदिट्ठवसा वासवदत्ता तरंगवइयाइं।
तह निदेसगवसओ लोए मणु-रक्खवाउत्ति॥

जिनदास गणि ने दशवैकालिक चूर्णि में धर्मकथा के रूप में तरंगवती का निर्देश किया है।

तत्थ लोइएसु जहा भरइ रामायणादिसु वेदिगेसु जन्नकिरियादीसु सामइगेसु तरंगवइगासु घम्मत्थकामसहियाओ कहाओ कहिज्जंति[3]।

उद्योतन सूरि ने श्लेषालंकार द्वारा कुवलयमाला में बतलाया है कि जिस प्रकार पर्वत से गंगा नदी प्रवाहित हुई है, उसी प्रकार चक्रवाक युगल से युक्त सुन्दर राजहंसों को आनन्दित करनेवाली तरंगवती कथा पादलिप्त सूरि से निस्सृत हुई है।[4]

इस कथा-ग्रन्थ की प्रशंसा वि० सं० १०२९ में 'पाइयलच्छीनाममाला' के रचयिता धनपाल ने तिलकमंजरी[5] में और वि० सं० ११९९ में 'सुपासनाहचरियं' के रचयिता लक्ष्मण गणि ने[6] एवं प्रभावकचरित में प्रभाचन्द्र सूरि ने की[7] है।

---

१. संक्षिप्त तरंगवती या तारंलोला की प्रस्तावना में उद्धृत पृ० ७।

२. विशेषावश्यकभाष्य गाथा १५०८।

३. दसवेयालियचुण्णि पत्र १०९।

४. चक्काय-जुवल-सुहया रम्मत्तण-रायंहंस-कयहरिसा।
जस्स कुल-पव्वयस्स व वियरइ गंगा तरंगवई॥—कुवल० पृ० ३ गा० २०

५. प्रसन्नगाम्भीरपथा रथांगमिथुनाश्रया।
पुण्या पुनाति गंगेव मां तरंगवती कथा॥—सं० तं० प्रस्तावना पृ० १७।

६. को ण जणो हरिसिज्जइ तरंगवइ-वइयरं सुणेऊण।
इयरे पबंध सिंधु वि पाविया जीए महुरत्तं॥—सुपास० पुव्वभव प० गा० ९।

७. सीसं कहवि न फुट्टं—प्र० च० चतुर्वि० प्र० पृ० २९।

तरंगवती (तरंगवई) कथा का दूसरा नाम तरंगलोला[1] भी प्रतीत होता है। इस कथा-ग्रन्थ के संक्षिप्तकर्त्ता नेमिचन्द्र गणि ने भी संक्षिप्त तरंगवती के साथ तरंगलोला नाम भी दिया है।

इस कथा-ग्रन्थ के रचयिता पादलिप्त सूरि हैं। इनका जन्म नाम नागेन्द्र था। साधु होने पर पादलिप्त कहलाये। प्रभावक चरित में बताया गया है कि अयोध्या के विजय ब्रह्मराजा के राज्य में ये एक कुलश्रेष्ठि के पुत्र थे। आठ वर्ष की अवस्था में विद्याधर गच्छ के आचार्य आर्य नागहस्ती से उन्होंने दीक्षा ली थी। दसवें वर्ष में ये पट्ट पर आसीन हुए। मे मथुरा में रहते थे। इनका समय वि० सं० १५१–२१९ के मध्य में है।

पादलिप्त सूरि गाथासप्तशती के सम्पादनकर्त्ता सातवाहनवंशी राजा हाल के दरबारी कवि थे। बृहद्कथा के रचयिता कवि गुणाढ्य इनके समकालीन रहे होंगे। बताया गया है कि मुरुण्ड का पादलिप्त सूरि के ऊपर खूब स्नेह था। यह मुरुण्ड कनिष्क राजा का एक सूबेदार था। अतः इनका समय ई० सन् ७८-१६२ के मध्य भी सम्भव है। विशेषावश्यकभाष्य और निशीथचूर्णि में इनका उल्लेख आने से भी इनका समय पर्याप्त प्राचीन प्रतीत होता है। पादलिप्त सूरि के सम्बन्ध में प्रभावकचरित और प्रबन्धकोश इन दोनों में विस्तारपूर्वक उल्लेख विद्यमान है। यह निश्चित है कि तरंगवती का रचनाकाल वि० सं० की दूसरी शती के पूर्व ही है। कहा जाता है कि पादलिप्त की माता का नाम प्रतिमा और पिता का नाम फुल्ल था।

तरंगवती आज मूल रूप में प्राप्त नहीं है। इसका संक्षिप्त रूप, जिसका दूसरा नाम तरंगलोला भी है, प्राप्य है। इस ग्रन्थ को वीरभद्र आचार्य के शिष्य नेमिचन्द्र गणि ने तरंगवती कथा के लगभग १०० वर्ष पश्चात् यश नामक अपने शिष्य के स्वाध्याय के लिए लिखा है। इसमें १६४२ गाथाएँ हैं। नेमिचन्द्र के अनुसार पादलिप्त ने तरंगवती की रचना देशी भाषा में की थी। यह कथा अद्भुत रसयुक्त और विस्तृत थी। इसकी संक्षिप्त कथावस्तु दी जा रही है।

कथावस्तु—संक्षिप्त तरंगवती या तरंगलोला की कथावस्तु को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है।

१. तरंगवती का आर्यिका के रूप में राजगृह में आगमन।

२. आत्मकथा के रूप में अपनी कथा को कहना तथा हंस-मिथुन को देखकर प्रेम का जागृत होना।

३. प्रेम की तलाश में संलग्न हो जाना और इष्ट प्राप्त होने पर विवाह-बन्धन में बँध जाना।

---

१. सं० २००० में नेमिविज्ञान ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित।

४. विरक्ति और दीक्षा ।

प्रथम भाग में बताया गया है कि राजगृह नगरी में चन्दनबाला गणिनी का संघ आता है। तपस्विनियों के इस संघ में सुव्रता नाम की एक धार्मिक शिष्या है। इसी सुव्रता का दीक्षा ग्रहण करने से पहले का नाम तरंगवती है। राजगृह में जिस उपाश्रय में यह संघ ठहरा हुआ है, उसके निकट धनपाल सेठ का भवन है। इस सेठ की शोभा नाम की धर्मात्मा पत्नी है। एक दिन आर्यिका सुव्रता भिक्षाचर्या के लिए इसी सेठ के घर जाती है। शोभा उसके अनुपम रूप-सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो जाती है और उससे धर्मोपदेश देने के लिए कहती है। सुव्रता अहिंसा धर्म का उपदेश देती है तथा मानव जीवन में नैतिक आचार पालन करने पर जोर देती है। शोभा सुव्रता की मधुर वाणी से अत्यधिक प्रभावित होती है। वह उससे पूछती है कि आप त्रिलोक का सारा सौन्दर्य लेकर क्यों विरक्त हुईं ? मेरे मन में आपका परिचय जानने की तीव्र उत्कण्ठा है।

द्वितीय खण्ड में वह अपनी कथा आरम्भ करती है। वह कहती है कि वत्सदेश में कौशाम्बी नाम की नगरी में उदयन नाम का राजा अपनी प्रिय पत्नी वासवदत्ता के सहित राज्य करता था। इस नगरी में ऋषभदेव नाम का एक नगरसेठ है। उसके आठ पुत्र थे। कन्या-प्राप्ति के लिए उसने यमुना से प्रार्थना की, फलतः तरंगों के समान चंचल और सुन्दर होने से उसका नाम तरंगवती रखा गया। यह कन्या बड़ी कुशाग्र बुद्धि थी। गणित, वाचन, लेखन, गान, वीणावादन, वनस्पति शास्त्र, रसायन शास्त्र, पुष्प-चयन एवं विभिन्न कलाओं में उसने थोड़े ही समय में प्रवीणता प्राप्त कर ली। एक दिन शरद ऋतु के अवसर पर वह अपने अभिभावकों के साथ वन-विहार के लिए गयी और वहाँ एक हंस-मिथुन को देखकर इसे पूर्वजन्म का स्मरण हो आया।

अंगदेश में चम्पा नाम की नगरी थी। इस नगरी में गंगा नदी के किनारे एक चकवा-चकवी रहते थे। एक दिन एक शिकारी आया। उसने जंगली हाथी को मारने के लिए बाण चलाया, पर वह बाण भूल से चकवा को लगा। चकवा की मृत्यु देखकर चकवी बहुत दुःखी हुई। इधर उस शिकारी को चकवे के मर जाने से बहुत पश्चाताप हुआ। उसने लकड़ियाँ एकत्र कर उस चकवा का दाह-संस्कार किया। चकवी भी प्रेमवश उसी चिता की अग्नि में जल गयी। उसी चकवी का जीव मैं तरंगवती के रूप में उत्पन्न हुई हूं। पूर्वभव की इस घटना के स्मरण आते ही उसके हृदय में प्रेम का बीज अंकित हो गया। उसके मानस में अपने प्रिय से मिलने की तीव्र उत्कंठा जागृत हो गयी। एक क्षण भी उसे अपने पूर्वभव के प्रिय के बिना युग के समान प्रतीत होने लगा।

तृतीय खण्ड में तरंगवती द्वारा प्रिय की प्राप्ति के लिए किये गये प्रयत्नों का वर्णन किया गया है। उसने सर्वप्रथम उपवास आदि के द्वारा अपनी आत्मा को प्रेम की

उदात्त भूमि में पहुँचाने का अधिकारी बनाया। पश्चात् एक सुन्दर चित्रपट बनाया, जिसमें अपने पूर्वजन्म की घटना को अंकित किया। उस चित्र को अपनी सखी सारसिका के हाथ नगर में सभी ओर घुमाया, पर पूर्वजन्म के प्रेमी का पता न लगा। एक दिन जब नगर में कार्त्तिकी पूर्णिमा का महोत्सव मनाया जा रहा था, सारसिका उस चित्र को लेकर नगर की चौमुहानी पर गयी। सहस्रों आने-जाने वाले व्यक्ति उस चित्र को देखकर अपने मार्ग से आगे बढ़ने लगे, किसी के मन में कोई भी प्रतिक्रिया उत्पन्न न हुई। कुछ समय पश्चात् धनदेव सेठ का पुत्र पद्मदेव अपने मित्रों सहित उसी चौराहे पर आया। उस चित्र को देखते ही उसका मन प्रेम-विभोर हो गया और उसे अपने पूर्वभव का स्मरण हो आया। उसने अपने मित्र के द्वारा इस बात का पता लगाया कि इस चित्र को नगरसेठ ऋषभसेन की पुत्री तरंगवती ने बनाया है। उसे निश्चय हो गया कि तरंगवती उसके पूर्वभव की पत्नी है। अतः यह तरंगवती की प्राप्ति के लिए बेचैन हो गया और उसके अभाव में रुग्ण रहने लगा। पिता ने उसे स्वस्थ रखने के हेतु अनेक उपाय किये, पर सब उपाय व्यर्थ सिद्ध हुए। अतः उसने पुत्र के अस्वस्थ रहने के कारण का पता लगाया।

तरंगवती के प्रति उसके हृदय में प्रेम का आकर्षण जानकर उसने तरंगवती के पिता ऋषभसेन से तरंगवती की याचना की, पर नगरसेठ के लिए यह अपमान की बात थी कि उसकी पुत्री का विवाह किसी साधारण सेठ के लड़के से सम्पन्न हो। अतः उसने स्पष्टरूप से इंकार कर दिया और कहलवाया कि विवाह सम्बन्ध समान शील, गुणवाले के साथ ही सम्पन्न होता है। अतएव तरंगवती का विवाह पद्मदेव के साथ सम्पन्न नहीं हो सकता है। ऋषभसेन द्वारा इन्कार किये जाने से पद्मदेव की अवस्था और बिगड़ने लगी, प्रेम का उन्माद उत्तरोत्तर बढ़ता जाता था और उसका प्रेमज्वर अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच रहा था।

जब तरंगवती को अपनी सखी द्वारा पद्मदेव का समाचार प्राप्त हुआ और पिता द्वारा विवाह करने से इन्कार कर वृत्तान्त अवगत हुआ तो उसने अपने प्रेमी से मिलने का निश्चय किया। एक रात को वह अपने घर के समस्त वैभव और ऐश्वर्य को छोड़कर चल पड़ी, अपने प्रिय से मिलने के लिए मध्य रात्रि में वह पद्मदेव से मिली और दोनों ने निश्चय किया कि नगर छोड़कर हमलोग बाहर चलें, तभी हमलोग शान्तिपूर्वक रह सकते हैं। जन्म-जन्मान्तर के प्रेम को सार्थक बनाने के लिए नगर त्याग के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। फलतः ये दोनों नगर से बाहर जंगल की ओर चल पड़े। चलते-चलते वे एक घने जंगल में पहुँचे, जहाँ चोरों की बस्तियाँ थीं। वे चोर अपने स्वामी के आदेश से कात्यायनी देवी को प्रसन्न करने के लिए नरबलि देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि नरबलि देने से कालि देवी प्रसन्न हो जायँगी, जिससे लूट-पाट में

उन्हें खूब धन प्राप्त होगा। चोरों ने मार्ग में जाते हुए पद्मदेव को पकड़ लिया और बाँध कर बलिदान के निमित्त लाये। तरंगवती ने इस नयी विपत्ति को देखकर विलाप करना शुरू किया। इसके करुण क्रन्दन के समक्ष पाषाण शिलाएँ भी द्रवित हो जाती थीं। एक सहायक चोर का हृदय पिघल गया और उसने किसी प्रकार पद्मदेव को बन्धन मुक्त कर दिया एवं अटवी से बाहर निकाल दिया। वे दोनों अनेक गाँव और नगरों में घूमते हुए एक सुन्दर नगरी में पहुँचे।

इधर तरंगवती के माता-पिता उनके अकस्मात् घर से चले जाने के कारण बहुत दुःखी थे। उन्होंने तरंगवती को तलाश करने के लिए अपने निजी व्यक्तियों को चारों ओर भेजा। कुल्माष नामक भृत्य उसी नगरी में तलाश करता हुआ आया। वह उन्हें कौशम्बी ले गया और यहाँ पर उनका विवाह सम्पन्न हो गया।

कथा के अन्तिम खण्ड में बताया गया है कि ये दोनों पति-पत्नी वसन्त ऋतु में एक समय वन-विहार के लिए गये। वहाँ उन्हें एक मुनि के दर्शन हुए। मुनिराज ने अपनी आत्मकथा सुनायी, जिससे उन्हें वैराग्य हो गया। वे दोनों दीक्षित हो गये। वह बोली—मैं वही तरंगवती हूँ।

आलोचना—यह समस्त कथा उत्तमपुरुष में वर्णित है। इसमें करुण, शृंगार आदि विभिन्न रसों, प्रेम की विविध परिस्थितियों; चरित की ऊँची-नीची अवस्थाओं एवं बाह्य और अन्तःसंघर्षों के द्वन्द्वों का बहुत स्वाभाविक और विशद चित्रण हुआ है। इसमें प्रेम का आरम्भ नारी की ओर से होता है। यह प्रेम विकास की शुद्ध भारतीय पद्धति है। यद्यपि प्रेम का आकर्षण दोनों ओर है, प्रेमी और प्रेमिका दोनों ही मिलने के लिए व्यग्र हैं, पर तो भी वास्तविक प्रयत्न प्रेमिका की ओर से ही किया गया है। तरंगवती त्याग, सहिष्णुता एवं निःस्वार्थ सेवा आदि गुणों से पूर्ण हैं। उसका प्रेम अत्यन्त उदात्त है। अपने प्रेमी में उसकी एकनिष्ठता, निःस्वर्स्थ-भाव और तन्मयता प्रशंस्य है। मनोविज्ञान के प्रकाश में इस प्रेम की पटभूमि मे विशुद्ध वासनामूलक रागतत्त्व ही दृष्टिगोचर होगा। पर इसे निरारसिक प्रेम नहीं कहा जा सकता है। इसमें वासनात्मक प्रेम का पूरा उदात्तीकरण हुआ है। मानसिक और आत्मिक योग का इतना आधिक्य है, जिससे इसमें शारीरिक संयोग को नगण्य स्थान प्राप्त होगा। यह प्रेम शारीरिक संयोग की स्थिति से ऊपर उठकर आत्मशोधन की स्थिति को प्राप्त हो जाता है तथा राग विराग के रूप को प्राप्त हो गया है। तरंगवती जैसी प्रेमिका को मुनिराज का दर्शन भोगविलास से विरक्त कर सुव्रता जैसी साध्वी बना देता है। ईस्वी सन् की आरम्भिक शताब्दियों में इस प्रकार के धार्मिक उपन्यास का लिखा जाना कम आश्चर्य की बात नहीं है। इसमें घटनाओं का संयोजन इस क्रम से किया गया है, जिससे पाठक अपना अस्तित्व भूलकर लेखक के अनुभव और भावनाओं में डूब जाता है।

समस्त घटनाएँ एक ही केन्द्र से सम्बद्ध हैं। एक भी ऐसा कथानक नहीं है, जिसका केन्द्र से सम्बन्ध न हो। देश, काल और वातावरण का चित्रण भी प्रभावान्विति में पूर्ण सहायक हैं। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि इस धार्मिक उपन्यास की कथा-वस्तु पूर्णतया सुसंगठित है, शिथिलता तनिक भी नहीं है।

शील-निरूपण की दृष्टि से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नायक-नायिका के शील का विकास एक निश्चित धारा में हुआ है। यद्यपि पात्रों के रागों और मनोवेगों का खुलकर निरूपण किया गया है, उसमें स्वच्छन्द गति और संकल्पशक्ति की कमी नहीं है, फिर भी पात्रों में वैयक्तिकता की न्यूनता है। नायिका के चरित्र-चित्रण में लेखक को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। लेखक ने कृति का नामकरण भी नायिका के नाम के आधार पर ही किया है। नायक का चरित्र उस प्रकार दबा हुआ हैं, जिस प्रकार पहाड़ी शिला के नीचे मधुर जलस्रोत। कृतिकार ने अवरोधक चट्टान को तोड़ने की चेष्टा नहीं की है। नायक के प्रायः समस्त गुण अविकसित रूप में पाये जाते हैं।

कथानक में जहाँ-तहाँ तनाव और संघर्ष की स्थिति भी वर्तमान हैं। वातावरण का निर्माण करते हुए रहस्यात्मक प्रभाव को अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गयी है। चकवा-चकवी की रहस्यात्मक घटना से परिपूर्ण चित्रपट किसके मन में आश्चर्य और कौतूहल का संचार नहीं करता है। इस कथा के विवरण और इतिवृत्त (Description and Narration) दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। रोमाण्टिक चेतना का विकास उत्तरोत्तर होता गया है। संयोग और कार्य-कारण-बोध के स्थान पर दैव-संयोग, तथा 'भाग्य' को विश्व की नियामक शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। दैव-संयोग किसी एक भव में अर्जित नहीं हुआ है, उसमें जन्म-जन्मान्तरों के अनेक संयोजन घटित हुए हैं। पर इस तथ्य को आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता कि भाग्यवाद का विकास आगे बढ़ने पर मानवतावाद के रूप में हो गया है। भाग्यवाद का कार्य केवल सामग्री को प्रस्तुत करना ही है, पर इस सामग्री का उपयोग कर अपने पुरुषार्थ द्वारा जीवन-शोधन में प्रवृत्त होना भी है। इसी कारण इस कृति में सृजनात्मक कार्य की चेतना (Consciousness of the creative act) पूर्णतया वर्तमान है।

आत्मकथा की शैली में रसवादी भाव-भूमियों का गठन भी इस कृति में किया गया है। वन में मुनिराज का संयोग प्राप्त कर नायिका का मन विरक्ति से भर जाता है, साथ ही वह अपने जीवन के समस्त चित्रों का सिंहावलोकन करती है और जीवन-शोधन के लिए प्रवृत्त हो जाती है। नायक पद्मदेव जब नायिका को दीक्षित होते देखता है, तो वह भी दीक्षित हो जाता है। कथातत्त्व के साथ घटनाओं का दार्शनिक

विश्लेषण भी महत्त्वपूर्ण है। चोरों द्वारा पद्मदेव के पकड़े जाने पर तरंगवती की करुण-दशा और उसका हृदय-द्रावक क्रन्दन इस कथा का सबसे कोमल मर्मस्थल है।

वसुदेवहिण्डी[1]

वसुदेवहिण्डी का भारतीय कथा-साहित्य में ही नहीं, बल्कि विश्व-कथा-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार गुणाढ्य ने पैशाची भाषा में नरवाहनदत्त की कथा लिखी है, उसी प्रकार संघदास गणि ने प्राकृत भाषा में वसुदेव के भ्रमण-वृत्तान्त को लिखकर वसुदेव हिंडी की रचना की है। ये वसुदेव श्रीकृष्ण के पिता थे, इसी कारण इस कथा-कृति को वसुदेव-चरित भी कहा जाता है। यह कथा-कृति पर्याप्त प्राचीन है। आवश्यकचूर्णी के कर्त्ता जिनदास गणि ने इसका उपयोग किया है। इस ग्रन्थ में हरिवंश की महत्ता के साथ कौरव-पाण्डवों के कथानक को गौण रूप में गुम्फित किया है। निशीथ-चूर्णि में सेतु और चेटक कथा के साथ इस ग्रन्थ का भी उल्लेख है।

इस ग्रन्थ में दो खण्ड हैं—प्रथम और द्वितीय। प्रथम खण्ड में २९ लम्भक और ग्यारह हजार श्लोक प्रमाण ग्रन्थ का विस्तार है। द्वितीय खण्ड में ७१ लम्भक और सत्रह हजार श्लोक प्रमाण ग्रन्थ का विस्तार है। समस्त ग्रन्थ में सौ लम्भक हैं।

प्रथमखण्ड के रचयिता संघदास गणि और द्वितीय खण्ड के रचयिता धर्मदास गणि माने जाते हैं। इस ग्रन्थ का रचना काल अनुमानतः चौथी शती है। इसमें पञ्चतन्त्र के समान कृतघ्न वायस और शाकटिक आदि के लौकिक आख्यान आये हैं, जिनसे ऐसा ज्ञात होता है कि पञ्चतन्त्र के निर्माण में इस ग्रन्थ की कथाओं का उपयोग किया गया है।

धर्मदास गणि ने अपना कथासूत्र २९ लम्भक से आगे नहीं चलाया है, किन्तु १८ वें लम्भक की कथा प्रियंगुसुन्दरी के साथ अपने ७१ लम्भकों के सन्दर्भ को जोड़ा है और इस प्रकार संघदास की वसुदेवहिण्डी के पेट में अपने ग्रन्थ को भरा है। अतएव धर्मदास गणि द्वारा विरचित अंश वसुदेवहिण्डी का मध्यम खण्ड कहलाता है। तथ्य यह है कि संघदास गणि का २९ लम्भकों वाला ग्रन्थ अलग अपने आपमें परिपूर्ण था, पश्चात् धर्मदास गणि ने अपना ग्रन्थ अलग बनाया और बड़ी कुशलता से अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थ की खूंटी से इसे टाँग दिया।

वसुदेवहिण्डी में कथोत्पत्ति प्रकरण के अनन्तर ५० पृष्ठों का धम्मिलहिण्डी नाम का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण उपलब्ध है। इस धम्मिल हिण्डी प्रकरण में धम्मिल नामक

---

१. सन् ३०–३१ में मुनि पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित होकर आत्मानन्द जैन ग्रन्थमाला भावनगर की ओर से प्रकाशित। इस ग्रन्थ का मात्र प्रथम खण्ड ही दो अंशों में प्रकाशित है, जिसमें १९–२६ वें लम्भक अनुपलब्ध हैं और २८ वाँ अपूर्ण पाया जाता है।

किसी सार्थवाह पुत्र की कथा वर्णित है, जिसने देश-देशान्तरों में भ्रमण कर ३२ विवाह किये थे। मूलग्रन्थ में यह धम्मिल-चरित कहा गया है। धम्मिल शब्द की व्युत्पत्ति में बताया गया है कि कुसग्गपुर में जितशत्रु राजा अपनी रानी धारिणी देवी सहित राज्य करता था। इस नगरी में इन्द्र के समान वैभवशाली सुदेन्द्रदत्त नाम का सार्थवाह अपनी पत्नी सुभद्रा सहित सुखपूर्वक निवास करता था। गर्भकाल में उसे दोहद उत्पन्न हुआ। लिखा है—"कमेण य से दोहलो जातो—सव्वभूतेसु अभयप्पयाणेणं, धम्मियजणेण वच्छल्लया, दीणाणुकंपया बहुतरो य दाणपसंगो[1]।"

अतएव स्पष्ट है कि इसकी माता को धर्माचरण के विषय में दोहद उत्पन्न हुआ था, इसी कारण पुत्र का नाम धम्मिल रखा गया। धम्मिलहिण्डी का वातावरण सार्थवाहों के संसार से लिया गया है। इसे अपने आप में स्वतन्त्र रचना माना जा सकता है, जिसकी कथा का मूलकेन्द्र नरवाहनदत्त है, जिसने वसुदेव के समान अनेक विवाह किये हैं। धम्मिलहिण्डी की कई कथाएँ बहुत सुन्दर हैं।

शीलमती, धनश्री विमलसेना, ग्रामीण गाड़ीवान, वसुदत्ताख्यान, रिपुदमन नरपति आदि आख्यान बहुत ही सुन्दर लोक कथानक हैं; इनमें लोककथाओं के सभी गुण और तत्त्व विद्यमान हैं। अन्त में धम्मिल के सुनन्दभव और सरहभव के आख्यान भी सम्मिलित हैं, इसमें धनवती सार्थवाह के पुत्र धनवसु के विषय में उल्लेख है कि उसने जहाज लेकर यवनदेश की व्यापारिक यात्रा की थी और अपने साथ बहुत से सायन्त्रिक व्यापारियों को ले गया था। इससे स्पष्ट है कि धम्मिलहिण्डी में सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण उल्लेख वर्तमान हैं।

वसुदेवहिंडी में धम्मिलहिंडी के अतिरिक्त छः विभाग हैं—कथोत्पत्ति, पीठिका, मुख, प्रतिमुख, शरीर और उपसंहार। कथोत्पत्ति, पीठिका और मुख में कथा का प्रस्ताव हुआ है। प्रथम कथोत्पत्ति में जम्बूस्वामी चरित, जम्बू और प्रभव का संवाद, कुबेरदत्तचरित, महेश्वरदत्त का आख्यान, बल्कलचीरि प्रसन्नचन्द का आख्यान, ब्राह्मणदारक की कथा, अणाढियदेव की उत्पत्ति आदि वर्णित हैं। महेश्वरदत्त के आख्यान में बताया गया है कि ताम्रलिप्ती नगरी में महेश्वरदत्त नाम का सार्थवाह रहता था। उसके पिता का नाम समुद्रदत्त था। परिग्रह संचय एवं अधिक लोभवृत्ति के कारण वह मर कर उसी नगर में महिष हुआ। समुद्रदत्त की भार्या भी पापाचार के कारण मर कर उसी नगर में बहुला नाम की कुतिया उत्पन्न हुई। महेश्वरदत्त की पत्नी का नाम गाँगिला था। यह गुरुजनों के न रहने से स्वैरिणी हो गयी। एक दिन महेश्वरदत्त के घर में साउह नाम का व्यक्ति उसकी पत्नी के साथ रमण करने आया। महेश्वरदत्त ने उस विट को मारा, जिससे वह थोड़ी दूर जाकर भूमि पर गिर पड़ा और सोचने लगा कि मैंने अनाचार का

१. वसुदेवहिंडी—प्रथम खण्ड—प्रथम अंश पृ० २७।

फल प्राप्त कर लिया। इस प्रकार पश्चात्ताप करने से विशुद्ध परिणाम होने के कारण वह गांगिला के गर्भ में पुत्र रूप में जन्मा एक वर्ष के अनन्तर महेश्वरदत्त ने पिता का वार्षिक श्राद्ध करने के लिए उस महिष को खरीदा और नाना प्रकार के व्यंजनों के साथ उसका मांस भी पकाया गया। एक साधु चर्या के लिए अर्थ भ्रमण करता हुआ वहाँ आया और इस दृश्य को देखकर वापस लौट गया। महेश्वरदत्त साधु को लौटते हुए देखकर चिन्तित हुआ और उस साधु को बुलाने के लिए उसके पीछे दौड़ा। थोड़ी दूर जाकर उसने उस साधु को प्राप्त कर लिया और वापस लौटने का कारण पूछा। साधु ने माता-पिता और पुत्र के पूर्व जन्म का आख्यान बताया और कहा कि तुम्हारा पूर्वजन्म का शत्रु ही पुत्र है, जिस पिता की वार्षिकी कर रहे हो उसी का मांस तुम खिला रहे हो, तुम्हारी माता कुतिया बनी है। इस प्रकार अपने कुटम्बियों का परिचय प्राप्त कर महेश्वरदत्त को विरक्ति हुई और उसने श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली।

पीठिका में प्रद्युम्न और शंबकुमार की कथा, राम-कृष्ण की अग्रमहिषियों का परिचय, प्रद्युम्नकुमार का जन्म और उसका अपहरण, प्रद्युम्न के पूर्वभव, प्रद्युम्न का अपने माता-पिता से समागम और पाणिग्रहण आदि वर्णित हैं। देवताओं से स्त्रियाँ पुत्र की याचना किया करती थीं। बत्तीस नाट्य-भेदों का उल्लेख है। गणिकाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है—

आसि किर पुव्वं भरहो नाम राया मंडलवती। सो एगाए इत्थीए अणुरत्तो। सामंतेहि य से कण्णाओ पेसियाओ, ताओ समगं पेसियाओ। दिट्ठाओ य पासायगयाए देवीए सह राइणा। पुच्छिओ अणाए राया—कस्स एसो खंधावारो? तेण य से कहियं—कुमारीओ मम सामंतेहिं पेसियाओ। तीए चिंतियं—'अणागयं से करेमि तिगिच्छियं, एत्तियमित्तीसु कयाइ एगा बहुगा वा बल्लभाओ होज्ज त्ति चिंतिऊण भणइ—एयाहिं इहमतिगयाहिं सोयग्गिणा डज्झमाणीं दुक्खं मरिस्सं। राया भणइ—जइ तुज्झ एस निच्छाओ तो न पविसिहंति गिहं। सा भणइ—जइ एतं सच्चयं तो बाहिरोवत्थाणे सेवंतु। तेण 'एवं' ति पडिवण्णं। तो छत्त-चामरधारीहिं सहियाउ सेवंति। कमेण गणाण विदिण्णाओ।—पृ० १०३।

अर्थात् एक बार राजा भरत के सामन्त राजाओं ने अपने स्वामी के लिए बहुत सी कन्याएँ भेजीं। राजा के साथ बैठी हुई सुन्दरियों को देखकर महिषी को बहुत बुरा लगा। उसने राजा से कहा—अब तो मैं शोकाग्नि में जलकर निश्चित मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँगी। महिषी के इस व्यवहार को देख कर भरत ने उन्हें गणों को प्रदान कर दिया, तभी से वे गणिका कही जाने लगीं।

मुख नामक अधिकार का आरम्भ शंब और भानु की ललित क्रीडाओं से हुआ है। भानु के पास शुक था और शंब के पास सारिका। दोनों परस्पर में सुभाषित कहते हैं। शुक ने कहा—

सतेसु जायते सूरो, सहस्सेसु य पंडिओ।
वत्ता सयसहस्सेसु, दाया जायति वा ण वा॥
इंदियाण जए सूरो, धम्मं चरति पंडिओ।
वत्ता सच्चवओ होइ, दाया भूयहिए रओ॥

—पृ० १०५।

सैकड़ों में एकाध शूर होता है, सहस्रों में एकाध पंडित होता है, लाखों में एकाध वक्ता होता है और दाता व्यक्ति क्वचित् ही उत्पन्न होता है।

इन्द्रियों का विजयी शूर कहलाता है, धर्माचरण करने वाला पंडित, सत्यवचन बोलने वाला वक्ता एवं प्राणियों के कल्याण में संलग्न रहने वाला दाता कहा जाता है।

सारिका शंब द्वारा प्रेरित होकर सुभाषित पाठ करती है—

सव्वं गीयं विलवियं, सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥

समस्त सरस गान केवल विलापमात्र है, समस्त नाट्य विडम्बना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, समस्त आभरण भार के अतिरिक्त और कुछ नहीं और समस्त सांसारिक भोग दुःखप्रद होने के सिवाय और कुछ नहीं हैं।

इस प्रकार इस सन्दर्भ में सुभाषितों का समावेश हुआ है।

प्रतिमुख अधिकार में अन्धकवृष्णि का परिचय देते हुए उसके पूर्वभवों का विवेचन किया गया है। अन्धकवृष्णि के पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र का नाम समुद्र विजय और छोटे पुत्र का नाम वासुदेव था। वासुदेव की आत्मकथा का आरम्भ करते हुए बताया गया है कि सत्यभामा के पुत्र सुभान के लिए १०८ कन्याएँ एकत्र की गयीं, किन्तु विवाह रुक्मिणी-पुत्र शाम्ब से कर दिया गया। इस पर प्रद्युम्न ने वसुदेव से कहा 'देखिये! शाम्ब ने अन्तःपुर में बैठे-बैठे १०८ वधुएँ प्राप्त लीं, जब कि आप सौ वर्षों तक भ्रमण कर सौ मणियों को प्राप्त कर सके। इसके उत्तर में वसुदेव ने कहा—शाम्ब तो कुएँ का मेढक है, जो सरलता से प्राप्त भोग से सन्तुष्ट हो गया। मैंने तो पर्यटन करते हुए अनेक सुख और दुःखों का अनुभव किया है। मैं मानता हूँ कि दूसरे किसी दूसरे पुरुष के साथ में इस तरह का उतार-चढ़ाव नहीं आया होगा। पर्यटन से नाना प्रकार के अनुभवों का भण्डार संचितहोता है तथा ज्ञान वृद्धि होती है।

"अज्जय ! तुब्भेहिं वाससयं परिभमंतेहिं अम्हं अज्जियाओ लद्धाओ, पस्सह संबस्स परिभोगे, सुभाणस्स पिंडियाओ कण्णओ ताओ संबस्स उवट्ठियाओ। वसुदेवेण भणिओ पज्जुण्णो—संबो कूवदद्दुरो इव सुहागयभोगसंतुट्ठोः 'मया पुण परिब्भमंतेण जाणि सुहाणि दुक्खाणि ण अणुभूयाणि ताणि अण्णेण पुरिसेण दुक्करं होज्ज त्ति चिंतेमि ।—पृ० ११०

इसके अनन्तर वसुदेव ने अपना परिभ्रमण वृत्तान्त कहना आरम्भ किया। वसुदेव का रूप-सौन्दर्य अप्रतिम था, अतः उनके नगर में परिभ्रमण करने से नाना प्रकार के अनर्थ हो जाते थे। फलतः राजा ने उनके नगर परिभ्रमण पर रोक लगा दी थी। अतएव वसुदेव गुप्तरूप से घर से निकल कर देश-विदेश में भ्रमण करने लगे। इन्होंने सौ वर्षों तक भ्रमण किया और सौ विवाह किये।

शरीर-अध्ययन अधिकार में २९ लम्भक हैं। सामा-विजया नामक प्रथम लम्भक में समुद्रविजय आदि नौ वसुदेवों के पूर्वभावों का वर्णन है। यहाँ आस्था बुद्धि उत्पन्न करने के लिए सुमित्रा की कथा आयी है। सामली लंभक में सामली का परिचय दिया गया है। गन्धर्वदत्ता लंभक में विष्णुकुमार का चरित, विष्णुगीतिका की उत्पत्ति, चारुदत्त की आत्मकथा, गन्धर्वदत्त का परिचय एवं अमितगति विद्याधर का परिचय दिया गया है।

वाणिज्य-व्यापार के लिए व्यापारी वर्ग चीनस्थान, सुवर्णभूमि, कमलपुर, यवनद्वीप, सिंहल, वर्बर, सौराष्ट्र एवं उम्बरावती के तट पर जाया-आया करता था। पिप्पलाद को अथर्ववेद का प्रणेता कहा गया है। वाराणसी में सुलसा नाम की एक परिव्राजिका रहती थी। त्रिदण्डी याज्ञवल्क्य से वाद-विवाद में पराजित होकर उसकी सेवा-शुश्रुषा करने लगी। इन दोनों से पिप्पलाद का जन्म हुआ। पिप्पलाद को उसके माता-पिता ने बचपन में ही छोड़ दिया था, जिससे रुष्ट होकर उसने मातृमेध और पितृमेध जैसे यज्ञों का प्रतिपादन करने वाला अथर्ववेद रचा।

ऋषभ तीर्थंकर का चरित नीलजलसा लंभक में वर्णित है। ऋषभदेव ने प्रजा को भोजन बनाने, प्रकाश करने और अग्नि जलाने आदि का उपदेश दिया था। इस लंभक में कौवे और गीदड़ की मनोरञ्जक पशु-कथाएँ भी दी गयी हैं।

सोमसिरि-लंभ में ऋषभ-निर्वाण, भरत-बाहुबली के युद्ध, नारद-पर्वत-वसु-संवाद, माहण-उत्पत्ति प्रभृति वर्णित है। इस लंभ की कथाएँ पौराणिक हैं। सातवें लंभक के पश्चात् प्रथम खण्ड का द्वितीय अंश आरम्भ होता है। इसमें पौराणिक चरित निबद्ध है। रामचरित भी इसमें वर्णित है। सीता के सम्बन्ध में बताया गया है कि यह मन्दोदरी की पुत्री थी। उसे एक सन्दूक में रखकर राजा जनक की उद्यान-भूमि में गड़वा दिया था; अतएव हल चलाते समय उसकी प्राप्ति हुई। प्रियंगुसुन्दरी लंभ में विमलाभा और सुप्रभा की आत्मकथा वर्णित है।

धर्मसाधन करने के लिए किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं बताया गया है। कामपताका नामक वेश्या श्राविका के व्रत ग्रहण कर आत्मसाधना करती है। केतुमती लंभक में शान्ति जिन का चरित वर्णित है। त्रिविष्टु और वासुदेव का सम्बन्ध अमिततेज श्रीविजय, अशनिघोष और सतार के पूर्वभवों के साथ है। इन पूर्वभवों की सरस कथाएँ वर्णित हैं। कुन्थु और अरहनाथ के चरित भी वर्णित हैं। देवकी लंभक में कंस के पूर्वभव का वर्णन है। पूर्वभव में कंस ने तपस्या की थी। इसने मासोपवास का नियम ग्रहण किया और यह भ्रमण करता हुआ मथुरापुरी में आया। महाराज उग्रसेन ने उसे पारणा का निमन्त्रण दिया। पारणा के दिन चित्त विक्षिप्त रहने के कारण उग्रसेन को पारणा कराने की स्मृति ही नहीं रही और वह तपस्वी राजप्रासाद से यों ही बिना भोजन किये लौट गया। उग्रसेन ने स्मृति आने पर पुनः उस तापसी को पारणा के लिए आमन्त्रण दिया; किन्तु दूसरी ओर तीसरी बार भी उसे वे पारणा कराना भूल गये। संयोगवश समस्त राजपरिवार भी ऐसे कार्यों में व्यस्त रहता था, जिससे पारणा कराना संभव नहीं हुआ। उस तापसी ने उसे उग्रसेन का कोई षड्यन्त्र समझा और उसने निदान बाँधा कि अगले भव में इसका बध करूँगा। निदान के कारण उग्र तापसी उग्रसेन के यहाँ कंस के रूप में जन्मा।

इस प्रकार इस कथा ग्रन्थ में अनेक आख्यानों, कथानकों, चरितों एवं अर्धऐतिहासिक वृत्तों का संकलन है।

समीक्षा—वसुदेवहिंडी में चरित, कथा और पुराण इन तीनों के तत्त्व मिश्रित हैं। यही कारण है कि इसमें संस्कृति, सभ्यता और अध्यात्म सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण बातें समाविष्ट हैं। इस ग्रन्थ में छोटी-बड़ी अनेक कथाएँ आयी हैं। भार्याशीलपरीक्षा-कथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इसमें नारी-चरित्र के दो पहलू चित्रित हैं। प्रथम पीठिका में शील की अवहेलना करनेवाली नारी का चरित दृष्टिगत होता है, तो द्वितीय में शील-रक्षा के लिए वीरता का परिचय देनेवाली नारी की वीरता प्रस्तुत होती है। नारी की वीरता इस कथा में बड़े ही सुन्दर रूप में चित्रित की गयी है। समुद्रदत्त अपनी पत्नी की परीक्षा वेष बदल कर लेता है, पर इस परीक्षा में उसे वह पूर्णतया उत्तीर्ण पाता है। धनश्री अपनी चतुराई एवं वीरता से शील की रक्षा तो करती ही है, साथ ही नारी-समाज के लिए एक नया आदर्श भी स्थापित कर देती है। धनश्री का आदर्श-मार्ग आज भी नारी के लिए अनुपम वस्तु है।

वसुदेवहिण्डी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह कथा ग्रन्थ अनेक प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के काव्यों का उपजीव्य है। इसके छोटे-छोटे आख्यानों को सूत्र मानकर उत्तर काल में अनेक काव्य-ग्रन्थ लिखे गये हैं। अगडदत्त के चरित का विकास इसी कथा ग्रन्थ से आरम्भ होता है। जम्बू-चरितों का मूलस्रोत भी यही है। हरिभद्र

के समराइच्चकहा का स्रोत भी यही ग्रन्थ है। कंस के पूर्व जन्म का आख्यान ही समराइच्चकहा का प्रथम भव है, इसी से समग्र ग्रन्थ का निर्माण हुआ है।

तीर्थंकरों के कई चरित इसमें निबद्ध हैं। यद्यपि इन चरितों का विकास स्वतन्त्र रूप में भी हुआ है। इसमें एक ओर सदाचारी, श्रमण, सार्थवाह व्यवहार पटु व्यक्तियों के चरित अंकित हैं, तो दूसरी ओर तपस्वी कपटी ब्राह्मण, कुट्टिनी, व्यभिचारिणी स्त्रियों एवं हृदयहीन वेश्याओं का चरित्र भी अंकित है। प्रत्येक कथानक सरस और सरल शैली में लिखा गया है। कहीं विलास का विकास हृदय को उन्मत्त कर रहा है, कहीं सौन्दर्य का सौरभ अन्तरात्मा को बेसुध बना रहा है एवं कहीं हास की कोमल लहरी मानस तल को अनूठे ढंग से तरंगित कर रही हैं। इस कथा के सभी पात्र सजीव और वास्तविक प्रतीत होते हैं। तत्कालीन सामाजिक प्रथाओं का विश्लेषण भी वर्तमान है।

प्रमुख विशेषताएँ निम्न लिखित हैं—

१. लोककथा के समान तत्त्वों का समावेश।

२. अद्भुत कन्याओं और उनके साहसी प्रेमियों, राजाओं, सार्थवाहों के षड्यन्त्र, राजतन्त्र, छल-कपट हास्य क्षौर युद्धों, पिशाचों पशु-पक्षियों की गढ़ी हुई कथाओं का सुन्दर जाल।

३. मनोरंजन, कूतूहल और ज्ञानवर्द्धन के साधनों का समवाय।

४. प्रेम के स्वच्छ और सबल चित्र।

५. कथा में रस बनाये रखने के लिए चोर, विट्, वेश्या, धूर्त, ठग, लुच्चे और बदमाशों के चरितों का अजायबघर।

६. तरंगित शैली में लघु और वृहद् कथाओं में वर्णन-प्रवाह की तीव्र धारा।

७. विशद चरित्र-चित्रण, नैसर्गिक शैली, बुद्धि-विलास, शिष्ट परिहास और विषयान्तरों का समाहार।

८. कथानक-रूढ़ियों का समुचित प्रयोग।

९. भोजन में नमक की चुटकी के समान कथाओं के मध्य में धर्म-तत्त्वों का समावेश।

१०. चूर्णि ग्रन्थों की प्राकृत भाषा के समान महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग, जिसमें संस्कृत के पदों का अविकृत रूप में अस्तित्व।

११. सुभग एवं मनोरम वैदर्भी गद्य-शैली का प्रयोग रोचकता की वृद्धि के लिए मध्य में यत्र-तत्र पद्यों का भी समावेश।

१२. वाक्य-विन्यास सहज और स्वाभाविक अभिव्यंजना-युक्त।

भाषा और शैली का स्वरूप अवगत करने के लिये निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

विदितं च एयं कारणं कयं पण्णत्तीए पज्जुण्णस्स पारियतवो य कण्हो वास-घरमुवगतो। पज्जुण्णस्स चिंता जाया—सच्चभामा अम्मयाए सह समच्छरा, जइ तीसे मम सरिसो पुत्तो होइ ततो तेण सह मम पीई न होज्ज, किह कायव्वं ?। चिंतियं चाणेण—जंबवतीदेवी अम्माय माउसंबंधेण भगिणी, तं वच्चामि तीसे समीवे। गंतुं जंबवइभवणं पणओ, दत्तासणो भणति—अम्मो ! तुब्भं मम सरिसो पुत्तो रोयइ ? त्ति। तीए भणियं—किं तुमं मम पुत्तो न होसि ? सच्चभामानिमित्ते देवो नियमेण ट्ठितो, किह मम तव सरिसो पुत्तो होइहि ? त्ति। सो णं विण्णवेइ—तुज्झं अहं ताव पुत्तो, बितिओ जइ होइ णणु सोहणयरं। सा भणइ—केण उवाएण ? पज्जुण्णेण भणिया—'तुब्भं सच्चभामा-सरिसं रूवं होहित्ति संझाविरामसमए, जाव पसाहणा—देवयच्चणविक्खित्ता ताव अविलंबियं देवसमीवं वच्चेज्जाहि' त्ति वोत्तूण गतो नियगभवणं पज्जुण्णो। पण्णत्तीए य जंबवती सच्चभामासरिसी कया। चेडीए भणिया—देवि ! तुब्भे सच्चभामासरिसी संवुत्ता। ततो तुट्ठा छत्त-चामर-भिंगारधरीहिं चेडीहिं सह गया पतिसमीवं, पवियारसुहमणुभविऊण य हारसोहिया दुतमवक्कंता।—पृ० ९७

समराइच्चकहा[1]

इस कथा कृति का प्राकृत में वही महत्त्व है, जो संस्कृत में बाण की कादम्बरी की। अन्तर इतना ही है कि कादम्बरी प्रेम-कथा है और यह धर्म-कथा। विलास, वैभव, प्रकृति एवं वस्तुओं के भव्य चित्रण दोनों ग्रन्थों में प्रायः समान है।

रचयिता—इस कृति के रचयिता हरिभद्र श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्याधर गच्छ के शिष्य थे। गच्छपति आचार्य का नाम जिनजट्ट, दीक्षागुरु का नाम जिनदत्त एवं धर्म माता साध्वी (जो कि इनके धर्म परिवर्तन में मूल निमित्त हुई) का नाम याकिनी महत्तरा था। इनका जन्म राजस्थान के चित्रकूट-चित्तौड़ नगर से हुआ था। ये जन्म के ब्राह्मण थे और अपने अद्वितीय पाण्डित्य के कारण वहाँ के राजा जितारि के राज-पुरोहित थे। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जैन साधु के रूप में इनका जीवन राजपूताना और गुजरात में विशेषरूप से व्यतीत हुआ। प्रभावक चरित से अवगत होता है कि इन्होंने पोरवालवंश को सुव्यवस्थित किया था।

आचार्य हरिभद्र के जीवन-प्रवाह को बदलनेवाली घटना उनके धर्म-परिवर्तन की है। इनकी यह प्रतिज्ञा थी कि जिसका वचन न समझूँगा, उसका शिष्य हो जाऊँगा। एक दिन राजा का मदोन्मत्त हाथी आलानस्तम्भ को लेकर नगर में दौड़ने लगा। हाथी ने अनेक लोगों को कुचल दिया। हरिभद्र हाथी से बचने के लिए एक जैन उपाश्रय में

---

१. १९२३ में कलकत्ता से प्रकाशित और १९३८-४२ में अहमदाबाद से प्रकाशित।

प्रविष्ट हुए। वहाँ याकिनी महत्तरा नाम की साध्वी को निम्न गाथा का पाठ करते हुए सुना—

चक्कीदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की[1]।
केसव चक्की केसव दु चक्की केसव चक्की य ॥

इस गाथा अर्थ उनकी समझ में नहीं आया और उन्होंने साध्वी से उसका अर्थ पूछा। साध्वी ने उन्हें गच्छपति आचार्य जिनदत्त के पास भेज दिया। आचार्य से अर्थ सुनकर वे वहीं दीक्षित हो गये और बाद में अपनी विद्वत्ता तथा श्रेष्ठ आचार के कारण आचार्य ने इनको ही अपना पट्टधर आचार्य बना दिया। जिस याकिनी महत्तरा के निमित्त से हरिभद्र ने धर्म परिवर्तन किया था, उसको इन्होंने अपनी धर्ममाता के रूप में पूज्य माना है और अपने को याकिनीसूनु कहा है।

समय-निर्णय—आचार्य हरिभद्र का समय अनेक प्रमाणों के आधार पर वि० सं० ८८४ माना गया है।[2] यतः हरिभद्र सूरि वि० सं० ८८४ (ई० ८२७) के आस-पास में हुए मल्लवादी के समसामयिक विद्वान् थे कुवलयमाला के रचयिता उद्योतन सूरि ने हरिभद्र को अपना गुरु बताया है और कुवलयमाला की रचना ई० सन् ७७८ में हुई है। मुनि जिनविजय जी ने हरिभद्र का समय ई० सन् ७००–७७० माना है; पर हमारा विचार है कि हरिभद्र का समय ई० सन् ८००–८१० के मध्य होना चाहिये। इस समय सीमा को मान लेने पर भी उद्योतन सूरि के साथ गुरु-शिष्य का सम्बन्ध जुट सकता है।

रचनाएँ—आचार्य हरिभद्र सूरि जैन साहित्य के बहुत ही मेधावी और विचारशील लेखक हैं। इनके धर्म, दर्शन, न्याय, कथासाहित्य एवं योगसाधनादि सम्बन्धी विभिन्न विषयों पर गम्भीर और पाण्डित्यपूर्ण रचनाएँ उपलब्ध हैं। यह आश्चर्य की बात है कि समराइच्चकहा और धूर्त्ताख्यान जैसे सरस मनोरंजक आख्यान प्रधान ग्रन्थों का रचयिता अनेकान्तजयपताका जैसे क्लिष्ट न्यायग्रन्थ का रचयिता हो सकता है। एक ओर हृदय की सरसता टपकती है तो दूसरी ओर मस्तिष्क की प्रौढ़ता। हरिभद्र की साहित्य प्रतिभा को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—(१) भाष्य, चूर्णि और टीका के रूप में तथा (२) मौलिक ग्रन्थ रचना के रूप में।

आचार्य हरिभद्र को १४४४ प्रकरणों का रचयिता माना गया है। राजशेखर सूरि में अपने प्रबन्धकोश में इनको १४४० प्रकरणों का रचयिता लिखा है। इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

---

१. याकोबी द्वारा लिखित समराइच्चकहा की प्रस्तावना, पृ० ८।

२. देखें—हरिभद्र के प्राकृत कथासाहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन–'समय निर्णय'

(१) अनुपयोगद्वारविवृत्ति ।
(२) आवश्यकसूत्रविवृत्ति ।
(३) ललितविस्तार ।
(४) जीवाजीवाभिगमसूत्रलघुवृत्ति ।
(५) दशवैकालिकवृहद्वृत्ति ।
(६) श्रावकप्रज्ञप्तिटीका ।
(७) न्यायप्रवेश टीका ।
(८) अनेकान्तजयपताका ।
(९) योगदृष्टिसमुच्चय ।
(१०) शास्त्रवार्तासमुच्चय ।
(११) सर्वज्ञसिद्धि ।
(१२) अनेकान्तवादप्रवेश ।
(१३) उपदेशपद ।
(१४) धम्मसंगहणी ।
(१५) योगबिन्दु ।
(१६) षड्दर्शनसमुच्चय ।
(१७) योगशतक ।
(१८) समराइच्चकहा ।
(१९) धूर्ताख्यान ।
(२०) संवाहपगरण ।

कथावस्तु—समराइच्चकहा की प्रवृत्ति प्रतिशोध की भावना है। समरादित्य उज्जैन का राजकुमार है। इसमें उक्त राजकुमार के नौ भवों की कथा वर्णित है। समरादित्य का नाम पूर्वजन्म में गुणसेन था और उनके प्रतिद्वन्द्वी—प्रतिनायक का अग्निशर्मा। बताया गया है कि जम्बूद्वीप के ऊपर विदेह में क्षिति प्रतिष्ठित नाम के नगर में पूर्णचन्द्र राजा राज्य करता था; इसकी पटरानी का नाम कुमुदिनी देवी था। इस दम्पति को गुणसेन नाम का पुत्र हुआ। इस राजा का यज्ञदत्त नाम का पुरोहित था, जिसके अग्निशर्मा नामक एक कुरूप पुत्र उत्पन्न हुआ। कौतूहलपूर्वक कुमार गुणसेन बच्चों की टोली के साथ अग्निशर्मा को गधे पर सवार कराकर और उसके सिर पर टूटे पुराने सूप का छत्र लगाकर ढोल, मृदंग, बाँसुरी, कांस्य आदि बाजे बजाते हुए नगर की सड़कों पर घुमाया करता था। राजकुमार गुणसेन के इस व्यवहार से अग्निशर्मा बहुत दुःखी था, उसे प्रतिदिन अत्यन्त अपमान का अनुभव होता था। अतएव अपने इस जीवन से ऊबकर वह कौडिन्य नामक के तापस कुलपति के यहाँ गया और वहाँ तापस दीक्षा ग्रहण कर ली।

पूर्णचन्द्र राजा कुमार गुणसेन को राज्याभिषिक्त कर कुमुदिनी देवी के साथ तपोवन में निवास करने लगा। गुणसेन के चरणों में अनेक राजा, सामन्त और शूरवीर नतमस्तक होते थे। उसने बड़ी चतुराई और योग्यता से अपना शासन आरम्भ किया।

एक दिन गुणसेन वनभ्रमण के लिए गया और वहाँ सहस्राम्र नामक उद्यान में विश्राम करने लगा। इसी बीच नारंगियों की टोकरी लिये हुए दो तापस कुमार आये। उन्होंने राजा का अभिनन्दन किया तथा उसे आशीर्वाद दिया। तापसियों ने कहा—"महाराज! हमें कुलपति ने आपका कुशल-समाचार अवगत कराने के लिये भेजा है।"

राजा गुणसेन—"यह भगवान् कुलपति कहाँ रहते हैं?

तापसी—"बहुत नहीं, यहीं पास में सुपरितोष नामक तपोवन में निवास करते हैं।"

तापसियों की उक्त बातों को सुनकर राजा कुलपति के दर्शनार्थ आश्रय में गया और उन्हें सपरिवार अपने घर भोजन का निमन्त्रण दिया। कुलपति ने निमन्त्रण स्वीकार कर कहा है कि हमारे यहाँ अग्निशर्मा नाम का एक मासोपवासी महातपस्वी है, वह प्रतिदान आहार ग्रहण नहीं करता। मासान्त में एक बार भोजन के लिए जाता है और प्रथम गृह में भिक्षार्थ प्रवेश करता है, वहाँ भिक्षा मिले या न मिले, वह लौट आता है और पूर्ववत् साधना में संलग्न हो जाता है। अतः अग्निशर्मा तपस्वी को छोड़, शेष सभी तपस्वी तुम्हारे यहाँ भोजन ग्रहण करने के लिये जायँगे।

राजा ने कहा—भगवन्! मैं कृतार्थ हो गया, वह महातपस्वी कहाँ है? मैं उस महातपस्वी के दर्शन करना चाहता हूँ।

कुलपति—वत्स! वे उग्रतपस्वी उस आम्रवीथिका में ध्यान कर रहे हैं। राजा शीघ्रतापूर्वक आम्रवीथिका में पहुँचा और हर्षवश रोमाञ्चित हो, उन्हें प्रणाम किया। तपस्वी ने राजा को आशीर्वाद दिया। राजा सुखासन पर बैठकर पूछने लगा—"भगवन्! आपके इस महादुष्कर तपश्चरण का क्या कारण है?"

अग्निशर्मा—"राजन्! दरिद्रता का दुःख, दूसरों के द्वारा किया गया अपमान, कुरूपता एवं कल्याणमित्र कुमार गुणसेन ही मेरी विरक्ति के कारण हैं।"

अपना नाम सुनकर सशंकित हो राजा ने कहा—"भगवन्! दारिद्रच आदि दुःख आपकी इस तपस्या के कारण हो सकते हैं, पर राजकुमार गुणसेन किस प्रकार आपका कल्याणमित्र है।"

अग्निशर्मा—"राजन्! उत्तम पुरुष स्वयं धर्मधारण करते हैं, मध्यम प्रकृतिवाले व्यक्ति दूसरों को प्रेरित करते हैं। मुझे कुमार गुणसेन से तप ग्रहण करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। यदि वे मेरा अपमान नहीं करते, तो मैं सम्भवतः इस मार्ग की ओर प्रवृत्त

नहीं होता। अतएव अच्छे कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देने के कारण कुमार गुणसेन मेरे कल्याण मित्र हैं।"

तपस्वी के उक्त विचारों को सुनकर राजा गुणसेन ने निवेदन किया—"भगवन्! मुझे अत्यन्त पश्चात्ताप है। आपको तंग करनेवाला मैं ही अगुणसेन हूँ। अतएव आप मुझे क्षमा कीजिये।"

अग्निशर्मा—"महाराज! आपका स्वागत है। मैं वस्तुतः आपका ऋणी हूँ। यह आपकी महत्ता है, जो आप अपने को धिक्कार रहे हैं। आप मेरे भारी उपकारी हैं।"

राजा—"धन्य महाराज! सत्य है, तपस्वीजन प्रिय बात को छोड़ अन्य कुछ कहना ही नहीं जानते। यतः चन्द्रबिम्ब से अमृत की ही वर्षा होती है, अङ्गारों की नहीं।"

"भगवन्! आपकी पारणा का दिन कब आता है? यदि आपको कोई आपत्ति न हो तो आप मेरे घर ही पारणा ग्रहण करने की कृपा करें। मैं अपना सौभाग्य समझूंगा कि आप जैसे तपस्वी की चरणरज मेरे घर पड़े।"

अग्निशर्मा—"राजन्! पहले से क्या कार्यक्रम बनाना है। समय आने पर जैसा उचित होगा, किया जायगा। हाँ, मैं आपके आग्रह के कारण आपके यहाँ पधारूँगा।"

राजा गुणसेन महलों में चला गया और अगले दिन उसने समस्त तपस्वियों को सुस्वादु भोजन कराया। पाँच दिन बीत जाने पर जब पारणा का समय आया तो तपस्वी अग्निशर्मा पारणा के हेतु राजा गुणसेन के भवन में प्रविष्ट हुआ। इस दिन किसी तरह गुणसेन राजा को अपूर्व शिरोव्यथा उत्पन्न हुई जिससे सभी पुरजन-परिजन राजा के उपचार में लग गये। अग्निशर्मा वहाँ पहुँचा और किसी के द्वारा कुछ भी न पूछे जाने पर निकल आया और पुनः मासोपवास ग्रहण कर तपस्या में संलग्न हो गया। जब राजा की शिरोव्यथा कम हुई तो उसे अग्निशर्मा की पारणा करने की बात याद आयी और वह वन की ओर दौड़ा तथा आश्रम के निकट अग्निशर्मा को प्राप्त कर विनीतभाव से निवेदन किया, प्रभो! मेरी अस्वस्थता के कारण ही परिजन अपने कार्य में शिथिल हो गये, अतः आपकी पारणा न हो सकी। कृपया लौट चलिये और पारणा कर वापस आइये।

अग्निशर्मा—"राजन्! मैं अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ नहीं सकता हूँ। मैं मासोपवास के अनन्तर एक ही घर में एक बार पारणा के लिए जाता हूँ। पारणा न होने पर पुनः ध्यान में लीन हो जाता हूँ।"

कुलपति के द्वारा समझाये जाने पर अगली पारणा का निमन्त्रण अग्निशर्मा ने स्वीकार किया। राजा अपने भवन में लौट आया।

समय आते देरी नहीं लगती। अग्निशर्मा तपस्वी को तपश्चरण करते हुए एक मास समाप्त हो गया। पारणा के दिन सेना के स्कन्धावार से आये हुए राजा के व्यक्तियों ने निवेदन किया—"अत्यन्त विषम पराक्रम से गर्वित मानभङ्ग नृपति ने आपकी सेना के ऊपर आक्रमण कर दिया है। सेना इधर-उधर छिन्न-भिन्न हो गयी है।"

स्कन्धावार से आये हुए व्यक्ति के इन वचनों को सुनकर राजा का कोपानल प्रज्वलित हो गया। उसने प्रयाण भेरी बजाने का आदेश दे दिया। प्रयाण भेरी के सुनते ही मेघ-घटाओं के समान हाथी, बलाका पंक्तियों के समान उन्नत ध्वजाएँ, विद्युत के समान तीक्ष्ण तलवार, भाले एवं गर्जते हुए बादल के समान दसों दिशाओं को शंख, काहल, तुरही के शब्दों को आपूरित करते हुए अकाल दुर्दिन की तरह राजा की सेना सन्नद्ध होने लगी। राजा गुणसेन रथ पर आरूढ़ हुआ, उसके सम्मुख जल से पूर्ण स्वर्ण कलश स्थापित किया गया। मङ्गलवाद्य बजने लगे और बन्दीजन विविध प्रकार के मङ्गलगान गाने लगे। इसी समय अग्निशर्मा तपस्वी पारणा के लिए राजा के घर में प्रविष्ट हुआ। इस समय राजा के प्रयाण की हड़बड़ी के कारण किसी ने भी उस पर ध्यान नहीं दिया। कुछ काल तक वह इधर-उधर टहलता रहा, पर मदोन्मत्त हाथी और घोड़ों से कुचल जाने के भय से राज-भवन से निकल गया। इधर ज्योतिषियों ने प्रयाण करने का शुभ मुहूर्त्त बतलाया।

राजा गुणसेन ने कहा—आज अग्निशर्मा तपस्वी का पारणा का दिन है। उन्होंने कुलपति के आग्रह से मेरे घर में आहार ग्रहण करना स्वीकार कर लिया है। अतः उस महात्मा के आ जाने पर और उन्हें भोजन करा के तभी मैं प्रस्थान करूँगा। राजा के इस कथन को सुनकर किसी कुलपुत्र ने कहा—"देव! उन महानुभाव ने घर में प्रवेश किया था, पर मदोन्मत्त हाथी और घोड़ों के भय से वे लौट गये। इस बात को सुनते ही राजा घबड़ाकर तपस्वी के रास्ते में चल पड़ा। नगर के बाहर अभी थोड़ी ही दूर वह गया था। अतः राजा की उससे मार्ग में ही मुलाकात हो गयी। राजा गुणसेन रथ से उत्तर कर अग्निशर्मा के पैरों में गिर गया और बोला—'प्रभो! आप भवन के भीतर भी नहीं गये हैं, अतः लौट चलिये। प्रस्थान करना अभीष्ट होने पर भी आपके आने की प्रतीक्षा करता हुआ रुका हूँ। कृपया आहार ग्रहण करने के पश्चात् जाइये।'

अग्निशर्मा—"महाराज! आप मेरी प्रतिज्ञा-विशेष के सम्बन्ध में जानते ही हैं, अतः इस प्रकार का आग्रह करना व्यर्थ है। तपस्वी व्यक्ति प्राण जाने तक अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हैं।"

राजा—"भगवन्, मैं इस प्रमादपूर्ण आचरण के कारण लज्जित हूँ। तीव्र तप जन्य क्षुधा के कारण उत्पन्न हुई शरीर-पीड़ा से भी मुझे अधिक पीड़ा है। मेरे मन और आत्मा सन्ताप के कारण जल रहे हैं। मैं अपनी आत्मा को पाप-कर्म करनेवाला मानता हूँ।"

अग्निशर्मा ने अपने मन में विचार किया—अरे! इन महाराज की यह बड़ी उदारता है। मेरे पारणा न करने से यह इतने दुःखी हो रहे हैं। इन्हें मुझे पारणा कराये बिना शान्ति लाभ नहीं हो सकता है। अतः कहने लगा—

"निर्विघ्न रूप से पारणा दिवस के आने पर मैं पुनः आपके ही भवन में आहार ग्रहण करूँगा; अतः आप सन्ताप न करें।"

पृथ्वी पर दोनों घुटनों को टेक कर और हाथ जोड़कर राजा ने कहा—'भगवन्! आपकी इस कृपा के लिए मैं आभारी रहूँगा।'

राजा के अनेक मनोरथों के साथ पारणा दिवस आया। पारणा के दिन संयोग से राजा गुणसेन की रानी वसन्तसेना को पुत्रलाभ हुआ। अतः राजभवन में पुत्र-जन्मोत्सव मनाया जाने लगा। सभी परिजन एवं नारिक वार्द्धापनोत्सव सम्पन्न करने में संलग्न हो गये। इधर अग्निशर्मा तपस्वी पारणा के हेतु राजभवन में प्रविष्ट हुआ, पर वहाँ पारणा की तो बात ही क्या, वचनमात्र से भी किसी ने सत्कार नहीं किया। अतः वह आर्तध्यान से दूषित मन हो शीघ्र ही राजभवन से बाहर निकल गया। वह सोचने लगा-यह राजा बचपन से ही मुझसे द्वेष करता आ रहा है। यह अकारण मुझे तंग कर रहा है। मेरे समक्ष तो मनोनुकूल मधुर-मधुर वचन बोलता है, पर आचरण इसके विपरीत करता है।

क्षुधा की पीड़ा के कारण अज्ञान तथा क्रोध के अधीन हो उस मूढ़-हृदय ने निदान किया कि यदि मेरे इस धर्माचरण का कोई फल हो तो इस गुणसेन को मारने के लिए मेरा जन्म हो। मैं इससे अपनी शत्रुता का बदला चुकाऊँ। जो व्यक्ति अपने प्रियजनों का प्रिय तथा शत्रुओं का अप्रिय नहीं करता है, उसके जन्म लेने से क्या? वह तो जन्म लेकर केवल अपनी माता के यौवन का ही नाश करता है।

अनिशर्मा क्रोधाधिक्य के कारण कुलपति से बिना मिले ही आम्रमण्डप में चला गया और वहाँ निर्मल शिला के बने आसन पर बैठकर राजा गुणसेन के विरोध में सोचता रहा। उसने जीवन पर्यन्त के लिए आहार का त्याग कर दिया। अन्य तपस्वियों ने उसे बहुत समझाया, पर उसने किसी की बात न सुनी। राजा गुणसेन के प्रति उसके मन में नाना प्रकार के मिथ्या संकल्प-विकल्प उत्पन्न होने लगे।

कुलपति ने भी उसे समझाया और राजा के ऊपर क्रोध न करने की सलाह दी।

इधर राजा गुणसेन और उसके परिजन असमय में सम्पादित महोत्सव का आनन्द लेने लगे, जिससे पारणा का समय बीत जाने पर राजा को स्मरण आया। वह अपने को धिक्कारने लगा कि मेरी असावधानी के कारण उग्र महातपस्वी को महान् कष्ट हुआ है। मैंने बहुत बड़ा अपराध किया है। अब मैं उस महातपस्वी से मिलने में भी असमर्थ हूँ। इस प्रकार सोच-विचार कर राजा ने अपने पुरोहित सोमदेव को उस तपस्वी का समाचार लाने के लिए भेजा। सोमदेव ने तपोवन में जाकर समस्त बातों का पता लगाया और राजा से निवेदन किया कि राजन्! वह बहुत क्रुद्ध है। अतः उनके आश्रम में अब आपका जाना उचित नहीं। राजा गुणसेन पुरोहित द्वारा निषेध किये जाने पर भी कुलपति के आश्रम में गया और उसने कुलपति के निवेदन किया—'प्रभो, मैं अत्यन्त पापी हूँ। मैं उन महातपस्वी अग्निशर्मा के दर्शन करना चाहता हूँ। कृपया आप मुझे अनुमति दीजिये।'

कुलपति ने उत्तर दिया—'महाराज इतना सन्ताप मत कीजिये। अब अन्न-पानी का त्याग कर उन्होंने समाधि ग्रहण कर ली है, अतः आपका उनसे मिलना उचित नहीं है। आप मन में दुःखी न हों, तपस्वी अन्तिम समय में उपवास द्वारा ही शरीर त्याग करते हैं।

राजा गुणसेन बहुत दुःखी हुआ और वह वसन्तपुर को छोड़कर क्षितिप्रतिष्ठित नगरी में चला आया।

एक दिन उसने विजयसेनाचार्य का दर्शन किया। उनसे विरक्ति का कारण पूछा। उन्होंने अपनी विरक्ति की कथा आद्योपान्त कह सुनायी। गुणसेन को विरक्ति हो गयी और वह अपने पुत्र को राज्य देकर दीक्षित हो गया। एक दिन यह प्रतिमायोग धारण किये था कि अग्निशर्मा के जीव विद्युत्कुमार ने देखा और पूर्वजन्म का वैर स्मृत हो आया। अतएव क्रोधाभिभूत हो उसने तप्त धूलि की वर्षा की। गुणसेन तपश्चरण में संलग्न रहा। फलतः शान्तिपूर्वक प्राणों का त्याग कर चन्द्रानन विमान में वह देव हुआ।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में उन दोनों के नौ भवों की कथा वर्णित है। दूसरे भव में अग्निशर्मा राजा सिंहकुमार का पुत्र बनकर बदला चुकाता है। इस द्वितीय भव में वे पिता और पुत्र के रूप में सिंह, आनन्द, तृतीय भव में पुत्र और माता के रूप में शिखि और जालिनी; चतुर्थ भव में पति-पत्नी के रूप में धन और धनश्री, पंचम भव में सहोदर के रूप में जय और विजय; षष्ठ भव में पति और भार्या के रूप में धरण और लक्ष्मी; सप्तम भव में चचेरे भाई के रूप में सेन और विसेन; अष्टम भव में गुण और वानव्यन्तर एवं नवम भव में समरादित्य और गिरिसेन के रूप में जन्म-ग्रहण करते हैं। अग्निशर्मा गुणसेन को निरन्तर कष्ट देता है। अन्त में समरादित्य के भव में गुणसेन मुक्ति-लाभ करता है और अग्निशर्मा गिरिसेन के रूप में नरक जाता है।

आलोचना—समराइच्चकहा में नौ भव या परिच्छेद हैं। प्रत्येक भव की कथा किसी विशेष स्थान, काल और क्रिया की भूमिका में अपना पट परिवर्तन करती है। जिस प्रकार नाटक में पर्दा गिरकर या उठकर सम्पूर्ण वातावरण को बदल देता है, उसी प्रकार इस कथाकृति में एक जन्म की कथा अगले भव की कथा के आने पर अपना वातावरण काल और स्थान को परिवर्तित कर देती है। यों तो प्रत्येक भव की कथा स्वतन्त्र है, अपने में उसकी प्रभावान्विति नुकीली है, पर है नौ भवों की कथा एक ही। तथ्य यह है कि कथा की प्रकाशमान चिनगारियाँ अपने भव में ज्वलन कार्य करती हुई, अगले भव को केवल आलोकित करती है। प्रत्येक भव की कथा में स्वतन्त्र रूप से एक प्रकार की नवीनता और स्फूर्ति का अनुभव होता है। कथा की आद्यन्त गतिशील स्निग्धता और उत्कर्ष अपने में स्वतन्त्र है।

समराइच्चकहा में प्रतिशोध की भावना विभिन्न रूपों में व्यक्त हुई हैं। अग्निशर्मा ने निदान बाँधा था कि गुणसेन से अगले भव में बदला चुकाऊँगा। दर्शन की भाषा में इस प्रकार की प्रवृत्ति को निदान कहा जाता है। निदान शब्द शल्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है। किसी अच्छे कार्य को कर उसके फल की आकांक्षा करना निदान है। वैद्यक शास्त्र के अनुसार अपथ्य सेवन से उत्पन्न धातुओं का विकार, जिसके कारण रोग उत्पन्न होता है, निदान कहलाता है। इसी प्रकार अशुभ कर्म जिनका प्राणियों के नैतिक संघटन पर प्रभाव पड़ता है, जो अनेक जन्मों तक वर्तमान रहकर व्यक्ति के जीवन को रुग्ण—नाना गतियों में भ्रमण करने का पात्र बना देता है, निदान है। छठवें भव में निदान का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

"नियाणं च दुविहं हवइ, इह लोइयं परलोइयं च। तत्थ इह लोइयं अपच्छा-सेवणजणिओ वायाइधाउक्खोहो, पारलोइयं पावकम्मं।"

—षष्ठ भव याकोबी संस्करण, पृ० ४८१।

अग्निशर्मा गुणसेन के प्रति तीव्र घृणा के कारण निदान बाँधता है। यह घृणा ज्यों की त्यों आगे वाले भवों में दिखलायी पड़ती है। जब भी वह गुणसेन के जीव—पुनर्जन्म के कारण अन्य पर्याय को प्राप्त हुए के सम्पर्क में पहुँचता है, प्रतिशोध की भावना उत्पन्न हो जाती है। अग्निशर्मा का निन्द्याचरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि विभिन्न प्रवृत्तियों के रूप में व्यक्त हो जाता है और वह पुनः पापाचरण करके भावी कर्मों की निन्द्य परम्परा का अर्जन करता है।

समराइच्चकहा में नायक सदाचारी और प्रतिनायक-दुराचारी के जीवन-संघर्ष की कथा, जो नौ जन्मों तक चलती हैं, लिखी गयी है। नायक शुभ-परिणति को शुद्ध परिणति के रूप में परिवर्तित कर शाश्वत सुख प्राप्त करता है और प्रतिनायक या खल-नायक अनन्त संसार का पात्र बनता है। इस कथा कृति में गुणसेन का व्यक्तित्व

गुणात्मक गुणवृद्धि से रूप में और अग्निशर्मा का व्यक्तित्व भावात्मक या भागात्मक भाग वृद्धि के रूप में गतिमान और संघर्षशील है। इन दोनों व्यक्तियों ने कथानक की रूप रचना में ऐसी अनेक मोड़ें उत्पन्न की हैं, जिनसे कार्य व्यापार की एकता और परि-पूर्णता सिद्ध होती है। यह कथा-कृति किसी व्यक्ति विशेष का इतिवृत्तमात्र ही नहीं है, किन्तु जीवन चरित्रों की सृष्टि को मानवता की ओर ले जानेवाली है। धार्मिक कथा-नक के चौखटे में सजीव चरित्रों को फिट कर कथा को सप्राण बनाने की चेष्टा की है।

देश, काल के अनुरूप पात्रों के धार्मिक और सामाजिक संस्कार घटनाओं को प्रधान नहीं होने देते; प्रधानता प्राप्त होती है उनकी चरित्र-निष्ठा को। घटना-प्रधान कथाओं में जो सहज आकस्मिकता और कार्य की अनिश्चित गतिमत्ता आ जाती है, उससे निश्चित ही यह कथा संक्रमित नहीं है——यहाँ सभी घटनाएँ कथ्य हैं और जीवन की एक निश्चित शैली में वे व्यक्ति के भीतर और बाहर घटित होती हैं। घटनाओं के द्वारा मानव प्रकृति का विश्लेषण और उनके द्वारा तत्कालीन सामन्तवर्गीय जनसमाज एवं उसकी रुचि तथा प्रवृत्तियों का प्रकटीकरण इस कथाकृति को देश-काल की चेतना से अभिभूत करता है।

इसके अतिरिक्त गुणसेन की समस्त पर्यायों में भावनाओं का उत्थान-पतन मानव की मूल प्रकृति में व्यस्त मनोवैज्ञानिक संसार को चित्रित करता है। क्रोध, घृणा आदि मौलिक आधारभूत वृत्तियों को उनकी रूप व्याप्ति और संस्थिति में रखना हरिभद्र की सूक्ष्म संवेदनात्मक पकड़ का परिचायक है। भोगवाद और शारीरिक स्थूल आनन्द-वाद का नश्वररूप उपस्थित कर वैयक्तिक वेदना का साधारणीकरण कर दिया गया है, जिससे चरित्रों की वैयक्तिकता सार्वभौमिकता को प्राप्त हो गयी है।

नौ भवों की कथा में चरित्र सृष्टि, घटनाक्रम और उद्देश्य ये तीनों एक साथ घटित हो कथा-प्रवाह को आगे बढ़ाते हैं। दो प्रतिरोधी चरित्रों का विकास अनेक अवान्तर कथाओं के बीच दिखलाया गया है। अवान्तर कथाओं का मूल कथा के साथ पूर्ण सम्बन्ध है। निदान तत्त्व के विश्लेषण की क्षमता सभी अवान्तर कथाओं की है। जन्म-जन्मान्तर के कर्मफलों का विवेचन करना ही इसका उद्देश्य है। अवान्तर कथाओं के द्वारा प्रधान पात्र में सांसारिक नश्वरता और वैराग्य की चेतना को जागृत करना ही लक्ष्य है। ये सर्वदा एक ही रूप में सुनिश्चित स्थापत्य के अनुसार आती हैं। नायक का साक्षात्कार आत्मज्ञानी मुनि से होता है, जो अपनी विरक्ति की आत्मकथा सुनाता है। इसमें अनेक जन्म-जन्मान्तरों के कथा-सूत्र गुथे रहते हैं।

रूप विधान की दृष्टि से ये कथाएँ बीज धर्मा हैं। प्रतिशोध के लिए किया गया निदान रूप छोटा-सा बीज विशाल वट वृक्ष बन जाता है। अनेक जन्मों तक यह प्रति-शोध की भावना चलती रहती है।

इस कथाकृति में प्रतीकों के प्रयोग—मुख्य कथा की निष्पत्ति के लिए अनेक प्रतीकों का प्रयोग कर भावों की सुन्दर और स्पष्ट अभिव्यंजना की गई है। यह सत्य है कि प्रतीक कथा के प्रभाव को स्थायित्व ही प्रदान नहीं करते हैं, बल्कि उसमें एक नवीन रस उत्पन्न करते हैं। तृतीय भव की कथा में स्वर्ण घट के टूटने का स्वप्न प्रतीक है। गर्भ धारण के इस हिरण्य रूपक में वर्ण, विलास या धातु भावना है। घट उदर का रहस्य का, जीव के मण्डलाकार का प्रतीक है। टूटना गर्भ विनाश के प्रयास और अन्ततोगत्वा गर्भस्थ प्राणी की हत्या की अभिव्यञ्जना करता है। घटना घटित होने के पूर्व ही अस्थापदेशिक शैली में प्रतीकों का प्रयोग कर घटनाओं के भविष्य की सूचना दे दी गयी है। इसी भव में प्रयुक्त नारियल का वृक्ष अनेक जन्मों की पीठिका का प्रतीक है। जन्म-जन्मान्तर के कर्मों की परम्परा का रहस्य दिखलाया गया है।

संक्षेप में इस कथाकृति का प्रधान शिल्प कथोत्थप्ररोह शिल्प है—प्याज के छिलकों के समान अथवा केले के स्तम्भ के परत के समान एक कथा से दूसरी कथा और दूसरी कथा से तीसरी कथा और तीसरी कथा से चौथी कथा निकलती जाती है तथा वट प्रारोह के समान शाखा पर शाखाएँ फूटकर एक घना वृक्ष बन जाती हैं। इस प्रकार इस कृति में मूल कथाओं के साथ अवान्तर कथाओं की संख्या सौ से अधिक हैं और सभी छोटे-बड़े आख्यान आपस में सम्बद्ध हैं।

इस कथाकृति में वर्णन-विविधता, प्रणयोन्माद, प्रकृति के रमणीय चित्र, तत्कालीन सामाजिक रीति-रिवाज, विशिष्ट दार्शनिक सम्प्रदाय एवं संयम के उज्ज्वलरूप वर्तमान हैं। हरिभद्र ने अलंकारों का समुचित प्रयोग कर अपूर्व रमणीयता का संचार किया है। लम्बे-लम्बे समास गिरिनदी के उद्दाम प्रवाह के समान हैं, अनेक स्थानों पर श्लिष्ट उपमाएँ इन्द्रधनुष की आभा उत्पन्न कर रही हैं। गद्य के साथ पद्य का प्रयोग कर अपूर्व चमत्कार उत्पन्न किया है। कादम्बरी अटवी का वर्णन दर्शनीय है।

वसहमयमहिससद्दूलकोलसयसंकुलं महाभीमं।
माइन्दविन्दचन्दणनिरुद्धससिसूरकरपसरं॥
फलपुट्ठतरुवरट्ठियपरपुट्ठविमुक्कविसमहलबोलं।
तरुकणइकयन्दोलणवाणरबुक्काररमणिज्जं॥
मयणाहदरियरुंजियसद्दसमुत्तत्थफिडियगयजूहं।
वणदवजालोवेढियचलमयरायन्तगिरिनियरं॥
निद्दयवराहघोणाहिघायजज्जरियपल्ललोयन्तं।
दप्पुद्धुरकरिनिउरुम्बदलियहिन्तालसंघायं।
तीए वहिऊण सत्थो तिण्णि पयाणाइ पल्ललसमीवे।
आवासिओ य पल्ललजलयरसंजणियसंखोहं॥

—छट्ठो भवो, भावनगर संस्करण, पृ० ५१०।

साहित्य की दृष्टि से इस कथाकृति का जितना महत्व है, उससे कहीं अधिक संस्कृति की दृष्टि से है। चाण्डाल, डोम्बलिक, रजक, चर्मकार, शाकुनिक, मत्स्यबन्ध और नापित जाति के पात्रों का चरित्र भी इसमें चित्रित किया है। व्यापारी और सार्थवाहों का अनेक व्यापारिक नियमों के साथ उनके संघठन तथा विभिन्न यात्राओं का सजीव वर्णन है, परिवार गठन, संयुक्त परिवार के घटक, विवाह संस्था, स्वयंवर प्रथा, दास प्रथा, समाज में नारी का स्थान, उसकी शिक्षा पद्धति, भोजन पान, वस्त्राभूषण, नगर और ग्रामों की स्थिति, आवास स्थान, पशु-पक्षी, क्रीड़ा, विनोद, उत्सव एवं गोष्ठियों के विविध रूप वर्णित हैं। शिक्षा के अन्तर्गत आठवें भव में लेख, गणित, आलेख्य, नाट्य, गीत, वादित्र, स्वरगत, पुष्करगत, समताल, धूत, जनवाद, काव्य, प्रहेलिका, आभरण-विधि, स्त्री-पुरुष लक्षण, ज्योतिष, मन्त्र शास्त्र, हय-गज-गोवृष आदि का लक्षण शास्त्र, धनुर्वेद, व्यूह-प्रतिव्यूह शिक्षा, हिरण्य सुवर्ण-मणिवाद, युद्धकला एवं शकुन शास्त्र का उल्लेख किया है। समराइच्चकहा में ठकुर शब्द का प्रयोग पाया जाता है। बताया है।

आवडियं पहाणजुज्झं, पाडिया कुलउत्तया, भग्गा धाडी, वाणरेहिं विय वुक्कारियं सबरेहिं। तओ अमरिसेण नियत्ता ठकुरा, थेवा सबरत्ति वेढिया अ ससाहणेणम्। संपलग्गं जुज्झं। महया विमद्देण निज्जिया सबरा। पाडिया कुमारपल्लीवई, गहिया च णेहिं। कुमाचरिएण विम्हिया ठकुरा को उण एसी त्ति चिन्तियमणेहि॥

—सप्तमभव, भावनगर संस्करण, पृ० ६६९।

इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल से ही ठाकुर जाति युद्ध प्रिय होती थी। यह जाति भी शबरों के समान युद्ध किया करती थी।

इस प्रकार समराइच्चकहा में सामुद्रिक व्यापार, अश्वों की विभिन्न जातियाँ आदि अनेक सांस्कृतिक बातों का समावेश हुआ है।

धूर्त्ताख्यान[1] (धुत्ताक्खान)

आचार्य हरिभद्र सूरि की व्यंग्य प्रधान रचना धूर्त्ताख्यान है। इसमें पुराणों में वर्णित असम्भव और अविश्वसनीय बातों का प्रत्याख्यान पाँच धूर्त्तों की कथाओं के द्वारा किया गया है। भारतीय कथा साहित्य में शैली की दृष्टि से इस कथा ग्रन्थ का मूर्धन्य स्थान है। लाक्षणिक शैली में इस प्रकार की अन्य रचना दिखलायी नहीं पड़ती है। दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि व्यंग्योपहास की इतनी पुष्ट रचना अन्य किसी भाषा में सम्भवतः उपलब्ध नहीं है। धूर्त्तों का व्यंग्य प्रहार ध्वंसात्मक नहीं, निर्माणात्मक है।

---

१. सिंघीराज द्वारा प्रकाशित।

बताया गया है कि उज्जयिनी के पास एक सुरम्य उद्यान में ठग-विद्या के पारंगत सैकड़ों धूर्तों के साथ मूलदेव, कंडरीक, एलाषाढ़, शश और खंडपाना ये पाँच धूर्त नेता पहुँचे। इनमें प्रथम चार पुरुष थे और खण्डपाना स्त्री थी। प्रत्येक पुरुष धूर्तराज के पाँच सौ पुरुष अनुचर थे और खण्डपाना के पाँच सौ स्त्री अनुचर। जिस समय ये लोग उद्यान में पहुँचे घनघोर वर्षा हो रही थी। सभी धूर्त वर्षा की ठंढक से ठिठुरते हुए और भूख से कुड़मुराते हुए व्यवसाय का कोई साधन न देखकर इन निष्कर्ष पर पहुँचे कि बारी-बारी से पाँचों नेता मण्डली को अपने जीवन अनुभव सुनायें और जो धूर्त नेता उसको अविश्वसनीय और असत्य सिद्ध कर दे, वह सारी मण्डली को आज भोजन कराये और जो महाभारत, रामायण, पुराणादि के कथानकों से उसका समर्थन करते हुए उसकी सत्यता में सबको विश्वास दिला दे, वह सब धूर्तों का राजा बना दिया जाय। इस प्रस्ताव से सब सहमत हो गये और सभी ने रामायण, महाभारत तथा पुराणों की असंभव बातों का भंडाफोड़ करने के लिए निमित्त कल्पित आख्यान सुनाये। खण्डपाना ने अपनी चतुराई से एक सेठ द्वारा रत्नजटित मुद्रिका प्राप्त की और उसे बेचकर बाजार से खाद्य सामाग्री खरीदी गयी। सभी धूर्तों को भोजन कराया गया।

इस प्रकार इस कृति में अन्यापदेशिक शैली द्वारा असंभव, मिथ्या और कल्पनीय निन्द्य आचरण की ओर ले जानेवाली बातों का निराकरण कर स्वस्थ, सदाचारी और संभव आख्यानों की ओर संकेत किया है।

आलोचना--आक्रमणात्मक शैली को न अपनाकर व्यंग्य और सुझावों के माध्यम से असम्भव और मनगढ़न्त बातों का त्याग करने की ओर संकेत किया है। कथानक बहुत सरल है पर शैली में अद्भुत आकर्षण है। नारी की विजय दिखाकर मध्यकालीन गिरे हुए नारी समाज को उठाने की चेष्टा की है। नारी को व्यक्तिगत सम्पत्ति समझ लिया गया था, उसे बुद्धि और ज्ञान से रहित समझा जाता था। अतः हरिभद्र ने खण्डपाना के चरित्र और बौद्धिक चमत्कार द्वारा अपनी सहानुभूति प्रकट की है। साथ ही यह भी सिद्ध किया है कि नारी किसी भी बौद्धिक क्षेत्र में पुरुष की अपेक्षाहीन नहीं है। वह अन्नपूर्णा भी है, अतः खण्डपाना द्वारा ही सभी सदस्यों के भोजन का प्रबन्ध किया गया है।

इस कथाकृति में कथानक का विकास कथोपकथनों और वर्णनों के बीच से होता है। इसमें मुख्य घटना, उसकी निष्पत्ति का प्रयत्न, अन्त, निष्कर्ष, उद्देश्य और वैयक्तिक परिचय आदि सभी आख्यान अंश उपलब्ध हैं। धूर्तों द्वारा कही गयी असम्भव और काल्पनिक कथाएँ क्रमिक और एक इकाई में बन्द हैं। अतिशयोक्ति और कुतूहल तत्त्व भी मध्यकालीन कथाओं की प्रवृत्ति के अनुकूल हैं। समान्तर रूप में पौराणिक गाथाओं से मनोरंजक और साहसिक आख्यानों को सिद्ध कर देने में लेखक का व्यंग गर्भत्व परिलक्षित होता है।

धूर्तों की कथाएँ—जो उन्होंने अपने अनुभव को कथात्मक रूप से व्यक्त किया है, कथाकार की उद्भावना शक्ति के उद्‌घाटन के साथ कथा आरम्भ करने की पद्धति की परिचायिका है। हरिभद्र ने कल्पित कथाओं द्वारा उन पौराणिक गाथाओं की निस्सारता और असंगति दिखलायी है जो बुद्धि-संमत नहीं हैं। अनेक कथानक रूढ़ियाँ भी इसमें निबद्ध हैं। संक्षेप में प्राकृत साहित्य की अमूल्य मणियों में गाथा सप्तशती, समराइच्च कहा, कुवलयमाला एवं पउमचरिय के समान ही इस कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। इस कृति में कथा के माध्यम से निम्नांकित मान्यताओं का निराकरण किया है—

१. सृष्टि—उत्पत्तिवाद

२. सृष्टि—प्रलयवाद

३. त्रिदेव स्वरूप—ब्रह्मा, विष्णु और महेश के स्वरूप की विकृत मिथ्या मान्यताएँ।

४. अन्ध-विश्वास

५. अस्वाभाविक मान्यताएँ—अग्नि का वीर्यदान—तिलोत्तमा की उत्पत्ति आदि।

६. जातिवाद—अभिजात्य वर्ग पर व्यंग्यप्रहार

७. ऋषियों के सम्बन्ध में असंभव और असंगत कल्पनाएँ

८. अमानवीय तत्व

लघुकथाएँ—

आचार्य हरिभद्र ने समराइच्चकहा जैसा वृहद्‌काय कथा-ग्रन्थ और धूर्ताख्यान जैसा व्यंग्यप्रधान कथा-ग्रन्थ लिखा, उसी प्रकार छोटी-छोटी कथाएँ भी लिखी हैं। दशवैकालिक टीका में ३० महत्वपूर्ण प्राकृत कथाएँ और उपदेशपद में लगभग ७० प्राकृत कथाएँ आयी हैं। उपदेशपद की कथाएँ उदाहरण या दृष्टान्त के रूप में लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शैली में निबद्ध हैं। इस ग्रन्थ के टीकाकार मुनिचन्द्र ने इन कथाओं को पर्याप्त विस्तृत रूप दिया है। इन लघुकथाओं को निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

१ कार्य और घटना प्रधान—इस श्रेणी की कथाएँ—

क—उचित उपाय (दश० हारि० गा० ६९ पृ० ८९)

ख—एक स्तम्भ का प्रासाद (द० हारि० गा० ६२ पृ० ८१)

ग—दृढ़ संकल्प (दश० हारि० गा० ८१ पृ० १०४)

घ—सुबन्धु-द्रोह (दश० हारि० गा० १७७ पृ० १८२)

ङ—तीन कोटि स्वर्णमुद्राएँ (द० हारि० गा० ११७ पृ० १८५)

च—चार मित्र (द० हारि० गा० १८८–१८९ पृ० २१४)

छ—इन्द्रदत्त (उप० गा० १२ पृ० २८)

ज—धूर्तराज (उप० गा० ८६)

झ—शत्रुता (उप० गा० ११७ पृ० ८६)

२. चरित प्रधान—

क—शीलपरीक्षा (द० हा० गा० ७३ पृ० ९२)
ख—सहानुभूति (द० हा० गा० ८७ पृ० ११४)
ग—विषयासक्ति (द० हा० गा० १७५ पृ० १७७)
घ—कान्ताउपदेश (द० हा० गा० १७७ पृ० १८८)
ङ—मूलदेव (उप० गा० ११ पृ० २३)
च—विनय (उप० गा० २० पृ० ३४)
छ—शीलवती (उप० गा० ३०–३४ पृ० ४०)
ज—रामकथा—(उप० गा० ११४ पृ० ८४)
झ—वज्रस्वामी (उप० गा० १४६ पृ० ११५)
ञ—गौतम स्वामी (उप० गा० १४२ पृ० १२७)
ट—आर्य महागिरि (उप० गा० २०३–२११ पृ० १५६)
ठ—आर्य सुहस्ति (उप० गा० २०३–२११ पृ० १५८)
ड—विचित्र कर्मोदय (उप० गा० २०३–२११ पृ० १६०)
ढ—भीमकुमार (उप० गा० २४५–२५० पृ० १७५)
ण—रुद्र (उप० गा० ३९५-४०२ पृ० २२७)
त—श्रावकपुत्र (उप० गा० ५०६–५१० पृ० २५३)
थ—पाखण्डी (उप० गा० २५८ पृ० १७९)
द—कुरुचन्द्र (उप० गा० ९५२–९६९ पृ० ३९३)
ध—शंखनृपति (उप० गा० ७३६–७६२ पृ० ३४१)
न—ऋद्धि सुन्दरी (उप० गा० ७०८ पृ० ३२८)
प—रतिसुन्दरी (उप० गा० ७०३ पृ० ३२५)
फ—गुणसुन्दरी (उप० गा० ७१३ पृ० ३३१)
ब—नृपपत्नी (उप० गा० ८६१–८६८ पृ० ३८०)

३. भावना और वृत्ति प्रधान—

क—साधु (द० हा० गा० ५६ पृ० २७)
ख—चण्डकौशिक (उ० गा० १४७ पृ० १३०)
ग—गालव (उप० गा० ३७८–३८२ पृ० २२२)
घ—मेघकुमार (उप० गा० २६४–३७२ पृ० १८२)
ङ—तोते की पूजा (उप० गा० ९७५–९९६ पृ० ३६७)
च—वृद्धा नारी (उप० गा० १०२०–१०३० पृ५ ४१९)

४. व्यंग्य प्रधान

क—संचय (द० हा० गा० ५५ पृ० ७०)

ख—हिंगुशिव (द० हा० गा० ६७ पृ० ८७)

ग—हाय रे भाग्य (द० हा० पृ० १०६)

घ—स्त्रीबुद्धि (द० हा० पृ० १९३)

ङ—भक्ति-परीक्षा (द० हा० पृ० २०८)

च—कच्छप का लक्ष्य (उप० गा० १३ पृ० ३१)

छ—युवकों से प्रेम (उप० गा० ११३ पृ० ८४)

५. बुद्धि-चमत्कार प्रधान—

क—अश्रुत-पूर्व (द० हा० पृ० ११२)

ख—ग्रामीण गाड़ीवान (द० हा० गा० ८८ पृ० ११८)

ग—इतना बड़ा लड्डू (द० हा० पृ० १२१)

घ—चतुररोहक (उप० गा० ५२–७४ पृ० ४८–५५)

ङ—पथिक के फल (उप० गा० ८१ पृ० ५८)

च—अभयकुमार (उप० गा० ८२ पृ० ५९)

छ—चतुर वैद्य (उप० गा० ८० पृ० ६१)

ज—हाथी की तौल (उप० गा० ८७ पृ० ६२)

झ—मन्त्री की नियुक्ति (उप० गा० ९०)

ञ—व्यन्तरी (उप० गा० ९४ पृ० ६५)

ट—कल्पक की चतुराई (उप० गा० १०८ पृ० ७३)

ठ—मृगावती कौशल (उप० गा० १०८ पृ० ७३)

६. प्रतीक प्रधान

क—घड़े का छिद्र (द० हा० गा० १७७ पृ० १८७)

ख—धन्य की पुत्रवधुएँ (उप० गा० १७२–१७९ पृ० १४४)

ग—वणिक् कथा (दा० हा० गा० ३७ पृ० ३७–३८)

७. मनोरञ्जन प्रधान

क—जामाता परीक्षा (उप० गा० १४३ पृ० १२९)

ख—राजा का न्याय (उप० गा० १२० पृ० ९१)

ग—श्रमणोपासक (द० हा० गा० ८५ पृ० १०९)

घ—विषयी शुक (उप० पृ० ३९८)

८. नीति या उपदेश प्रधान

क—सुलसा (द० हा० पृ० १०४)

ख—उपगूहन (द० हा० पृ० २०४)
ग—निरपेक्षजीवी (द० हा० पृ० ४६१–६२)
घ—सवलित रत्न (उप० गा० १० पृ० २३)
ङ—सोमा (उप० गा० ५५०–५९७)
च—वरदत्त (उप० गा० ६०५–६६३ पृ० २८८)
छ—गोवर (उप० गा० ५५०–५९७ पृ० २६९)
ज—सत्संगति (उप० गा० ६०८–६६३ पृ० २८९)
झ—कलि (उप० गा० ८६७ पृ० ३६)
ञ—कुन्तलदेवी (उप० गा० ४९७ पृ० २५०)
ट—सूरतेज (उप० गा० १०१३–१०१७ पृ० ४१७)

९. प्रभाव प्रधान

क—ब्रह्मदत्त (उप० गा० ६ पृ० ४)
ख—पुण्यकृत्य की प्राप्ति (उप० गा० ८ पृ० २१)
ग—प्रभाकर चित्रकार (उप० गा० ३६२–३६६ पृ० २१७)
घ—कामासक्ति (उप० गा० १४७ पृ० १३२)
ङ—माषतुष (उप० गा० १९३ पृ० १५२)

उपर्युक्त समस्त कथाओं का विश्लेषण और विवेचन करना संभव नहीं है। पर एकाध लघुकथा उद्धृत की जाती है :—

अश्रुतपूर्व लघुकथा बताया गया है कि एक नगर में एक परिव्राजक सोने का पात्र लेकर भिक्षाटन करता था। उसने घोषणा की कि जो कोई मुझे अश्रुतपूर्व बातें सुनायेगा, उसे मैं इस स्वर्णपात्र को दे दूँगा। कई लोगों ने बहुत-सी बातें सुनायीं, पर उसने उन सबों को श्रुत—पहले सुनी हुई हैं, कहकर लौटा दिया। एक श्रावक भी वहाँ उपस्थित था, उसने जाकर परिव्राजक से कहा तुम्हारे पिता ने मेरे पिता से एक लाख रुपये कर्ज लिये थे। यदि मेरा यह कहना आपको श्रुतपूर्व है, तो मेरे पिता का कर्ज आप लौटा दीजिये और अश्रुतपूर्व है तो आप अपना स्वर्णपात्र मुझे दे दीजिये। लाचार होकर परिव्राजक को अपना स्वर्णपात्र देना पड़ा। यह कथा बुद्धि-चमत्कार प्रधान है, श्रावक के बुद्धिचमत्कार का निर्देश किया गया है।

परिग्रह पर व्यंग्य करते हुए एक कथा में बताया गया है कि एक स्थान पर दो भाई रहते थे। उन्होंने सौराष्ट्र में जाकर सहस्रों रुपये अर्जित किये। उन रुपयों को थैली में भरकर चलाने लगे। वह थैली को बारी-बारी से लेकर चलने लगे। थैली जिसके हाथ में रहती वह सोचता कि इस दूसरे भाई को मार दूँ तो ये रुपये मेरे हो जायँगे। इस प्रकार वे दोनों ही एक दूसरे के वध का उपाय सोचते रहे। जब वे एक नदी के

किनारे आये तो छोटा भाई सोचने लगा कि मुझे धिक्कार है, जो मैं अपने बड़े भाई की हत्या करने की बात सोच रहा हूँ। वह अपने कुत्सित विचार से दुःखी होकर रोने लगा। बड़े भाई ने रोने का कारण पूछा—तो उसने यथार्थ बात कह सुनायी। अब तो बड़े भाई से भी रहा न गया और उसने भी अपने मन के विचार कह दिये। उन्होंने निश्चय किया कि यह रुपयों की थैली ही इन दूषित विचारों की उत्पत्ति का कारण है, अतः उन्होंने उस थैली को नदी में डाल दिया और घर चले आये। कुछ दिनों के उपरान्त उनके घर की दासी बाजार से मछली लायी, उस मछली के पेट से थैली निकली। दासी ने जल्दी ही उस थैली को छिपा लिया पर घर की वृद्धा ने उसे देख लिया। वृद्धा उस थैली को लेने के लिये झपटी, पर दासी ने उसे धक्का देकर मार डाला। इसी समय वे दोनों घर में प्रविष्ट हुए और झगड़े का कारण तथा वृद्धा की मृत्यु का कारण उस थैली समझकर कहने लगे—"अत्थो अणत्थजुओ" धन ही अनर्थ—पाप का कारण हैं। इस प्रकार आचार्य हरिभद्र ने अपनी लघुकथाओं को मनोरंजक और सरस बनाने के साथ उपदेशप्रद भी बनाया है।

निर्वाण लीलावती कथा

इस कथाग्रन्थ को जिनेश्वर सूरि ने आशापल्ली में वि० सं० १०८२ और १०९५ के मध्य में लिखा है। यह समस्त ग्रन्थ प्राकृत पद्यों में लिखा गया है। मूल कृति अभी तक अनुपलब्ध है, पर इसका साररूप संस्कृत भाषा में जिनरत्न सूरि का प्राप्य है। क्रोध, मान आदि विकारों के साथ हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह-संचय आदि पापों का फल जन्म-जन्मान्तर तक भोगना पड़ता है, का विवेचन इस कथाग्रन्थ में किया गया है।

कथावस्तु और समीक्षा—राजगृह नगरी में सिंहराज नाम का राजा अपनी लीलावती रानी सहित शासन करता था। इस राजा का मित्र जिनदत्त श्रावक था। इसके संसर्ग से राजा जैनधर्म का श्रद्धालु हो जाता है। किसी समय जिनदत्त के गुरु समरसेन राजगृह नगरी में आये। जिनदत्त के साथ राजा और रानी भी मुनिराज का उपदेश सुनने के लिए गये। राजा ने आचार्य के अप्रतिम सौन्दर्य और अगाध पाण्डित्य को देख आश्चर्य-चकित हो उनसे उनका वृत्तान्त पूछा।

आचार्य कहने लगे—वत्सदेश की कौशाम्बी नगरी में विजयसेन नामक राजा, जयशासन मन्त्री, सूर पुरोहित, पुरन्दर श्रेष्ठी एवं धन सार्थवाह; ये पाँचों मित्रतापूर्वक रहते थे। किसी समय सुधर्म नाम के आचार्य उस नगरी में पधारे। इन आचार्य के दर्शन के लिये ये पाँचों ही व्यक्ति गये और इन्होंने वहाँ आचार्य का उपदेश सुना। आचार्य ने पाँच पापों का फल प्राप्त करनेवाले व्यक्तियों की कथाएँ सुनाई। हिंसा और

क्रोध के उदाहरण के लिए रामदेव नामक राजपुत्र की कथा, असत्य और मान के उदाहरणस्वरूप सुलक्षण नामक राजपुत्र की कथा, चोरी और कपट के उदाहरण में वसुदेव नामक वणिक् पुत्र की कथा, कुशील-सेवन और मोह के उदाहरण में वज्रसिंह राजकुमार की कथा एवं परिग्रह और लोभ के दृष्टान्त में कनकरथ राजपुत्र की कथा कही है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों के विपाक-वर्णन में उक्त पाँचों व्यक्तियों के पूर्वभव की कथाएँ बतलायी हैं। कथामय इस धर्मोपदेश को सुनकर वे पाँचों ही विरक्त हुए और सुधर्म स्वामी के सम्मुख दीक्षित हो गये। इन्होंने घोर तपश्चरण किया। फलतः आयुक्षय के उपरान्त ये पाँचों सौधर्म स्वर्ग में देव हुए थे और वहाँ से च्युत हो भरत क्षेत्र के विभिन्न स्थानों में उत्पन्न हुए।

रसनेन्द्रिय विपाक-वर्णन में जिस जयशासन मन्त्री की कथा कही गयी है, उसका जीव मलयदेश के कुशावर्तपुर में राजा जयशेखर के यहाँ पुत्र हुआ और इसका नाम समरसेन रखा गया। यह समरसेन आखेट का बड़ा प्रेमी था। सदैव मृगयासक्त होकर प्राणिहिंसा में प्रवृत्त रहता था। उसका पूर्वभव का मित्र सूर पुरोहित का जीव, जो देवगति में विद्यमान था, आकर उसे सम्बोधित करता है। यह प्रतिबुद्ध हो धर्मनन्दन गुरु से दीक्षा-ग्रहण करता है।

कथा का मूल नायक सिंहराज कौशाम्बी के विजयसेन राजा का जीव है और रानी लीलावती कपट और चोरी के उदाहरण में वर्णित वणिक् पुत्र वसुदेव का जीव है। पूर्वभव के मित्रभाव को लक्ष्यकर जयशासन मन्त्री का जीव समरसेन सूरि इन्हें सम्बोधित करने आया है। सूरि के उपदेश से प्रतिबुद्ध होकर सिंहराज और रानी लीलावती ये दोनों व्यक्ति भी दीक्षा-धारण कर तपश्चरण करते हैं। अन्त में ये सभी निर्वाण प्राप्त करते हैं। इस प्रकार दस व्यक्तियों के जन्म-जन्मान्तरों के कथाजाल से इसकी कथावस्तु गठित की गयी है।

इस धर्मकथा में कथापन विद्यमान है। कौतूहल गुण सर्वत्र है। क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी जीवों के स्वाभाविक चित्र उपस्थित किये गये हैं। प्रासंगिक स्थलों को पर्याप्त रोचक बनाया गया है। कथा के मर्मस्थलों का उपयोग सिद्धान्तों के आद्यन्त निर्वाह के लिए किया गया है। नीरसता और एकरूपता से बचने के लिए कथाकार ने दृष्टान्त और उदाहरणों का अच्छा संकलन किया है।

इस कथाग्रन्थ की शैली और कथातन्त्र में कोई नवीनता नहीं है। पूर्ववर्ती आचार्यों के कथाजाल का अनुकरण किया है। यद्यपि उदाहरण कथाओं में आई हुई अधिकांश कथाएँ नवीन हैं। घटनाएँ सीधी सरल रेखा में चलती हैं। उनमें घुमाव या उस प्रकार के चमत्कार का अभाव है, जो पाठक के मर्म का स्पर्श कर उसे कुछ क्षणों के लिए सोचने का अवसर देता है। कुछ स्थानों में कथातत्त्व की अपेक्षा उपदेशतत्त्व ही प्रधान हो गया है। अतः साधारण पाठक को इसमें नीरसता की गन्ध आ सकती है।

कथाकोषप्रकरण

इस कृति के रचयिता जिनेश्वर सूरि हैं। ये नवीन युग संस्थापक माने जाते हैं। इन्होंने चैत्यवासियों के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया और त्यागी तथा गृहस्थ दोनों प्रकार के समूहों ने नये प्रकार के संगठन किये। चैत्यों की सम्पत्ति और संरक्षण के अधिकारी बने शिथिलाचारी यतियों को आचारप्रवण और श्रमणशील बनाया। इस सत्य से कोई इंकार नहीं कर सकता है कि ११ वीं शताब्दी में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के यतियों में नवीन स्फूर्ति और नयी चेतना उत्पन्न करने का कार्य प्रमुखरूप से जिनेश्वर सूरि ने किया। जिनदत्त सूरि ने 'सुगुरुपारतंत्र्यस्तव' में जिनेश्वर सूरि के सम्बन्ध में तीन गाथाएँ लिखी हैं[1]।

पुरओ दुल्लहमहिवल्लहस्स अणहिल्लवाडए पयडं।
मुक्का वियारिऊणं सीहेणव दव्वलिंगिया॥

—सुगुरुपारतन्त्र्यस्तव गा० १०।

स्पष्ट है कि गुजरात के अणहिलवाड के राजा दुर्लभराज की सभा में नामधारी आचार्यों के साथ जिनेश्वर सूरि ने वाद-विवाद कर, उनका पराजय किया और वहाँ वसतिवास की स्थापना की।

जिनेश्वर सूरि के भाई का नाम बुद्धिसागर था। ये मध्यदेश के निवासी और जाति के ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम कृष्ण था। इन दोनों भाइयों के मूल नाम क्रमशः श्रीधर और श्रीपति थे। ये दोनों भाई बड़े प्रतिभाशाली और विद्वान् थे। ये धारा नगरी के सेठ लक्ष्मीपति की प्रेरणा से वर्द्धमान सूरि के शिष्य हुए थे। दीक्षा के उपरान्त श्रीधर का नाम जिनेश्वर सूरि और श्रीपति का नाम बुद्धिसागर रखा गया। जिनेश्वर सूरि ने जैनधर्म का खूब प्रचार और प्रसार किया। इसके द्वारा रचित निम्न पाँच ग्रन्थ हैं—

(१) प्रमालक्ष्म, (२) निर्वाणलीलावतीकथा, (३) षट्स्थानप्रकरण (४) पञ्चलिङ्गीप्रकरण और (५) कथाकोषप्रकरण।

प्रस्तुत ग्रन्थ कथाकोषप्रकरण की रचना वि० सं० ११०८ मार्गशीर्ष कृष्ण पञ्चमी रविवार को समाप्त हुई। कवि ने अपने गुरु वर्द्धमान सूरि का उल्लेख भी इस ग्रन्थ के अन्त में किया है।[2]

---

१. देखें—कथाकोषप्रकरण की प्रस्तावना पृ० ९६।

२. विक्कमनिवकालाओ·······दिवसे परिसमत्तं।

—प्रशस्तिगाथा।

परिचय समीक्षा—इस ग्रन्थ में मूल ३० गाथाएँ हैं; इन गाथाओं में जिन कथाओं का नाम निर्दिष्ट है, उनका विस्तार वृत्ति में किया गया है। वृत्ति में मुख्य कथाएँ ३६ और अवान्तर कथाएँ ४–५ हैं। इन कथाओं में भी बहुत सी कथाएँ पुराने ग्रन्थों में भी मिलती हैं, पर इतनी बात अवश्य है कि वे कथाएँ नयी शैली में नये ढंग से लिखी गयी हैं। इस कृति में कुछ कल्पित कथाएँ भी पायी जाती हैं। लेखक ने स्वयं कहा है—

जिणसमयपसिद्धाइं पायं चरियाइं हंदि एयाइं।
भवियाणगुग्गहट्ठा काइं पि परिकप्पियाइं पि ॥
—क० को० गा० २६ पृ० १७९

अर्थात्—भव्य या भावुक जनों को सत् क्रिया में प्रवृत्ति और असत् से निवृत्ति कराने के लिए कुछ पौराणिक चरितों को निबद्ध किया है; किन्तु कुछ कथानक परिकल्पित भी निबद्ध किये गये हैं।

आरम्भ की सात कथाओं में जिनपूजा का फल, आठवीं में जिनस्तुति का फल, नौवीं में वैयावृत्य का फल, दसवीं से पच्चीसवीं तक दान का फल, आगे की तीन कथाओं में जैनशासन की उन्नति का फल, दो कथाओं में साधुओं के दोषोद्भावन के कुफल, एक कथा में साधुओं के अपमान निवारण का फल, एक में धर्मोत्साह की प्रेरणा का फल, एक में धर्म के अनधिकारी को धर्मदेशना का वैयर्थ्यसूचक फल एवं एक कथा में सद्देशना का महत्त्व बतलाया गया है।

इस कथाकोष की कुछ कथाएँ बहुत ही सरस और सुन्दर हैं। उदाहरणार्थ एकाध कथा उद्धृत की जाती है।

सिंहकुमार[1] नामका एक राजकुमार है, इसका सुकुमालिका नामक एक बहुत ही सुन्दर और चतुर राजकुमारी के साथ परिग्रहण हुआ है। दोनों में प्रगाढ़ स्नेह है। राजकुमार बहुत ही धर्मात्मा है। वह एक दिन धर्माचार्य की वन्दना करने जाता है और अतिशय ज्ञानी समझ कर उनसे प्रश्न करता है—'प्रभो! मेरी पत्नी का मेरे ऊपर यों स्वाभाविक अनुराग है अथवा पूर्वजन्म का कोई विशेष बन्धन कारण है? धर्माचार्य उसके पूर्वजन्म की कथा कहते हैं।

कौशम्बी नगरी में सालिवाहन नाम का राजा था, इसकी महादेवी प्रियंवदा नाम की थी। इनके ज्येष्ठ पुत्र का नाम तोसली था। यह बड़ा रूपवान्, रतिविचक्षण एवं युवराज पद पर आसीन था। इसी कौशाम्बी नगरी में धनदत्त सेठ अपनी नन्दा नामक भार्या और सुन्दरी नामक पुत्री सहित निवास करता था। सुन्दरी का विवाह उसी नगरी के निवासी सागरदत्त सेठ के पुत्र यशवर्द्धन के साथ सम्पन्न हुआ था। यह बहुत ही

१. कथाकोषप्रकरण पृ० ३९–५०

कुरूप था और सुन्दरी को बिल्कुल ही पसन्द नहीं था। सुन्दरी भीतर से उससे घृणा करती थी।

किसी समय यशवर्द्धन व्यापार के निमित्त परदेश जाने लगा। उसने अपनी पत्नी सुन्दरी को भी साथ ले जाने का आग्रह किया; पर अत्यन्त निर्विण्ण रहने के कारण सुन्दरी ने बहाना बनाकर कहा—"मेरा शरीर अस्वस्थ है, पेट में शूल उठता है, निद्रा भी नहीं आती हैं, अतः इस असमर्थ अवस्था में आपके साथ मेरा चलना अनुचित है।"

जब सागरदत्त को यह बात मालूम हुई तो उसने अपने पुत्र को समझाया—"बेटा! जब बहू की जाने की इच्छा नहीं है तो उसे यहीं छोड़ जाना ज्यादा अच्छा है। यशवर्द्धन व्यापार के लिए चला गया और सागरदत्त ने सुन्दरी के रहने की व्यवस्था भवन की तीसरी मंजिल पर कर दी। एक दिन वह दर्पण हाथ में लिए हुए प्रासाद के झरोखे में बैठकर अपने केश सँवार रही थी। इतने में राजकुमार तोसली अपने कतिपय स्नेही मित्रों के साथ उसी रास्ते से निकला। दोनों की दृष्टि एक हुई। सुन्दरी को देखकर राजकुमार ने निम्न गाथा पढ़ी।

अणुरूवगुणं अणुरूवजोव्वणं माणुसं न जस्सत्थि।
किं तेण जियं तेणं पि मामि नवरं मओ एसो॥ क० को० पृ० ४८।

अर्थात्—जिस स्त्री के अनुरूप गुण और अनुरूप यौवन वाला पुरुष नहीं है, उसके जीवित रहने से क्या लाभ? उसे तो मृतक ही समझना चाहिए।

सुन्दरी ने उत्तर दिया—

परिभुंजिउ न याणइ लच्छि पत्तं पि पुण्णपरिहीणो।
विक्कमरसा इ पुरिसा भुंजंति परेसु लच्छीओ॥ वही पृ० ४८।

पुण्यहीन व्यक्ति लक्ष्मी का उपभोग करना नहीं जानता। साहसी पुरुष ही पराई लक्ष्मी का उपयोग कर सकता है।

राजकुमार तोसली सुन्दरी का अभिप्राय समझ गया। वह एक दिन रात्रि के समय गवाक्ष में से चढ़कर उसके भवन में पहुँचा और उसने पीछे से आकर उस सुन्दरी की आँखें बन्द कर लीं। सुन्दरी ने कहा—

मम हियय हरिऊणं गओसि रे किं न जाणिओ तं सि।
सच्चं अच्छिनिमीलणमिसेण अंधारयं कुणसि॥

ता बाहुलयापासं दलामि कंठम्मि अज्ज निब्भंतं।
सुमरसु य इट्ठदेवं पयडसु पुरिसत्तणं अहवा॥ वही पृ० ४८।

क्या नहीं जानता कि तू मेरे हृदय को चुराकर ले गया और अब मेरी आँखें मींचने के बहाने तू सचमुच अँधेरा कर रहा है। आज मैं अपने बाहुपाश को तेरे कंठ में डाल रही हूँ। तू अपने इष्टदेव का स्मरण कर या फिर अपने पुरुषार्थ का प्रदर्शन कर।

सुन्दरी और कुमार तोसली बहुत दिनों तक आनन्दोपभोग करने के उपरान्त वे दोनों वहाँ से दूसरे नगर में चले गये और पति-पत्नी के रूप में दोनों रहने लगे। ये दोनों दम्पत्ति दानी, मन्दकषायी और धर्मात्मा थे। इन्होंने भक्ति-भावपूर्वक मुनियों को आहारदान दिया, जिसके पुण्य-प्रभाव के कारण ये दोनों जीव सिंहकुमार और सुकुमालिका के रूप में उत्पन्न हुए हैं।

इस कथाकोष की अन्य कथाएँ भी रोचक हैं। शालिभद्र की कथा में श्रेष्ठी वैभव का बड़ा ही सुन्दर वर्णन आया है। अन्य कथाओं में भी वस्तु चित्रण के अतिरिक्त मानवीय भावनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण पाया जाता है। मूल कथावस्तु के आकर्षक वर्णनों के साथ प्रासंगिक वर्णनों का आलेखन सजीव और प्रभावोत्पादक हुआ है। तत्कालीन सामाजिक, नीतिरीति, आचार-व्यवहार, जन-स्वभाव, राजतन्त्र एवं आर्थिक तथा धार्मिक संगठनों का सुन्दर चित्रण हुआ है। कर्म के त्रिकालाबाधित नियम की सर्वव्यापकता एवं सर्वानुमेयता सिद्ध करने की दृष्टि से सभी कथाएँ लिखी गयी हैं। प्रत्येक प्राणी के वर्तमान जन्म की घटनाओं का कारण उसके पहले के जन्म का कृत्य है। इस प्रकार प्राणियों की जन्म-परम्परा और उनके सुख-दुःखादि अनुभवों का कार्यकारण-भाव बतलाना तथा उनके छुटकारा पाने के लिए व्रताचरण का पालन करना ही इन कथाओं का लक्ष्य है।

इस कथाकोष की कथाएँ प्राकृत गद्य में लिखी गयी हैं। प्रसंगवश प्राकृत पद्यों के साथ संस्कृत और अपभ्रंश के पद्य भी मिलते हैं। कथाओं की भाषा सरल और सुबोध है। व्यर्थ का शब्दाडम्बर और लम्बे-लम्बे समासों का अभाव है।

कथागठन की शैली प्राचीन परम्परा के अनुसार ही है। कथातन्त्र भी कर्मसंस्कारों के ताने-बानों से बना गया है। कथानकों की कोड़े अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। लेखक ने चमत्कार और कौतूहल को बनाये रखने के लिए प्ररोचन शैली को अपनाया है। इन धार्मिक कथाओं में भी शृंगार और नीति का समावेश विपुल परिमाण में हुआ है, जिससे कथाओं में मनोरंजक गुण यथेष्टमात्रा में वर्तमान है।

टीकायुगीन प्राकृत कथाओं में जिस संक्षिप्त शैली को अपनाया गया था, उसी शैली का पूर्णतया परिमार्जन इन कथाओं में पाया जाता है। लघु कथाओं में कथाकार ने लघुकथातत्त्वों का समावेश पूर्णरूप से किया है। वातावरणों के संयोजन में कथाकार ने अपूर्व कुशलता का प्रदर्शन किया है।

संवेग-रंगशाला

इस कथा-ग्रन्थ के रचयिता जिनेश्वर सूरि के शिष्य जिनचन्द्र हैं। इन्होंने अपने लघु गुरुबन्धु अभयदेव की अभ्यर्थना से इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० ११२५ में की है। नवांगवृत्तिकार अभयदेव सूरि के शिष्य जिनवल्लभ सूरि ने इसका संशोधन किया है। इस कृति में संवेग भाव का प्रतिपादन किया है। इसमें शान्तरस पूर्णतया व्याप्त है।

परिचय और समीक्षा—संवेगभाव का निरूपण करने के लिए कृति में अनेक कथाओं का गुम्फन हुआ है। मुख्यरूप से गौतमस्वामी महासेन राजर्षि की कथा कहते हैं। राजा संसार का त्याग कर मुनिदीक्षा धारण करना चाहता है। इस अवसर पर राजा और रानी के बीच संवाद होता है। रानी अपने तर्कों के द्वारा राजा को घर में ही बाँधकर रखना चाहती है; वह तपश्चरण, उपसर्ग और परीषह का आतंक दिखलाती है, पर राजा महासेन संसार बन्धन को तोड़ दीक्षा धारण कर लेता है।

लेखक ने आराधना के स्पष्टीकरण के लिए मधुराजा और सुकौशल मुनि के दृष्टान्त उपस्थित किये हैं। आराधना के स्वरूप विस्तार के लिए चार मूल द्वार बताये गये हैं। अनन्तर अर्हत्, लिंग, शिक्षा, विनय, समाधि, मनोशिक्षा, अनियतविहार, राजा और परिणाम नाम के द्वारों को स्पष्ट करने के लिए क्रम से वंकचूल, कूलवाल, मंगु आचार्य, श्रेणिक, नमिराजा, वसुदत्त, स्थविरा, कुरुचन्द्र और वज्रमित्र के कथानक दिये गये हैं। जिनभवन, जिनबिम्ब, जिनपूजा और प्रौषधशाला आदि दस स्थानों का निरूपण किया गया है।

कथानकों के रहने पर भी इस कृति में दार्शनिक तथ्यों की बहुलता है। आचार और धर्म सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन लेखक ने खूब खुलकर किया है। यही कारण है कि इस कृति में कथात्मक परिवेशों का प्रायः अभाव है। ऐसा मालूम होता है कि उपासना, आराधना, प्रभृति को सार्वजनीन बनाने के लिए लेखक ने कथानकों को पौराणिक शैली में अपनाया है। पात्रों के नाम और उनके कार्य तो बिल्कुल पौराणिक हैं ही, पर शैली भी टीका युगीन कथाओं के समान ही है। इतने बड़े ग्रन्थ में प्रायः कथाप्रवाह या घटनाओं में तारतम्य नहीं आ पाया है। पात्रों के चरित्रों का विकास भी नहीं हुआ है। हाँ, पात्रों के विचार और मनोवृत्तियों का कई स्थलों पर सूक्ष्म विश्लेषण विद्यमान है।

उद्देश्य की दृष्टि से यह कृति पूर्णतया सफल है। लेखक ने सभी कथानकों और पात्रों को एक ही उद्देश्य के डोरे में बाँध दिया है। संवेग की धारा सर्वत्र प्रवाहित दिखलायी पड़ती है। जिस प्रकार मिट्टी के बने कच्चे घड़े जल के छींटे पड़ते ही टूट जाते हैं, उसी प्रकार संवेग के श्रवण से सहृदयों के हृदय द्रवीभूत हो जाते हैं। संवेगरस

की प्राप्ति के अभाव में कायक्लेश सहन करना या श्रुताध्ययन करना निरर्थक है। लेखक ने सभी आख्यानों और दृष्टान्तों में उक्त उद्देश्य की एकरूपता रखी है।

जीवन के अभाव, चारित्रिक दुर्बलताएँ एवं सांसारिक कमियों का निर्देश कथा के माध्यम से नहीं हो पाया है। कथारस में भी तरलता ही पायी जाती है, गाढ़ापन नहीं। सूच्य या सांकेतिक रूप में घटनाओं का न आना भी इसके कथारूप में अरोचकता उत्पन्न करता है। इतना होने पर भी इस कृति में जीवन के स्वरूप का उद्घाटन पौराणिक पात्रों द्वारा बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। प्रत्येक द्वार के आख्यान अलग-अलग रहने पर भी सब एक सूत्र में पिरोये हुए हैं।

कथाकोषप्रकरण की कथाओं की शैली बड़ी ही स्वच्छ है। लेखक ये पात्रों की भावनाओं का चित्रण बहुत ही स्पष्ट रूप में किया है। यहाँ उदाहरण के लिए कनकमती की भावनाओं का विश्लेषण किया जाता है। विद्याधर ने कनकमती का अपहरण कर आकाश से उसे समुद्र में गिरा दिया है। कनकमती समीपवर्ती कुलपति के आश्रम में जाकर वन में एकाकिनी विलाप करती है। कवि ने उसका चित्रण निम्न प्रकार किया है[1] :—

"भयवईओ वणदेवयाओ, परिणीया केवलमहं भत्तारेण, न य मए तस्स किंचि उवयरियं। तेण पुण मज्झ कए किं किं न कयं। पलोइओ य मए तिन्नि दिणाणि समुद्दतीरे, नोवलद्धो दइओ। ता तेण विरहियाए मह जीविएज न पओयणं। तस्स सरीरे भलेज्जह त्ति भणिऊण विरइओ पासओ। समारूढा रुक्खे जाव अप्पाणं किल मुयइ ताव अहं हाहारव सद्दगब्भिणं 'मा साहसं मा साहसं' भणमाणो धाविओ तयाभिमुहं। संखुद्धा य एसा जाव पलोइओ अहं, विलिया फेडिऊण पासओ उवविट्ठा तरुवरस्स हेट्ठओ। मए समीववत्तिणा होऊण आसासिया—'पुत्ति, किं निमित्तं तुमं अप्पाणं वावाएसि? किं तुह भत्ता समुद्दंमि केणइ पक्खितो जेण तस्स तीरं पलोइएसि?' तओ तीए न किंचि जंपियं। केवलं मुत्ताहलसच्छहेहिं थूलेहिं अंसुबिंदूहिं रोविउं पउत्ता। एयं च रुयंतीं पेच्छिऊण मह अईव करुणा संवुत्ता।........"

स्पष्ट है कि लेखक ने कुलपति के द्वारा कनकमती की विरह-भावना को मूर्त्तिमान रूप दिया है।

लेखक जहाँ किसी नगरी या देश का चित्रण करता है वहाँ उसकी शैली बड़ी ही सरल हो जाती है। जैसे[2] :—

---

१. दे० पृ० १४५–१४६ (सिंघी सीरीज ग्रन्थाङ्क २५)।

२. वही पृ० ३२।

"इहेव भारहे वासे साकेयं नाम नयरं। तत्थ बलो नाम राया, रई से देवी। तीसे धूया सूरसेणा नाम। रूवेण जोव्वणेण य उक्किट्ठा। सा दिण्णा कंचीए नयरीए सूरप्पहस्स रन्नो घणसिरीए देवीए पुत्तस्स तोसलिकुमारस्स नियभाइणिजस्स।"

नाणपंचमीकहा

इस कथा-ग्रन्थ के रचयिता महेश्वर सूरि हैं। महेश्वर सूरि नाम के आठ आचार्य प्रसिद्ध हैं[1]। ज्ञानपञ्चमी कथा के रचयिता महेश्वर सूरि के सम्बन्ध में निम्न प्रशस्ति उपलब्ध है।

दोपक्खुज्जोयकरो दोसासंगेण वज्जिओ अमओ।
सिरिसज्जणउज्झाओ अउव्वचंदुव्व अक्खत्थो॥
सीसेण तस्स कहिया दस वि कहाणा इमे उ पंचमिए।
सूरिमहेसरएणं भवियाण-बोहणट्ठाए[2]॥

इससे स्पष्ट है कि महेश्वर सूरि सज्जन उपाध्याय के शिष्य थे। ज्ञानपञ्चमी कथा अथवा पञ्चमी माहात्म्य की पुरानी से पुरानी ताडपत्रीय प्रति वि० सं० ११०९ की उपलब्ध होती है[3]। अतः ज्ञानपञ्चमी का रचनाकाल वि० सं० ११०९ से पहले है।

ज्ञानपञ्चमी कथा में भविष्यदत्त का आख्यान आया है। इसी आख्यान को बीज मानकर धनपाल ने अपभ्रंश में 'भविसयत्तकहा' नामक एक सुन्दर कथा ग्रन्थ लिखा है, जो अपभ्रंश का महाकाव्य है। डॉ० याकोबी के अनुसार भविसयत्त कहा की रचना १० वीं शती के बाद ही हुई होगी। डॉ० भायाणी ने स्वयम्भू के बाद और हेमचन्द्र के पहले धनपाल का समय माना है[4]। श्री गोपाणी जी ने लिखा है—

'भविसयत्तकहा' ना रचनार धनपाल के विन्टरनित्स, याकोवीने अनुसरी, दिगम्बर जैन श्रावक कहे छे, धर्कटवंश एज उपकेश—ऊकेश वंश अने ऊकेश एटले ओसवालवंश एवुं पण कथन जोवामां आवे छे, सारांश ए के विक्रमनी अगीआरमी सदीमां के ते पहेलां थई गमेला श्वेताम्बराचार्य श्रीमहेश्वरसूरि विरचित प्राकृत गाथामय पंचमी कथाना दसमा कथानक भविष्यदत्त उपरथी ईसवी सननी बारमी सदीमां थयेल मनाता धर्कटवंश वणिक् दिगंबर जैन धनपाले 'भविस्सयत्तकहा' अथवा 'सुयपंचमीकहा' अपभ्रंश भाषामां रची[5]।"

---

१. ज्ञानपं० प्रस्तावना पृ० ८–९।
२. ज्ञानपं० १०/४९६–४९७ गा०।
३. ज्ञानपं० प्रस्तावना पृ० ७–८।
४. अपभ्रंश-साहित्य, हरिवंश कोछड़ पृ० ९५।
५. ज्ञानपं० प्रस्तावना पृ० ३।

कथावस्तु और समीक्षा—इस कथाकृति में श्रुतपञ्चमी व्रत का माहात्म्य बतलाने के लिए दस कथाएँ संकलित हैं। कथाकार का विश्वास है कि इस व्रत के प्रभाव से सभी प्रकार की सुख-सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं।

इसमें जयसेणकहा, नंदकहा, भद्दा-कहा, वीर-कहा, कमला-कहा, गुणाणुरागकहा, विमलकहा, धरणकहा, देवी-कहा एवं भविस्सयत्तकहा ये दस कथाएँ निबद्ध की गयी हैं। समस्त कृति में २८०४ गाथाएँ हैं। उक्त दस कथाओं में से 'भविस्सयत्तकहा' की संक्षिप्त कथावस्तु देकर इस कृति के कथास्वरूप को उपस्थित किया जाता है।

कुरुजांगल देश के गजपुर नगर में कौरव वंशीय भूपाल नाम का राजा राज्य करता था। इस नगर में वैभवशाली धनपाल नाम का व्यापारी रहता था, इसकी स्त्री का नाम कमलश्री था। इस दम्पत्ति के भविष्यदत्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। धनपाल सरूपा नामक एक सुन्दरी से विवाह कर लेता है और परिणामस्वरूप अपनी पहली पत्नी तथा पुत्र की उपेक्षा करने लगता है। धनपाल और सरूपा के पुत्र का नाम बन्धुदत्त रखा जाता है। बन्धुदत्त वयस्क होकर पाँच-सौ व्यापारियों के साथ कंचन द्वीप को निकल पड़ता है। इस काफिले को जाते देख भविष्यदत्त भी अपनी माँ से अनुमति ले, उनके साथ चल देता है। भविष्यदत्त को साथ जाते देख सरूपा अपने पुत्र से कहती है—"तह पुत्त! करेज्ज तुमं भविस्सदत्तो जइ न एइ"[1]—पुत्र ऐसा करना जिससे भविष्यदत्त जीवित लौटकर न आवे। समुद्र यात्रा करते हुए ये लोग मैनाक द्वीप पहुँचते हैं और बन्धुदत्त धोखे से भविष्यदत्त को यहीं छोड़ आगे बढ़ जाता है। भविष्यदत्त इधर-उधर भटकता हुआ एक उजड़े हुए किन्तु समृद्ध नगर में पहुँचता है। वह एक जिनालय में जाकर चन्द्रप्रभ भगवान् की पूजा करता है। जिनालय के द्वार पर दो गाथाएँ अंकित है, उन्हें पढ़कर उसे एक दिव्य सुन्दरी का पता लगता है। उस सुन्दरी का नाम भविष्यानुरूपा है। उसका विवाह भविष्यदत्त के साथ हो जाता है। जिस असुर ने इस नगर को उजाड़ दिया था, वह असुर भविष्यदत्त का पूर्वजन्म का मित्र था। अतः भविष्यदत्त की सब प्रकार से सहायता करता है।

पुत्र के लौटने में बिलम्ब होने से कमलश्री उसके कल्याणार्थ श्रुतपञ्चमी व्रत का अनुष्ठान करती है। इधर भविष्यदत्त सपत्नीक प्रचुर सम्पत्ति के साथ घर लौटता है। मार्ग में उसकी बन्धुदत्त से पुनः भेंट हो जाती है, जो अपने साथियों के साथ व्यापार में असफल हो विपन्न दशा में था। भविष्यदत्त उसकी सहायता करता है। प्रस्थान के समय भविष्यदत्त पूजा करने जाता है, इसी बीच बन्धुदत्त उसकी पत्नी और प्रचुर धनराशि के साथ जहाज को रवाना कर देता है। बन्धुदत्त वहीं रह जाता है। मार्ग में जहाज तूफान में फँस जाता है, पर जिस किसी तरह बन्धुदत्त धनराशि के साथ

१, नाणपंचमी कहा १०।५८।

गजपुर पहुँच जाता है। वह भविष्यानुरूपा को अपनी भावी पत्नी घोषित करता है और निकट भविष्य में शीघ्र ही उसके विवाह की तिथि निश्चित हो जाती है। इधर भविष्यदत्त एक पक्ष की सहायता से गजपुर पहुँचता है। वह राजा भूपाल के दरबार में बन्धुदत्त की शिकायत करता है और प्रमाण उपस्थित कर अपनी सत्यता सिद्ध करता है। भविष्यानुरूप भविष्यदत्त को मिल जाती है। राजा भविष्यदत्त से प्रसन्न हो जाता है और उसे आधा राज्य देकर अपनी कन्या सुतारा का विवाह भी उसके साथ कर देता है। भविष्यदत्त दोनों पत्नियों के साथ आनन्दपूर्वक समययापन करता है। निर्मलबुद्धि मुनि से अपनी पूर्वभवावली सुनकर वह विरक्त हो जाता है और प्रव्रज्या धारण कर घोर तपश्चरण करता है। आयुक्षय कर सातवें स्वर्ग में हेमांगद देव होता है। कमलश्री और भविष्यानुरूपा भी मरण कर देवगति प्राप्त करती हैं। कथा में आगे की भावावली का भी वर्णन मिलता है।

अवशेष नौ कथाएँ भी ज्ञानपञ्चमी व्रत के माहात्म्य के दृष्टान्त के रूप में लिखी गई हैं। सभी कथाओं का आरम्भ, अन्त और शैली प्रायः एक-सी है, जिससे कथाओं की सरसता क्षीण हो गयी है। एक बात अवश्य है कि लेखक ने बीच-बीच में सूक्तियों, लोकोक्तियों एवं मर्मस्पर्शी गाथाओं की योजना कर कथाप्रवाह को पूर्णतया गतिशील बनाया है। कथानकों की योजना में भी तर्कपूर्ण बुद्धि का उपयोग किया है। सत् और असत् प्रवृत्तियों वाले व्यक्तियों के चारित्रिक द्वन्द्वों को बड़े सुन्दर रूप में उपस्थित किया है। भविष्यदत्त और बन्धुदत्त; कमलश्री और सरूपा दो विरोधी प्रवृत्तियों के पुरुष एवं स्त्रियों के जोड़े हैं। कथाकार ने सरूपा में सपत्नी सुलभ ईर्ष्या का और कमलश्री में दया का सुन्दर चित्राङ्कन किया।

प्रथम कथा में नारी की भावनाओं, चेष्टाओं एवं विचारों का अच्छा निरूपण हुआ है। कथातत्त्व की दृष्टि से भी यह कथा सुन्दर है। दूसरी नन्दकथा में नन्द का शील उत्कर्ष पाठकों को मुग्ध किये बिना नहीं रहेगा। तीसरी भद्राकथा में कथा के तत्त्व तो पाये जाते हैं, पर चरित्रों का विकास नहीं हो पाया है। इसमें कौतूहल और मनोरञ्जन दोनों तत्त्वों का समावेश है। वीर-कहा और कमला-कहा में कथानक रूढ़ियाँ प्रयुक्त हैं तथा आन्तरिक द्वन्द्वों का निरूपण भी किया गया है। गुणानुरागकहा एक आदर्श कथा है। नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के प्रति आकृष्ट होना मानवता है। जिस व्यक्ति में उदारता, दया, दाक्षिण्य आदि गुणों की कमी हैं; वह व्यक्ति मानव कोटि में नहीं आता है। विमल और धरण कहाओं में कथा का प्रवाह बहुत तीव्र है। लघु कथाएँ होने पर भी इनमें कथारस की न्यूनता नहीं है।

इस कथा-कृति की सभी कथाओं में अलौकिक सत्ताओं एवं शक्तियों का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। इस कारण कथात्मक रोचकता के रहने पर भी मानव-सिद्ध

सहज सुलभता नहीं आ पायी है। इन समस्त कथाओं की अधिकांश घटनाएं पुराणों के पृष्ठों से ली गयी है। चरित्र, वार्तालाप और उद्देश्यों का गठन कथाकार ने अपने ढंग से किया है। 'भविस्सयत्तकहा' इन सभी कथाओं में सुन्दर और मौलिक है। मानव के छल-कपट और रागद्वेषों के वितान के साथ इसमें मनुष्यता और उसकी संस्थाओं का विकास सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है। इन कथाओं में मानव जीवन के मध्याह्न की स्पष्टता चाहे न मिले, पर उसके भोर की धुँधलाहट अवश्य मिलेगी। काव्यात्मक कल्पनाएँ भी इस कृति में प्रचुर परिमाण में विद्यमान हैं।

कवि ने इस कृति में नीति और सूक्ति गाथाओं का सुन्दर समावेश किया है। यहाँ उदाहरणार्थ दो-एक नीति गाथाएँ उद्धृत की जाती हैं :—

वयणं कज्जविहूणं धम्मविहूणं च माणुसं जम्मं।
निरवच्चं च कलत्तं तिन्नि वि लोए ण अग्घंति ॥ १०।१९१

कार्यहीन वचन, धर्महीन मनुष्य, जन्म और सन्तानहीन स्त्री ये तीनों ही लोक में मान्य नहीं होते हैं।

नेहो बंधणमूलं नेहो लज्जाइनासओ पावो।
नेहो दोग्गइमूलं पइदियहं दुक्खओ नेहो ॥ १।७५

समस्त बन्धन का कारण स्नेह हैं, स्नेहाधिक्य से ही लज्जा नष्ट हो जाती है, स्नेहातिरेक ही दुर्गति का मूल है और स्नेहाधीन होने से ही मनुष्य को प्रतिदिन दुःख प्राप्त होता है।

कहारयणकोष

देवभद्रसूरि या गुणचन्द्र की तीसरी रचना कथारत्नकोष है। वि० सं० ११५८ में भरुकच्छ (भड़ौच) नगर के मुनिसुव्रत चैत्यालय में इस ग्रन्थ की रचना की गयी है। प्रशस्ति में बताया है—

वसुवाण रुद्दसंखे वच्चंते विक्कमाओ कालम्मि।
लिहिओ पढमम्मि य पोत्थयम्मि गणिअमलचंदेण ॥

—कथा० र० प्रशस्ति गा० ९।

इस कथारत्नकोष में कुल ५० कथाएँ हैं। इस ग्रन्थ में दो अधिकार हैं—धर्माधिकारि सामान्य गुणवर्णनाधिकार और विशेष गुणवर्णनाधिकार। प्रथम अधिकार में ३३ कथाएँ और द्वितीय में १७ कथाएँ हैं। सम्यक्त्व के महत्त्व के लिए नरवर्मनृप की कथा, शङ्कातिचार दोष के परिमार्जन के लिए मदनदत्त वणिक् की कथा, कांक्षातिचार परिमार्जन के लिए नागदत्त कथा, विचिकित्सातिचार के लिए गङ्गवसुमती की कथा, मूढ़दृष्टित्वातिचार के लिए शंखकथानक, उपबृंहातिचार के लिए रुद्राचार्यकथा, स्थिरीकरणातिचार के लिए भवदेवराजर्षि कथा, वात्सल्य गुण के लिए धनसाधु कथा, प्रभावनातिचार

के लिए अचल कथा, पञ्चनमस्कार के लिए श्रीदेवनृप कथा, जिनबिम्बप्रतिष्ठा के लिए महाराज पद्म की कथा, जिनपूजा के लिए प्रभंकर कथा, देवद्रव्यरक्षण के लिए भ्रातृद्वय कथा, शास्त्रश्रवण के लिए श्रीगुप्त कथा, ज्ञानदान के लिए धनदत्त कथा, अभयदान का महत्त्व बतलाने के लिए जयराजर्षि कथा, यति को उपष्टम्भ देने के लिए सुजयराजर्षि कथा, कुगृहत्याग के लिए विलोमोपाख्यान, मध्यस्थगुण की चिन्ता के लिए अमरदत्त कथा, धर्मार्थिव्यतिरेक चिन्ता के लिए सुन्दर कथा, आलोचक पुरुषव्यतिरेक के लिए धर्मदेव कथा, उपायचिन्ता के लिए विजयदेव कथा, उपशान्त गुण की अभिव्यक्ति के लिए सुदत्ताख्यान, दक्षत्व गुण की अभिव्यक्ति के लिए सुरशेखरराजपुत्र कथा, दाक्षिण्य गुण की महत्ता के लिए अभयदेव कथा, धैर्य गुण की चिन्ता के लिए महेन्द्रनृप कथा, गाम्भीर्यगुण की चिन्ता के लिए त्रिजयाचार्य कथा, पञ्चेन्द्रियों की विजय बतलाने के लिए सुजससेठ और उसके पुत्र की कथा, पैशुन्य दोष के त्याग का महत्त्व बतलाने के लिए धनपाल-बालचन्द्र कथा, परोपकार का महत्त्व बतलाने के लिए भरतनृप कथा, विनयगुण की अभिव्यञ्जना के लिए सुलसाख्यान, अहिंसागुणव्रत के स्वरूप विवेचन के लिए यज्ञदेव कथा, सत्यागुणव्रत के महत्त्व के लिए सागरकथा, अचौर्याणुव्रत के लिए परशुराम कथा, ब्रह्मचर्याणुव्रत के लिए सुरप्रिय कथा, परिग्रहपरिमाणुव्रत के लिए धरण कथा, दिग्व्रत के लिए भूति और स्कन्द की कथा, भोगोपभोगपरिमाणव्रत के लिए मेहश्रेष्ठि कथा, अनर्थदण्ड त्याग के लिए चित्रगुप्त कथा, सामयिक शिक्षा के लिए मेघरथ कथा, देशावकाश के लिए पवञ्जय कथा, प्रौषधोपवास के लिए ब्रह्मदेव कथा, अतिथिसंविभागव्रत के लिए नरदेव चन्द्रदेव की कथा, द्वादशावर्त और वन्दना का फल दिखलाने के लिए शिवचन्द्रदेव कथा, प्रतिक्रमण के लिए सोमदेव कथा, कायोत्सर्ग का महत्त्व बतलाने के लिए शशिराज कथा, प्रत्याख्यान के लिए भानुदत्त कथा एवं प्रव्रज्या के निमित्त उद्योग करने के लिए प्रभाचन्द्र की कथा आयी है।

इस कथा-ग्रन्थ की सभी कथाएँ रोचक हैं। उपवन, ऋतु, रात्रि, युद्ध, श्मशान, राजप्रासाद, नगर आदि के सरस वर्णनों के द्वारा कथाकार ने कथा-प्रवाह को गतिशील बनाया है। जातिवाद का खण्डन कर मानवतावाद की प्रतिष्ठा इन सभी कथाओं में मिलती है। जीवनशोधन के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति आदर्शवादी हो। इस कृति की समस्त कथाओं में एक ही उद्देश्य व्याप्त है। वह उद्देश्य है आदर्श गार्हस्थिक जीवन-यापन करना। इसी कारण शारीरिक सुखों की अपेक्षा आत्मिक सुखों को महत्त्व दिया गया है। भौतिकवाद के घेरे से निकालकर कथाकार पाठक को आध्यात्मिक क्षेत्र में ले जाता है। सम्यक्त्व, व्रत और संयम के शुष्क उपदेशों को कथा के माध्यम से पर्याप्त सरस बनाया है। धार्मिक कथाएँ होने पर भी सरसता गुण अक्षुण्ण है। कथानकों की क्रमबद्धता बहुत ही शिथिल है। टेकनिक भी पुरानी है। हाँ, धर्म-

कथाकार होने पर भी अपनी सृजनात्मक प्रतिभा का परिचय देने में लेखक पूरा तत्पर है।

साहित्यिक महत्त्व की अपेक्षा इन कथाओं का सांस्कृतिक महत्त्व अधिक है। जिस गुण या व्रत की महत्ता बतलाने के लिए जो कथा लिखी गयी है, उस गुण या व्रत का स्वरूप, प्रकार, उपयोगिता प्रभृति उस कथा में निरूपित है। मुनि पुण्यविजयजी ने अपनी प्रस्तावना में इस ग्रन्थ की विशेषता बतलाते हुए लिखा है—

"बीजा कथाकोशग्रन्थोमां एकनी एक प्रचलित कथाओ संग्रहाएली होय छे त्यारे आ कथासंग्रहमां एक न थी; पण कोई-कोई आपवादिक कथाने बाद करीए तो लगभग बधीज कथाओ अपूर्व ज छे; जे बीजे स्थले भाग्येज जोवामां आवे आ बधी धर्मकथाओ ने नाना बालकोवी बाल-भाषामां उतारवामां आवे तो एक सारी जेवी बालकथानी श्रेणि तैयार थई शके तेम छे।"

इसकी कुछ कथाएँ अनेकार्थी हैं। इनमें रसों की अनेकरूपता और वृत्तियों की विभिन्नता विद्यमान है। नागदत्त के कथानक में कुलदेवता की पूजा के वर्णन के साथ नागदत्त की कष्ट सहिष्णुता और कुलदेवता को प्रसन्न करने के निमित्त की गयी पाँच दिनों तक निराहार उपासना उस काल के रीति-रिवाजों पर ही प्रकाश नहीं डालती है, किन्तु नायक के चरित्र और वृत्तियों को भी प्रकट करती है। सुदत्त कथा में गृहकलह का प्रतिपादन करते हुए गार्हस्थिक जीवन के चित्र उपस्थित किये गये हैं। कथानक इतना रोचक है कि पढ़ते समय पाठक की बिना किसी आयास के इसमें प्रवृत्ति होती है। सास, बहू, ननद और बच्चों के स्वाभाविक चित्रण में कथाकार ने पूरी कुशलता प्रदर्शित की है। सुजसश्रेष्ठि और उसके पुत्रों की कथा में बालमनोविज्ञान के अनेक तत्त्व वर्तमान हैं। धनपाल और बालचन्द्र की कथा में वृद्धविलासिनी वेश्या का चरित्र बहुत सुन्दर चित्रित हुआ है।

यह ग्रन्थ गद्य-पद्य दोनों में लिखा गया है। पद्य की अपेक्षा गद्य का प्रयोग कम हुआ है। अपभ्रंश और संस्कृत के प्रयोग भी यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। शैली में प्रवाह गुण है।

नम्मयासुन्दरीकहा

इस कथा के रचयिता महेन्द्रसूरि हैं और रचनाकाल वि० सं० ११८७ है। यह गद्य-पद्यमय है, किन्तु पद्यों की प्रधानता है। इसमें १११७ पद्य हैं और कुल ग्रन्थ का प्रमाण १७५० श्लोक हैं। इसमें महासती नर्मदा सुन्दरी के सतीत्व का निरूपण किया गया है।

---

१. सिंघीग्रन्थमाला से ग्रन्थांक ४८ में प्रकाशित।

कथावस्तु---नायिका सुन्दरी का विवाह महेश्वरदत्त के साथ हुआ। महेश्वरदत्त नर्मदा सुन्दरी को साथ लेकर धन कमाने के लिए भवनद्वीप गया। मार्ग में अपनी पत्नी के चरित पर आशंका हो जाने के कारण उसने उसे सोते हुए वहीं छोड़ दिया। नर्मदा सुन्दरी जब जागी तो अपने को अकेला पाकर विलाप करने लगी। कुछ समय पश्चात् उसे उसका चाचा वीरदास मिला और वह नर्मदा सुन्दरी को बब्बरकूल ले गया। यहाँ पर वेश्याओं का एक मोहल्ला था, जिसमें सात सौ वेश्याओं की स्वामिनी हरिणी नामक वेश्या रहती थी। सभी वेश्याएँ धनार्जन कर उसे देती थीं और वह अपनी आमदनी का चतुर्थांश राजा को कर के रूप में देती थी। हरिणी को जब पता लगा कि जम्बूद्वीप का वीरदास नामक व्यापारी आया है, तो उसने अपनी दासी को भेजकर वीरदास को आमन्त्रित किया। वीरदास ने आठ सौ द्रम्म दासी के द्वारा भिजवा दिये, पर वह नहीं गया। हरिणी को यह बात बुरी लगी। दासियों की दृष्टि नर्मदासुन्दरी पर पड़ी और वे युक्ति से उसे भगाकर अपनी स्वामिनी के पास ले गयीं। वीरदास ने नर्मदासुन्दरी की बहुत तलाश की, पर वह उसे न पा सका। इधर हरिणी नर्मदासुन्दरी को वेश्या बनने के लिए मजबूर करने लगी। कामुक पुरुषों द्वारा उसका शील-भंग कराने की चेष्टा की गयी, पर वह अपने व्रत पर अटल रही।

करिणी नामक एक दूसरी वेश्या को नर्मदासुन्दरी पर दया आयी और उसे अपने यहाँ रसोई बनाने के कार्य के लिए नियुक्त कर दिया। हरिणी की मृत्यु के अनन्तर वेश्याओं ने मिलकर नर्मदासुन्दरी को प्रधान गणिका के पद पर प्रतिष्ठित किया। बब्बर के राजा को जब नर्मदासुन्दरी के अनुपम सौन्दर्य का पता लगा तो उसने उसे पकड़वाने के लिये अपने दण्डधारियों को भेजा। वह स्नान और वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो शिविका में बैठकर राजा के यहाँ के लिए रवाना हुई। मार्ग में एक बावड़ी में पानी के लिए उतरी। वह जानबूझकर एक गड्ढे में गिर गयी और उसने अपने शरीर से कीचड़ लपेट ली और पागलों का अभिनय करने लगी। राजा ने भूतबाधा समझ कर उपचार किया, पर उसे कोई लाभ न हुआ। नर्मदासुन्दरी हाथ में खप्पर लेकर पागलों के समान भिक्षाटन करने लगी। अन्त में उसे जिनदेव नामक श्रावक मिला। नर्मदासुन्दरी ने अपना समस्त आख्यान उससे कहा। धर्मबन्धु जिनदेव ने उसे वीरदास के पास पहुँचा दिया। नर्मदासुन्दरी को संसार से बहुत विरक्ति हुई और उसने सुहस्ति सूरि के चरणों में बैठकर श्रमणदीक्षा ग्रहण कर ली।

आलोचना—इस कथा में कथानक का उतार-चढ़ाव पूर्णतया पाया जाता है। नायिका के शीलव्रत की परीक्षा के अनेक अवसर आते हैं, पर वह अपने व्रत में अटल है। महेश्वरदत्त का पुरुष और शंकाशील व्यक्ति है। उसे अकारण ही अपनी पत्नी के आचरण

पर शंका उत्पन्न होती है। कवि ने कथावस्तु के गठन और चरित्र-चित्रण, इन दोनों में अपनी पूर्ण कुशलता प्रदर्शित की है। वार्तालाप बड़े ही सजीव हैं।

कथातत्त्वों की अपेक्षा इसमें काव्यतत्त्व भी प्रचुर परिणाम में पाये जाते हैं। नर्मदासुन्दरी के रूप का वर्णन द्रष्टव्य है।

छणचंदसमं वयणं तीसे जइ साहियो सुयणु तुज्झ।
तो तक्कलंकपंको तम्मि समारोविओ होइ॥ २०१॥
संबुक्कसमं गीवं रेहातिगसंजुय त्ति जइ भणिमो।
वंकत्तणेण सा दूसिय त्ति मन्नइ जणो सव्वो॥ २०२॥
करिकुंभविब्भमं जइ तीसे वच्छत्थलं च जंपामो।
तो चम्मथोरयाफासफरुसया ठाविया होइ॥ २०३॥
विल्लहुलकमलनालोवमाउ बाहाउ तीएँ जो कहइ।
तो तिक्खकंट याहिट्ठियत्तदोसं पयासेइ॥ २०४॥
किंकिल्लिपल्लवेहिं तुल्ला करपल्लवि त्ति बितेहिं।
नियमा निम्मलनहमणिमंडणयं होइ अंतरियं॥ २०५॥

—यदि उसके मुख को चन्द्रमा के समान कहा जाय तो चन्द्रमा में कलंक रहता है, अतः मुख पर भी कलंक का आरोप हो जायगा। यदि शंख के समान उसकी गर्दन को कहा जाय तो शंख वक्र होता है, अतः उसकी ग्रीवा में भी वक्रत्व आ जायगा। यदि उसके वक्षस्थल को करिकुम्भ के समान कहा जाय तो उसमें रुक्ष स्पर्श का दोष आ जायगा। उसकी बाहुओं को कमलनाल कहा जाय तो तीक्ष्ण कण्टक कमलनाल में रहने से बाहुओं में दोष आ जायगा। यदि हाथ की हथेलियों को अशोक-पल्लव कहा जाय तो भी उचित नहीं है। वस्तुतः नर्मदा सुन्दरी संसार की समस्त सुन्दर वस्तुओं के सारभाग से निर्मित हुई थी।

गद्य-भाग भी पर्याप्त प्रौढ़ है। कवि महेन्द्र सूरि ने ऋषिदत्ता की यौवनश्री का चित्रण करते हुए लिखा है :—

'इत्थंतरे रिसिदत्ता संपत्ता तरुणजणमणमयकोवणं जोव्वणं—जायाइं तसियकुरंगिलोअणसरिच्छाइं चंचलाइं लोयणाइं, पाउब्भूओ पओहरुग्गमो, खामीभूओ मज्झभागो पसाहिओ य तीहिं बलयरेहाहिं, समुट्ठिया य नाभिपउमस्स नालायमाणा रोमराई, पवित्थरियं नियंबफलयं, अलंकियाओ जंघाओ हंसगमणलीलाए। किं बहुणा ? उक्कंठियाए व्व सव्वंगमालिंगिया एसा जोव्वणलच्छीए।'[1]

1. नम्मयासुन्दरीकहा, सिंघीसीरिज, पृ० ३-४।

ऋषिदत्ता का युवकों के मन को क्षुब्ध करनेवाला यौवन आरम्भ हुआ। त्रस्त हरिणी के समान उसके चंचल नेत्र हो गये, पयोधर—स्तन उभड़ आये, कटिभाग क्षीण हो गया, उदर पर त्रिवली शोभित होने लगी, नाभि कमल के चारों ओर रोमराजि सुशोभित होने लगी, नितम्ब विस्तृत हो गये और जंघाएँ हंसगमन लीला के योग्य सुशोभित हो गईं। अधिक क्या यौवनश्री ने उत्कंठापूर्वक उसके समस्त शरीर का आलिंगन किया।

नर्मदासुन्दरी तर्कपूर्वक वीतरागी देव की पूजा-अर्जा का समर्थन करती है। महेश्वरदत्त कहता है कि वीतरागी देव रुष्ट नहीं होते, अतः वे किसी को दण्ड नहीं दे सकते। वीतरागी का प्रसन्न होना भी सम्भव नहीं है, अतः वह आराधना करनेवाले को कुछ फल भी नहीं दे सकता है। इस स्थिति में वीतरागी की पूजा करने से क्या लाभ ? इस शंका का सयुक्तिक उत्तर देती हुई नर्मदा सुन्दरी कहती है कि मणि, मन्त्र, तन्त्र अचेतन हैं, फिर भी आराधक की भावना के अनुसार फल प्रदान करते हैं। जो विधिपूर्वक उनकी आराधना करता है, उसे इच्छित फल प्राप्त होता है और जो विधिपूर्वक अनुष्ठान नहीं करता, उसे अनिष्ट फल मिलता है। इसी प्रकार वीतरागी की उपासना से भी इष्ट फल प्राप्त हो जाता है :—

तुम्ह संतिओ, वीयरागदेवो न रुट्ठो निग्गहसमत्थो, न तुट्ठो कस्स वि पसिज्जइ। ता किं तस्साराहणेण ? तो नम्मयासुंदरीए भणियं—'एए हासतो-ससावाणुग्गहपयाणभावा सव्वजणसामन्ना, ता देवाण जणस्स य को विसेसो ? जं च भणसि "सावाणुग्गहपयाणविगलस्स किमाराहणेण ?" तत्थ सुण। मणिमंताइणो अचेयणा वि विहिसेवगस्स समीहिदफलदाइणो भवंति, अविहि-सेवगस्स अवयारकारिणो भवंति। एवं वीयरागा वि विहिअविहिसेवगाण कल्ला-णाकल्लाणकारणं संपज्जंति।' पुणो भणियं महेसरदत्तेण—'जइ न रूससि ता अन्नं किं किं पि पुच्छामि।' तीए भणियं—'पुच्छहि को धम्मवियारे' रूसणस्सा-वगासो ?' इयरेण भणियं—'जइ तुम्ह देवो वीयरागो ता कीसन्हाइ कीसगंध-पुप्फाइनट्टगीयाइं वा पडिच्छइ।' तओ ईसि हसिऊण भणियं नम्मयाए—'अहो निउणबुद्धीओ तुमं अओ चेव अरिहो सि धम्मवियारस्स, ता निसामेह परमत्थं। अरहंता भगवंतो मुत्तिपयं संपत्ता। न तेसिं मोगुवमोगेहिं पओयणं। जं पुण तप्पडिमाणं ण्हाणाइ कीरइ एस सव्वो वि ववहारो सुहभावनिमित्तं धम्मियजणेण कीरइ, तओ चेव सुहसंपत्ती भवइ त्ति।'[1]

वस्तुतः यह कथाकृति चम्पू शैली में निर्मित है। उत्सव, मंगलपाठ, यात्रा, प्रलाप, बिरह-व्यथा, अरण्य, नगर प्रभृति का चित्रण काव्यरूप में किया गया है। नर्मदा सुन्दरी

१. वही, पृ० २३–२४।

के विवाहोत्सव का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। इस अवसर पर घर-घर में तोरण बाँधे गये थे, घर-घर में मंगलवाद्य बज रहे थे, परमानन्द का प्रवाह सर्वत्र व्याप्त था। यथा—

तमायन्निऊण[1] नम्मयासुंदरीए विवाहो त्ति हरिसिओ नयरलोगो। उब्भियाइं घरे-घरे तोरणाइं, ठाणे ठाणे पिणद्धाओ वंदणमालाओ, मंदिरे मंदिरे पवज्जियाइं मंगअतूराइं, पणच्चियाओ सूहवनारीओ, जाओ परमाणंदसमुद्दनिबुड्डो इव सुहियओ पुरिसवग्गो।

वज्जंततूरमणहरं, नच्चंतलोयसुहयरं;
पढंतभट्टचट्टयं, पए पए पयट्टयं;
पमोइयासेसमग्गणं, जणसंवाहविसट्टहारखंडमंडियघरंगणं;
कीरंतकोउयमंगलसोहणं, सयलपेच्छय जणमणमोहणं॥

कवि ने कथानक को सुन्दर ढंग से सजाने में कमनीय काव्यकला का विन्यास किया है। कथा को सरस बनाने के लिये बीच-बीच में सूक्तियों का प्रयोग भी किया गया है। उदाहरणार्थ दो-एक सूक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं।

धनेश्वर चिन्तन करता है कि परदेश में अधिक धनी बनने से भी क्या लाभ? क्योंकि धन का वास्तविक उद्देश्य तो स्वजनों का उपकार करना और दुष्टों को दण्ड देना है। जो व्यक्ति अपने धन द्वारा उक्त कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकता है, उसके धनिक होने से निकट सम्पर्कियों को क्या लाभ है? यथा—

किं तीए लच्छीए नरस्स जा होइ अन्नदेसम्मि।
न कुणइ सुयणाण सुहं खलाण दुक्खं च नो कुणइ॥ ६९५॥

धनप्राप्ति के लिये मनुष्य परदेश में नीच कर्म भी करता है, क्योंकि वहाँ कोई उसे देखनेवाला नहीं है। स्वजनों के मध्य नीच कार्य करने से लज्जा का अनुभव होता है। मनुष्य परदेश में छोटे-बड़े सभी प्रकार के कार्य करके धनार्जन कर सकता है—

उच्चं नोयं कम्मं कीरइ देसंतरे धणनिमित्त।
सहवड्ढियाण मज्झे लज्जिज्जइ नीयकम्मेण॥ ६९४॥

स्नेहपूर्वक किया गया है विवाह ही सफल होता है। जहाँ दम्पति में स्नेहभाव नहीं, वहाँ विवाह में स्थायित्व नहीं आता है:—

नेहं विणा विवाहो आजम्मं कुणइ परिदाहं॥ ३९॥

इस प्रकार कथा की समस्त घटनाओं को लेखक ने सरस बनाने का पूरा प्रयास किया है।

---

१. नम्मयासुन्दरीकहा—सिंघी जैनग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई वि० सं० २०१६, पृ० २६।

कुतूहल और जिज्ञासा गुण कथा में आद्योपान्त व्याप्त हैं। मनोरंजन तथा कथारस पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। एक अन्य नर्मदासुन्दरी कथा देवचन्द्र सूरि की भी है। यह भी पद्यबद्ध है।

कुमारपालप्रतिबोध (कुमारवालपडिबोह)

चारित्रिक निष्ठा को जागृत करने के लिए सोमप्रभ सूरि ने इस कथा-ग्रन्थ की रचना की है। सोमप्रभ का जन्म प्राग्वाट कुल के वैश्य परिवार में हुआ था। ये संस्कृत और प्राकृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। आचार्य हेमचन्द्र के उपदेश से प्रभावित होकर चालुक्य वंशी राजा कुमारपाल ने जैनधर्म स्वीकार किया था। इस कथाग्रन्थ की रचना कुमारपाल की मृत्यु के ग्यारह वर्ष के पश्चात् की गयी है। रचनाकाल वि० सं० १२४१ (ई० सन् ११८४) माना जाता है। यह कथा ग्रन्थ महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया है। बीच-बीच में संस्कृत एवं अपभ्रंश के प्रयोग भी उपलब्ध हैं। इसके पाँच प्रस्तावों में से पाँचवाँ प्रस्ताव अपभ्रंश में है। इसमें कुल ५८ कथाएँ हैं।

अहिंसाव्रत के समर्थन के लिए अमरसिंह, दामन्नक अभयसिंह और कुन्द की कथाएँ आयी हैं। इस ग्रन्थ में मूलतः वे शिक्षाएँ संग्रहीत हैं, जो समय-समय पर आचार्य हेमचन्द्र ने कुमारपाल को दी थी। श्रावक के बारह व्रतों और प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचारों का उपदेश संग्रहीत है। व्रतों का रहस्य अवगत कराने के लिए ही कथाएँ उदाहरण रूप में लिखी गयी हैं। द्यूतक्रीड़ा का दोष दिखलाने के लिए नल कथा, परस्त्री सेवन का दोष बतलाने के लिए प्रद्योत कथा, वेश्या सेवन के दोष के लिए अशोक कथा, मद्यपान का दोष बतलाने के लिए द्वारिकादहन तथा यादवकथा, चोरी के दोष के लिये वरुणकथा, देवपूजा का माहात्म्य बतलाने के लिये देवपाल कथा, सोम-भीम कथा, पद्मोत्तर कथा और दीपशिख की कथाएँ आयी हैं। सुपात्रदान के लिये चन्दनबाला-कथा, धन्यककथा और कृतपुण्यकथा; शीलव्रत के महत्त्व को सूचित करने के लिये शीलवती कथा, मृगावती कथा, ताराकथा जयसुन्दरी कथा और तापसी रुक्मिणी कथा; क्रोध का भयंकर परिणाम दिखलाने के लिए सिंह व्याघ्रकथा, मान का परिणाम बतलाने के लिए गोधन कथा, माया के लिये नागिनी कथा, लोभ के दुष्परिणाम के लिए सागर श्रेष्ठि कथा एवं द्वादशव्रतों के लिए द्वादश कथाएँ आयी हैं। अन्त में विक्रमादित्य, स्थूलभद्र, दशार्णभद्र कथाएँ भी निबद्ध हैं।

यद्यपि इन कथाओं का सम्बन्ध मूलकथा कुमारपाल सम्बोध के साथ जुड़ा हुआ है, तो भी ये स्वतन्त्र हैं। इन कथाओं में सभी प्रकार के पात्र आये हैं और उन पात्रों का चरित्र भी स्पष्ट अंकित हुआ है। उपदेश तत्त्व की प्रधानता रहने के कारण शारी-

१. सन् १९२० में गायकबाड़ ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा से प्रकाशित।

रिक, मानसिक और आध्यात्मिक वातावरण में जनसमुदाय की चेतना के बीच क्या सम्बन्ध है, दोनों के पारस्परिक सम्पर्क से कौन-कौन सी क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं, इसकी सजीव उपलब्धि नहीं हैं, पर कथानकों का चयन आत्मनिष्ठा की आन्तरिक गहराई में प्रविष्ट हो चेतना की आवेगमयी तरलता के रूप में किया गया है। मनुष्य के भीतर भाव और विचारों का जो भावात्मक प्रवाह चला करता है, उसे भाषा में बाँधने की पूरी चेष्टा की गयी है। आत्मनिष्ठ जटिल-भावों की अत्यधिक निवृत्ति और मानसिक संवेदनाओं के विस्तृत विवरण रहने के कारण जीवन के उन्नायक तत्त्वों की कमी है, जिससे आन्तरिक चेतना का प्रवाह चरमलक्ष्य की ओर नहीं बढ़ सका है।

चरित्रों की विविधता भी पाठक को एक बिन्दु पर नहीं ठहरने देती है, फिर भी नैतिक उत्थान एवं चरित्र परिमार्जन के लिए किया गया प्रयास प्रशंसनीय है। भाग्य की प्रबलता और कर्म की दुर्निवार्यता की अभिव्यक्ति के लिये व्रतों के अनुष्ठानों का निरूपण किया गया है। धर्म को जीवन का अभिन्न अंग बतलाने के लिए तथा जीवन में धार्मिक कृत्यों एवं विधि-विधानों को महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने के लिए मूलदेव, अमरसिंह लक्ष्मी और कूलवाल की कथाएँ विशुद्ध लोककथाएँ कही जा सकती हैं।

इस कथा ग्रन्थ में शीलवती की बहुत सुन्दर कथा आयी है। बताया गया है कि यह अजितसेन की पत्नी थी। एक दिन आधी रात के समय घड़ा लेकर अपने घर के बाहर गयी और बहुत बिलम्ब के बाद लौटी। उसके श्वसुर को जब इस बात का पता लगा तो उसे शीलवती के चरित्र पर आशङ्का हुई और उसने विचार किया कि दुश्चरित्र बहू को घर में रखना ठीक नहीं है। अतः वह बहू को रथ में बैठाकर उसके नैहर पहुँचाने के लिए चल दिया। मार्ग में एक नदी आयी। शीलवती के श्वसुर ने अपनी पतोहू से कहा—'तुम जूते उतार कर नदी पार करो;' किन्तु उसने जूते नहीं उतारे। श्वसुर ने सोचा बहू बड़ी अविनीता है। आगे चलने पर मूंग का एक खेत मिला। श्वसुर ने कहा—"देखो यह खेत कितना अच्छा फल रहा है। खेत का मालिक इस धन का उपयोग करेगा।" शीलवती ने उत्तर दिया—"बात ठीक हैं, पर यह यदि खाया न जाय तो।" श्वसुर सोचने लगा कि बहू ऊट-पटांग बातें करती है। आगे चलकर वे एक नगर में पहुँचे। वहाँ के लोगों को आनन्दमग्न देखकर श्वसुर ने कहा—"यह नगर कितना सुन्दर है।" शीलवती ने उत्तर दिया—'ठीक है, पर कोई इसे उजाड़ न दे तो।" कुछ दूर और आगे चलने पर उन्हें एक कुलपुत्र मिला। श्वसुर ने कहा—"यह कितना शूरवीर हैं।" शीलवती ने उत्तर दिया, "यदि पीटा न जाय तो।" कुछ दूर और आगे चलने के अनन्तर शीलवती का श्वसुर एक वटवृक्ष के नीचे विश्राम करने बैठ गया। शीलवती दूर ही बैठी रही। श्वसुर ने विचार किया कि यह सदा

उलटा ही काम करती है। थोड़ी दूर और चलने के पश्चात् वे लोग एक गाँव में पहुँचे। इस गाँव में शीलवती के मामा ने उसके श्वसुर को बुलाया। भोजन करने के पश्चात् उसका श्वसुर रथ के अन्दर लेट गया और शीलवती रथ की छाया में बैठा गयी। इसी समय बबूल के पेड़े पर बैठे हुए एक कौवे ने काँव-काँव की आवाज की। उसकी इस आवाज को सुनकर शीलवती ने कहा—

"अरे तू थकता क्यों नहीं। एक बार पक्षियों की बोली सुनकर कार्य करने से तो मुझे घर से निकाला जा रहा है, अब क्या दुबारा तुम्हारी बोली को सुनकर आचरण करूँ? आधी रात के समय गीदड़ का शब्द सुनकर मुझे पता चला कि एक मुर्दा पानी में बहा जा रहा है और उसके शरीर पर बहुमूल्य आभूषण हैं। मैं शीघ्र ही घड़ा लेकर नदी पर पहुँची और मुर्दे के शरीर से आभूषण उतारकर अपने पास रख लिये। इस प्रकार एक बार पशु-पक्षियों की बोली के अनुसार कार्य करने से तो यह विपत्ति आयी। अब तुम कौवे कह रहे हो कि इस बबूल के वृक्ष की जड़ में बहुत सा सुवर्ण गड़ा हुआ है। क्या इसे लेकर और विपत्ति मोल लूं।"

शीलवती का श्वसुर इन समस्त बातों को सुन रहा था, वह मन ही मन बहुत प्रसन्न हुआ। उसने बबूल के पेड़ के नीचे से गड़ा हुआ धन निकाल लिया। वह पुत्रबधू की प्रशंसा करने लगा और उसे रथ में बैठाकर वापस ले आया। मार्ग में उसने शीलवती से पूछा—'तुम बड़ की छाया में क्यों नहीं बैठी?' शीलवती ने उत्तर दिया—"वृक्ष की जड़ में सर्प का भय रहता है और ऊपर से पक्षी बीट करते है, अतः दूर बैठना ही बुद्धिमत्ता है। अनन्तर श्वसुर ने कुलपुत्र के सम्बन्ध में पूछा। शीलवती ने उत्तर दिया—"शूरवीर मार खाते हैं और पीटे जाते हैं, पर वास्तविक शूर वही है, जो पहले प्रहार करता है।" नगर के सम्बन्ध में उसने बताया कि जिस नगर के लोग आगन्तुकों का स्वागत नहीं करते, उसे नगर नहीं कहा जाता।" नदी के सम्बन्ध में उसने उत्तर दिया—"नदी में जीव-जन्तु और काँटों का डर रहता है, अतः नदी पार करते समय मैंने जूते नहीं उतारे।"

शीलवती की उपर्युक्त बातों से उसका श्वसुर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उसे घर की स्वामिनी बना दिया।

इस कथा ग्रन्थ की समस्त कथाओं में निम्न गुण वर्तमान हैं—

१. जिज्ञासा और कौतूहल का निर्वाह।

२. सुन्दर और सरस संवादों की योजना।

३. लघुकथानकों के बीच आदर्श चरितों की स्थापना।

४. उपदेशों के रहने से कथा रस की कमी; पर सांस्कृतिक सामग्री की प्रचुरता।

५. लोककथानकों में धार्मिक व्रतों का महत्त्व योजित कर उनका नये रूप में प्रस्तुतीकरण।

६. गद्य-पद्य का प्रयोग तथा पद्यों में नीति एवं उपदेशों का समावेश।

इस ग्रन्थ की शैली का उदाहरण निम्नलिखित है—

जओ-सयल-कला-सिरोमणि-भूयं सउण-रुयं अहं सुणोमि। तओ अइक्कंत-दिण-रयणीए सिवाए वासंतीए साहियं, जहा-नईए पूरेण वुब्भमाण मडयं कड्ढिऊण सयं आहरणाणि गिण्हसु। मम भक्खं तं खिवसु। इमं सोऊण गयाहं घेत्तूण घडगं। तं हियए दाऊण पविट्ठा नइं। कड्ढियं मडयं। गहियाणि आहरणाणि। खित्तं सिवं सिवाए। आगया अहं णिहं। आभरणाणि घडए खिविऊण निखियाणि खोणीए एवं एक्क-दुन्नयस्स पभावेण पत्ता एत्तियं भूमिं।

—कुमारपाल प्रतिबोध (तृतीय प्रस्ताव)
शीलवतीकथा

आख्यानमणिकोश

धर्म के विभिन्न अंगों को हृदयङ्गम कराने के लिए उपदेशप्रद लघु कथाओं का संकलन इस ग्रन्थ में किया गया है। इसके रचयिता नेमिचन्द्र सूरि हैं। आम्रदेव सूरि ने (ई० ११३४) में इस ग्रन्थ पर टीका लिखी है। यह टीका भी प्राकृत पद्य में है तथा मूल ग्रन्थ भी पद्यों में रचित है। टीका में यत्र-तत्र संस्कृत पद्य एवं प्राकृत गद्य भी वर्तमान है।

इसमें ४१ अधिकार और १४६ आख्यान हैं। बुद्धिकौशल को बताने के लिए चतुर्विध बुद्धि-वर्णन अधिकार में भरत, नैमित्तिक और अभय के आख्यानों का वर्णन है। दान स्वरूप वर्णन अधिकार में धन, कृतपुण्य, द्रोण, शालिभद्र, चक्रधर, चन्दना, मूलदेव और नागश्री ब्राह्मणी के आख्यान हैं। शीलमाहात्म्यवर्णन अधिकार में सीता, रोहिणी, सुभद्रा एवं दमयन्ती की कथाएँ आई हैं। तप का महत्त्व और कष्टसहिष्णुता का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए तपोमाहात्म्यवर्णन अधिकार में वीरचरित, विशल्या, शौर्य और रुक्मिणीमधु के आख्यान वर्णित हैं। विशुद्ध भावना रखने से वैयक्तिक जीवन में कितनी सफलता मिलती है तथा व्यक्ति सहज में आत्मशोधन करता हुआ लौकिक और पारलौकिक सुखों को प्राप्त करता है। सद्गति के बन्ध का कारण भी भावना ही है। इसी कारण भावना विशुद्धि पर अधिक बल दिया गया है। भावना विशुद्धि के तथ्य की अभिव्यञ्जना करने के लिए भावनास्वरूपवर्णन अधिकार में द्रमक, भरत और इलापुत्र के आख्यान संकलित हैं। सम्यक्त्ववर्णन अधिकार में सुलसा तथा जिनबिम्ब दर्शनफलाधिकार में सेज्जंभव और आर्द्रककुमार के आख्यान हैं। यह सत्य है कि श्रद्धा के सम्यक् हुए बिना जीवन की भव्य इमारत खड़ी नहीं की जा सकती है। जिस प्रकार नींव की ईंट के टेढ़ी रहने से समस्त दीवाल भी टेढ़ी हो जाती है अथवा नीचे के बर्तन के उलटा रहने से ऊपर के वर्तन को भी उलटा ही रखना पड़ता है; इसी तरह श्रद्धा के मिथ्या

रहने से ज्ञान और चरित्र भी मिथ्या ही रहते हैं। सुलसा-आख्यान जीवन में श्रद्धा का महत्त्व बतलाया है और साथ ही प्राणी किस प्रकार सम्यक्त्व को प्राप्त कर अपनी उन्नति करता है, का आदर्श भी उपस्थित करता है। जिनपूजा फलवर्णनाधिकार में दीपकशिखा, नवपुष्पक और पद्मोत्तर तथा जिनवन्दनफलाधिकार में वकुल और सेदुबक तथा साधु-वन्दन फलाधिकार में हरि की कथाएँ हैं। इन कथाओं में धर्मतत्त्वों के साथ लोककथा-तत्त्व भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। सामायिकफलवर्णनाधिकार में सम्राट् सम्प्रति एवं जिनागमश्रवणफलाधिकार में चिलातीपुत्र और रोहिणेय नामक चौरों के आख्यान हैं। इन आख्यानों द्वारा लेखक ने जीवनदर्शन का सुन्दर विश्लेषण किया है। चोरी का नीच कृत्य करनेवाला व्यक्ति भी अच्छी बातों के श्रवण से अपने जीवन में परिवर्तन ले आता है और वह अपने परिवर्तित जीवन में नाना प्रकार के सुख प्राप्त करता है। आगम के वाचन और श्रवण दोनों ही में अपूर्व चमत्कार है। नमस्कारपरावर्त्तन फलाधिकार में गाय, भैंस और सर्प के आख्यानों के साथ सोमप्रभ एवं सुदर्शन के भी आख्यान आये हैं। इन आख्यानों में जीवनोत्थान की पर्याप्त सामग्री है।

स्वाध्यायाधिकार में यव और नियमविधान फलाधिकार में दामन्नक, ब्राह्मणी, चण्डचूड़ा, गिरिडुम्ब एवं राजहंस के आख्यान हैं। मिथ्यादुष्कृतदानफलाधिकार में क्षपक, चण्डरुद्र और प्रसन्नचन्द्र एवं विनयफलवर्णनाधिकार में चित्रप्रिय और वनवासि यक्ष के आख्यान हैं। प्रवचनोन्नति अधिकार में विष्णुकुमार, वैरस्वामी, सिद्धसेन, मल्लवादी समित और आर्यखपुट नामक आख्यान हैं। जिनधर्माराधनोपदेशाधिकार में योत्करमित्र, नरजन्मरक्षाधिकार में वणिक्पुत्रत्रय तथा उत्तमजनसंसर्गिगुणवर्णनाधिकार में प्रभाकर, वरशुक और कम्बल-सबल के आख्यान हैं। इन आख्यानों में ऐतिहासिक तथ्यों का संकलन भी किया गया है। रोचकता के साथ भारतीय संस्कृति के अनेक तत्त्वों का समावेश किया गया है।

इस कथाकोश में निम्न विशेषताएँ हैं—

१. प्रायः सभी कथाएँ वर्णन प्रधान हैं। लेखक ने वर्णनों को रोचक बनाने की चेष्टा नहीं की है।

२. सभी कथाओं में लक्ष्य की एकतानता विद्यमान है।

३. आख्यानों में कारण, कार्य, परिणाम अथवा आरम्भ, उत्कर्ष और अन्त उतने विशद रूप में उपस्थित नहीं किये गये हैं, जितने लघु आख्यानों में उपस्थित होने चाहिए। पर आदर्श प्रस्तुत करने का लक्ष्य रहने के कारण कथानकों में कार्य-कारण परिणाम की पूरी दौड़ पायी जाती है।

४ कथानक सिद्धरूप में किसी एक भाव, मनःस्थिति और घटना का स्वरूप चित्र-वत् उपस्थित करते हैं। चण्डचूड का आख्यान मानव स्वभाव पर प्रकाश डालता है।

उपकोशा और तपस्वी के आख्यान में मानसिक द्वन्द्व पूर्णतया वर्तमान है। इन्द्रियवश-वर्त्तित्व को छोड़ देने से ही व्यक्ति सुखशान्ति प्राप्त कर सकता है। जीवन का उद्देश्य आत्मशोधन के साथ सेवा एवं परोपकार करना है।

५. प्राचीन पद्धति पर लिखे गये इन आख्यानों में मानव-जीवन सम्बन्धी गहरे अनुभवों की चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। सभी कोटि के पात्र जीवन के गहरे अनुभवों को लिये हुए हैं। आदर्श और यथार्थ जीवन का वैविध्य भी निरूपित है।

६. कतिपय आख्यानों में घटनाओं की सूचीमात्र है; किन्तु कुछ आख्यानों में लेखक के व्यक्तित्व की छाप है। व्यसनशतजनकयुवती अविश्वासवर्णनाधिकार में दत्तक दुहिता का आख्यान और इसी प्रकरण में आया हुआ भावट्टिका का आख्यान बहुत ही रोचक हैं। इन दोनों आख्यानों में कार्य-व्यापार की सुन्दर सृष्टि हुई है। परीकथा के सभी तत्त्व इनमें विद्यमान हैं। लेखक ने विविध मनोभावों का गम्भीरतापूर्वक निरूपण किया है। स्त्री-स्वभाव का मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है।

७. धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक नियमों की अभिव्यञ्जना कथानक के परिधान में की गयी है। वणिक्पुत्री, नाविकनन्दा और गुणमती के आख्यानों में मानसिक तृप्ति के पर्याप्त साधन हैं।

८. भारतीय पौराणिक और लोक प्रचलित आख्यानों को जैनधर्म का परिधान पहन कर नये रूप में उपस्थित किया गया है। इससे कथारस में न्यूनता आ गयी है।

९. चरित्रों के वैविध्य के मध्य अर्ध ऐतिहासिक तथ्यों की योजना की गयी है। घटनाओं को रोचक और कुतूहलवर्धक बनाया गया है। 'हत्थत्थकंकणाणं किं कज्जं दप्पणेणऽह्वा' (हाथ कंगन को आरसी क्या) और 'किं छालीए मुहे कुंभंडं माइ' (क्या बकरी के मुँह में कुम्हड़ा समा सकता है) जैसे मुहावरों के प्रयोग द्वारा रोचकता उत्पन्न की गयी है।

१०. विषय वैविध्य की दृष्टि से यह कोश प्राकृत कथाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसमें जीवन और जगत् से सम्बद्ध सभी प्रकार के तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है।

काव्यकला की दृष्टि से भी यह कथाकोष उत्तम है। अभय आख्यानों में राजगृह नगरी का काव्यात्मक वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

दाहिणभरहद्धरसारमणीवयणे विसेसयसमाणं।
सिरिरायगिहं नयरं नयरंजियजणवयं आसि॥ १॥
नीहारधराधरसिहरसरिसउत्तुंगपवरपायारो।
सहसकररहतुरंगमगमणक्खलणं जणइ जत्थ॥ २॥
पायारतलपरिट्ठियपरिहासं कंततारयुक्केरो।
जत्थ रयणीसु रेहइ निम्मलमुत्ताहलभरो व्व॥ ३॥

गयभासियं पि विगयं रायविहूणं विसिट्ठरायं पि।
हयमइसामंतं पि हु पसिद्धसामंतमइरम्मं ॥ ४ ॥
देवउलधवलमाला निम्मलकलहोयकलसकयसोहा।
सारयजलहरसिहरावलि व्व तडिसंजुया जत्थ ॥ ५ ॥
उन्नयपओहरभरो खणरुइरुइरो कलाविकयसोहो।
जत्थ विलासिणिविसरो पाउससोहं समुव्वहइ ॥ ६ ॥
वरचित्तरयणजुत्तो सुजाणवत्तो सुहारसहिओ य।
गुरुकमलासियहियओ नयरजणो जत्थ जलहि व्व ॥ ७ ॥
फलिहसिलामलकुट्टिमतलेसु पडिमागयाओ रमणीओ।
पायालपुरंधीओ व्व जम्मि दीसंति लोएण ॥ ८ ॥

—आ० म० पृ० ९

उपर्युक्त गाथाओं में उत्तुंग प्राकार, परिखा, भवन, सरोवर एवं दीवालों का काव्यमय चित्रण किया गया है।

इस नगरी में राज्य करनेवाले महाराज प्रश्रेणिक की वीरता का सजीव चित्रण करते हुए कहा है—

जस्स रिउरमणिमाणसमज्झे पजलियपयावदवजलणो।
लक्खिज्जइ दीहर-उण्हसासधूमण्हवाहेहिं ॥ ११ ॥
जस्स जयलच्छिलालसमणस्स अवमाणमसहमाण व्व।
धोयकलहोयकंता कित्ती वच्चइ दिसिमुहेसु ॥ १२ ॥
जस्स तुरंगखुररवणियखोणिउड्डीणरेणुपूरेण।
अंधारितो दिसिमुहसमेयबंभंड खंडउडं ॥ १३ ॥
झलकंतकुंतविरइय विज्जुज्जोयप्पयासियदिसोहो।
गंभीरसिंधुरघडागलगज्जियभरियभुवणयलो ॥ १४ ॥
चलचवलधवलधयवडबलायपंतिप्पहासियदियंतो।
सामंतमउडमणिकिरणफुरणकोदंडडंबरिओ ॥ १५ ॥ वही पृ० ९

इस कोश में आर्या या गाथा के अतिरिक्त उपेन्द्रवज्रा छन्द भी प्रयुक्त हैं। वृत्तिकार ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की त्रिवेणी प्रवाहित की है। ऋतु, नगर, पर्वत युद्ध, जन्मोत्सव, समुद्र, स्कन्धावार, श्मशान के वर्णनों में अलंकारों की सुन्दर योजना की गयी है। सूक्तियों का प्रयोग पाया जाता है।

किर कस्स थिरा लच्छी, कस्स जए सासयं पिए पेम्मं।
कस्स व निच्चं जीयं, भण को व ण खंडिओ विहिणा ॥

पृ० २०९, गा० ५५२

छिज्जउ सीसं अह होउ बंधणं, वयउ सव्वहा लच्छी।
पडिवन्नपालणे सुपुरिसाण जं होइ तं होउ॥

—पृ० १९६ गा० १०२

× × ×

जाई रूवं विज्जा तिन्नि वि निवडंतु गिरिगुहाविवरे।
अत्थो च्चिय परिवड्ढउ जेण गुणा पायडा हुंति॥

—पृ० २२२ गा० २१

जिनदत्ताख्यान

इस कथा कृति के रचयिता आचार्य सुमति सूरि हैं। यह पाडिच्छय गच्छीय आचार्य सर्वदेव सूरि के शिष्य थे। यह सुमतिसूरि दशवैकालिक के टीकाकार से भिन्न हैं। ग्रन्थ-कर्त्ता के समय के सम्बन्ध में निश्चितरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, पर प्राप्त हुई हस्तलिखित प्रति वि० सं० १२४६ की लिखी हुई है। अतः यह निश्चित है कि इस ग्रन्थ की रचना इससे पहले हुई है।

जिनदत्ताख्यान नाम की एक अन्य कृति भी किसी अज्ञातनामा आचार्य की मिलती है। इसकी पुष्पिका में "वि० संवत् ११८६ अद्येह श्रीचित्रकूटे लिखितेयं मणिभद्रेण यतिना यतिहेतवे साधवे वरनागाय। स्वस्य च श्रेयकारणम्। मङ्गलमस्तु वाचकजनानाम्।"

यह एक सरस कथा ग्रन्थ है। इसमें जीवन के हर्ष और शोक, शील और दुर्बलता, कुरूपता और सुरूपता इन सभी पक्षों का उद्घाटन किया गया है। लेखक ने विषयासक्त मानव को जीवन के सात्त्विक धरातल पर लाने के लिए ही इस आख्यान को लिखा है। जीवन की जटिलता, विषमता और विविधता का लेखा-जोखा धार्मिक वातावरण में ही उपस्थित किया है। साधु परिचर्या या मुनि-आहारदान से व्यक्ति अपनी कितनी शुद्धि कर सकता है, यह इस आख्यान से स्पष्ट है। जीवन शोधन के लिए व्यक्ति को किसी संबल की आवश्यकता होती है। अतः आख्यानकार ने इस सीधे कथानक में भी श्रीमती और रतिसुन्दरी के प्रणय सम्बन्ध तथा नायक द्वारा उनकी प्राप्ति के लिए किये गये साहसिक कर्मों का उल्लेख कर जीवन की विविधता के साथ दान और परोपकार का मार्ग प्रदर्शित किया है। जिनदत्त की द्यूतासक्ति और उसके परिभ्रमण का निरूपण कर लेखक ने मूल कथावस्तु के सौन्दर्य को पूरी तरह से चमकाया है। यह सत्य है कि यह आख्यान सोद्देश्य है और जिनदत्त को वसन्तपुर के उद्यान में शुभंकर आचार्य के समय दीक्षा दिलाकर मात्र आदर्श ही उपस्थित किया है। इसे फलागम की स्थिति तो कहा जा

सकता है, पर कथा की वह मार्मिकता नहीं है, जो पाठक को झटका देकर विलास और वैभव से विरक्त कर 'पेट भरो, पेटी न भरो' की ओर ले जा सके।

नायक के चरित्र में सहृदयता, निष्पक्षता और उदारता इन तीनों गुणों का समावेश है। इतना सब होते हुए भी इस आख्यान में मानव की समस्त दुर्बलताओं और सबलताओं का अंकन नहीं हो पाया है। अतः राग-द्वेष का परिमार्जन करने के लिए पाठक नायक के साथ पूर्णतया तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाया।

पात्रों के कथोपकथन तर्कपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ विमलमति और जिनदत्त का उद्यान में मनोरंजनार्थ किया गया प्रश्नोत्तररूप वार्तालाप उद्धृत किया जाता है, विमलमति ने पूछा—

'किं मरुथलीसु दुलहं ! का वा भवणस्स भूसणी भणिया। कं कामइ सेलसुआ ? कं पियई जुवाणओ तुट्ठो ॥ १०० ॥

पढियाणंतरमेव लद्धं जिणयत्तेण—'कं ता हरं'

अर्थ—मरुस्थली में कौन वस्तु दुर्लभ है ? भवन का भूषण स्वरूपा कौन है ? शैलसुता पार्वती किसको चाहती है ? प्रिया के किस अंग से युवक सन्तुष्ट रहते हैं ?

जिनदत्ता ने उत्तर दिया—'कंताहरं' अर्थात् प्रथम प्रश्न के उत्तर में कहा कि मरुभूमि में जल की प्राप्ति दुर्लभ है। द्वितिय प्रश्न के उत्तर में कहा कि घर की भूषण स्वरूपा—कन्ता—नारी है। तृतीय प्रश्न के उत्तर में कहा कि 'हरं'—शिव को पार्वती चाहती है और चतुर्थ प्रश्न के उत्तर में कहा—'कंताहरं'—कान्ताधर युवकों को प्रिय हैं।

रचना विधान की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि पूर्वजन्म के संस्कारों का फल दिखलाने के लिए जिनदत्त के पूर्वभव की कथा वर्णित हैं। घटित होनेवाली छोटी-छोटी घटनाएँ संगठित तो हैं, पर स्थापत्यकला की विशेषताएँ प्रकट नहीं हो पायी हैं। समूची कथा का कथानक ताजमहल की तरह निर्मित नहीं है, जिसकी एक भी ईंट इधर-उधर कर देने से समस्त सौन्दर्य विघटित हो जाता है। यों तो कथा में आरम्भ और अन्त भी शास्त्रीय आधार पर घटित नहीं हुए हैं, किन्तु संक्षिप्त कथोपकथन मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक हैं।

जिनदत्त का जीव पूर्वभव में अवन्ती देश के दर्शनपुर नगर में शिवधन और यशोमति के यहाँ शिवदेव नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। शिवदेव जब आठ वर्ष का था, तभी शिवधन की मृत्यु हो गई और शिवदेव ने उज्जयिनी के एक वणिक् के यहाँ नौकरी कर ली। एक दिन उसे वन में धर्मध्यान में स्थित एक मुनिराज मिले। उसने उनकी परिचर्या की और माघ पूर्णिमा के दिन उन्हें आहारदान दिया, जिस पुण्य के प्रभाव से शिवदेव वसन्तपुर में जीवदेव या जिनदास सेठ और जीवयशा सेठानी के यहाँ जिनदत्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वयस्क होने पर जिनदत्त का विवाह चम्पा नगरी के विमल सेठ की पुत्री विमलमति के साथ हुआ।

जिनदत्त ने एक दिन मनबहलाव के लिए जुआ खेला और जुए में अपार धन हार गया। धन की माँग करने पर जब घर से धन नहीं मिला, तो वह उदास हुआ। जिनदास और विमलमति को जब यह समाचार मिला तो उन्होंने धन दे दिया और जिनदास ने पुत्र को समझाते हुए कहा—'वत्स! धन का व्यय सत्कार्य में होना चाहिए, द्यूतव्यसन में नहीं।

धनहानि के कारण जिनदत्त उदास रहने लगा। उसकी अर्धाङ्गिनी विमलमति को यह खटका और मनबहलाव के हेतु वह जिनदत्त को चम्पापुर ले आई। यहाँ ससुराल में आकर भी जिनदत्त प्रसन्न न रह सका। अतः वेषपरावर्तिनी गुटिका द्वारा वेष बदल कर वह दधिपुर चला गया। यहाँ एक दरिद्र सार्थवाह के यहाँ कार्य करने लगा और अपनी सेवा से उसे प्रसन्न कर उसके साथ सिंहल गया। यहाँ पृथ्वीशेखर राजा की कन्या श्रीमती की व्याधि दूर की। राजा ने प्रसन्न होकर इस कन्या का विवाह जिनदत्त के साथ कर दिया। जिनदत्त ने यहाँ बहुत-सा धन भी अर्जित किया। लौटते समय मार्ग में दरिद्र सार्थवाह ने धोखे से जिनदत्त को समुद्र में गिरा दिया। वह समुद्र में लकड़ी के सहारे बहता चला जा रहा था कि रथनूपुर चक्रवाल नगर के विद्याधर अशोकश्री की कन्या अंगारवती के लिए वर का अन्वेषण करते हुए एक विद्याधर आया और उसने जिनदत्त को समुद्र से निकाला तथा अंगारवती के साथ विवाह कर दिया। एक दिन जिनदत्त अंगारवती के साथ विमान में सवार हो भ्रमण के लिए निकला और चम्पापुर में आया, जहाँ विमलती श्रीमती साध्वी के समक्ष व्रताभ्यास कर रही थी। वह उद्यान में उतर गया और रात्रि में अंगारवती को वहीं छोड़कर चला गया। अंगारवती भी उन दोनों के साथ व्रताभ्यास करने लगी।

एक दिन चम्पा नगरी के राजा का हाथी बिगड़ गया। राजा ने घोषणा करा दी कि जो व्यक्ति इस हाथी को वश में करेगा, उसे आधा राज्य और अपनी कन्या दूँगा। जिनदत्त बौने का रूप धारण कर वहाँ आया और उसने हाथी को वश में कर लिया। राजा को उसका कुरूप देखकर चिन्ता हुई कि इसके साथ इस सुन्दरी कन्या का विवाह कैसे किया जाय? जिनदत्त ने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया। राजा ने अपने प्रतिज्ञानुसार उसे आधा राज्य दे दिया और रतिसुन्दरी का विवाह भी उसके साथ सम्पन्न कर दिया।

कुछ समय के उपरान्त जिनदत्त अपनी चारों पत्नियों के साथ वसन्तपुर में अपने पिता के यहाँ आया। माता-पिता अपने समृद्धशाली पुत्र से मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। कुछ समय के पश्चात् शुभंकर आचार्य के समक्ष अपनी पूर्वभवावली सुनकर उसे विरक्ति हुई और उसने जिन दीक्षा धारण कर ली। आयु पूर्णकर वह स्वर्ग में देव हुआ।

यह कथा गद्य-पद्य दोनों में लिखी गई है। ग्रन्थकार ने स्वयं कहा है—

केसिंचि पियं गज्जं पज्जं केसिंचि बल्लहं होइ।
विरएमि गज्जं-पज्जं, तम्हा मज्झत्थवित्तीए॥ ८॥ पृ० १

अर्थात्—किसी को गद्य प्रिय है, किसी को पद्य प्रिय है; अतः मैं गद्य-पद्य मिश्रित मध्यम वृत्ति में इस ग्रन्थ की रचना करता हूँ।

सिरिसरिवालकहा

इस कथा ग्रन्थ के संकलिता बृहद् गच्छीय वज्रसेन सूरि के प्रशिष्य और हेमतिलक सूरि के शिष्य रत्नशेखर सूरि हैं। ग्रन्थ के अन्त में सन्नद्ध प्रशस्ति में बताया गया है कि वि० सं० १४२८ में रत्नशेखर सूरि ने इसका संकलन किया और उसके शिष्य हेमचन्द्र साधु ने इसे लिपिबद्ध किया।[1]

यह कथा बहुत ही रोचक है और इसका उद्देश्य सिद्धचक्रपूजा का माहात्म्य प्रदर्शित करना है। कथावस्तु निम्न प्रकार है।

उज्जयिनी नगरी में पृथ्वीपाल नामका राजा था। इसकी दो पत्नियाँ थीं—सौभाग्य-सुन्दरी और रूप-सुन्दरी। सौभाग्य सुन्दरी के गर्भ से सुरसुन्दरी और रूपसुन्दरी के गर्भ से मदनसुन्दरी का जन्म हुआ। सुरसुन्दरी ने मिथ्यादृष्टि के पास शिक्षा प्राप्त की और वह तथाकथित रूप में शिक्षा, व्याकरण, नाटक, गीत-वाद्य आदि सभी कलाओं में निपुण हो गयी। मदनसुन्दरी ने सम्यग्दृष्टि के पास सात तत्त्व, नव पदार्थ एवं कर्म सिद्धान्त के साथ साहित्य, व्याकरण, दर्शन आदि की शिक्षा प्राप्त की। राजा ने दोनों की परीक्षा ली। वह सुरसुन्दरी के लौकिक ज्ञान से बहुत प्रभावित हुआ और उसका विवाह कुरु जाङ्गलदेश के अन्तर्गत शंखपुरी नगरी के राजा दमितारि के पुत्र अरिदमन के साथ कर दिया। कर्म सिद्धान्त की पक्षपातिनी होने के कारण राजा मदनसुन्दरी से बहुत असन्तुष्ट हुआ और उसका विवाह एक उम्बर राजा से कर दिया, यह उम्बर कुष्ठ व्याधि से पीड़ित सात सौ कोढ़ियों के बीच रहता था। उम्बर—विशेष कुष्ठ रोग से पीड़ित होने से ही वह उम्बर राजा कहलाता था।

विवाह के पश्चात् मदनसुन्दरी उम्बर राजा के साथ ऋषभदेव भगवान् के चैत्यालय में दर्शन करने गयी और वहाँ स्थित मुनिचन्द्र नामक गुरु से सिद्धचक्र विधान करने का उपदेश लेकर आयी। उसने विधिपूर्वक सिद्धचक्र विधान सम्पन्न किया। सिद्धयन्त्र के गन्धोदक के छींटे लगते ही उम्बर राजा का कुष्ठरोग दूर हो गया। उसका शरीर कञ्चन जैसा शुद्ध निकल आया। अन्य सातसौ कोढ़ी भी स्वस्थ हो गये। विधान समाप्त होते ही

---

१. सिरिवज्जसेण गणहरपट्टपदहेमतिलयसूरीणं।
सीसेहिं रयणसेहरसूरीहिं इमाहु संकलिया॥
...............चउदस अट्ठावीसे लिहिया...॥

मदनसुन्दरी अपने पति श्रीपाल सहित मन्दिर से बाहर निकली कि उन दम्पत्ति को सड़क पर एक वृद्धा नारी मिली। कुमार श्रीपाल उसे देखकर आश्चर्यचकित हुआ और उसका चरण वन्दन कर कहने लगा माँ आप मुझे छोड़कर कहाँ चली गयी थीं? वह बोली—"वत्स! मैं तुम्हारे रोग के प्रतिकार के लिए कौशाम्बी में एक वैद्य के यहाँ गयी थी, पर वह वैद्य तीर्थयात्रा के लिए बाहर चला गया है। मैंने वहाँ एक मुनिराज से तुम्हारे रोग के सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने कहा कि पत्नी के सहयोग से तुम्हारे पुत्र का रोग दूर हो गया है। मैं मुनिराज की बात का विश्वास कर यहाँ आयी हूँ।" पश्चात् यह समाचार रूपसुन्दरी और पृथ्वीपाल को मिला। इन्होंने कुमार की माता से उसका परिचय पूछा। वह कहने लगी :—

"अंग देश में चम्पा नाम की नगरी है। इसमें पराक्रमी सिंहरथ नाम का राजा राज्य करता था, उसकी कमलप्रभा नामकी पत्नी थी, जो कोंकण देश के स्वामी की छोटी बहन थी। इस राजा को बहुत दिनों के बाद पुत्र उत्पन्न हुआ, अतः राजा ने अपनी अनाथ लक्ष्मी का पालन करनेवाला होने से पुत्र का नाम श्रीपाल रखा गया। श्रीपाल दो वर्ष का था, तभी शूलरोग में राजा सिंहरथ की मृत्यु हो गयी। मतिसागर मन्त्री ने बालक श्रीपाल को राज्य का अधिकारी बनाया और स्वयं राज्य का संचालन करने लगा। इधर श्रीपाल के चाचा अजितसेन ने राज्य हड़पने के लिए कुमार श्रीपाल और मतिसागर मन्त्री को मार डालने का षड्यन्त्र किया। जब मतिसार मन्त्री को यह समाचार ज्ञात हुआ तो उसने रानी कमलप्रभा को सलाह दी कि वह राजकुमार को लेकर कहीं चली जाय। कुमार जीवित रहेगा तो राज्य की प्राप्ति उसे हो ही जायगी। अतः रानी मध्य रात्रि में कुमार को लेकर चल पड़ी। जंगल में सात-सौ कुष्ठ रोगियों से उसकी भेंट हुई। उन्होंने रानी को अपनी बहन बना लिया। कुमार कोढ़ियों के सम्पर्क में रहने से उम्बर नामक कुष्ठ रोग से आक्रान्त हुआ। महारानी कमलप्रभा उज्जयिनी में आकर अपने आभूषण बेचकर कुमार का पालन-पोषण करने लगी। कुमार सात सौ कोढ़ियों का अधिपति होकर उम्बर राजा के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इसी उम्बर राजा के साथ मदनसुन्दरी का विवाह हुआ है।"

श्रीपाल वहाँ कुछ दिनों तक रहा। अनन्तर अपने कुल-गौरव को प्राप्त करने के हेतु वह माता और पत्नी से आदेश लेकर विदेश चला गया। यहाँ उसे रासायनिक पदार्थ, जलतरिणी और परशस्त्रनिवारणी तन्त्र-शक्तियाँ प्राप्त हुईं। श्रीपाल ने इस यात्रा में मदनमंजूषा और मदनमंजरी से विवाह किया तथा राज्य भी प्राप्त कर लिया।

समीक्षा—इस कथा में धार्मिक उपन्यास के सभी गुण हैं। पात्रों के चरित्र का उत्थान-पतन, कथा-प्रवाह की गति में विभिन्न प्रकार के मोड़, सरसता और रोचकता आदि गुण वर्तमान हैं। कथावस्तु और कथानक गठन की दृष्टि से इस धार्मिक उपन्यास

में प्रासंगिक कथाओं का गुम्फन बड़ी कुशलता के साथ किया गया है। पृथ्वीपाल जैसा निष्ठुर पिता, जो रुष्ट होकर अपनी कन्या को एक कोढ़ी को समर्पित कर देता है, आधुनिक यथार्थवादी पिता है। माँ के हृदय की ममता और पिता के हृदय की कठोरता रूप विरोधाभास का सुन्दर समन्वय है। भाग्यवादिनी मदनसुन्दरी भी आधुनिक अप-टू-डेट नारी से कम नहीं है। उसमें अपूर्व विश्वास और आत्मबल है। लेखक ने अपने युग की परम्परा के अनुसार श्रीपाल के कई विवाह कराकर उसकी चारित्रिक विशेषताओं को उभड़ने नहीं दिया है। धवल सेठ जैसे कृतघ्नी पात्रों की आज भी समाज में कमी नहीं है। ऐसे निम्न स्वार्थी व्यक्ति सदा से समाज के लिए कलंक रहते आये हैं। अजितसेन जैसे राज्य लम्पटी व्यक्ति और मतिसागर जैसे विश्वासभाजन आज भी विद्यमान हैं। राजकुमारी मदनमञ्जरी का त्याग और मानसिक द्वन्द्व किसी भी कथाकृति के लिए उपकरण बन सकते हैं। पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं और सबलताओं का चित्रण बड़ी व्यापकता और गहराई के साथ किया गया है।

इस कथाकृति में भावुकता को उभारने को पूरी शक्ति है। दुधमुँहे श्रीपाल का अपने चाचा के अत्याचारों और आतंकों से आतंकित हो माँ के साथ जंगल में चला जाना और वहाँ कुष्ठ रोगियों के सम्पर्क में रहने से उम्बर-कुष्ठ विशेष से पीड़ित होना प्रत्येक पाठक को द्रवित करने में समर्थ है। दूसरी ओर अपनी सुन्दरी और गुणवती कन्या को स्पष्टवादिता से रुष्ट हो कोढ़ी से उसे ब्याह देना भी हृदयहीनता का परिचायक है। जीवन दर्शन को लेखक ने अपनी इस कथाकृति में समझाने का पूरा यत्न किया है। परिवार का स्वार्थ के कारण विघटन होता है और यह विघटित परिवार सदा के लिए दुःखी हो जाता है। अतः सामाजिक सम्बन्धों को स्थिर रखने के लिए समाज के सभी घटकों और उनकी प्रतिक्रियाओं को उदार भाव से स्थान देना होगा। प्रेम, सेवा, सहयोग, सहिष्णुता, अनुशासन, आज्ञा पालन और कर्त्तव्यपालन आदि गुणों को जीवन में अपनाये बिना व्यक्ति स्वस्थ समाज का निर्माण नहीं कर सकता है। श्रीपाल निरन्तर श्रम करता है, जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रयास भी करता है और साथ ही अपने जीवन में संयम को अंगीकार करता है, तभी उसे सिद्धि प्राप्त होती है।

इस कृति में सहिष्णुता और साहस का सुन्दर आदर्श उपस्थित किया गया है। मदनसुन्दरी अपने साहस और त्याग के बल से ही अपने पति तथा उसके सात सौ साथियों को स्वस्थ बनाती है। उसकी धार्मिक दृढ़ आस्था ही उसके जीवन में सबल बनती है। इस प्रकार लेखक ने जीवन का सन्देश भी कथा के वातावरण में उपस्थित किया है।

रयणसेहर निवकहा

इस कथा-ग्रन्थ के रचयिता जिनहर्ष सूरि हैं। इन्होंने अपने गुरु का नाम जयचन्द्र मुनीश्वर बतलाया है। इस कथाग्रन्थ की रचना चित्रकूट नगर में हुई है। जिनहर्ष

सूरि ने सम्यक्त्व कौमुदी नामक एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में इसका रचनाकाल वि० सं० १४८७ बताया गया है, अतः रयणसेहरनिवकहा का रचनाकाल १५वीं शताब्दी है।

यह जायसीकृत पद्मावत का पूर्वरूप है। इसमें पर्वदिनों में धर्मसाधन करने का माहात्म्य बतलाया गया है। रत्नशेखर रत्नपुर का रहने वाला था, इसके प्रधानमन्त्री का नाम मतिसागर था। राजा वसन्त विहार के समय किन्नर दम्पति के वार्तालाप में रत्नावली की प्रशंसा सुनता है और उसे प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो जाता है। मतिसागर जोगिनी का रूप धारण कर सिंहलद्वीप की राजकुमारी रत्नवती के पास पहुँचता है रत्नवती अपनी वर-प्राप्ति के सम्बन्ध में प्रश्न करती है और जोगिनी वेष में मन्त्री उत्तर देता है कि जो कामदेव के मन्दिर में द्यूतक्रीड़ा करता हुआ तुम्हारे प्रवेश को रोकेगा, वही तुम्हारा वर होगा।

मन्त्री लौटकर राजा को समाचार सुनाता है, राजा रत्नशेखर सिंहलद्वीप को प्रस्थान कर देता है और वहाँ कामदेव के मन्दिर में पहुँचकर मन्त्री के साथ द्यूतक्रीड़ा करने लगता है। रत्नवती भी अपनी सखियों के साथ कामदेव की पूजा करने को आती है। यहाँ रत्नवती और राजा का साक्षात्कार होता है और दोनों का विवाह हो जाता है। पर्व के दिनों में राजा अपने शीलव्रत का पालन करता है, जिससे उसके लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं।

समीक्षा—यह सुन्दर प्रेमकथा है। प्रेमिका की प्राप्ति के लिए रत्नशेखर की ओर से प्रथम प्रयास किया जाता है। अतः इस प्रेम-पद्धति पर विदेशी प्रभाव स्पष्ट है। लेखक ने प्रेम के मौलिक और सार्वभौमिक रूप का विविध अधिकरणों में ढालने का निरूपण किया है। इसमें केवल मानव प्रेम का ही विश्लेषण नहीं किया गया है, अपितु पशु-पक्षियों के दाम्पत्य प्रेम का भी सुन्दर विवेचन हुआ है। रत्नवती और रत्नशेखर के निश्छल, एकनिष्ठ और सात्त्विक प्रेम का सुन्दर चित्रण हुआ है। इन्द्रियों के व्यापारों और वासनात्मक प्रवृत्तियों के विश्लेषण द्वारा लेखक पाठकों के हृदय में आनन्द का विकास करता हुआ विषय-वासना के पंक से निकालकर उन्मुक्त भावक्षेत्र में ले गया है तथा राग का उदात्तीकरण विराग के रूप में हुआ है; पाशविक वासना परिस्कृत हो आध्यात्मिक रूप को प्राप्त हुई है। अस्वस्थ और अमर्यादित स्थूल भोगलिप्सा को दूर कर वृत्तियों का स्वस्थ और संयमित रूप प्रदर्शित किया गया है। लेखक की दृष्टि में काम तो केवल बाह्य वस्तु है, पर प्रेम जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों से उत्पन्न होता है। यह सुपरिपक्व और रसपेशल है, इसकी अपूर्व मिठास जीवन में अक्षय आनन्द का संचार करती है। रत्नशेखर प्रेमी होने के साथ संयमी भी है। पर्व के दिनों में संभोग के लिए

की गई अपनी प्रेमिका की याचना को ठुकरा देता है और वह कलिंग नृपति को उसकी तुच्छता का दण्ड भी नहीं देता। पर पर्व समाप्त होते ही विजयलक्ष्मी उसीका वरण करती है।

इसमें एक उपन्यास के समस्त तत्त्व और गुण वर्तमान हैं। कथावस्तु, पात्र तथा चरित्र-चित्रण, संवाद, वातावरण और उद्देश्य की दृष्टि से यह कृति सफल है। घटनाओं और पात्रों के अनुसार वातावरण तथा परिस्थितियों का निर्माण सुन्दर रूप में किया गया है। निर्मित वातावरण में घटनाओं के चमत्कारपूर्ण संयोजन द्वारा प्रभाव को प्रेषणीय बनाया गया है। सभी तत्त्वों के सामञ्जस्य ने कथा के शिल्प विधान को पर्याप्त गतिशील बनाया है। मूलकथा से प्रासङ्गिक कथाओं का एक तांता लगा हुआ है। लेखक ने इन प्रासङ्गिक कथाओं को मूलकथा के साथ गूथने की पूरी चेष्टा की है। मूल कथा-वस्तु भी सावयव है। प्रत्येक घटना एक दूसरी से अङ्गों के रूप में सम्बद्ध है। घटनाएँ भी निर्हेतुक नहीं घटती हैं, बल्कि इनके पीछे तर्क का आधार रहता है।

राजा के प्रौषध उपवास के दिन ऋतुस्नाता रत्नवती पुत्र की इच्छा से उसके पास आती है, राजा अपने ब्रह्मचर्य व्रत में अटल है। रानी को राजा के इस व्यवहार से बहुत निराशा होती है और कुपित हो एक दास के साथ भाग जाती है। अन्तःपुर के कोलाहल को सुनकर राजकर्मचारी और राजा सभी रानी का पीछा करते हैं। रानी कहती है—"रमणीए मह भणिअं न कयं, ता मह कयं विलोएसु" इतना कह सामने से अदृश्य हो जाती है। राजा जङ्गल में उसका पीछा करने पर भी रानी को नहीं प्राप्त करता है। वह सोचते हुए कुछ दूर चलता है कि—ताव न आरण्णं, न तं बंभण-जुअलं पिच्छइ राया, किन्तु निय-आवासे रयणमय-हिंसासणट्ठं.........रयणवइ पट्टदेवी संजुअं अप्पाणं पाइस। तओ 'किमेअं इन्द्रजालं जायं? किंवा सच्चं? न उसे रत्नवती मिलती है और न वह जङ्गल ही, बल्कि वह अपने को रत्नमयी सिंहासन पर महारानी रत्नवती सहित दरबार में बैठा पाता है, तब वह सोचता है कि क्या यह इन्द्र-जाल है? या सत्य है? इस समय मृतात्मा मतिसागर अदृश्य शक्ति के रूप में उसकी परीक्षा की बात कहकर भ्रम दूर कर देता। कथा के इस स्थल पर चरम परिणति अवश्य है, किन्तु लेखक पुरातन रूढ़िगत परम्परा का त्याग नहीं कर सका है। अतः आधुनिक पाठक इन घटनाओं पर विश्वास नहीं कर पाता और न वह इन दैवी चमत्कारों को प्राप्त ही कर पाता है। आरम्भ से कथा की गति ठीक उपन्यास के रूप में चलती रही है, पर चरम परिणति दैवी चमत्कारों में दिखलायी गयी है।

यह कथा सरस और परिमार्जित शैली में लिखी गयी है। गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। सरस शैली का उदाहरण निम्न है—

तओ इइ चितक्कंत-मणो राया निअ-रूव-पाराहव-जाय-रोसेण मयरद्धयराइणा अवसरं लहिऊण निअ-निबिड-बाण-धोरणि-गोअर-कओ न कत्थवि धिइं लहइ। जोईसर व्व तग्गय-चित्तो झायंतो न जंपइ, न ससइ, न हसइ।

—रयण०, बनारस संस्करण १९१८ ई०, पृ० ६

संसारे हय-विहिणा महिला-रूवेण मंडिए पासे।
बज्झंति जाणमाणा अयाणमाणावि बज्झंति॥—पृ० ८
चिंता-सहस्स-भरिओ पुरिसो सव्वोवि होइ अणुवरयं।
जुव्वण-भर-भरिअंगी जस्स घरे वट्टए कन्ना॥ पृ० २५

महिवालकहा

महिवाल कथा के रचयिता वीरदेव गणि हैं। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से अवगत होता है कि देवभद्र सूरि चन्द्रगच्छ में हुए थे। इनके शिष्य सिद्धसेन सूरि और सिद्धसेन सूरि के शिष्य मुनिचन्द्र सूरि थे। वीरदेव गणि मुनिचन्द्र के शिष्य थे।

विन्टरनित्स ने एक संस्कृत 'महीपाल चरित' का भी उल्लेख किया है, जिसके रचयिता चरित्र सुन्दर बतलाये हैं। इसका रचनाकाल १५ वीं शती का मध्य भाग है। परि-कथा और निजन्धरी इन दोनों का यह मिश्रित रूप है[1]।

प्रस्तुत कथा-ग्रन्थ भाषा शैली के आधार पर चौदहवी-पन्द्रहवीं शती का प्रतीत होता है। पद्यों पर पूर्णतया आधुनिक छाप है।

उज्जैयिनी नगरी के राजा नरसिंह के यहाँ कलाविचक्षण महिपाल नाम का राजपुत्र रहता था। राजा ने रुष्ट होकर महिपाल को अपने राज्य से निकाल दिया। वह अपनी पत्नी के साथ घूमता-फिरता भड़ौच में आया और वहाँ से जहाज पर सवार होकर कटाहद्वीप की ओर चला। रास्ते में जहाज भग्न हो गया और बड़ी कठिनाई से वह किसी तरह किनारे लगा। कटाह द्वीप के रत्नपुर नगर में पहुँच कर उसने राजकुमारी चन्द्रलेखा के साथ विवाह किया। अनन्तर वह चन्द्रलेखा के साथ जहाज में बैठकर अपनी पूर्वपत्नी सोमश्री की खोज में निकला। साथ में रत्नपुर नरेश ने अपने अथर्णव नाम के मन्त्री को महिपाल की देख-रेख के लिए भेजा। राजपुत्री और धन के लोभ में आकर अथर्णव ने महिपाल को समुद्र में धक्का दे दिया। राजपुत्री चन्द्रलेखा बहुत दुःखी हुई और वह चक्रेश्वरी देवी की उपासना करने में लीन हो गयी। इधर महिपाल समुद्र पार कर एक नगर में आया और यहाँ जितशत्रु राजा की पुत्री शशिप्रभा से उसका विवाह हो गया। शशिप्रभा से उसने खट्वा, लकुट और सर्वकामित विद्याएँ सीखीं। अनन्तर महिपाल रत्नसंचयपुर नगर में आता है और यहाँ चक्रेश्वर देवी के मन्दिर में उसे

1. Indian litereture vol ii, page 536.

अपनी तीनों स्त्रियाँ मिल जाती हैं। नगर का राजा महिपाल को सर्वगुणसम्पन्न समझ कर अपना मंत्री निर्वाचित करता है और अपनी पुत्री चन्द्रश्री के साथ उसका विवाह भी कर देता है। महिपाल अपनी चारों स्त्रियों के साथ उज्जैन चला आता है और नरसिंह राजा के यहाँ रहने लगता है। अनन्तर धर्मघोष मुनि से क्रोध, मान, माया और लोभ के सम्बन्ध में कथाएँ सुनकर पूर्णतया विरक्त हो जाता है और श्रमण दीक्षा धारण कर उग्र तपस्या करता है और अन्त में निर्वाण पद पाता है।

यह कथा सरस है। कथानक के निर्माण में देव तथा संयोग की उपस्थिति दिखला-कर कथाकार ने अनेक तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक बातों पर प्रकाश डाला है। यद्यपि कथाकार ने आरम्भ और अवसान में कोई प्रमुख चमत्कार नहीं दिखलाया है, तो भी चरित्र निर्माण में घटनाओं को पर्याप्त गतिशील बनाया हैं। इसमें सामन्त, राजा, सेठ, मन्त्री प्रभृति नाना व्यक्तियों के चरित्र, उनके छल-कपट, प्रेम के विभिन्न पक्ष, मध्यवर्गीय संवेदनाएँ और कुण्ठाएँ सुन्दर रूप में अभिव्यक्त हुई हैं।

चरित्र-चित्रण में अभिनयात्मक और विश्लेषणात्मक शैलियों का मिश्रित प्रयोग किया गया है। इसमें मानवीय मनोवेग, भावावेग, विचार, भावना, उद्देश्य, प्रयोजन आदि का सुन्दर आकलन हुआ है। अथर्णव जब जहाज पर से महिपाल को धक्का देता हैं, उस समय की उसकी मनःस्थिति अध्ययनीय है। महिपाल के स्वभाव और प्रकृति के अनुसार ही सारी घटनाएँ प्रसूत होती हैं। उनके चरित्र को स्वाभाविकता और वास्त-विकता प्रदान करने के लिए ही लेखक ने देश-काल और वातावरण का निर्माण किया है। उज्जैयिनी छोड़कर बाहर जाना, समुद्र-यात्रा में विपत्ति एवं आश्रम में जाकर तापसी दीक्षा आदि बातें ऐसी हैं, जिनके द्वारा महिपाल के चरित्र का विकास दिखलायी पड़ता है।

चन्द्रलेखा का प्रत्युत्पन्नमतित्व और अपनी शील रक्षा के लिए उसका कपट प्रेम ऐसे स्थल हैं, जो मानव जीवन में एक नयी दिशा और स्फूर्ति प्रदान करते हैं। चण्डी-पूजा, शासन देवता की भक्ति, यक्ष और कुल देवी की पूजा, भूतों की बलि, जिनभवन का निर्माण, केवल ज्ञान के समय देवों द्वारा पुष्प-वर्षा एवं विभिन्न कलाओं का विवेचन पठनीय है।

एक सामन्तकुमार की यह साहसपूर्ण कथा है। कथा का मूल स्रोत बहुत प्राचीन है, लेखक ने पौराणिक आख्यानों से कथावस्तु लेकर एक नयी कथा का प्रणयन किया है। अवान्तर कथाओं में लोभ के दोष का निरूपण करने के लिए नन्द सेठ की कथा बहुत सुन्दर है। इसमें "लोहविमूढा जीवा किच्चाकिच्चं पि न हु वियारंति"— लोभी व्यक्ति को कार्याकार्य का विवेक नहीं रहता है, इस सिद्धान्त का बड़ा सुन्दर विश्लेषण किया गया है। "जं वाविय विसरुक्खो विसफले चेव पावेइ"—विषवृक्ष का रोपण कर विषफल ही प्राप्त होते हैं, अमृत फल नहीं, उक्तियों द्वारा अवान्तर कथा

की शिक्षा स्पष्ट की गयी है। हरिभद्र की समराच्चकहा के सप्तम भव से चित्रमयूर द्वारा हार के भक्षण का आख्यान ज्यों के त्यों रूप में ग्रहण किया गया है।

लोकोक्तियों की इसमें भरमार है। इनका इतना सुन्दर प्रयोग अन्यत्र कम ही पाया जाता है। कुछ लोकोक्तियाँ तो अत्यन्त हृदयस्पर्शी हैं। "रखीणो वि ससी रिद्धि पुणो वि पावइ न ताराओ" क्षीण चन्द्रमा ही समृद्धि को प्राप्त होता है, तारागण नहीं; "ववसायपायवेसु पुरिसाण लच्छी सया वसइ"—व्यापार में ही लक्ष्मी का निवास हैं, एवं "न हीणसत्ताण सिज्जए विज्जा"—निर्बल व्यक्ति को विद्या नहीं आ सकती। इस प्रकार लेखक ने भाषा को सशक्त और मुहावरेदार बनाया है। उपमा और रूपक भी पर्याप्त सुन्दर हैं।

पाइअकहासंगहो

पद्मचन्द्रसूरि के किसी अज्ञातनामा शिष्य ने 'विक्कमसेणचरियं' नामक प्राकृत कथा ग्रन्थ की रचना की है। इस कथा-प्रबन्ध में आयी हुई चौदह कथाओं में से इस संग्रह में बारह प्राकृत कथाएँ संग्रहीत हैं। इन कथाओं के रचयिता और समय आदि के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी नहीं है। इस कथा संग्रह की एक प्रति वि० सं० १३९८ की लिखी उपलब्ध हुई है, अतः मूल ग्रन्थकार इससे पहले ही हुआ होगा। इस संग्रह में दान, शील, तप, भावना, सम्यक्त्व, नवकार एवं अनित्यता आदि से सम्बन्ध रखनेवाली सरस कथाएँ हैं।

इस संग्रह में दान के महत्त्व को प्रकट करने लिए धनदेव-धनदत्त कथानक, सम्यक्त्व का प्रभाव बतलाने के लिए धन श्रेष्ठि कथानक, दान के विषय में चंडगोप कथानक, दान देने में कृपणता दिखलाने के लिए कृपण श्रेष्ठि कथानक, शील का प्रभाव बतलाने के लिये जयलक्ष्मी देवी कथानक और सुन्दरिदेवी कथानक, नमस्कार मन्त्र का फल अभिव्यक्त करने के लिये सौभाग्य सुन्दर कथानक, तप का महत्त्व बतलाने के लिये मृगाङ्करेखा कथानक और अघट कथानक, भावना का प्रभाव व्यंजित करने के लिये धर्मदत्त और बहुबुद्धि कथानक, एवं अनित्यता के सम्बन्ध में समुद्रदत्त कथानक आये हैं।

समीक्षा—इन लघुकाय कथाओं में नामावली का अनुप्रास बहुत ही सुन्दर आया है। कवि ने नामों की परम्परा में नादतत्त्व की सुन्दर योजना की है। उदाहरणार्थ निम्न नामावली उपस्थित की जाती है।

धणउरमत्थि पुरवरं धणुद्धरो नाम तत्थ भूवालो।
सेट्ठी धणाभिहाणो धणदेवी भरिया तस्स॥
धणचन्दो धणपालो धणदेवो धणगिरो इमे चउरो।
संजाया ताण सुया गम्भीरा चउसमुद्दव्व॥

धंधी-धामी-धणदी-धणसिरि नमाउ ताण अह कमसो।
जायाओ भज्जाओ निच्च नेहेण जुत्ताओ॥

—सम्यक्त्वप्रभावे धनश्रेष्ठि कथानकम् पृ० ६

अर्थात्—धनपुर नगर में धनुर्द्धर नाम का राजा शासन करता था। इस नगर में धनदेव नाम का सेठ अपनी धनदेवी नाम की पत्नी सहित रहता था। इस दम्पति के धनचन्द्र, धनदेव, धनपाल और धनगिरि ये चार पुत्र थे। ये चारों पुत्र समुद्र के समान गम्भीर थे। इनकी क्रमशः धन्धी, धानी, धनदी और धनश्री नाम की भार्याएँ थीं, जो अत्यन्त स्नेहपूर्वक निवास करती थीं।

उक्त गाथाओं में कवि ने नगर से लेकर राजा, सेठ, सेठानी सभी के नामों में धन शब्द का योग रखकर इन व्यक्तिवाचक संज्ञाओ में अपूर्व नादतत्त्व की योजना की है। पद्य में कथा के लिखे जाने के कारण इस प्रकार की अनुप्रास योजना केवल भाषा को ही अलंकृत नहीं बनाती, अपितु उनमें एक विशेष प्रकार का सौष्ठव भी उत्पन्न करती है।

अनुरंजन के लिये कवि ने परिस्थिति और वातावरण का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। कृपण श्रेष्ठी कथा में लक्ष्मीनिलय नाम के एक कृपण सेठ का बड़ा ही जीवन्त चित्र प्रस्तुत है। यह खान-पान, रहन-सहन, दान-पूजा आदि में एक कौड़ी भी खर्च नहीं करता है। अपने पुत्र को पान खाते हुए देखकर उसे अपार वेदना होती है। लेखक ने उसकी कृपणता को व्यंजित करने के लिए कई मर्म-स्थल उपस्थित किये हैं। उसकी पत्नी को बच्चा होने पर वह भोजन देने में कंजूसी करता है। कहीं दान न देना पड़े, अतः सन्त-महापुरुषों के दर्शन भी करने नहीं जाता। इस प्रकार वातावरण और परिस्थिति नियोजन में कवि की प्रवीणता दिखलायी पड़ती है।

सुन्दरी की प्रेम-कथा तो इतनी सरस और मनोरंजक है कि उसे समाप्त किये बिना पाठक रह नहीं सकता है। धनसार सेठ की कन्या सुन्दरी विक्रम राजा के गुण सुनकर उससे प्रेम करने लगी। माता-पिता ने उसका विवाह सिंहलद्वीप के किसी सेठ-पुत्र के साथ तय कर दिया। सुन्दरी ने अपनी चतुराई से एक रत्नों के थाल के साथ एक तोता राजा को भेंट में भिजवाया। राजा ने तोते का पेट फाड़कर देखा तो उसमें एक सुन्दर हार और कस्तूरी से लिखा हुआ प्रेमपत्र मिला। पत्र में लिखा था—"प्राणनाथ! मैं सदा तुम्हारे गुणों में लीन हूँ, वह अवसर कब आयगा, जब मैं अपने इन नेत्रों से आपका साक्षात्कार करूँगी। वैशाख वदी द्वादशी को सिंहलद्वीप के निवणाग नामक सेठ-पुत्र के साथ मेरा विवाह होनेवाला है। नाथ! मेरे इस शरीर का स्पर्श आपके अतिरिक्त अन्य नहीं कर सकता, आप अब जैसा उचित हो, करें।" राजा अपने अग्निवेताल भृत्य की

सहायता से रत्नपुर पहुँचा और उसने सुन्दरी से विवाह किया। इस प्रकार इस कथा संग्रह में मर्मस्पर्शी स्थलों की कमी नहीं है। इस संकलन की कथाओं की निम्न विशेषताएँ हैं—

१. कथानक संयोग और दैवी घटनाओं पर आश्रित
२. कथाओं में सहसा दिशा का परिवर्तन।
३. समकालीन सामाजिक समस्याओं का उद्‌घाटन।
४. पारिवारिक जीवन के लघु और कटु चित्र।
५. संवाद-तत्त्व की अल्पता या अभाव; किन्तु घटना सूत्रों द्वारा कथाओं में गतिमत्व धर्म की उत्पत्ति।
६. विषयवस्तु में जीवन के अनेक रूपों का समावेश।
७. कथाओं के मध्य में धर्मतत्त्व या धर्म-सिद्धान्तों का नियोजन।
८. मध्य बिन्दु तक रोचकता का सद्भाव इसके आगे कथानक की एकरूपता के कारण आकर्षण की कमी।
९. जीवन के शाश्वत मूल्यों का संयोजन—यथा प्रेम, त्याग, शील प्रभृति की घटनाओं द्वारा अभिव्यञ्जना।
१०. भाषा के सरल और सहज बोधगम्य रहने से प्रसाद गुण का पूर्ण समावेश।

इन प्रमुख कथाकृतियों के अतिरिक्त संघतिलक सूरि द्वारा विरचित आरामशोहा कथा, पंडितअधणबालकहा, पुण्यचूलकथा, रोहगुप्तकथा, आरोग्यद्विजकथा, वज्रकर्णनृपकथा, शुभमतिकथा, मल्लवादीकथा, भद्रबाहुकथा, पादलिप्ताचार्यकथा, सिद्धसेन दिवाकर कथा, नागदत्तकथा, बाह्याभ्यन्तर कामिनीकथा, मेतार्य मुनिकथा, द्रवदंतकथा, पद्मशेखरकथा, संगामशूरकथा, चन्द्रलेखाकथा एवं नरसुन्दर कथा आदि बीस कथाएँ उपलब्ध हैं। देवचन्द्र सूरि का कालिकाचार्य कथानक एवं अज्ञात नामक कवि की मलयसुन्दरी कथा विस्तृत कथाएँ हैं।

उपदेशप्रद कथाओं में धर्मदास गणि की उपदेशमाला, जयसिंह सूरि की धर्मोपदेशमाला, जयकीर्त्ति की शीलोपदेशमाला, विजयसिंह सूरि की भुवन सुन्दरी, मलधारी हेमचन्द्र सूरि की उपदेश माला, साहड की विवेकमञ्जरी, मुनिसुन्दर सूरि का उपदेश रत्नाकर, शुभवर्धन गणि की वर्धमान देशना एवं सोमविमल की दशदृष्टान्तगीता आदि रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

नवमोऽध्यायः

रसेतर विविध प्राकृत साहित्य

प्राकृत में व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, द्रव्यपरीक्षा, धातुपरीक्षा, भूमिपरीक्षा, रत्न-परीक्षा आदि विभिन्न विषयों पर भी रचनाएँ होती रही हैं। इन रचनाओं में काव्यत्व आल्प परिमाण में है, पर संस्कृति और सभ्यता की एक सुव्यवस्थित परम्परा निहित है।

व्याकरण-शास्त्र

भाषा परिज्ञान के लिए व्याकरण ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। जब किसी भी भाषा के वाङ्मय की विशाल राशि संचित हो जाती है, तो उसकी विधिवत् व्यवस्था के लिए व्याकरण ग्रन्थ लिखे जाते हैं। प्राकृत के जनभाषा होने से आरम्भ में इसका कोई व्याकरण नहीं लिखा गया। वर्तमान में प्राकृत भाषा के अनुशासन सम्बन्धी जितने व्याकरण ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे सभी संस्कृत भाषा में लिखे गये हैं। आश्चर्य यह है कि जब पालि भाषा का व्याकरण पालि भाषा में लिखा हुआ उपलब्ध है, तब प्राकृत भाषा का व्याकरण प्राकृत में ही लिखा हुआ क्यों नहीं उपलब्ध है? अर्धमागधी के अगणित ग्रन्थों में शब्दानुशासन सम्बन्धी जितनी सामग्री पाई जाती है, उससे यह अनुमान लगाना सहज है कि प्राकृत भाषा का व्याकरण प्राकृत में लिखा हुआ अवश्य था, पर आज वह कालकवलित हो चुका है। यहाँ उपलब्ध फुटकर सामग्री पर विचार करना आवश्यक है।

प्राकृत भाषा में प्राकृत व्याकरण के सिद्धान्त—आयारांग में (द्वि० ४, १ सू० ३६६) तीन-वचन-लिंग-काल का विवेचन किया गया है। ठाणांग (अष्टम) में आठ कारकों का निरूपण पाया जाता है। इन सभी बातों के अतिरिक्त अनेक नये तथ्य अनुयोग द्वारा सूत्र में विस्तारपूर्वक वर्णित हैं।

इस ग्रन्थ में समस्त शब्दराशि को निम्न पाँच भागों में विभक्त किया गया है।[1]

१. नामिक—सुबन्तों का ग्रहण नाम में किया है। जितने भी प्रकार के संज्ञा शब्द हैं, वे नामिक के द्वारा अभिहित किये गये हैं। यथा अस्सो, अस्से=अश्वः आदि।

---

१. पंचणामे पंचविहें पराणत्ते, तं जहा—(१) नामिकं, (२) नैपातिकं, (३) आख्यातिकम्, (४) औपसर्गिकं, (५) मिश्र—अणुओगदारसुत्तं १२५ सूत्र।

२. नैपातिक—अव्ययों को निपातन से सिद्ध माना है। अतः अव्यय तथा अव्ययों के समान निपातन से सिद्ध अन्य देशी शब्द नैपातिक कहे गये हैं। यथा—खलु, अक्कतो, जह, जहा आदि।

३. आख्यातिक—धातु से निष्पन्न क्रियारूपों की गणना अख्यातिक में की है। यथा—धावइ, गच्छइ आदि।

४. औपसर्गिक—उपसर्गों के संयोग से निष्पन्न शब्दों को औपसर्गिक कहा गया है। यथा—परि, अणु, अव आदि उपसर्गों के संयोग से निष्पन्न अणुभवइ, परिधावइ प्रभृति।

५. मिश्र—मिश्र शब्दावली के अन्तर्गत इस प्रकार के शब्दों की गणना की गयी है, जिन्हें हम समास, कृदन्त तद्धति के पद कह सकते हैं। इस कोटि के शब्दों के उदाहरणों में 'संयत' पद प्रस्तुत किया है, वस्तुतः विशेषण शब्दों को मिश्र कहना अधिक तर्कसंगत है।

नाम शब्दों की निष्पत्तियाँ चार प्रकार से वर्णित हैं। आगम, लोप, प्रकृतिभाव और विकार।[1]

१. वर्णागम—वर्णागम कई प्रकार से होता है। वर्णागम भाषाविकास में सहायक होता है। इस वर्णागम का कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है। दुर्गाचार्य ने निरुक्त का लक्षण बतलाते हुए वर्णागम, वर्णविपर्यय (Meta thesis) वर्णविकार (change of Syllable), वर्णनाश (Elision of Syllable) और अर्थ के अनुसार धातु के रूप की कल्पना करना—इन सिद्धान्तों को परिगणित किया है। अनुओगदारसुत्त में इसका उदाहरण 'कुण्डानि' आया है।

२. लोप—भाषा के विकास को प्रस्तुत करने वाला दूसरा सिद्धान्त लोप है; प्रयत्न लाघव की दृष्टि से इस सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वर्णलोप के भी कई भेद होते हैं—आदि वर्णलोप, मध्यलोप और अन्त्य वर्णलोप। यहाँ पर पटो + अत्र = पटोऽत्र, घटो + अत्र = घटोत्र उदाहरण उपस्थित किये गये हैं।

३. प्रकृतिभाव—में दोनों पद ज्यों के त्यों रह जाते हैं, उनमें संयोग होने पर भी विकार उत्पन्न नहीं होती। यथा—माले + इमे = माले इमे, पटूइमौ आदि।

४. वर्णविकार—दो पदों के संयोग होने पर उनमें विकृत होना अथवा ध्वनि-परिवर्त्तन के सिद्धान्तों के अनुसार वर्णों में विकार का उत्पन्न होना वर्णविकार है। यथा—बधू = बहू, गुफा = गुहा, दधि + इदं = दधीदं, नदी + इह = नदीह।

---

१. चउणामे चउव्विहे पराणत्ते। तं जहा—(१) आगमेणं (२) लोवेणं (३) पयइए (४) विगारेणं।—अणुओगदारसुत्तं १२४ सू०।

नाम— पदों के स्त्रीलिङ्ग, पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिंग की अपेक्षा से तीन भेद होते हैं। अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त और ओकारान्त शब्द पुलिङ्ग होते हैं। स्त्रीलिङ्ग शब्दों में ओकारान्त शब्द नहीं होते हैं। नपुंसकलिङ्ग शब्दों में अकारान्त और उकारान्त शब्द ही परिगणित हैं यथा—

तं पुण णामं तिविहि इत्थी पुरिसं णपुंसगं चेव।
एएसि तिण्हं पि अंतम्मि अ परूवणं वोच्छ॥ १॥
तत्थ पुरिसस्स अंता आ–इ–उ–ओ हवंति चत्तारि।
ते चेव इत्थिआओ हवंति ओकार परिणीणा॥ २॥
अंतिम-इंतिअ-उंतिअ अंताउ णपुंसगस्स बोद्धव्वा।
एतेसि तिण्हं पि अ वोच्छगामि निदंसणे एत्तो॥ ३॥
आगारंतो 'राया' ईगारंतो गिरि अ सिहरी अ।
उगारंतो विण्हू दुमो अ अंताउ पुरिसाणं॥ ४॥
आगारंता माला ईगारंता 'सिरी' अ 'लच्छी' अ।
ऊगारंता 'जंबू' 'बहू' अ अंताउ इत्थीणं॥ ५॥
अंकरंतं 'धन्नं' इंकरंतं नपुंसगं 'अत्थि'।
उंकारंतं पीलुं 'महुं' च अंता णपुंसाणं॥ ६॥

—अणुओगदारसुत्त, व्यावर संस्करण, सं० २०१० सूत्र १२३।

इसी ग्रन्थ में भावनाम से चार भेद दिये गये हैं—समास, तद्धित, धातु और निरुक्त। समास के सात भेद बतलाये गये हैं[1]—द्वन्द्व, बहुव्रीहि, कर्मधारय, द्विगु, तत्पुरुष, अव्ययीभाव और एकशेष यथा—

दंदे अ बहुव्वीहि कम्मधारय दिग्गु अ।
तत्पुरिस अव्वईभावे, एक्कसेसे अ सत्तमे॥ १॥

बहुव्रीहि का उदारण देते हुए लिखा—फुल्ला इमंमि गिरिम्मि कुडुयकयंबा सो इमो गिरिफुल्लिए कुडुयकयंबो।

कर्मधारय—धवलो वसहो = धवलसहो, किण्हो मियो = किण्हमियो। द्विगु—तिण्णि कडुगाणि = तिकडुंगं, तितिण्णि मुहराणि = तिमहुरं, तिण्णि गुणाणि = तिगुणं, सत्तगया = सत्तगयं, नवतुरंगं।

तत्पुरुष—तित्थे कागो = तित्थकागो, वणेहत्थी = वणहत्थी, वणेमयूरी = वणमयूरी, वणेवराहो = वणवराहो, वणेमहिसो।

अव्ययीभाव—अणुगामं, अणुणइयं, अणुचरियं।

1. अणुओगदारसुत्तं—सूत्र १३०।

एकशेष—जहा एगो पुरिसो तहा बहवे पुरिसा, जहा एगो करिसावणो तहा बहवे करिसावणा, जहा एगो साली तहा बहवे साली।

तद्धित के आठ भेद बतलाए हैं[1]—

१. कर्मनाम—तणहारए, कट्ठहारए, पत्तहारए, कोलालिए।
२. शिल्पनाम—तंतुवाए, पट्टकारे, मुंजकारे, छत्तकारे, दंतकारे।
३. सिलोक नाम—समणे, माहणे, सव्वातिही।
४. संयोग नाम—रण्णो, ससुरए, रण्णो जामासए, रण्णो साले।
५. समीप नाम—गिरिसमीवे णयरं गिरिणयरं, वेन्नायडं।
६. समूह नाम—तरंगवहक्कारे, मलयवइक्कारे।
७. ईश्वरीय नाम—स्वाम्यर्थक—राईसरे, तलवरे, इब्भे, सेट्ठी।
८. अपत्य नाम—अरिहंतमाया, चक्कवट्टिमाया।

कम्मे सिप्पसिलाए संजोग समीअवो अ संजूहो।
इस्सरिअ अवच्चेण य तद्धितणामं तु अट्ठविहं॥

यद्यपि उपर्युक्त सन्दर्भ तद्धितान्त नामों के वर्णन के समय आया है, तो भी तद्धित प्रकरण पर इससे प्रकाश पड़ता है। इन्हें कर्मार्थक, शिल्पार्थक, संयोगार्थक, समूहार्थक, अपत्यार्थक आदि रूप में ग्रहण करना चाहिए।

इस ग्रन्थ में आठों विभक्तियों का उल्लेख है तथा ये विभक्तियाँ किस-किस अर्थ में होती हैं, इसका भी निर्देश किया गया है।

निद्देसे पढमा होइ, बित्तिया उवएसणे।
तइया करणम्मि कया, चउत्थी संपयावणे॥ १॥
पंचमी अ अवायाणे छट्ठी सस्सामिवायणे।
सत्तमी सण्णिहाणत्थे पढमाऽऽमंतणी भवे॥ २॥

—अणुओगदारसुत्त, सू० १२८।

अर्थात्—निर्देश—क्रिया का फल कर्त्ता में रहने पर प्रथमा विभक्ति होती है। यथा—स, इमो, अहं आदि प्रथमान्तरूप हैं। उपदेश में—क्रिया के द्वारा कर्त्ता जिसको सिद्ध करना चाहता है, द्वितीया विभक्ति होती है; यथा सो गामं गच्छइ। करण में तृतीया होती है तथा—तेण कयं, मए वा कयं आदि। सम्प्रदान में चतुर्थी और अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है। स्वामि—स्वामित्व भाव में षष्ठी तथा सन्निधानार्थ—अधिकरणार्थ में सप्तमी और आमन्त्रण—सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है।

इस प्रकार प्राकृत भाषा में लिखित शब्दानुशासन सम्बन्धी सिद्धान्त पाये जाते हैं।

---

१. वही सूत्र १३०।

संस्कृत भाषा में लिखित प्राकृत व्याकरण

संस्कृत भाषा में लिखे गये प्राकृत भाषा के अनेक शब्दानुशासन उपलब्ध हैं। भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसके १७ वें अध्याय में विभिन्न भाषाओं का निरूपण करते हुए ६–२३ वें पद्य तक प्राकृत व्याकरण के सिद्धान्त बतलाये हैं और ३२ वें अध्याय में उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। पर भरत के ये अनुशासन सम्बन्धी सिद्धान्त इतने संक्षिप्त और अस्फुट हैं कि इनका उल्लेख मात्र इतिहास के लिए ही उपयोगी है।

प्राकृत लक्षण

कुछ विद्वान् पाणिनि का प्राकृत लक्षण नाम का प्राकृत व्याकरण बतलाते हैं। डा० पिशल ने भी अपने प्राकृत व्याकरण में इस ओर संकेत किया है, पर यह ग्रन्थ न तो आजतक उपलब्ध ही हुआ है और न इसके होने का ही कोई सबल प्रमाण मिलता है। उपलब्ध शब्दानुशासनों में वररुचि के प्राकृत प्रकाश को कुछ विद्वान् प्राचीन मानते हैं और कुछ चण्डकृत प्राकृत लक्षण को। प्राकृत लक्षण संक्षिप्त रचना है। इसमें जिस सामान्य प्राकृत का जो अनुशासन किया गया है, वह प्राकृत अशोक की धर्मलिपियों की जैसी प्राचीन भाषा प्रतीत होती है और वररुचि द्वारा प्राकृत प्रकाश में अनुशासित प्राकृत उसके पश्चात् की है। इस शब्दानुशासन के मत से मध्यवर्त्ती अल्पप्राण व्यञ्जनों का लोप नहीं होता है, वे वर्त्तमान रहते हैं। वर्ग के प्रथम वर्णों में केवल 'क' और तृतीय वर्णों में 'ग' के लोप का विधान मिलता है। मध्यवर्त्ती 'च', 'ट', 'त' और 'प' वर्ण ज्यों के त्यों रह जाते हैं। भाषा की यह प्रवृत्ति महाकवि भास के नाटकों में भी पायी जाती है। अतः प्राकृत लक्षण का रचनाकाल ईस्वी सन् द्वितीय-तृतीय शती मानने में कोई बाधा नहीं है।

इस ग्रन्थ में कुल सूत्र ९९ या १०३ हैं और चार पदों में विभक्त हैं। आरम्भ में प्राकृत शब्दों के तीन रूप तद्भव, तत्सम और देशज बतलाये हैं। तीनों लिंग और विभक्तियों का विधान संस्कृत के समान ही पाया जाता है। प्रथम पाद के ५ वें सूत्र से अन्तिम ३५ वें सूत्र तक संज्ञाओं और सर्वनामों के विभक्ति रूपों का निरूपण किया है। द्वितीयपाद के २९ सूत्रों में स्वर परिवर्त्तन, शब्दादेशों एवं अव्ययों का कथन किया गया है। पूर्वकालिक क्रिया के रूपों में तु, त्ता, च्च, ट्ट, तु, तूण, ओ एवं प्पि प्रत्ययों को जोड़ने का नियमन किया है। तृतीय पाद के ३५ सूत्रों में व्यञ्जन परिवर्त्तन के नियम दिये गये हैं। चतुर्थ पाद में केवल चार सूत्र ही हैं, इनमें अपभ्रंश का लक्षण, अधोरेफ का लोप न होना, पैशाची की प्रवृत्तियाँ, मागधी की प्रवृत्ति र् और स् के स्थान पर ल् और श् का आदेश एवं शौरसेनी में त के स्थान पर विकल्प से द का आदेश किया गया है।

प्राकृत प्रकाश

चण्ड के उत्तरवर्ती समस्त प्राकृत वैयाकरणों ने रचनाशैली और विषयानुक्रम की दृष्टि से प्राकृत लक्षण का अनुकरण किया है। चण्ड के पश्चात् प्राकृत शब्दानुशासकों में वररुचि का नाम आता है। इनका गोत्र नाम कात्यायन कहा गया है। डा० पिशल ने अनुमान किया था कि प्रसिद्ध वार्तिककार कात्यायन और वररुचि दोनों एक ही व्यक्ति हैं; किन्तु इस कथन की पुष्टि के लिए एक भी सबल प्रमाण उपलब्ध नहीं है। एक वररुचि कालिदास के समकालीन भी माने जाते हैं, जो विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे। प्रस्तुत प्राकृत प्रकाश चण्ड के पीछे का है, इसमें कोई सन्देह नहीं। प्राकृत भाषा का शृङ्गार काव्य के लिए प्रयोग ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शतियों के पहले ही होने लगा था। हाल कवि ने गाथाकोष में प्राकृत कवियों की ३८४ गाथाओं का संकलन किया है। याकोबी का मत है कि महाराष्ट्री प्राकृत का व्यापक प्रयोग ईस्वी तीसरी शताब्दी के पहले ही होने लगा था। अतः प्राकृत प्रकाश में वर्णित अनुशासन पर्याप्त प्राचीन है; अतएव वररुचि को कालिदास का समकालीन मानना अनुचित नहीं है।

प्राकृत प्रकाश में कुल ५०९ सूत्र हैं। भामहवृत्ति के अनुसार ४८७ और चन्द्रिका टीका के अनुसार ५०९ सूत्र उपलब्ध हैं। प्राकृत प्रकाश की चार प्राचीन टीकाएँ भी प्राप्य हैं—

१—मनोरमा—इस टीका के रचयिता भामह हैं।

२—प्राकृत मञ्जरी—इस टीका के रचयिता कात्यायन नाम के विद्वान् हैं।

३—प्राकृत संजीवनी—यह टीका वसन्तराज द्वारा लिखित है।

४—सुबोधिनी—यह टीका सदानन्द द्वारा विरचित है और नवम परिच्छेद के नवम सूत्र की समाप्ति के साथ समाप्त हुई है।

इस ग्रन्थ में बारह परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में स्वर विकार एवं स्वरपरिवर्त्तन के नियमों का निरूपण किया गया है। विशिष्ट-विशिष्ट शब्दों में स्वर सम्बन्धी जो विकार उत्पन्न होते हैं, उनका ४४ सूत्रों में विवेचन किया है। दूसरे परिच्छेद का आरम्भ मध्यवर्त्ती व्यंजनों के लोप से होता है। मध्य में आनेवाले क, ग, च, ज, त, द, प, य और व का लोप विधान किया है। तीसरे सूत्र से विशेष-विशेष शब्दों के असंयुक्त व्यञ्जनों के लोप एवं उनके स्थान पर विशेष व्यञ्जनों के आदेश का नियमन किया गया है। यह प्रकरण अन्तिम ४७वें सूत्र तक चला है। तीसरे परिच्छेद संयुक्त व्यञ्जनों के लोप, विकार एवं परिवर्त्तनों का निरूपण है। इस परिच्छेद में ६६ सूत्र हैं और सभी सूत्र विशिष्ट-विशिष्ट शब्दों में संयुक्त व्यंजनों के परिवर्त्तन का निर्देश करते हैं। चौथे परिच्छेद में ३३ सूत्र हैं, इनमें संकीर्णविधि—निश्चित शब्दों के अनुशासन वर्णित हैं।

इस परिच्छेद में अनुकारी, विकारी और देशज इन तीनों प्रकार के शब्दों का अनुशासन आया है। पाँचवें परिच्छेद के ४७ सूत्रों में लिंग और विभक्ति का आदेश वर्णित हैं। छठवें परिच्छेद में ६४ सूत्र हैं, इन सूत्रों में सर्वनामविधि का निरूपण है अर्थात् सर्वनाम शब्दों के रूप एवं उनके विभक्ति-प्रत्यय निर्दिष्ट किये गये हैं। सप्तम परिच्छेद में तिङन्त विधि है। धातुरूपों का अनुशासन संक्षेप में लिखा गया है। इसमें कुल ३४ सूत्र हैं। अष्टम परिच्छेद में धात्वादेश निरूपित है। इसमें कुल १७ सूत्र हैं। संस्कृत की किस धातु के स्थान पर प्राकृत में कौनसी धातु का आदेश होता है, इसमें विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। प्राकृत भाषा का यह धात्वादेश सम्बन्धी प्रकरण बहुत ही महत्त्व-पूर्ण माना जाता है। नौवाँ परिच्छेद निपात का है। इसमें अव्ययों के अर्थ और प्रयोग दिये गये हैं। इस परिच्छेद में १८ सूत्र हैं। दसवें परिच्छेद में पैशाची भाषा का अनु-शासन है। इसमें १४ सूत्र हैं। ग्यारहवें परिच्छेद में मागधी प्राकृत का अनुशासन वर्णित है। इसमें कुल १७ सूत्र हैं। बारहवाँ परिच्छेद शौरसेनी प्राकृत के नियमन का है। इसमें ३२ सूत्र हैं और इसमें शौरसेनी प्राकृत की विशेषताएँ वर्णित हैं। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर अवगत होता हैं कि वररुचि ने चण्ड का अनुसरण किया है। चण्ड द्वारा निरूपित विषयों का विस्तार अवश्य इस ग्रन्थ में पाया जाता है। अतः शैली और विषय-विस्तार के लिए वररुचि पर चण्ड का ऋण मान लेना अनुचित नहीं कहा जायगा।

इस सत्य से कोई इंकार नहीं कर सकता है कि भाषाज्ञान की दृष्टि से वररुचि का प्राकृत प्रकाश बहुत ही महत्वपूर्ण है। संस्कृत भाषा की ध्वनियों में किस प्रकार के ध्वनि परिवर्त्तन होने से प्राकृत भाषा के शब्द रूप गठित हैं, इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उपयोगिता की दृष्टि से यह ग्रन्थ प्राकृत अध्येताओं के लिए ग्राह्य है।

सिद्धहेमशब्दानुशासन

इस व्याकरण में सात अध्याय संस्कृत शब्दानुशासन पर हैं और आठवें अध्याय में प्राकृत भाषा का अनुशासन लिखा गया है। आचार्य हेम का यह प्राकृत व्याकरण उपलब्ध समस्त प्राकृत व्याकरणों में सबसे अधिक पूर्ण और व्यवस्थित हैं। इसके ४ पाद हैं। प्रथम पाद में २७१ सूत्र हैं। इसमें सन्धि, व्यञ्जनान्त शब्द, अनुस्वार, लिंग, विसर्ग, स्वर-व्यत्यय और व्यञ्जन-व्यत्यय का विवेचन किया गया है। द्वितीय पाद के २१८ सूत्रों में संयुक्त व्यञ्जनों के परिवर्त्तन, समीकरण, स्वरभक्ति, वर्णविपर्यय, शब्दादेश, तद्धित, निपात और अव्ययों का निरूपण है। तृतीय पाद में १८२ सूत्र हैं, जिनमें कारक, विभक्तियों तथा क्रियारचना सम्बन्धी नियमों का कथन किया गया है। चौथे पाद में ४४८ सूत्र हैं। आरम्भ के २५९ सूत्रों में धात्वादेश और आगे क्रमशः शौरसेनी,

मागधी, चूलिका, पैशाची और अपभ्रंश भाषाओं की विशेष प्रवृत्तियों का निरूपण किया गया है। अन्तिम दो सूत्रों में यह भी बतलाया गया है कि प्राकृत में उक्त लक्षणों का व्यत्यय भी पाया जाता है तथा जो बात वहाँ नहीं बतलाई है, उसे संस्कृतवत् सिद्ध समझना चाहिए। सूत्रों के अतिरिक्त वृत्ति भी स्वयं हेम की लिखी है। इस वृत्ति में सूत्रगत लक्षणों को बड़ी विशदता से उदाहरण देकर समझाया गया है।

आचार्य हेम ने प्राकृत शब्दों का अनुशासन संस्कृत शब्दों के रूपों को आदर्श मानकर किया है। हेम के मत से प्राकृत शब्द तीन प्रकार के हैं— तत्सम, तद्भव और देशी। तत्सम और देशी शब्दों को छोड़कर शेष तद्भव शब्दों का अनुशासन इस व्याकरण द्वारा किया गया है।

आचार्य हेम ने 'आर्षम्' ८।१।३ सूत्र में आर्ष प्राकृत का नामोल्लेख किया है। और बतलाया है "आर्षं प्राकृतं बहुलं भवति, तदपि यथास्थानं दर्शयिष्यामः। आर्षे हि सर्वे विधयो विकल्पयन्ते" अर्थात् अधिक प्राचीन प्राकृत आर्ष-आगमिक प्राकृत है। इसमें प्राकृत के नियम विकल्प से प्रवृत्त होते हैं।

हेम का प्राकृत व्याकरण रचना शैली और विषयानुक्रम के लिए प्राकृत लक्षण और प्राकृत प्रकाश का आभारी है। पर हेम ने विषय विस्तार में बड़ी पटुता दिखाई है। अनेक नये नियमों का भी निरूपण किया है। ग्रन्थन शैली भी हेम की चण्ड और वररुचि की अपेक्षा परिष्कृत है। चूलिका और अपभ्रंश का अनुशासन हेम का अपना है। अपभ्रंश के पूरे दोहे उद्धृत कर नष्ट होते हुए विशाल साहित्य का संरक्षण किया है। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य हेम के समय में प्राकृत भाषा का बहुत अधिक विकास हो गया था और उसका विशाल साहित्य विद्यमान था। अतः उन्होंने व्याकरण की प्राचीन परम्परा को अपना कर भी अनेक नये अनुशासन उपस्थित किये हैं।

त्रिविक्रमदेव का प्राकृत शब्दानुशासन

जिस प्रकार आचार्य हेम ने सर्वाङ्गपूर्ण प्राकृत शब्दानुशासन लिखा है, उसी प्रकार त्रिविक्रम देव ने भी। इनकी स्वोपज्ञवृत्ति और सूत्र दोनों ही उपलब्ध हैं। इस शब्दानुशासन में तीन अध्याय और प्रत्येक अध्याय में ४–४ पाद हैं। इस प्रकार कुल बारह पादों में यह शब्दानुशासन पूर्ण हुआ है। इसमें कुल १०३६ सूत्र हैं। त्रिविक्रम देव ने हेम के सूत्रों में ही कुछ फेर-फार करके अपने सूत्रों की रचना की है। विषयानुक्रम हेम का ही है। ह, दि, स और ग आदि संज्ञाएँ त्रिविक्रम की नई हैं, पर इन संज्ञाओं से विषयनिरूपण में सरलता की अपेक्षा जटिलता ही उत्पन्न हो गयी। इस व्याकरण में देशी शब्दों का वर्गीकरण कर हेम की अपेक्षा एक नयी दिशा की सूचना दी है।

यद्यपि अपभ्रंश के उदाहरण हेम के ही हैं, पर संस्कृत छाया देकर इन्होंने अपभ्रंश के दोहों को समझने में पूरा सौकर्य प्रदर्शित किया है।

त्रिविक्रम ने अनेकार्थक शब्द भी दिये हैं। इन शब्दों के अवलोकन से तात्कालिक भाषा की प्रवृत्तियों का परिज्ञान तो होता ही है, पर इससे अनेक सांस्कृतिक बातों पर भी प्रकाश पड़ता है। यह प्रकरण हेम की अपेक्षा विशिष्ट हैं इनका यह कार्य शब्द-शासक का न होकर अर्थशासक का हो गया है।

षड्भाषा चन्द्रिका

लक्ष्मीधर ने त्रिविक्रम देव के सूत्रों का प्रकरणानुसारी संकलन कर अपनी नयी वृत्ति लिखी है। इस संकलन का नाम ही षड्भाषाचन्द्रिका है। इस सङ्कलन में सिद्धान्तकौमुदी का क्रम रखा गया है। उदारण सेतुबन्ध, गउडवहो, गाहासत्तसई, कप्पूरमंजरी आदि ग्रन्थों से दिये गये हैं। लक्ष्मीधर ने लिखा है—

वृत्तिं त्रैविक्रमीगूढां व्याचिख्यासन्ति ये बुधाः।
षड्भाषाचन्द्रिका तैस्तद् व्याख्यारूपा विलोक्यताम् ॥

अर्थात्—जो विद्वान् त्रिविक्रम की गूढ़ वृत्ति को समझना और समझाना चाहते हैं, वे उसकी व्याख्यारूप षड्भाषाचन्द्रिका को देखें।

प्राकृत भाषा की जानकारी प्राप्त करने के लिए षड्भाषा चंद्रिका अधिक उपयोगी है। इसकी तुलना हम भट्टोजिदीक्षित को सिद्धान्तकौमुदी से कर सकते हैं।

प्राकृत रूपावतार

त्रिविक्रमदेव के सूत्रों को ही लघुसिद्धान्तकौमुदी के ढङ्ग पर संकलित कर सिंहराज ने प्राकृतरूपान्तर नामक व्याकरण ग्रन्थ लिखा है। इसमें संक्षेप में सन्धि, शब्दरूप, धातुरूप, समास, तद्धित आदिका विचार किया है। व्यावहारिक दृष्टि से आशुबोध कराने के लिए यह व्याकरण उपयोगी है। हम सिंहराज की तुलना वरदाचार्य से कर सकते हैं। इनका समय ई० सन् १५वीं शती है।

प्राकृत सर्वस्व

मार्कण्डेय का प्राकृत सर्वस्व एक महत्त्वपूर्ण व्याकरण है। इसका रचनाकाल १५वीं शती है। मार्कण्डेय ने प्राकृत भाषा के भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाची—ये चार भेद किये हैं। भाषा के महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी; विभाषा के शकारी, चाण्डाली, शवरी, आभीरी और ढक्की; अपभ्रंश के नागर, ब्राचड और उपनागर एवं पैशाची के कैकेयी, शौरसेनी और पञ्चाली आदि भेद किये हैं।

मार्कण्डेय ने आरम्भ के आठ पादों में महाराष्ट्री प्राकृत के नियम बतलाये हैं। इन नियमों का आधार प्रायः वररुचि का प्राकृत प्रकाश ही है। ९वें पाद में शौरसेनी

के नियम दिये गये हैं। दसवें पाद में प्राच्या भाषा का नियमन किया गया है। ११ वें में अवन्ती और वाल्हीकी का वर्णन है। १२ वें में मागधी के नियम बतलाए गये हैं, इनमें अर्धमागधी का भी उल्लेख है। ९ से १२ तक के पादों का भाषा-विवेचन नाम का एक अलग खण्ड माना जा सकता है। १३ वें से १६ वें पाद तक विभाषा का नियमन किया है। १७ वें और १८ वें अपभ्रंश भाषा का तथा १९ वें और २० वें पाद में पैशाची भाषा के नियम दिये हैं। शौरसेनी के बाद अपभ्रंश भाषा का नियमन करना बहुत ही तर्क-सङ्गत है।

ऐसा लगता है कि हेम ने जहाँ पश्चिमीय प्राकृत भाषा की प्रवृत्तियों का अनुशासन उपस्थित किया है, वहाँ मार्कण्डेय ने पूर्वीय प्राकृत की प्रवृत्तियों का नियमन प्रदर्शित किया है।

इन व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त रामतर्कवागीश का 'प्राकृतकल्पतरु' (१७ वीं शी शुभचन्द का शब्दचिन्तामणि, श्रुतसागर का औदार्य चिन्तामणि, अप्पय दीक्षित का 'प्राकृत मणि दीप' (१६ वीं शती) रघुनाथ कवि का प्राकृतानन्द (१८ वीं शती) और देवसुन्दर का प्राकृत युक्ति भी अच्छे ग्रन्थ हैं। इस प्रकार प्राकृत भाषा के साहित्यिक स्वरूप का यथार्थ विवेचन प्राकृत व्याकरणों में पाया जाता है।

छन्दश्शास्त्र

मनुष्य अनादिकाल से छन्द का आश्रय लेकर अपने ज्ञान को स्थायी और अन्यजन ग्राह्य बनाने का प्रयत्न करता आ रहा है। छन्द, ताल, तुक और स्वर सम्पूर्ण मनुष्य को एक करते हैं। इनके आधार पर मनुष्य का भाव सहज ही दूसरे तक पहुँच जाता है। इनके समान एकत्व विधायिनी अन्य शक्ति नहीं है। मनुष्य को मनुष्य के प्रति संवेदनशील बनाने का सबसे प्रधान साधन छन्द है। इसी महान् साधन के बल पर मनुष्य ने अपनी आशा-आकांक्षाओं को, अनुराग-विराग को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक और एक युग से दूसरे युग तक भेजा है। वैद्यक, ज्योतिष, व्यापार-वाणिज्य और नीति विषयक अनुभवों की छन्द के बल पर ही सर्वग्राह्य बनाया गया है। काव्य में छन्द का व्यवहार विषयगत मनोभावों के संचार के लिए किया गया है।

जिस प्रकार किसी भवन को बनाने के पूर्व उसका नक्शा बना लिया जाता है और लम्बाई-चौड़ाई का समानुपात निश्चित कर लेने के उपरान्त ही भवन का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार कविता में संतुलन और प्रेषणीयता लाने के लिए छन्दः की आवश्यकता होती है। मात्रा, वर्ण और यतिनियोजन भावों को स्पन्दित करते हैं। लय द्वारा भावोंमें विविध मोड़ें उत्पन्न की जाती है। अतएव छन्दःशास्त्र का आरम्भ ऋग्वेद काल

से माना जाता है। प्राकृत भाषा का सम्बन्ध लोकजीवन के साथ होने के कारण छन्दों का विकास नृत्य और संगीत के आधार पर हुआ माना जा सकता है। इसमें मात्रा या तालछन्दों का बाहुल्य भी इस बात का समर्थन करता है।

वृत्तजातिसमुच्चय

प्राकृत भाषा में वृत्तजातिसमुच्चय नामक छन्द-ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके रचयिता विरहांक नाम के कवि हैं। ये कवि जाति के ब्राह्मण और संस्कृत तथा प्राकृत के विद्वान् थे। इनका समय ईस्वी सन् की छठी शती है। यह वृत्तजातिसमुच्चय पद्यात्मक है। मात्राछन्द और वर्णछन्दों के सम्बन्ध में विचार किया गया है। यह ग्रन्थ छः नियम—अध्यायों में विभक्त है। प्रथम नियम—अध्याय में प्राकृत के समस्त छन्दों के नाम गिनाये गये हैं। तृतीय नियम में ५२ प्रकार के द्विपदी छन्दों का प्रतिपादन किया है। चतुर्थ नियम में २६ प्रकार के गाथा छन्द का वर्णन है। पाँचवें नियम में ५० प्रकार के संस्कृत के वार्णिक छन्दों का निरूपण किया गया है। छठें नियम में प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, लघुक्रिया, संख्या और अध्वान नाम के छः प्रत्ययों का लक्षण वर्णित है। इस छन्द ग्रन्थ में आभीरी भाषा का अड्डिला, मारवाड़ी का ढोसा, मागधी का मागधिका और अपभ्रंश का रड्डा छन्द बताया गया है।

कविदर्पण

इस ग्रन्थ का रचना काल ईस्वी सन् की १३ वीं शती है। रचयिता का नाम नहीं ज्ञात है। इसमें छः उद्देश्य हैं। प्रथम उद्देश्य में मात्रा, वर्ण और दोनों के मिश्रण के भेद से तीन प्रकार के छन्द बतलाये हैं। द्वितीय उद्देश्य में ११ प्रकार के मात्रा छन्दों का वर्णन है। तृतीय उद्देश्य में सम, अर्धसम और विषम वार्णिक छन्दों का स्वरूप वर्णित है। चतुर्थ उद्देश्य में समचतुष्पदी, अर्ध समचतुष्पदी और विषमचतुष्पदी का विवेचन किया गया है। पाँचवें उद्देश्य में उभय छन्दों और छठें उद्देश्य में प्रस्तार, संख्या, नष्टोद्दिष्ट का स्वरूप प्रतिपादित किया है।

गाहालक्खण

प्राकृत छन्दों पर लिखी गयी यह रचना महत्वपूर्ण है। इसके रचयिता नन्दिताढ्य नाम के आचार्य हैं। इस ग्रन्थ में ९२ गाथाएँ हैं। रचयिता का समय सन् १००० ई० के लगभग है। कवि जैनधर्मानुयायी है। इसमें अपभ्रंश भाषा के प्रति तिरस्कार (गाथा ३१) प्रकट किया है। गाथा छन्द के भेद और लक्षणों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है।

प्राकृतपैंगलम्[1]

प्राकृतपैंगलम् एक महत्त्वपूर्ण छन्द ग्रन्थ है। यह एक संग्रहग्रन्थ है, पर संग्रहकर्त्ता का नाम अज्ञात है। इसमें पुरानी हिन्दी के आदिकालीन कवियों द्वारा प्रयुक्त वर्णिक तथा मात्रिक छन्दों का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में मेवाड़ के राजपूत राजा हम्मीर की वीरता का सुन्दर चित्रण किया है। राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी के पद्य भी उधृत हैं, अतः इस संग्रह के कर्त्ता का समय ईस्वी सन् १४वीं शती है। इस ग्रन्थ पर ईस्वी सन् की १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में संस्कृत टीकाएँ भी लिखी गयी हैं। यह दो परिच्छेदों में विभक्त है—प्रथम परिच्छेद में मात्रिक छन्दों का और द्वितीय परिच्छेद में वर्णवृत्तों का निरूपण है। छन्दों के उदाहरणों में विभिन्न ग्रन्थों के उद्धरणों को प्रस्तुत किया गया है। इसमें आए हुए उदाहरण काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अतएव कुछ उदाहरणों का विवेचन प्रस्तुत किया जायगा। कवि ने मालाधरा, चन्द्रमाला और गीता छन्दों के उदाहरणों में वसन्त ऋतु का सुन्दर वर्णन किया है—

वहइ मलआणिला विरहिचेउसंतवणा,
रअइ पिक पंचमा विअसु केसु फुल्ला वणा।
तरुण तरु पेल्लिआ मउलु माहवीवल्लिआ
वितर सहि णेत्तआ समअ माहवा पत्तआ॥ २।१७९

मलयानिल बह रहा है, विरहियों के चित्त को सन्तापित करनेवाला कोकिल पञ्चम स्वर में बोल रहा है। किंशुक विकसित हो गये हैं, वन फूल गया है, वृक्षों में नये पल्लव आ गये हैं, माधवी लता मुकुलित हो गयी है। हे सखि, नेत्रों को विस्तारित करो, देखो वसन्त का समय आ गया है।

अमिअकर किरण धरु फुल्लु णव कुसुम वण,
कुविअ भइ सर ठवइ काम णिअ धणु धरइ।
रवइ पिअ असम णिक कन्त तुअ थिर हिअलु,
गमिअ दिण पुण ण मिलु जहि सहि पिअ णिअलु॥ २।१९१

अमृतकर—चन्द्रमा किरणों को धारण कर रहा है, वन में नये फूल फूल गये हैं, क्रुद्ध होकर कामदेव बाणों को स्थापित कर रहा है तथा अपने धनुष को धारण कर रहा है। कोयल कूक रही है समय भी सुन्दर है, तेरा प्रिय भी स्थिर हृदय है, हे सखि, बीते दिन फिर नहीं आते, तू प्रिय के समीप जा।

जइ फुल्ल केअइ चारु चंपअ चूअमंजरि बंजुला,
सब दीस दीसइ वेसुकाणण पाण वाउल भम्मरा।

१. प्राकृत ग्रन्थ परिषद् वाराणसी से दो भागों में प्रकाशित।

वह पोम्मगंध विबंध बंधुर मंद मंद समीरणा,
पियकेलिकोतुकलासलंगिम लग्गिआ तरुणीजणा ॥ २।१९७

केतकी, सुन्दर चम्पक, आम्रमंजरी तथा बंजुल फूल गये हैं, सब दिशाओं में किंशुक का वन दिखाई दे रहा है और भौंरे मधुपान के कारण व्याकुल मस्त हो रहे हैं। पद्म-सुगन्धयुक्त तथा मानिनियों के मान-भंजन में दक्ष मन्द-मन्द पवन बह रहा है, तरुणियाँ अपने पति के साथ केलि कौतुक तथा लास्य भंगिमा में व्यस्त हो रही हैं।

फुल्लिअ वेसु चंप तह पअलिअ मंजरी तेज्जइ चूआ,
दक्खिण वाउ सीअ भइ पवहइ कंप विओइणिहीआ।
केअइ धूलि सव्व दिस पसरइ पीअर सव्वइ भासे,
आउ वसंत काइ सहि करिअइ कंत ण थक्कइ पासे॥ २।२०३

किंशुक फूल गया है, चम्पक प्रकट हो गये हैं, आम बौर छोड़ रहा है, दक्षिण पवन शीतल होकर चल रहा है, वियोगिनी का हृदय काँप रहा है, केतकी का पराग सब दिशाओं में फैल गया है, सब कुछ पीला दिखाई दे रहा है, हे सखि, वसन्त आ गया है, क्या किया जाय, प्रिय तो समीप है ही नहीं, इसी छन्द के उदाहरण में शरद् ऋतु का चित्रण करते हुए लिखा है—

णेत्ताणंदा उग्गे चंदा धवलचमरसम सिअकरविंदा,
उग्गे तारा ते आहारा विअसु कुमुअवण परिमलकंदा॥
भासे कासा सव्वा आसा महुरपवण लहु लहिअ करंता,
हंता सद्धू फुल्ला बंधू सरअ सहि हिअअ हरंता॥ २।२०५

नेत्रों को आनन्दित करनेवाला धवल चमर के समान श्वेत किरणों वाला चन्द्रमा उदित हो गया है, तेजोयुक्त तारे उग आए हैं, सुगन्ध से भरे कुमुद खिल गये हैं; सब दिशाओं में काश सुशोभित हो रहा हैं, मधुर पवन मन्द-मन्द गति से बह रहा है, हंस शब्द कर रहे हैं, बंधूक पुष्प फूल गये हैं, हे सखि शरत् ऋतु हृदय को हरता है।

मंजीरा छन्द का उदाहरण उद्धृत करते हुए वर्षा का सजीव चित्रण निम्न प्रकार किया गया है :—

गज्जे मेहा णीलाकारउ सद्दे मोरउ उच्चा रावा,
ठामा ठामा विज्जू रेहउ पिंगा देहउ किज्जे हारा।
फुल्ला णीवा पीवे भम्मरु दक्खा मारुअ वीअंताए,
हंहो हंजे काहा किज्जउ आओ पाउस कीलंताए॥ २।१८१

नीले मेघ गरज रहे हैं, मोर ऊँचे स्वर से शब्द कर रहे हैं, स्थान-स्थान पर पीले देहवाली बिजली सुशोभित हो रही है, मेघों द्वारा बिजली का हार धारण किया जा रहा है, कदंब फूल गये हैं, भौंरे गुंजार कर रहे हैं, यह चतुर पवन चल रहा है। हे सखि, बता क्या करें, वर्षा ऋतु क्रीडा करती आ गई।

उदाहरणों में कुछ उदाहरण काशीराज की वीरता के सम्बन्ध में आये हैं, जिनमें वीररस का सुन्दर परिपाक हुआ है। कवि ने पद्मावती छन्द का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए काशी नरेश के युद्ध-प्रयाण का रोमाञ्चकारी चित्र उपस्थित किया है।

भअ भज्जिअ वंगा भंगु कलिंगा तेलंगा रण मुक्कि चले।
मरहट्ठा धिट्ठा लग्गिअ कट्ठा सोरट्ठा भअ पाअ पले॥
चंपा कंम्पा पव्वअ झंपा ओत्था ओत्थी जीव हरे।
कासीसर राणा किअउ पआणा विज्जाहर भण मंतिवरे॥ १।१४५

बंगदेश के राजा भय से भाग गये, कलिंग के राजा भाग गये, तैलंगदेश के राजा युद्ध छोड़कर चले गये, धृष्ट मराठे दिशाओं में लग गये—पलायमान हो गये। सौराष्ट्र के राजा भय से पैरों पर गिर पड़े, चम्पारन का राजा काँपकर पर्वत मे छिप गया और उठ-उठ कर अपने जीवन को किसी तरह त्याग रहा है। मन्त्रिश्रेष्ठ विद्याधर कहते हैं कि काशीश्वर राजा ने युद्ध के लिए प्रयाण किया है।

इसी राजा के विजयों का निर्देश दुर्मिला छन्द के उदाहरण में प्रस्तुत करते हुए बताया है—

जेइ किज्जिअ धाला जिण्णु णिवाला भोट्टंता पिट्टंत चले।
भंजाविअ चीणा दप्पहि हीणा लोहावल हाकंद पले।
ओड्डा उड्डा विअ कित्ती पाविअ मोडिअ मालवराअबले,
तेलंगा भग्गिअ बहुरिण लग्गिअ कासीराआ जखण चले॥ १।१९८

जिस काशीश्वर राजा ने व्यूह बनाया, नेपाल के राजा को जीता, जिससे हार कर भोट देश के राजा अपने सिर को पीटते हुए भाग गये, जिनसे चीन देश के दर्पहीन राजा को भगाया तथा लोहावल में हाहाकार उत्पन्न कर दिया, जिसने उड़ीसा के राजा को उड़ा दिया—हरा दिया, कीर्ति प्राप्त की और मालव राजा के कुल को उखाड़ फेंका, वह काशीनरेश जिस समय रण के लिए चला उस समय अत्यधिक ऋणग्रस्त तैलंग नरेश भाग गये।

राअह भग्गंता दिअ लग्गंता परिहरि हअ गअ घर घरिणी।
लोरहि भरु सरवरु पअ परु परिकरु लोट्टइ पिट्टइ तणु धरणी॥
पुणु उट्ठइ संभलिकर दंतंगुलि बाल तणअ कर जमल करे।
कासीसर राआ णेहलु काआ करु माआ पुणु थप्पि धरे॥ १।१८०

अपने हाथी, घोड़े, घर और पत्नी को छोड़कर राजा लोग भाग कर दिशाओं में छिप गये हैं। उनके आँसुओं से सरोवर भर गये हैं। उनकी स्त्रियाँ पैरों पर गिर कर पृथ्वी पर लोट रही हैं तथा अपना शरीर पीट रही हैं। पुनः संभल कर हाथ की अंगुलि को दाँत में लेकर, छोटे पुत्र से हाथ अंजलि बँधा रही है। स्नेहशील काशीनरेश ने दया करके उन राजाओं के राज्य फिर से स्थापित कर दिये हैं।

कवि ने हम्मीर की युद्धयात्रा का भी सजीव वर्णन किया है। लीलावती छन्द का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है—

घर लग्गइ अग्गि जलइ धह-धह कह दिग मग णहपह अणल भरे,
सब दीस पसरि पाइक्क लुलइ धणि थणहर जहण दिआव करे।
भअ लुक्किअ थक्किअ वइरि तरुणि जण भइरव भेरिअ सद्द पले,
महि लोट्टइ पट्टइ रिउसिर टुट्टइ जक्खण वीर हमीर चले॥ १।१९०

जिस समय वीर हमीर युद्ध-यात्रा के लिए चला, उस समय शत्रु राजाओं के घरों में आग लग गई है, वह धू-धू कर जलती है तथा दिशाओं का मार्ग और आकाशपथ अग्नि से व्याप्त हो गया है, उसकी पदाति-सेना सब ओर फैल गई हैं तथा उसके डर से भागती हुई रमणियों का स्तनभार जंघाओं के टुकड़े-टुकड़े कर रहा है; शत्रुओं की तरुणियाँ भय से थक कर वन में छिप गई हैं, भेरी का भैरव शब्द सुनाई पड़ रहा है, शत्रु राजा पृथ्वी पर गिरते हैं, सिर को पीटते हैं तथा उनके सिर टूट रहे हैं।

युद्ध वर्णन का एक चित्र और प्रस्तुत किया जाता है, भाषा परिवर्त्तन की दृष्टि से इस चित्र का जितना महत्त्व है, उससे कहीं अधिक वीररस की दृष्टि से।

गअ गअहि ढुक्किअ तरणि लुक्किअ तुरअ तुरअहि जुज्झिआ,
रह रहहि मीलिअ धरणि पीडिअ अप्प पर णहि बुज्झिआ।
बल मीलिअ आइअ पत्ति धाइउ कंप गिरिवरसीहरा,
उच्छलइ साअर दीण काअर वइर वड्ढिअ दीहरा॥ १।१९३

हाथी हाथियों से भिड़ गये; सेना के चलने से इतनी धूल उड़ी, जिससे सूर्य छिप गया। घोड़े घोड़ों से जूझ गये; रथ रथों से भिड़ गये, पृथ्वी पीड़ित हुई और अपने पराये का भेद लुप्त हो गया। दोनों सेनाएँ आकर मिलीं, पैदल दौड़ने लगे, पर्वतों के शिखर काँपने लगे, समुद्र उछलने लगा, कायर लोग दीन हो गये और शत्रुता अत्यधिक बढ़ गयी।

इस प्रकार इस ग्रन्थ का पुरानी हिन्दी के मुक्तक पद्यों की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। मध्ययुगीन हिन्दी छन्दःशास्त्रियों ने इस ग्रन्थ की छन्दः-परम्परा का पूरा अनुकरण किया है।

प्राकृत के अन्य छन्दग्रन्थों में छन्दःकोश, छन्दोलक्षण और छन्दःकली के कारण भी उपलब्ध होते हैं। छन्दकोश वज्रसेन सूरि के शिष्य रत्नशेखर सूरि ने १४वीं शती के उत्तरार्ध में लिखा है। इसमें ७४ गाथाएँ हैं। नन्दिषेण कृत अजित शान्तिस्तव के ऊपर लिखी गयी जिनप्रभ की टीका में छन्दोलक्षण सम्मिलित है। कविदर्पण के टीकाकार ने छन्दःकली का निर्देश किया है। स्वयंभू का छन्दग्रन्थ प्रसिद्ध है, इसमें अपभ्रंश छन्दों के उदाहरण आये हैं।

अलङ्कार साहित्य

जिस प्रकार भाषा के अध्ययन के लिए व्याकरण शास्त्र की आवश्यकता होती है उसी प्रकार आलोचना ज्ञान के लिए अलङ्कार शास्त्र के अध्ययन की। काव्य के मर्म को अलङ्कार शास्त्र की सहायता से ही समझा जा सकता है। काव्य का स्वरूप, रस, गुण, दोष, रीति, अलंकार एवं काव्य चमत्कार का निरूपण अलंकार शास्त्र में पाया जाता है। प्राकृत भाषा में निबद्ध किए गये अलङ्कार ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प हैं, पर संस्कृत के जितने अलङ्कार ग्रन्थ हैं, सभी में रस, व्यञ्जना, ध्वनि, लक्षणा, गुण, दोष और अलङ्कारों के चमत्कारपूर्ण उदाहरण प्राकृत भाषा में आए हैं। सरस और सुन्दर उदाहरण प्राकृत ग्रन्थों से चयन कर निबद्ध किए गये उपलब्ध होते हैं। काव्यादर्श (७वीं शती) में दण्डी ने भाषा के चार भेद किये हैं—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र (का० १।३२) सूक्ति प्रधान होने के कारण महाराष्ट्री को उत्कृष्ट प्राकृत कहा है। शौरसेनी गौडी लाटी एवं अन्य देशों में बोली जाने वाली भाषाओं को प्राकृत कहा है। अपभ्रंश को गोप, चण्डाल और शकार की भाषा बतलाया गया है। रुद्रत ने (९ वीं शती) काव्यालङ्कार में भाषा के छः भेद स्वीकार किए गये हैं—प्राकृट, संस्कृत, मागधी, पैशाची, शौरसेनो और अपभ्रंश। रुद्रट ने छहों भाषाओं के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए प्राकृत गाथाओं की भी रचना की है। ध्वन्यालोक (ई० सन् ९वीं शती) के रचयिता आनन्दवर्धन और उसके टीकाकार अभिनवगुप्त ने प्राकृत की ४६ गाथाएँ उद्धृत की हैं। उदाहरणार्थ एक नीति गाथा उद्धृत की जाती है—

चन्दमऊएहिं णिसा णलिनी कमलेहिं कुसुमगुच्छेहिं लआ।
हंसेहिं सरसोहा कव्वकहा सज्जणेहिं करइ गरुइ॥ २।५० टीका

रात्रि चन्द्रमा की किरणों से, नलिनी कमलों से, लता पुष्प के गुच्छों से, शरद् हंसों से और काव्य-कथा सज्जनों से शोभा को प्राप्त होती है।

दशरूपक (ई० १० वीं शती) में धनञ्जय और उसके टीकाकार धनिक ने २६ प्राकृत पद्य उद्धृत किए हैं। स्वकीया नायिका के शील का चित्रण करते हुए कहा है।

कुलबालिआए पेच्छह जोव्वणलाअण्णविब्भमविलासा।
पवसंति व्व पवसिए एन्ति व्व पिये घरं एत्ते॥ २।१५ टीका

कुलवती बालिकाओं के यौवन, लावण्य तथा शृङ्गार चेष्टाएँ प्रिय के प्रवास में चले जाने से चली जाती हैं, तथा उसके घर पर लौट आने पर वापस लौट आती हैं।

सम्भोग कर्म का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

सालोए च्चिअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण।
णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स॥ २।५० टीका

सूर्य के दृष्टिगोचर रहते हुए गृहिणी हँसते हुए गृहस्वामी के पैरों को पकड़ कर, उसके इच्छा न करने पर भी हंसती हुई हिला रही है।

कामवती मध्या के सम्बन्ध में बताया है—

ताव च्चिअ रइसमए महिलाणं विब्भमा विराअन्ति।
जाव ण कुवलयदलसच्छहाइं मउलेन्ति णअणाइं॥ २।१३ टीका

रात्रि के समय स्त्रियों की शृङ्गार चेष्टाएँ तभी तक सुशोभित होती हैं, जब तक कि कमलों के समान स्वच्छ कान्तिवाले उनके नेत्र मुकुलित नहीं हो पाते।

भोजराज ने (ई० सन् ९९६–१०५१) शृङ्गार प्रकाश और सरस्वती कण्ठाभरण की रचना की है। शृङ्गार प्रकाश में शृङ्गार रस प्रधान प्राकृत पद्य उद्धृत हैं और सरस्वती कंठाभरण में ३३१ प्राकृत पद्य गाथा सप्तशती, सेतुबन्ध, कर्पूरमञ्जरी आदि ग्रन्थों से उद्धृत किए गये हैं। साहित्य सौन्दर्य की दृष्टि से सभी पद्य अच्छे हैं। किसी पथिक के प्रति नायिका श्लेष में कहती है :—

कत्तो लंभइ पत्थिअ सत्थरअ एत्थ गामणिघरम्मि।
उण्णपओहरे पेक्खिअ उण जइ वससि ता वससु॥ प्रथम परिच्छेद

हे पथिक! यहाँ ग्रामीण के घर में तुझे विस्तार कहाँ से मिलेगा? यदि उन्नत पयोधर देखकर तू यहाँ ठहरना चाहता है तो ठहर जा।

प्रेमी और स्वामी का अन्तर बतलाते हुए लिखा है—

दूणन्ति जे मुहुत्तं कुविआ दासव्विअ ते पसाअन्ति।
ते च्चिअ महिलाणं पिआ सेसा सामिच्चिअ वराआ॥ पञ्चमपरिच्छेद

जो थोड़े समय के लिए भी अपनी कुपित प्रिया को देखकर दुःखी होते हैं और उन्हें चाटुकारिता द्वारा दास की तरह प्रसन्न करते हैं, वे ही सचमुच में महिलाओं के प्रिय कहलाते हैं, शेष व्यक्ति तो स्वामी हैं, प्रिय नहीं।

अलङ्कार सर्वस्व के कर्त्ता राजानक रुय्यक ने अपने इस अलंकार ग्रन्थ में १० प्राकृत पद्य उद्धृत किए हैं। मम्मट (ई० सन् १२ वीं शती) के काव्यप्रकाश में प्राकृत की ४९ गाथाएँ उपलब्ध होती हैं। आर्थी व्यञ्जना का उदाहरण उपस्थित करते हुए लिखा है—

अइपिहुलं जलकुम्भं घेत्तूण समागदह्मि सहि! तुरिअम्।
समसेअ सलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम्॥ ३।१३

हे सखि! मैं बहुत बड़ा जल का घड़ा लेकर जल्दी-जल्दी आई हूँ, इससे श्रम के कारण पसीना बहने लगा है और मेरी साँस चलने लगी है, जिसे मैं सहन नहीं कर सकती, अतएव क्षणभर के लिए मैं विश्राम ले रही हूँ। (यहाँ चोरी-चोरी की गयी रति की ध्वनि व्यक्त होती है।)

ओण्णिद्दं दोब्बल्लं चिंता अलसंतणं सणीससिअम्।
मह मंद भाइणीए केरं सहि ! तुहवि अहह परिभवइ ॥ ३।१४

हे सखि ! कितने दुःख की बात है कि मुझ अभागी के कारण तुझे भी अब नींद नहीं आती, तू दुर्बल हो गई है, चिन्ता से व्याकुल है, थकावट का अनुभव करने लगी है और लम्बी साँसों से कष्ट पा रही। यहाँ दूती नायिक के प्रेमी के साथ रति सुख का उपभोग करने लगी है, इसकी व्यञ्जना की गयी है।

आक्षेप अलंकार का उदाहरण देते हुए लिखा है—

ए एहि किंपि कीएवि कएण णिक्किव ! भणामि अलमहवा।
अविआरिअकज्जारम्भआरिणी मरउ ण भणिस्सम् ॥ १०।४७१

अरे निष्ठुर ! जरा यहाँ तो आ, मुझे उसके बारे में तुझसे कुछ कहना है, अथवा रहने दे, क्या कहूँ; विना विचारे मनमाना करनेवाली यदि वह मर जाय तो अच्छा है, अब मैं कुछ नहीं कहूँगी।

हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन (१२ वीं शती) का प्रणयन किया है। इसमें शृङ्गार, नीति और वीरता विषयक ७८ प्राकृत पद्य संग्रहीत हैं। ये पद्य गाथासप्तशती, सेतुबन्ध, कर्पूरमञ्जरी और रत्नावलि आदि ग्रन्थों से ग्रहण किये गये हैं। युद्ध के लिए प्रस्थान करते हुए नायक की मनोदशा का चित्र द्रष्टव्य है—

एक्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरनिग्घोसो।
नेहेण रणरसेण य भडस्स दोलाइयं हिअअम् ॥ ३।२ टीका १८७

एक ओर प्रियारुदन कर रही है, दूसरी ओर रणभेरी बज रही है। इस प्रकार स्नेह और युद्ध रस के बीच योद्धा का हृदय दोलायमान—चलायमान हो रहा है।

कविराज विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण (ई० सन् १४ वीं शती) की रचना काव्यप्रकाश की आलोचना के रूप में की है। इसमें २४ प्राकृत पद्य उद्धृत हैं, इनमें से अधिकांश गाथासप्तशती से लिये गये हैं, कुछ पद्य लेखक के द्वारा भी लिखित हैं। कवि ने निम्नलिखित गाथा को अपनी कहकर अंकित किया है :—

पन्थिअ ! पिआसिओ विअ लच्छी असि जासि ता किमण्णत्तो।
ण मणं वि वारओ इध अत्थि घरे घणरसं पिअंताणं ॥ ३।१२८

हे पथिक ! तू प्यासा मालूम होता है, तू अन्यत्र कहाँ जाता हुआ दिखाई देता है। मेरे घर में गाढ़रस का पान करने वालों की कोई रोक नहीं है। यहाँ रतिरस के पान की अभिव्यञ्जना की गयी है।

विरहिणी की दयनीय अवस्था का चित्रण करते हुए कहा है—

भिसणीअलसअणीए निहिअं सव्वं सुणिच्चलं अंगं।
दीहो णीससाहरो एसो साहेइ जीअइ त्ति परं ॥

कमलिनी-दल की शय्या पर समस्त अङ्ग निश्चल रूप से स्थापित कर दिये गये हैं, जिससे नायिका मृतक की भाँति दिखलायी पड़ती है, किन्तु उसके दीर्घ निःश्वास की बहुलता से पता लगता है कि वह अभी जीवित है।

वेणीबन्धन के उपलक्ष में एक नायिका अपनी सखि को उपलम्भ देती हुई कहती है—

एसा कुडिलघणेण चिउरकडप्पेण तुह णिबद्धा वेणी।
मह सहि ! दारइ दंसइ आअसजट्ठिव्व कालउरइव्व हिअअं ॥ ३।१७३

हे मेरी सखि ! कुटिल और घने केशलाप से बद्ध तुम्हारी यह वेणी लोहे की यष्टि की भाँति हृदय में घाव करती है और कालसर्पिणी की भाँति डस लेती है।

चन्द्रमा की चाँदनी का वर्णन करते हुए कहा है—

एसो ससहरबिंबो दीसइ हेअंगवीणपिंडो व्व।
एदे अअस्स मोहा पडंति आसासु दुद्धधारव्व ॥ ७।१५

यह चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब घृतपिण्ड की भाँति मालूम होता है और इसकी फैलती हुई किरणें दूध की धारा के समान प्रतीत होती हैं।

विरहिणी की कामविह्वल अवस्था का चित्रण करते हुए कहा है—

ओवट्टइ उल्लट्टइ परिवट्टइ सअणे कहिंपि।
हिअएण फिट्टइ लज्जाइ खुट्टइ दिहीए सा ॥

विरहिणी शय्या पर कभी नीचे मुँह करके लेट जाती है, कभी ऊपर को मुँह कर लेती है और कभी इधर-उधर करवटें बदलती हैं। उसके मन को जरा भी चैन नहीं, लज्जा से वह खेद को प्राप्त होती है और उसका धीरज टूटने लगता है।

पंडितराज जगन्नाथ (ई० सन् १७ वीं) ने रसगंगाधर में उदाहरणों के लिए प्राकृत पद्य उद्धृत किये हैं। काव्य की दृष्टि से इन पद्यों का भी मूल्य है। अमरचन्द्र सूरि के अलंकार प्रबोध में प्राकृत के अनेक सुन्दर पद्य आये हैं।

अलङ्कारदप्पण

अलंकार दर्पण की हस्तलिखित प्रति वि० सं० ११६१ की प्राप्त है, अतः इस ग्रन्थ का रचना काल इससे पूर्व है, इसमें सन्देह नहीं। प्राकृत भाषा में अलंकार विषय पर लिखा गया यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में १३४ गाथाएँ हैं और श्रुत-देवता को नमस्कार करने के कारण इसका रचयिता जैन है, इसमें आशंका नहीं। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। अलंकारों के लक्षण, उदाहरण, काव्यप्रयोजन प्रभृति पर प्राकृत भाषा में पद्य लिखे गये हैं। कर्ता का नाम अज्ञात है।

कोषग्रन्थ

किसी भी भाषा के शब्दसमूह का रक्षण और पोषण कोश-साहित्य द्वारा ही संभव है। कोश की महत्ता के सम्बन्ध में बताया गया है—

कोशश्चैव महीपानां कोशश्च विदुषामपि ।
उपयोगो महान्नेष क्लेशस्तेन विना भवेत् ॥

जिस प्रकार राजाओं या राष्ट्रों का कार्य, कोश (खजाना) के बिना नहीं चल सकता है, कोश के अभाव में शासन-सूत्र के सञ्चालन में क्लेश होता है, उसी प्रकार विद्वानों को शब्दकोश के बिना अर्थग्रहण में क्लेश होता है । शब्दों में संकेत ग्रहण की योग्यता कोशसाहित्य के द्वारा ही आती है ।

शब्द केवल एक व्यक्ति के लिए नहीं बने हैं, बल्कि वे सामाजिक सम्बन्धों का मूल्य निर्धारण करने के लिए उसी प्रकार बनाए गये हैं, जिस प्रकार आर्थिक मूल्य निर्धारण का व्यवहार चलाने के लिए सिक्के बनाये जाते हैं । अतः प्रत्येक भाषा के चिन्तक विद्वान् कोष का प्रणयन करते हैं, क्योंकि विशेष-विशेष अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए कोषों की आवश्यकता होती है । यहाँ प्राकृत शब्दकोषों का इतिवृत्त प्रस्तुत किया जायगा ।

पाइयलच्छी नाममाला[1]

संस्कृत के अमरकोष के समान प्राकृत में धनपाल कवि की यह नाममाला है । धनपाल ने अपनी छोटी बहन सुन्दरी के अध्ययनार्थ इस कोश की विक्रम संवत् १०२९ (सन् ९७३ ई०) में धारा नगरी में रचना की है । ग्रन्थ के अन्त में दी हुई प्रशस्ति में महाकवि ने लिखा है :—

विक्कमकालस्स गए अउणत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि ।
मालवनरिंदधाडीए लूडिए मन्नखेडम्मि ॥ १ ॥
धारानयरीय परिट्ठिएण मग्गेठिआए अणवज्जे ।
कज्जे कणिट्ठबहिणीए 'सुन्दरी' नामधिज्जाए ॥ २ ॥
कइणो अंध जण किवा कुसल त्ति पयाणमंतिमा वण्णा ।
नामम्मि जस्स कमसो तेणेसा विरइया देसी ॥ ३ ॥
कव्वेसु जे रसड्ढा सद्दा बहुसा कईहि बज्झंति ।
ते इत्थ मए रइआ रमंतु हिअए सहिअयाणं ॥ ४ ॥

अर्थात् वि० सं० १०२९ में जबकि मालवनरेन्द्र को निर्वासित कर दिया गया था, धारा नगरी के अन्तर्गत मानखेट गाँव में कवि धनपाल ने अपनी छोटी बहन सुन्दरी के लिए इस निर्दोष ग्रन्थ की रचना की है । जो काव्यों का रसास्वादन करनेवाले हैं, वे कवियों के द्वारा प्रयुक्त नाना प्रकार की शब्दावली को इस कृति के द्वारा अवगत कर सकेंगे ।

---

१. वि० सं० २००३ में केसरबाई जैन ज्ञानमन्दिर, पाटण द्वारा प्रकाशित ।

धनपाल कवि का उल्लेख कवि हेमचन्द्र ने 'अभिधान चिन्तामणि' की स्वोपज्ञ वृत्ति में "व्युत्पत्तिर्धनपालतः" कहकर किया है। अतः यह सिद्ध है कि कोषकार धनपाल, हेमचन्द्र के समय तक पर्याप्त यश अर्जन कर चुके थे।

इनके पिता का नाम सर्वदेव था। ये काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनका मूल निवास-स्थान 'शंकास्य' नामक ग्राम था। ये आजीविका के निमित्त धारा नगरी में आये थे। इनके पिता वैष्णव धर्मानुयायी थे। आधी आयु बीत जाने पर धनपाल ने महेन्द्रसूरि के निकट जैनधर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। उन्होंने धारा नगरी में जैनों के प्रवेश पर लगी हुइ रोक को हटाया था। जैनधर्म में दीक्षित होने के उपरान्त ही धनपाल ने 'पाइअलच्छी-नाममाला' की रचना की है।

यह पद्यबद्ध कोष है, इसमें कुल २७५ गाथाएँ और ९९८ शब्दों के पर्याय संग्रहीत हैं। इस कोश में संस्कृत व्युत्पत्तियों से सिद्ध प्राकृत शब्द तथा देशी शब्द इन दोनों प्रकार के शब्दों का संकलन किया है। उदाहरण के लिए भ्रमर के पर्यायवाची शब्दों को लिया जा सकता है :—

फुल्लंधुआ रसाऊ भिंगा भसला य महुअरा अलिणो।
इंदिदिरा दुरेहा धुअगाया छप्पया भमरा ॥ ११ ॥

फुल्लंधुअ, रसाऊ, भिंग, भसल, महुअर, अलि, इंदिदर, दुरेह, धुअगाय, छप्पय और भमर ये ग्यारह नाम भ्रमर के हैं। इनमें भसल, इंदिदर और धुअगाय ये तीन शब्द देशी हैं। फुल्लंधुअ की व्युत्पत्ति पुष्पन्धय से और रसाऊ की रसायुष् से जोड़ी जा सकती है। पुष्पन्धय का अर्थ पुष्परस का पान करनेवाला भ्रमर है, अतः उक्त दोनों शब्दों को व्युत्पत्ति से सिद्ध होने पर भी धनपाल ने देशी माना है।

सुन्दर शब्द के पर्यायवाचियों में लट्ठं का प्रयोग पाया जाता है, यह भी देशी शब्द है। इस कोश में कुछ ऐसे भी शब्द आये हैं, जिनका प्रयोग आज भी लोकभाषाओं में होता है। उदाहरण के लिए अलस या आलस के पर्यायवाचियों में एक मट्ठ (गाथा १५) शब्द आया है। ब्रजभाषा में आज भी आलसी के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग पाया जाता है। इसी प्रकार नूतन पल्लवों के अर्थ में कुंपल शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द ब्रजभाषा, भोजपुरी और खड़ी बोली इन तीनों में प्रयुक्त होता है।

इस कोश के अन्त में प्रत्ययों के अर्थ बतलाये गये हैं। इर प्रत्यय को स्वभावसूचक तथा इल्ल, इत्त और आल प्रत्यय को मत्वर्थक[1] बताया गया है। महाकवि धनञ्जय ने सभी प्रकार के नामों में संस्कृत निष्पन्न नामों के साथ देशी नामों का भी निरूपण किया है। कवि हाथी के पर्यायवाची नामों का निर्देश करता हुआ कहता है—

१. इर तच्छीले। इत्तो आलो य मउअत्थे ॥ २७५ ॥

पीलू गओ मयगलो मायंगो सिंधुरो करेणू य।
दोघट्टो दंती वारणो करी कुंजरो हत्थी ॥ ९ ॥

देशीनाममाला या देशीशब्द संग्रह[1] (रयणावली)

आचार्य हेमचन्द्र का देशी शब्दों का यह शब्दकोष बहुत महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है। इस प्राकृत कोष के आधार पर आधुनिक आर्यभाषाओं के शब्दों की सांगोपाङ्ग आत्मकहानी लिखी जा सकती है। प्राकृत भाषा का शब्द-भण्डार तीन प्रकार के शब्दों से युक्त हैं—तत्सम, तद्भव और देशी। तत्सम वे शब्द हैं, जिनकी ध्वनियाँ संस्कृत के समान ही रहती हैं, जिसमें किसी भी प्रकार का वर्णविकार उत्पन्न नहीं होता; जैसे नीर, कंक, कंठ, ताल, तीर, देवी आदि। जिन शब्दों को संस्कृत ध्वनियों में वर्णलोप, वर्णागम, वर्णविकार अथवा वर्णपरिवर्तन के द्वारा अवगत किया जाये, वे तद्भव कहलाते हैं, जैसे अग्र = अग्ग, इष्ट = इट्ठ, धर्म = धम्म, गज = गय, ध्यान = धाण, पश्चात् = पच्छा आदि। जिन प्राकृत शब्दों की व्युत्पत्ति—प्रकृति प्रत्यय विधान सम्भव न हो और जिनका अर्थ मात्र रूढि पर अवलम्बित हो, ऐसे शब्दों को देश्य या देशी कहते हैं; जैसे अगय = दैत्य, आकासिय = पर्याप्त, इराव = हस्ति, पलविल = धनाढ्य, छासी = छाश, चोढ = विल्व। देशी नाममाला में जिन शब्दों का संकलन किया गया है, उनका स्वरूप निर्धारण स्वयं ही आचार्य हेम ने किया है—

"जो शब्द न तो व्याकरण से व्युत्पन्न हैं और न संस्कृत कोशों में निबद्ध हैं तथा लक्षणा शक्ति के द्वारा भी जिनका अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, ऐसे शब्दों का संकलन इस कोश में करने की प्रतिज्ञा आचार्य हेम ने की है। देशी शब्दों से यहाँ महाराष्ट्र, विदर्भ, आभीर आदि प्रदेशों में प्रचलित शब्दों का संकलन भी नहीं समझना चाहिये। यतः देश विशेष में प्रचलित शब्द अनन्त हैं, अतः उनका संकलन सम्भव नहीं है। अनादि काल से प्रचलित प्राकृत भाषा ही देशी है।[2]

हेम ने उपर्युक्त प्रतिज्ञावाक्य में बताया है कि जो व्याकरण से सिद्ध न हों, वे देशी शब्द हैं और इस कोष में इसी प्रकार के देशी शब्दों के संकलन की प्रतिज्ञा की गयी है, पर इसमें आधे से अधिक ऐसे शब्द हैं, जिनकी व्युत्पत्तियाँ व्याकरण के नियमों के आधार पर सिद्ध हो जाती हैं।

इस कोष में ३९७८ शब्द संकलित हैं। इनमें तत्सम शब्द १८० + गर्भित तद्भव १८५० + संशययुक्त तद्भव ५२८ + अव्युत्पादित प्राकृत शब्द १५०० = ३९७८। वर्णक्रम से लिखे गये इस कोष में आठ अध्याय हैं और कुल ७८३ गाथाएँ हैं। उदाहरण के रूप

---

१. गुजराती सभा, बम्बई द्वारा वि० सं० २००३ में प्रकाशित।

२. देशीनाममाला १।३–४।

में इसमें ऐसी अनेक गाथाएँ उद्धृत हैं, जिनमें मूल में प्रयुक्त शब्दों को उपस्थित किया गया है, इन गाथाओं का साहित्यिक महत्त्व भी कम नहीं है। कितनी ही गाथाओं में विरहिणियों की चित्तवृत्ति का सुन्दर विश्लेषण किया गया है। उदाहरणों की गाथाओं का रचयिता कौन है, यह विवादास्पद है। शैली और शब्दों के उदाहरणों को देखने से ज्ञात होता है कि इनके रचयिता भी आचार्य हेम होने चाहिये। इस कोष की निम्नांकित विशेषताएँ हैं :—

१. साहित्यिक सुन्दर उदाहरणों का संकलन किया गया है।

२. संकलित शब्दों का आधुनिक भारतीय भाषाओं के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

३. ऐसे शब्दों का संकलन किया है, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं।

४. ऐसे शब्द संकलित हैं, जिनके आधार पर उस काल के रहन-सहन और रीति-रिवाजों का यथेष्ट परिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

५. परिवर्त्तित अर्थवाले ऐसे शब्दों का संकलन किया गया है, जो सांस्कृतिक इतिहास के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उपयोगी हैं।

साहित्यिक सौन्दर्य

उदाहृत गाथाओं में से अनेक गाथाओं का सरसता, भावतरलता एवं कलागत-सौन्दर्य की दृष्टि से गाथासप्तशती के समान ही मूल्य है। इनमें शृङ्गार, रति-भावना, नख-शिख चित्रण, धनिकों के विलासभाव, रणभूमि की वीरता, संयोग, वियोग, कृपणों की कृपणता, प्राकृति के विभिन्न रूप और दृश्य, नारी की मसृण और मांसल भावनाएँ एवं नाना प्रकार के रमणीय दृश्य अंकित हैं। विश्व की किसी भी भाषा के कोष में इस प्रकार के सरस पद्य उदाहरणों के रूप में नहीं मिलते। कोषगत शब्दों का अर्थ उदाहरण देकर अवगत करा देना हेमचन्द्र की विलक्षण प्रतिभा का ही कार्य है। नमूने के लिये दो-एक गाथा उद्धृत की जाती है :—

आयावलो य बालयवम्मि आवालयं च जलणियडे।
आडोवियं च आरोसियम्मि आराइयं गहिए॥ १।७०

अर्थात्—आयावलो = बालतपः, आवालयं = जलनिकटम्, आडोवियं = आरोपितम् और आराइयं = गृहीतम् अर्थ में प्रयुक्त हैं। इन शब्दों का यथार्थ प्रयोग अवगत करने के लिये उदाहरण रूप में निम्नांकित गाथा उपस्थित की गयी है :—

आयावले पसरिए किं आडोवसि रहंग ! णियदइयं।
आराइयबिसकन्दो आवालठियं पसाएसु॥
—५८ (७०)—प्रथम वर्ग

हे चक्रवाल, सूर्य के बाल आतप के फैल जाने पर—उदय होने पर तुम अपनी स्त्री के ऊपर क्यों क्रोध करते हो ? तुम कमलनाल लेकर जल के निकट बैठी हुई अपनी भार्या को प्रसन्न करो ।

अङ्कारो अत्थारो साहिज्जे अत्थुडं लहुए ।
अक्कंतं च पवुड्ढे, अंबोच्ची पुप्फलावीए ।। १।६

अंकारो तथा अत्थारो = साहाय्यम्; अत्थुडं = लघु; अक्कंतं = प्रवृद्धम्; अंबोच्ची = पुष्पलावी ।

कुसुमाउह अंकारं अंबोचीणं च कुणइ अत्थारं ।
मलयसमीरो अइअत्थुडो वि काही किं अक्कंतो ।।

—६ (९) प्रथम वर्ग

अत्यन्त मन्द चलनेवाला मलयानिल कामदेव और पुष्पचयन करनेवाली महिला की सहायता करता है; पर तेजी से चलनेवाला वायुमण्डल कुछ नहीं कर सकता ।

अंकेल्ली अ असोए अज्झेल्ली दुहियदुज्झधेणुए ।
अंबेट्टी मुट्ठिजूए, अन्नाणं विवाहबहुदाणे ।। १।७

अंकेल्ली = अशोकतरुः; अज्झेली दुग्धदोह्या धेनुः—या पुनः पुनर्दुह्यते, अंबेट्टी = मुष्टिद्यूतम्; अन्नाणं = विवाहबधूदानं—विवाहकाले वध्वै यद् दीयते यद्वा विवाहार्थं वध्वा एव वराय यद् दानम् ।

अङ्केल्लितलासीणो मा रम अम्बेट्टिआइ पुत्त ! तुमं ।
अज्ज तए दायव्वा अज्झेल्ली बहिणीअन्नाणे ।।

(४।७) प्रथम वर्ग

हे पुत्र ! अशोक वृक्ष के नीचे बैठकर मुष्टिद्यूत—जुआ मत खेलो; क्योंकि आज तुमको अपनी बहिन के विवाह में एक दुधारु गाय का दान भी देना है । यह दिन तुम्हारे लिए द्यूतक्रीडा का नहीं है, तुम अपनी बहिन के विवाह की तैयारी करो; जिसमें तुम्हें एक बार-बार दुही जानेवाली गाय भी देनी है ।

आचार्य हेम अक्कोड और अणप्प शब्दों का प्रयोग बतलाते हुए एक राजा को सबल के प्रति वीरता दिखलाने का संकेत प्रकट करते हैं । कमजोर या दीनों की हिंसा करना व्यर्थ है, यतः पराक्रम सर्वदा सबल के ऊपर ही दिखलाना चाहिये । यथा—

णिव ! मा अक्कोड-असार-अल्लयं कुण अणप्पं इमिणा हि ।
भरिया अरिकरिमुत्ताहिं दिसि अवारा विदिसि अवारीओ ।।

९ (१२) प्रथम वर्ग

हे राजन् ! इस दीन बकरे पर अपनी तलवार की परीक्षा मत कीजिये; क्योंकि वह तलवार रणक्षेत्र में हाथियों के गण्डस्थलों को विदीर्ण कर दिशा-विदिशाओं के बाजार

में गजमुक्ताओं को पहुँचायेगी। इस गाथा से सबल के ऊपर ही पराक्रम दिखलाने की ध्वनि निकलती है।

खणमित्तकलुसियाए तुलियालयवल्लरी समोत्थरीयं।
भमरभर ओहुरयं पंकयं व भरिमो मुहं तोए॥

क्षण भर के लिए उदास मुँहवाली स्त्री के मुख पर लटकती हुई केशावली कमल पर आसीन भ्रमर-पंक्ति की याद दिलाती है।

इस प्रकार इस कोष में सरस उदाहरण निबद्ध किए गये हैं, जिनसे शब्दों के अर्थ तो स्पष्ट होते ही हैं, साथ ही कलागत सौन्दर्य भी प्रकट होता है।

आधुनिक भाषा शब्दों से साम्य

इस कोश में ऐसे अनेक शब्द संग्रहीत हैं, जिनसे मराठी, कन्नड़, गुजराती, अवधी, व्रजभाषा और भोजपुरी के शब्दों की व्युत्पत्ति सिद्ध की जा सकती है। सम्प्रति हिन्दी शब्दों की व्युत्पत्तियाँ संस्कृत शब्दावली से सिद्ध की जा रही हैं। पर यथार्थ में अनेक ऐसे शब्द हैं, जिनका संस्कृत शब्दों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ इस प्रकार के देशी शब्दों की एक तालिका दी जाती है, जिनसे हिन्दी के शब्दों का सीधा सम्बन्ध है।

अङ्गालिअं इक्षुखण्डम् (१।२८)—यह शब्द ईख के उस टुकड़े के अर्थ में आया है, जो निस्सार होता है, जहाँ ईख की पत्तियाँ गली रहती हैं। यह पशुओं के चारे के काम में आता है। भोजपुरी, व्रजभाषा और अवधी में अंगोला शब्द प्रचलित है। इसकी व्युत्पत्ति अंगालिअं से स्पष्ट है।

अम्मा (१।५)—हिन्दी की विभिन्न ग्रामीण बोलियों में यह इसी अर्थ में प्रयुक्त है।

उक्खली पिठरम् (१।८८)—अवधी में ओखरी; राजस्थानी, व्रजभाषा और भोजपुरी में ओखली, उखली, ओखरी और ओखड़ी; बुन्देली में उखरी शब्द आता है।

चुल्लीह उल्लि-उद्दाणा (१।८७)—भोजपुरी, राजस्थानी, व्रजभाषा और अवधी में चूल्हा; गुजराती में चूलो; बुन्देली में चूलौ और खड़ी बोली में चूल्हा।

उत्थल्ला परिवर्तनम् (१।९३)—हिन्दी में उथल।

उल्लुटं मिथ्या (१।७९)—हिन्दी की सभी ग्रामीण बोलियों में उलटा।

उसीरं विसतन्तु : (१।९४)—अवधी, भोजपुरी और व्रजभाषा में उशीर; यह शब्द कमलनाल या खश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत से भी सिद्ध है।

उदिडो माषधान्यम् (१।९८)—व्रजभाषा उड़द, भोजपुरी उरिद; खड़ी बोली उड़द; गुजराती अउद, राजस्थानी उड़िद या उडद और बुन्देली में उरदन।

उड्डसो मत्कुणः (१.९६)—भोजपुरी में उड़िस या उड़ीस; बँगला और मैथिली में उड़ीस।

उत्तालं, उव्वेत्तालं द्वावप्येतौ निरन्तरस्वररुदिते (१।१०१)—हिन्दी की समस्त ग्रामीण बोलियों में उक्त अर्थ में ही उत्ताल शब्द पाया जाता है।

उव्वाओ खिन्नार्थं (१।१०२)—ब्रजभाषा और अवधी में ऊबना; भोजपुरी में उबना और ऊबना; अवधि-कोश में बतलाया गया है कि यह 'औबा' से सम्बद्ध है अर्थात् वैसे ही घबराना, जैसे ओबा की बीमारी से लोग घबराते हैं। इससे स्पष्ट है कि अवधि-कोशकार ऊबना का सम्बन्ध 'ओबा' से मानते हैं, पर यह ठीक नहीं है। ऊबना का सम्बन्ध उव्वाओ से ठीक बैठता है।

उत्थल्ल-पत्थल्ला पार्श्वद्वयेन परिवर्त्तनम् (१।१२२)—हिन्दी में उथल-पुथल; गुजराती में उथल-पाथल।

ओज्झरी अन्त्रावरणम् (१।१५७)—आँत या पेट ब्रजभाषा में ओज्झ, ओझर, भोजपुरी में ओज्झरी।

ओड्ढणं उत्तरीयम् (१।१५५) राजस्थानी ओढ़नो, ब्रजभाषा, अवधी और गुजराती में ओढ़नी। ब्रजभाषा सूर-कोश में बताया गया है कि ओढ़नी स्त्रियों के ओढ़ने के वस्त्र, उपरैनी, चादर फरिया है। सं० अवधान शब्द से इसका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।

कट्टारी क्षुरिका (२।४)—हिन्दी की सभी ग्रामीण बोलियों में कटारी। सं० शब्द कर्त्तरी से सम्बद्ध किया जा सकता है।

कन्दो मूलशाकम् (२।१)—हिन्दी, बंगला और मैथिली में कन्द। यह संस्कृत में भी प्रयुक्त है।

काहारो जलादिवाही कर्मकारः (२।२७)—हिन्दी की सभी ग्रामीण बोलियों में काहार या कहार।

कुकुसो धान्यादितुषः (२।३६)–हिन्दी का कन-कूकस मुहावरा इसीसे निकाला है।

कोइला काष्ठाङ्गारः (२।४९)—हिन्दी कोयला।

कोल्हुओ इक्षुनिपीडनयन्त्रम् (२।६५)—हिन्दी की सभी बोलियों में कोल्हू।

खट्टिको शौनिकः (२।७०)—हिन्दी और गुजराती में खटीक।

खड्डा खनिः (२।६६)—हिन्दी में खड्डा।

खडक्की लघुद्वारम् (२।७१)—खड़ी बोली में खिड़की; ब्रजभाषा खिड़की; भोजपुरी में खिरकी और बुन्देली में भी खिरकी।

खली तिलपिण्डिका (२।६६)—हिन्दी में खली।

खाइया परिखा (२।७३)—हिन्दी की सभी बोलियों में खाई।

खल्ला चर्म (२।६६)—हिन्दी में खाल।

गड्डुरी छागो (२।८४) - हिन्दी की प्रायः सभी बोलियों में बकरियों को चराने और पालनेवाली जाति को गड़ेरी कहते हैं।

गंडीरी इक्षुखण्डम् (२।८२)—हिन्दी में गंडेली या गंडेरी।

गोवरं करीषम् (२।९६)—हिन्दी गोबर।

घग्घरं जघनस्थवस्त्रभेदः (२।१०७)—ब्रजभाषा और राजस्थानी में घांघरा।

घट्टो नदीतीर्थम् (२।१११) हिन्दी घाट। संस्कृत में यह शब्द प्राकृत से गया है।

चाउला तण्डुला (३।८)—हिन्दी चावल।

छइल्लो विदग्धः (३।२४)—हिन्दी छैला। हिन्दी में छबीला भी पाया जाता है, जो सं० छवि + ल (सुन्दर) से सम्बद्ध है।

छिणाली जारः (३।२७)—हिन्दी छिनाल।

छेंडी लघुरथ्या (३।३१)—ब्रजभाषा में छेड़ी।

छल्ली त्वक् (३।२४)—खड़ी बोली में छाल।

जोण्णालिआ धान्यम् (३।५०)—ब्रजभाषा जुणरी, जुनरी; भोजपुरी में जनरी; राजस्थानी में जोणरी या जुणरी और अंगिका में जोणरा या जनेरा।

झमालं इन्द्रजालम् (३।५३)—हिन्दी झमेला।

झाडं लतागहनम् (३।५७)—हिन्दी झाड़।

झुट्ठं अलीकम् (३।५८)—हिन्दी की सभी बोलियों में झूठ।

टिप्पी तिलकम् (४।३)—हिन्दी टिपकी या टिप्पी।

ठल्लो निर्धनः (४।५)—हिन्दी ठल्ला।

डाली शाखा (४।९)—हिन्दी डाली।

ढंकणी पिधानिका (४।१४)—हिन्दी ढकना; ढकनी।

ढेंका कूपतुला (४।१७)—हिन्दी ढेंका या ढेंकुल।

तग्गं सूत्रम् (५।१)—हिन्दी तागा।

पलही, कर्पासः (६।४)—ब्रजभाषा में पहेला, पैला।

मम्मी, मामी मातुलानी (६।११२)—हिन्दी की सभी बोलियों में मामी तथा प्यार की बोली में मम्मी।

सोहणी-सम्मार्जनी (८।१७)—हिन्दी सोहनी।

हरिआली दूर्वा (८।६४)—हिन्दी हरियाली।

विशेष शब्द—इस कोश में कुछ ऐसे शब्द भी संकलित हैं, जिनके समक्ष अन्य किसी भाषा में उन अर्थों को अभिव्यक्त करनेवाले शब्द नहीं हैं। यथा चिच्चो (३।९) शब्द चिपटी नाक या चिपटी नाकवाले के लिए; अज्झेली (१।७) शब्द सवत दूध

देनेवाली गाय के लिए; जंगा (३।४०) गोचरभूमि Pasture land के लिए, अन्नाणं (१।७) शब्द विवह के समय वरपक्ष की ओर से वधू को दी जानेवाली भेंट के लिए; अंगुट्ठी (१।६) शब्द सिरगुन्थी के लिए; अणुवज्जिअं (१।४१) जिनकी सेवा-शुश्रूषा की जाती है, उसके लिए; कक्कसो (२।१४) दधि और भात मिलाकर खाने या मिले हुए दही-भात के लिए; उलुहलिओ (१।११७) शब्द उस व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है, जो कभी तृप्ति को प्राप्त नहीं होता; परिहारिणी (६।३१) शब्द उस भैंस के लिए आया है, जो भैंस पाँच वर्षों से प्रजनन नहीं कर रही है; अहिविण्ण (१।२५) शब्द उस स्त्री के लिए आया है, जिसके पति ने दासी-स्त्री से विवाह किया है; पाइप्पण (१।७४) शब्द उत्सव के समय घर को चूने से पुतवाने के अर्थ में; पड्डी (६।१) पहले-पहल बच्चा देनेवाली गाय के लिए; एवं पोउआ (६।६१) सूखे गोबर की अग्नि के लिए आया है। यहाँ इस प्रकार के शब्दों की एक छोटी-सी तालिका दी जाती है।

अयाली (१।१३)—मेघों से घिरे दुर्दिन के लिए।

अलयलो (१।३५)—बलवान् जबरदस्त साँड़ के लिए।

अवअच्छिअं (१।४०)—दाढ़ी बनाकर साफ किये गये मुँह के लिए।

अवअच्छं (१।२५)—अधोवस्त्र, विशेषतः जाँघिया के अर्थ में पेटीकोट या अण्डरवियर।

अइगयं (१।५७)—सड़क के पीछे के हिस्से के लिए।

अक्कसाला (१।५८)—कुछ उन्मत्त हुई स्त्री के लिए।

अचलं (१।५३)—घर का पश्चिमी भाग।

उच्छुअ (१।९५) भय या आतंकपूर्ण की गयी चोरी।

उच्छडिअं (१।११२)—चोरी का माल।

उज्झरिअं (१।१।३३)—काने का दृष्टिपात।

उड्डुणो (१।१२३)—बूढ़ा बैल।

कुप्पढो (२।३६)—गृह-समुदायाचार या घरेलू नियम-प्रतिनियम।

झोटी (३।५९)—कीमती भैंस।

झेरी (३।५९)—पुराना घण्टा।

दुम्मइणी (५।४७)—लड़ाकू स्त्री।

घण्णाउसो (५।५८)—वाचनिक आशीर्वाद—जो आशीर्वाद हृदय से नहीं, केवल वचन से दिया जाय।

धम्मओ (५।६३)—चण्डी देवी के लिए उपस्थित की गयी पुरुषबलि।

पंथुच्छुहणी (६।३५) श्वसुर के घर प्रथम बार लायी गयी बहू।

हंजओ (८।६१)—शरीर छूकर की गयी शपथ।

संस्कृति-सूचक शब्द

इस कोष में संस्कृति-सूचक बहुत से शब्दों का संकलन किया गया है। इन शब्दों के आधार पर उस काल की सभ्यता और संस्कृति का इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है। यहाँ उदाहरण के लिए कुछ शब्दों का विवरण उपस्थित किया जाता है।

केशरचना के लिए इस प्राकृत कोष में कई प्रकार के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उन शब्दों के अध्ययन से अवगत होता है कि उस समय केश-विन्यास के कई तरीके प्रचलित थे। सामान्य केश-रचना के लिए बव्वरी (६।९०); रूखे केश-बन्ध के लिए फुंटा (९।८४); केशों का जूड़ा बाँधने के लिए ओअग्गिअं (१।१७२); सीमान्त—सुन्दर ढंग से सजाये गये केश-विन्यास के लिए कुंभी (२।३४); रूखे बालों को साधारण ढंग से लपेटने के अर्थ में ढुमंतओ (५।४७); सिर पर रंगीन कपड़ा लपेटने के अर्थ में अणराहो (१।२४) एवं किसी लसदार पदार्थ को लगाकर सिर के अवगुंठन के अर्थ में णीरंगी (५।३१) शब्द आया है। ये शब्द इस बात को प्रकट करते हैं कि उस समय समाज में रहन-सहन का स्तर पर्याप्त उन्नत था।

इस कोष में आषाढमास में गौरी-पूजा के निमित्त होनेवाले उत्सव-विशेष का नाम भाउअं (६।१०३); श्रावणमास में शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को होनेवाले उत्सव-विशेष के लिए वोरल्ली (७।८१); भाद्रपदमास में शुक्लपक्ष की दशमी को सम्पन्न होनेवाली उत्सव के लिए णेडुरिया (४।४५); आश्विन कृष्णपक्ष में सम्पादित होनेवाले श्राद्धपक्ष के लिए महालवक्खो (६।१२७); आश्विनमास में शरत्पूर्णिमा जैसे महोत्सव के लिए पोआलओ (६।८१)—इस उत्सव में पति-पत्नी के हाथ से पूओं का भोजन कराता था, माघ महीने में एक ऐसा उत्सव सम्पन्न किया जाता था, जिसमें ऊख की दतवन की जाती थी, इस उत्सव के लिए अवयारो (१।३२); वसन्तोत्सव के लिए फग्गू (६।८२) एवं नवदम्पति परस्पर एक दूसरे का नाम लेते थे, उस समय जो उत्सव सम्पादित किया जाता था, उसके लिए लयं (७।१६) शब्द का प्रयोग किया है। इन उत्सव वाची शब्दों को देखने से ज्ञात होता है कि उस समय का समाज अपना मनोरञ्जन करने के लिए नाना प्रकार के उत्सव सम्पन्न करता था। पोआलोओ, फग्गू और अवयारो उत्सव सार्वजनिक थे। इसमें सभी स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लेते थे।

रीति-रिवाज सूचक शब्दों की भी इस कोष में कमी नहीं है। एमिणिआ (१।१४५) शब्द उस स्त्री का वाचक है, जो अपने शरीर को सूत से नापकर उस सूत को चारों दिशाओं में फेंकती है। आणंदवडो (१।७२) शब्द का अर्थ है कि जिसका विवाह कुमारी अवस्था में हो जाय, वह स्त्री जब प्रथम बार रजस्वला हो, उसके रजोलिप्त वस्त्र को देखकर पति या पति के अन्य कुटुम्बी जो आनन्द प्राप्त करते हैं, वह आनन्द इस शब्द के द्वारा व्यक्त किया गया है।

इसमें कुछ खेल के वाचक शब्द भी संकलित हैं। इन शब्दों से उस काल के खेल विषयक मनोरंजन के साधनों पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। यहाँ उदाहरणार्थ दो-एक खेल को ही लिया जाता है। जो खेल आँखों का थका देनेवाला या आँखों को अतिप्रिय लगने वाला होता था, उसके लिए गंदीणी (२।८३) शब्द आया है। लुका-छिपी के खेल के लिए आलुंकी (१।१५३); ऊना-पूरा—मुट्ठी में पैसे लेकर अन्य व्यक्ति से पैसों की संख्या सम या विषम रूप में पूछना और उसके उत्तर पर जय-पराजय का निर्णय करना; इस प्रकार के खेल के लिए अम्बेट्टी (१।७) प्रयुक्त हुआ है। रीति-रिवाज-सूचक तथा रहन-सहन सूचक शब्दों की संक्षिप्त तालिका निम्न प्रकार है—

अज्झोल्लिया—क्रोडाभरणे मौक्तिकरचना (१।३३)—गले के हार में अथवा वक्षःस्थल के आभूषण में मोतियों का लगाना।

अद्धजंघा—मोचकं पादत्राणं (१।३३)—एक प्रकार का जूता, जो आजकल के चप्पल के समान होता था।

अम्बोच्ची—पुष्पलावी (१।९)—पुष्प-चयन करने वाली मालिन।

अवअच्छं—कन्थावस्त्रम् (१।२६)—कटि पर पहने जानेवाला वस्त्र, पुरुषों के लिए धोती, स्त्रियों के लिए घग्घर—घांघरा। प्रयोग की दृष्टि से इस शब्द का अर्थ जांघिया या पेटीकोट है।

अवरेइआ (१।७१)—शराब वितरित करने का वर्णन।

अंबसमी (१।३७)—रात में रखा भोजन, बासी भोजन के अर्थ में।

अवडओ (१।२०, १।५३)—घास का आदमी बनाकर खड़ा करना विज्जुका।

आमल्लं (१।६७)—अलंकरण करने का घर (Dressing Room)

उआली (१।९०)—सोने के बने कर्णाभूषण।

उल्लरयं (१।१९०)—कौड़ियों के बने आभूषण।

खुंपा (२।७५)—घास का बना छप्पर।

चडुलातिलयं (३।८)—स्वर्णजटित रत्नहार। इस हार में रत्नों की प्रधानता रहती थी और सोना थोड़ा-सा लगा रहता था।

चिरिक्का (३।२१)—पानी भरने के लिए चमड़े का बना बर्तन।

झज्झरी (३।३४)—एक छड़ी, जिसे चाण्डाल अपना अस्पर्शत्व सूचित करने के लिए रखता था।

टेंटा (४।३)—जिस स्थान पर जूआ खेला जाता था, उस स्थान के लिए टेंटा और जूआ खेलने के लिए आफरो (१।६३) शब्द आया है। जूआ के खिलाड़ियों के लिए डंभिओ (४।८) शब्द प्रयुक्त है।

झोडप्पो (३।५९)—चने के भूसे के लिए।

डुंघो (४।११)—नारियल की बनी बाल्टी या डोल।

डोओ (४।११) – लकड़ी का बना चम्मच।

डोंगिली (४।१२)—पानदान।

णीसारो (४।४१)—एक बड़ा पण्डाल।

पिहुलं (६।४७)—सुन्दर और श्रेष्ठ बजने वाली बांसुरी।

पडुच्ची—(६।३९) घोड़े का साज।

वण्णयं (७।३७)—चन्दन-चूर्ण। धनिक लोग ग्रीष्म ऋतु में इसका उपयोग करते थे। शरबत भी इसका बनाया जाता था।

वहू (७।३१)—सुगन्धित द्रव्यों का बनाया गया चूर्ण या पाउडर। सुगन्धित लेप के अर्थ में चिविडा और वहू दोनों शब्द व्यवहृत हैं।

इस प्रकार यह प्राकृत कोष साहित्य और संस्कृति-विषयक शोध और अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

अन्य प्राकृत कोष-ग्रन्थ

आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी देशीनाममाला (रयणावली) नामक कोष-ग्रन्थ में धनपाल, देवराज, गोपाल, द्रोण, अभिमानचिह्न, पादलिप्साचार्य और शीलांक नामक कोशकारों का उल्लेख किया है। धनपाल की रचना 'पाइयलच्छी नाममाला' तो उपलब्ध है, पर अन्य कोशकारों की रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। देशीनाममाला में आए हुए उद्धरणों से इतना स्पष्ट है कि प्राकृत भाषा में अन्य कोष-ग्रन्थ भी लिखे गये हैं।

अन्य विषयक साहित्य

प्राकृत भाषा में ज्योतिष, राजनीति, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों का साहित्य पाया जाता है, पर इस प्रकार के साहित्य का इतिवृत्त उपस्थित कर ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाना निरर्थक है क्योंकि रस या आनन्दानुभूति की दृष्टि से उक्त विषयक साहित्य उपयोगी नहीं है। अतएव अति संक्षेप में निर्देश करने के उपरान्त इस अध्याय को समाप्त किया जायगा।

ज्योतिषशास्त्र पर 'जयपाहुड' बहुत प्राचीन रचना है। इसमें अतीत, अनागत और वर्तमानकालीन निमित्तों के आधार पर प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। भट्टवोसरि का आयज्ञानतिलक भी ८वीं शती की रचना है। इसमें आयों के द्वारा फलादेश का निरूपण किया गया है। ऋषिपुत्र में १८७ गाथाओं में वर्षा, उत्पात आदि का विवेचन किया है। यह ग्रन्थ भी १०वीं शती का प्रतीक होता है। अङ्गविज्जा में अङ्ग, स्वर, लक्षण, व्यंजन, स्वप्न, छींक, भौम, अन्तरिक्ष निमित्तों द्वारा फलादेश का विवेचन किया है। इस बृहद्काय ग्रन्थ में ६० अध्याय हैं। ज्योतिष के अतिरिक्त सांस्कृतिक सामग्री की प्रचुरता है।

इसमें आयुर्वेद, वनस्पतिशास्त्र, समाजशास्त्र, मानसशास्त्र, इतिहास, शिल्प, अध्यवसाय, धान्य, जलयान, स्थलयान, भोज्यपदार्थ, उत्सव, संगीत, पशु, पक्षी एवं पुष्प-फल आदि के सम्बन्ध में प्रचुर सामग्री विद्यमान है। पूर्वाचार्यों की इस रचना में अंगविद्या को समस्त निमित्तों का फल कहा है :—

जधा णदीओ सव्वाओ ओवरंति महोदधिं।
एवं अंगोदधिं सव्वे णिमित्ता ओतरंतिह॥ १।७ पृ० १।

जिस प्रकार समस्त नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार समस्त निमित्त अंगोदधि में समाहित हो जाते हैं। इस ग्रन्थ के मनन-अध्ययन से मानव-जीवन के समस्त सुख-दुःखों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। बताया है—

जयं पराजयं वा राजमरणं वा आरोग्गं वा रण्णो आतंकं वा उवद्दवं वा मा पुण सहसा वियागरिज्ज णाणी। लाभा-ऽलाभं सुह-दुक्खं जीवितं मरणं वा सुभिक्खं दुब्भिक्खं वा अणावुट्ठिं सुवुट्ठिं वा धणहाणिं अज्झप्पवित्तं वा कालपरिमाणं अंगहिमं तत्तत्थणिच्छियमई सहसा उ ण वागरिज्जं णाणी।—सप्तम अध्याय गद्यांश, पृ० ७।

जय-पराजय, राजमरण, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, अनावृष्टि, सुवृष्टि, धनहानि, आरोग्य, रण, आतंक, उपद्रव, अध्ययन-प्रवृत्ति, कालपरिमाण, अंगहित और निश्चितमति आदि का परिज्ञान किया जाता है। इस ग्रन्थ से प्राचीन भारत की समृद्धि का पूर्णतया ज्ञान प्राप्त होता है। सुवर्ण[1], रजत, ताम्र, लौह, त्रपु (रांगा), कालालौह, आरकुड (फूलकांसा), सर्पमणि, गोमेद, लोहिताक्ष, प्रवाल, रक्तक्षारमणि, लोहितक, शंख, मुक्ता, स्फटिक, विमलक, श्वेतक्षारमणि, सस्सक (मरकत), प्रभृति धातुओं और खनिज पदार्थों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

इस ग्रन्थ से उस समय के रहन-सहन पर पूरा प्रकाश पड़ता है। नारियाँ अपने शरीर को उत्तम वस्त्राभूषणों से सजाती थीं। विभिन्न प्रकार के आभूषण पहनने का प्रचार था। सिंहभंडक[2] एक सुन्दर आभूषण था, जिसमें सिंह के मुख की आकृति बनी रहती थी और उसके मुख में से मोतियों के झुग्गे लटकते हुए दिखलाये जाते थे। मकराकृति आभूषण दो मकरमुखों की आकृतियों को मिलाकर बनाया जाता था और दोनों के मुख से मुक्ताजाल लटकते हुए दिखाये जाते थे। इसी प्रकार वृषभक बैल की आकृतिवाला हस्तिक हाथी की आकृतिवाला और चक्रकमिथुनक चक्रवाक मिथुन की आकृतिवाला

१. रयत-कंचण-पवाल-संख-मणि-वइर-सुत्तिका·········अध्याय ३७, पृ० १७३ तथा ५७ अध्याय, पृ० २२१।

२. तिरीडं मउडो चेव तथा सीहस्स भंडकं।
अलकस्स पदिक्खेवो अधवा मत्थककंटकं॥–पृ० ६४, गाथा—१४७–१५९।

होता था। णिडालमासक—माथे की गोल टिकुली, तिलक, मुहफलक—मुखफलक, विशेषक, कुण्डल, तालपत्र, कर्णापीड, कर्णफूल, कान की कील और कर्णलोढक का व्यवहार होता था। कर्णलोढक अंग्रेजी का वोल्यूट (Voluet) आभूषण है। इसका उपयोग कुषाणकालीन मथुरा की स्त्री-मूर्तियों में किया गया है। केयूर, तलव, आमेंढक और पारिहार्य—विशेष प्रकार का कड़ा; वलय—चूड़ियाँ, हस्तकलापक और कंकण भी हाथ के आभूषण थे। हस्तकलापक में बहुत सी पतली चूड़ियों को किसी तार से एक में बांधकर पहना जाता था। यह आभूषण मथुराशिल्प में भी पाया जाता है। सिर में ओचूलक—चोटी में गूंथने का यह आभूषण, यह मुक्ता या स्वर्ण की चैन के रूप में होता था और आधुनिक रिबन के समान काम में लाया जाता था। णंदिविणद्धक—मांगलिक आभूषण, संभवतः मछलियों की आकृति की बनी हुई स्वर्णपट्टी, जो बालों में बाईं ओर सिर के बीच से गुद्दी तक खोंसकर पहनी जाती थी, अपलोकणिका—यह स्वर्ण और रत्नों द्वारा निर्मित गवाक्षजाल या झरोखे जैसा होता था और मस्तक पर धारण किया जाता था, सीसोपक—स्वर्ण और चन्द्रकान्तमणि द्वारा निर्मित शिरोभूषण—शीशफूल, सिर के अग्रभाग में धारण किया जाने वाला आभूषण का उल्लेख पाया जाता है।[1] कर्णाभूषणों[2] में तालपत्र, आबद्धक, पलिकामदुघनक, कुण्डल, जणक, ओकासक, कण्णेपुरक और कण्णुप्पीलक के धारण किये जाने का भी निर्देश प्राप्त होता है। जणक और ओकासक आधुनिक टोप्स जैसे होते थे। ये स्वर्ण और मणियों से बनाये जाते थे। कण्णेपुरक को साधारण व्यक्ति धारण करते थे। कुण्डल स्त्रियों के साथ पुरुष भी पहनते थे। गले में धारण करनेवाले आभूषण विविध धातुओं से बनते थे और विविध आकृतियों के होते थे। सुवण्णसुत्तक—सूवर्णसूत्र आधुनिक जंजीर का प्रतिनिधि था।

तिपिसाचक[3]—त्रिपिशाचक नामक हार के टिकरे में तीन यक्षों की आकृतियाँ बनायी जाती थीं। विज्जाधारक नामक हार के टिकरे में विद्याधरों की आकृतियाँ अंकित रहती थीं। आसीमालिका के गुरियों या दाने खड्ग की आकृति के होते थे। पुच्चक हार गोपुच्छ या गोस्तन के समान होता था। आवलिका या एकावली हार एक लड़ का

१. तत्थ सिरसि ओचूलक-णंदिविणद्धक-अपलोकणिका-सीसोपकाणि य आभरणाणि बूया।—पृ० १६२।

२. कण्णेसु तलपत्तकाऽऽबद्धक-पलिकामदुघनक-कुंडल-जणक-ओकासक-कण्णेपूरक-कण्णुप्पीलकाणिय बूया।—पृ० ६२।

३. कंठेसु वण्णसुत्तकं तिपिसाचकं विज्जाधारकं आसीमालिका-हार-अद्धहार-पुच्छलक-आवलिका-मणिसोमाणक-अट्ठमंगलक-पेचुका-वायुमुत्ता-वुप्पसुत्त-पडिसराखारमणी कट्ठेवट्टका वेति आभरणजोणी—पृ० १६२–१६३।

बनाया जाता था। मणिसोमणक—विमानाकृति मनकों का बना हुआ हार था, जिसे सौभाग्यवती नारियाँ धारण करती थीं। सोमणक दामनकट क्रिया द्वारा निर्मित स्वर्णहार था, जिसमें छील-छालकर सुवर्ण को चमकाया जाता है। अट्ठमंगलक माङ्गलिक आठ चिह्नों की आकृति के टिकरों का बनाया जाता था। यह हार ग्रहारिष्ट निवारण के हेतु प्रयुक्त होता था। इसके सम्बन्ध में बताया गया है कि रत्नजटित स्वर्णहार था। साँची के तोरण पर भी मांगलिक चिह्नों से बने हुए कठुले उत्कीर्ण मिले हैं। महाकवि बाण ने इसे अष्टमंगलकमाला कहा है। महाव्युत्पत्ति की आभूषण सूची में इसका नाम आया है[1]। पेचुका—हंसुली, वायुमुक्ता—मोतियों की माला, वुप्पसुत्त—स्वर्णशेखर सूत्र एवं कट्ठेवट्टक—हारविशेष (कठला) का भी उल्लेख मिलता है। कण्ठाभरणों में शिरीष-मालिका, नलीयमालिका, ओराणी—धनिये के आकार के दाने की माला, सिद्धार्थिका—रवेदार माला, णितरिंगी—लहरियेदार माला, कंटकमाला—नुकीले दानों की माला, घन-पिच्छलिका—मोरपिच्छी की आकृति के दानों से घनी गूँथी हुई माला, विकालिका—घटिका जैसे दानों की माला, पिप्पलमालिका—मटरमाला, हारवाली और मुक्तावली का उल्लेख आया है।

कमर के आभूषणों में कांची[2], रशना, मेखला, जंबूका, कंटिका, संपडिका प्रधान थे। पैरों में नूपुर, परिहरेक—पैरों के कड़े, खिखिणिका, घूंघरू, खत्तियधम्मक, पाद-मुद्रिका, पादोदक, पादसूत्रिका, पादघट्टिका एवं वसिका—झांझर आभूषण पहने जाते थे। भुजाओं में अंगद और तुडिय-टड्डे, हाथों में हस्तकटक, रुचक और कटक एवं अंगु-लियों में अंगुलेयक, मुद्देयक और वेंट पहनने का रिवाज था। इस प्रकार इस ग्रन्थ में सांस्कृतिक सामग्री का प्राचुर्य है। चर्या—चेष्टा और निमित्तों द्वारा फलादेश वर्णित है। जोणिपाहुड भी निमित्तशास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके रचयिता धरसेनाचार्य (ई० सन् १–२ शती) माने जाते हैं। बद्ढमाणविज्जाकप्प जिनप्रभसूरि की वि० सं० १४ वीं शती की रचना है। याकिनीसूनु हरिभद्र की लग्गसुद्धि (लग्नशुद्धि) नामक रचना लिखी है। करलक्खण ६१ गाथा प्रमाण सामुद्रिक शास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य दुर्गदेव ने रिट्ठसमुच्चय (रिष्टसमुच्चय) नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ वि० सं० १०८९ में लिखा है। इन्हीं दुर्गदेव का एक अर्घकाण्ड भी उपलब्ध है। जोइसहीर नाम का ग्रन्थ २८७ गाथा प्रमाण उपलब्ध है। इसके कर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं है। इसमें तिथि, ग्रह, शुभाशुभयोग एवं विभिन्न कार्यों के मुहूर्तों का वर्णन है। अज्ञातकर्तृक ज्योतिषसार नाम का एक ग्रन्थ और पाया जाता

१. भूमिका पृ० ६० और पृ० ६२।

२. कंची व रसणा व त्ति''''पृ० ७१, गाथा ३४७ तथा ३४१–३५०।

है। इसमें चार द्वार हैं—प्रथम दिनशुद्धि नामक द्वार में ४२ गाथाएँ हैं, जिनमें वार, तिथि एवं नक्षत्रों में सिद्धयोग का प्रतिपादन किया गया है। व्यवहारद्वार में ६० गाथाएँ हैं, जिनमें ग्रहों की राशि, स्थिति, उदय, अस्त और वक्री होने की दिनसंख्या वर्णित है। गणितद्वार में ३८ गाथाएँ और लग्नद्वार में ९८ गाथाएँ हैं। ज्योतिष का एक अत्यन्त प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'लोकविजययन्त्र' नाम का प्राप्य है। इसमें ३० गाथाएँ हैं, जिनमें सुभिक्षा और दुर्भिक्षा का सुन्दर वर्णन किया गया है।

राजनीति पर देवीदास की एक रचना डेक्कन कालेज भण्डार पूना में है। रत्न-परीक्षा पर ठक्कुरफेरु की रत्नपरीक्षा नामक कृति प्राप्य है। इसमें १३२ गाथाएँ हैं, जिनमें रत्नों की उत्पत्ति स्थान, जाति और मूल्य आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। द्रव्यपरीक्षा नामक एक ग्रन्थ वि० सं० १३७५ का लिखा मिला है। इसमें १४९ गाथाएँ हैं। इसमें अनेक मुद्राओं का भी उल्लेख आया है। धातूत्पत्ति पर ५७ गाथा प्रमाण एक रचना है। इसमें पीपल, ताँबा, सीसा, राँगा, काँसा, पारा, हिंगुलक, सिंदूर, कर्पूर, चन्दन आदि का विवेचन किया है। ठक्कुरफेरू का वास्तुसार नामक ग्रन्थ भूमि-परीक्षा और भूमिलक्षण प्रभृति विविध विषयों से युक्त प्रकाशित है।

इस प्रकार प्राकृत में विविध विषयक साहित्य उपलब्ध है। मुद्रा-विषय पर भी एक अपूर्व रचना हस्तलिखित है, जिसमें अनेक ज्ञातव्य तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है।

प्राकृत-साहित्य की उपलब्धियाँ

भारत के धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक जीवन को सहस्रों वर्षों तक प्राकृत साहित्य ने अभिवृद्ध किया है। अतः इस साहित्य में तत्कालीन सामाजिक जीवन के विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं। इतिहास और संस्कृति के निर्माण में प्राकृत-साहित्य की उपलब्धियाँ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। अभी तक अधिकांश साहित्य का अध्ययन और अनुशीलन कर उनके तथ्यों का उपयोग इतिहास के निर्माण में नहीं हो सका है। प्राकृत-साहित्य रूप और विषय की दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। भारतीय संस्कृति के सर्वाङ्ग अनुशीलन के लिए इसका अद्वितीय स्थान है। इनमें उन समस्त लोक-भाषाओं का प्रतिनिधित्व पाया जाता है, जिन्होंने वैदिक काल और सम्भवतः उससे भी पूर्वकाल से लेकर देश के नाना भागों को गंगा, यमुना आदि महानदियों के समान आप्लावित किया है और साहित्य के विविध क्षेत्रों को उर्वर बनाया है। ई० पूर्व छठी शती से लेकर प्रायः वर्तमान समय तक प्राकृत भाषा में ग्रन्थ-रचना होती चली आ रही है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से प्राकृत भाषाओं का विकास ई० सन् १२०० तक ही माना जाता है, यतः इस काल के पश्चात् हिन्दी, गुजराती, मराठी, बङ्गला आदि आधुनिक भाषाओं का युग आरम्भ हो जाता है, तो भी साहित्य का प्रणयन वर्तमान काल तक होता चला आ रहा

है। अतएव इस साहित्य में लगभग पच्चीससौ वर्षों की विचार—भावधारा वर्तमान है। इसमें मगध से लेकर दर्द प्रदेश (पश्चिमोत्तर भारत) तक तथा हिमालय से लेकर सिंहलद्वीप तक लोक-भाषा और लोक-साहित्य का रूप सुरक्षित है। इस साहित्य का बहुभाग जैन कवियों और लेखकों द्वारा लिखित हैं, तो भी उसमें तत्कालीन लोक-जीवन का जैसा स्पष्ट प्रतिविम्ब अंकित हैं, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है विभिन्न काल और विभिन्न देशीय ऐतिहासिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक छवियाँ उपलब्ध हैं, जिनका भारतीय इतिहास में यथोचित मूल्यांकन होना शेष है।

लोक-भाषाओं और लोक-जीवन की विभिन्न झाँकियों के अतिरिक्त धार्मिक, दार्शनिक, आचारात्मक एवं नैतिक समस्याओं के व्यवस्थित समाधान इस साहित्य में ढूंढ़े जा सकते हैं। दर्शन, आचार और धर्म की सुदृढ़ एवं विकसित परम्परा प्राकृत-साहित्य में वर्तमान हैं। काव्य, कथा, नाटक, चरितकाव्य, छन्द, अलंकार, वार्ता, आख्यान, दृष्टान्त, उदाहरण, संवाद, सुभाषित, प्रश्नोत्तर, समस्यापूर्ति एवं प्रहेलिका प्रभृति नानारूप और विधाएँ प्राकृत साहित्य में पायी जाती है। कर्म-सिद्धन्त, खण्डन-मण्डन, विविध सम्प्रदाय और मान्यताएँ सहस्त्रों वर्षों का इतिहास अपने साथ समेटे हुए हैं। दिगम्बर साहित्य के भगवती आराधना और मूलाचार में अनेक प्राचोन मान्यताएँ वर्णित हैं, इन ग्रन्थों पर से जीवन, मरण और रहन-सहन सम्बन्धी अनेक प्राचीन बातों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। कुन्दकुन्द के अध्यात्म-साहित्य का अध्ययन उपनिषदों के अध्ययन में बहुत सहायक हो सकता है। अध्यात्म और वेदान्त का तुलनात्मक अध्ययन कुन्दकुन्द के समयसार के अध्ययन बिना अधूरा है। भारतीय चिन्तन का सर्वाङ्गपूर्ण ज्ञान प्राकृत-साहित्य के ज्ञान के अभाव में अपूर्ण है। इतना ही नहीं प्राकृत साहित्य शोध-खोज के लिए भी समृद्ध कोष है।

संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी में प्रेमकथाओं का विकास प्राकृत-कथाओं से हुआ है। 'नायाधम्मकहाओ' में मल्लिका आख्यान आया है, जिससे छः राजकुमार प्रेम करते हैं। तरङ्गवती तो स्वतन्त्ररूप से एक प्रेमाख्यान है। इसने अपने प्रेमी को एक चित्र के सहारे प्राप्त किया है। भाष्य और निर्युक्तियों में एक-से-एक सुन्दर प्रेमकथाएँ आयी हैं। इन सभी प्राचीन कथाकृतियों का प्रमुख उद्देश्य शुद्ध प्रेम सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन करना ही नहीं है, अपितु व्रताचरण द्वारा प्रेम का उदात्तरूप दिखलाना है। साधारणतः प्राकृत-साहित्य में प्रेम का उदय, प्रत्यक्ष भेंट, स्वप्नदर्शन, चित्रदर्शन, गुण श्रवण, पक्षिदर्शन आदि के द्वारा दिखाया गया है। प्राकृत-साहित्य में राजकुमार और राजकुमारियों को ही प्रेमी, प्रेमिका के रूप में चित्रित नहीं किया गया, अपितु मध्यम वर्ग के सार्थवाह, सेठ-साहूकार, ब्राह्मणकुमार एवं निम्न वर्ग के जुलाहा, चाण्डाल रजक आदि में भी प्रेम की विभिन्न स्थितियाँ दिखलायी गयी हैं।

संस्कृत की चम्पूविधा का विकास शिलालेख-प्रशस्तियों की अपेक्षा गद्य-पद्य मिश्रित प्राकृत चरितकाव्यों और कथाओं द्वारा मानना अधिक तर्कसङ्गत है। यतः प्राकृत में चरितकाव्यों और कथाओं को रोचक बनाने के लिए गद्य-पद्य दोनों का ही प्रयोग किया गया है। वस्तुतः पद्य भावना का प्रतीक है और गद्य विचार का। प्रथम का सम्बन्ध हृदय से है और द्वितीय का मस्तिष्क से। अतएव प्राकृत के कवियों ने अपने कथन की पुष्टि, कथानक के विकास, धर्मोपदेश, सिद्धान्तनिरूपण एवं प्रेषणीयता लाने के लिए गद्य में पद्य की छौंक और पद्य में गद्य की लगाई है। संस्कृत में त्रिविक्रम भट्ट के मदालसाचम्पू, नलचम्पू के पहले का कोई चम्पू-ग्रन्थ नहीं मिलता। चम्पू की परिभाषा दण्डी ने दी है, इसीसे अवगत होता है कि दण्डी ने पूर्ववर्ती किसी रचना को देखकर ही उक्त परिभाषा लिखी है। हमारा अनुमान है कि दण्डी उक्त परिभाषा का आधार तङ्गवती और वसुदेवहिण्डी जैसी रचनाएँ ही हैं। समराइच्चकहा और महावीरचरियं मिश्रित शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

प्राकृत के चरित काव्यों से ही संस्कृत में चरित-काव्यों की परम्परा आरम्भ होती है। पउमचरिय की शैली पर ही संस्कृत में चरितकाव्यों का प्रणयन किया गया है। चरितकाव्यों के मूल बीज प्राकृत में ही सुरक्षित हैं।

प्राकृत-कथाएँ लोक-कथा का आदिम रूप हैं। वसुदेवहिण्डी में लोककथाओं के मूलरूप सुरक्षित हैं। गुणाढ्य की बृहत्कथा, जो कि पैशाची प्राकृत में लिखी गयी थी, लोककथाओं का विश्वकोश है। अतः लोककथाओं को साहित्यिकरूप देने में प्राकृत-कथासाहित्य का योगदान उल्लेखनीय है। 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' में बताया गया है[1]— "अपभ्रंश तथा प्रारम्भिक हिन्दी के प्रबन्धकाव्यों में प्रयुक्त कई लोककथात्मक रूढ़ियों का अदि स्रोत प्राकृत-कथासाहित्य ही रहा है। पृथ्वीराजरासो प्रभृति आदिकालीन हिन्दी-काव्यों में ही नहीं, बाद के सूफी प्रेमाख्यान काव्यों में भी लोककथात्मक रूढ़ियाँ व्यवहृत हुई हैं तथा इन कथाओं का मूल स्रोत किसी-न-किसी रूप में प्राकृत-कथासाहित्य में विद्यमान है।"

प्राकृत के मुक्तक काव्यों ने संस्कृत और हिन्दी के मुक्तक काव्यों को बहुत कुछ दिया है। विषय की दृष्टि से प्राकृत के मुक्तक काव्य दो वर्गों में विभक्त हैं—(१) उपदेशात्मक और (२) शुद्ध साहित्यिक। निर्युक्तियों, सैद्धान्तिक ग्रन्थों में भी यत्र-यत्र ऐसे नीतिपरक मुक्तक पाये जाते हैं, जो मूलतः प्राकृत मुक्तक हैं। प्राकृत की शुद्ध मुक्तक-काव्यपरम्परा की सच्ची वाहक यों तो गाथासप्तशती और वज्जालग्गं की गाथाएँ हैं, पर इनसे भी पूर्व आगम-साहित्य में भावप्रवण मुक्तकों का

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास प्रथम भाग, खण्ड २, अध्याय २, पृष्ठ २०९, काशी ना० प्र० सभा, वि० सं० २०१४।

समावेश पाया जाता है। प्राकृत मुक्तकों का और विशेषतः गाथासप्तशती का भर्तृहरि, अमरुक, शीला भट्टारिका, विज्जिका, विकटनितम्बा जैसी शृङ्गारी संस्कृत के मुक्तक कवि-कवयित्रियों पर साक्षात् या गौणरूप से प्रभाव मानना अनुचित नहीं है। गोवर्धन की आर्यासप्तशती तो गाथासप्तशती की छाया ही प्रतीत होती है; प्राकृत के शृङ्गारी मुक्तकों के प्रभाव से जयदेव का गीतगोविन्द भी नहीं बच पाया है।

केवल संस्कृत, हिन्दी मुक्तक-काव्य ही प्राकृत-काव्य से विकसित और प्रभावित नहीं है, किन्तु काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय श्रेष्ठ और सरस गाथाओं को उदाहरणों के लिए आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ या बाद के आलंकारिकों ने प्राकृत मुक्तकों की शरण ली है। अतएव स्पष्ट है कि जितने सरस और सुन्दर मुक्तक प्राकृत में हैं, उतने संस्कृत में नहीं। प्राकृत-शृङ्गारी-मुक्तकों की यही परम्परा संस्कृत के माध्यम से हिन्दी में आयी हैं। विहारी, मतिराम और रहीम के दोहों में यह धारा बहती हुई स्पष्ट देखी जा सकती है। गाथासप्तशती और वज्जालग्गं की अनेक गाथाएँ ज्यों-के-त्यों रूप में शब्दों का चोला बदल कर दिखलायी पड़ती हैं।

अपभ्रंशकालीन 'रासक' परम्परा का विकास प्राकृत साहित्य से माना जा सकता है। अनुमान है कि प्राकृत का अपना लोकमञ्च रहा है तथा प्राकृत-कथाओं में रास और चर्चरी गान भी आता है। यह रास और चर्चरी गान ही 'रासक' साहित्य का पूर्वज है।

प्राकृत साहित्य में छन्दपरम्परा का विकास स्वतन्त्ररूप में हुआ है। वैदिक तथा लौकिक संस्कृत-साहित्य की छन्दपरम्परा मूलतः वर्णिक छन्दों की है। प्राकृत साहित्य का विकास लोक-जीवन की भित्ति पर होने से नृत्य और सङ्गीत के आधार पर छन्दोविधान का प्रचलन पाया जाता है। फलतः प्राकृत में ही सर्वप्रथम मात्रा-छन्दों या तालछन्दों, ध्रुवाओं का विवरण पाया जाता है। यह सत्य कि प्राकृत का गाथाछन्द संस्कृत में आर्या के रूप में आया है। आर्या छन्द का क्रमिक विकास इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इसका मूल रूप गाथा में निहित है। प्राकृत भाषा में संस्कृत के वर्णिक वृत्त भी पाये जाते हैं। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में[1] प्राकृत भाषा में निबद्ध गायत्री, उष्णिक्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती जैसे वैदिक छन्दों के उदाहरण भी आये हैं।

बज्जाहयरुंडो डाहज्जरसुत्तो।
एसो गिरिराआ भूमि विसलम्बा॥

—गायत्री

१. भरतमुनि—नाट्यशास्त्रम्, अध्याय ३२, पृ० ३८९–३९५, चौखम्बा संस्करण सन् १९२८।

तडिसंणद्धं घणसंरुद्धं
जलाधाराहिं रुवदीवं भं ॥
—घनपंक्ति

पवणो पंथवाही मदणं दिवअंतो।
अद्विशदो..........शिशिरे संवलन्ते ॥—उष्णिक्

घणगब्भगेहपरिखित्तो अरुणप्पहाविहिअसोहो।
गअणंगणे विरहमाणो ण विभाति दिशेम्णा रहिएन्दू ॥—पंक्ति

मेहखाउलं कन्दरवसामिमदिवाअरं।
रूअदि विअ णहअलम् ॥—गायत्री

अतएव छन्दो विषयक प्राकृत साहित्य की उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण हैं। मात्राछन्दों की परम्परा प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई हिन्दी में आयी है। अतः मात्राछन्दों की देन प्राकृत की है।

उपदेश और जन्तु-कथाओं का विकास भी प्राकृत-कथाओं से हुआ है। संस्कृत में गुप्तसाम्राज्य के पुनर्जागरण के पश्चात् नीति का उपदेश देने के लिए पशु-पक्षी-कथाएँ गढ़ी गयी हैं। पर नायाधम्मकहाओ में कुएँ का मेढ़क, जंगल के कीड़े, दो कछुए आदि कई सुन्दर जन्तु-कथाएँ अंकित हैं। आचार और धर्म का उपदेश देने के लिए उक्त प्रकार की कथाएँ गठित की गयी हैं। निर्युक्तियों में हाथी, वानर आदि पशुओं की कई कथाएँ उपलब्ध हैं।

प्राकृत-साहित्य में ऐहिक समस्याओं के चिन्तन, पारलौकिक समस्याओं के समाधान, धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण, अर्थनीति-राजनीति के निदर्शन, जनता की व्यापारिक कुशलता के उदाहरण एवं शिल्पकला के सुन्दर चित्रण आये हैं। मानवता के पोषक दान, शील, तप और सद्भावना रूप धर्म का निर्देश किया है।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास का सर्वाङ्गीण और सर्वतोमुखी मानचित्र तैयार करने के विभिन्न उपकरण प्राकृत-साहित्य में वर्तमान है। कलाओं के विविध रूप और शिक्षा प्रणाली की रूपरेखा भी इस साहित्य में अंकित है। आचार-व्यवहार, संस्कार, राज-तन्त्र, वाणिज्य-व्यवसाय एवं अर्थार्जन के अनेक रूप इस साहित्य में पाये जाते हैं।

सट्टक साहित्य तो प्राकृत का अद्वितीय है। ऐतिहासिक, अर्ध ऐतिहासिक, धार्मिक, लौकिक एवं राजनैतिक कथानक जीवन की विविध व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हुए काव्य, नाटक और कथाओं के कलेवर में प्रादुर्भूत हुए हैं। हिन्दी के पद्मावत जैसे काव्य 'रयण-सेहरनिवकहा' के वर्ण्य-विषय और शैली का दिशा में आभारी हैं। निस्सन्देह शृङ्गार रस का समुद्र तो प्राकृत में ही है, यहीं से शृङ्गार की धारा अन्यत्र पहुँची है।

ग्रन्थ और ग्रन्थकार नामानुक्रमणिका

अग्निपुराण ४०८
अजितब्रह्मा ३८७
अजितसिंह ३११
अजियसंतिथय ३९६
अजीवकल्प १९९
अट्ठकथा २०
अणुओगदारसुत्त ५२०, ५२१
अथर्ववेद ३, ४, १४, ३६९, ४०६
अद्भुतदर्पण ४३७
अनन्तनाथ चरित ३११
अनन्तनाहचरियं ३३६
अनन्तहंस ३३३
अनुत्तरोपपातिकदशा १७७
अनुत्तरोपपाद १६३
अनुयोगद्वार २०१
अनुयोगद्वारविवृत्ति ४६५
अनुयोगद्वारसूत्र १५१, २०६
अनेकान्त ४०३
अनेकान्तजयपताका ४६५
अनेकान्तवादप्रवेश ४६५
अनेकार्थसंग्रह २८३
अन्तःकृद्दशा १७५, ४४१
अन्तःकृद्दशांग १६३
अपराजितसूरि २३४, २३५
अप्पयदीक्षित ५२७
अब्दुल रहमान १०३, ३७८
अभयचन्द्र २३७
अभयनन्दि २३६
अभयदेव ३५, १७१, १७९, २०२, ३२६, ४८६
अभयदेव सूरि ३२३, ३९९
अभिज्ञानशाकुन्तल ४३३, ४३४
अभिधानचिन्तामणि २८३, ५३९
अभिधानप्पदीपिका २५
अभिनवगुप्त २७५, ४०८, ५३३
अभिनव प्राकृत व्याकरण १५२
अभिमानचिह्न २०, ५४८
अमरकोष ४३९
अमरचन्द्र ४२७, ५३६
अमरुककवि ३७१, ५५४, ५५५
अमरुकशतक ३७१
अमृतचन्द्रसूरि २२५, २२६, २२७, २२८
अमृताशीति ४०२
अमोलक ऋषि १८४
अम्बदेव उपाध्याय ३४६
अरहंतस्तवना ४०३
अरिकेसरी ३७७
अर्घकाण्ड ५५१
अर्हद्दत्त २१२
अर्हद्बलि २१२
अर्हबलि १२३, २२३
अलंकारदर्पण ५३६
अलंकार प्रबोध ५३६
अलंकार सर्वस्व ५३४
अल्लकोपाध्याय ३२०
अवन्तिवर्मन ३७७
अविमारक ४३२, ४३३
अश्वघोष १७, ३६, ७१, ४०५, ४३२
अष्टाध्यायी ५
आकाशगता चूलिका १८०

आख्यानमणिकोष ३५२, ५०१
आचारदशा १८७
आचरांग १६३, १६५, १६६, १७४, १९९, २००, २०१, २३५, २४१
आचार्य वीरसेन ६१
आतुर प्रत्याख्यान १९७, १९८
आदिनाथचरित ३११
आदिपुराण २३४
आदिनाथभवस्तोत्र ३९७
आदिनाहचरियं ३३५
आनन्दवर्धन २९०, ३८३, ४१४, ५३३, ५५४
आनन्दसुन्दरी ४२२, ४२३
आम्रदेव ३३०, ३४६
आम्रदेवसूरि ५०१
आयज्ञानतिलक ५४८
आयारांग ५१८
आयारंगसुत्त ३१
आराधनाकथाकोष २३४
आराधनापंजिका २३४
आरामसोहाकहा ५१७
आरोग्यद्विजकथा ५१७
आर्यखपुर २४२
आर्यनन्दि २१६
आर्यप्राकृतव्याकरण ७८
आर्यभंगु १९९
आर्यभंक्षु २१३, २१८, २१९, २३०
आर्यश्याम १९९
आर्यसमुद्र १९९
आर्यासप्तशती ३७१, ३७२, ५५४, ५५५
आल्सडोर्फ १००
आवश्यक १९२, १९५, २००, २०१
आवश्यकचूर्णि ४५६
आवश्यक निर्युक्ति २३२, २३४
आवश्यकसूत्रविवृत्ति ४६५
आशाधर २३४, २४३
इन्ट्रोडक्शन टू कम्परेटिव फिलोलॉजी ७
इन्ट्रोडक्शन टू प्राकृत १५
इण्डियन एन्टेक्वेरी १०१
इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली २३२
इन्द्र ३
इन्द्रनन्दि २२९
ईशानकवि ३७७
उत्तररामचरित ४२२, ४३७
उत्तराध्ययन १९२, १९५, १९७, २००, २०१, २०२, २३५, २४४, ३४६, ३८६, ४४२
उदयसिंहसूरी २४२
उद्भट ४१४
उद्योतन ३३६
उद्योतनसूरी ३२०, ३३०, ३४१, ३६१, ४४६
उपदेशपद ४६५, ४७६
उपदेशमाला ५१७
उपदेशरत्नाकर ५१७
उपाध्ये २२४, २२६
उपासकदशा १७७
उपासकाध्ययन १६३, १७३
उमास्वाति २२३
उवसग्गहरस्तोत्र ३९६
उवसागदसाओ ३५
उवासयाज्झयण (उपासकाध्ययन) २४३
उवाराज्झयणसुत्त ३१
उषानिरुद्ध ३९९, ३०५
ए० एन० उपाध्ये १०१, २२२, २३०, २३५, २८३, ३०५, ४०२, ४१०

ए० एम० घाटगे २३२
एन० वी० वैद्य १७३
एम० दुत्रुइल दराँ ६९
एलफ्रेड सी० वुलनर १५, १००
एलाचार्य २२४, २२५
एस० पी० पण्डित १०१
एस० मित्रा ६९
ऐतरेय ब्राह्मण ३७०
ओघनिर्युक्ति २०१
ओल्डेनवर्ग ६९
औदार्यचिन्तामणि ५२७
औपपतिक १८०
ऑरेलस्टेन ६६
अंगविज्जा ५४८
अंगविद्या १९९
कच्चायन व्याकरण २८
कण्हचरियं ३३५
कथाकोष २३५
कथाकोषप्रकरण ४८२, ४८७
कनकनन्दि २३६
कनकाभर १०४
कप्पूरमंजरी ५२६
कमलाकहा ४८९
कम्मणिबाग २३८
कम्मत्थ (कर्मस्तव) २३८
कम्मपयडि २३८
कम्परेटिव ग्रामर ३४ पा०
कम्परेटिव ग्रामर ऑफ मिड्ल इण्डोआर्यन् ५१, ५३, ५७, ६६, ६८
कम्परेटिव स्टडी ऑफ अशोक इन्स्क्रिप्शंस ५३
करकंडुचरिउ १०४
करलक्खण ५५१
कर्णराज ३७७
कर्मकाण्ड २३६, २३७
कर्मप्राभृत (षड्खंडागम) ३२
कर्पूरमंजरी १३, ४१२, ४१३, ४१४, ४१८, ४२२, ४२४, ४२६, ४२७, ५३४, ५३५
कल्प १९१, २०१
कल्पसूत्र ३११
कल्पावतंसिका १८५
कल्पिका १८५
कल्याणलोचना १८७
कल्हण २७५
कवचप्रकरण १९९
कबिदर्पण ५२७
कविराज ३७७
कबीर ३८३
कषायप्राभृत २२४, २२९
कषायपाहुड ३२, १६३, २१३, २१८
कहारयणकोस (कथारत्नकोष) ३५२, ४९१
कंसवध ४०६
कंसवहो २९८, २९९, ३०५
काण्ह १०४
कात्यायन ७८, ५२३
कादम्बरी २९०
कार्तिकेयानुप्रेक्षा २३५
कालकाचार्य ४४२
कालिकाचार्य कथानक ५१७
कालिदास १७, ७५, १०१, २६३, २६४, २६५, २६६, २७०, २७४, २९८, ३००, ३७१, ३८२, ४०५, ४३३, ५२३
काव्यानुशासन २७५, २८३, ३८३, ४०८, ५३५
काव्यप्रकाश ५३४
काव्यमीमांसा १०२, ४१४

काव्यालंकार १४, ९९, १०१
किरातार्जुनीयम् ३००
कीथ ७३, १००, ४०६
कुन्दकीर्ति २२४
कुन्दकुन्द ४४, २१२, २१३, २१६, २२१, २२२, २२३, २२४, २२६, २३०, २३२, २३४, ३७१, ३८६, ५५२, ५५३
कुमारपालचरित २८१
कुमारवालवडिवोह (कुमारपालप्रतिबोध) ४२८, ५०१
कुम्मपुत्तचरियं ३३३
कुरलकाव्य २२५
कुवलयमाला ९०, ९८, ३६०, ३६१, ३६५, ३६६, ४४८, ४६४
केशववार्णी २३७
कैयट ९९
कैलाशचन्द्र शास्त्री २१३
कोऊहल २९०
कोस्सामिधुदि २२९
कौतूहल ४४८
कौनो (डॉ०) २५, २६
कौषीतकि ब्राह्मण ५
क्रमदीश्वर ३५, १०४
कृष्णचरित २९९
कृष्णलीलाशुक २९५
क्षपणासार २३६, २३७
क्षेत्रसमास २३९
क्षेमकीर्ति २०३
क्षेमेन्द्र २६५
गउडवहो १४, २६१, २७४, २९८, ५२६
गच्छाचार १९७, १९८
गजसुकुमाल १७६
गणिविद्या १९७, १९८
गर्वार्षि २३८
गाइगर २४
गाथाकोष ३७७, ५२३
गाथासप्तशती १५९, ३७१, ३७७, ३८४, ४५१, ५३४, ५३५, ५५४, ५५५
गायगिर २६, २७, १२५
गाहाकोस (गाथाकोश) ३७३
गाहालक्षण ५२८
गाहासत्तसई (गाथासप्तशती) ३७२, ३७४, ५२६
गीतगोविन्द १३, ५५४, ५५५
गुणचन्द ३५२, ३५६, ४०७
गुणाढ्य ४५१, ४५६, ५५३
गुणधर १६३, २१३
गुणपाल ३४१
गुणागुरागकहा ४८९
गृध्रपिच्छ २२३
गृध्रपिच्छाचार्य २२२
गोपथब्राह्मण १७
गोपाणी १८५, ४८८
गोपाल २०, ५४८
गोभिल ३६
गोम्मटसार २३६, २३७, २३८
गोम्मटसार जोवकाण्ड ४९
गोवर्द्धन ३७२, ३७३, ५५४, ५५५
गोवर्द्धनाचार्य ३७१
गोविन्दाभिषे २९५
गौतम स्वामी ४८६
ज्ञातुधर्मकथा १७१
ज्ञातृधर्मकथांग १६३
ग्रियर्सन २५, २६, २७, ९०, १०१, १०३, १०४
घनश्याम ४२२, ४२३, ४२४
चउप्पनमहापुरिसचरियं ३३८, ४३७

चक्रेश्वरसूरि ३४६
चटर्जी १००
चण्ड ३४, ७५, ९९, ५२२
चतुःशरण १९७
चत्तारि अट्ठदसथव ३९९
चन्दप्पहचरियं ३३५, ३३६
चन्द्रलेहा ४१०, ४१८
चन्द्रप्रभ ३११
चन्द्रप्रभभवस्तोत्र ३९७
चन्द्रप्रभमहत्तरि ३२६
चन्द्रप्रज्ञप्ति १६७, १८४
चन्द्रलेखाकथा ५१७
चन्द्रवर्ती २२२, २२४
चन्द्रर्षि २३८
चन्द्रसूरी २३९
चन्द्रिका टीका ५२३
चरित्रसुन्दर ५१३
चाणक्य ३८६
चारित्तपाहुड २२८
चारित्रभक्ति २२९
चारुदत्त ४३२
चूडामणिटीका २१६
चूलिकासूत्र १९९
चौकसी १८१
छन्दःकली ५३२
छन्दःकोश ५६२
छन्दोनुशासन २८३
छन्दोलक्षण ५३२
जगच्चन्द्रसूरी २३८, ३३१, ३९७
जगदीशचन्द्र जैन ३८४
जगन्नाथ (पंडितराज) ३८२, ५३६
जंबुचरियं ३४१
जम्बूदीवपण्णत्ति २३९
जम्बूदीपप्रज्ञप्ति १६७, १८३, २०१, ३९२
जयकीर्ति ५१७
जयचन्द्र २८३, ५१०
जयदेव ५५४, ५५५
जयधवला २१३, २१८, २३०
जयपाहुड ५४८
जयवल्लभ ३७७, ३७८, ३९७
जयसिंहसूरि ९४, ३२३, ५१७
जयसेणकहा ४८९
जयसेन २२४, २२५, २२६, २२७
जलगता १८०
जसहरचरिउ १०४
जायसी ५११
जिनचन्द्र ३८७, ४८६
जिनचन्द्र सूरि ३९९
जिनदत्त ४६३
जिनदत्तसूरि ४८२
जिनदत्ताख्यान ५०५
जिनदास १८९, २०१, ४५६
जिनदासगणि ४५०
जिनदास महत्तरि १६४
जिननन्दि गणि २३३
जिनपद्म ३९९
जिनप्रभ सूरि २४३, ३९९, ५५१
जिनभद्र २०१
जिनभद्र क्षमाश्रमण ३११
जिनभद्र गणि १९२, २३८, २३९
जिनमाणिक्य ३३३
जिनरत्न सूरि ४८०
जिनराजस्तव ३९१
जिनवल्लभगणि २३८
जिनवल्लभ सूरि ३९९, ४८६
जिनविजय २८९, ३४१
जिनहर्ष ५१०
जिनेश्वर ३११

जनेश्वर सूरि ३२०, ३३५, ४८०, ४८२, ४८६
जिनसेन ३२ पा०, २१६, २१८, २३४
जीतकल्प १८७, २०१
जीतकल्पसूत्र १९२
जीवकाण्ड २३६, २३७
जीवविभक्ति १९९
जीवाजीवाभिगमसूत्रवृत्ति ४६५
जीवानुशासन २४२
जीवप्रदीपिका २३७
जीवाभिगम १८१, २०१
जुगलकिशोर २३१, २३२, २३५
जुगलकिशोर मुख्तार २२२
जुवधर २२९
जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश २३२
जैनसिद्धान्तभास्कर २१२, २३१, २३२
जैनसूत्र १७
जोइसहीर ५५१
जोगीन्दु ३७२
जोणिपाहुड ५५१
ज्यूल १००
ज्यूल्स ब्लाक ६९
ज्योतिरीश्वर १०३
ज्योतिष्करण्डक १९९, २३९
ज्योतिषसार ५५१
टोडरमल २३७
ठक्कुरफेरू ५५१, ५५२
अणांग ५१८
डॉ० प्रबोध बेचरदास पंडित ४, ११
डॉ० ग० वा० तगारे १०१
डॉ० सम्पूर्णानन्द ६
डॉ० हरदेव बाहरी ९
णामकुमारचरिउ १०४
तगारे (डॉ०) १०४
तत्त्वार्थराजवार्तिक २३५
तरंगलोला ४५०, ४५१
तरंगवती ४५०, ४५१, ५५३, ५५४
तंदुलवैचारिक १९७, १९८
ताण्ड्यब्राह्मण ६
तायाधम्मकहाओ ५५३
तिथिप्रकीर्णक १९९
तिलकमंजरी ४१३, ३१४, ४५०
तिलोयपण्णत्ति २३०, २३१, २३९, २४५, ३११, ४३९
तीर्थोद्गार १९९
तुम्बुलूराचार्य २१६
तुलसीदास ३८३
तेजसागर ३९६
तैत्तिरीय आरण्यक ८
तैत्तिरीय संहिता ८
तोरणाचार्य २२३
त्रिलोकप्रज्ञप्ति २३७
त्रिलोकसार २३६, २३७
त्रिविक्रम १०४, २९०, २९५
त्रिविक्रमदेव ५२५, ५२६
त्रिविक्रमभट्ट ५५३, ५५४
त्रैलोक्यदीपिका २३९
थिरुकुरल २२४
दण्डी ९९, १५१, ५५४, ५५७
दर्शनवीज (मुनि) ७५
दर्शनसार २२१, २२३
दशदृष्टान्तगीता ५१७
दशरूपक १२, ४०८, ५३३
दशवैकालिक १९२, १९५, १९७, २००, २०१, ३८६, ४४४, ४४५, ४४७, ५०१
दशवैकालिकचूर्णि ४४२

दशवैकालिकनिर्युक्ति २३२
दशवैकालिकवृसद् ४६५, ४७६
दशाश्रुतकल्प २०१
दशाश्रुतस्कन्ध १८७, १९१, २००
दंसणपाहुड २२८
दंसणसत्तरि २४२
दामोदर ३७७
दिनशुद्धि ५६१
दिनसुद्धि ५५१, ५५२
दुर्गदेव ५५१
दुर्गाप्रसाद २९५, २९६
दूष्यगणि १९९
दृष्टिवाद १६३, १६४, १७९, १८०
२३०
देवचन्द्र २८१, २८२, २८३, ३११
देवचन्द्रसूरि ३३६, ५१७
देवभद्र ३५२
देवभद्र (गुणचन्द्र) ४९१
देवभद्रसूरि ५१३
देवराज ३७७, ५४८
देवर्द्धिगणि १७१
देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण १६४
देवसुन्दर ५३७
देवसूरि २३९, २४२, ३११, ३४६
देवसेन २२१, २४१, २८३, ३७२
देवीकहा ४८९
देवीदास ५५१, ५५२
देवेन्द्रगणि २०१, ३३०, ३४६ ४४२
देवेन्द्रसूरि २३८, ३३१, ३३५, ३९७,
३९९
देवेन्द्रस्तव १९७, १९९
देवेर्द्धिगणि १८९
देशीकोष २०
देशीनाममाला १९, २०, २८३, ५४८
देशीनाममाला (रयणावलि) ५३९, ५४८
दोहाकोष १०४
द्रव्यपरीक्षा ५५१, ५५२
द्रव्यसंग्रह २३६, २३७
द्रोण २०, ५४८
द्रोणाचार्य २०२
द्व्याश्रयकाव्य २८१, २९५
द्वात्रिंशिका २८३
द्वीपसागर प्रज्ञप्ति १६७, १९९
धनञ्जय ३७७, ४०७, ५३?, ५३८
धनपाल ३९५, ४५०, ४८८,
५३७, ५४८
धनिक १२, ५३३
धनेश्वरसूरि ३१९
धम्मरयण २४२
धम्मरसायण (धर्मरसायन) ३९२, ३९३
धम्मिलहिंडी ४५६, ४५७
धम्मविहिपयरण २४२
धम्मसंगहणी ४६५
धरणकहा ४८९
धरसेन २२३
धरसेनाचार्य ४३, १६३, २११, ५५१
धर्मघोष ३९७
धर्मतिलकमुनि ४००
धर्मदासगणि ४५६, ५१७
धर्मोपदेशमाला ५१७
धर्मरसायन ३८६
धर्मवर्धन ३९९
धवला २०३, २४५
धवलाटीका ६१, २११, ४४६
धूर्त्ताख्यान ४६५, ४७४
ध्वन्यालोक २७५, २९०, ३८३, ५३३
नंदकहा ४८९
नन्दिचूर्णि १६४
नन्दिताढ्य ५२८
नन्दिषेण ३९६, ३९७
नन्दिसूत्र १७१, १९९

नन्दी २०१
नन्नसूरि ३९९
नमिसाधु १४, १०३
नमुक्कारफलपगरण ३९९
नम्मया सुन्दरीकहा ४९३
नयचन्द्र ४२७
नयनन्दि २४३
नरवाहन ३७७
नरसिंह १३, ३७७
नरसुन्दरकथा ५१७
नलचम्पू ५५३, ५५४
नवमालिकानाटिका ४३०
नागदत्तकथा ५१७
नागानन्द ४३६
नागार्जुन १९९, ३७७
नागहस्ति १९९, २१३, २१८, २१९, २३०
नाट्यदर्पण ४०७, ४०८, ४०९
नाट्यशास्त्र ३६, ३७, ७२, ९८, ४०५, ४२२, ५५५
नागपंचमीकहा (नागपंचमीकथा) ४८८
नाथूराम प्रेमी २३०, २३२, २८२
नायाधम्मकहाओ ४४१, ५५३, ५५६
नारायण १३
नारायण भट्ट २९८
निघण्टु २८३
निजात्माष्टकम् ४०२
नियमसार २२८
निर्युक्ति २००
निर्वाणकाण्ड ३९८
निर्वाणभक्ति २२९
निर्वाणलीलावतीकथा ४८०, ४८२
निशीथ १८७, २०१, २३५
निशीथचूर्णि ४४२, ४५०, ४५१
नीतिशतक ३८७
नेमिचन्द्र २०१, २३७, २४२, ३११, ३१२, ३३६, ३६४, ३६१, ४४२, ४५१
नेमिचन्द्र सूरि ३३०, ५०१
नेमिदत्त २३५
नेमिनाथभवस्तोत्र ३९८
नेमिनाहचरियं ३१६
न्यायप्रवेशांक ४६५
पउमचरिउ १००, २९०, ३११, ३१२, ५५४, ५५७
पतञ्जलि ९८, ४०६
पद्मचन्द्रसूरि ५१५
पद्मचरितम् ३१२
पद्मनन्दि २२१, २२४, २२९, ३८६, ३९२
पद्मनन्दि पंचविंशतिका ३९२
पद्मनन्दि मुनि ३९२
पद्मप्रभदेव ३९२
पद्मप्रभस्वामीचरित ३११
पद्मावत ५११
पद्मशेखरकथा ५१७
परमात्मप्रकाश ३७२, ४०२
परमानन्दसूरि ३४६
परिकर्म २१६
परिकर्मटीका २२४
पर्यन्ताराधना १९९
पंचकल्प १८७, १९२, २०१
पंचगुरुभक्ति २२९
पंचतन्त्र २९९, ४५६
पंचलिंगीप्रकरण ४८३
पंचसंग्रह २३८
पंचास्तिकाय २२३, २२५, २२७
पंडिअघणवालकहा ५१७
पाइअकहासंगहो ५१५

पाइअलच्छीनाममाला २०, ४५०
५३७, ५४८
पाइअ-सद्द-महण्णवो २५ पा०
पाठक २२२, २२३
पाणिनि १, ३, ५, ९, १४,
४०६, ४०७, ५२२
पाणिनी शिक्षा १
पादलिप्त २४२, ५४८
पादलिप्ताचार्य २०, ५४८
पादलिप्ताचार्यकथा ५१७
पादलिप्तसूरि ४५०, ४५१
पार्श्वनाथचरित ३५४
पार्श्वनाथभवस्तोत्र ३९८
पार्श्वनाथस्तोत्र ३९२, ३९६
पार्श्वर्षि २३८
पालिजातक ४३८
पालिमहाव्याकरण २५ पाद०
पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज २४, २६ पा.
पालि साहित्य का इतिहास २४, २५
पासजिनथव ३९९
पासनाहचरियं ३५२
पासनाहलघुथव ३९९
पाहुडदोहा ३७२
पिण्डनिर्युक्ति १९२, १९६, १९७
२०१, २३२
पिण्डविशुद्धि १९९
पिशल १२, १४, ७३, १००
५२२, ५२३
पी० डी० गुणे ७
पुण्डरीकस्तव ३९९
पुण्यचूला १८६
पुण्यचूलाकहा ५१७
पुण्यविजय (मुनि) ४९३
पुरुषोत्तम १००
पुष्पदन्त ४३, १०३, १०४,
१८९, २१२, २२३
पुष्पनन्दि २२३
पुष्पिमा १८६
पृथ्वीराजरासो ५५४
प्रज्ञापना १८२
प्रद्युम्नसूरि २३९, ३४१, ३४६
प्रतिमानाटक ४३३
प्रबन्धकोश ४५१, ४६४
प्रबोधचन्द्रोदय ३७
प्रभावकचरित ४५०, ४५१
प्रभाचन्द्र २२३, २३४, ४५०
प्रमाणमीमांसा २८३
प्रमालक्ष्म ४८२
प्रवचनसार ४८, २२५
प्रवदन्त कथा ५१७
प्रवरसेन १५८, २६३, २६४, २६५
२६६, २७२, ३७७
प्रश्नव्याकरण १६३, १७७
प्रसन्नचन्द्र ३५२, ३५६, ४२७
प्राकृतकल्पतरु ५२७
प्राकृतचन्द्रिका १०४
प्राकृतानन्द ५२७
प्राकृतपुष्करिणि ३८४
प्राकृतपैंगलम् ५२९
प्राकृतप्रकाश ८०, २९५, ४२२
५२२, ५२३
प्राकृतभाषा ४
प्राकृतभाषाओं का व्याकरण १२, १६
प्राकृत मणिदीप ५२७
प्राकृतमंजरी ५२३
प्राकृतयुक्ति ५२७
प्राकृतरूपावतार ५२६
प्राकृतलक्षण ३४ पा० ७५, ८०, ५२२
प्राकृत शब्दानुशासन ५२५

प्राकृतशब्दप्रदीपिका १३
प्राकृतसर्वस्व १२, ३५ पा०
१०४, १०५, ४३१, ५२६
प्राकृतसंजीवनी ५२३
प्रियदर्शिका ४३६
प्रीतकल्प २०१
प्रेमीजी २२३
फूलचन्द्रशास्त्री २१३, २३१
वड्ढमाणविज्जाकप्प ५५१
बन्धस्वामित्व २३८
बप्पस्वामी ३७७
बलदेव उपाध्याय ७८
बल्लभ ३७७
बाण १५१, २६४, ३७३
बारस अणुवेक्खा २२८, २३५
बालचन्द्र २२३, २२४, ३५४
बालिबन्धन ४०६
बालभारत ४१४
बालमन्दि २३९
बालरामायण १४, ४४१
बाल्मीकि ४१४
बाल्मीकि रामायण ३१२
बाह्याभ्यन्तरकामिनीकथा ५१७
बुद्धघोष २०
बुद्धिसागर ३५२, ४८२
बुद्धिसागरसूरि ३२०
बुद्धिस्टिक स्टडीज २५
बृहद्कथा ४५१, ५५३
बृहत्कल्पभाष्य २३४, ४४२
बृहत्कल्पसूत्र २३५
बोप्पदेव २१६
बोहपाहुड २२३, २२४, २२८
ब्राह्मणसाहित्य ४
ब्लाख १००
भक्तपरिज्ञा १९७, १९८
भगवती आराधना २२३, २४१, ५५२
भट्टनारायण ४३७
भट्टवोसरि ५४८
भट्टोजिदीक्षित ५२६
भण्डारकर १००
भद्दाकहा ४८९
भद्रबाहु ४३, १९७, १९९, २०१,
२२४, २४२, ३९६
भद्रबाहुकथा ५१७
भद्रबाहुश्रुतकेवली १६३, २२३
भरत ३६
भरत का नाट्यशास्त्र १०१
भरतमुनि ७२, ९८, ४०५
४०६, ५२२, ५५५
भरतसिंह उपाध्याय २४
भर्तृमेण्ठ ४१४
भर्तृहरि ९९, ३७१, ३७८, ३८६
३८७, ५५४, ५५५, ३७८
भवभूति २७४, २७५, ४१४
४२२, ४३७
भवस्तोत्र ३९७
भविस्सयत्तकहा ४८८, ४८९, ४९१
भामिनीविलास ३८२
भामह ७८, ९९
भामहवृत्ति ५२३
भायाणी ४८८
भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी ३, ४
भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योग २४२
भारवि २९८ ३००
भावपाहुड २८८
भावप्रकाश ४०८
भावार्थदीपिका २३४
भास १७, २७४, ४०५, ४३२
भिक्षु जगदीश काश्यप २०
भिक्षु सिद्धार्थ २०

भुवनकोश ४१४
भुवनसुन्दरी ५१७
भूतबलि ४३, २१२, २२३
भृगसंदेश ३०६
भेतार्यकथा ५१७
भोजराज ५३४
मतिराम ५५४
मत्तपइण्णा २३२, २३४
मदालसाचम्पू ५५३, ५५४
मधुकर अनन्त मेहेंडल ५३
मधुमथ विजय ३८३
मनुस्मृति ४१८
मनोरमा ५२३
मनोरमाचरियं ३३५
मन्दबोधिनी २३७
मम्मट ३७३, ५३४, ५५४
मयूर ३७७
मरणसमाधि १९७, १९९
मरणसमाही २३२
मलधारी हेमचन्द्र २०२, २३८, २३९
मलयगिरि १८२, २०२
मलयसुन्दरीकथा ५१७
मल्लवादि २४२
मल्लवादीकथा ५१७
मल्लिनाथचरित ३११
मल्लिनाहचरियं ३३६
महागिरि १९९
महानिशीथ १८७, १८९
महापुराण ४४, १००, १०४
महाप्रत्याख्यान १९७, १९८
महाबन्ध २११, २१४
महाभारत १०२, ४०६
महाभाष्य ९८, ४०६
महावीरचरित ४३७
महावीरचरियं (पद्यबद्ध) ३३०, ३४६, ३५२, ३५६, ३६० ५५४, ५५७
महावीरथव ३९९
महिमभट्ट ४०६
महीवालकहा ५१३
महीपालचरित ५१३
महुमहविअअ (मधुमथविजय) २७५
महेन्द्रसूरि ४९३, ४९५
महेश्वर सूरी ४८८
माउरदेव ३७७
माघ १५१, २९८, ३००
माघनन्दि २१२, २२३, ३३९
माधवचन्द्र त्रैविद्य २३७
माधवसेन ३७७
मान ३७७
मानदेव ३३८, ३४६
मानदेवसूरी २४४
मायागता चूलिका १८०
मार्कण्डेय १२, ३५, ९०, ९१, ९५, १०४, १०५, ४३१, ५३६, ५२७
मालतीमाधव ४३७
मालविकाग्निमित्र ४३३, ४३४
मालारोपणविधि २४४
मित्रनन्दि २३४
मिराशी २६५
मुख्तार स० २४४
मुणिसुव्वयचरियं ३३६
मुद्राराक्षस ३७, ४३७
मुनिचन्द्र ३३६, ४७६, ५१३
मुनिचन्द्रसूरि ३४६, ५१३
मुनिभद्र ३३६
मुनिसुन्दर ५१७
मुनिसुव्रतचरित ३११
मुनिसुव्रतभवस्तोत्र ३९८

मु० बनर्जी १४
मूलाचार २३२, २४१, ३८६, ५५२
मूलाराधनादर्पण २३४
मृच्छकटिक ७३, ७४, ९५, ४३२ ४३३, ४३५
मेघदूत ३०६
मेरुतुंग ३७७
मैक्सवेलेसर २५
मोक्खकपाहुड २२८
मोनियर विलियम्स ४०७
यजुर्वेद ४०६
यतिवृषभ २१८, २२९, २३०, २३१
यशस्तिलक २९०, ४१४
यशोदेव ३११
यकोषी १००, १०१, १०४, ४८८, ५२३
योगदृष्टिसमुच्चय ४६५
योगभक्ति २२९
योगशतक २६५
योगशास्त्र २८३
योगसार २३५, ३७२, ४०२
योगीन्द्रदेव ४०२
योनिप्राभृत १९९
रघुनाथ कवि ५२७
रघुवंश ३०१
रत्नदेव गणि ३७८
रत्नपरीक्षा ५५१, ५५२
रत्नावली ४१३, ४३६, ५३५
रत्नशेखर २३९, ५३२, ५५१
रत्नशेखर सूरि ५०८
रयणचूड ३४८
रयणचूडरायचरियं ३१२, ३४६
रयणसार २२९
रयणसेहरनिवकहा ५१०, ५११, ५५६
रविषेण ३१२
रसगंगाधर ५३६
रसिक सर्वस्वटीका १३
रहीम ५५४
रंभामंजरी ४२६
राजतरंगिणि २७०
राजप्रश्नीय १८७
राजशेखर १५, १०१, ४११, ४१२, ४१३, ४१४, ४६४
रामचन्द्र ४०७, ४०८
रामचरितमानस ३८३
रामजी उपाध्याय २६४
रामतर्क वागीश ५२७
रामदास भूपति २६३, २६४
रामपाणिवाद २९८, ३००
रामशर्मा १०४
रामसिंह मुनि ३७२
रामायण ४०६
रावणवध २६३
राहु आचार्य ३१२
राहुलक २०
रिट्ठ समुच्चय ५५१
रीजडेविड्स २५
रुक्मांगद २९९
रुद्र ४१८
रुद्रट १४, १०१, २८९, ३७३, ५३३
रुद्रदास ४१८
रुद्रमिश्र २९६
रुय्यक ५३४
रूपगता चूलिका १८०
ऋग्वेद २, ३, ४, ८, १७, ३९४, ४०६, ४३८
ऋषभपञ्चासिका ३९५
ऋषिपुत्र ५४८
ऋषिभाषित २०१
रोहगुप्त कथा ५१७
लंकेश्वर १०४

लक्ष्मण गणि ३२३, ३२०
लक्ष्मीधर १३, ९४, ९५, १०४, ५२६
लक्ष्मीलाभ ३८७
लक्ष्मीलाभ गणि ३८९
लग्गसुद्धि ५५१
लग्नशुद्धि ५५१
लघु क्षेत्र समास २३९
लघुनयचक्र २४१
लघुसिद्धान्तकौमुदी ५२६
लघ्वजितशान्तिस्तवनम् ३९९
लब्धिसार २३६, २३७
ललितविग्रहराज ४३७
ललितविस्तरा ४६५
लास्सन ३७
लाहा (डॉ०) २५ पाद०, २६ पाद०
लिंगपाहुड २२९
लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया १०१, १०२, १०३
लीलावई २९८, ४४८
लीलावती ३२०
लोकविजय यन्त्र ५५१, ५५२
लोहाचार्य २१२
ल्यूडर्स ३६
वज्जलग्ग १५९
वज्जालग्गं ३७७, ३७८, ३८२, ५५४, ५५५
वज्रकर्णनृपकथा ५१७
वज्रसेन सूरि ५०८, ५३२
वज्रस्वामी १८९, २४२
वटुकनाथ शर्मा ७८
वट्टकेर २३२, २३६, २४१, ३७१
वडुमाविज्जाकप्प ५५१
वत्सराज ३७७
वरदाचार्य ५२६
वररुचि ३७, ७८, १०४, १२०, १२१, २४०, २९५, ४२२, ५२२, ५५३
वराह ३७५
वराहमिहिर १८४
वर्धमानदेशना ५१७
वर्धमान सूरि ३११, ३२०, ३३५, ३५२, ४८२
वसुदेवहिण्डी ३४२, ४५६, ४५७, ४६१, ५५३, ५५४
वसुनन्दि २४३
वसन्तराज ७८, ५२३
वाक्पतिराज १४, २६१, २७४, २७५, ३७७
वाक्यपदीय ९९
वाग्गच्छीयहरिभद्र ३३६
वाग्भट्ट ३२ पा०, २९०, ३७३
वाग्भटालंकार १३
वाजसनेयी संहिता ८
वाभट्ट ९१
वात्यकाण्ड ६
वासुदेव १३
वास्तुसार ५५१, ५५२
विअट्ठ ३७७
विकटनितम्बा ५५४
विक्कमसेणचरिय ५१५
विक्रमोर्वशीय १०१, ४३३
विक्रान्तकौरव २३४
विचारसार प्रकरण २३९
विजय आचार्य ३१२
विजयगुरु २३९
विजयोदया टीका २३४
विजयसिंह ३२३
वियजसिंह सूरि ५१७
विज्जिका ५५४

विद्धशालभंजिका ४१४
विद्यापति १०३
विद्वज्जनबोधक २२३
विधिमार्गप्रभा २४३
विधुशेखर भट्टाचार्य २०
विनयदत्त २१२
विन्टरनित्स ४८८, ५१३
विपाकश्रुत ५५, १७८
विपाकसूत्र १६३, ४४१
विबुध श्रीधर २२४
विबुधानन्द ४३७
विमलकहा ४८९
विमलसूरि ३११, ३१२, ३१९
विरहांक कवि ५२८
विलासवती ४३१
विवेकमंजरी ४१७
विशाखाचार्य ४३
विशाखदत्त ४३७
विशेषावश्यकभाष्य ३११, ४५०, ४५१
विश्वनाथ ३७३, ४ ९, ५३५, ५५४
विश्वेश्वर ४३०
विषमबाणलीला ३८३
विष्णुकुमार २४२
विंसेन्टस्मिथ २६६
विहारी ५५४
वी. एम. वरुआ ९९
वीरकहा ४८९
वीरचन्द्र २४२
वीरचन्द्रसूरि ३४१
वीरदेव गणि ५१३
वीरनन्दि २३६, २३९, ३९७
वीरनिर्वाण और
जैन कालगणना १६४
वीरभद्र १९७, ३६१, ४५१
वीरभद्राचार्य ३४१
वीरभवस्तोत्र ३९८
वीरसेन २१६, २१८, २३४, ४४५
वीरसेनाचार्य २११
वृष्णिदशा १८६
वेचरदास दोशी २४०
वेणीसंहार ४३७
वेवर ४०७
वैकुण्ठचरित ४२३
वैराग्यरसायन ३८७, ३८९
वैराग्यशतक ३८७, ३९९
व्यवहार १८७, १९०, २०१
व्यवहारकल्प २००
व्यवहारभाष्य ४४२
व्याख्याप्रज्ञप्ति १६३, १६९, २०१, ४४१ (भगवती सूत्र)
व्याख्या प्रज्ञप्ति टीका २१६
शकुन्तला १३
शतक २३८
शतपथब्राह्मण ८
शब्दचिन्तामणि ५२७
शंकर २३
शाकटायन ३
शाकल्य ३
शाक्य और बुद्धिस्ट ऑरीजिन्स २५
शान्तिचन्द्र २०२
शान्तिनाथ चरित ३११
शान्तिनाथ भवस्तोत्र ३९८
शान्तिसूरि २०१, २४२, ३३६
शामकुण्ड २१६
शारदातनय ४०९, ४११
शारिपुत्र प्रकरण ४३२
शाश्वतचैत्यास्तव ३९७
शिवकोटि २३४
शिवगुप्त २३४
शिवजित अरुण २३४
शिवदत्त २१२

शिवनन्दि २३४
शिवपुराण २९९
शिवशर्म २३८
शिवार्य २३३, २३४, २३५, २४१
शिशुपालवध २९८, ३००
शिष्यहिताटीका २१०
शीलांक २०, २०१, ५४८
शीलांकाचार्य ३३८, ४३७
शीलाचार्य ३३८
शीला भट्टारिका ५५४, ५५५
शीलोपदेशमाला ५१७
शुक्लयजुर्वेदीयप्रातिशाख्य ८
शुभचन्द्र २३५, ५२७
शुभमतिकथा ५१७
शुभवर्धन गणि ५१७
शूद्रक ४०५, ४३५
शृंगार प्रकाश ५३४
शृंगारमंजरी ४३०
शृंगारशतक ३८७
श्रावकप्रज्ञप्ति ४६५
श्रीकण्ठ २९६, ४१८
श्रीचन्द्र २३५, ३११, ३२३, ३३६
श्रीदत्त २११
श्रीनन्दि २३९, २४३
श्रीमद्भागवत २९८, ३००
श्रीहर्ष १५१, ४२७, ४३६
श्रुतभक्ति २२९
श्रुतसागर ५२७
श्रुतावतार २२९
श्रेयांसनाथचरित ३११
षट्खण्डागम ४४, ४५, १६३, १८९, २११, २१२, २१३, २१६, २१६, २१८, २२४, २३६, २३७
षट्खण्डागमसूत्र २०३
षट्स्थानप्रकरण ४८२
षड्दर्शनसमुच्चय ४६५
षड्भाषाचन्द्रिका १३, ९४, ५२६
सकलचन्द्र २३९
सज्जन उपाध्याय ४८८
सहसीइ (षडशीति) २३८
सणंकुमारचरियं ३३६
सत्तारिसायथोत्त ३९९
सदानन्द ७८, ५२३
सप्ततिका २३८
समत्तसत्तरि २४२
समन्तभद्र २१२, २१६, २३४, ४०३
समयसार २२५, २२६, ५५३
समराइच्चकहा १८१, २९०, ३६०, ४६३, ४६५, ४७४, ४७६, ५५३, ५५४
समवायांग ३३, १६३, १६८, १८०
सम्मइसुत्त (सन्मतिसूत्र) २४०
सम्यक्त्वकौमुदी १७६, ५११
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका २३७
सरस्वती कंठाभरण ५३४
सर्वगुप्त २३३
सर्वज्ञसिद्धि ४६५
सर्वदेवसूरि ५०५
सर्वसेन ३७७
संक्षिप्तसार ३५ पा०
संग्रहणी २३९
संग्रामसूरकथा ५१७
संघतिलक ५१७
संघदासगणि ४५६
संजीवनी टीका १३
संजीवनी व्याख्या ७८
संतिनाहचरियं ३३६
संथारग २३४

संदेशरासक १०३, ३७८
संवाहपगरण ४६५
संविनाहथव ३९९
संवेगरंगशाला ४८६
संस्कृत ड्रामा ४०६
संस्तारक १९७, १९८
सागारधर्मामृत २४३
सामवेद ४०६
सारावलि १९९
सारिपुत्रप्रकरण ३६
सावयधम्मदोहा ३७२
सावयधम्मविहि २४२
सावयपण्णत्ति २४१
साहड ५१७
साहित्यदर्पण २८१, ४०८, ४०९, ४३१, ५३५
सांख्यतत्त्वकौमुदी १३
सिंहतिलक २४२
सिद्धकण्हप्पा ४१०
सिद्धभक्ति २२९
सिद्धसेन १८९, २४०, २४२
सिद्धसेन दिवाकर कथा ५१७
सिद्धसेन सूरि ५१३
सिद्धहैमशब्दानुशासन १२, ५२४
सिद्धान्तकौमुदी ५२६
सिद्धान्तसार ३८७, ३९२
सिरिचिंधकव्व (श्रीचिह्नकाव्य) २९५
सिरिपासनाहचरियं ३५२
सिरिविजयचंदकेवलिचरियं ३२६
सिरिसिरिवालकहा ५०८
सिंहदेव १२
सिंहदेवगणि १३
सिंहराज १०४, ५२६
सीलपाहुड २२९
सुकुमारसेन ५१, ५७, ६६
सुखबोध २०२
सुखबोध टीका ३४६
सुखलालसंघवी २४०
सुगुरुपारतंत्र्यस्तव ४८२
सुत्तपाहुड २२८
सुदंसणचरियं ३३१
सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ३, ४, ५, १३१
सुपासनाहचरियं ३२३, ४५०
सुबन्धु २७४
सुबोधिनी ५२३
सुबोधिनी टीका ७८
सुमतिनाथचरित ३११
सुमतिनाहचरियं ३३५
सुमतिवाचक ३५२
सुमति सूरि ५०५
सुयपंचमीकहा ४८८
सुरसुन्दरीचरियं ३१९
सूत्रकृतांग १६३, १६६, १९९, २००, २०१, २३५, ४४०
सूत्रकृतांग चूर्णि ४४२
सूयगडांग ३१
सूर्यप्रज्ञप्ति १६७, १८२, १८४, २००, २३९
सेतुबन्ध २६३, २६४, २६५, २६६, २६८, २७०, ५२६, ५३४, ५३५
सेनार्ट ६९
सेवन ग्रैमर्स ऑव द डाएलैक्टस एण्ड सबडाएलैक्टस ऑव द बिहारी लैंग्वेज ३४ पा०
सोमतिलक २३९
सोमदेव ४३७
सोमप्रभ ३११, ४९८
सोमप्रभ सूरि ३३५

सोमविमल ५१७
सोमचरित २९६
स्कन्दिल १९९
स्थलगता १८०
स्थविरावली १९९
स्थानांग १६३, १६७
स्थूलभद्र १९९
स्थूलभद्राचार्य १६४
स्फोटायन ३
स्वप्नवासवदत्ता ४३३
स्वयंभू ९९, २९०, ४८८, ५३२
स्वामिकार्त्तिकेय २३५, ३७१
स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा ४८, ३८३
हम्मीरकाव्य ४२७
हम्मीरमर्दन ९४
हरविलास ४१४
हरिभद्र १८१, १८९, २०१, २४२, २९०, ३६१, ३६४, ३७१, ४४६, ४६४, ४७४, ४७६, ५५१
हरिवंश ४०६
हरिवंस चरियं ३१९
हरिश्चन्द्र २७४
हरिषेण २३५
हर्षचरित २६४, ३७३
हस्तिकल्प २३४
हार्नले (डॉ०) १०३, २२३, २२४
हाल ३७७, ४५१
हाल कवि ५२३
हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास ५५४, ५५७
हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर २६
हीरालाल (डॉ०) १८०, २३०, २४२
हेमचन्द्र ११, १२, १३, १९, २०, ८०, ८४, ९४, १०४, १०५, १०१, ११९, १२०, १२१, १२३, १२४, १४६, २४०, २७५, २८१, २८९, २९०, २९५, ३२३, ३३६, ३७२, ३७७, ३७८, ३८३, ४०७, ४१७, ४८८, ४९८, ५२७, ५३५, ५३८, ५३९, ५४८
हेमचन्द्रमलधारी ५१७
हेमचन्द्रसूरि ३२०
हेमतिलकसूरि ५०८
हेमविमल ३३३
हेमव्याकरण २८३

पात्रनामानुक्रमणिका

अक्रूर २९६
अङ्कुश ३१४
अगडदत्त ४६१
अग्निमित्र ४३४
अग्निशर्मा ४६५, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०, ४७१, ४७२
अंगारवती ५०७
अङ्गराज ४२३
अचल ४९२
अजयग्रीव ३५७
अजयदेवी १७८
अजातशत्रु १८५
अजितनाथ ३९६, ४०१
अजितसेन ५१०
अञ्जनचौर २४३
अञ्जनासुन्दरी ३१४, ३१५
अणाढियदेव ४५७
अथर्वणमन्त्री ५१३
अनन्तनाथ ३११
अनन्तमति २४३
अनंगरति ३२६
अन्धकवृष्णि १७५, ४५९
अपराजिता ३१२, ३१३
अभग्गसेन १७८
अभयसिंह ४९८
अमरदत्त ४९२
अमरद्रुम ३१४
अमरसिंह ४९८
अमितगति ४६०
अमिततेज ४६१
अमित्रा ३१२
अम्बद २५८
अम्बष्ट ३००
अरहनाथ ४६१
अरिदमन ५०८
अरिष्टनेमि १७६, १९४, १९६, ३३८
अविमारक ४३३
अशनिघोष ४६१
अशोक ४९८
अशोकश्री (विद्याधर) ५ ७
अश्वसेन ३५२
अहिल्या १७८
आनन्द १७२, १७४, ४७०
आनन्दसुन्दरी ४२३, ४२४, ४२५
आर्द्रककुमार ५०१
आर्यखपुट २४२, ५०२
आर्यघोष ३५४
आषाढसेन २९९
इन्द्र २७४
इन्द्रजीत २६८
इलापुत्र २४२, ५०१
इषुकार १९३
उग्रसेन ३००, ४६१
उज्झित १७८
उत्तरदास (श्रावक) २५८
उदयन २४२, २४३, ४३३, ४२२
उम्बर ५०८
उम्बरदत्त १७८
उर्वशी ४३४
ऋषभदेव १८ , ३३३, ३३८, ३५७, ३९५, ३९७, ४६०
ऋषभदत्त ३३२

ऋषभदत्तसेठ ३४२
ऋषभसेनसेठ ४५२, ४५३
ऋषिदत्ता ४९५, ४९६
एलाषाढ ४७५
कक्कुक २५७
कनकप्रभ ३२०
कनकप्रभ ३२०
कनकमती ४८७
कनकरथ ४८१
कनकवती ३४२, ३४४
कपिल १९३, ३५८, ४४१
कमलश्री ३२६, ४८९, ४९०
कमलप्रभा ५०९
कमलसेना ३४६
कमलावती ३२०
कर्पूरमञ्जरी ४१३, ४१४, ४१५
४१६, ४१७, ४२०
कर्पूरिका ४२७, ४२८
कलावती ३३३
कल्याण ३२७
कांचना १७८
कामदेव १७३, २४२, ३५८
कामपताका ४६१
कुणिक १८५
कुण्डरीक १७२
कुन्तिभोज ४१३
कुन्थु ४६१
कुन्द ४९८
कुब्जा ३००
कुमारपाल २८३, २८४, २८६,
२८७, २८८, ४९८
कुमुदिनी ४६५, ४६६
कुम्भकर्ण २६९
कुम्भीलक ४३५
कुम्मापुत्र ३३४
कुरंगी ४३३
कुरंजिका ४१५
कुरुचन्द्र ३२६, ४८६
कुवलयचन्द्र ३६२, ३६३, ३६४
कुवलयमाला ३६२, ३६३
कुवलयावली २९०, २९१
कुबेरदत्त ४५७
कुंडकौलिक १७३
कूर्मा ३३३
कूलवाल ४८६
कृतपुण्यक ४९८, ५०१
कृपणबुद्धि ५१६
कृपणश्रेष्ठि ५१५
कृष्ण १७६, ३३६, ३३८, ४५८
केशी १९३
कैकेयी ३१२, ३१३, ३१५
कोरंट ३५८
कौण्डिल्य ४६५
कंडरीक ४७५
कंस २९९, ३००, ३०१,
३०५, ४६१, ४६२
क्षपणक ४७५
खण्डपाना ४७५
खरदूषण ३१३, ३१४
गणेश २७६
गजसुकुमाल १७२, १७६, ३३६
गन्धर्वदत्ता ४६०
गिरिडुम्ब ५०२
गिरिसेन ४७०
गुण ४७०
गुणसेन ४६५, ४६६, ४६७, ४६८,
४६९, ४७०, ४७१, ४७२
गोशालक ३५७, ३५८
गौतम गणधर १७४, १९३
गौरी २७६
गंगवसुमती ४९१

गांगिला ४५७
चक्रधर ५०१
चण्डकौशिक ३५७
चण्डचूडा ५०२
चण्डसिंह ३५४, ३५५
चण्डसोम ३६३
चन्दनक ४३५
चन्दनदास ४३७
चन्दनपाल (चण्डपाल) ४१३, ४१४ ४१५, ४१६, ४२०
चन्दनबाला ३५७, ४५२, ४९८
चन्दना ५०१
चन्दुक २५७
चन्द्र २७६
चन्द्रकेतु ४२०
चन्द्रगति ३१३
चन्द्रगुप्त ४३७
चन्द्रदेव ४९२
चन्द्रनखा ४१३
चन्द्रप्रभ ३११, ३३६, ३९७
चन्द्रलेखा ४१८, ४१९, ४२०, ४२७, ५१३, ५१४
चन्द्रश्री ५१४
चन्द्रवर्मन ४२०
चन्द्रानन ३९७
चन्द्रिका ४१८
चम्पकमाला ३२४, ३५८
चाणक्य ४३७
चाणूर ३००, ३०१
चारुदत्त ४३३, ४६०
चित्तसंभूति १९३, ४४१
चित्रगुप्त ४९२
चित्रप्रिय ५०२
चित्रलेखा ४३४
चित्रवेग ३२१
चित्रांगद २९०, २९१
चिलातीपुत्र ५०२
चुल्लनीप्रिय १७३
चुल्लशतक १७३
चेटक १८५
चेलना १७७, १८५
चंडगोप ५१५
चंडरुद्र ५०२
जटाकेतु ४३०
जनक ३१३, ३१५, ४६०
जम्ब २५८
जम्बूस्वामी १७६, २४२, ३४१, ३४२, ४५७
जय ३५५, ४७०
जयराजर्षि ४९२
जयलक्ष्मी ५१५
जयशासन ४८०, ४८१
जयशेखर ४८१
जयसुन्दरी ४९८
जयसूर ३२७
जरासन्ध ३३६
जालिनी ४७०
जाम्बवान् २६७
जितशत्रु ३२७, ४५७, ५१३
जिनदत्त १७२, ४८०, ५०५, ५०६, ५०७
जिनदास १७८, ३५८
जिनदेव श्रावक ४९४
जिनपालित १७२, ३५८
जिनरक्ष १७२
जिनमाणिक्य ३३३
जेत्रचन्द्र ४२७
ज्ञाननिधि ३३२
झोट २५७
झिण्डीरक ४२४, ४२५

णाहड २५७
तरंगवती ४५०, ४५१, ४५२, ४५३, ४५४, ५५३
ताट २५७
तारा ४९८
तिलकसुन्दरी ३४७, ३४८
तोसली ४८३, ४८४, ४८५
त्रिजटा ४३७
त्रिपृष्ठ ३५७
त्रैवर्ण २५९
थावर्चाकुमार १७२
दमयन्ती ५०१
दशरथ ३१२, ३१३, ३१५, ४३३
दशार्णभद्र ४९८
दामन्नक ४९८, ५०२
दीपशिखा ४९८, ५०२
द्वीपायन ३३६
दुर्दर १७२
दुर्लभकुमार ३३४
दुष्यन्त ४३३
दृढवर्मा ३६१, ३६२, ३६६
देवकी १७२, ३००, ४६१
देवपाल ४९८
देवयश ३२४
देवराज ४२७
देवदत्ता १७८
द्रमक ५०१
द्रुमा ३३४
द्रोण ३३४, ५०१
द्रौपदी १७२, ३३६
धन ४७०, ५०१
धनगिरि ५१६
धनदत्त ४८३, ४९२, ५१५
धनदा ५१६
धनदेव ३२१, ५१५, ५१६
धनदेवी ५१६
धनपति १७८
धनपाल ३३२, ४५२, ४८९, ४९२, ५१६
धनवती ४५७
धनवसु ४५७
धनश्री ४६१, ४७०, ५१६
धनश्रेष्ठि ५१५
धनसाधु ४९२
धनसारसेठ ५१६
धनसार्थवाह ३३९, ४८०
धन्ना १७२
धनुर्हर राजा ५१६
धनेश्वर ४९७
धन्धी ५१६
धन्य १७७
धन्यक ४९८
धम्मिल ४५६
धरण ३२४, ४७०, ४९०, ४९२
धानी ५१६
धर्मदत्त ५१५
धर्मनन्दन ४८१
धर्मदेव ४९२
धर्मयश ३३२
धर्मानन्द ३६३
धारिणी १७२, १७५, १७७, ४५७,
नन्द ४९०
नन्दन ३५७
नन्दा १७७, ४८३
नन्दिनीप्रिय १७३, १७४
नन्दिषेण १७८
नमि १९३
नमिराजा ४८६
नरदेव ४९२
नरवर्म नृप ४९१

नरभट्ट २५७
नरवाहन ३२०, ३२२
नरवाहनदत्त ४५६, ४५७
नरविक्रम ३५७
नरसिंह ५१३
नरसुन्दर ३३३
नर्मदासुन्दरी ४९४, ४९५, ४९६, ४९८
नल २७०, ४३८, ४९८
नलकूबर २९१
नवपुष्पक ५०२
नहुष ४३८
नागदत्त ४९१
नागश्री ५०१
नागिला ३४१
नारायणदास ४२७
नाहट ३२४
नेमिनाथ ३३६, ३९८
पद्म ४९२
पद्मप्रव ३११
पद्मरथ ३४२
पद्मवणिक् ३२४
पद्मदेव ४५३, ४५४, ४५५
पद्मावती ४३३
पद्मिनी ३४६
पद्मोत्तर ४९८
परुशराम ४९२
पवनञ्जय ३१४, ४९२
पादलिप्त २४२
पार्श्वनाथ ३३८
पार्श्वनाथ (पार्श्वकुमार) ३५२, ३५३ ३५४, ३९६, ४११
पिंगल १८१
पिप्पलाद ४६०
पुण्डरीक १७२
पुरन्दरदत्त ३६३
पुरन्दरश्रेष्ठी ४८०
पुरुरवा ४३४
पूर्णचन्द्र ४६५, ४६६
पृथु २७५
पृथ्वीपाल ५०८, ५०९, ५१०
पृथ्वीशेखर ५०७
प्रजापतिराजा ३४०
प्रदेशी १८०, १८१
प्रद्युम्न ४५८, ४५९
प्रद्योत ४९८
प्रभव ४५७
प्रभंकर ४९२
प्रभाकर ५०२
प्रभाचन्द्र ४९२
प्रभावती रानी ३५३
प्रसेनजित १८०
प्रसन्नचन्द्र ४५७, ५०२
प्रहलाद ३१४
प्रियतमा ३२१
प्रियमित्र ३५७
प्रियंगुमञ्जरी ३२०
प्रियंगुसुन्दरी ४५६, ४६०
प्रियंगुश्यामा ३६१, ३६२, ३६६, ३६७
प्रियंवदा ४८३
बन्धुराज ३२४
बन्धुदत्त ३२४, ४८९, ४९०
बलदेव ३३८
बलराम २९९, ३००, ३०१
बहुबुद्धि ५१५
बालचन्द्र ४९२
बालि २६७
बाहुबलि ३५७, ४६०
ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ३३८
ब्रह्मा २७१, २७४

ब्रह्मदेव ४९२
बृहस्पतिदत्त १७८
बेहल्लकुमार १८५
भद्रनदी १७८
भद्रबाहु २४२
भद्रमुखी ३३४
भद्रा १७७, २५७, ४९०
भयदेव ४९२
भरत १८३, ३१५, ३१६, ३३०, ३३८, ३५७, ४३३, ४६०, ४९२, ५०१
भवदत्त ३४१
भवदेव ३४१
भवदेव राजर्षि ४९२
भविष्यदत्त ४८९
भविष्यानुरूपा ४९०
भाकुट २५८
भागुरायण ३५४, ३६५, ४३७
भानु ४५९
भानुदत्त ४९२
भानुमती ३६३
भामण्डल ३१३
भास्कर द्विज ३२४
भिल्लुक २५७
भीमकुमार ३२४, ३२५
भीषणानन २९१
भूति ४९२
भूपाल ४८९
भैरवानन्द ४१४, ४१५
मकरकेतु ३२१, ३२२
मञ्जुकण्ठ ४'८
मणिसिंह ३२४
वासवमन्त्री ३६३
वासवदत्ता ३५८, ४३३, ४५२
वासुदेव १८६, ४५९, ४६१
विक्रमराजा ५१६
विक्रमादित्य ४९८
विचक्षणा ४१४, ४१५
विजयाचार्य ४९२
विजय ४७०
विजयकुमार ३३२
विजयचन्द्रकुमार ३२४, ३२६
विजयचोर १७२
विजयदेव ४९२
विजयसिंह १८१
विजयसेन ३६३, ४८०, ४८१
विजयसेनाचार्य ४७०
विजया १५४
विजयानन्द २९१
विपुलाशय राजर्षि २९०
विभीषण २६८, ३१२, ३१५
विभ्रमलेखा ३१४, ४१५
विमल ४९०
विमलसेठ ५०६
विमलमती ५०६, ५०७
विमलाभा ४६०
विराधगुप्त ४६७
विराधित ३१४
विशल्या ३१५, ५०१
विश्वभूति ३५७
विष्णु २७१, २७४, २७५
विष्णुकुमार २४२, ४६०, ५०२
विसेन ४७०
वीरक ४३५
वीरचरित ५०१
वीरदास ४९४
वीरभद्र ३३३
वैरस्वामी ५०२
वैहिदर २५९

वंकचूल ४८६
वंगपाल २५९
शकट १७८
शकार ४३५
शकुन्तला ४३३, ४३४
शश ४७५
शशिराज ४९२
शशिप्रभा ५१३
शान्तिनाथ ३११, ३३८, ३९६, ३९७, ३९९, ४०१
शारदश्री २९१
शारिपुत्र ४३२
शालिनीप्रिय १७३, १७४
शालिभद्र ४८५, ५०१
शिखण्डचन्द्र ४२३
शिखिन् ४७०
शिल्लूक २५७
शिव ३५५
शिवकुमार ३४२
शिवचन्द्र ४९२
शिवदेव ५०६
शीलमती ३३२
शीलवती ४९८, ४९९, ५००
शुकमुनि १७२
शुभदत्त ३५४
शुभमति ३२७
शुभंकर ५०५, ५०७
शूलपाणि ३५७
शृंग ४३८
शृंगारमञ्जरी ४३०
शौनकायन २५९
शंबुक ३१३
शंबकुमार ४५८, ४५९
शंख ४९१
श्रीकृष्ण २९६, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०६, ३११
श्रीगुप्त ४९२
श्रीदेवनृप ४९२
श्रीपाल ५०९, ५१०
श्रीवत्सविप्र ३२४
श्रीविजय ४६१
श्रेणिक १७१, १७७, १८३, ४८६, ५०४
श्रेयांसकुमार ३३३
श्रेयांसनाथ ३११
सगरचक्रवर्ती ३३८
सत्यभामा ४५९
सत्यश्रेष्ठी ३५८
सद्दालपुत्र १७३, १७४, १७५
सनत्कुमार ३३८
समरादित्य ४६५, ४७०
समरसेन ४८०, ४८१
समित ५०२
समुद्रदत्त ४५७, ४६१, ५१५
समुद्रपालित १९३
समुद्रविजय ४५९, ४६०
सम्प्रतिसम्राट ५०२
सरमा ४३७
सरस्वती २७६
सरह ४५७
सरूपा ४८९
साउह ४५७
सागरचन्द्र ३२४
सागरदत्त १७२, ३५८
सागरदत्ताचार्य ३४२
सागरदत्तसेठ ४८३, ४८४
सागरदेव ३५८
सातवाहन २९०, २९१, २९२

साधुरक्षित ३५८
सामली ४६०
साररिका ४५३
सारंगिका ४१५
सालिवाहन ४८३
सिन्धुनाथ ४१८
सिद्धार्थक ४३७
सिद्धसेन २४२, ५०२
सिंहकुमार ४७०, ४८३, ४८५
सिंहध्वज ३२७, ३२८
सिंहमन्त्री ३२४
सिंहरथ ५०९
सिंहराज ४८०, ४८१
सिंहलराज २९१
सिंहोदर ३१२
सीता २६७, २६८, २६९, ३१३, ३१४, ३१५, ३१७, ४३७, ४६०, ५०१
सुकुमालिका ४८३, ४८५
सुकौशलमुनि ४८६
सुग्रीव २६७, २७०, २७२, ३१४
सुजयराजर्षि ४९२
सुजससेठ ४९२
सुजात १७८
सुतारा ४९०
सुदर्शन ५०२
सुदर्शना ३३२, ३३३
मतिसागर ५०९, ५११, ५१२
मदन ३२४
मदनकेसरी ३४९
मदनदत्त वणिक् ४९१
मदनमंजरी ५१०
मदनवर्मा ४२७
मदनसुन्दरी ३२६, ५०८, ५०९, ५१०
मदनावली ३२७, ३२८
मदनिका ४३६
मधुरकण्ठ ४१८
मधु राजा ४८६
मन्त्रितिलक ३२४
मन्दारक ४२३
मन्दोदरी ४६०
मरुदेवी ३३३
मरुभूति ३५२
मलयकेतु ४३७
मल्लदेव ४२७
मल्लवादिन् २४२
मल्लवादी ५०२
मल्लिकुमारी १७२
मल्लिनाथ ३११
मल्लिस्वामी ३३८
महाचन्द्र १७८
महानुमति २९१
महाबल १७८
महावीर १७२, ३५६, ३५७, ३५८, ४४१
महाशतक १७३
महासेन ३३२, ३९८
महासेन राजर्षि ४८६
महिपाल ५१३, ५१४
महेन्द्र ३६२, ३६४
महेन्द्रनृप ४९२
महेन्द्रसिंह ३३३, ३३४
महेश्वरदत्त ४५७, ४५८, ४९४, ४९६
माकन्दी १७२
माघरक्षित २५८
माधवानल २९१
मानभट ३६३
मानवती ३३४
मानवेद ४१८, ४१९, ४२०
मायादित्य ३५३
मारीचि ३३१, ३५७, ३५८

मालविका ४३४
मित्रसूर ४८१
मुनिचन्द्र ५०८
मुनिसुव्रत ३३१, ३९८
मुष्टिक ३००
मूलदेव २४२, ४७५, ५०१
मृगापुत्र १७८, १९३, ४४१
मृगावती ३४०, ३५८, ४९८
मृगांककुमार ३२८, ५१५
मेघकुमार १७१
मेघनाद २६८
मेघमाली ३५३
मेघरथ ४९२
मेघवाहन ३१४
मेनका ४३४
मोहदत्त ३६३
मौद्गलायन ४३२
मंखलीपुत्र गोशाल १७४, १७५
मंगु आचार्य ४८६
यज्ञदत्त ४६५
यज्ञदेव ४९२
ययाति ४३८
यशवर्द्धन ४८३, ४८४
यशोमति ५०६
यशोवर्मा २७४, २७५, २७६, २७७, २८०
यशोवर्द्धन २५७
याज्ञवल्क्य ४६०
यौगन्धरायण ४३३
रक्तसुभद्रा १७८
रज्जिल २५७
रतिसुन्दरी ५०७
रत्नचूड ३४६, ३४७, ३४८, ३४९
रत्नमाला ३२८
रत्नशेखर ५११, ५१२
रत्नावली (रत्नवती) ५११, ५१२
रथनेमि ११३, १९४, ३३६, ४४१
रम्भा ४३४
रम्भामञ्जरी ४२७
रम्भासुन्दरी ४२७, ४२८, ४२९
रविपात ३५८
राजशेखर ४३०
राजीमति ३३६, ४४१
राम २६७, ३६८, २६९, २७०, २७१, २७२, २७४, ३१२, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ४५८
रामदेव ४८१
रावण २६७, २६८, २६९, २७०, ३१३, ३१५, ३१६
राहडमन्त्री ३२४
राक्षस ४३७
रिपुमर्दन ३२६
रुक्मिणी तापसी ४९८
रुक्मिणीमधु ५०१
रुद्राचार्य ४९१
रूपरेखा ४३०
रूपसुन्दरी ५०८, ५०९
रोहिणी ५०१
रोहिणेय ५०२
लवण ३१४
लक्ष्मण २६८, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६
लक्ष्मणादेवी १८९
लक्ष्मी २७६, ४७०
लीलावती २९०, २९१, ४८०, ४८१
लोभदेव ३६३
वकुल ५०२
वकुलमासी ३४६
वज्रनाभ ३५४

वज्रमित्र ४८६
वज्रसिंह ४८१
वज्रस्वामी १८९, २४२
वरदत्त १७८
वरशुक ५०२
वरुण ४९८
वर्धमान ३३८, ३९७
वसन्ततिलका ४३०
वसन्तश्री २९१
वसन्तसेना ४२७, ४२८, ४३३, ४३५
वसुदत्त ४८६
वसुदेव ३००, ४५७, ४५९, ४६०
वसुदेव वणिक् ४८१
वानव्यन्तर ४७०
वामादेवी ३५२
वारिसेन ३७०
सुदत्ता ४९२
सुधर्मस्वामी ३४२, ४८०
सुन्दर ३५६
सुन्दर वणिक् ३२४
सुन्दरी ४८३, ४८४, ४८५, ५१६
सुन्दरीदेवी ५१५
सुनन्द ४५७
सुपार्श्वनाथ ३२३
सुबाहु १७८
सुप्रभा ४६०
सुभद्रा १८६, ५०१
सुभानु ४५९
सुभौमचक्रवर्ती ३३८
सुमतिनाथ ३११, ३३२
सुमति मन्त्री ४१८
सुमित्रा ३१३
सुरप्रिया ४९२
सुरप्रभ मुनि ३४७
सुरशेखर ४९२
सुरसुन्दरी ३२०, ३२१, ३२२, ५०८
सुरादेव १७३
सुरानन्दा ३४७
सुरेन्द्रदत्त ३५८, ४५७
सुलक्षण ४८१
सुलसश्रेष्ठी ३२४
सुलसा ४६०, ४९२, ५०२
सुलोचना ३३४
सुवास १७८
सुव्रता १८६, ४५२
सुश्रुत ४१८
सुषेण ३६१
सुहस्ति ४९४
सूर पुरोहित ४८०
सूर्य २७६
सूर्याभिदेव १८०, १८१
सेदुबक ५०२
सेन ४७०
सेलग राजर्षि १७२
सोम ३५५
सोमदेव ३७०, ४९२
सोमप्रभ ५०२
सोमभीम ४९८
सोमश्री ५१३
सोमिल १७६, १८६
सोरियदत्त ६७८
सौभाग्यसुन्दर ५१५
सौभाग्यसुन्दरी ५०८
संयती १९३
स्कन्द ४४१, ४९२
स्थावरक ४३५
स्थविरा ४८६
स्थूलभद्र ४९८
हरि ५०२
हरिकेशी ४४१
हरिचंद्र ३२६
हरिश्चन्द्र २५७
हरिणी ४९४
हरिवर्मा ३५८
हनुमान २६७, २७०, २७२, ३१४
हेमविमल [illegible]
हंस विद्याधर २९१

नगर, जनपद और देश नामानुक्रमणिका

अणहिलपत्तन २८२
अणहिलपुर २८३, २८५
अणहिलवाड ४८२
अफगानिस्तान २४७
अयोध्या ३२, २७७, ३१२, ३१४
अवन्ती २७, ५०६
अवाह १७०
अहमदाबाद २८१
अंग १७०, १८२, ४१२
अहिरौरा १०२
आन्ध्र ५९
इरागुडो ४९, ५०
इलाहाबाद ५८, २५८
उज्जैन ३९२
उज्जयिनी २४८, ४७५, ५०८, ५०९, ५१३, ५१४
उड़ीसा ३१, ४३, २४७, २४९, ५३१
उत्तरप्रदेश ५
उत्तरभारत ७, १६३
उदीच्च ५
कच्छ १७०
कञ्चनपुर ३४६
कनरवल ३५७
कन्नौज (कान्यकुब्ज) १०३, २७४, २७५, २८४, ४१४
कमलपुर ४६०
कम्बुज २६५
करनूल २४७
कर्णवती २८२
कर्णाटक प्रदेश ४३
कलिंग ४३, ५८, ५३१
कश्मीर २६६
काकन्दी १७७
काञ्चीवरम् २२४
काठियावाड़ ४३
कालसी ३१, ४९, २४७
काशी १७०, ५३१
काशी-कोशल ३३
काँपिल्य १६८
कांगड़ा ५९
कुन्तल प्रदेश २६५
कुम्भारग्राम ३५७
कुरुक्षेत्र २७७
कुरुजागल देश ४८९
कुरुमरई २२१
कुसग्गपुर ४५७
कुसुमपुर ३२६
केकयदेश १८२
केरल ४१८
कोचीन २९९
कोच्छ १७०
कोण्डकुन्दपुर २२१, २२२, २२४, २३०
कोलत्तुनाड २९६
कोल्लाग सन्निवेश १७३
कोल्हुआ ग्राम १७३
कोशल २८, १७०
कोंकड २७७, २८४
कौशाम्बी २८, ५८, १६३, १९३, २४८, ३६३, ४५२, ४८०, ४८१, ४८३
क्षितिप्रतिष्ठित ४६५
क्षत्रियकुण्डग्राम ३५७
खानदेश १०२

गच्छ १७०
गजपुर ३२७, ३४६, ३४७, ४८९, ४९०
गणीमठ ५०
गान्धार ५
गिरनार २६, ४३, ७६, २११, २१२, २४७
गुजरात १०२, २५८ २८१
गौडदेश २७४, २८४
घटयाल ग्राम २५५
चड्डावलि (चन्द्रवलि) ३२०
चम्पा (चम्पापुर) १६८, १९१, ३९८, ३९९, ४५२, ५०६, ५०७, ५०९
चम्पारन ५३१
चीनदेश ५३१
चीनस्थान ४६०
चेदि २८४
छत्रावली (छत्राल) ३५६
जाबालिपुर ३६१
जेसलमेर ३४१
जौगढ़ ३१, ४९, ५०, २४७
टक्क १०२
टोपरा (दिल्ली) ४९, ५८
ढक्क प्रदेश ९६
तक्षशिला ५, २७, २४८
तंजोर ४२३
ताम्रलिप्ति ४५७
तालगुण्ड २६५
तैलंगदेश ५३१
तोसली २४८
त्रिवेन्द्रम् ३०७
दक्षिणापथ ३६१
दक्षिणभारत १६३
दशपुर ३१२
दधिपुर ५०७
दर्शनपुर ५०६
दशार्ण २८८
द्वारका ३३६
द्वारकावती १८६, ४९८
द्वारावती १७५
दिल्ली २८४
दुर्गमपुर ३३४
धनपुर ५१६
धन्धुकनगर २८१, २८२, ३२३
धान्यखेट १०२
धारानगरी ४३७
धौली ३१, ४९, ५०, २४७
नन्दिपुर ३४७
नालन्दा ३५७
नासिक २५४
निग्लिव ५०
नेपाल २४७, ५३१
परिमतमाल नगर १८३
पल्कीगुण्डू ५०
पश्चिम भारत ४३
पश्चिमोत्तर भारत १०२
पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त ५
पाटलिपुत्र २५, १६४, २४८
पाढ १७०
पाण्ड्यदेश ६०
पातालपुरलंका ३१४
पारसीक जनपद २७७
पावापुर ३९९
पिदथुनाडु २२१
पुण्डरीकपुर ३१४
पूना ३४१
पैठन ४३
प्रतिष्ठान २९०

पंचनद १०२
पंजाब ५, १०३
बंग १७०, १८२, २७७, ३५४, ५३१
बंगाल ९६
बब्बरकूल ४९४
बलभी ३१, १६४, १६५
बलाहिवपुर ३३०
ब्रह्मगिरि ४९
बाटग्राम २१६
बुन्देलखण्ड १०२, १०३
भटाधान (भादान) १०२
भरुयकच्छ (भृगुकच्छ) ३३२
भड़ौंच ५१२
मंसेहरा ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, २४७
मगध ४३, १६३, १६४, १८२, १८५, २४९, २७४, २७७
मथुरा २८, ३२, ५९, १६४, १६८, २८४, २९८, २९९, ३००, ३५३
मध्यदेश २८, ३६१, ४८२
मरुदेश २७७
मलय १६८
मलावार २९६, २९८
मद्रास २४७
मानखेट गाँव ५३७
मानभूम ४३
मारकी ४९
मारवाड २५८
मालव १०३, १७०, १८९, ५३१
माहिष्मती ३१६
मिथिला १६८
मिर्जापुर १०२
मुल्तान १०३
मेरठ ४९
मेवाड़ ५२९
मैसूर २६५
मोटदेश ५३१
मौलि १७०
मेरुगुडी २४७
रत्नपुर ३२६, ५१३, ५१७
रथनूपुर ३४८, ५०७
राजगृह १६८, १७१, १९१, २३०, ३४२, ३५७, ४५१, ४५२, ४८०, ५०३
राजस्थान १०२
रामपुरवा २७, ४९
रामेश्वर ४९, ५०
रिष्टपुर ३४७
रूपनाथ ४९
रुम्मिनदेई ५०, ५८
रोहिन्सकूप ग्राम २५८
रोहेड नगर २३५
लंका २६७, २६९, ३१६
लाटदेश ४२७
लाढ १७०
लौरिया ४९
वज्जि १७०
वत्सदेश ३६३
वर्धमान ग्राम ३५७
वल्लमतणी २५८
वसन्तपुर ५०७
वाणिज्य ग्राम १७३
वाणिज्यपुर ३५६
वाराणसी १६८, २८४, ३५३, ४६०
विजया ३६३, ३६४
विनीता ३६१
विहार ५
वेट्टगेरि (वेहकेरि) २३२

वैराट	४९	साकेत	१६८
वैशाली	१७०, १७३	सारनाथ	२७, ५८
व्रज	२९९, ३००	सिंहभूमि	४३
शालापुर गाँव	५	सिंहल	२८, ४६०, ५०७, ५११, ५१६
शाहबाजगढ़ी	४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ७६	सिद्धपुर	४९, ५०
		सिन्धुदुर्ग	४२३
शिवपुर	३२७	सिन्धुदेश	१८९, २८४
शूरसेन	३२	सियदोनी	४१४
श्रावस्ती	१६८, १९३, ३५८	सुरपुर	३२६
श्रीकण्ठ	२७७	सुवर्णगिरि	२४८
संकाश्य (शंकास्य)	२८, ५३८	सुवर्ण भूमि	४६०
संमुत्तर	१७०	सोपारा	४९
सप्तसिन्धु प्रदेश	४, ५	सौराष्ट्र जनपद	२११, २१२
सहसराम	४९	हस्तिनापुर	१६८, ३२७
साँची	५०, ५८	हस्तियाम वनखण्ड	१६७

नदी नामानुक्रमणिका

उम्बरावती	४६०	महीनदी	१६८
एरावती	१६८	यमुना	१६८, २८८
गंगा	१६८, २८८	बिपाशा	१०२
गोदावरी	२९१	सतलज	१०२
चेलतानदी	३१६	सरयू	१६८
नर्मदा	२८८, ३१६	सरस्वती	१०२, २८८
भाधरनदी	२८१	सिन्धु	१०२

उद्धृत प्राकृत पद्यानुक्रमणिका

अंकरतं घन्नं ५२०
अंकारो अत्थारो ५४१
अंकेल्लो अ असोए ५४१
अंकेल्लितलासीणो ५४१
अंकोलतिक्खणक्खो ३१७
अंगं लावण्णपुण्णं ४१७
अंचेइकालो ३९१
अंजण गिरिसच्छाया ३१६
अंतिम इंतिअ उंतिअ ५२०
अंतु करेंघि २८८
अंधो णिवडइ २३१
अंधारियं समत्थं ३१६
अइपिहुलं ३८४
अइपिहुलं जलकुंभं ३३४
अच्चुण्हा में पिहुल ४२६
अज्जजिणणंदिगणि २३३
अज्ज वि महग्गि २९३
अज्ज सुरअंमि ३८४
अज्जं गओत्ति ३७४
अट्ठावयम्मि ३९८
अणकढिअदुद्ध २८८
अण्णं सक्कय ३४८
अणुणिअखणलद्ध आ० ३
अणुरूवगुणं ४८४
अण्णोण्णपीडणु ३४०
अण्णे विहु होंति आ० २
अधणाणं धणं सीलं आ० ५
अधिअमेअं २५६
अधियच्छात्रा २५९
अन्नं च न तए ३४८
अमिअं पाउअकव्वं आ० २
अमिअकर किरण ५२९
अमुद्ध अंदम्मि ३०५
अरुणारुण ३६७
अरिसकिडिभकुट्ठ ४०१
अरिकरिहरि ४०१
अवसर रोउं ३८४
अस्स बिणरहड २५५
अस्स वि चंदुअ २५५
असुरो वि सया २९४
अह व सुवेलालग्गं २७३
आउज्जाणं आ० १८
आगारंता माला ५२०
आगारंतो राया ५२०
आयावले पसरिए ५४०
आयावलो य ५४०
आलावंसे अह ३०७
आलेक्खं णट्टं आ० १८
आसण-ठिआइ २८७
आसस्स पुण पमाणं आ० १७
आहारमिच्छे ३९१
आलोन्तदिसाओ आ० २
इदं वओ भग्गइ ३०१
इंदियाण जए सूरो ४५९
इमस्स कजस्स ३०३
इमिणा सरएण २९४
इयकेण २९४
इय जस्स समर-दंसण २८०
इय-राई-रखि-संज्ञा ३६७
इह पठमं महुमासो ४३७
इह हि हलिद्दा-हय २७८
ईसि-पिक्क २९६

ईसि-णि-आसं	२५५	कइ वि ठवेंति	२७०
ईसो जस्स खु	४२२	कणकुण्डगं	१९४
उ अरोह	२५६	कणगमयजाणु	३९७
उक्खअदुमं	२७२	कसो लंभई	५३४
उच्च नीयं कम्मं	४९७	कमलासणो सयंभू	२०
उच्छरइ तमो	३१८	कम्मे सिप्पसिलाए	५२१
उत्तालताल	३५९	करिकुंभविब्भमं	४९५
उत्तार-तारयाए	३६७	करुणाकमलाइन्ने	३९०
उद्धच्छो पिअइ	आ० ३	कप्पूरमंजरी	४२६
उन्नयपओहरभरो	५०४	कप्पूरमंजरीए-कह	४२७
उप्फुल्ल	३४३	कम उत्तरेण	१९२
उल्ललिअ दब्भकवला	४३५	कव्वेसु जे रसड्ढा	५३७
उल्लासिक्कमनक्ख	४००	कल्लं किल	३७५
उवयारसहस्सेहिं	३४३	कहकहकहट्टहासो	३५९
उवसग्गहरं	३९६	काइं वि खीराइं	३९३
उवसमेण	१९६	काउं रायविरुद्धं	३२२
ए एहि किंपि	५३५	कामग्गितत्तचित्तो	३९४
एकत्तो रुअइ पिआ	५३५	कालायास-कम्मं	आ० १८
एक्कत्थे पत्थावे	३७८	किं पि दुम-जज्जरेसुं	२७८
एको त्रि कल्लसारो	३७५	किं किल्लिपल्लवेहिं	४९५
एमेय मुद्ध-जुअइ-मणोहरं	४४८	किं तीए लोच्छए	४९५
एयप्पमाण-जुत्ता	आ० १७	किं दिणयरस्स	३१८
एयस्स वयण-पंकय	३२१	किं धरइ पुन्नचंदो	३२२
एशा णाणकमूशिका	४३५	किर कस्स थिरा	५०४
एसा कुडिलघणेण	५३६	किसिणिज्जंति लयंता	आ० ५
एसो ससहरबिंबो	५३६	कुलबालिआए	५३३
ऐहिइ सो वि	आ० ३	कुसुमरय	३१७
ओं अमरतरुकामधेणु	३९६	कुसुमाउहपिय	४३६
ओं सग्गायवग्ग	२५५	कुसुमाउह अंकारं	५४१
ओण्णिद्धं दोव्वल्लं	५३५	कुंकुम-रसारुणंगो	३६६
ओवट्टइ उल्लट्टइ	५३६	केच्चिरमेत्तं	२७३
ओसहि सिंहा	२९२	केत्तियमेत्तं	२९३
कइणो अंधजण	५३७	केसिंचिपियं	५०८

को एत्थ सया ३५०
को ण जणो हरिसिज्जइ ४५०
को ण वसो इत्थिजणे २३६
को तीए भणिय ३५८
कोमलबाहा ३१७
कोहानलं जलंतं ३९०
खंती गुत्ती ३४४
खणमित्तकलुसियाए ५४२
खीराइं जहालोए ३९३
गअ गअहि ढुक्किअ ५३२
गण वइणो २७९
गज्जे मेहा ५३०
गयमासियं ५०४
गयकन्नतालसरिसं ३४५
गहिऊण गोह २५६
गिरिसोत्तो त्ति ३७४
घणगब्भगेह ५५६
घणबंधणसंरुद्धं ४३६
घर लग्गइ अग्गि ५३२
घर-सिर-पसुत्त २९४
घरिणीए ३७५
घोडयलद्दिसमाणस्स २३५
चंदण चच्चिअ ४२२
चंदमऊएहिं ५३३
चंदुज्जुयावयंसं २९२
चउव्विहकसाय रुक्खो ३९०
चउवीस अंगुलाइं आ० १७
चक्काय-जुवल-सुहया ४५०
चक्कायहंस ३१७
चक्कीदुगं ४६४
चड्डावलि ३२०
चरमजलहिनीरं ४००
चलचवलधवल ५०४
चावो सहावसरलं ३७४
वित्ते य वट्टसि ३४८
चिन्तामन्दरमन्थाण ३८३
चिन्ता-सहस्स-भरिओ ५१३
छणचंदसमं ४९५
छणससिवयणाहिं ४०१
छप्पय गमेसु कालं ३८२
छायारहियस्स ३८३
छिज्जउ सीसं ५०५
जं कल्ले कायव्वं ३४५
जं जि खमेइ समत्थो आ० ५
जं विहिणा ३५०
जइ पउमणंदि णाहो २२१
जइ सक्को न उण २८६
जइ सो तेणं २९५
जत्थ भवणाण २८६
जधा णदाओ ५४९
जमुण गमेप्पि २८८
जम्मणो पहुदि ४२५
जरा जाव १९६
जस्स तुरंगखुर ५०४
जस्स जयलच्छि ५०४
जस्स पिय-बंधवेहिं २९३
जस्स रिउरमणि ५०४
जस्सि विअप्पघडणाइ ४१६
जस्सि सकलंकं २८६
जहवा निदिट्ठ ४५०
जहा दव्वग्गी ३९१
जहा पवग्गी २४४
जहिं च वुंदावण ३०४
जहेह सीहो व ३८९
जा अइकुडिला ३९०
जाई रूवं विज्जा ५०५

जावण ३७६
जाव न जरकडपूयणि ३२५
जिअं जिअं ३०३
जिणदत्तसूरि ३९९
जिणसमयपसिद्धाहं ४८३
जेइ किञ्चिअग्गाला ५३१
जे जे गुणिणो जे जे आ० ५
जेण णमंतेण २५६
जे लक्खणेणसिद्धा १८
जो जाणइ देसीओ ३६५
जो णिच्चो २९६
जोण्हाऊरिय २९३
झलकंतकुंतविरइय ५०४
टिविडिक्किअ-डिम्भाणं २७८
डहिऊण य कम्मवणं ३९४
डिंडिलवद्दनिवेशे ३४६
ण य लच्चा ण य आ० ४
णवजोव्वण २५६
णिं तच्छरो वि २९४
णिच्चं तेलोक्कचक्काहिव ४०३
णिच्चं पसारिय ३६६
णिज्जियसेसु ३४०
णिय-तेय-पसाहिय २९२
णिव मा अक्कोड-असार ५४१
णिसग्गचंगस्स वि आ० ४
णिस्सो णिव्वाणमंगो ४०३
णीलुप्पलदलगंधा २५६
णेत्तं कंदोट्ट-मित्तं ४२१
णेत्ताणंदा उग्गे ५३०
णेहब्भरियं आ० ३
णो जंपिअं २५५
तं णमह पीय-वसणं २७९
तं ताण सिरिसहोअर ३८४
तं पुण णामं तिविहि ५२०
तं जह मियंक २९३
तक्कविहूणो ३३३
तडिसंणद्धं ५५६
तत्थपुरिसस्स ५२०
तनुगहणवणुप्पन्नं ३९०
तमभरप्पसराण ४२९
तस्स सुओ ३३१
तहा वीर दारिद्दउ ३५१
ता तत्थ सिय-जडा २९५
ता बाहुलयापासं ४८४
तारुण्णएण ४२१
तावच्चिअ ५३४
तावच्चिय ३२२
तित्थएरवयण २४०
तित्थयरा य गणहरा ३३५
तिरयण-तिसूलधारिय ४०४
तिरीडं मउडो ५४९
तिसलासिद्धत्थसुअं ३९८
तीए वहिऊण सत्थो ४७३
तुम्ह च्चिअ २७३
तुम्ह मुहसारिच्छं ३७६
तुह रुवं पेच्छंता ३९५
तेण सिरि कक्कुएणं २५६
दंत-कयं तंब-कयं आ० १८
दंदे अ बहुब्बीहि ५२०
दट्ठुण किं ३२२
दलिये-मयण-प्पयावा ४०४
दारिद्दय तुज्झ नमो ३८१
दाहिण भरहद्धरसा ५०३
दिअवर २५६
दीसंति गअउलणिहे २७३
दुक्खं हयं जस्स ३९१

दुग्गय घरम्मि ३८०
दूणंति जे मुहुत्तं ५३४
दूरयदेस ३८२
दूरयरदेसपरिस ३४५
देवउलधवल ५०४
देसविसेसपसिद्धीइ १९
दोपक्खुज्जोयकरो ४८८
दोयावडवरनयरे ३२६
दोसरहिअस्स ३९५
धंधी-धामी-धणदो ५१६
धणउरमत्थि ५१५
धणचंदो धणपालो ५१३
धण रिद्ध २५६
धम्मेण कुलं विउलं ३९३
धम्मो तिलोयबंधू ३९३
धवलवलाया ३१६
धाडव्वओ आ० १८
धारानयरीए ५३७
नंदिसिहि ३५६
न तहा तवेइ तवणो आ० ५
न बुहुक्खिओ २८७
नरखित्तदीहकमले ३९०
नरयसमाणं ३४८
नवहत्थं लीलाहं ३९८
निद्दयवराह ४७३
निद्देसे पढमा ५२१
नियकंठम्मि ३२९
नियरूवविजिय ३५८
निलीणविज्जसाहगं ३५९
निसाविरामे परिभावयामि ३८८
नीहारवराधर ५०३
नेमिरायमइजुअं ३९८
नेह विणा ४९७
नेहो बंधणमूलं ४९१
पंचमी अञ्जवायाणे ५२१
पंचासवाणि ३४४
पंथिअ पिआसिओ ५३५
पइं गब्भत्थे ३३६
पच्चक्ख बिलय-दँमण ३६७
अज्जुन्नसूरिणो ३४६
पडु छब्भासाकव्वं ४२२
पत्ते विणासकालो ३१८
पत्ते पियपाहुणए ३८०
पत्थिवघरेसु २८०
परगेहसेवणं ३१८
परभवणजाण ३९३
परिभुजिउ ४८४
वपट्टए चावमहं ३०१
पवणो पंथवाही ५५६
पवणखुहियनीरं आ ६
पवंगभिन्न ३१९
पसरइ-वरकित्ती ४००
पहाण-पाणाणि ३०४
पाणाअ गओ ४३१
पायारतल ५०३
पियपुत्तमित्त ३८९
पिहुलणियंब ३४४, ३६६
पीणयओहरलग्गं २७१
पीणुन्नयकल ३४४
पीलू गओ भयगलो ५३९
पुंडुरयओहराओ ३४३
पुरओ दुल्लह ४८२
पुरओ य पिट्ठिओ ३४८
पुव्व-दिसाएँ ३६७
पुव्वायरियणिबद्धा २३३
पेमु अमिअ ३८३

फलपुट्ठतरुवर ४७३
फललम्भ-मुइय-डिभा २७८
फलिहसिलामल ५०४
फुरंत दंतुज्जल ३०४
फुल्लिअ वेसु चंप ५३०
फुल्लंधुआ रसाऊ ५३८
बंधवभरणे ३८०
बज्जाहयरुंडो ५५५
बत्तीस अंगुलाई आ० १७
बहुविहनयभंगं ४०२
बानर पुरिसो २०२
बालाण गुरु २५६
बाहू जेण मिणाल ४२९
बेढेदि निसयहेदुं २४५
बोल्लंमि वट्टसि ३४८
भअ भज्जिअ बंगा ५३१
भट्टिय चणगो ३२१
भमिओ कालमणंतं ३९६
भवगिह मज्झम्मि ३२५
भवभूइजलहि २७५
भवियाण बोहणत्थं ३९२
भवस्सरा २८६
भिसणी-अलसअणीए ५३५
भुज्जइ भुज्जियसेसं ३८०
मउंद-वेणूअर ३०३
मड्डोअरम्मि २५६
मणिकिरणकरंबिय ३४०
मणिमयखंभ ३३५
मम्महधणु २७३
मम हिययं हरिऊणं ४८४
मयणाहदरिय ४७३
मयरद्धउ व्व ३४४
मयंको सघंको ४२९
मरु माडवल्ल २५६
महसेण लक्खणसुअं ३९८
मा सोउआण २८७
मिच्छतं वेयंतो २४१
मिथ्यत्तविसयसुत्ता ३९६
मुणिकमरुद्दंक ३२६
मुहयंदकंति ३४४
मुहं रहम्मि ३०२
मेहरवाउलं ५५६
यस एतदिश ६९
रइअरकेसरणिवहं २७१
रणंतमणिणेउरं ४१६
रत्तुप्पलसमचलणा ३१७
रयणमयखंभयंती ३३५
रवि-विरह-जलणं ३६७
रहुतिलओ २५५
राअह भग्गंता दिअ ५३१
रूवमसासयमेयं ३८८
रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ २४५
रेहंति कुमुअदल १७३
वज्जंततूरमणहरं ४९७
वयण-मियंकोहामिय ३६६
वयणं कज्जविहूणं ४९१
वरकमलपत्तनयणा ३१७
वरचित्तरयणजुत्तो ५०४
वरजुवइविलसिएणं आ० ४
वरिस-सएसु २५६
वरिहं मुयवीर ३५१
ववगयसिसिर ३१६
ववगयधणसेवालं ३१७
ववसाअरइपओसो २७२
वसइ जहिं चेअ आ० ५

वसहमयमहिस	४७३
वसुवाण रुद्दसंखे	४९१
वहइ मलआणिला	५२९
विओअ-सोउम्हल	३०४
विक्कम कालस्स गए	५३७
विक्कमसऐहिं	३२३
विचलइ णेउर-जुअलं	४३५
विच्छाअंतो	४१७
विज्जु-चलं	२८५
विणओ विज्जाविच्चं	२४३
विप्पोहरिअंदो	२५५
विभवेण जो न भुल्लइ	आ० ४
वियसंत	३४३
विल्लहलकमल	४९५
विविहकइविरइयाणं	३७८
विसहरफुलिंगमंतं	३९६
विहवो सज्जणसंगो	३८८
वीसं तु जिण-वरिंदा	३९९
वेरग्ग इह हवई	३८९
संकुयइ संकुयंते	३८१
संखं जेगो वारिसगुणा	आ० १८
संझाएं समासत्तं	३६६
संबुक्कसमं	४९५
संसारे हय-विहिणा	५१३
सइ दंसणाउ पेम्मं	४४६
सतेसु जायते सूरो	४५९
सद्दवियारो हूओ	२२३
सद्दावसद्दभीरू	३८३
सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ	३९२
सम्मत्तसलिलपवहो	२९४
सयलाओ इमं वाया	१५
सयलकलालय	३४०
सव्वणवण्णगंध	४०३
सव्वं गीयं	४५९
स सामिकज्ज	३१९
ससियर-पंडर-देहा	३६७
ससिअर-पञ्जरंत	४२६
सहावतिक्ख	३१९
सा मागधी मूलभासा	२८
सा लोए च्चिअ	५३३
साहुस कीए	२८७
सियकासकुसुम	३४३
सियभल्लय	३५९
सिरिकक्कुएण	२५६
सिरिनिव्वुय	३२६
सिरिभिल्लुअस्स	२५५
सिरिवज्जसेण	५०८
सिंगारो नामरसो	२००
सील-दम-खंतिजुत्ता	आ० ४
सुत्तं अत्थनिमेणं	२४०
सुत्तं गणहरकहियं	२०३
सुगुरुजिनेसरसूरि	१९९
सुत्था-दुत्थ	२५६
सुहं देहसिरिधराओ	३९०
सूणाहिंतो णिबंतो	४२१
सो ण वसो इत्थिजणे	२३६
सो तारुण्णो पत्तो	३३१
सो सट्टओ सहअरो	४१२
सोहव्व लक्खमुहं	२७२
हरिस्स रुवं	३०२
हरि-हर-विहिणो	२८६
हा हा तं चेय	२८०
ही !!! संसारसहावं	३८८

उद्धृत संस्कृतपद्यानुक्रमणिका

अनुभावविभावानां	४०६	नयचन्द्रकवेः काव्यं	४२७
अन्वर्था तत्र	७३	नागरो ब्राचडः	१०५
अपशब्दो हि	९९	नाना भाषात्मिका	३२
अवक्तापि स्वयं लोकः	आ० ९	पार्श्वे तयोरप्यधीत्य	२२९
अविनाशिनमग्राम्य	३७३	प्राकृत-संस्कृत	१४
आभीरो मध्यदेशीयः	१०५	प्राकृतस्यापि	७२
आत्मा बुद्धया	१	प्राच्या विदूषकादीनां	७३
आशा बन्धः	३४५, ३८२	बभूव बल्मीकभवः	४१४
कविर्वाक्पतिराज	२७५	भिक्षुचाष्टचराणां	७२
काव्यकथासु	आ० १०	मागधी तु	७३
कीर्त्तिः प्रवरसेनस्य	२६४	मागध्यवन्तिजा	३६
कोलनृपस्य	२९९	येन प्रवरसेनेन	२६५
कोशश्चैव महीपानां	५३७	यौधनागरिकादीनां	७३
गुणेषु ये दोष	आ० १०	व्राचटो लाट	१०४
गौडौट्रवैवा	१०५	विनाकृतं विरहितं	३६९
चरन् वै मधु	३७०	विष्कम्भक-प्रवेशकः	४०९
जग्राह पाठ्यं	४०६	लालित्यमयरस्येह	४२७
ततोऽभवत्प्रश्नसु	२२२	शब्दार्थौ सहितौ	९९
तर्के व्याकरणे च	३९२	शाश्वत्पुत्रेण	३७०
तस्याभयगुरोः	३९९	सग्रन्थोऽपि च	२२६
त्वद्दिव्यवागिय	४४	सर्वार्थमागधीं	३२
तावत्कोकिल	३८२	संस्काररहीनो	९९
दिव्यभाषा	३२	साहित्यपाथोनिधि	आ० १

उदाहृत शब्दानुक्रमणिका

भाषाविकास और प्राकृतविवेचन के संदर्भ में प्रयुक्त उदाहरण

अइसीअं २१
अइहारा १९
अक्खि २१
अग्ग १८
अग्गि २१
अगय १९
अत्थ २६
अनार्यभाषा ७
अपभ्रंश १७
अमयणिग्गमो १९
अमेरिका-परिवार २
अरबी २०
अर्धमागधी १४, २६, २७
अलवेनियम २
अवमग्गो २२
अस्त २६
अस्सो २२
आकासिय १९
आरमेनियम २
आर्ष १७
आस्ट्रेलियाप्रशान्तीय परिवार २
इक्खु २१
इट्ठ १८
इटैलिक २
इराव १९
ईरानीशाखापरिवार २
ईस १९
ईसा १८
उअचित्त १९
उग्गम १८
उच्छाह २१
उदीच्च या उत्तरीय विभाषा ५
उपपरिवार २
उपभाषा १, २, ४
उम्मुक्कं २१
ऊसअ १९
एकाक्षरी परिवार या चीनो परिवार २
एलविल १९
कअलि २२
कउसलं २१
कड २६
कत २६
कथ्यभाषा १७
कद २६
कम्बोचो २२
कम्म ८
कमलजोणी २०
कमलासण २०
कयलि २२
कसण १८
कुठ १७
कंदो १९
कागो २२
कातव्व ८
कालास ८
किलिन्न ८

कीइस २१
कैल्टिक २
कोमुई २१
खज्जूर १८
खुड्डिअ १९
गअ १८
गच्छदि २२
गड्डा १९
गयसाउल १९
ग्राम्यभाषा २५
गिद्ध २१
ग्रीक २
घढ़ १९
घिणा २१
चउक्कर १९
चउमुह १०
चक्क १८
छान्दसभाषा २, ३, ४, ५, ८, ९, १०, १६-१७
छोह १८
जक्ख १८
जच्च १९
जच्चा १९
जनपदीय-भाषा २८
जनबोली १७
जनभाषा ४, ७, ९, १४, २८
जर्मन या ट्यूटानिक २
जिअंती २२
झाण १८
टंका १९
टंढर १९
डंस १८
डोला १९
णअरं २२
णअर २६
णअल २६
णच्च २१
णाह १८
तण २१
तत्सम १८, २०
तद्भव १८, २०
तनुव ८
तामोतरो २२
ताव ८
तिअस १८
तिण २१
तेलुक्कं २१
तोमरी १९
थमिअ १९
थेर २०
थेरो १९
दंतो २२
दइवे २१
दरदशाखापरिवार २
द्रविड ४, ६
दाह १८
द्राविड़ २०
द्राविड परिवार २
दिड्ड १८
दूडभ ८
दूणाश ८
दूलह ८
दूहार ८
देवे २२
देवो ९
देशी १९

देश्य १८
देश्यभाषा ४
धम्मपद की प्राकृत १७
धम्मिअ १८
धम्मो ९, २२
धयण १९
धीर १८
धूलि १८
नयरं २२
नगर २६
नीचा २२
नीर १८
नीसार ८
पउरो २१
पच्छा १८, २२
पश्चा २६
पट्ट २६
पट्टनं २२
पयावई २०
परमिट्ठटी २०
परिनिष्ठित विभाषा ५
परिनिष्ठित संस्कृत २८
परियाय २५
पलिल २५
पलियाय २५
पश्चिमीबोली २६
पस्ट २६
पाटलि २५
पाडलि २५
पालि १७, २३, २४, २५, २८
पिआमह २०
पीठिआ २२
पुरडश १७
पुलिशे २२
पैशाची १८, २५, २८
प्रतिसंहाय १७
प्राकृत २, ४, ६, ७, ८, ९, १०
११, १२, १३, १४, १५
प्राच्य या पूर्वीय विभाषा ५
प्रादेशिक भाषा १६
फंस १८
फारसी २०
बंटू परिवार २
बाल्टैस्लैबोनिक २
बोलियां ७
भारिआ १८
भारोपीय परिवार २
म अ २१
मग २१
मध्य अफ्रिका परिवार २
मध्य देशीय विभाषा ५
महाराष्ट्री १८
माइ २१
मागधी १८, २५
माणुसो २२
माया १८
मिअ २१
मिग २१
मुण्डा ४
मूलभाषा २८
मूसओ २२
मेश २६
मेस २६
मेह १८
मैलोपालीनेशियन परिवार २
यूराल अल्टाई परिवार २
रअद २६
रजत २६

राउल ८
राय २२
रिण २१
रिसि २१
रुक्ख २६
लअद २६
लाअण्णं २२
लुक्ख २६
लेस १८
लोअ २६
लोक २६
लोकभाषा ३
लौकिक भाषा १०
लौकिक संस्कृत ९, १६
वअणं २२
वअण २६
वंतो २२
वचन २६
वच्छो २२
वट्टि २२
वयणं २२
वश २६
वस २६
विच्छड्डु १९
विदेशी शब्द २०
विभाषा ३, ५, ९, २०
विरिंच २०
विही २०
वीर १८
वीसति २२
वैदिक भाषा २
वैदिक संस्कृत २५
वैभाषिक प्रवृत्तियाँ २
श्रेण्यसंस्कृत १६
शब्दवाक् १
शिलालेखी प्राकृत १७
शेब परिवार २
शौरसेनी प्राकृत १६, १८, २६
सक्को २२
सनंतनो २२
सम्मुजनी २२
सयराह १९
सयंभू २०
सरिस २१
संतो २२
संस्कृत ९-१५, २५, २६, २७
साध्यमान संस्कृत भव १२
सामान्य प्राकृत २०
सिद्धसंस्कृत्त भव १२
सिया ८
सीयं २२
सीहो २२
सुव ८
सेमेटिक-परिवार २
सेलो २१
सो ९
हलुअ १९
हैमेटिक परिवार २

पालिभाषा के उदाहृत शब्द

अग्गि २९
अट्ठो २९
अवस्सं ३०
अवंगो ३०
अस्सो ३१
उजु २९
उज्जु २९
उसभो २९

एकारस ३०
एलो ३०
ऐरिस ३०
ओक्कामुहं २९
ओट्ठो २९
कञ्ञा ३१
कप्पूरो ३०
कप्पो ३१
कम्म ३१
कवि ३०
कंडुवति ३०
किण्णो ३०
कितो २९
कुत्ति २९
खग्गो ३०
गधितो ३०
चत्तारो ३१
चेतिओ २९
दस्सनं ३१
दाय ३०
दुक्खं २९
दुद्धो ३०
दुस्सहो २९
देवो २९
देसो ३१
धूमायति ३०
धेनु २९
नेरांजरा ३०
पक्को ३१
पगब्भो ३१
पज्जलति ३०
पब्भारो ३०
पुग्गलो ३०
पुच्छति २९
पुञ्ञो ३१
पुरिसो ३१
पोरो २९
फेग्गु २९
ब्रूहेति २९
मग्गो २९
मित्तो २९
मिस्सो ३०
मुत्तो ३०
मुळालो ३०
मेत्ता २९
मोरियो २९
रम्मो ३०
रुक्खो २९
रुहिरो ३०
लग्गो ३०
लहु ३०
वको २९
वग्गो ३०
वेण्हु २९
वेळु ३०
सक्करा ३०
सक्को ३०
सप्पो ३०
सव्वञ्ञो ३१
सागलो ३०
साहु ३०
सुजा ३०
सेय्या २९

अर्धमागधी शब्द

अणादियं ३९
अणुगमिय ३८
अतित ३८
अनार्य ३३
अभिहड ४२
अय्य ३४
अवन्ती ३६
अवयार ३८
अरिय ३४
अरिया ३४
अरिहा ३४
अर्धमागधी ३२, ३५, ३७
अहक्खाय ४१
अड्डाजात ४१
अहित ३८
आउज्जण ४२
आउज्जो ४२
आगति ३९
आगम ३८
आगमणं ३८
आगमिस्सं ३८
आगर ३८
आगास ३८
आभासिसु ४२
आराहत ३८
आर्य ३३
आर्यक ३४
आर्येतर ३३
आवज्जणं ४२
आवज्जो ४२
इदिस ३७
इंद महे इ वा ४१
इंदिय ४०
उवणीय ४०
एदिस ३७
एवामेव ४१
ऋषिभासिता ३४
कड ४२
कताती ४०
कति ४०
कयत्थो ४०
कयाती ३८
करयल ३९
गहं ४१
गच्छिसु ४२
गारव ४०
गिहं ४१
गोउरं ४२
गोपुरं ४२
घरं ४१
घेप्पइ ३४
चउप्पय ४०
जता ३९
जामेव ४१
जितिंदिय ३९
जैनशौरसेनी ३६
णदति ३९
णारात ३८
तालउडं ४२
तालपुडं ४२
दाक्षिणात्या ३६
दियसं ४१
दियहं ४१
द्रविड ३३
नई ४०
नती ३९

नमंसति ३९
नायपुत्त ४०
नैरतित ४०
पगप्प ३८
पज्जायो ४१
पज्जुवासति ३९
पडिच्छायण ४०
पदिसो ३९
परिआगो ४१
परितात ४०
परिताल ४०
परियट्टण ४०
परियागो ४१
पात ३९
पावग ४०
पावतण ३८
प्राच्या ३४, ३६
पिय ४०
पुच्छिसु ४२
पूता ३९
पैशाची ३६
बाल्हीका ३६
बुहो ४१
भगवं ३८
भोति ३९
मड ४२
महाराष्ट्री ३६
मागधी ३४, ३६
मिलुक्खू ४१
मिलेक्खू ४१
मुण्डा ३३, ३४
मुसावात ३९
रातीसर ३९
रुहिरं ४१
लोय ३८
वति ३८
वतिर ३९
वंदति ३९
वायणा ३८
वायव ४०
विन्नु ४०
वेदहिति ३९
शौरसेनी ३४, ३६, ३७
संलवति ४०
साउणित ३८
साति ४०
सामातित ३८
सायर ३८
सावग ३८
हरं ४१

जैन शौरसेनी

अक्खातीदो ४६
अगहिद ४१
अजधा ४५
अड्डाइज्ज ४९
अण्णदवियम्हि ४७
अणुकूलं ४६
अलिअं ४६
अस्सिऊण ४९
अस्सिदूण ४९
इड्ढि ४५
इंगाल ४९
उराल ४१
एक्कम्मि ४७
एक्कम्हि ४७

एकसमयम्हि	४७
एगंतेणं	४६
एगम्हि	४७
एदेसिं	४८
ओधि	४९
ओहि	४९
कट्ट	४५, ४९
कधं	४५
कम्मविवायं	४६
करेइ	४८
काए	४६
कादूण	४९
कालादो	४८
किच्चा	४८
किण्हलेस्सिया	४५
कुणइ	४८
कुणदि	४८
खेत्तज्ज	४९
गइ	४६
गब्भम्मि	४७
गमिऊण	४९
गहिऊण	४९
गहिय	४५, ४८
चिरकालं	४६
चेदि	४५
छड्डिय	४९
जध	४५
जलतरंग चपला	४६
जाइऊण	४९
जाणित्ता	४८
जोगम्मि	४७
णयसित्ता	४८
णाणादो	४८
णियमा	४८
णिरयगदी	४६
तधप्पदेसा	४५
तित्थयरो	४७
तिव्वतिसाए	४६
तिहुवणतिलयं	४६
तेसिं	४८
दव्वसहावो	४७
नरए	४६
पदिमहिदो	४५
पयत्थ	४७
पयासदि	४५
पहुडि	४५
पुढविकाइया	४५
पेच्छित्ता	४८
बहुभेया	४७
बहुवं	४७
बिहुव	४७
भणिया	४६
भविय	४८
भुंजाविऊण	४९
मिच्छाइट्ठि	४५
मोस	४५
रहियं	४६
लोयप्पदीवयरा	४६
लोयम्भि	४७
लोयम्हि	४७
वयणेहि	४६
वाध	४५
वालुवा	४७
विगदरागो	४५
वियाणित्ता	४८
वीयराय	४६
वेदग	४६
वेयणा	४७
सगँ	४६

सदविसिट्ठो ४७
सम्माइट्ठि ४५
सयलं ४७
सव्वगयं ४६
सव्वेंसि ४८
ससरुवम्मि ४७
संजदा ४५
संजाया ४६
संजुदो ४५
संतोसकरं ४६
साधारण ४६
सामाइयं ४६
सुयकेवलिमिसिणो ४६
सौधम्म ४६

शिलालेखीय प्राकृत-शब्द

अछरियं ६४
अज ६५
अञ्ञ ५२
अठ ५१, ५७, ६४
अठर ५१
अठवस ५१
अणत्त ५२
अत्य ५४
अत्थि ५८
अतिकांतं ५४
अतिक्रांतं ५४
अथि ५८
अथे ५६
अधिगिच्य ५७
अनारंभो ५५
अनुभवंतो ६५
अनुशशनं ५२
अपरिजितस ६०
अफाक ५७
अभिसित ५२
अभिसितमतो ६५
अभिसितेन ५५
अभिहाले ५८
अवराइस्स ६०
अस्तवष ५१
अस्ति ५४
अस ५६
असमातं ५५
असु ५६
अहकं ५८
अहरापयति ६१
आचायिकं ५५
आनन्तरं ५५
आलभितु ५९
आलोचेत्वा ५६
आहा ५७
इअ ५२
इत्थी ५४
उत्तरापध ६२
उयातानं ६४
उयान ५७
उसव ६४
एकतिय ५१
एकतिए ५१
एसा ५५
ओरोधनम्हि ५६
ओषढनि ५१
ओषुढनि ५२

कटव ५१
कटविय ५७, ५८
कटेति ५८
कतव्य ५४
कतं ६२
कयान ५७
कयाने ५८
कलण ५१
कलान ५४
कंम ५६
कालनेन ५८
काले ५६
कासयति ६३
कीडा ६४
कीडापयति ६६
क्रिट ५०
खरोष्ठी ४९
खुद ५७
ख्रुद ५१
गणनसि ५३
गन्धव ६३
गभागारम्हि ५६
ग्रहथ ५१
घरनी ६४
घरवति ६४
घातापयिता ६५
चत्यारो ५४
चवुथे ६५
चा ५५
चिकीछ ५५
चेति ६२
चोयठि ६४
छुद्र ५४
जिनस ६५
झख ५४
ञ्आनं ५२
ञावकेहि ६४
तत्रा ५५
तम्हि ५५
तसि ५९
तस्सि ५९
तादिस ५७
तारिस ५७
तिष्टंतो ५६
ती ५४
तुप्फे ५७
तेरस ६४
तेरसमे ६४
त्री ५४
त्रेडस ५१
थंभे ६४
द्रशन ५१
द्वादस ५४
दुवादस ५८
दुपटीवेखे ५८
देखति ५९
देखिये ५९
देवनप्रिये ५२
देवानां प्रियो ५२
देवनांपिये ५६
धम्मपालस ५९
धम्मसि ५९
धाम ५५
ध्रम ५१
नंगलेन ६४
नत ६२
नवसानि ६३
पछा ५५

पछिमदिसं ६४
पटि ६३
पटिचलितवे ५८
पटिसंठपनं ६३
पडिहार ६३
पडिहारेहिं ६५
पथमे ६२
पनाडि ६३
पपते ६३
पभारे ६२
परिखिता ६२
परिसा ५६
परिसायं ५६
पवेसति ६३
पसति ५५
पसथ ६४
पसंतो ६५
प्रसासतो ६३
पंड ६४
पाडि ६३
पियदसिनो ५६
पिये ५९
पीडापयति ६६
पीथुड ६२, ६३
पुञ्ञ ५२
पुणं ५२
पूजको ६५
पोरं ६२
प्रियो ५५
बंधापयति ६६
बमण ५२
ब्रमण ५२
ब्राह्मी ४९
बुद्धेसु ५०
बुध्रेसू ५०
भतुर्क ६२
भरधवस ६५
भाता ५५
भिंगारे ६५
भुतप्रवेतदिशे ५२
भोजके ६५
मग ५४, ५८
मगव्या ५४
मजुला ५८
मज्झ ५७
मझम ५५
मधुर ६२
मनुश ५२
महनससि ५३
महरजस ६०
महानससि ५८
महिडा ५७
महिडायो ५६
माधूरताय ५६
म्हि ५५
मिग्र ५०
मुतमणि ६१
मुरिय ६५
मुसिकनगरं ६२, ६३
मोछ ५०
मोख ५७
म्रुग ५०
यदिशं ५२
यादिस ५७
यारिस ५७
युते ५६

येतफा ५७
योवरजं ६२, ६४
रज ५२
रजनो ५३
रञो ५३
रतनानि ६५
रध ६२
रधगिरिं ६२
राजगह ६४
राजसुयं ६१
राजानो ५६
लजूका ५८
लाजा ५८
लिखयितु ५२
लिखयेशमि ५२
लिखपेशमि ५३
लोकसा ५७
लोगं ५७
वढराजा ६३
वत्त ५४
ववहार ६४
वस ६३
वसे ६३
वहसति ६४
वहस्पति ६२
वंवनेन ६३
वारसमे ६५
वास ५५
विजाधर ६४
विजावदातेन ६४
वितय ६२
विनितस्पि ५१
विसजति ६२
विसारदेन ६३
वुत्त ५४
वेडुरिय ६३
वेसिकनं ६२
वैडूरियगभे ६५
व्रछा ५४
रुख ६५
श्रुतु ५३
संकारकारको ६४
संखारयति ६४
संदसन ६३
संपुण ६३, ६४
संसितेहि ६५
सकं ५५
सच ५७
सत ६३
समवायो ५६
सवं ५४
सव ५४, ५७, ६३
सवत ५८
सव्वत्त ५८
सष्टि ५४
सिरि ३५
सुकति ६२
सेकति ६२
स्ठिता ५६
स्पमिकेन ५१
स्नेठं ५१
स्नोतमिति ५१
हकं ५८
हचे ५२
हस्ति ५४
हापेसति ५६
हित ६२
हेवं आहा ५८
होति ५८

निय प्राकृत-शब्द

अदर	६७	परिव्रयति	६८
अनवेहिनो	६७	प्रछिदवो	६७
अवेह	६७	प्रातु	६७
असिमित्र	६७	बूम	६७
इमि	६६	भमणइ	६६
उठन	६८	भवइ	६६
उवितो	६६	भोयन	६७
एश्वरि	६६	मर्गं	६८
कठ	६८	मषु	६८
करंनए	६८	मसु	६७
किड	६७	मसुरु	६७
किलने	६७	मुतु	६७
कीर्ति	६८	मूलि	६६
कोडि	६७	यधा	६७
गच्छंनए	६८	योग	६७
गमिर	६८	योक	६७
गशन	६७	विकय	६७
गोयरि	६७	विरकु	६७
छित्र	६६	विसजिदुं	६८
जेठ	६८	व्रिढ	६७
तण्ट	६७	शेठ	६८
तनना	६७	श्रुतं	६७
त्वया	६७	श्रुतेमि	६८
दण	६८	षगक	६८
दिठि	६८	सघर	६७
दिनेसि	६८	सदिइ	६७
द्रिघं	६८	सवत्रो	६७
दुबकति	६७	सभ्रमु	६८
दुह	६७	समकत	६७
देयंनए	६८	समदि	६६
धर्म	६८	सव्वतो	६७
पज	६७	सिज	६७
पत्र	६८	स्थान	६८
पढम	६७	स्वति	६७
पणिदो	६८	हृदि	६७
		त्रिहि	६८

धम्मपद की प्राकृत भाषा के शब्द

एतिदिस	६९	यन	६९
गेहि	६९	यस	६९
नित्रनसेवे	६९	व	६९
पवइतस	६९	वि	६९

अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत-शब्दावली

अकितञ्ञ	७०	दुक्करो	७०
अहकं	७०	धारयितव्बो	७०
अहकं	७०	पाण्डलाकं	७१
करिय	७१	पाय्यमानो	७१
करोथ	७१	पेक्खामि	७१
कलमोदनाकं	७१	भुंजमानो	७१
कलेमि	७०	मक्कडहो	७०
कालना	७०	वुत्ते	७०
किश्श	७०	सक्खी	७१
तुवब	७१	हञ्जन्तु	७०

महाराष्ट्री प्राकृत-शब्द

अन्तरप्पा	८०	कइलासो	८२
अन्तावेई	८१	कउहा	८०
इट्ठं	८३	कज्जं	८३
इत्थं	८३	कणओ	८३
इसि	८१	करणिज्जं	८३
इंगालो	८३	करिहिइ	८४
उक्कंठा	८०	कहमवि	८१
उप्पलं	८४	कहंपि	८१
उवसग्गो	८३	कस्सवो	८१
अंवं	८२	कासवो	८१
अंसु	८१	किति	८१
अंसुं	८१	किलित्त	८२
कइ	८३	किवा	८२

किंइति	८१	णोमल्लिआ	८२
केणवि	८१	तंस	८१
केणावि	८१	तंसं	८१
केलासो	८२	तण	८२
खयो	८३	तिअसीसो	८१
गआ	८२	तित्थं	८२
गइंद	८१	दलिद्दो	८३
गउडो	८२	दिट्ठं इति	८१
गमिरो	८४	दिट्ठंति	८१
गोडो	८२	देवत्तणं	८४
घडो	८२	देवत्तं	८४
छीणो	८३	घणुहं	८०
छुहा	८०	नइसोत्तं	८१
जई	८२	पअडं	८१
जम	८३	पइहरं	८१
जाइ	८३	पईहरं	८१
जाव	८०	पज्जुण्णो	८३
जिणहि	८४	पठइ	८२
जिणा	८४	पडाआ	८३
जिणाउ	८४	पडिवआ	८०
जिणाओ	८४	पडिवया	८०
जिणात्तो	८४	पडिहास	८३
जिणो	८४	पढिअ	८४
जोग्गो	८०	पडिउआण	८४
झाणं	८३	पढिउं	८४
झीणो	८३	पढिऊण	८४
णट्टई	८३	पढित्ता	८४
णमिरो	८४	पस्सइ	८१
णरो	८३	पसिद्धी	८१
णहं	८०	पहो	८२
णाहो	८२	पाअडं	८१
णिच्चलो	८४	पासइ	८१
णिरवसेसं	८०	पासिद्धी	८१

पिण्डं ८२
पुट्ठो ८३
पुढवी ८२
पुप्फं ८३
पुरिसो ८३
पुहई ८२
पेज्जं ८३
पेण्डं ८२
फंदणं ८३
फंपो ८१
फसो ८१
बोरं ८२
भडो ८२
मज्जं ८३
मढो ८२
माइ ८२
माउ ८२
मिरिअं ८१
मुसा ८२
मूसा ८२
मोसा ८२
रमइ ८४
रमए ८४
राउलं ८१
रिद्धि ८२
लक्खणो ८३
लोओ ८२
लोणं ८२
वअणं ८३
वंक ८१
वंकं ८१
वाआ ८०
वाया ८०
विअणं ८१
विक्कवो ८०
विरहग्गी ८२
विस्सासो ८१
वीसासो ८१
सई ८२
सउहो ८२
संफस्सो ८१
संफासो ८१
सक्को ८०
सज्झं ८३
सत्तावीसा ८१
सद्दो ८३
समिद्धी ८१
सरिआ ८०
सरिया ८०
सरिस ८२
सवहो ८३
सहा ८२
सामिद्धी ८१
सावो ८३
साहा ८२
साहु ८२
सिन्दूरं ८२
सिमिणो ८१
सिविणो ८१
सुत्तो ८४
सुमिणो ८१
सेंदूरं ८२
सेलो ८२
सेसो ८३
हसिद्दा ८३
हसइ ८४
हसिज्जइ ८४
हसिहिइ ८४
हसीअइ ८४
हसेज्ज ८४
हसेज्जा ८४

शौरसेनी-शब्द

अज्जउत्त ८५
अज्जउत्तो ८५
अनन्तरं करणीयं दाणिं आणवेदु अय्यो ८६
अपुव्वागदं ८६
अपुरवागदं ८६
अपुरवं नाट्यं ८६
अम्हे एआए सुम्मिलाएसुपलिगढिदो भवं ८६
अय्यउत्तो ८५
अहह अच्चरिअं अच्चरिअं ८७
आगदो ८५
इक्खु ८६
इत्थी ८७
इध ८६
एदु भवं समणो भगवंमहावीरो ८५
अंदेउरं ८५
कुक्खि ८६
कज्जं ८५
कञ्चुइया ८५
कञ्जो ८७
कडुअ ८७
कडुआ ८७
कण्णा ८७
कथेदु ८५
कधं ८५
कधिदं ८५
कय्यं ८५
करित्ता ८८
करिय ८८
गछमीअदि ८७
गडुअ ८७
गिद्धो ८६
चक्खु ८६
जज्झो ८७
जण्णो ८७
जुत्तमिमं ८६
जुत्तंणिमं ८६
जेव्व ८७
णं अफलोदया णं भवं मे अग्गदो चलदि ८६
तधा ८५
तस्स ८५
ता अलं एदिणा माणेण ८६
ता जाव पविसामि ८६
ताव ८५
निंच्चिदो ८५
पढिय ८७
परित्तायध ८६
परित्तायह ८६
पुच्छीअदि ८७
पुडो ८६
पुत्तो ८६
बम्हणो ८७
बह्मञ्जो ८७
मणिस्सिदि ८७
मणेस्सिदि ८७
भविय ८७
भोदि ८६
भोदूण ८७
भोत्ता ८७
मो रायं ८५

महन्दो ८५
राजपघो ८५
वट्टे ८७
वावडो ८६
विअ ८७
विज्ञो ८७
विण्णा ८७
वियअवमं ८५
वीरम्मि ८७
वीरंसि ८७
वीरादु ८७
वीरादो ८७
सउन्तले ८५
सरिसमिमं ८६
सरिसणिमं ८६
सुज्जी ८५
सुय्यो ८५
सुहिआ ८५
हविग ८५
हसदि ८७
हसिदे ८७
हीमाणहे जीवन्तवच्छा मे जणणी ८६
हीमाणहे पलिस्सन्ता हगे एदेण नियविधिणो दुव्ववसिदेण ८६
ही ही भो संपन्न मणोरधा पियवयस्स ८६
होत्ता ८७
होदि ८६
होदूण ८७
होध ८६
होह ८६

मध्ययुगीन प्राकृत-शब्दावली

अइसरियं ७८
अग्घो ७७
उदं ७६
एगं ७६
कज्जं ७६
कद्दं ७६
कातव्वं ७७
काया ७६
कासवो ७७
कोइलो ७६
कोहो ७७
खुद्दो ७७
जडा ७६
जलाइं ७९
डंड ७९
डंसण ७९
डोला ७९
तिक्खं ७६
तित्थगरो ७६
तेरह ७७
दोला ७९
दोहो ७७
दंड ७९
दंसण ७९
नई ७६
नाया ७६
पउरिसं ७८
पडिसिद्धं ७६
पत्थो ७७
पदिसिद्धं ७६
पिसाजी ७६
पुप्फं ७७

फुडं ७७
मोइयो ७६
मउणं ७८
महवो ७६
मुहं ७६
मेहो ७६
राई ७६
राया ७६
वइरं ७८
वणाइं ७९
वसहो ७६
वुड्ढो ७७
सउहं ७८
सज्झो ७७
सिग्घो ७६
सीसो ७७
सुक्ख ७७
सुज्जो ७६
हत्ति ७७

मागधी-शब्द

अञ्जली ८९
अबह्मञ्ञं ८९
अय्युणे ८९
अहके ८९
अहिमञ्ञुकुमाले ८९
आअच्छदि ९०
आलले ८९
आहँ ९०
ईदिशाह ९०
उअलदि ८९
उवस्तिदे ८९
एशि ९०
एशे ८८
ऐशे ८८
कञ्ञाकावलणं ८९
कम्माह ९०
करोमि ८८
कले ८८
कस्टं ८८
काली ९०
कोस्टागालं ८९
गम्हिवाशले ८८
गय्यिदे ८९
गश्च ८९
तिरश्चि ८९
धनुस्खंडं ८८
धीवले ९०
नले ८८
निस्फलं ८८
पक्खलदि ८८
पस्टे ८८
पुञ्ञाहं ८९
पुलिशे ८८
पेस्कदि ८९
बुहस्सदी ८८
भणामि ८९
भन्ते ८८
भस्टालिका ८८
मम ८९
मस्कली ८८
मेशे ८८
यणवदे ८९

याणादि ८९
ल्‍कशे (राक्षसः) ८९
लाआ ९०
वय्यिदे ८९
विआ ेे ८८
विस्नु ८८
शक्कवदालतिस्वणिवासी ९०
शस्तवाहे ८९
शालशे ८८
शिआलके ९०
शिआले ९०
शुदं ८८
शुस्टुकदं ८९
शुस्तिदे ८९
शोभणं ८८
सव्वञ्ञे ८९
हंशे ८८
हके ८९
हगे ८९
हडक्के ८९
हस्ती ८८

पैशाची-शब्द

अभिमञ्ञू ९१, ९२
इंगार ९३
एसा ९३
कच्चं ९२
कञ्ञका ९१, ९२
कमळं ९२
कसटं ९२
का ९३
कितसिनानेन ९३
कुतुम्बकं ९२
गन्तून ९४
गरुड ९३
गिय्यते ९३
गुनगनयुत्तो ९३
गकनं ९१
गुनेन ९२
जिनातु ९३
जिनातो ९३
णिच्छरो ९१
तट्ठूण ९३
तत्थून ९४
तद्दून ९४
तातिसो ९२
तामोतरो ९२
दशवतनो ९१
दाह ९३
नत्थूय ९४
नद्दून ९४
नेन ९३
पञ्ञा ९१
पठितून ९४
पतिभास ९३
पव्वती ९२
पूजितो च नाए ९३
भगवती ९२
भट ९३
भवातिसो ९२
भारिया ९२
मठ ९३
मतनपरवसो ९२

मेखो	९१	सपथ	९३
यातिसो	९२	सलफो	९१
युम्हातिसो	९२	सळिकं	९२
रञ्ञो	९१	सव्वञ्ञो	९१
रमिय्यते	९३	ससी	९२
राचा	९१	साखा	९३
राचिञो घनं	९१	सुज्जो	९३
ळोक	९३	सोभति	९२
विञ्ञानं	९१	सोभनं	९२
विसमो	९२	हितपकं	९३
सञ्ञा	९१	सुवेय्य	९३
सतनं	९२	होतु	९२

चूलिका-पैशाची-शब्द

गति	९५	पुत्तल	९७
गोली	९४	फक्कवती	९४
घनो	९५	फवति	९५
चलन	९४	फवते	९५
चलनग्ग	९४	फोइय्य	९५
चीमूतो	९४	फोति	९५
छलो	९४	भट	९७
जनो	९५	भट्ठारक	९७
झल्लरी	९५	मक्कनो	९४
टमलुको	९४	मथुलो	९४
ठक्का	९४	मेखो	९४
तटाकं	९४	लफसो	९४
तामोतलो	९४	लाचा	९४
थाला	९४	लामो	९४
धम्मो	९५	लांघन	९७
नको	९४	लुद्द	९४
नियोजितं	९५	वखो	९४
पाळो	९४	हलं	९४

अपभ्रंश-शब्द

अग्गि १११
अग्गिएं १११
अग्गिणं १११
अच्चन्तं १०९
अज्जु १०९
अन्न १०७
अम्हइं ११२
अम्हासु ११२
अम्हे ११२
अम्हेहिं ११२
अलसी १०९
अवरेंक १०६
इत्थो ११०
इसो ११३
उप्पाडिय ११४
उल्ल १०७
एइ १११, ११२
एईउ ११२
एउं १०९
एरिस १०७
एह ११२
एहइं ११२
एहाइं ११२
एहाउ ११२
एहाउ ११२
एहु ११२, ११३
एहो ११२
ओइ ११२
अंसु १०८
कच्चु १०६
कडक्ख ११०
कधिदु १०८
कम्हार १०७
कमलइं ११३
करइ ११३
करउं ११४
करसि ११४
करह ११४
करहि ११४
करहु ११४
करहुँ ११४
करिउ ११४
करिमि ११४
करिमु ११४
करिवि ११४
करेप्पि ११४
करेप्पिणु ११४
करेव्वउं ११५
करेवा ११५
करेवि ११४
करेविणु ११४
करेसइ ११४
करेसमि ११४
करेससि ११४
करेसहि ११४
करेसहिं ११४
करेसहु ११४
करेसहुँ ११४
करेसहो ११४
करेहिंति ११४
करोहिमि ११४
कलिहि १११
कवड १०८
कवण ११२
कवँलु १०९

कहइ ११३
कहाँ ११२
कहिय ११४
काच्चु १०६
किन्नो १०६
किरएव्वड ११५
किलिन्नो १ ६
किविण १०७
कील १०९
कुडुल्ली ११३
कुप्पइ ११३
कुम्भइ १११
केवँइ १ ९
कोइं ११२
किं ११२
खप्पर १०८
खवण १०९
खार १०९
खेलइ १०८
खेंडुअ ११४
गअ ११४
गउरि १०७
गय १११
गलिअ ११४
गिण्हइ ११०
गिम्हो १०९
गिम्हो १०९
गिरिसिंगहुं ११०
गिरिहे १११
गुणेंहि ११०
गेह १०६
गोरडी ११३
गोरी १०६
घटावइ १०७
घोडा १११
चउमुहु ११०
चएवं ११४
चम्पयकुसुमहोमज्झि ११२
चलण १०९
चिंतिज्जइ १०८
चुडुल्लउ ११३
छ १०९
छण १०९
जइ १०९
जइसो ११३
जमुना १०९
जस पवसन्ते सहुँ न गयऊ ११२
जसु १०९
जहाँ ११२
जित्तिउ ११३
जिवँ १०९
जीवहिं मज्झे एइ ११२
जु १०७
जेत्तिय ११३
जेवडु ११३
जेहु ११३
जोइसउ १०९
जोव्वण १०७
झिज्जइ ११०
डज्झंत ११४
ढोला १०७
तइज्जी १०७
तइं ११२
तउ ११२
तड १०८
तणहं १११

तणहुँ १७६
तणु १०६
तदु ११२
तरहुँ ११७
तरुहं १११
तरुहे १११
तलाउ १०९
तलि घल्लइ ११०
तले घल्लइ ११०
तसु ११०, ११२
तस्सु ११२
तहँ ११२
तहँ होन्तउ आगदो ११२
तहाँ ११२
तहि ११२
तहे १११, ११२
तहो ११२
ता ११२
ताइं ११२
ताए ११२
ताण ११२
तासु ११२
ताहँ ११२
ति १११, ११२
तिणु १०६
तुच्छउं १०७
तुट्टइ ११३
तुज्झ ११२
तुध्र ११२
तुम्हइं ११२
तुम्हारिस ११३
तुम्हासु ११२
तुम्हाहं ११२
तहूँ ११२
तुहुँ पुणु अन्नहिं रेसि ११२
तुम्हे ११२
तुम्हेहिं ११२
ते १०७, ११२
तेण ११२
तेहिं ११२
तो ११२
तोसिअ ११०
तं ११२
थोर १०७
दइअ १०६
दइवु १०७
दंसण १०८
दहइ १०८
दहमुह ११०
दारन्तु १११
दिट्ठि १०८
दीव १०८
दीहर ११०
दुल्लहहो ११०
देइ १०७
देव १०६
देवं ११४
देवे ११०
देवेण ११०
देवें ११०
दोसडा ११३
धण १०७
धणहे १११
धन १०७
धुअ १०८
धुआ १०८

धूलडिमा ११३
नवि १०७
नहे ११०
निहित ११०
नेइ ११३
नेउर १०७
पइडि १०८
पइं ११२
पउर १०७
पट्ठि १०६
पडाय १०८
पडिउ १०८
पडिवत्त १०७
पथिउ ११३
पयट्ट १०९
पवसन्ते ११०
पदिस्समाण ११४
पहुल १०८
पाव १०८
पावीसु १०९
पाहान १०९
पिअमाणु सविच्छोह गरु १०८
पिउ १०९
पिट्ठि १०६
पुट्ठि १०६
पुरिस १०७
पूसइ ११३
पोत्थय १०७
फंस १०८
फुट्टइ ११३
बाह १०७
भंगि १०७
भक्खिअ ११४
भणइ १०९
भवँरु १०९
भारत १०८
भुंजइ ११४
मइं ११२
मउड १०७
मज्झहे १११
मज्झु ११२
मढ १०८
मणमाण ११४
महारिसि १०९
महुँ ११२
माणु १०८
मिच्छत्त १०९
मुक्क ११४
मुणइ १०७
मुत्ताहल १०८
मेत्त १०७
मोल्ल १०७
मोंग्गर १०७
यादि १०८
रहस ११०
रिण १०६
रिसहो १०६
रीच्छ १०६
लग्गइ ११३
लक्खेहि ११०
लहि ११४
लिह १०७
लीह १०७
लेइ १०७
लेह १०७
वग्ग १११

वच्छहु	११०	संकरु	११०
वच्छहे	११०	समासण (श्मशान)	११०
वड्डुत्तणु	११३	सर	१०९
वड्डुत्तणहो	११३	सा	११२
वडप्पणु	११३	सामला	१०७
वणि	१०७	साहा	१०८
वग्गंसिअहु	११३	सिचंत	११४
वलुल्लडा	११३	सीय	१०७
वसधि	१०८	सीह	१०८
वामोह	१०९	सुअणसु	११०
वालइ	१११	सुधि	१०८
वावारउ	१०९	सुवइ	११३
विच्छ	१०९	सुवण्णरेह	१०७
विज्जुलिआ	१०८	सुहड	१०८
विट्टिए	१०८	सो	११२
विहूण	१०७	सोलस	१०९
वीढ	१०८	हउं	११२
वीस	१०८	हम्हारिस	११३
वे	११३	हर	११०
वेण	१०७	हरइ	११३
वेल्ल	१०७	हरडइ	१०७
वेल्लि	१०७	हसगअ	११५
व्रासु	१०९	हसणउ	११५
सउणिहं	१११	हुअ	११४
सउमार	१०७	हे	१०७

भाषाविज्ञान के विवेचन में प्रयुक्त शब्द

अक्को	१२९	अन्तावेइ	१२८
अग्गओ	१४०	अणिउंतयं	११८, १४२
अग्गिणो	१४७	अणिय	१२७
अग्गिस्स	१४७	अणोज्जय	१३३
अच्छेरं	१२६	अण्णेसिं	१३६
अदिमेत्तं	१३७	अप्पइ	१३३

अप्पउ १३३
अप्पिज्ज १३३
अप्पिहिइ १३३
अप्पीअ १३३
अमुगो १४२
अम्हेत्थ १४१
अम्हेब्व १४१
अरिहो १३७
अलचपुरं १२५
अलिअ १२७
अलिय १२७
अव्वईभाव १५१
अवस्सं १३०
अवेरिक्ख १२७
अस्सो १३०
अस्सोत्थ १३४
अहं १४८
अहअं १४८
अइरिओ ११८
आगरिसो १४२
आगारो १४२
आणालो १२५
ऑफसो १३२
आमेलो १३१
आयरिअ १२७
आयरिओ १२६
आवाएँच्चिय १३६
आहिआई १३२
आहिजाइ १२८
आहोडइ १३३
आहोडउ १३३
आहोडिहिइ १३३
आहोडीअ १३३
आहोडेज्ज १३३
इत्थ १११
इत्थामित्त १३७
इत्थी १२३
इसि १२३
ईसालू १५२
उइद १२१
उक्ख १२७
उक्ख्य १२७
उच्छू ११८, १३६
उज्झाओ १३५
उत्तिम १३५
उत्तिमंग १३५
उदुक्खलं १२७
उम्हा १२५
उल्लं १२५
उवज्झाओ १२५
उवरिल्लं १२५
उवरि १४२
उवहसियं १३५
उसभमजिअं १४१
उसभं अजियं १४१
ऊआसो १३५
अहसियं १३५
एँ १३२
एएसि १३६
एओएत्थ १४०
एक्कसेस १५१
एग्गो १४२
एत्थ ११९
एकवारं १५२
एकल्लो १२४
एयहुत्तं १५२

एरिसो	१३१
एसभो	१४१
एसि	१३६
ओअणं	१४५
अंधआरो	१२०
अंधल्लो	१२५
अंधारो	१२०
अंसु	१४२
अंसुं	११८
अंसू	१२७
ओअरण	१३४
ओआसो	१३५
ओज्झाओ	१३५
ओयणं	१४५
ओसरइ	१३५
ओहसियँ	१३५
कअगहो	१२१
कइम	१३५
कंचुओ	१४१
कंसिओ	१२५
किंति	१४१
किंपि	१४१
कुंभआरो	१२०
कुंभारो	१२०
कुँवर	१२७
कज्जं	१२६
कट्टं	१२९
कडत्ति	१३६
कण्णउरं	१२७
कणेरू	१२५
कणेरू असिअं	१३९
कणेरूसिअं	१३९
कम्म	१२९
कम्मधारय	१५१
कम्मो	१२२
करावइ	१५०
करावेइ	१५०
करिअरोरु	१३३, १२९
कव्वइत्तो	१५२
कव्वं	१२९
कहमवि	१४१
कहेइ	१३४
कहंपि	१४१
काउणं	१४२
कागो	१३०
कारे	१५०
कालओ	१३०
कालेणं	१४२
कासी	१४८
काही	१४८
काहीअ	१४८
किअं	१२१
किच्चो	१३०
कित्ती	१२६
किमवि	१४१
किलम्मइ	११८
किलेसी	१३८
कुप्पिसो	११८
कुमर	१२७
कुम्भआरो	१४०
कुम्भारो	१४०
केणवि	१४१
केणावि	१४१
केरिसो	१३१
कोउहलं	१२२
कोप्पर	११९

खन्दो	१४३
खल्लीडो	११८
गअणेच्चिअ	१३६
गइंद	१४०
गउओ	१३५
गंभीरिअं	१३७
गुंछं	११८
गकनं	१४३
गच्छिस्ससि	१२२
गमिआ	१५०
गमिओ	१५०
गमिअं	१५०
गमिता	१५०
गमितो	१५०
गमितं	१५०
गमिदो	१५०
गरिहा	१३७
गरुवो	१२३
गहणीअ	१४८
गहित	१३६
गहीरिअं	१३७
गामिणसुओ	१२७
गामिल्ली	१५२
गामिल्लं	१५२
गामणोइइहासो	१३८
गामणीइहासो	१३८
गामणीईसरो	१३८
गामणीसरो	१३८
गामेणी	१३३
गिम्हो	१२५
गिरिं	१४०
गिलाइ	१३८
गिलाणं	१३८
गुज्झं	१२५
गुय्हं	१२५
गूढउअरं	१३९
गूढोअरं	१३९
गेन्दुओ	१३०
गीरिहरं	१२८
घरसामिणीच्चेव	१२८
चउत्थो	१२२
चक्काओ	१४०
चत्तालिसा	१२८
चरिम	१३५
चल्लइ	१४९
चाइँत्ति	१३६
चिच्छइ	१४४
चिट्ठइ	१४४
चियत्त	१४४
चिहुरो	१४४
चुण्णं	१२५
चोथो	१२२
चोरिअं	१३७
जइत्थ	१४१
जउँणयडं	१२८
जं	१४१
जंति	१४१
जडालो	१५२
जम्म	१२९
जम्मणं	१२४
जम्मो	१२२
जलं	१४०
जलोह	१३३
जसो	१२२
जाव	११९, १२२
जालोलि	१३३

जासिं १३६
जिण्णं १२५
जीआ १२३
जेसिं १३६
झाइअ १३३
झाअउ १३३
झाअसी १३३
झाइहिइ १३३
झाएज्ज १३३
टसरो १४५
टूबरो १४५
ठगरो १४५
ठवेइ १२७, १३४
ठाअइ १३३
ठाअउ १३३
ठाअसी १३३
ठाइहिइ १३३
ठाएज्ज १३३
ठासी १४८
ठाही १४८
ठाहीअ १४८
ठीणं ११८
ठीणा १३४
डंभो १४५
डंस १४५
डोला १४५
णअणं १२१
णअरं १२१
णइसोती १२७
णडालं १२५
णवेला १३३, १३९
णिच्चोउग १३१
णुमज्जइ १३६
णुमन्नो ११८, १३६
णेइ १३४
णोमालिया १३५
तं १४८
तंबो १२१
तंसं ११८, १४२
तुं १४८
तक्क १२८
तप्पुरिस १५१
तवद्धं १२०
तहत्ति १४१
तहात्ति १४१
ताव ११९, १२२
तामोतरो १४३
तासिं १३६
तिअसीसो १४०
तिक्खं १३०
तिग्गं १२९
तित्थअर १२१
तित्थं १२५
तीसा १२८
तुट्टइ १४९
तुमं १४८
तुरिअ १३४
तुमअद्धं १२०
तुहद्धं १२०
तूसइ १४९
तेइच्छा १४४
तेत्तीस ११९
तेसिं १३६
तोण्ड ११९
थंभो १२०
थवो १२०, १४३

थाणू १२०
थीणं १२०
थीणा १३४
थुइ १२०, १४३
थूणो १३२
थेरिअं १३७
थोअं १४३
थोत्तं १२०
दंड अहीसो १३८
दंडाहीसो १३८
दंद १५१
दरिसइ १३३
दरिसउ १३३
दरिसिहिइ १३३
दरिसीअ १३३
दरिसेज्ज १३३
दहो १२५
दाणि १२०
दाहिणो १३२
दिअहो १२१
दिगिंछा १४४
दिगिच्छत १४४
दिगु १५१
दिग्धं १२६
दिट्ठंति १४१
देवीए एत्थ १४०
दिसेभ १३२, १३९
दुआई ११६
दुग्गोंज्झ १३७
दुद्धो १२९
दुप्पेच्छ १२७
दुमत्तो १२५
दुविहो १३६
दुहुत्तं १५२
देउउलं १२२
दोंग्ग १४५
दोसिणा १४४
दोसिणी १४४
दोहर १२६
दोहलो १३०
धणं एव १४१
धणमणो १५२
धणमेव १४१
धत्ती १२९
धत्थो १३०
धम्म १२९
धीमओ १२७
धीरिअं १३७
धुत्तो १२६
नइं १४८
नइ १४७
नईउ १४७
नईओ १४७
न तप्पुरिस १५१
नमिमो १३७
नवल्लो १२५
नविरो १५०
नस्सइ १४९
नहं १२२
नाही १४४
निउरं १३१
निड्डं ११७
निसाअरो १४०
निसिअरो ११८
निसीढो १४५
निहसो १४४

नेति १४९
नेय्यं १२२
नेयेय्यं १२२
नेंति १४९
पआवई १२१
पओट्टुं १२७
पइट्ठा १४५
पइट्ठाण १४५
पइण्णा १४५
पइहरं १२८
पउरिसं १३६
पँति १४१
पँती १४१
पुंछं ११८
पच्छा ११९
पठइ १४९
पडँसुआ ११८, १२३, १४२
पडाया १४५
पडिकरइ १४५
पडिमा १४५
पडिवआ १२२, १२८
पडिसार १२८
पडिसुदं ११८
पढन्ति १४९
पढमो १४५
पढसि १४९
पढामि १४९
पढामो १४९
पढित्था १४९
पढिस्सइ १४९
पढिस्सन्ति १४९
पढिस्ससि १४९
पढिस्सामि १४९
पढिस्सामो १४९
पढिहित्थो १४९
पदुमं १३५
पत्तलं १२४
परगास १४३
परेंसि १३७
पवणोद्धं १२०
पवणोद्धअं १२०
पहावलि अरुणो १३९
पहुडि १४५
पहुवी १२३
पहोलि ११३
पाअडोरु १३२
पाअवीडं १२०
पाअवडणं १२०
पाउसो १२२
पागुरणं १२४, १३५
पाडिवआ १२८
पाडिसार १२८
पाणिय १३६
पादितप्पुरिस १५१
पायडं १३२
पारकेरं १३२
पावडणं १२०
पावासु ११८, १३६
पावीडं १२०
पिअर १३३
पिआ १३३
पिक्कं १२३
पिण्ड ११९
पिहं १४१
पीअं १२७
पीआ १२७
पीण १५२
पीणत्तणं १५२
पीणिमा १५२
पीवलं १२४

पुप्फं १४३
पुरिल्लं १२४, १५२
पुरिसो १३६
पुरिसोत्ति १४१
पेऊसं १३१
पेंच्छइ १३२
पेच्छइ १२७
पेढं १३१
पेण्ड ११९
पोक्खर ११९
पोक्खरिणी १४३
पोक्खरं १४३
फंदणं १४३
फंसो ११८
फणसो १४३
फरुसो १४३
फलिहद्दो १४३
फलिहा १४३
फलिहो १४३, १४४
फुल्लेला १३३
बंधो ११८
बहुमुहं १३७
बहुवो १२३
बहुव्वीही १५१
बहुँ १४८
बहू १४७
बहूअरं १३९
बहूउ १४७
बहूउअरं १३९
बहूओ १४७
भअवदा १२१
भगवं ११९
भगिनी १४४
भज्जा १२६
भणंती १५०
भणंतो १५०
भणमाणा १५०
भणमाणी १५०
भणमाणो १५०
भणिउं १५०
भणिमो १३७
भणेतुं १५०
भणेदुं १५०
भत्तिवंतो १५२
भत्तो १२९
भद्दं १२९
भमाया १२४
भाईरही १२१
भाणु उवज्झाओ १३८
भाणूवज्झाओ १३८
भारिआ १२६, १३७
भिउडी १३६
भिक्खत्ति १३६
भिसओ १२२
भुआयंतं १२८
भुमया १२४
मअंको १२१
मइत्तो १४२
मईयं १२७
मउअत्तयाइ १२४
मउडं १३१
मउरं १३१
मउलं १३१
मउलिदा १२१
मए १४८
मंसू ११८, १४२

मग्ग १२५
मज्झिम १३५
मडयं १४५
मणसिला १२८
मणुअत्तं १४०
मणोसिला १४०
मणंसिणी १४२
मणंसिला ११८, १४२
मणंसी ११८, १४२
मत्तो १४८
ममअद्ध १२०
ममम्मि १४८
ममस्सि १४८
ममादु १४८
ममादो १४८
ममाद्धं १२०
ममाहि १४८
ममें त्ति १३२
मरहट्ठं १२५
मल्लं १२९
मह १४८
महद्धं १२०
महुल्लं १२४
महेसि १३९
महेसी १३२
मालं १४८
माला १४७
मालाउ १४७
मालाओ १४७
मालोहड १३९
मिलाणं १३८
मिलासिअं १२४
मिस्सं १३०
मिहुणं १४४
मुउलो १२१
मुजीसरो १३८
मुंडं ११८, १४२
मुणिईणो १३८
मुणिईसरो १३८
मुणीणो १३८
मुहं १४४
मेखो १४३
मेहलो १४४
मेहो १४४
मोग्गर ११९
मोल्ल ११९
रअओ १२१
रण्णं १२०
रमा अहीणो १३८
रमा आरामो १३८
रमा उवचिअं १३९
रमारामो १३८
रमा अहोणो १३८
रमोवचिअं १३९
रयणीअरो १४०
रसाअलं १२१
रसालो १५२
राअउलं १२०
राइण्ण १३४
राउउलं १२२
राउलं १२०, १२२, १४०
राएसी १३३
राचा १४३
रामाइअरो १३९
रामेअरो १३९
रिऊ १२४
रिच्छो १२४

रिज्जू १२४
रिद्धि १२४
रिणं १२४
रिसहो १२४
रिसि १२४
रुद्दो १२९
रूसइ १४९
रोअदि १२१
लंगूलं १३०
लंछणं १४१
लग्ग १२९
लहुवी १२३
लाऊँ १२०
लाउ १२०
वअणं १२१
वउलं १२१
वकं ११८, १४२
वंदिमो १३७
विंझो १४१
वक्क १२९
वक्कलं १२९
वच्छेणं १४२
वच्छेसु १४२
वणदोसिणी १४४
वणेअडइ १४०
वणोलि १३९
वम्महो १३०, १३१
वयंसो ११८
वरइ १२७
वरिअं १३७
वरिससयं १३८
वरिसं १३८
वरिसा १३८
वरिहो १३७
वहेडओ १३१
वाआ १२२
वाउणो १४७
वाउस्स १४७
वाओलि १३१
वाणारसी १२५
वारिमइ १३९
वारीमई १३९
वासइसी १३९
वासरईसरो १३९
वासरेसरो १३९
वासेसी १३९
विअ १४९
विअण १३४
विउअं १३०
विओओ १२१
विछिओ ११८
विज्जं १२६
विज्जज्झर १४४
विज्जुलोसुंभिअं १३९
विपस्ससि १२२
वियारुल्लो १५२
विलयाईसो १३९
विलयेसो १३९
विसम आवयो १३८
विसमइओ १२३
विसमावयो १३८
वीईवइत्ता १३४
वीईवयमाण १२४
वीरिअं १२६
विलिअ १३४
वीसा १२८
वीसुं १३५

वेलुवणं १३९
वेलूवणं १३९
संपआ १२२
सक्खं १४१
सच्चो १३०
सज्झाओ १२५
सत्तावीसा १२८
सद्दो १५९
सप्प १२९
समिद्धो १२८
समुद्दो १२९
सम्मं ११९, १४१
सयडं १२१
सरओ १२२
सरफसं १४३
सरिअ १२२
सरिआ १२३
सरो १२२
सव्व १२९
सव्वओ १५२
सव्वतो १५२
सव्वदो १५२
सव्वोउअ १३३
सहय १२५
सहसच्चिअ १३६
सहसेंति १३२
साअरो १२१
सामिद्धी १२८
सालाहणो १४०
सासऊसासा १३९
सासोसासा १३९
साहुऊसवो १३८
साहू १४४
साहूसवो १३८
सिलखलिअं १२८, १३९
सिलाखलिअं १३९
सिलोओ १३८
सिविणो १२३
सीह १२८
सीहरो १४४
सुइलं १३८
सुउरिसो १४०
सुज्जो १२६
सुण्हा १२५
सुन्दरिअं १३७
सुवइ १३४
सुहुमं १२५
सूअअं १२१
सूरिओ १२६, १३७
सूरिसो १४०
सोअमल्लं १२०
सोण्ड ११९
सोत्थि १३४
सोत्थिवाअण १३४
सोमल्लं १२०
सोरिअं १३७
सोहिल्लो १५२
हणमंतो १५२
हलिआरो १२५
हलिद्दा १३०
हलुअं १२५
हसिउं १५०
हसिऊण १५०
हसिता १५०
हसिरो १५०
हसीअइ १४९
हसीअन्ति १४९
हसीअसि १४९
हसीआमि १४९
हसीआमी १४९
हसीइत्था १४९
होइइह १४०
होदि १४१

प्रकाशित प्राकृतग्रन्थानुक्रमणिका

(१) अंगविज्जा—सं० मुनि पुण्यविजय, प्र० प्राकृत ग्रन्थपरिषद्, वाराणसी, सन् १९५७ ई० ।

(२) अंतगडदसाओ तथा अणुत्तरोववाइयदसाओ—सं० डॉ० पी० एल० वैद्य, प्र० १२ कैनोट रोड, पूना, सन् १९३२ ई० ।

(३) अनंतनाहचरियं—नेमिचन्द्र सूरि, प्र० ऋषभदेवकेशरीमल श्वेताम्बर जैन संस्था, रतलाम, सन् १९३९ ई० ।

(४) अजियसंतिथव—मुनि वीरविजय, अहमदाबाद, वि० सं० १९९२ ।

(५) अट्ठपाहुड—कुन्दकुन्दाचार्य, प्र० अनन्तकीर्त्ति ग्रन्थमाला समिति, बम्बई, वीर-निर्वाण संवत् २४४६ ।

(६) अनुत्तरोपपातिक—अंग्रेजी भूमिका, कथानक और शब्दकोष सहित, सं० डॉ० पी० एल० वैद्य, पूना सन् १९३२ ई० ।

(७) अनुयोगद्वारसूत्र—प्र० केसरीबाई ज्ञानमन्दिर, पाटन (गुजरात), वि०सं० १९९५ ।

(८) आक्खानमणिकोस—देवेन्द्र नेमिचन्द्र, आम्रदेवकृत टीका सहित, प्र० प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी, सन् १९६२ ई० ।

(९) आनन्दसुन्दरी—घनश्याम, सं० डॉ० ए० एन० उपाध्ये, प्र० मोतीलाल बनारसी-दास, वाराणसी, सन् १९५५ ई० ।

(१०) आयारांगसुत्त—हर्मन याकोबी, प्रा० टे० सी० लन्दन, सन् १९८२ ई० तथा अहमदाबाद, वि० सं० १९८० ।

(११) आरामसोहाकहा—संघतिलकाचार्य, प्र० श्रीसंघ सूरत, वि० सं० १९९७ ।

(१२) आवस्सकचुण्णि—प्र० श्वेताम्बर सभा, रतलाम, सन् १९२८ ई० ।

(१३) आवस्सकवित्ति टिप्पण—हरिभद्राचार्य, प्र० देवचन्द लालभाई, अहमदाबाद ।

(१४) इसिमंडलथोत्त—सं० यशोविजल, बड़ौदा, वि० सं० २०१२ ।

(१५) उतराज्झयण—सं० आर० डी० वेदकर और एन० वी० वैद्य, फर्गूसन कालेज, पूना तथा अंग्रेजी प्रस्तावना, टिप्पण आदि सहित—जार्ल चार्पेंटियर, उपसाला, सन् १९१४ ई० ।

(१६) उत्तराज्झयण (सुखबोधटीका)—सं० विजयोमंगसूरि, प्र० पुष्पचन्द्र क्षेमचन्द बलाद (अहमदाबाद) सन् १९३७ ई० ।

(१७) उवसग्गहर—भद्रबाहु, प्र० देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९३३ ई० ।

(१८) उवदेसपद महाग्रन्थ—हरिभद्र सूरि, प्र० लालचन्द नन्दलाल, मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, कोठीपोल, बड़ौदा, सन् १९२३-२५ ई० ।

(१९) उवदेसमाला—सं० हेमसागर सूरि, प्र० धनजी भाई देवचन्द जवेरी, ५०-५४ मीरझास्ट्रीट, बम्बई ३, सन् १९५८ ई० तथा ऋषभदेव केसरीमल संस्था, इन्दौर, सन् १९३६ ई० ।

(२०) उवएसरण्णायर (उपदेशरत्नाकर)—मुनिसुन्दर, प्र० जैन ध० वि० प्र० वर्ग पालीताना (गुजरात), वि० सं० १९६४ ।

(२१) उवासगदसाओ—सं० एन० ए० गोरे, प्र० ओरियन्टल बुक एजेंसी, शुक्रवार, पूना—२, सन् १९५३ ई० ।

(२२) ऋषभपंचाशिका—प्र० काव्यमाला ग्रन्थांक ७, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९० ई० ।

(२३) औपपातिकसूत्र—मूलपाठ और पाठान्तर सहित, एन० जी० सुरु, पूना, सन् १९३६ ई० ।

(२४) कंसवहो—रामपाणिवाद, सं० डॉ० ए० एन० उपाध्ये, प्र० हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय हीराबाग, बम्बई, सन् १९४६ ई० ।

(२५) कम्मथव (कर्मस्तव-कर्मग्रन्थ–२)—हिन्दी अनुवाद सहित, आगरा सन् १९१८ ई० ।

(२६) कम्मपयडी (कर्म-प्रकृति)—शिवशर्मा, मलयगिरि और यशोविजय टीका सहित, प्र० जैनधर्म प्रचारक सभा, भावनगर ।

(२७) कम्मविपाग (कर्म-विपाक-कर्मग्रन्थ—१)—सं० श्री पं० सुखलालजी, प्र० लोहामण्डी, आगरा, सन् १९३९ ई० ।

(२८) कल्पसूत्र—सं० अमोलक ऋषि, प्र० सर राजा ज्वालाप्रसाद, हैदराबाद ।

(२९) कल्पव्यवहार (निशीथसूत्र)—सं० वाल्टर शूबिंग, लाइपचिग तथा अहमदाबाद।

(३०) कसायपाहुड (जयधवला टीकासहित)—सं० पं० फूलचन्द्र और पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्र० दि० जैनसंघ चौरासी, मथुरा, सन् १९४४-६२ ई० ।

(३१) कसायपाहुण (सूत्र और चूर्णि)—सं० पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, प्र० वीरशासनसंघ, कलकत्ता, सन् १९५५ ई० ।

(३२) कहाकोसपगरण (कथाकोषप्रकरण,—जिनेश्वर सूरि, सं० मुनि जिनविजय; प्र० सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, सन् १९४९ ई० ।

(३३) कहामहोदधि—सोमचन्द्र, कर्पूर प्रकरण सहित, ही० हं० जामनगर, सन् १९१६ ई० ।

(३४) कप्पूरमंजरी—राजशेखर, सं० मनमोहन घोष, प्र० यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, सन् १९३९ ई० तथा स्टेन कोनो का संस्करण हार्वर्ड यूनिवर्सिटी, कैम्ब्रिज, सन् १९०१ ई० ।

(३५) कहारयणकोस—देवभद्र, सं० मुनि पुण्यविजय, प्र० आत्मानन्द सभा भावनगर, सन् १९४४ ई० ।

(३६) कालकाचार्यकथा—प्रो० एन० डब्ल्यू ब्राउन कृत स्टोरी ऑफ कालक के अन्तर्गत, वाशिंगटन; सन् १९३३ ई० ।

(३७) कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह—सं० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्र० जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर, सन् १९६० ई० ।

(३८) कुमारपालचरित—हेमचन्द्र, सं० डॉ० पी० एल० वैद्य, भण्डारकर ओयिण्टल इन्स्टीट्यूट, पूना सन् १९३६ ई० ।

(३९) कुमार पालप्रतिबोध—सोमप्रभाचार्य, सं० मुनि जिनविजय, प्र० गायकवाड़ ओरयन्टल सीरीज, बड़ौदा, सन् १९२० ई० ।

(४०) कुम्मापुत्तचरियं—अनन्तहंस, सं० और प्र० प्रो० के० बी० अभ्यंकर, गुजरात कालेज, अहमदाबाद सन् १९३३ ई० ।

(४१) कुवलयमाला—उद्योतन सूरि, सं० ए० एन० उपाध्ये, प्र० सिंघी जैनग्रन्थ माला, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, वि० सं० २०१५ ।

(४२) गउडवहो—हरिपाल टीका सहित, सं० शंकर पाण्डुरंग, प्र० भाण्डारकर ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, पूना, सन् १९२७ ई० ।

(४३) गाहासत्तसई—कवि हाल, गंगाधर भट्ट टीका सहित, काव्यमालाग्रन्थांक २१ निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।

(४४) गोम्मटसार (जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड)—आचार्य नेमिचन्द्र, सं० जे० एल० जैनी, प्र० सेक्रेड बुक्स ऑफ जैन्स, आरा, ग्रन्थ ५, ६, ७, तथा हिन्दी अनुवाद सहित, रामचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई, सन् १९२७-२८ ई० ।

(४५) चंदप्पहचरियं—जिनेश्वर सूरि, प्र० महावीर ग्रन्थमाला, वि० सं० १९९२।

(४६) चंदलेहा—रुद्रदास, सं० डॉ० ए० एन० उपाध्ये, प्र० भारतीय विद्याभवन, बम्बई, सन् १९४५ ई०।

(४७) चउपन्न महापुरिसचरियं—शीलंकाचार्य, सं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक, प्र० प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, सन् १९६१ ई०।

(४८) छक्खंडागम (धवलाटीका सहित)—भाग १-१६—सं० डॉ० हीरालाल जैन, प्र० जैन-साहित्योद्धारक-फंड-कार्यालय, अमरावती (बरार); सन् १९३९-१९५९ ई०।

(४९) जंबुचरियं—गुणपाल, सं० मुनि जिनविजय, प्र० सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, वि० सं० २०.५।

(५०) जंबुद्दीवपण्णत्ति—पद्मनन्दि, प्र० जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, सन् १९५८ ई०।

(५१) जयन्तीचरित—सं० आचार्य विजयकुमुद सूरि, प्र० मणिविजय ग्रन्थमाला मु० लींच (महेसाणा), वि० सं० २००६।

(५२) जिनदत्ताख्यानद्वय—सुमति सूरि तथा अज्ञात विद्वान्, सं० पं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, वि० सं० २००९।

(५३) जीतकल्पसूत्र—सं० पुण्यविजय, अहमदाबाद, वि० सं० १९९४।

(५४) जीवाभिगम—प्र० रायधनपति सिंह बहादुर, अहमदाबाद, सन् १९३९ ई०।

(५५) जोइसकरंडग—ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम, सन् १९२८ ई०।

(५६) तिलोयपण्णत्ति—यतिवृषभ, प्र० जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, सन् १९४३, १९५२ ई०।

(५७) तिलोयसार—नेमिचन्द्र, माधवचन्द्रकृत संस्कृत टीका सहित, प्र० माणिकचंद दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वीरनिर्वाण संवत् २४४४।

(५८) दशवैकालिकसूत्र (हारिभद्रवृत्ति)—सं० और प्र० मनसुखलाल महावीर प्रिंटिंग वर्क्स, बम्बई।

(५९) देसीनाममाला—हेमचन्द्र, सं० पिशल, प्र० भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना।

(६०) धर्मोपदेशमालाविवरण—जयसिंह सूरि, सं० मुनि जिनविजय, प्र० सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, वि० सं० २००५।

(६१) धूर्ताख्यान—हरिभद्र सूरि, सं० डॉ० एन० उपाध्ये, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, सन् १९४४ ई० ।

(६२) नन्दिसूत्र—अनु० हस्तिमल्ल मुनि, प्र० रायबहादुर मोतीलालजी मूथा, सतारा, सन् १९४२ ई० ।

(६३) नन्दीसूत्र (मलयगिरि टीका सहित)—प्र० आगमोदय समिति, ४२६ जवेरी बाजार, बम्बई, सन् १९२४ ई० ।

(६४) नन्दीसूत्रस्य चूर्णिः—हारिभद्रीया वृत्ति, प्र० श्वेताम्बर सभा, रतलाम।

(६५) नरविक्रमचरित—गुणचन्द्रसूरि, प्र० झवेरी अजितकुमार नन्दलाल राजनगर, वि० सं० २००८।

(६६) नाणपंचमीकहा—महेश्वर सूरि, सं० डॉ० अमृतलाल रूपचंद गोपाणी, प्र० सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, सन् १९४९ ई० ।

(६७) नायाधम्मकहाओ—सं० और प्र० एन० वी० वैद्य, फर्गूसन कालेज, पूना—४, सन् १९४० ई० ।

(६८) नियमसार—कुन्दकुन्दाचार्य, उग्रसेनकृत अंग्रेजी अनुवाद सहित, अजिताश्रम, लखनऊ, सन् १९३१ ई० ।

(६९) निरयावलिओ (अन्तिम पाँच उपांग)—सं० पी० एल० वैद्य, पूना, सन् १९३२ ई० ।

(७०) निशीथचूर्णि—प्र० आगमोदय समिति, बम्बई ।

(७१) पंचसंग्रह (चन्द्रर्षि) स्वोपज्ञवृत्ति—प्र० आगमोदय समिति, बम्बई; १९२७ ई० और मलयगिरि टीका सहित, जामनगर, वि० सं० १९७७ ।

(७२) पंचसंग्रह (प्राकृत वृत्ति टीका और संस्कृत टीका)—प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६० ई० ।

(७३) पंचास्थिकाय—कुन्दकुन्दाचार्य, प्रो० चक्रवर्तीकृत अंग्रेजी अनुवाद सहित, जैनपब्लिसिंग हाउस, आरा, १९२० ई० तथा हिन्दी अनुवाद सहित रामचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई १९०४ ई० ।

(७४) पंचवस्तुक—हरिभद्र, प्र० देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धारफंड ग्रन्थमाला, सन् १९२७ ई० ।

(७५) पंचसूत्र—लब्धि सूरिश्वरग्रन्थमाला, १९३९ ई० ।

(७६) पंडिअ धणवालकहा—संघतिलकसूरि, प्र० श्रीसंघ सूरत, वि० सं० १९९७ ।

(७७) पउमचरियं—विमलसूरि, प्र० जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, सन् १९१४।

(७८) पवयणसार—कुन्दकुन्दाचार्य (अमृतचन्द्र और जयसेन संस्कृत टीका सहित)—सं० डा० ए० एन० उपाध्ये, रामचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई, सन् १९३५ ई०।

(७९) वाइअकहासंगहो—पद्मचन्द्रसूरि के शिष्य, प्र० विजयदान सूरीश्वर ग्रन्थमाला गोपीपुरा, सूरत, सन् १९५२ ई०।

(८०) पाइअ—लच्छी नाममाला—धनपाल, सं० और प्र० शादीलाल जैन, २३९, अब्दुल रहमान स्ट्रीट, बम्बई–३।

(८१) पासनाहचरियं—गुणचन्द्र, प्र० अहमदाबाद, सन् १९४५ ई०।

(८२) प्राकृतपैंगलम्—सं० डॉ० भोलाशंकर व्यास, प्र० प्राकृतग्रन्थपरिषद्, वाराणसी तथा द एशियाटिक सोसाइटी ऑव बङ्गाल, कलकत्ता, सन् १९०२ ई०।

(८३) बंभदत्तचरियं—प्र० गुजरात ग्रन्थमाला कार्यालय, गांधीरोड, अहमदाबाद, सन् १९३७ ई०।

(८४) बंधसामित्त (बन्धस्वामित्व-कर्मग्रंथ ३)—हिन्दी अनुवाद सहित, आगरा, सन् १९२७ ई०।

(८५) बृहत्कल्पभाष्य—श्वेताम्बर सभा, रतलाम।

(८६) बृहत्क्षेत्रसमास—जिनभद्र, प्र. जैनधर्मप्रसारकसभा, भावनगर, वि. सं. १९७७।

(८७) भगवती आराधना—शिवार्य, प्र. अनंतकीर्त्ति ग्रंथमाला, बम्बई, वि. सं. १९८९।

(८८) भगवतीसूत्रशतक १-२०—प्र० मदनकुमार मेहता, कलकत्ता, वि० सं० २०११ यह ग्रंथ अभयदेव की टीकासहित आगमोदय समिति बम्बई द्वारा सन् १९२१ ई० में प्रकाशित है और पं० बेचरदास तथा पं० भगवानदास के गुजराती अनुवाद सहित सं० १९७९-१९८८ में चार भागों में प्रकाशित है।

(८९) भवभावना—म० हेमचन्द, सं० ऋषभदेव, प्र० जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, वि० सं० १९९२ ई०।

(९०) महाबन्ध १-७—हिन्दी अनुवाद सहित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४७-५८।

(९१) महावीरचरियं—गुणचन्द्र, प्र० देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धारक संस्था, जवेरीबाजार, सन् १९२९ ई०।

(९२) महावीरचरियं—नेमिचन्द्र सूरि, सं० मुनि चतुरविजय, प्र० आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७३।

(९३) महिवालकहा—वीरदेवगणि, सं० हीरालाल प्र० पोपटलाल, शिहोर, वि० सं० १९९८।

(९४) मूलाचार—वट्टकेर, प्र० मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७७, १९८० ।

(९५) यतिलक्षण—यशोविजय, प्र० जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि. सं. १९६५ ।

(९६) रंभामंजरी—नयचन्द्र, सं० डॉ० पीटर्सन और रामचन्द्र दीनानाथ, निर्णयसार प्रेस, बम्बई, १८८९ ई० ।

(९७) रयणचूडरायचरियं—नेमिचन्द्र सूरि, सं० आचार्य विजयकुमुद सूरि, प्र० मणिविजय गणिवर ग्रन्थमाला, सन् १९४२ ई० ।

(९८) रयणसेहरनिवकहा—जिनहर्ष सूरि, सं० हरगोविन्ददास, प्र० जैन विविध शास्त्र माला, बनारस, सन् १९१८ ई० ।

(९९) रायपसेणिय—सं० एन० बी० वैद्य, प्र० खादयात बुकडिपो, गाँधीरोड, अहमदाबाद, सन् १९३८ ई० ।

(१००) लघुक्षेत्रसमास—रत्नशेखर, प्र. मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ौदा, १९३४ ।

(१०१) लीलावई—कौतूहल, सं० डॉ० ए० एन० उपाध्ये, प्र० सिंघी जैन ग्रन्थमाला भारतीय विद्या भवन, बम्बई ।

(१०२) वड्ढमाणदेसना—शुभवर्द्धन, प्र० जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर ।

(१०३) वसुदेवहिण्डी—संघदास गणि, सं० मुनि चतुरविजय पुण्यविजय, प्र० आत्मानन्द सभा, भावनगर ।

(१०४) वसुदेवहिण्डीसार—सं० वीरचन्द प्रभुदास, प्र० हेमचन्द सभा, पाटन, सन् १९१७ ई० ।

(१०५) वसुनन्दिश्रावकाचार—वसुनन्दि, सं० पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५२ ई० ।

(१०६) वज्जालग्गं—सं० और प्र० प्रो० जुलियसलेवर, कलकत्ता, सन् १९१४, २२, ४४ ।

(१०७) विचारसार—प्रद्युम्नसूरि, प्र० आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९२३ ई० ।

(१०८) विधिमार्गप्रिया—जिनप्रभ सूरि, सं० मुनि जिनविजय, प्र० निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९४१ ई० ।

(१०९) विपाकश्रुतम्—सं० मुनि ज्ञानचन्दजी महाराज, प्र० जैन शास्त्रमाला कार्यालय, जन स्थानक, लुधियाना (पंजाब) ।

(११०) विधेयमंजरी—आषाढ, बालचन्द्र-टीका, प्र० विविध साहित्यशास्त्र माला, बनारस, वि० सं० १९७५ ।

(१११) व्यवहारभाष्य—प्र० आगमोदय समिति, बम्बई ।

(११२) शतक (कर्मग्रन्थ-५)—सं० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्र० लोहामण्डी, आगरा, सन् १९४२ ई० ।

(११३) श्रीकृष्णचरितम्—देवेन्द्र सूरि, प्र० ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर, रत्नपुर (मालवा), सन् १९३८ ई० ।

(११४) षडशीति (कर्मग्रन्थ-४)—हिन्दी अनुवाद सहित, प्र० लोहामण्डी, आगरा, सन् १९२७ ई० ।

(११५) समयसार—कुन्दकुन्द, सं० प्रो० चक्रवर्ती, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९५० ई० ।

(११६) समराइच्चकहा—हरिभद्र सूरि, सं० डॉ० हर्मन याकोबी, प्र० बंगाल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता; सन् १९२६ ई० ।

(११७) समाचारी—तिलकाचार्य, प्र० डाह्याभाई मोकमचन्द, अहमदाबाद, वि० सं० १९९० ।

(११८) सवाय-पण्णत्ति—हरिभद्र, प्र० ज्ञानप्रसारक मण्डल, बम्बई, वि० सं० १९६१ ।

(११९) सिद्धपाहुड—प्र० आत्मनन्द जैन सभा, भावनगर, सन् १९२१ ई० ।

(१२०) सिरिपासनाहचरियं—गुणचन्द्र, सं० आचार्य विजयकुमुद सूरि, प्र० मणिविजय गणिवर ग्रन्थमाला, मु० लींच, अहमदाबाद; सन् १९४५ ।

(१२१) सिरिविजयचंद केवलीचरियं—चन्द्रप्रभ महत्तरि, प्र० केशवलाल प्रेमचन्द्र केसरा, खंभात वाया आनन्द, वि० सं० २००७ ।

(१२२) सिरिवालकहा—रत्नशेखर सूरि, प्र० देवचन्द्रलाल भाई, जैन पुस्तकोद्धारक ग्रन्थमाला, भावनगर, सन् १९२३ ई० ।

(१२३) सीलोवदेसमाला—जयकीर्ति, प्र० हीरालाल हन्सराज, जामनगर, सन् १९०९ ई० ।

(१२४) सुदंसणाचरियं—देवेन्द्र, प्र० आत्मवल्लभ ग्रन्थमाला वलाद (अहमदाबाद), सन् १९३२ ई० ।

(१२५) सुपासनाहचरियं—लक्ष्मण गणि सं० हरगोविन्ददास, प्र० जैन विविध शास्त्रमाला, वाराणसी, वीर निर्वाण संवत् २४४५ ।

(१२६) सुरसुन्दरीचरियं—धनेश्वर सूरि, सं० हरगोविन्ददास, प्र० जैन विविध शास्त्र-माला, वाराणसी, वि० सं० १९३२।

(१२७) सूत्रकृतांग (निर्युक्ति सहित)—सं० डॉ० पी० एल० वैद्य, पूना, सन् १९२८ ई०।

(१२८) सूत्रकृतांग चूर्णि—प्र० ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, (रतलाम) सन् १९४१ ई०।

(१२९) सेतुबंध—प्रवरसेन, प्र० निर्णयसागर प्रेस, काव्यमाला ग्रन्थांक ४७, बम्बई।

(१३०) संखित्ततरंगाई (तरंगलोला)—नेमिचन्द्र, प्र० जीवन भाई छोटा भाई झवेरी, अहमदाबाद, वि० सं० २००।

(१३१) संवेगरंगशाला—जिनचन्द्र, निर्णयसागर, बम्बई, सन् १९२४ ई०।